गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

(६)

प्रधानसम्पादकः

डॉ० भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीशः शास्त्री'

गवेषणालयसञ्चालकः

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये

उदयनाचार्यविरचितः

न्यायकुसुमाञ्जलिः

(भाषानुवादसहितः)

सम्पादको व्याख्याकारश्च

श्रीदुर्गाधरझाः

अनुसन्धानसहायकचरः

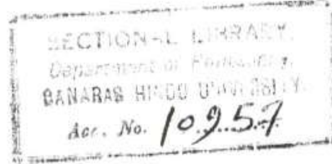
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालये

वाराणस्याम्

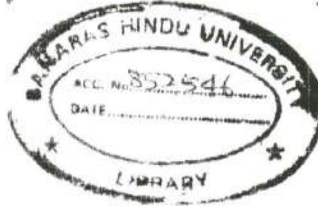
२०३० तमे वैक्रमाब्दे   १८९५ तमे शकाब्दे   १९७३ तमे खिस्ताब्दे

प्रकाशकः—
सञ्चालकः
गवेषणालयस्य
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी–२

प्राप्तिस्थानम्—
प्रकाशनविभागः
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी–२



प्रथमं संस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् ५६·५० रूप्यकाणि



मुद्रकः
सुदर्शनमुद्रकः
उत्तरबेनिया, वाराणसी–१

प्राक्कथन

श्रीक्षेत्रेशान् गुरून् नत्वा ग्रन्थमालाप्रवर्तकान् ।
गङ्गानाथस्य नाम्ना तैर्वोषज्ञैः सा प्रचालिता ॥
तस्या अस्याः सुमं षष्ठं सुमाञ्जलिरिवार्पितम् ।
प्रथितो न्यायशास्त्रेऽसावीशार्चः कुसुमाञ्जलिः ॥
ईश्वरसाधको ग्रन्थः श्रीमदुदयनार्पितः ।
प्रकाशं नीयतेऽस्माभिरत्रद्य देशभाषया ॥
संशोधितः प्रयत्नेन ख्यातवंशेन धीमता ।
हिन्दीव्याख्या—कृता सोऽयं श्रीदुर्गाधरशर्मणा ॥
रचिता भूमिकाप्यत्र न्यायशास्त्रविदामुना ।
वागीशशास्त्रिणो ज्ञप्तिः प्रार्थना प्रीयतां शिवः ॥

उपनिषदों में मुख्यतः आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है। यह विद्या अन्य सभी विद्याओं की आधारशिला मानी गई है। वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण परवर्ती काल में यह जहाँ एक ओर वेदान्तदर्शन के नाम से विख्यात हुई, वहीं दूसरी ओर व्यवहारक्षेत्र में 'आन्वीक्षिकी' के नाम से अभिहित हुई। त्रयी (= ऋक्, यजुः तथा सामवेद), वार्ता (= कृषि, पशुपालन और वाणिज्य), दण्डनीति (= राजशास्त्र) तथा आन्वीक्षिकी (= दर्शनशास्त्र। पर आन्वीक्षिकी का वेदान्तदर्शन में किसी ने संनिवेश नहीं किया) इन चार विद्याओं के अन्तर्गत आन्वीक्षिकी अन्यतम मानी गई है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार सांख्य, योग और लोकायत का नाम आन्वीक्षिकी है। न्यायसूत्र के भाष्य में न्यायशास्त्र को ही आन्वीक्षिकी माना गया है। कामन्दकीयनीति में यह विद्या आत्मविज्ञानहेतुक, धर्म और अर्थ की साधिका तथा लोकसंस्थिति में हेतु होने के कारण राजाओं द्वारा अवश्य रक्षणीय कही गई है। वहाँ आन्वीक्षिकी को आत्मविज्ञान, त्रयी को धर्माधर्म, वार्ता को अर्थानर्थ तथा दण्डनीति को न्याय-अन्याय का प्रतिपादक माना गया है। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के द्वारा ईक्षित पदार्थ के प्रयोजनभूत होने के कारण वह शास्त्र लोक में आन्वीक्षिकी विद्या के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वात्स्यायनभाष्य के अनुसार प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा ईक्षित के अन्वीक्षण का नाम अन्वीक्षा है। उस अन्वीक्षा के द्वारा प्रवृत्त होने वाली विद्या का नाम आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र है।

देवीपुराण में आत्मवेदनशील अथवा अन्वीक्षणपरायण विद्या को आन्वीक्षिकी कहा गया है। उसमें मुख्यतः दो तत्त्वों का निरूपण किया जाता है—१. आत्मविद्या तथा २. हेतु।

द्वितीय तत्त्व को आन्वीक्षिकी से पृथक् कर देने पर वह केवल आत्मविद्या अथवा अध्यात्म-विद्या मात्र रह जाएगी। तर्कविद्या, न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन उसी के नामान्तर हैं।

पूर्वोद्धृत कामन्दकीयनीति देवीपुराण, वात्स्यायनभाष्य एवं अर्थशास्त्र से प्राचीन ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी अथवा न्यायशास्त्र की चर्चा न मिलने के कारण ए० बी० कीथ महोदय ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है कि न्याय की प्राचीनता के विषय में हमें वास्तविक ज्ञान नहीं है। उनके इस मत का पोषण अन्य भारतीय विद्वानों ने भी किया है।

पद्मपुराण में गोतम को न्यायशास्त्र का प्रवचनकर्ता कहा गया है (उत्तरखण्ड २६३ अ०)। भास के नाम से प्रकाशित प्रतिमा नाटक में 'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' को देखकर विवाद उपस्थित हो गया कि न्यायशास्त्र का प्रवचन गोतम ने किया अथवा मेधातिथि ने ? महाभारत के शान्तिपर्व (वङ्गवासी संस्करण) में गोत्रनाम गोतम को मेधातिथि का विशेषण दिखाया गया है। गोतमधर्मसूत्र (११, ३) में सर्वतः प्रथम 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग हुआ है। आन्वीक्षिकी (न्यायशास्त्र) की प्राचीनता के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण संकेत है। श्रीसतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत इसी प्रकार का है।

महाभारत (१, २, १७५) में वरुणात्मज बन्दी को नैयायिकमुख्य कहा गया है। अष्टावक्र ने उसे विवाद द्वारा परास्त किया था। पाणिनि ने 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' (४, २, ६०) के गणपाठ में 'न्याय' शब्द पढ़ा है। तदनुसार न्याय के अध्येता अथवा वेत्ता को नैयायिक कहा जाता था। यद्यपि पूर्वोत्तर मीमांसा अधिकरणों की प्रसिद्धि भी न्याय शब्द से होती थी, तथापि महाभारत में वाद के प्रसङ्ग में उल्लिखित नैयायिक शब्द को पाणिनि का लक्ष्य मानना अधिक युक्तिसंगत जँचता है। पाणिनि (८, २, ९४) ने न्यायशास्त्र के पारिभाषिक 'निग्रह' तथा 'अनुयोग' शब्दों का भी उल्लेख किया है। उनके उक्त लक्षण (सूत्र) का लक्ष्य महाभारत (३, १३२, १५) का 'निगृह्य' शब्द ज्ञेय है। इस निगृह्य शब्द के पूर्व वहाँ **'वादविदा'** शब्द प्रयुक्त हुआ है—'स वै तदा **वादविदा** निगृह्य'। इसके अगले श्लोक 'सुतेन **वादे**ऽप्सु निमज्जितं तथा' में भी वाद शब्द मिलता है। अष्टावक्र और जनक के शास्त्रार्थ के समय महाभारत (३, १३३, २३) में **'विवादितोऽसौ'** आया है। अष्टावक्र और बन्दी के शास्त्रार्थप्रसङ्ग में अष्टावक्र ने बन्दी को **वादियों** में श्रेष्ठ नहीं माना है—'नात्रैमि बन्दिं वरमत्र वादिनाम्' (३, १३४, १)। उसे अतिवादि-मानी कहा है। महाभारत के इसी अध्याय के उन्तीसवें श्लोक में विवाद शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—'अजैषीर्यद् बन्दिनं त्वं **विवादे**'। इस प्रकार महाभारत में हमें न्यायशास्त्र के वाद (विवाद) निग्रह आदि शब्दों के साथ 'नैयायिक' शब्द प्रयुक्त मिल जाता है। फलतः न्यायशास्त्र की प्राचीनता निर्विवाद है। किन्तु यह कहना संभव नहीं है कि उपलब्ध न्याय-सूत्र महाभारत अथवा पाणिनि के काल में इसी रूप में विद्यमान था। न्यायसूत्र में समय समय पर परिवर्तन परिवर्धन होते रहे हैं। प्रथमतः यह अध्यात्मप्रधान (प्रमेयप्रधान)

रहा। परतः आत्मविद्या से भेद के लिए हेतुओं को संनिविष्ट करके इसे प्रमाणप्रधान बनाया गया। प्रतिसंस्कार अथवा परिवर्धन करने वालों के नाम भी इस शास्त्र के साथ जुटते चले गये।

न्यायदर्शन की उक्त उभयविधता के कारण ईश्वर का निरूपण प्राधान्यतः और सविस्तार नहीं किया गया। यद्यपि प्रारम्भ में न्यायशास्त्र तथा उसके टीका-ग्रन्थों में ईश्वर-विषयक अधिक विवेचन नहीं मिलता, तथापि परतः बौद्ध नैयायिकों के साथ ईश्वर-सिद्धिविषयक शास्त्रार्थ की मुख्यता के कारण श्री उदयनाचार्य को इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। न्यायसूत्र में परमात्मा को अध्यक्ष के रूप में जगत् का निमित्त कारण माना गया है, उपादान कारण नहीं। 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' के रूप में गीता में यह सिद्धान्त पूर्वतः व्यक्त हो चुका था। न्यायदर्शन में केवल तीन सूत्रों (४,१,१९; २० तथा २१) में ईश्वरविषयक विवेचन किया गया है। न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा उदयनाचार्यकृत न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि में उत्तरोत्तर विस्तृत विवेचन होता गया। श्री उदयनाचार्य ने स्वरचित 'आत्मतत्त्वविवेक' में चतुर्थ परिच्छेद का पञ्चम प्रकरण ईश्वरसिद्धिप्रकरण ही बना दिया। प्रकृत ग्रन्थ न्यायकुसुमाञ्जलि ही न्यायशास्त्र का उस प्रकार का अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसमें प्रमुखतः ईश्वरविषयक न्यायचर्चा की गयी है। भाष्यकार से लेकर उदयन तक सभी नैयायिकों के ग्रन्थनिर्माण के प्रेरणास्रोत प्रतिस्पर्धी बौद्ध नैयायिक रहे हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रणयन में यद्यपि मुख्य प्रेरणास्रोत ईश्वरभङ्गकारिका के प्रणेता बौद्ध नैयायिक श्रीकल्याणरक्षित हैं, तथापि श्रीउयनाचार्य ने इस ग्रन्थ में बौद्ध सिद्धान्तों के निराकरण के साथ ही साथ चार्वाक, मीमांसक, सांख्य तथा वैशेषिक आदि मतों की भी पर्यालोचना की है।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वरविषयक चर्चा नहीं मिलती। प्रशस्तपादभाष्य में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दली व्याख्या में ईश्वरविषयक विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। श्री उदयनाचार्य ने 'लक्षणावली' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। श्रीहर्ष ने अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ में लक्षणावली के 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' का खण्डन किया है। उन्होंने न्यायकुसुमाञ्जलि के 'शङ्का चेदनुमास्त्येव' (तृतीयस्तबक, ७ श्लोक) का भी खण्डन अपने उक्त ग्रन्थ के अनुमानखण्ड के प्रथम परिच्छेद के ४५ वें श्लोक में इस प्रकार किया है—

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः॥

न्यायकुसुमाञ्जलि के एक अन्य स्थल का खण्डन उन्होंने ३५१ वें पृष्ठ पर "यदाह—बाधेनोपाधिरुन्नीयतामन्येन वेति न कश्चिद् विशेषः" कहकर किया है (द्र० शारदाटीका)।

न्यायकुसुमाञ्जलि के दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं—१. पद्यात्मक तथा २. गद्यपद्यात्मक। केवल कारिकाओं पर प्रकाशित श्रीहरिदास तथा महेशचन्द्र की

व्याख्याएँ मिलती हैं। गद्यपद्यात्मक भाग पर प्रकाशित श्रीवरदराज, वर्धमान, मेघठक्कुर (भगीरथठक्कुर) रुचिदत्त, शङ्करमिश्र, श्रीरराघवाचार्य तथा गुणानन्द की व्याख्याएँ एवं बच्चा झा की टिप्पणी प्राप्त होती है।

प्रकृत हिन्दी अनुवाद

श्री उदयनाचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना मूलतः कारिकारूप में की थी। परतः कारिकाओं पर उन्होंने गद्यात्मक व्याख्या भी लिखी थी। इस प्रकार न्यायकुसुमाञ्जलि का यह गद्यपद्यात्मक भाग एक बिस्तृत ग्रन्थ है और न्याय के उद्भट विद्वानों के लिए भी परीक्षानिकष बना हुआ है। अंग्रेजी में तथा हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में पद्यात्मक ग्रन्थ की व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। पर विश्व की किसी भी भाषा में गद्यपद्यात्मक ग्रन्थ का संपूर्ण अनुवाद अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुआ है। स्वनामधन्य म० म० गोपीनाथ कविराज महोदय ने इस गद्यपद्यात्मक भाग पर अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करना प्रारम्भ किया था और उसका कुछ अंश सरस्वती भवन स्टडीज में प्रकाशित भी हुआ था, किन्तु दुर्दैवात् वह कार्य पूर्ण नहीं हो सका।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के गवेषणालय के अन्यतम अनुसन्धान-सहायक श्रीदुर्गाधर झा ने प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दली टीका की हिन्दी व्याख्या लगभग सन् ६१ में प्रस्तुत कर दी थी। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ने गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला के प्रथम प्रसून के रूप में सन् १९६३ में उसका प्रकाशन किया था। संस्कृत प्रणयी जनों ने उक्त हिन्दी व्याख्या का स्वागत स्पर्धा के साथ किया। विश्वविद्यालय ने पण्डितप्रवर श्री झा महोदय से न्यायकुसुमाञ्जलि पर हिन्दी अनुवाद करने के लिए अनुरोध किया। उन्होंने ग्रन्थ की गुत्थियाँ सुलझाने के साथ-ही-साथ हिन्दी अनुवाद को सुबोध बनाने के लिए यद्यपि प्रायः सभी संस्कृत व्याख्याओं से सहायता ली है, तथापि वर्धमानकृत 'प्रकाश' एवं वरदराजकृत 'बोधनी' व्याख्याओं का मुख्यतः अवलम्ब लिया है। इस प्रकार यह हिन्दी अनुवाद और व्याख्या अपने में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन गया है।

गुणदोषविवेचक बुधाग्रगण्यगण तथा जिज्ञासु जन गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला के इस षष्ठ प्रसून के सौरभ से निश्चयतः मुदित और लाभान्वित होंगे। हिन्दी अनुवादकर्ता श्रीदुर्गाधर झा ऐसे दुरूह ग्रन्थरत्न के हिन्दी अनुवाद के लिए वस्तुतः बधाई के पात्र हैं। काशी विश्वनाथ उन्हें दीर्घायु करें ताकि शारदाचरण-सरोरुहों में ऐसे अन्य ग्रन्थप्रसून भी अर्पित कर सकें।

हरिप्रबोधिनी
वि० सं० २०३०
६।११।७३

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
गवेषणालय-संचालक
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीः

गद्यपद्यात्मक न्यायकुसुमाञ्जलि की

भूमिका

महर्षिकल्प श्री उदयनाचार्य के 'न्यायकुसुमाञ्जलि' नाम के प्रसिद्ध एवं मौलिक ग्रन्थ को विस्तृत हिन्दी भाषामयी व्याख्या के साथ विद्वानों के हाथ में समर्पित करते हुये मैं संकोच के साथ-साथ हर्ष का भी अनुभव कर रहा हूँ।

यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में 'गद्यपद्यात्मक' है। दो प्रकार के गद्यपद्यात्मक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं :—

१. जिसमें ग्रन्थ के कुछ अंश गद्य में एवं कुछ अंश पद्य में रहते हैं, किन्तु गद्यांश पद्य की व्याख्या स्वरूप नहीं होते, इस प्रकार के ग्रन्थों में कुमारिल भट्ट का 'तन्त्रवार्तिक' जयन्तभट्ट की 'न्यायमञ्जरी' प्रज्ञाकर गुप्त का 'वर्त्तिकालङ्कार' प्रभृति आते हैं।

२. दूसरे प्रकार के गद्यपद्यात्मक ग्रन्थों में ग्रन्थकार स्वलिखित पद्य के अर्थ को ही विस्तार के साथ गद्य में लिखता है। इस दृष्टि से गद्यांश पद्य की टीका स्वरूप होता है, किन्तु यह टीका प्रतीक धारणपूर्वक लिखी गयी अन्य टीकाओं के समान नहीं होती। इस गद्यांश को पद्य से पृथक् करके भी पढ़ा और समझा जा सकता है। गद्य और पद्य का स्वातन्त्र्य इसमें इतना स्पष्ट रहता है कि गद्यांश को पद्यांश की व्याख्या समझने के समान ही पद्य को विस्तृत गद्यांश का संक्षिप्त सार भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार के ग्रन्थों में मण्डन मिश्र का 'विधिविवेक' मम्मट का 'काव्यप्रकाश' सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' जगदीश तर्कालङ्कार की 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' प्रभृति आते हैं। प्रकृत गद्यपद्यात्मक 'न्यायकुसुमाञ्जलि' भी इसी कोटि का ग्रन्थ है।

परमोपादेयता मूलक अतिप्रसिद्धि के साथ-साथ अति जटिलता के कारण यह ग्रन्थ कुछ दूसरे रूपों में भी प्रसिद्ध है। जिनमें इसके गद्य और प्रकाश टीका के सहारे पद्य की संक्षिप्त व्याख्या दूसरे विद्वानों ने की है। जैसे कि हरिदास भट्टाचार्य एवं रामभद्र तर्कालङ्कार ने की है। इनमें हरिदास भट्टाचार्य की व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है, एवं यही

साधारण पठन-पाठन में है। हरिदासी कुसुमाञ्जलि की उपादेयता इसी से समझी जा सकती है कि इस पर जयनारायण तर्कालङ्कार एवं म० म० कामाख्यानाथ तर्कवागीश जैसे महा नैयायिकों ने व्याख्या लिखी है। म० म० महेशचन्द्र न्यायरत्न के शिष्य प्रसिद्ध अंग्रेज संस्कृतज्ञ कावेल साहब ने हरिदासी कुसुमाञ्जलि का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

प्रस्तुत गद्यपद्यात्मक न्यायकुसुमाञ्जलि के ऊपर संस्कृत भाषा से भिन्न किसी भी भाषा में सम्पूर्ण कार्य की सूचना मुझे नहीं है। स्वनामधन्य महात्मा तथा वर्त्तमान काल में प्राच्य एवं प्रतीच्य दोनों ही दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक अगाधज्ञान सम्पन्न म० म० प० श्री गोपीनाथ जी कविराज ने इस (बड़ी) कुसुमाञ्जलि को अंग्रेजी में लिखना प्रारम्भ किया था। किन्तु वह प्रारम्भ मात्र ही रहा। दुर्भाग्यवश वह पूर्ण न हो सका। उसका किञ्चित् अंश 'सरस्वती भवन स्टडीज' पत्रिका में छप चुकी है।

प्रस्तुत 'गद्यपद्यात्मक न्यायकुसुमाञ्जलि' के ऊपर नव्य न्याय के प्रवर्त्तक गङ्गेशोपाध्याय के पुत्र वर्द्धमान ने 'प्रकाश' नाम की टीका लिखी है, जो 'वर्द्धमान' नाम से ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ पर अन्य जितनी भी टीकायें लिखी गयीं है वे सभी इसी के अवलम्ब से लिखी गयीं हैं। 'वर्द्धमान' पर भी टीकायें लिखी गयीं हैं, जिनमें रुचिदत्त उपाध्याय कृत 'मकरन्द' और भगीरथ ठक्कुर [प्रसिद्ध मेघ ठक्कुर] कृत प्रकाशिका [प्रसिद्ध जलद] नाम की टीका अति प्रसिद्ध हैं।

वर्द्धमान कृत 'प्रकाश' के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के ऊपर वरदराज कृत 'कुसुमाञ्जलिबोधिनी' शङ्कर मिश्र कृत आमोद, गुणानन्द विद्या वागीश कृत विवेक [शेष दोनों ही टीकायें एक साथ कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष ग्रन्थावली में छप चुकी हैं] ये तीन टीकायें और उपलब्ध हैं। ये सभी उपर्युपरि हैं, फिर भी इतना उल्लेख अनुचित नहीं होगा कि मूल गद्य के अक्षरार्थ को समझाने की दृष्टि से 'बोधिनी' से ही मुझे अधिक सहायता मिली। दुर्भाग्यवश मुझे तीन स्तवकों के ही अंश उपलब्ध हुये, क्योंकि उस समय तक उतना ही उपलब्ध था। इधर ज्ञात हुआ है कि पूरी 'बोधिनी' टीका 'मिथिला विद्यापीठ' दरभङ्गा से प्रकाशित हो रही है या हो गयी है। यह परम हर्ष का विषय है। इसके अलावा श्री वीरराघवाचार्य की 'विस्तर' नाम की एक अत्याधुनिक संस्कृत व्याख्या भी है जो उत्कृष्ट होने के साथ-साथ असाधारण भी है। यद्यपि इन सभी टीकाओं का थोड़ा

बहुत उपयोग मैंने किया है, किन्तु 'वर्द्धमान' और 'बोधिनी' ये दोनों टीकायें ही मेरे प्रधान अवलम्बन स्वरूप रही हैं। सुनने में आया है कि बङ्गला में पण्डित प्रवर श्री सतीन्द्र भट्टाचार्य जी ने इसकी एक व्याख्या लिखी है जो कलकत्ता वि० वि० से प्रकाशित हो रही है।



ग्रन्थ परिचय

यह ईश्वर निरूपण प्रधानक ग्रन्थ पाँच स्तवकों में विभक्त है। इनमें से पहिले चार स्तवकों के द्वारा ईश्वर सत्ता की विरोधिनी युक्तियों का खण्डन किया गया है। पाँचवें स्तवक में ईश्वर के साधक प्रमाणों का उल्लेख है।

दो प्रकार के लोग ईश्वर की सत्ता के विरोधी हैं :—

१. वेदों को प्रमाण मानने वाले मीमांसक एवं सांख्याचार्यगण एवं २. वेदों को न माननेवाले चार्वाक, बौद्धादि। इनमें वेद प्रामाण्यवादी ईश्वर विरोधियों को निरस्त करने के लिये अचेतन अदृष्ट के अधिष्ठाता चेतन के रूप में एवं वेदों के रचयिता सर्वज्ञ आप्त पुरुष के रूप में ईश्वर की सिद्धि की गयी है। इसके अलावा ईश्वर के साधक श्रुति एवं स्मृति स्वरूप शब्द प्रमाणों को भी दिखाया गया है। वेदों को प्रमाण न माननेवालों के लिये आचार्य ने शुद्ध वस्तुनिष्ठ शैली अपनायी है। जिस प्रकार आकाश, परमाणु प्रभृति अतीन्द्रिय वस्तुओं की सिद्धि के लिये परिशेषानुमानों का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार के अनुमानों का प्रयोग आचार्य ने ईश्वर की सिद्धि के लिये भी किया है।

इस ग्रन्थ की आदि के 'सत्पक्षप्रसरः' यहाँ से लेकर 'तत्साधक प्रमाणाभावाच्च' (देखिये पृ० १ से १३ पर्यन्त) पर्यन्त के सन्दर्भ से ग्रन्थारम्भ के लिये उपयोगी मङ्गल-प्रतिपाद्य विषय एवं ग्रन्थ निर्माण के लिये प्रयोजन आदि की सूचना प्रथम श्लोक से देकर परमात्मा के निरूपण की प्रतिज्ञा, ईश्वर के स्वरूप के विषय में सर्वसम्मति के रहने से ग्रन्थ के अनारम्भत्व का आक्षेप पूर्वक यह समाधान किया गया है। ग्रन्थ में किया गया ईश्वर का यह निरूपण 'आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति के द्वारा श्रवण के बाद निर्दिष्ट मनन रूपा 'उपासना' ही है। उक्त श्रुति में जिस मनन का उल्लेख है, उसमें श्रुति स्वरूप शब्द प्रमाण से ज्ञात परमात्मा में कुतर्काभ्यासियों के द्वारा जो 'असंभा-

वना' अथवा 'विपरीत संभावनाओं का उद्भावन किया जाता है, तन्निरास फलक मनन' स्वरूप है---फलतः ईश्वर की असंभावना एवं विपरीत संभावना प्रभृति दोषों से रहित ईश्वर की 'विशेष' अनुमिति स्वरूप है। विषय को विशिष्ट रूप से समझने की इच्छा से सिद्ध विषयक पुनः अनुमिति भी होती है। अतः सिद्ध विषयक प्रतिपादक होने के नाते जो इस ग्रन्थ के अनारम्भत्व का आक्षेप किया जाता है, वह युक्त नहीं है।

विप्रतिपत्तिवाक्य

'नाज्ञाते न निश्चितेऽर्थे न्यायः प्रवर्त्तते किन्तु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्त्तते' इस सिद्धान्त के अनुसार सभी विचारों से पहले विचार्य विषय में संशय आवश्यक है। किन्तु इन स्थलों में तो विप्रतिपत्तिवाक्य जन्य केवल आहार्य्य संशय ही हो सकता है, क्योंकि दोनों पक्षों में से प्रत्येक का अपना अपना पक्ष निश्चित रहता है।

किन्तु संशय से पहले धर्मी का निश्चय दोनों ही पक्षों को चाहिये। एवं दोनों ही कोटियों में से विधि कोटि के पक्ष से भिन्न किसी अधिकरण में निश्चित होना भी आवश्यक है। क्योंकि किसी अप्रसिद्ध वस्तु की न कहीं सत्ता सिद्ध की जा सकती है, न उसके अभाव की ही सिद्धि की जा सकती है। अतः 'ईश्वरोऽस्ति न वा' इत्यादि आकार के संशय नहीं होते। अथवा 'ईश्वरो नास्ति' यह अनुमान भी नहीं होता। तदनुसार अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर सिद्धि के अनुकूल यह प्रथम विप्रतिवाक्य आचार्य ने लिखा है।

१. अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात्

इस वाक्य के 'अभाव' पद में निविष्ट 'नञ्' विरोध्यर्थक है, अभावार्थक नहीं। एवं अवशिष्ट 'भाव' पद सत्ता का बोधक है। अर्थात् अलौकिक परलोक के साधन की जो सत्ता तद्विरोध विषयक जो 'विप्रतिपत्ति' अर्थात् विपरीत बुद्धि उसके निरास से ही 'अदृष्ट' स्वरूप 'अलौकिकपरलोक' साधन के सभी बाधक निरस्त हो जायेंगे।

'अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात्' इस वाक्य से [१] अलौकिकविषयक [२] परलोक विषयक [३] साधन विषयक [४] अलौकिकधर्मिक परलोकसाधनत्व

विषयक एवं [५] परलोक साधन में अलौकिकत्व विषयक ये पाँच विप्रतिपत्तियाँ आचार्य के अभिप्रेत हैं।

इनमें से किसी विप्रतिपत्ति अथवा विपरीत बुद्धि के रहने पर कार्यकारण भाव विघटित होंगे। जिससे क्षित्यङ्कुरादि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि विघटित होगी। स्वर्गादि परलोक विषयक विप्रतिपत्ति से तत्सम्पादक यागादि के उपदेष्टा रूप में ईश्वर की सिद्धि अवरुद्ध होगी। 'अदृष्ट' की असिद्धि से अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि रुक जायगी।

१. अलौकिक विषय विप्रतिपत्ति का आकार

लौकिकप्रत्यक्षाविषयगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यधिकरणत्वमात्मगुणे वर्त्तते न वा ?

जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष संयोगादि लौकिक संसर्गों में से किसी संनिकर्ष से सम्भव हो वे सभी वस्तुएँ 'लौकिक' कहलाती हैं। एवं उक्त संनिकर्षजनित प्रत्यक्ष को 'लौकिक प्रत्यक्ष' कहते हैं। नैयायिकों के मत से आत्मा के ज्ञान सुखादि गुण 'लौकिक' हैं, क्योंकि उनका लौकिक प्रत्यक्ष होता है। किन्तु आत्मा के ही धर्माधर्म स्वरूप गुण अतीन्द्रिय हैं, उनका लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता। भले ही सामान्य लक्षणादि अलौकिक संनिकर्षों से उनका भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो।

गुणत्व की साक्षाद्व्याप्य जातियाँ हैं रूपत्व, रसत्वादि। तदन्तर्गत आत्मा के गुणों में रहनेवाली ज्ञानत्व इच्छात्वादि एवं धर्मत्व अधर्मत्व जातियाँ भी गुणत्व जाति की साक्षाद्व्याप्य हैं। इनमें ज्ञानत्वादि जातियाँ लौकिक प्रत्यक्ष के विषय हैं, किन्तु धर्मत्व और अधर्मत्व जातियाँ लौकिक प्रत्यक्ष के विषय न होने के कारण अलौकिक हैं। फलतः आत्मा के धर्म एवं अधर्म स्वरूप गुणों में गुणत्व की साक्षाद्व्याप्य उन धर्मत्व और अधर्मत्व जाति की अधिकरणता है जो अलौकिक हैं। इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्षाविषयगुणत्व साक्षाद्व्याप्य जात्यधिकरणत्व स्वरूप विधिकोटि आत्मा के धर्माधर्म स्वरूप गुणों में प्रसिद्ध है।

चार्वाकों का इस विप्रतिपत्ति की उक्त 'जात्यधिकरणत्वाभाव' स्वरूप निषेध कोटि है। वे शरीर को ही आत्मा मानते हैं। अतः शरीर का 'गुरुत्व' स्वरूप गुण उनके मत से आत्मा का ही धर्म है। इसलिये 'लौकिक प्रत्यक्षाविषय गुणत्व साक्षाद्व्याप्यजाति' पद से इस पक्ष में गुरुत्व (या गौरव) को लिया जा सकता है। फलतः गुरुत्व में प्रसिद्ध जो उक्त जात्याधिकरणता उसका अभाव प्रसिद्ध वस्तु का ही अभाव है। ज्ञानादि

'आत्मगुण' स्वरूप धर्मी न्यायमत से हैं। एवं चार्वाक मत से गुरुत्व स्वरूप गुण उक्त धर्मी है। इस प्रकार इस विप्रतिपत्ति का धर्मी अप्रसिद्ध नहीं है। अतः विप्रतिपत्ति में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस विप्रतिपत्ति के विधि पक्षावलम्बी नैयायिक यदि आत्मा के किसी गुण में लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्व की सिद्धि कर पाते हैं, अर्थात् आत्मा के किसी भी गुण को अतीन्द्रिय करार दे पाते हैं, तो वह गुण धर्म एवं अधर्म स्वरूप 'अदृष्ट' ही होगा। इस प्रकार अदृष्ट सिद्धि का पथ प्रशस्त हो जायगा। अदृष्ट सिद्धि की आगे की प्रक्रिया ग्रन्थ में वर्णित है।

२. शरीरवृत्तिजातित्वं दुःखावच्छेदकत्वासमानाधिकरणवृत्ति न वा ?

इस आकार की दूसरी विप्रतिपत्ति सामान्यतः केवल परलोक विषयक न्याय का संपादन करती है। बालकों के शरीर में रहनेवाली चैत्रत्वादि जातियाँ चैत्रादि के शरीरों में हैं। इन शरीरों में सुख एवं दुःख दोनों का ही उपभोग सर्वसिद्ध है। अतः चैत्रादि के शरीर सुख एवं दुःख दोनों के ही अवच्छेदक हैं। फलतः चैत्रादि शरीरों में रहनेवाली चैत्रत्वादि जातियों के जातित्व स्वरूप धर्म के साथ दुःखावच्छेदकत्व चैत्रादि शरीरों में है। स्वर्गीय शरीर तो केवल सुख का ही अवच्छेदक है, दुःख का नहीं, क्योंकि स्वर्गीय शरीर से केवल सुख का ही उपभोग किया जाता है, दुःख का नहीं। अतः स्वर्गीय शरीर वृत्ति (स्वाश्रयाश्रयत्व सम्बन्ध से) जातित्व दुःखावच्छेदकत्व के साथ नहीं रहता।

३. कार्यप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्वप्रागभावान्यप्रागभावाविषयक-प्रतीत्यविषयवृत्ति न वा ?

यह केवल 'साधन' विषयक विप्रतिपत्ति है। इससे कार्यकारण भाव का खण्डन होता है। उक्त प्रतीत्यविषयवृत्तित्व प्रागभावत्वत्व में दोनों ही मतों से सिद्ध है। इस विप्रतिपत्ति में विधिकोटि है नैयायिकों का एवं निषेध कोटि है चार्वाकों का।

नैयायिक लोग कार्यकारणभाव को स्वीकार करते हैं। कार्य नियतपूर्ववर्त्तित्व ही कारणत्व का लक्षण है। नियतपूर्ववर्त्तित्व के शरीर में प्रागभाव निविष्ट है, अतः कारणत्व विषयक प्रतीति नियमतः प्रागभाव विषयक होती है। अतः जिस प्रतीति में प्रागभाव विषय नहीं होता, कारणत्व कभी भी उस प्रतीति का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार

कारणत्वप्रागभावाविषयक प्रतीति का अविषय है। कारणत्व प्रतियोगित्व एवं प्रागभाव इन दोनों से भिन्न भी है। एतादृश कारणत्व में कार्यप्रतियोगित्व विद्यमान है। यह नैयायिकों का पक्ष है।

चार्वाकगण कारणत्व नाम के किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते। उनके मत से कार्यप्रतियोगित्व कारणत्व में विद्यमान नहीं है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि विप्रतिपत्तिवाक्य में जो 'प्रतियोगित्वप्रागभावान्य' पद में 'प्रतियोगित्व' पद है, उसका 'कार्यत्व' अर्थ है। जो फलतः प्रागभाव प्रतियोगित्व स्वरूप है।

२. अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसंभवात्

वेदों के आदि वक्ता के रूप में जो ईश्वर की सिद्धि 'वेदो वक्तृयथार्थज्ञानजन्यः प्रमाणशब्दत्वात् इस अनुमान के द्वारा की जाती है। उसके विरुद्ध 'अन्यथापि' परलोक साधनानुष्ठान संभवात् यह विप्रतिपत्ति खड़ी हो जाती है, अर्थात् वेदार्थ ज्ञान से युक्त पुरुष के द्वारा उच्चरित न होने पर भी केवल 'दोषाभाव' से यागादि का अनुष्ठान हो सकता है। 'अतः वेदार्थज्ञान विशिष्ट पुरुषजन्यत्व' स्वरूप कथित हेतु 'अप्रयोजक' होने के कारण हेत्वाभास हो जाता है। अतः उससे ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

३. तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्

'तदभाव' अर्थात् ईश्वर के अभाव का साधक 'अनुपलब्धि' प्रमाण से ईश्वर के साधक सभी अनुमान किसी न किसी प्रकार अवश्य ही बाधित होंगे। अतः 'तदभावावेदक-प्रमाण' के 'सद्भाव' अर्थात् सत्ता से ईश्वर की सभी सिद्धियाँ व्याहत हैं।

४. सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इस न्यायसूत्र के द्वारा आयुर्वेद के दृष्टान्त से वेदों में आप्तप्रामाण्य के द्वारा प्रामाण्य की सिद्धि की गयी है। इस 'आप्तप्रामाण्य' स्वरूप हेतु में जो 'आप्त' विशेषण है, तत्स्वरूप ईश्वर की जो सिद्धि की जाती है, उसके विरोध में 'हेत्वप्रसिद्धि' दोष को इस विप्रतिपत्ति के द्वारा इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि 'तत्सत्त्वेऽप्यप्रमाणत्वात्, अर्थात् वेदकर्त्ता यदि कोई पुरुष हो भी तथापि उस पुरुष को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अप्रामाणिक पुरुष के ऊपर

विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः 'तदन्यस्मिन्ननाश्वासात्' इस वाक्य के द्वारा जो वेद कर्त्ता में अतिविश्वास प्रगट किया गया है वह युक्त नहीं है।

५. तत्साधकप्रमाणाभावाच्च

कार्यत्वादि जिन हेतुओं से ईश्वर का अनुमान किया जाता है, वे हेतु चूँकि उपाधि प्रभृति दोषों से युक्त हैं, अतः उससे क्षित्यादि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती।

इन्हीं पांच विप्रतिपत्तियों का उल्लेख कर आचार्य ने क्रमशः पांच स्तवकों में इनका खण्डन किया है।

न्यायशास्त्र में 'लोकानुभव' का सर्वाधिक महत्त्व है। तदनुसार ही न्यायशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि संसार अनेकविध विचित्र कार्यों से भरा पड़ा है। उनसे क्रमशः विभिन्न जीवों को विभिन्न प्रकार के सुखदुःख प्राप्त होते हैं। अतः विचित्रताओं से परिपूर्ण कार्यों को विभिन्न समयों में विचित्र, अनेक कारण ही उत्पन्न कर सकते हैं। किसी एक ही वस्तु को सभी कार्यों का कारण मान लेने से कार्यों का यह 'क्रमिकत्व' एवं 'वैचित्र्य' उपपन्न नहीं होगा। एवं किसी एक जाति के समान अनेक व्यक्तियों से भी कार्यों की कथित विचित्रता उपपन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार किसी एक ही वस्तु में विभिन्न प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने की 'शक्ति' [परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते] मान कर भी कार्यों का उक्त वैचित्र्य एवं क्रमिकत्व की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि 'शक्ति' को यदि उस आश्रयीभूत वस्तु से पृथक् मानेंगे तो 'एककारणवाद' पक्ष ही विघटित हो जायगा, क्योंकि उसे 'एक' से भिन्न उक्त 'शक्ति' नाम के अतिरिक्त वस्तु को ही कारण मान लेना होगा। यदि 'शक्ति' को उसके आश्रय से अभिन्न मानेंगे तो क्रमिकत्व एवं वैचित्र्य की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों रहेगी।

इस प्रसङ्ग में 'स्वभाववादी' कह सकते हैं कि एक ही वस्तु में अनेक प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करने का स्वभाव देखा जाता है। एक ही वह्नि दाहक भी है एवं प्रकाशक भी, किन्तु इस स्वभाववाद से भी एक ही कारण के द्वारा उक्त क्रमिकत्व एवं वैचित्र्य की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने 'स्वभाव' को अर्थात् 'स्व' के भाव' सत्ता के प्रयोजकधर्म को छोड़ नहीं सकता, अतः 'स्वभाव' का 'अतिक्रमण' नहीं हो सकता। इस प्रकार एक वस्तु जिस समय एकवस्तु जनक स्वभाव

से युक्त रहेगा, उसी समय अपरवस्तुजनकस्वभाव का भी रहेगा। अतः एक ही समय सभी कार्यों की उत्पत्ति अनिवार्य होगी। फलतः उक्त 'स्वभाववाद' में 'वैचित्र्य' की उपपत्ति कदाचन हो भी सकती है, किन्तु कार्यों का क्रमिकत्व अनुपपन्न ही रहेगा।

इस प्रकार कार्यकारणभाव के स्वीकृत होने पर भी अदृष्टाधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सिद्धि में ये विप्रतिपत्तियाँ आड़े आती हैं कि यद्यपि दण्डादि दृष्ट वस्तुओं में घटादि दृष्ट वस्तुओं की कारणता तो मानते हैं, फिर भी यागादि में स्वर्गादि की कारणता नहीं मानते, फलतः 'अदृष्ट' स्वरूप धर्माधर्म को स्वीकार नहीं करते। जब अदृष्ट की ही सत्ता विपन्न है तो तदधिष्ठातृतया ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। इस आक्षेप का समाधान यह है कि परलोक की प्राप्ति की आशा से संसारी जन दान, यागादि, इष्टापूर्त्तादि का अनुष्ठान करते हैं—इस विश्वजनीन प्रवृत्ति को झुठलाया नहीं जा सकता। उन्हें क्लेशमात्र फलक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि मनुष्य साधारण क्लेश-जनक कार्य को भी नहीं करता, फिर क्लेशद इतने बड़े अनुष्ठान में कैसे प्रवृत्त होगा? यागादि अथवा इष्टापूर्त्तादि के अनुष्ठानों को केवल लाभ, पूजा, ख्यातिप्रभृति दृष्टफलक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे जनों से भी यागादि का अनुष्ठान देखा जाता है, जिन्हें लोकख्याति अथवा द्रव्य की लिप्सा नहीं है। यह भी कहना सम्भव नहीं है कि इष्टापूर्तादि के अनुष्ठाता धूर्त्त थे, वे केवल लोगों को ठगने के लिये ही इनका अनुष्ठान करते थे, क्योंकि संयमादि के इतने कठोर क्लेश से ठगने में अधिक सुख नहीं के समान है।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि दान-यागादि दृष्टकारणों से ही स्वर्गादि परलोक की उत्पत्ति मान ली जाय, बीच में एक 'अदृष्ट' नाम की वस्तु की सत्ता क्यों मानी जाय? इस आक्षेप का उत्तर यह है कि—कारण को कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना आवश्यक है। यागादि क्रियास्वरूप होने के कारण क्षणिक हैं। एवं स्वर्गादि फल उससे बहुत समय बाद उत्पन्न होते हैं, अतः स्वर्ग से अव्यवहित पूर्वक्षण में यागादि का रहना संभव नहीं। अतः स्वर्ग के उत्पादन में समर्थ यागादि से एक ऐसे 'अदृष्ट' स्वरूप 'अतिशय' की कल्पना करते हैं जिसकी सत्ता स्वर्ग की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण पर्यन्त रहे। इस प्रकार 'अदृष्ट' को स्वीकार करना आवश्यक है।

फिर भी एक प्रश्न रह जाता है कि यह 'अदृष्ट' भोक्ता स्वरूप आत्मा में रहता है, अथवा भोग्यस्वरूप भौतिक पदार्थों में? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी अदृष्ट

२

'भोक्ता' पुरुष में रहकर ही 'भोग' का सम्यक् उत्पादन कर सकते हैं, भोग्यस्वरूप चन्दन-वनितादि भौतिक पदार्थों में रहकर अदृष्ट भोगों का सम्यक् उत्पादन नहीं कर सकते। "एक पुरुष के द्वारा अनुष्ठित याग से वही पुरुष स्वर्ग का उपभोग करे" यही है भोगों की सम्यक् उपपत्ति। भौतिक भोग्य पदार्थों का यह स्वभाव है कि उसका उपभोग अनेक पुरुषों के द्वारा होता है। अतः याग से यदि भोग्य पदार्थों में संस्कार 'अदृष्ट' को मान लेंगे तो 'याग-कर्त्ता पुरुष ही यागजनित स्वर्गादि का उपभोग करें'—इस नियम की उपपत्ति नहीं होगी। अतः 'अदृष्ट' आत्मा का ही गुण है, भौतिक पदार्थों का नहीं।

मीमांसकगण 'संस्कार' अथवा 'अदृष्ट' की सत्ता भौतिक पदार्थों में भी मानते हैं। भोग की कथित 'सम्यगुपपत्ति' तो भोग्य पदार्थों में भोगजनक 'शक्ति' नाम के उस अतीन्द्रिय एवं स्वतन्त्र पदार्थ से ही हो जायगी, जिसका मानना अनिवार्य है, क्योंकि यदि केवल 'वह्नि' पदार्थ को दाहादि कार्यों का कारण मानें तो केवल वह्नि से दाह होता है, मणिमन्त्रादि के प्रयोगों के रहते उसी वह्नि से दाह नहीं होता—इसकी उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि मणिमन्त्रादि स्थलों में भी वह्नि की सत्ता तो है ही, उससे भी दाह का होना अनिवार्य हो जायगा।

किन्तु मीमांसकों का यह 'शक्ति' सिद्धान्तपक्ष केवल इस आग्रह पर टिका है कि 'अभाव' किसी का कारण नहीं हो सकता। किन्तु 'भाव' पदार्थों के समान ही अभाव पदार्थों को भी कारण मानना आवश्यक है। यदि ऐसा मान लेते हैं तो उक्त 'शक्ति' पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जिन स्थलों में वह्नि के रहते दाह की उपपत्ति नहीं होती उन स्थलों में दाह की सामग्री अर्थात् सभी कारण ही नहीं रहते। क्योंकि 'प्रतिबन्धकाभाव' भी कार्य का एक कारण है, अतः मणिमन्त्रादि के रहते सामग्री के अन्तर्गत 'प्रतिबन्धकाभाव' स्वरूप कारण का विघटन हो जाता है, जिससे कारणों की 'समग्रता' खण्डित हो जाती है। समग्रता युक्त कारणों का समुदाय अर्थात् सामग्री ही कार्य की उत्पादिका है, कोई एक कारण या दो कारण नहीं। सामग्री का विघटन ही कार्यों का प्रतिबन्ध अर्थात् प्रतिरोध है, उस प्रतिरोध के सम्पादक को ही 'प्रतिबन्धक' कहते हैं। तदनुसार ही मणिमन्त्रादि को दाह का 'प्रतिबन्धक' कहा जाता है।

यदि भौतिकपदार्थों में 'संस्कार' अथवा 'अदृष्ट' को स्वीकार न किया जाय तो 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि नियम विधिवाक्यों के द्वारा जो अप्रोक्षित व्रीहिका अवहनन

निवृत्त होता है, एवं प्रोक्षित व्रीहि का ही अवहनन प्राप्त होता है, वह न हो सकेगा, क्योंकि प्रोक्षणजनित संस्कार को छोड़ कर उन व्रीहियों में स्वतः कोई अन्तर नहीं है।

मीमांसकों के इस कथन में भी कोई सार नहीं है, क्योंकि 'समवाय सम्बन्ध से संस्कार अथवा अदृष्ट की उत्पत्ति आत्मा में ही हो' प्रकृत में नियम का यही स्वरूप है। इससे अदृष्ट का कोई अन्य सम्बन्ध भौतिकपदार्थों में निराकृत नहीं होता। अतः प्रकृत में प्रोक्षणजनित अदृष्ट जिस प्रकार समवायसम्बन्ध से प्रोक्षणकर्त्ता पुरुष में है, उसी प्रकार 'स्वरूप' सम्बन्ध से अर्थात् 'स्वजनकप्रोक्षणजनकाभिप्रायविषयत्व' रूप स्वरूप सम्बन्ध से वही 'अदृष्ट' प्रोक्षित व्रीहि में भी है। इसी से पुरोडाश के निष्पादन के लिये अप्रोक्षित व्रीहि का अवहनन निवृत्त हो जायगा। इसके लिये व्रीहिरूप भौतिकपदार्थ में समवायसम्बन्ध से अदृष्ट अथवा संस्कार का मानना अनावश्यक है। प्रोक्षण क्रिया से उत्पन्न अदृष्टरूप फल उक्त स्वरूपसम्बन्ध से व्रीहि में रहने के कारण ही 'व्रीहीन्' पद में द्वितीया की उपपत्ति होती है।

इसी प्रकार हलकर्षणादि कृषिकार्यों से खेत में भी किसी 'शक्ति' की उपपत्ति नहीं होती है, किन्तु हलकर्षणादि के द्वारा दूसरे खेतरूप अवयवी की ही उत्पत्ति होती है, यही कर्षितभूमि एवं अकर्षितभूमि में अन्तर होता है।

चिकित्सा से भी शरीर में किसी शक्ति या अदृष्ट की उत्पत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु कफ, पित्त, वायुस्वरूप 'धातु' में साम्यस्वरूप दृष्ट व्यापार के द्वारा ही रोगी आरोग्य लाभ करता है।

कथित युक्ति से ही 'यव के बीज से यवाङ्कुर ही उत्पन्न हो' अथवा 'धान के बीज से धान के अंकुर ही उत्पन्न हों' इन नियमों की उपपत्ति के लिये 'शक्ति' पदार्थों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। क्योंकि यवांकुर के उत्पादक परमाणु और धान्यांकुर के उत्पादक परमाणु इन दोनों प्रकार के परमाणुओं में रहने वाले रूप-रसादि भिन्न-भिन्न हैं। रूप-रसादि की यह विभिन्नता पाक से उत्पन्न होती है। अतः यव में यवांकुरजनक शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। एवं धान्य में धान्यांकुरजनन की शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार विभिन्न अदृष्टों से युक्त आत्मा के विभिन्न संयोगादि कारणों की विभिन्नता से ही जल, तेज, वायुप्रभृति में उद्भूत रूपादि एवं अनुद्भूत रूपादि अथवा

द्रवत्व कठिनत्वादि, विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसके लिये उनके आरम्भक परमाणुओं में किसी-'शक्ति' का मानना आवश्यक नहीं है।

प्रतिमा के प्रसङ्ग में भी नैयायिकों की यही दृष्टि है कि प्रतिष्ठा के विविध अनुष्ठानों के द्वारा उन प्रतिमाओं में नियमित रुद्र, विष्णु, इन्द्र प्रभृति देवताओं से अभीष्ट देवता का सांनिध्य प्राप्त होता है। देवताओं की इस संनिधि के बल से ही प्रतिमाओं में पूज्यता आती है।

इसी प्रकार शपथ के लिये प्रयुक्त तुला (तराजू) से जो पापशून्यतास्वरूप 'जय' एवं सपापत्वस्वरूप पराजय का निर्णय होता है, वहाँ भी परीक्षाविधि के द्वारा तुला प्रभृति में किसी 'शक्ति' की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु जय एवं पराजय के मूल पुरुष में समवेत जो धर्माधर्म हैं, उन दोनों को कार्योन्मुख करना ही परीक्षा का उद्देश्य है।

चेतन आत्मा में अपूर्व न मानने के सिद्धान्त के विपक्ष में जो भोग्य-वस्तुओं में जो 'साधारण्य' की आपत्ति दी गयी है, उसीसे निम्नलिखित सांख्यसिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। सांख्याचार्यों का कहना है कि पुरुष 'कूटस्थ' है अर्थात् सभी जन्यधर्मों का अनाश्रय एवं चेतन है। अतः उससे न किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है न स्वयं वह किसी से उत्पन्न होता है। किन्तु जडस्वभावा 'प्रकृति' ही अपनी सतत परिणामशीलता के कारण सभी कार्यों का मूल कारण है। उसी के द्वारा महत्तत्वादि के क्रम से जगत् की सृष्टि होती है।

इस सांख्यसिद्धान्त का खण्डन पहिले ही 'प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेः' (श्लो० ४)। इस श्लोक के द्वारा भी संक्षेप में किया जा चुका है, फिर भी 'कर्तृधर्मा नियन्तारः' (श्लो० १४) इस श्लोक से किञ्चिद् विस्तृत रूप में न्यायसिद्धान्त के अनुसार खण्डन इस अभिप्राय से किया गया है कि १. देवदत्तादि कर्त्ताओं में रहनेवाले धर्म ही 'देवदत्तादि कर्त्ताओं के द्वारा अनुष्ठित यागादि के फल देवदत्तादि कर्त्ताओं को ही मिले' ? इत्यादि नियमों के प्रयोजक हो सकते हैं। २. एवं चेतन ही कर्त्ता हो सकता है। 'अन्यथा' अर्थात् यदि इन दोनों बातों को स्वीकार न करें तो फिर कभी अपवर्ग ही प्राप्त न हो सकेगा, अथवा न कभी संसार ही प्राप्त हो सकेगा।

ये सभी बातें इस सिद्धान्त को मान कर लिखी गयी हैं कि शरीरादि से भिन्न आत्मा ही भोक्ता है, एवं वह नित्य एवं विभु है। किन्तु यह पक्ष ही भूतचैतन्यवादियों को

मान्य नहीं है, क्योंकि वे कहते हैं कि शरीर रूप में परिणत पृथिव्यादि पञ्चभूतों में ही 'चैतन्य' है। इसी से नियमित भोगादि की भी उपपत्ति हो जायगी। अन्वय एवं व्यतिरेक से यह सिद्ध है कि शरीर ही चैतन्य का कारण है। अतः कर्म से उत्पन्न वासनायें शरीर के ही धर्म हैं। इन्हीं वासनाओं से शरीर की उत्पत्तिपरम्परा चलती है एवं ज्ञानजनित-वासनायें (संस्कार) भी उसी शरीर में रहती हैं, जिनमें उनके मूलभूत ज्ञान रहते हैं। ऐसा स्वीकार करने पर ही नियमित भोग एवं नियमित स्मृति की उपपत्ति हो जायगी।

उक्त भूतचैतन्यवाद के विरुद्ध नैयायिकों को यह कहना है चूंकि एक पुरुष के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण दूसरे पुरुष को नहीं होता एवं जिन शरीरादि मूलद्रव्यों में से किसको हम व्यवहार में आपाततः एक समझते हैं, वे भी वस्तुतः 'एक' नहीं हैं, क्योंकि (प्रति तीसरे क्षण में उनका विनाश एवं दूसरे क्षण में तत्सदृश अवयवी की उत्पत्ति होती रहती है। अतः शरीर में चैतन्य (ज्ञान) को स्वीकार कर लेने से देवदत्त के द्वारा अनुभूत विषयों का स्मरण देवदत्त को न हो सकेगा। जिसलिये कि वासनायें द्रव्य नहीं हैं, अतः एक क्षण में शरीर में रहने वाली वासना का सीमित 'संक्रमण' दूसरे शरीर में स्वीकार नहीं किया जासकता। जिससे कि स्मृति एवं ज्ञान के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो सके। अतः चैतन्य के आश्रय के 'स्थिर' अर्थात् नित्य माने बिना दूसरी गति नहीं है।

आत्मा के नित्यत्वपक्ष को भूतचैतन्यवाद की तरह बौद्धों का क्षणभङ्गवाद भी विरोधी है, जिसमें संसार की सभी वस्तुओं का विनाश द्वितीयक्षण में नियमतः अवश्य होता है। यद्यपि इस पक्ष का खण्डन आत्मतत्त्व विवेक (बौद्धाधिकार) ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक किया है। किन्तु संक्षेप में इस ग्रन्थ में भी खण्डन किया है।

कथित क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये सभी वस्तुओं में 'कुर्वद्रूपत्व' नाम की एक विलक्षणजाति माननी होगी। यदि कुर्वद्रूपत्व को स्वीकार कर लेते हैं तो कार्यलिङ्गक कारणानुमान की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस अनुमान की सत्ता बौद्धों को कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि के लिये आवश्यक है। कार्यलिङ्गक कारणानुमान के बिना कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि संभव नहीं है। एवं 'निश्चय' के बिना अर्थात् कार्यलिङ्गक कारणानुमितिस्वरूप 'निश्चय' के बिना 'अध्यक्ष' अर्थात् प्रमास्वरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान उदित नहीं हो सकता।*

* विस्तृत विचार देखिये इस ग्रन्थ के पृ० ७७ से ९० पर्यन्त।

जिस प्रकार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस 'वचन' को मूलसूत्र मान कर वेदान्तिगण जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि अनेक युक्तियों और अनुमानों से करते हैं, उसी प्रकार बौद्धगण भी 'सर्वक्षणिकम्' इत्यादि बुद्धवाक्य को ध्रुव मानकर जगत् को क्षणिक सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियों और अनुमानों का उद्भावन किया है।

वस्तुओं के क्षणिक मानने में बौद्धगण यह कहते हैं कि धान्य के बीज केवल बीज होने के नाते ही अङ्कुर का उत्पादन नहीं कर सकता, अगर ऐसा हो तो घर में स्थिति के समय भी बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति होती किन्तु सो नहीं होता। अतः बीज में एक विलक्षण जाति माननी होगी जिसके बल से क्षेत्रस्थ बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति होगी किन्तु कुशूलस्थ बीज से नहीं। किन्तु एक ही वस्तु में एक ही जाति की सत्ता कभी रहे कभी नहीं, ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि जाति व्याप्यवृत्ति हैं, अव्याप्यवृत्ति नहीं। अतः अङ्कुर से अव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति बीज को कुशूलस्थ से भिन्न एवं विजातीय मानना होगा। किन्तु एक माने जानेवाले बीज की विभिन्नता उनको क्षणिक मानने के लिये विवश करेगी। अतः बीज क्षणिक हैं, प्रत्येक क्षण में पूर्वबीज का विनाश एवं अन्य बीज की उत्पत्ति की परम्परा चलती रहती है। इस प्रकार अङ्कुराव्यवहितपूर्वक्षण में जिस बीज की उत्पत्ति होगी, उसी में 'कुर्वद्रूपत्व' जाति मानेगें, जिसके बल से वही बीज अव्यवहितोत्तर क्षण में अङ्कुर को उत्पन्न करेगा उसके पहिले के बीज नहीं। यह ध्यान रखना चाहिये कि बौद्धगण एक ही कारण से एक कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, प्रधान कारण को अपने कार्य के उत्पादन में सहायक कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। बीजादिप्रधान कारण अङ्कुरादि कार्यों के उत्पादन में अपने आप पूर्ण समर्थ हैं।

नैयायिकादि स्थिरवादी कहते हैं कि कोई भी प्रधान कारण कार्य के उत्पादन में सहायकों से निरपेक्ष अपने आप समर्थ नहीं है, सभी को सहायकों की अपेक्षा होती है। फलतः एक कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु अनेक कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। इन अनेक कारणों का 'समूह' स्वरूप 'सामग्री' ही कार्य की उत्पादिका है। यह दूसरी बात है कि उनमें कुछ अन्तरङ्ग–बहिरङ्गभाव अथवा गौण-मुख्यभाव रहे। एक कारण मुख्य होता है बाकी उसके सहायक अथवा 'सहकारि' होते हैं। जिसके बिना प्रधान कारण फल (कार्य) का उत्पादन न कर सके वही 'सहकारि' कहलाता है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार 'बीज' केवल अपनी 'बीजत्व' जाति के बल

से ही अङ्कुरोत्पादन में समर्थ है, कुशूलस्थ बीज से जो अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती है, उसका हेतु है कर्षित क्षेत्र, जलादि का अभाव। अर्थात् बीजरूप प्रधान कारण को अङ्कुर के उत्पादन में क्षेत्र-सलिलादि सहकारियों की भी अपेक्षा होती है। ये सहकारिगण कुशूलस्थ बीज को प्राप्त नहीं होते, अतः कुशूलस्थ बीज से अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती है। इसके लिये बीज में न कुर्वद्रूपत्व जाति मानने की आवश्यकता है न उन्हें क्षणिक मानने की आवश्यकता। नैयायिकादि जो क्षणभङ्गवाद का खण्डन करते हैं, उसके मूल में सहकारि कारणों की यह स्वीकृति ही है। अतः इस पक्ष का 'सहकारिवाद' नाम से ग्रन्थों में उल्लेख पाया जाता है।

इस प्रकार शरीरादि से भिन्न नित्य जीवों के सम्यगुपभोग के लिये उनमें विभिन्न अदृष्टों का मानना आवश्यक है। इसके लिये अदृष्टों के उत्पादक यागादि-विधायक वेद-वाक्यों के रचयिता के रूप में एवं अचेतन अदृष्टों के चेतन अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की कल्पना आवश्यक है।

शरीरादि से भिन्न नित्य विभु आत्मा को मानने पर यह आक्षेप हो सकता है कि उन्हें किसी कारण मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि कारणता का साधक है अन्वय एवं व्यतिरेक। नित्य एवं विभु आत्मा में कार्य का अन्वय भले ही संभव हो किन्तु व्यतिरेक संभव नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य होने के कारण सदा सर्वदा विद्यमान ही रहती है, अतः उसका 'व्यतिरेक' ही संभव नहीं है, इसलिये तद्व्यतिरेकप्रयुक्तकार्य व्यतिरेकरूप 'व्यतिरेक' संभव नहीं है।

इस आक्षेप का उत्तर आचार्य यों देते हैं कि अन्वय एवं व्यतिरेक ये दोनों मिलकर या पृथक्-पृथक् कारणत्व के ज्ञापक लिङ्ग हैं। किन्तु कारणत्व के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं हैं। कारणत्व का तो कार्यनियतपूर्ववर्त्तित्व ही स्वरूप है, इस स्वरूप का कारणत्व कभी अन्वय से कभी व्यतिरेक से बहुधा दोनों के सम्मिलन से ज्ञात होता है। एवं कुछ स्थलों में अन्वय-व्यतिरेक से भिन्न 'धर्मिग्राहक' मान से भी कारणत्व की सिद्धि होती है। ऐसा नित्य आकाशादिकारणों में होता है।

शब्दसमवायिकारणतया आकाश की सिद्धि होती है। फलतः आकाश की सत्ता ही शब्द की समवायिकारता के ऊपर निर्भर है। अतः 'कारणत्व' स्वरूप 'धर्म' का 'धर्मी' जो आकाश, उसका साधक (ग्राहक) जो अनुमान-प्रमाण है, उसी (धर्मिग्राहक-प्रमाण)

तो हो नहीं सकता क्योंकि ज्ञान की इस सामग्री को दोष का समवधान प्राप्त नहीं है। दोषाघटित ज्ञान की सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होती है। ज्ञान या तो प्रमाण होगा अथवा अप्रमाण। अतः दोषाघटितज्ञान के सामान्य कारणों से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होगी वह प्रमाण (प्रमा) ही होगा। इसलिये ज्ञान का प्रमात्व 'स्वतः' अर्थात् ज्ञान के साधारण कारणों से ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वतः' अर्थात् ज्ञान के ग्राहक कारणों से ही ज्ञात भी होता है। यही है ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व।

फलतः मीमांसकगण ज्ञानों के प्रामाण्य को 'स्वतः' एवं 'अप्रामाण्य' को 'परतः' मानते हैं। इस पक्ष में वेदार्थविषयक ज्ञानों के प्रामाण्य के लिये चूँकि पुरुषनिष्ठ यथार्थ-ज्ञानस्वरूपगुण की अपेक्षा नहीं है, अतः यागादि परलोक साधनों के लिये सर्वज्ञ पुरुष-स्वरूप ईश्वर की अपेक्षा नहीं है।

इस प्रसङ्ग में नैयायिकों का कहना है कि 'विशेष' कार्य के लिये 'विशेष' कारण की आवश्यकता होती है। ज्ञानसामान्य के 'प्रमा' एवं 'अप्रमा' ये दो 'विशेष' हैं। अतः 'अप्रमा' स्वरूप ज्ञान'विशेष' के लिये जिस प्रकार ज्ञान के सामान्य कारणों के अतिरिक्त 'दोष' स्वरूप विशेष कारण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार 'प्रमा' स्वरूप ज्ञान 'विशेष' के लिये भी 'विशेष' कारण की अपेक्षा अवश्य होगी। प्रमा के प्रयोजक उस विशेष कारणो को 'गुण' शब्द से व्यवहार करते हैं। अतः ज्ञान के सामान्य कारणों से 'पर' अर्थात् भिन्न 'गुण' स्वरूप कारण की अपेक्षा प्रमा ज्ञान को भी होती है। इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की तरह ज्ञानों का प्रामाण्य भी 'परतः' है।

शाब्दी प्रमा के लिये यह 'गुण' वह वक्तृनिष्ठ यथार्थज्ञान है जिसका सजातीय शाब्दबोध उत्पन्न होगा। वेद शब्दस्वरूप हैं, सुतराम् वेदार्थविषयक यथार्थज्ञान शाब्द-बोध स्वरूप ही होगा। जिसके लिये वक्तृनिष्ठ यथार्थ ज्ञान स्वरूप 'गुण' की अपेक्षा होगी, वह 'वक्ता' ही 'परमेश्वर' हैं। सुतराम् परमेश्वर के विना परलोक के साधनीभूत यागादि का अनुष्ठान संभव नहीं है, क्योंकि वह वक्तृनिष्ठ यथार्थ ज्ञानस्वरूप 'गुण' जनित वेदार्थ-विषयक यथार्थज्ञान सापेक्ष है।

इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का कहना है कि सकर्तृक शब्द से उत्पन्न होने वाले प्रमा ज्ञान के लिये भले ही वक्तृनिष्ठ यथार्थज्ञानस्वरूप 'गुण' की अपेक्षा हो, किन्तु 'नित्य'

एवं निर्दोष वेदस्वरूप शब्द से उत्पन्न होने वाले यथार्थज्ञान के लिये उक्त 'गुण' की अपेक्षा सम्भव नहीं है। अतः वेदजनितज्ञान के यथार्थ की प्रयोजक वेदों की दोषशून्यता ही है। शाब्दी अप्रमा के प्रयोजक दोषवक्तृनिष्ठभ्रम विप्रलिप्सादि ही हैं, जो नित्य वेदस्थल में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उनका कोई आदिवक्ता नहीं है। अतः वेदार्थज्ञान का प्रामाण्य स्वतः है, एवं उस प्रामाण्य का ग्रहण 'महाजनों' के परिग्रह से होता है। वर्तमान काल के ब्राह्मणादि अतीतकाल के महापुरुषों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण ही वेदों को प्रमाण मानते हैं।

किन्तु मीमांसकों का यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रलय' में अन्य सभी अनित्य वस्तुओं के समान वेदों का भी विनाश हो जाता है, प्रलयोत्तर वेदों के प्रामाण्य का ग्रहण कैसे होगा ? क्योंकि उस समय तो कोई 'महापुरुष' भी रहते नहीं, जिनके परिग्रह से वेदों में प्रामाण्य का ग्रहण होगा।

इस प्रसङ्ग में यह जान लेना आवश्यक है कि मीमांसक लोग 'प्रलय' की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में उनके द्वारा उपस्थापित चार आपत्तियों का निराकरण प्रस्तुत है–

(क) जिस प्रकार आज के 'अहोरात्र' से पहले भी कोई 'अहोरात्र' अवश्य रहता है, उसी प्रकार सभी अहोरात्रों के पहले कोई अहोरात्र अवश्य रहता है, अहोरात्रों की यह अनियन्त्रित श्रृङ्खला 'प्रलय' की सत्ता को ही काट डालती है। किन्तु मीमांसकों की उक्त युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वर्षा ऋतु के प्रथम दिन को छोड़ कर वर्षा ऋतु के सभी दिन यद्यपि वर्षादिनपूर्वक होते हैं, किन्तु वर्षा ऋतु का प्रथम दिन वर्षादिनपूर्वक नहीं होता, क्योंकि वर्षा ऋतु के प्रथम दिन के पूर्व के दिन वर्षा ऋतु के नहीं होते, उसी प्रकार सृष्टि के स्थितिकाल के सभी अहोरात्र यद्यपि अहोरात्र-पूर्वक हैं, फिर भी सृष्टि के आदि का पहला अहोरात्र 'अहोरात्रपूर्वक' नहीं है। अतः सभी अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक नहीं हैं, इसलिये तन्मूलक प्रलय का खण्डन उचित नहीं है।

(ख) मीमांसकगण प्रलय के खण्डन के लिये इस दूसरी युक्ति का प्रयोग करते हैं कि प्रलय को स्वीकार करनेवालों को यह मानना होगा कि प्रलयकाल में भोग नहीं होता। प्रलय के बाद भोग होता है। किन्तु प्रलयकाल में भी आत्मा में अदृष्टों की सत्ता रहती है किन्तु प्रलयकाल में अदृष्ट की कार्यक्षमता अवरुद्ध रहती है, पुनः

सृष्टि होने पर अदृष्टों में भोग की क्षमता आती है, किन्तु यह सम्भव नहीं है, काल के साथ भोग की परम्परा नियमित है, अतः कोई भी काल ऐसा नहीं हो सकता, जिसमें भोग उत्पन्न न हो। किन्तु प्रलय स्वीकार करनेपर प्रलयकाल में भोग सम्भव नहीं होगा। उसके आगे पुनः भोग होगा। इसलिये प्रलयाधिकारणीभूत एक काल में सभी अदृष्टों की भोगोत्पादकत्वशक्ति का अवरोध मानना होगा, किन्तु वैसा सम्भव नहीं है। क्योंकि 'विषमविपाकजनकत्व' उसका स्वभाव है। अतः ऐसा कोई काल नहीं हो सकता, जिसमें सभी अदृष्टों की 'वृत्तियाँ' अवरुद्ध हो जायँ। अतः प्रलय नहीं होता।

किन्तु मीमांसकों का यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति के समय सभी भोगों की निवृत्ति सभी मानते हैं। इसलिये सुषुप्ति के समय अदृष्ट की सभी वृत्तियों का निरोध सर्वसम्मत है। अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि सभी अदृष्टों की वृत्ति का निरोध कभी सम्भव नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में ही सभी वृत्तियों का निरोध स्पष्ट है।

(ग) 'प्रलय' के विरुद्ध मीमांसकगण तीसरी युक्ति यह देते हैं कि यदि प्रलय को स्वीकार करेंगे तो उस समय ब्राह्मणादिवर्णों की व्यवस्था लुप्त हो जायगी। फिर आगे पुनः सृष्टि होने पर ब्राह्मणादिवर्णों की व्यवस्था न हो पायगी। क्योंकि ब्राह्मण-मातृपितृजन्यत्व ही ब्राह्मणत्व का प्रयोजक है। प्रलयकाल में जब सभी नष्ट हो जायँगे तो ब्राह्मणादि वर्ण भी नष्ट हो जायँगे।

इसका यह समाधान है कि स्थितिकाल में यद्यपि ब्राह्मणमातृपितृजन्यत्व ही ब्राह्मणत्व का नियामक होता है, किन्तु सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के सङ्कल्प से ही ब्राह्मणादि की उत्पत्ति होती है, जिनकी कथाओं से पुराणादि भरे पड़े हैं। लोक में भी देखा जाता है कि वृश्चिक (बिच्छू) की उत्पत्ति उनके नर-मादे से भी होती है, कभी गोबर से भी होती है। एवं चौराई का शाक कभी उसके बीज से होता है, और कभी चावल के धोने के लिये प्रयुक्त पानी से होता है। अतः बीज का नियम प्रायिक है, सार्वत्रिक नहीं।

(घ) प्रलय को स्वीकार करने में मीमांसकगण चौथी आपत्ति यह देते हैं कि प्रलय को मानने से शब्दों के सङ्केतग्रहादि नहीं हो सकेंगे, क्योंकि शक्तिग्रह वृद्ध-व्यवहार सापेक्ष है। प्रलय में जब सभी पुरुष विनष्ट हो जायँगे तो किसके व्यवहार से

कौन शक्ति ग्रहण करेगा ? इसी प्रकार प्रलय को स्वीकार करने से घटादि निर्माण का कौशल लुप्त ही जायगा। अतः प्रलय नहीं होता। यह सृष्टि सदा से यों ही चली आ रही है, एवं यों ही चलती रहेगी।

मीमांसकों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार 'मायावी' [कठपुतली को नचाने वाला] पुरुष कठपुतली के द्वारा घट के नयन एवं आनयन से पार्श्वस्थ बालक सङ्केत का ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वरगुरु एवं शिष्य दोनों ही शरीर को धारण कर सङ्केत ग्रहण एवं घटादि सम्प्रदायों की परम्परा को कायम रखते हैं। अतः प्रलय के मानने से सङ्केतग्रह की अनुपपत्ति अथवा घटादि सम्प्रदायों की अनुवृत्ति की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

[३]

'तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्' इस वाक्य द्वारा प्रथम स्तवक में जो ईश्वरसिद्धि के बाधक प्रमाणों की ओर संकेत किया गया है, उसीका विवरण तृतीय स्तवक में है।

जिस प्रकार 'सिद्धि' के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार 'बाध' के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता होती है। तदनुसार जितने भी प्रमाण हैं, उन सभी के द्वारा ईश्वरसिद्धि में बाध की सम्भावना है। नैयायिक प्रत्यक्षादि जिन चार प्रमाणों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उनके द्वारा बाधक उद्भावन कर उसका निरास किया गया है। तदतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये दो प्रमाण मीमांसक और मानते हैं। इन दोनों प्रमाणों के द्वारा ईश्वरसिद्धि में बाध की सम्भावना का निरास उनके पृथक् प्रामाण्य के निराकरण के द्वारा इस अभिप्राय से किया गया है कि अर्थापत्ति वस्तुतः अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भूत है। अतः अनुमान बाध के निराकरण से ही अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा बाध का निराकरण हो जाता है एवं अनुपलब्धि स्वयं अभाव की ग्राहिका नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव के ग्रहण में सहायकमात्र है। अतः प्रत्यक्ष बाध के निरास से ही अनुपलब्धि बाध का निरास समझना चाहिये।

वैशेषिकगण उपमान और शब्द को पृथक् प्रमाण न मान कर अनुमान में ही उन दोनों का अन्तर्भाव करते हैं। उनके मत से अनुमान-बाध के निराकरण से ही उपमान-बाध और शब्द-बाध इन दोनों को भी निराकृत समझना चाहिये। किन्तु नैयायिकगण शब्द एवं उपमान इन दोनों को पृथक्-पृथक् (स्वतन्त्र ही) प्रमाण मानते हैं। अतः उनके

मत से उपमान-बाध एवं शब्द-बाध इन दोनों बाधों का निराकरण अनुमान-बाध के निराकरण से ही सम्पन्न नहीं हो जाता। अतः इस स्तवक में शब्द एवं उपमान इन दोनों के पृथक्-पृथक् (स्वतन्त्र) प्रामाण्य का समर्थन, तथा अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन दोनों के पृथक् प्रामाण्य का खण्डन भी किया गया है। कुछ अन्य अवान्तर स्वतन्त्र विचार भी हैं।

१. प्रत्यक्षबाध एवं उसका निराकरण

जिस प्रकार भूतल में घट की अनुपलब्धि से घटाभाव का निर्णय होता है, एवं उस निर्णय से भूतल में घट की सत्ता बाधित होती है, उसी प्रकार ईश्वर भी चूँकि कहीं उपलब्ध नहीं होते, अतः ईश्वर की इस अनुपलब्धि से ईश्वर की सत्ता का बाधित होना अनिवार्य है। फलतः ईश्वर के साधक सभी अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित हैं।

किन्तु यह प्रत्यक्ष बाध उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष की 'योग्य' वस्तु की अनुपलब्धि ही उक्त प्रत्यक्ष योग्यवस्तु के अभाव का साधक होता है। यदि ऐसा न हो अर्थात् योग्यानुपलब्धि को अभाव-ग्राहक न मानकर योग्यायोग्य-साधारण सभी अनुपलब्धियों को अभाव का साधक मानें तो चक्षुरादि इन्द्रियों की सत्ता भी बाधित हो जायगी, क्योंकि चक्षु अतीन्द्रिय है अतः उसकी उपलब्धि नहीं होती है। फलतः चार्वाक का एकमात्र अवलम्ब प्रत्यक्ष प्रमाण भी विपन्न हो जायेगा।

योग्यानुपलब्धि को अभाव-ग्राहक मानने से शशशृङ्गाभाव की असिद्धि की जो आपत्ति दी जाती है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शशशृङ्गाभाव की सिद्धि कभी होती ही नहीं, क्योंकि शशशृङ्ग की सत्ता अप्रसिद्ध है। कहीं प्रसिद्ध वस्तु का ही कहीं अभाव भी होता है। अब रही 'शशशृङ्गं नास्ति' इस प्रयोग की उपपत्ति। उसे उस प्रयोग से शृङ्ग में शशसम्बन्ध के अभाव का बोधक मान कर उपपन्न किया जा सकता है। वस्तुतः यही उचित भी है। 'शशशृङ्गं नास्ति' इस वाक्य से खरहे के सींग नहीं होते' यह प्रतीति होती है। 'यहाँ शश का शृङ्ग नहीं है' यह प्रतीति नहीं होती।

२. अनुमानबाध एवं उसका निराकरण

क्षित्यङ्कुरादि के कर्त्ता के स्वरूप में ईश्वर का अनुमान नैयायिकों को अभिप्रेत है। किन्तु कोई भी 'कर्त्ता' न 'शरीर' के बिना कोई कार्य कर सकता है, न बिना किसी प्रयोजन के वशीभूत होकर। शरीरादि से भिन्न नित्य-विभु एवं विभु आप्तकाम जिस अशरीरी

परमेश्वर की कल्पना नैयायिकों को इष्ट है, उनको न शरीर ही है, न कोई प्रयोजन ही। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि ईश्वर चूँकि शरीर से एवं प्रयोजन से रहित है, अतः वह किसी का भी कर्त्ता नहीं हो सकता। सुतराम् क्षित्यादि के भी कर्त्ता नहीं हो सकते–'ईश्वरो न कर्त्ता अशरीरित्वात् प्रयोजनाभिसन्धिशून्यत्वाद्वा' इन दोनों अनुमानों के द्वारा ईश्वर में सकर्तृकत्व के बाध से क्षित्यादि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अनुमान बाधित हो जायगा। अतः ईश्वर का साधक उक्त अनुमान सदनुमान नहीं है। इसलिये उससे ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस आक्षेप के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि उक्त अनुमान बाध नहीं हो सकता। क्योंकि अनुमानबाध के लिये बाधक अनुमान का दोषरहित होना अनिवार्य है। दोषयुक्त हेतु से जिस प्रकार किसी की सिद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार दुष्टहेतुक अनुमान से किसी का बाध नहीं हो सकता।

प्रकृत में 'ईश्वरो न कर्त्ता' इत्यादि अनुमान दिखलाये गये हैं। वह दोषदाता के लिये 'आश्रयासिद्ध' है। पक्षतावच्छदेकीभूत ईश्वर रूप से ईश्वर पहिले से सिद्ध नहीं है। अनुमान के लिये पक्षतावच्छेदविशिष्टपक्ष का निश्चय पहले आवश्यक है। यदि उक्त बाधक अनुमानों की उत्पत्ति के लिये ईश्वरत्वविशिष्ट ईश्वर का ज्ञान स्वीकार करेंगे, तो ईश्वर की सिद्धि ही हो गयी। फलतः जिस प्रमाण से बाधक अनुमान के 'धर्मी' स्वरूप 'ईश्वर' का ग्रहण होगा, उसी 'धर्मिग्राहकमान' से उक्त बाधक अनुमान बाधित हो जायगा। क्योंकि 'ईश्वर' स्वरूप उक्त 'धर्मी' का प्रमाज्ञान 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकम्' इत्यादि अनुमानों को छोड़ कर दूसरा दूसरा नहीं है। फलतः जिस अनुमानप्रमाण के बल से ईश्वरानुमान में बाध होगा, उस धर्मिग्राहक अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि ही हो जायगी।

बौद्ध एवं मीमांसकगण अत्यन्त 'असत्' पदार्थ का भी मान स्वीकार करते हैं। तदनुसार असत्ख्याति के द्वारा ज्ञात परमेश्वर में असर्वज्ञत्व अथवा अकर्तृकत्व का अनुमान हो सकता है। ईश्वर सर्वथा अप्रसिद्ध होने पर भी जब असत्ख्याति के द्वारा ज्ञात हो सकता है, तो तद्धर्मिक असर्वज्ञत्वादि का अनुमान आश्रयासिद्ध नहीं होगा। अथवा क्षिति में ही ईश्वर कर्तृकत्वाभाव का अनुमान होगा इस पक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य ने अपना यह प्रसिद्ध श्लोक लिखा है—

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥

अर्थात् अभाव की आश्रयता एवं अभाव की प्रतियोगिता ये दोनों ही परमार्थसद्-विद्यमान वस्तु में ही हो सकती हैं। अतः असत्ख्याति से उपनीत ईश्वर में असर्वज्ञत्वादि की सिद्धि अथवा क्षित्यादि में ईश्वरकर्तृकत्वाभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती।

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि शास्त्र-पुराणादि आगम-प्रमाण के द्वारा ज्ञात परमेश्वर में असर्वज्ञत्व अकर्तृकत्वादि की सिद्धि की जा सकती है। अतः उक्त ईश्वरविरोधी अनुमान अनुपपन्न नहीं। इस प्रसङ्ग में नैयायिक लोग कहते हैं कि यदि 'आगम' को प्रमाण मानेंगे तो प्रमाणभूत आगम के द्वारा जो ईश्वर का ज्ञान होगा, वह 'प्रमा' रूप होगा। फलतः आगमप्रमाण से ही ईश्वर की सिद्धि हो जायगी। यदि आगम को अप्रमाण मानेंगे तो उससे होने वाला ज्ञान असत्ख्याति रूप ही होगा। पहिले ही कहा जा चुका है कि असत्ख्याति के द्वारा ज्ञात पक्ष में अनुमिति नहीं हो सकती।

ईश्वर की अनुपलब्धि से ईश्वर की सत्ता का जो खण्डन किया गया है, उसका समाधान नैयायिकों ने यह किया है कि केवल अनुपलब्धि अभाव का ग्राहक नहीं है, किन्तु 'योग्यानुपलब्धि' ही अभाव का ग्राहक है। ईश्वर की अनुपलब्धि चूँकि 'योग्यानुपलब्धि' नहीं है, अतः इस अनुपलब्धि से ईश्वर के अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता।

इस पर चार्वाकों का कहना है कि केवल अनुपलब्धि ही अभाव का ग्राहक है। उसमें 'योग्यत्व' विशेषण अनावश्यक है। केवल अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक मानने में जो यह आपत्ति करते हैं कि प्रत्यक्षायोग्य वस्तु की सिद्धि के लिये ही अनुमान का प्रयोग किया जाता है, यदि केवल अनुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक मानेंगे तो प्रत्यक्षा-योग्य वस्तुओं की सत्ता ही लुप्त हो जायगी, फिर अनुमान अपना प्रयोजन खो देने के कारण अपनी सत्ता को ही खो बैठेगा—उसके प्रसङ्ग में चार्वाकों का कहना है कि अनुमान की सत्ता का लोप इष्ट ही है।

इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि 'सन्देह' भावाभावकोटिक होता है तथा भावकोटिक निश्चय एवं अभावकोटिक निश्चय इन दोनों में से किसी के भी रहने पर संशय या सन्देह नहीं होता है। फलतः दोनों कोटियों में से किसी एक कोटि का निश्चय संशय का विरोधी है।

ऐसी स्थिति में यदि सन्देह के विषयीभूत वह्निप्रभृति का ज्ञान 'उपलब्धि' होगा तो वह निश्चयात्मक ही होगा, उनके रहने से सन्देह नहीं होगा। यदि उनकी उपलब्धि नहीं रहेगी तो अनुपलब्धिप्रयुक्त अभाव का ही निश्चय रहेगा जिसके रहने से भी संशय अनुपपन्न होगा। अतः योग्यत्व विशेषणाघटित केवल अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक मानने से संशय ही अनुपपन्न हो जायगा। इसलिये संभावनामात्र से भी प्रवृत्ति की उपपत्ति इस पक्ष में नहीं की जा सकती।

इस पर चार्वाकों का कहना है कि यदि सभी अनुपलब्धियों को अभाव का निश्चायक न मानें, केवल योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक मानें तो अनुमान की सत्ता ही उठ जायगी। क्योंकि अनुमान के लिये हेतु में उपाध्यभाव का ग्रहण आवश्यक है। योग्य उपाधि की अनुपलब्धि से योग्य उपाधि के अभाव का ही निश्चय होगा। फिर भी अयोग्य उपाधि की शङ्का बनी ही रहेगी। उपाधि की शङ्का के रहने पर भी व्याप्ति-निश्चय नहीं हो पाता है। व्याप्ति-निश्चय के न रहने से अनुमान की सत्ता ही विपन्न है, अनुपपत्ति होगी ही।

दूसरी रीति से भी व्याप्ति का निश्चय संभव न होने के कारण अनुमान की सत्ता संकटग्रस्त है, क्योंकि देश और काल दोनों ही अनन्त हैं। अतः इस संभावना का प्रतिरोधक कोई नहीं दीखता। किसी भी देश और काल में धूम बिना वह्नि के नहीं रह सकता। जब कि सभी देशों का एवं सभी कालों का प्रत्यक्ष किसी को हो ही नहीं सकता, तब उन अप्रत्यक्ष देशों और कालों में व्यभिचार की शंका अवश्य बनी रहेगी।

इन्हीं सब आपत्तियों को दूर करने के लिये आचार्य ने यह प्रसिद्ध श्लोक लिखा है।

> शङ्का चेदनुमास्त्येव, न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
> व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥

अर्थात् सभी हेतु कदाचित् किसी काल अथवा किसी देश में व्यभिचरित न हों। इस प्रकार की आशङ्का भावी काल एवं भावी देश के सहारे ही की जा सकती है। किन्तु इसके लिये भाव-देश एवं भावी काल का निश्चय आवश्यक है। यह निश्चय केवल अनुमान प्रमाण से ही हो सकता है। अतः 'शङ्का' अगर है तो अनुमान भी अवश्य ही है।

यदि व्यभिचार शङ्का नहीं है, तब तो अनुमान का कोई बाधक ही नहीं। 'सुतराम्' अनुमान प्रमाण है ही।

तर्क ही व्यभिचार शङ्का की अवधि है। अर्थात् तर्क से ही व्यभिचार शङ्का एवं उपाधि शङ्का दोनों का ही विनाश होगा। सभी हेतुओं में व्यभिचार की शङ्का नहीं होती। जिन हेतुओं में व्यभिचार की शङ्कायें होती है, उसकी निवृत्ति तर्क से होती है। उसके बाद व्याप्ति के निश्चय में कोई बाधा नहीं रह जाती। अनुमिति निर्विघ्न हो जाती है।

जब तक यह उपाधि शङ्का अथवा व्यभिचार शङ्का का चक्र चलता रहेगा, तब तक तर्क की धारा भी उनको विनष्ट करने के लिये चलती रहेगी। जब प्रमाता पुरुष को अपेक्षित व्याप्ति-ज्ञान प्राप्त हो जायगा, तब तर्क की धारा भी रुक जायगी।

यह जो आपत्ति दी जाती है कि तर्क भी अपनी उपपत्ति के लिये अविनाभाव या व्याप्ति की अपेक्षा रखता है, अतः तर्क के सहारे व्याप्ति-निश्चय के सम्पादन में 'अनवस्था' होगी, वह आपत्ति भी युक्त नहीं, क्योंकि 'सभी हेतुओं में व्यभिचार की शङ्का अवश्य हो' ऐसी कोई भी राजाज्ञा नहीं। कहने का इतना ही अभिप्राय है कि जिन हेतुओं में व्यभिचार की शङ्का होगी, उसकी निवृति 'तर्क' से होगी। यदि सभी हेतुओं में व्यभिचार अवश्य माना जाय तो आपत्ति देने वाले की अपनी ही प्रवृत्तियाँ व्याहत हो जायँगी। अर्थात् धूम में यदि वह्निजन्यत्व को सन्दिग्ध मान लें, तो उक्त शङ्का करने वाले पुरुष की वह्नि को लाने की निष्काम प्रवृत्ति में 'व्याघात' उपस्थित हो जायगा, जो धूम के लिये ही होती है। अतः व्यभिचार शङ्का को यदि निरवधि मानेंगे तो उक्त 'प्रवृत्ति-व्याघात' उपस्थित होगा[1]।

खण्डन-खाद्य में श्रीहर्ष ने अनुमान खण्डन के प्रसङ्ग में उदयन की इस कारिकोक्त-युक्तियों का खण्डन करते हुए उपसंहार में लिखा है कि:—

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि॥
व्याघाती यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातवधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः॥

श्रीहर्ष प्रथम श्लोक के द्वारा कहते हैं कि इस प्रसङ्ग में हम लोग 'वेदान्तीगण' भी तुम्हारी 'गाथा' 'उदयनकारिका' को ही कुछ अक्षरों के हेरफेर के साथ सहजतः अपने पक्ष की पुष्टि के लिये भी पढ़ सकते हैं। अर्थात् तुम्हारे श्लोक को ही कुछ पाठभेद के साथ पढ़ कर तुम्हारा प्रतिवाद कर सकते हैं। उदयन-कारिका का अन्यथा पाठ स्वरूप ही द्वितीय श्लोक है।

---

१ देखिये इसी ग्रन्थ का तृतीयस्तबक, पृ० ३०८

उदयन ने लिखा है—'शङ्का चेदनुमास्त्येव'। श्रीहर्ष उस स्थान पर लिखते हैं कि 'व्याघातो यदि शङ्कास्ति'। उदयन लिखते हैं 'शङ्कावधिर्मतः'। श्रीहर्ष लिखते हैं 'शङ्का-वधिः कुतः'—यही है उदयन के श्लोक का प्रकृत में श्रीहर्षोक्त अन्यथा पाठ।

श्रीहर्ष द्वारा अन्यथाकृत श्लोक का अभिप्राय है कि 'व्याघातो यदि' अर्थात् 'व्याघात' यदि है, तो 'शङ्कास्ति' शङ्का भी अवश्य ही रहेगी। अर्थात् आपने जिस व्याघात का उद्भावन किया है, वह शङ्का के बिना रह ही नहीं सकता। 'न चेत्' अर्थात् व्याघात यदि नहीं है, तो फिर शङ्का का प्रतिबन्धक न रहने से शङ्का अवश्य ही रहेगी। ऐसी स्थिति में शङ्का की अवधि व्याघात पर्यन्त ही है 'व्याघातावधिराशङ्का' यह कैसे कहा जा सकता है? ऐसी स्थिति में 'तर्कः शङ्कावधिर्मतः' इस उक्ति के द्वारा जो तर्क को शङ्का का प्रतिबन्धक कहा गया है, वह अयुक्त हो जाता है। अर्थात् व्याघात के रहने पर यदि शङ्का अवश्य ही रहेगी, शङ्का को छोड़ कर व्याघात जब रह ही नहीं सकता, तो व्याघात से शङ्का की निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि व्याघात शङ्का का निवर्त्तक नहीं है तो कथित शङ्का के कारण कथित तर्क की अवतारणा ही नहीं हो सकती। अतः तर्क से भी शङ्का की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह असम्भव है।

श्रीहर्ष का अभिप्राय है कि यदि यह कहा जाय कि शङ्का से स्वप्रवृत्ति का व्याघात होता है, इसीलिये शङ्का नहीं होती, तो इसका यही फलितार्थ है कि—स्वप्रवृत्ति-व्याघात ही शङ्का का प्रतिबन्धक है। यही बात उदयन ने 'व्याघातावधिराशङ्का' इस वाक्य से कही है। 'व्याघात' शङ्का का 'अवधि' अर्थात् 'सीमा' है, फलतः प्रतिबन्धक है।

अब यह देखना है कि यह 'व्याघात' कौन-सी वस्तु है? 'धूम वह्नि से उत्पन्न होता है? अथवा नहीं?' इस शङ्का के रहते धूमार्थी पुरुष की वह्नि में निष्काम प्रवृत्ति होती है, वह न हो सकेगी। कथित शङ्का का कथित प्रवृत्ति के साथ जो यह 'विरोध' है, वही 'व्याघात' शब्द से व्यक्त किया गया है। दो या दो से अधिक वस्तुओं में ही विरोध होता है। अतः विरोध स्थल में अन्ततः दो पदार्थों का रहना आवश्यक है। केवल एक ही पदार्थ के अवलम्बन से 'विरोध' नहीं हो सकता। जिन पदार्थों में परस्पर विरोध होता है, वे दोनों ही पदार्थ विरोध के आश्रय हैं। उन दोनों में से किसी एक के न रहने पर भी विरोध की उपपत्ति नहीं हो सकती।

कथित शङ्का एवं प्रवृत्ति के विरोध (जिसको उदयन ने 'व्याघात' कहा है) की जहाँ सत्ता रहेगी, वहाँ विरोध के आश्रय अथवा प्रतियोगी शंका की सत्ता भी अवश्य ही रहेगी। विरोध अपने इस आश्रय अथवा प्रतियोगी को छोड़ कर नहीं रह सकता।

इसलिये यह मानना होगा कि उदयनोक्त 'व्याघात' अथवा विरोध जहाँ रहेगा वहाँ शङ्का भी अवश्य ही रहेगी। इसी से श्रीहर्ष ने लिखा है कि 'व्याघातो यदि' अर्थात् व्याघात यदि है तो 'शङ्का' अवश्य ही रहेगी। यदि व्याघात के रहने पर शङ्का अवश्य रहेगी तो व्याघात शङ्का का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। अतः हेतु में व्यभिचार शङ्का के अनुच्छेद से तर्क के मूलभूत व्याप्ति निश्चय की कोई सम्भावना नहीं रह जायगी। अतः तर्क ही असम्भव हो जायगा। इसलिये तर्क शङ्का का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से श्रीहर्ष ने श्लोक के अन्त में लिखा है—तर्कः शङ्कावधिः कुतः ?

तत्त्वचिन्तामणिकार श्री गङ्गेशोपाध्याय ने 'तर्कप्रकरण' में श्रीहर्ष के 'व्याघातो यदि' इस द्वितीय श्लोक को उद्धृत कर आलोचना करते हुए लिखा है कि—

"अतएव व्याघातो यदि शङ्कास्ति ···· ···· ···· इति खण्डनकारमतमपास्तम्, न हि व्याघातः शङ्काश्रितः, किन्तु स्वक्रियैव शङ्काप्रतिबन्धिकेति। न वा विशेषदर्शनात् शङ्कानिवृत्तिरेवं स्यात्"[१]

'गङ्गेश का कहना है—

[१] उदयन ने अपने श्लोक में 'व्याघातावधिराशङ्का' इस वाक्य के द्वारा कथित प्रवृत्ति-व्याघात को शङ्का का प्रतिबन्धक नहीं कहा है। उदयन का अभिप्राय है कि सार्वजनीन अनुभव के अनुसार शङ्का वहीं तक की जाती है, जहाँ तक स्वप्रवृत्तिव्याघातादिदोष उपस्थित न हों। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि जहाँ शङ्का करने वाले पुरुष की अपनी प्रवृत्ति ही व्याहत होती है, वहाँ वस्तुतः शङ्का की उत्पत्ति नहीं होती। शङ्का की यह अनुत्पत्ति शङ्का के किसी अन्य कारण के न रहने से हो, अथवा किसी प्रतिबन्धक के रहने से हो, यह दूसरी बात है। किन्तु उक्त स्थल में शङ्का की उत्पत्ति नहीं होती। उदयन ने व्याघात को शङ्का का प्रतिबन्धक नहीं कहा है।

[२] 'न वा' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा चिन्तामणिकार ने श्रीहर्ष की युक्ति को मानते हुए कहा है कि यदि व्याघात को शङ्का का प्रतिबन्धक मान भी लें तथापि कोई हानि नहीं। क्योंकि जिस प्रकार 'विशेषदर्शन' शङ्का का प्रतिबन्धक होता है, उसी प्रकार 'व्याघात' भी शङ्का का प्रतिबन्धक होगा। नहीं तो फिर 'विशेषदर्शन' स्वरूप प्रतिबन्धक से भी शङ्का की निवृत्ति नहीं होगी।

---

१ तत्त्वचिन्तामणि तर्कप्रकरण पृ० २३३ पं० १ सोसाइटी से

क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषः' इत्यादि संशयस्थलों में 'अयं स्थाणुरेव' अथवा 'अयं पुरुष एव' इत्यादि विशेषदर्शनों से संशय की निवृत्ति को सभी स्वीकार करते हैं। उक्त 'विशेष-दर्शन' को 'विरोधिदर्शन' भी कहते हैं, क्योंकि वह संशय का विरोधी है। किन्तु श्रीहर्ष की कथित युक्ति के अनुसार जिसके साथ जिसका विरोध होगा, उन दोनों की सत्ता रहने से ही विरोध उपपन्न होगा। इसलिये श्रीहर्ष के अनुसार जिस प्रकार शङ्का के बिना शङ्काश्रित व्याघात नहीं रह सकता, उसी प्रकार संशय के बिना संशयाश्रित विशेषदर्शन नहीं रह सकता। सुतराम् इससे विशेषदर्शन की जो सर्वसिद्धि संशय निवर्तकता है, वह अनुपयुक्त हो जायगी। अतः जिस प्रकार संशय के बाद विशेषदर्शन के उत्पन्न होने से संशय मिट जाता है, उसी प्रकार शङ्का के बाद व्याघात के उपस्थित होने पर शङ्का मिट जायगी, अतः श्रीहर्षकृत उक्त प्रतिवाद युक्त नहीं।

उपमानबाध का निरास

ईश्वर की सिद्धि में उपमान प्रमाण के द्वारा यह बाध उपस्थित किया जा सकता है कि जिस पदार्थ की सत्ता होती है, उसके सदृश कोई दूसरा पदार्थ अवश्य होता है। अथवा वह स्वयं किसी दूसरे पदार्थ का सादृश्य रखता है, किन्तु ईश्वर के समान न कोई दूसरा है, न ईश्वर ही किसी के समान है। ईश्वर चूंकि सादृश्यसे विहीन है, अतः गगन-कुसुमादि के समान उसकी सत्ता नहीं।

इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि में सम्भावित उपमान बाधका निरास वैशेषिकगण इस दृष्टि से करते हैं कि उपमान चूंकि अनुमान में ही अन्तर्भूत है, अतः अनुमानबाध के निरा-करण से ही उपमान के बाध को भी निरस्त समझना चाहिये।

किन्तु, नैयायिकगण ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वे लोग उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अतः तात्त्विक दृष्टि से अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव का खण्डन एवं स्वतन्त्र प्रामाण्य का समर्थन कर वैशेषिकों के मत का खण्डन किया गया है।

उपमान के द्वारा ईश्वरसिद्धि में बाध के प्रसङ्ग में नैयायिकों का कहना है कि उपमान प्रमाण चूंकि केवल सादृश्य की प्रमिति का ही कारण है, अतः उससे किसी ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जिससे ईश्वर की सिद्धि में बाधा पड़े। अतः उपमान प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि में बाधा नहीं आ सकती।

मीमांसकगण उपमान के प्रामाण्य का समर्थन इस दृष्टि से करते हैं कि 'सादृश्य' एक स्वतन्त्र पदार्थ ही है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिन द्रव्यादि पदार्थों की सिद्धि होती है, उनसे यह भिन्न है। अतः सादृश्य नाम के अतिरिक्त पदार्थ के लिये उपमान नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता है।

किन्तु, नैयायिक एवं वैशेषिक दोनों ही एक स्वर से इस युक्ति का विरोध करते हैं, क्योंकि ये दोनों ही सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ न मान कर क्लृप्तद्रव्यादि स्वरूप ही मानते हैं। अतः उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माननेवाले नैयायिक भी यहाँ वैशेषिक के साथ हैं।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि भले ही सादृश्य क्लृप्त द्रव्यादि पदार्थों में से ही कोई एक हो, तथापि प्रत्यक्षादि प्रमाण उसके ग्राहक नहीं हैं, अतः उसके ग्रहण के लिये उपमान प्रमाण की आवश्यकता तो है ही।

उपमान प्रमाण की सत्ता के ज्ञापक इस कथन का खण्डन वैशेषिकगण प्रतिबन्दि के द्वारा करते हैं, कि यदि ऐसा मानें तो 'वैधर्म्य' अर्थात् वैसादृश्य के बोध के लिये भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा। यदि वैधर्म्य का बोध अर्थापत्ति प्रमाण से मानेंगे तो अर्थापत्ति के द्वारा साधर्म्य का भी बोध हो सकता है।* अतः उक्त युक्ति ठीक नहीं है।

इस प्रसङ्ग में नैयायिकों का कहना है कि गवयादि पदों का जो गवयत्वविशिष्ट अर्थ में अभिधावृत्ति (शक्ति) नाम का सम्बन्ध है, उसका बोध चूंकि प्रत्यक्षादिप्रमाणों से सम्भव नहीं है, अतः उपमान नाम का एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है। 'शक्ति धीरुपमा फलम्'।

इस प्रसङ्ग में वैशेषिक लोग कह सकते हैं, गवयत्वावशिष्ट यह धर्मी चूंकि गोसदृश है, अतः यह गवयपद का वाच्य अर्थ है [गवयत्वविशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्यो गोसदृशत्वात्] इस अनुमान के द्वारा भी उक्त शक्तिज्ञान हो सकता है, अतः उपमान प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रसङ्ग में नैयायिकों का कहना है कि अनुमान के लिये हेतु और साध्य का परामर्श के द्वारा पहिले से ज्ञात होना आवश्यक है। प्रकृत में गवयपदवाच्यत्वस्वरूप साध्य पहिले से ज्ञात नहीं है, अतः उसकी अनुमिति नहीं हो सकती।

---

* देखिये ३३० पृ०

इसी प्रकार शब्द प्रमाण से भी उक्त शक्तिज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शक्तिज्ञान के लिये भी शक्यार्थ का पहिले से ज्ञात होना आवश्यक है, गवयत्व तो पहिले से सर्वथा अज्ञात है।

शब्दप्रमाण के द्वारा प्राप्त बाध का निरास

ईश्वर की सिद्धि में शब्दप्रमाण से सम्भावित बाध का निरास वैशेषिकगण इस दृष्टि से करते हैं कि शब्द नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, अपितु वह अनुमान के ही अन्तर्गत है, अतः अनुमानबाधकत्व के निरस्त होने से ही शब्दप्रमाण के द्वारा सम्भावित बाध को भी निरस्त समझना चाहिये।

किन्तु, नैयायिक लोग शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानते हैं, अतः सांख्याचार्यों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में जो 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि गीता वचनों को बाधक रूप में उपस्थित किया जाता है, उसका निरास करते हुए कहते हैं कि 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि जिस शब्दप्रमाण को उपस्थित किया है, वह अतीन्द्रियार्थविषयकज्ञान का सम्पादक है, अतः तभी प्रमाण हो सकता है, जब कि अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञपुरुषस्वरूप आप्त के द्वारा वह उच्चरित हो। क्योंकि अनाप्तोक्त शब्दप्रमाण नहीं हैं, एवं शब्द नित्य भी नहीं है, अतः नित्यत्व प्रयुक्त भी वेद में प्रामाण्य सम्भव नहीं है। इसलिये उक्त शब्द-प्रमाण से ईश्वरसिद्धि में बाधा नहीं आ सकती।

दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि—ईश्वर में जगत्कर्तृत्व के बाधक वाक्य उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर में जगत्कर्तृत्व के साधक 'द्यावा भूमीं जनयन् देव एकः' इत्यादि वाक्य भी उपलब्ध होते हैं। अतः यह समझना चाहिये कि जितने भी ईश्वर में कर्त्तृत्वादि के बाधक वाक्य हैं, वे सभी वाक्य ईश्वर में विशेषगुणों के अभाव बोध के अभिप्राय से लिखे गये हैं, ईश्वर के अभाव का बोध उनसे अभिप्रेत नहीं है।

अर्थापत्ति के द्वारा ईश्वरसिद्धि में बाध का उपपादन तथा खण्डन

चूंकि, ईश्वर वेदों के उपदेश द्वारा ही लोगों को यागादि कार्यों में प्रवृत्त करा सकते हैं, बिना उपदेश के नहीं, अतः यह मानना होगा कि उपदेश के बिना यागादि में प्रवृत्त कराने की विधि ईश्वर को ज्ञात नहीं है, अतः उन्हें सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता। फलतः यह उपदेश ही ईश्वर के सर्वज्ञत्व को अनुपपन्न कर देता है।

कथित आक्षेप भी उचित नहीं है, क्योंकि वेदों के उपदेष्टा पुरुष को सर्वज्ञ मानें ? अथवा असर्वज्ञ ? दोनों ही स्थितियों में वेदोपदेश की उपपत्ति हो सकती है, इसके लिये वेदों को उपदेष्टा पुरुष को असर्वज्ञ मानना अनिवार्य नहीं, अतः कथित रीति से अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में बाध को उपस्थित नहीं किया जा सकता।

क्योंकि यह सभी मानते हैं कि 'हेतु' के न रहने पर 'फल' की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिये प्रमाण के न रहने पर 'प्रमा' की उत्पत्ति नहीं होती। इस नियम के अनुसार ही उपदेश के बिना हम लोगों की वाजपेयादियागों की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती।

यदि ऐसी बात न हो तो 'कर्मवादी' मीमांसकों के मत में समान युक्ति से यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'अदृष्ट' सभी कार्यों का कारण है, वाजपेयादि यागविषयक-प्रवृत्ति स्वरूप कार्य का भी कारण है, ऐसी स्थिति में वेदों के उपदेश व्यर्थ हैं, क्योंकि वेदों के उपदेश के रहने पर भी अदृष्ट के बिना याग की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न होती। अतः उक्त आक्षेप व्यर्थ है।

अनुपलब्धि के द्वारा बाध का निराकरण

अनुपलब्धि चूंकि स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, अभावप्रत्यक्ष एवं अभावानुमान का सहायक मात्र है, अतः प्रत्यक्षबाध एवं अनुमानबाध के निराकरण से ही अनुपलब्धि-बाध भी निराकृत हो जाता है। जिसका निरूपण क्रमशः 'योग्यादृष्टिः' इत्यादि श्लोक के द्वारा एवं 'क्वानुमानमनाश्रयम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया जा चुका है।

इस प्रसङ्ग में केवल यह विचारणीय रह जाता है कि अनुपलब्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण क्यों नहीं है ?

अभाव की प्रतीति के लिये ही अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं। किन्तु 'घटभाववद्भूतलम्' इत्यादि प्रतीतियाँ चूँकि अपरोक्षात्मक हैं, अतः उनके लिये इन्द्रिय को कारण मानना आवश्यक है। अभाव की उक्त प्रतीतियों में चूँकि इन्द्रिय का अन्वय और व्यतिरेक अन्यमूलक नहीं, अतः इन्द्रियाँ उक्त अभाव प्रतीतियों की कारण ही हैं, अन्यथा-सिद्ध नहीं। फलतः इन्द्रियजनित होने के कारण अभाव की उक्त प्रतीतियाँ चूंकि प्रत्यक्षात्मक हैं, अतः इन्द्रिय ही उनका कारण भी है। यद्यपि अनुपलब्धि का साहाय्य इन्द्रियों को

अपेक्षित होता है। फलतः अनुपलब्धि अभाव प्रतीति में अपेक्षित होने से कारण अवश्य हैं किन्तु 'करण' नहीं, अतः प्रमाकरण स्वरूप प्रमाण नहीं।*

चतुर्थ स्तबक

[४]

मीमांसकगण ईश्वर के विरुद्ध चौथी बाधा यह उपस्थित करते हैं कि यदि ईश्वर को मान भी लिया जाय, तथापि उन्हें 'प्रमाण' नहीं माना जा सकता, वही 'प्रमाण पुरुष' है, जिसके ज्ञान 'प्रमा' हों। प्रमाज्ञान को अज्ञातविषयक होना अनिवार्य है, अन्यथा स्मृति को भी 'प्रमा' मानना होगा। ईश्वर का कोई भी ज्ञान अज्ञातविषयक नहीं है। एवं 'प्रमा' ज्ञान स्वरूप क्रिया (धात्वर्थ) का कर्त्ता अथवा करण ही प्रमाण है। ईश्वर ज्ञान चूँकि नित्य है, अतः उसका न कोई कर्त्ता है, न करण। इस प्रकार किसी भी प्रकार से ईश्वर को 'प्रमाण' नहीं माना जा सकता। इसलिये ईश्वरोच्चरित होने के कारण वेद को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः वेद अपनी नित्यता एवं दोषशून्यता के कारण ही प्रमाण है।

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि 'अगृहीतग्राहित्व' प्रमाज्ञान का लक्षण ही नहीं। क्योंकि प्रमाज्ञान का यह लक्षण धारावाहिकज्ञान में अव्याप्त है, एवं शुक्ति में 'इदं रजतम्' इत्यादि आकार की विपर्ययात्मक बुद्धियों में अतिव्याप्त भी है।

अतः 'यथार्थानुभवत्व' भी प्रमाज्ञान का प्रकृत लक्षण है। धारावाहिक बुद्धि ज्ञान विषयक होने पर भी चूंकि यथार्थानुभवस्वरूप है अर्थात् तद्वति तत्प्रकारक अनुभव स्वरूप है, अतः प्रमा है। उक्त विपर्यय अज्ञातविषयक होने पर भी चूंकि यथार्थानुभव स्वरूप नहीं है, अतः प्रमा नहीं है।

प्रमा के लक्षण में 'अग्रहीतग्राहित्व' देने का इतना ही स्वारस्य है, स्मृति में प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति न हो। यह अतिव्याप्ति तो 'तद्वति तत्प्रकारकानुभवो यथार्थः' ऐसा अनुभवत्वघटित लक्षण करने से ही हो जाता है। दूसरी बात यह है कि—'प्रमात्व' के लिये 'इतरानपेक्षत्व' आवश्यक है। स्मृति में प्रमात्व उसके कारणीभूत पूर्वानुभव के प्रमात्व के अधीन है। इसलिये भी स्मृति में प्रमात्व की आपत्ति मिट जाती है। अतः प्रमा के

* देखिये तृतीय स्तबक पृ० ४३६।

लक्षण में अगृहीतग्राहित्व विशेषण देने से जो ईश्वर में अप्रामाण्य की आपत्ति दी गयी है, वह अयुक्त है।

ईश्वर साधक अनुमान में मीमांसकगण यह दोष उपस्थित करते हैं कि ज्ञान से विषय में 'ज्ञातता' नाम की एक वस्तु की उत्पत्ति माननी होगी, जिससे धारावाहिक बुद्धि प्रमा लक्षण की अव्याप्ति दूर हो जायगी। ज्ञातता के न मानने से "घट ही घटज्ञान का विषय हो, पट नहीं" इस नियम की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। ज्ञातता के स्थिर हो जाने पर यह मानना होगा कि क्षित्यङ्कुरादि में जो सकर्तृकत्वसिद्धि अनुमान से होगी, उसके बल से 'ज्ञातता' स्वरूप कार्य में भी सकर्तृकत्व की सिद्धि होगी, क्योंकि कार्यत्व एवं सकर्तृकत्व की व्याप्ति तभी स्थिर रहेगी। किन्तु ज्ञातता में यदि सकर्तृकत्व को स्वीकार करेंगे तो अनवस्था होगी। ऐसी स्थिति में घट में उत्पन्न होने वाली ज्ञाततास्वरूप कार्य में सकर्तृकत्व की रक्षा के लिये उक्त ज्ञातता में घटज्ञानजन्यता को स्वीकार करना आवश्यक है।

किन्तु घटज्ञान से जब घट में ज्ञातता की उत्पत्ति हो जायगी तभी वह ज्ञान घटविषयक होगा। अतः उपादानज्ञानस्वरूप घटज्ञान में घटविषयकत्व नियम की उपपत्ति उसके बाद उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता से नहीं हो सकती। इसके लिये दूसरी ज्ञातता की आवश्यकता होगी। किन्तु द्वितीय ज्ञातता में भी उक्त शङ्काएँ उपस्थित होकर अनवस्था में परिणत हो जायँगी। अतः ज्ञातता को स्वीकार करना आवश्यक है जिससे उक्त ईश्वरानुमान संकटग्रस्त हो जायगा।*

इस प्रसङ्ग में नैयायिकगण कहते हैं कि 'घटज्ञान की विषयता घट में ही रहे' इस नियम की उपपत्ति के लिये 'ज्ञातता नाम' की किसी वस्तु को मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि घटज्ञान का ही यह स्वभाव स्वीकार करेंगे कि 'घटज्ञान घटविषयक अवश्य हो'। यदि इस स्वभाव को स्वीकार न करें तो 'ज्ञातता' के प्रसङ्ग में भी यह अभियोग उपस्थित होगा कि 'घटज्ञान से घट में ही ज्ञातता की उत्पत्ति क्यों हो! पट में भी उसी ज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति क्यों न हो! इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि 'घटज्ञान का यही स्वभाव है कि वह घट में ही ज्ञातता का उत्पादन करे' किन्तु घटज्ञान का ऐसा स्वभाव स्वीकार करने की अपेक्षा इस कल्पना में ही लाघव है कि 'घटज्ञान अवश्य ही घटविषयक हो' अथवा घटज्ञान की विषयता घट में अवश्य ही रहे' इसके लिये ज्ञातता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

* देखिये पृ० ५१४-५१५।

ज्ञातता की सिद्धि के लिये मीमांसकगण अनुमानप्रमाण उपस्थित करने के अभिप्राय से कहते हैं कि सकर्मक क्रिया का यह स्वभाव है कि वह कर्मकारक में किसी फल का उत्पादन करे। ज्ञान क्रिया (धात्वर्थ) भी चूँकि क्रिया है, अतः वह अपने कर्म कारक स्वरूप घटादि विषयों में किसी वस्तु का उत्पादन अवश्य करे, यही वस्तु है 'ज्ञातता'। अतः ज्ञातता को स्वीकार करने में यह अनुमान ही प्रमाण है कि 'ज्ञानक्रिया स्वविषये किञ्चित् फलमुत्पादयति, क्रियात्वात्; या या सकर्मिका क्रिया सा सा स्वकर्मणि नूनं किञ्चित्फलमुत्पादयति, यथा गमनक्रिया'।

किन्तु अनुमान के हेतु क्रियात्व को यदि धात्वर्थत्व रूप मानें तो 'गगनं सन्धापयति चैत्रः' इत्यादि स्थलों में हेतु व्यभिचरित होगा। यदि 'क्रियात्व' स्पन्दनस्वरूप मानें तो हेतु स्वरूपासिद्ध होगा, क्योंकि ज्ञान स्पन्दात्मक नहीं है, अतः उक्त अनुमान से ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती।

ज्ञातता की सिद्धि के लिये मीमांसकगण एक युक्ति यह भी देते हैं, 'ज्ञातोऽयमर्थः, साक्षात्कृतोऽयमर्थः' इत्यादि आकार के प्रत्यक्ष ही ज्ञातता अथवा साक्षात्कृतता के साधक हैं। किन्तु उक्त समाधान भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार सावयव घटादि पदार्थों में अवयवों के भेद से परस्पर भेद की उपपत्ति होती है, उस प्रकार निरवयव ज्ञानों में परस्पर भेद संभव नहीं है। अतः उनमें विषय के भेद से ही भेद मानना होगा। अतः जिस प्रकार ज्ञान विशेष्य होता है, वैसे ही विशेषण भी हो सकता है, अतः 'ज्ञातो घटः' इस स्थल में ज्ञान विशेषण है। तस्मात् जिस प्रकार निरवयव ज्ञानों में 'अर्थ' अर्थात् विषय के भेद से भेद होता है, उसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' इत्यादि स्थलों में 'ज्ञान' स्वरूप विशेषण के द्वारा ही 'ज्ञातघट' अज्ञातघटों से व्यावृत्त होगा। इसके लिये ज्ञातता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि ऐसा न मानें तो जिस प्रकार 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीति से विषय में ज्ञातता की उत्पत्ति मानते हैं, उसी प्रकार 'कृतो घटः' इत्यादि प्रतीतियों से घटादि विषयों में 'कृतता' प्रभृति धर्मों की उत्पत्ति भी माननी होगी, किन्तु ऐसा मीमांसक लोग भी स्वीकार नहीं करते। अतः ज्ञातता की सिद्धि इस प्रकार भी नहीं हो सकती।*

* देखिये ५२६ पृ०।

'प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान ही प्रमा है' प्रमाज्ञान के इस लक्षण के अनुसार ईश्वर-ज्ञान प्रमा नहीं सिद्ध होता, क्योंकि नित्य होने के कारण वह 'अजन्य' है, अतः प्रमाण-जन्य भी नहीं है। इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान में अप्रमात्व के द्वारा ईश्वर में अप्रामाण्य का आपादन भी मीमांसकगण करते हैं, किन्तु वह भी ठीक नहीं ।

इस आक्षेप के उत्तर में नैयायिकगण कहते हैं कि प्रमाणजन्यत्व प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं, किन्तु 'सम्यक् परिच्छित्ति' ही अर्थात् यथार्थानुभवत्व ही प्रमाज्ञान का लक्षण है। इस प्रमाज्ञान का रहना ही प्रमातृता है। यह प्रमातृता ईश्वर में है ही। ज्ञानकर्तृता प्रमातृता नहीं हो सकती। क्योंकि कर्तृत्व क्रिया स्वातन्त्र्य स्वरूप है। ज्ञान क्रिया में कोई भी स्वतन्त्र नहीं है, अर्थात् ज्ञान कर्तृ परतन्त्र नहीं।

गौतम के मत से इस प्रमा के साथ 'अयोगव्यवच्छेद' ही 'प्रामाण्य' है। प्रमा-करणत्व प्रामाण्य नहीं। ईश्वर में ज्ञान का यह अयोगव्यवच्छिन्न सम्बन्ध अर्थात् सतत सम्बन्ध है ही, अतः उनके प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं।

अथ पञ्चमस्तबकः

पाँचवे स्तवक में आचार्य ने ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रमाणों का उल्लेख किया है, क्योंकि बाधक प्रमाणों के निराकरण मात्र से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस स्तवक के प्रथम के श्लोक से ही आचार्य ने उन ९ हेतुओं का उल्लेख कर दिया है, जिन ईश्वर साधक ६ अनुमानों का विवरण आगे के ग्रन्थों में दिया है। इन ६ हेतु बोधक पदों के दो प्रकार के अर्थ कर अठारह ईश्वरसाधक अनुमानों का निरूपण आचार्य ने किया है। इनमें आदि के ९ अनुमान वेदों को माननेवाले और न मानने वाले सभी ईश्वर विरोधियों को समझाने के लिये लिखे गये हैं। अन्तिम ९ अनुमान केवल मीमांसकों को समझाने के लिये ही लिखे गये हैं। ये अठारहों अनुमान यद्यपि इस स्तवक के तत्तत्स्थलों में वर्णित हैं, फिर भी मैंने इस स्तवक के आदि के व्याख्यान की टिप्पणी में सभी अनुमानों का संक्षिप्त विवरण दे दिया है ।*

प्रथमोक्त ६ अनुमानों के प्रसङ्ग में संक्षेप से लिखने से पाठकों को कोई लाभ होने की आशा नहीं, विस्तृतरूप से यथामति यथास्थान विवरण लिख दिया गया है। अतः यहाँ केवल उत्तरार्द्ध के नौ अनुमानों के प्रसङ्ग में ही लिखा जाता है, क्योंकि वे सभी अनुमान मीमांसादि अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध रखते हैं।

* देखिये ५७६ पृ० ।

पञ्चम स्तबक श्लोक ६ से कार्यत्वकथित हेतुबोधक पदों के अर्थान्तरमूलक अनुमानप्रदर्शन का क्रम प्रारम्भ होता है। इनमें आदि के ६ अनुमानों का विचार छठवें श्लोक से संक्षेप में कर दिया गया है। 'प्रत्यय' लिङ्गक सातवें अनुमान का प्रयोग ७ वें श्लोक से आरम्भ कर १४ वें श्लोक में समाप्त किया है।

इस अनुमान का स्वारस्य यह है कि 'आप्ताभिप्राय' ही विधि-प्रत्यय का अर्थ है। तदनुसार वेदों में विधि-प्रत्यय प्रयुक्त है, उसका अर्थ भी आप्ताभिप्राय ही है, वही आप्त-पुरुष परमेश्वर है। किन्तु मीमांसकगण आप्ताभिप्राय को विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं मानते। इस प्रसङ्ग में उनके स्वतन्त्र विचार हैं, जो कथित नैयायिक मत के विरोधी हैं। अतः उन मतों का निराकरण आवश्यक है। इसलिये आचार्य ने 'प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र' (पञ्चम-स्त० श्लो० ७) इत्यादि श्लोक से प्राचीन नैयायिकों के अनुसार 'इष्टसाधनत्व' ही विध्यर्थ है, एवं स्वमतानुसार इष्टसाधनत्व का ज्ञापक 'आप्ताभिप्राय' ही विध्यर्थ है इन दो मतों को प्रतिज्ञाबद्ध किया है, आगे चलकर 'इष्टसाधनता तु स्यात्' (पृ० ७६४) इत्यादि से इस पक्ष का किञ्चिद् रुचिपूर्वक समर्थन किया गया है। मध्यमें 'इष्टहानेरनिष्टाप्तेः' (श्लो० ८ से लेकर श्लो० १३ पर्यन्त विध्यर्थ के प्रसङ्ग में अनभिमत पक्षों का खण्डन किया है।

विधिवाक्य से 'प्रवृत्ति' की उत्पत्ति होती है, तदनुसार प्रवृत्ति का कारणीभूत वाक्य ही विधि वाक्य होगा। किन्तु 'प्रवृत्ति' का अर्थ इस प्रसङ्ग में विचारणीय है। जानाति, इच्छति, यतते, करोति ऐसा क्रम ज्ञान से उत्पन्न 'कार्य' का है। विधि वाक्य से पहले बोध होता है, फिर 'बोध्य' विषयीभूत वस्तु प्राप्ति की इच्छा होती है, फिर तदनुकूल 'यत्न' उत्पन्न होता है, उसके बाद जाकर अभीष्ट कार्य उत्पन्न होता है। इस क्रममें ज्ञान के बाद इच्छा, यत्न, ये दोनों ही 'स्थल' भेद से 'प्रवृत्ति' शब्द के द्वारा अभिहित होते हैं। इनमें पहली 'इच्छा' और दूसरी 'कृति' है। अतः 'आद्याप्रवृत्तिरिच्छैव' ऐसी प्रसिद्धि है। किन्तु प्रकृत विधि प्रस्ताव में 'प्रवृत्ति' शब्द से 'कृति' ही अभिप्रेत है, इच्छा नहीं। क्योंकि कृतिविषयिणी इच्छा स्वरूपा 'चिकीर्षा' से ही कृति की उत्पत्ति होती है। यदि 'इच्छा' को प्रकृत में 'प्रवृत्ति' शब्द का अर्थ मानेंगे तो स्वर्गादि की इच्छा करने मात्र से विधि वाक्य चरितार्थ हो जायँगे, यागादि के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहेगी। इस प्रकार विधिवाक्यों से 'अनुष्ठान-लक्षण' अप्रामाण्य की आपत्ति होगी।

यह 'कृति' रूपा प्रवृत्ति स्वविषयिणी चिकीर्षास्वरूपा इच्छा से उत्पन्न होती है। इस चिकीर्षास्वरूपा प्रवृत्ति के इष्टसाधनताज्ञान एवं कृतिसाध्यताज्ञान ये दोनों ही कारण हैं, इन दोनों के विषय इष्टसाधनत्व एवं कृतिसाध्यत्व दोनों ही विधि-प्रत्यय के अर्थ हैं, किं वा इन दोनों के अनुमापक 'वस्तु' ही विध्यर्थ है।

इष्टसाधनत्व एवं कृतिसाध्यत्व ये दोनों के अनुमान से जिस 'अर्थ' को विधि-प्रत्यय का अर्थ कहा गया है, वह क्या (१) कर्त्ता में रहनेवाला (क) स्पन्द (ख) प्रयत्न अथवा (ग) इच्छास्वरूप है? अथवा (२) कर्मकारकस्वरूप जो याग अथवा 'अपूर्व' इनमें रहनेवाले 'कार्यत्व' स्वरूप है किं वा (३) करणीभूत यागादि में रहनेवाला 'इष्टसाधनत्व' स्वरूप है, अथवा (४) नियोक्ता में अथवा प्रवर्तयिता में रहने-वाला 'अभिप्राय' स्वरूप है?

(१) कर्त्तृगत धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकते

(क) यदि 'नियोज्य' स्वरूप कर्त्ता में रहनेवाले 'स्पन्द' को विधि-प्रत्यय का अर्थ मानेंगे तो 'आत्मानं विजानीयात्' इस विधिवाक्य से आत्मज्ञान में प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं होगी। क्योंकि वहाँ नियोज्य पुरुष में स्पन्द (चेष्टा) की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु वही प्रवृत्ति इष्ट है। एवं कथित स्पन्द को विधि-प्रत्यय का अर्थ मानेंगे तो 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि वाक्यों से प्रवृत्ति की आपत्ति भी होगी, क्योंकि कथितप्रवृत्ति के प्रयोजकी-भूत स्पन्द की वहीं सत्ता है।

(ख) एवं नियोज्य पुरुष में रहनेवाले 'प्रयत्न' (कृति) स्वरूप धर्म को भी विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि नियोज्य पुरुष में कृति के रहने पर भी उससे पूर्व विधिवाक्य को सुनने की प्रवृत्ति अवश्यम्भाविनी नहीं। एवं लिङ् से अतिरिक्त यत्नार्थक लट् प्रभृति दूसरे आख्यातघटित वाक्य के सुनने से भी प्रवृत्ति नहीं होती। अतः यत्नार्थक शब्दघटित कुछ वाक्यों को सुनने के बाद जब प्रवृत्ति नहीं भी होती, तो यत्न को लिङ् प्रत्यय (विधि) का अर्थ नहीं माना जा सकता।

इस प्रसङ्ग में प्रश्न हो सकता है, यत्न लिङ् प्रत्यय का ही अर्थ है, सभी आख्यात प्रत्ययों का नहीं। अगर ऐसा मानेंगे तो 'करोति' इत्यादि प्रयोग पुनरुक्ति से दुष्ट हो जाँयगे, क्योंकि 'कृञ्' धातु भी यत्नार्थक है एवं 'तिप्' प्रत्यय को भी आख्यात होने के कारण यत्नार्थक मानते हैं। सुतराम् 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि वाक्यों से प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

इस प्रसङ्ग में आचार्य का उत्तर है कि 'कृञ्' धातु को 'यत्नार्थक' मानना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा न मानने पर 'घटः कृतः' एवं 'अङ्कुरो न कृतः' यह 'कृताकृतव्यवहार' उपपन्न नहीं होगा। अर्थात् कुलाल के द्वारा घट उत्पन्न होने पर 'कुलालेन घटः कृतः' ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु किसान के द्वारा बोये जाने पर भी 'कृषीबलेन अङ्कुरः कृतः' ऐसा व्यवहार नहीं होता। अतः मानना होगा कि—कृति के साक्षात् सम्बन्ध का रहना और न रहना ही उक्त 'कृताकृतविभाग' का नियामक है। अतः कृञ् धातु अवश्य ही यत्न का बाधक है।

इसके चलते जो तिबादि प्रत्ययों में यत्नादि पदों के पर्याय (समानार्थक) होने की अपत्ति आती है, उसका समाधान यह है कि जिस यत्न का फल आगे विद्यमान हो, उस फलके अनुकूल प्रयत्न ही आख्यात प्रत्ययों का अर्थ है। किन्तु 'यत्न' एवं 'कृति' प्रभृति शब्द यत्न सामान्य के वाचक हैं। इस प्रकार उक्त पर्यायत्वापत्ति का वारण किया जा सकता है।

कृञ् धातु के यत्नार्थकत्व में एवं आख्यातपद के यत्नार्थकत्व में क्या अन्तर है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने लिखा है कि 'पूर्वापरस्मिन् सैव भावना' (श्लो० ६ पञ्चमस्तबक) अर्थात् ('परस्मिन्' उत्तरकालवर्त्तिनि फले 'पूर्वा' कारणीभूता 'सैव' कृतिरेव भाव्यते फलमनया व्युत्पत्त्या आख्यातपदवाच्या)। अर्थात् आख्यात पदों का अर्थ वह विशेष प्रकार की कृति है जो उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले फल की 'पूर्वा' अर्थात् नियत-पूर्ववर्ति होने से कारण है। उत्तरवर्त्ति फलजनक इस 'कृति' को ही (भाष्यते फलमनया, इस व्युत्पत्ति के अनुसार) 'भावना' भी कहते हैं।

कृति में आख्यात की शक्ति मानने के विपक्ष में वैयाकरणों के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि जिसमें पाकानुकूल व्यापार की सत्ता रहती है, उसमें पाकानुकूल कृति भी अवश्य रहती है। इस प्रकार 'चैत्रः पाकानुकूलकृतिमान्, पाकानुकूलव्यापारवत्त्वात्' इस अनुमानस्वरूप आक्षेप के द्वारा कृति का मान हो सकता है, अतः उसमें आख्यात पद की शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं। अतः कृति आख्यात पद का अर्थ नहीं, किन्तु 'फलानुगुणत्व' ही आख्यात का अर्थ है।

किन्तु उक्त आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि 'कृञ्' धातु से ही सभी आख्यात पद का विवरण होता है। जैसे कि 'पचति' पाकं करोति—'गच्छति' गमनं करोति इत्यादि।

एवं कथित रीति से उक्त अनुमान सम्भव भी नहीं। क्योंकि सभी धात्वर्थ के साथ कृति का भान नहीं होता। जिस धात्वर्थ की उत्पत्ति में कृति की अपेक्षा होती है, उसी धात्वर्थ के साथ कृति का भान होता है। अस्ति, विद्यते इत्यादि पदों से होने वाले सत्तादि नित्यधात्वर्थ की प्रतीति में कृति का भान नहीं होता। अतः धात्वर्थ के साथ कृति की व्याप्ति नहीं। धात्वर्थ से कृति का आक्षेप नहीं हो सकता।

जिस प्रकार 'पचति' पद का 'पाकं करोति' यह विवरण होता है, उसी प्रकार 'पाकयत्नवान्' पाकानुकूलकृतिमान् यह विवरण भी होता है। एवं कृति विना कर्त्ता के नहीं रहती, अतः कर्त्ता के साथ कृति की व्याप्ति है। फलतः कर्त्ता से कृति का अनुमान हो सकता है कि 'चैत्रः पाकानुकूलकृतिमान्, पाककर्तृत्वात्' सुतराम् आक्षेपलभ्य होने के कारण कृति में आख्यात की शक्ति नहीं, किन्तु कर्त्ता में ही आख्यात की शक्ति है।

कृति शक्तिवादी नैयायिकों का कहना है कि आख्यातार्थ संख्या के अन्वय के लिये कर्त्ता की आवश्यक उपस्थिति जब आक्षेप से ही हो सकती है, तो 'कर्त्ता' में आख्यात की शक्ति को स्वीकार करना अनावश्यक है, क्योंकि शब्दार्थ अनन्यलभ्य होना चाहिये।

कर्त्ता में विहित आख्यात-प्रत्यय के अर्थसंख्या का अन्वय नियमतः कर्त्ता में ही हो, कर्मप्रभृति कारकों में नहीं, इसके लिये यह युक्ति है कि 'भावना' नियमतः कर्तृसाकांक्ष है, अतः कर्त्ता में विहित प्रत्यय के अर्थ 'भावना' का अन्वय नियमतः कर्त्ता में ही होता है। 'यं यं भावनान्वेति तं तं संख्यापि' इस दूसरे नियम के अनुसार कर्तृप्रत्यय के अर्थ-संख्या का अन्वय नियमतः भावनान्वयी कर्त्ता में ही होता है, कर्मादि कारकों में नहीं। अतः कर्त्ता में आख्यात की शक्ति न मानने पर भी यह व्यवस्था संभव है कि कर्त्ता में विहितप्रत्यय के अर्थसंख्या का अन्वय कर्त्ता में ही हो, एवं कर्म में विहित आख्यात के अर्थसंख्या का अन्वय कर्म में ही हो।

जिस प्रकार कर्त्ता में रहनेवाले किसी धर्म को विध्यर्थ नहीं माना जा सकता उसी प्रकार 'कर्म' में रहनेवाले किसी को भी विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

'क्रियते इति कर्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार (१) स्वर्गस्वरूप 'फल' एवं (२) 'अपूर्व' स्वरूप 'व्यापार' एवं (३) 'याग'स्वरूप करण ये तीनों ही प्रकृत में 'कर्म' शब्द से अभिप्रेत हैं। फलतः प्रकृत में ये तीन पूर्वपक्ष निष्पन्न होते हैं (१) स्वर्गवृत्ति-

कार्यत्व ही विधि-प्रत्यय का अर्थ है। (२) अपूर्वनिष्ठकार्यत्व ही विधि-प्रत्यय का अर्थ है। (३) यागादिगतकार्यत्व ही विधि-प्रत्यय का अर्थ है।

(१) कथित प्रथमपक्ष को स्वीकार करने से अतिप्रसङ्ग होगा, क्योंकि यह निर्णीत हो चुका है कि वही विधि-प्रत्यय का अर्थ हो सकता है, जो ज्ञात होकर प्रवृत्ति का उत्पादक हो। तदनुसार स्वर्गगतकार्यत्व तभी विधि-प्रत्यय का अर्थ हो सकता है, जब कि उक्त कार्यत्वविषयकज्ञान से प्रवृत्ति उत्पन्न हो। स्वर्गस्वरूप फल के लिये लोग यागादि का अनुष्ठान करते हैं। अतः स्वर्ग की प्रवृत्ति का कारण यागविषयकज्ञान ही हो सकता है। यदि स्वर्गनिष्ठकार्यत्वविषयक ज्ञान को यागविषयकप्रवृत्ति का कारण मानें, तो इसका अर्थ यह होगा, विभिन्नविषयकज्ञान को विभिन्नविषयकप्रवृत्ति का कारण मानना। किन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर घटविषयकज्ञान से पटविषयकप्रवृत्ति की आपत्ति स्वरूप 'अतिप्रसङ्ग' होगा।

(२) याग से उत्पन्न जिस 'अपूर्व' के द्वारा स्वर्ग उत्पन्न होता है, उस 'अपूर्व-निष्ठकार्यत्व' को भी विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि इससे 'अपूर्व' का 'तत्त्व' जो 'अपूर्वत्व' है वही भङ्ग हो जायगा। उसे 'अपूर्व' इसलिये कहा जाता है कि शाब्दबोध से 'पूर्व' वह सर्वथा अज्ञात रहता है। यदि अपूर्वनिष्ठकार्यत्व में विधि-प्रत्यय की शक्ति (अभिधा) मानेंगे तो उस शक्ति के ज्ञान के लिये अपूर्व का किसी भी प्रकार से ज्ञात रहना आवश्यक है। क्योंकि सर्वथा अज्ञातवस्तु में शक्ति गृहीत नहीं हो सकती। तस्मात् अपूर्व की 'तत्त्वहानि' अर्थात् अपूर्वत्व की हानिस्वरूप दोष के कारण अपूर्वनिष्ठकार्यत्व को भी विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

(३) क्रियानिष्ठकार्यत्व को भी विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि विध्यर्थ के लिये यह आवश्यक है कि वह ज्ञात होकर प्रवृत्ति का उत्पादक हो। स्वज्ञानद्वारा प्रवृत्ति का उत्पादक अवश्य ही 'इष्टसाधक' होगा। अन्ततः उसके लिये इष्टसाधकत्वरूप से समझा जाना आवश्यक है, भले ही वास्तव में इष्ट का साधन न हो। यागस्वरूप 'क्रिया' में रहनेवाला कार्यत्व न ज्ञात होकर प्रवृत्ति का कारण है, न इष्टसाधनत्वरूप से वह ज्ञात ही रहता है। अतः यागादि क्रियाओं में रहनेवाला कार्यत्वस्वरूप धर्म भी विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

जिस प्रकार शाब्दबोध 'क्रिया' (धात्वर्थ) के कर्तृकारक एवं कर्मकारक में रहनेवाले किसी धर्म को विध्यर्थ नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार उक्त 'क्रिया' के शब्द

स्वरूप 'करण' के 'अभिधा' (शाब्दी भावना) प्रभृति धर्मों को भी विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि कथित शब्दस्वरूप करण के [१] अभिधा अथवा शाब्दी भावना एवं [२] इष्टसाधनत्व ये दो ही धर्म प्रकृत में पूर्वपक्षियों को अभिप्रेत हो सकते हैं।

(१) इन में शब्दनिष्ठ 'अभिधा' (शाब्दीभावना) नाम को विधि-प्रत्यय का अर्थ मानने में यह बाधा है कि अभिधा या शाब्दीभावना के किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि जो ज्ञात होकर प्रवृत्ति का कारण हो वही विधि-प्रत्यय का अर्थ हो सकता है–उक्त 'अभिधा' से उस प्रकार प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः उक्त 'अभिधा' को भी (शाब्दीभावना) विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।*

(२) इष्टसाधनता को विधि-प्रत्यय का अर्थ किसी प्रकार माना भी जा सकता है जिसकी सूचना 'तज्ज्ञापकोऽथवा' इत्यादि से (पृ० ७१२) दी जा चुकी है।

किन्तु, प्राचीन नैयायिक के इस मत को भी आचार्य स्वीकार नहीं करते। क्योंकि विधि-प्रत्यय से इष्टसाधनत्वविषयक अन्वयबोध की उत्पत्ति 'सन्दिग्ध' है। क्योंकि प्रकृत में सन्देह हो सकता है कि जिस प्रकार बालक के स्तन-पान से उसके इष्टसाधनत्व की साक्षात् अनुमिति होती है, उसी प्रकार लिङ् प्रत्यय से स्पष्टरूप में इष्टसाधनत्व का अन्वयबोध होता है ? अथवा लिङ् प्रत्यय के द्वारा प्रतिपादित किसी दूसरे अर्थ (आप्ताभिप्राय) के द्वारा इष्टसाधनत्व का अनुमान होता है ? जिस प्रकार 'समयाभिज्ञ' अर्थात् शब्दसङ्केत से अभिज्ञ पुरुष को विशेष प्रकार की चेष्टा से विशेष प्रकार के अभिप्राय का अनुमान होता है। इस सन्देह के कारण यही निर्णय करना पड़ता है कि इष्टसाधनत्व विधि-प्रत्यय का अभिधेयार्थ नहीं। इष्टसाधनत्व चूँकि आप्त पुरुष के अभिप्राय का विषय है, अतः आप्ताभिप्रायविषयत्व हेतु से इष्टसाधनत्व का अनुमान होता है। अतः 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस न्याय के अनुसार इष्टसाधनत्व विधि-प्रत्ययरूप शब्द का अर्थ नहीं हो सकता।

इष्टसाधनत्व को यदि विधि-प्रत्यय का अर्थ मानें तो 'न हन्यात्' निषेधवाक्य का 'हनन भावना इष्टसाधन नहीं है' इस आकार का बोध मानना होगा। किन्तु इससे हननभावना में अनिष्टसाधनत्व का लाभ नहीं होगा, क्योंकि कोई वस्तु इष्ट न होने से ही अनिष्ट नहीं हो जाता, इष्ट और अनिष्ट इन दोनों से भिन्न 'उपेक्षणीय' वस्तुओं का नाम भी है। इष्टसाधनत्व को विधि-प्रत्यय का अर्थ माननेवाले प्राचीन नैयायिकों के मत से

*देखिये पृ० ७८८।

निषेधवाक्य के द्वारा अनिष्टसाधनत्व का बोध ही अभिप्रेत है, वह भी अनुपपन्न हो जायगा।

चूँकि 'अभिधा' प्रभृति वस्तुओं में कोई भी विधि-प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता, अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्तिविषयक वक्ता का अभिप्राय ही विधि-प्रत्यय का अर्थ है, इस अभिप्राय को विधिप्रत्यय से समझ लेने के बाद इष्टाभ्युपायता अथवा इष्टसाधनत्व का अनुमान होता है।

यद्यपि इष्टसाधनता का ज्ञान ही प्रवृत्ति का साक्षात् कारण है, किन्तु लाघव की दृष्टि से आप्ताभिप्राय को ही विधिप्रत्यय का अर्थ मानते हैं।*

श्रुति के द्वारा परमेश्वर को समझ लेने के बाद उनके सम्बन्ध में असंभावनाओं एवं विपरीतसंभावनाओं का निरास अनुमानों के द्वारा किया जाता है, किसी महात्मा को समाहित मन के द्वारा उनका दर्शन भी होता है।



*(देखिये ५ स्त, श्लो १४ की व्याख्या)

ग्रन्थकार का परिचय

परमर्षिकल्प श्री उदयनाचार्य का जन्म 'मिथिला' देश के 'करिजन' ग्राम में हुआ था। यह प्रसिद्धि किसी प्रबल विरोधी प्रमाण के न रहने से सर्वसम्मति पा चुकी है।

यह बात भी सर्वसम्मत है कि न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शनों की प्राचीन परम्पराओं के वे श्रेष्ठ एवं अन्तिम प्रतिनिधि थे।

वाचस्पति मिश्र एवं जयन्तभट्ट ने न्यायदर्शन के सम्बन्ध में अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु इन लोगों ने वैशेषिकदर्शन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। यद्यपि अपने-अपने ग्रन्थों में सिद्धान्त रूप से वैशेषिकों के बहुत से निष्कर्षों को मानकर लिखा है।

किन्तु, उदयनाचार्य ने जिस प्रकार न्यायदर्शन में 'तात्पर्यपरिशुद्धि' (अथवा न्याय-निबन्ध) की रचना की, उसी प्रकार वैशेषिकदर्शन में 'किरणावली' की भी रचना की। जो दोनों ग्रन्थ अपने-अपने शास्त्र के आकरग्रन्थों में परमादरणीय स्थान पर विद्यमान हैं। जिस प्रकार न्यायदर्शन एवं वैशेषिकदर्शन इन दोनों दर्शनों के उपर अधिकारपूर्वक उदयनाचार्य ने लिखा है, वैसा किसी भी अन्य विद्वान् ने नहीं लिखा। न्याय एवं वैशेषिक इन दोनों समान तन्त्रों को एक सूत्र में बाँध कर ग्रन्थ लिखने की प्रणाली भी प्रथमतः उन्होंने ही चलायी यह बात न्यायकुसुमाञ्जलि में भी देखी जा सकती है। इस ग्रन्थ में उन्होंने न्यायशास्त्रसम्मत शब्द एवं उपमान इन दोनों के स्वतन्त्र-प्रामाण्य का समर्थन बड़े ही ऊहापोह के साथ तृतीय स्तबक में* किया है, जिन दोनों प्रमाणों का पृथक् प्रामाण्य वैशेषिकगण स्वीकार नहीं करते।

इसी प्रकार प्रसङ्ग स्वप्न के विषय में न्यायसिद्धान्त की आलोचना की है, एवं वैशेषिक दर्शन के ही कुछ परिवर्तनों के साथ सिद्धान्त को ग्रहण किया है। नैयायिक एवं वैशेषिकाचार्यगण दोनों ही यद्यपि स्वप्नज्ञान को मिथ्या मानते हैं, किन्तु नैयायिक उसे स्मृत्यात्मक मानते हैं और वैशेषिकाचार्यगण उसे अनुभव रूप मानते हैं। उदयनाचार्य का कहना है कि स्वप्नस्मृत्यात्मक ज्ञानस्वरूप ही है, किन्तु सभी स्वप्न नियमतः मिथ्या ही नहीं होते, कुछ स्वप्न सत्य भी होते हैं।

---

* उपमान के लिये श्लो० ८ से १२ पर्यन्त एवं शब्द के लिये श्लो० १३ से १५ पर्यन्त द्रष्टव्य

उदयनाचार्य के 'न्यायकुसुमाञ्जलि' एवं आत्मतत्त्वविवेक' ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयग्राही युक्तियों से परिपूर्ण हैं। इन दोनों ग्रन्थों के द्वारा आत्मा की स्थिरता एवं ईश्वर के ऊपर बौद्धों के प्रचण्ड प्रहार को बहुत सरलता से विफल कर दिया गया है।

उदयनाचार्य दशवीं शताब्दी के अन्त समय तक विद्यमान थे। इनके समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि अपने 'लक्षणावली' नामक ग्रन्थ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है।

तर्काम्बरप्रमितेऽतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥

इससे प्रतीत होता है कि ९०६ शकाब्द ९८४ ए० डी० के समीप लक्षणावली की रचना हुई होगी। ऐसा भी भासित होता है यह उनकी अन्तिम रचना नहीं होगी।

उदयनाचार्य शिव के विशेष भक्त थे। यह 'शिवं प्रति नमन्, प्रमाणं शिवः', उनके इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है। किन्तु वे 'शैव' सम्प्रदाय के नहीं थे। वे तो वेदानुग मनु, याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारों से समर्थित वैदिकसंप्रदाय के थे। जिस प्रकार आज भी मैथिलब्राह्मणगण साधारणतः पञ्चदेवोपासक होते हुए भी किसी देवता में अधिक भक्ति रखते हैं उसी प्रकार वे भी शिव के भक्त थे। अपने उपास्य ईश्वर के स्वरूप का जो उन्होंने न्यायकुसुमाञ्जलि में वर्णन किया है, वह शैव सम्प्रदाय के उपास्य से सर्वथा भिन्न है।



उदयनाचार्य की रचनायें

१—'न्यायपरिशिष्ट' गौतमसूत्र की टीका

२—'किरणावली' (वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य की टीका) इस ग्रन्थ में आत्मतत्त्वविवेक और न्यायकुसुमाञ्जलि के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं।

३—तात्पर्यपरिशुद्धि—अथवा न्यायनिबन्ध (यह उद्योतकर कृत 'न्यायवार्त्तिक' की वाचस्पतिमिश्रकृत 'तात्पर्यटीका' की टीका है)। ये तीन इनके व्याख्याग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित ये चार मौलिक रचनायें भी हैं।

१—आत्मतत्त्वविवेक—यह ग्रन्थ 'बौद्धाधिकार' अथवा 'बौद्धधिक्कार' नाम से भी प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में शरीर से भिन्न नित्य आत्मा के ऊपर बौद्धों के ऊपर किये गये आक्षेपों का परिहार है। न्यायकुसुमाञ्जलि के समान ही इस ग्रन्थ पर भी कई टीकायें हैं।

२—न्यायकुसुमाञ्जलि—इसका गद्यपद्यात्मक मूलस्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में किरणावली एवं आत्मतत्त्वविवेक के नाम एवं न्याय निबन्ध का संकेत उपलब्ध है।

३—लक्षणावली—इस ग्रन्थ में वैशेषिक दर्शन में प्रसिद्ध शब्दों की परिभाषा है। इसकी रचना ९०६ शकाब्द में हुई थी।

४—प्रबोधसिद्धि—न्यायशास्त्रसम्बन्धी यह एक मौलिक रचना है। यह उद्योतकर एवं वाचस्पति मिश्र के विचारों का निर्गलितार्थ है।



कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम अपने इष्टदेवता के चरणों में कोटिशः प्रणाम समर्पित करता हूँ, जिनकी अनुकम्पा से इस दीर्घकालिक कार्य को सम्पन्न करने के उपयुक्त उत्साह, उद्यम, स्वास्थ्य एवं अन्य सभी साधनों का संबल उपलब्ध हो सका।

माताजी मुझे दो वर्षों का छोड़कर स्वर्गवासिनी हुईं। उनके स्वरूप तक का मुझे स्मरण नहीं है ऐसी स्थिति में पिताजी स्वयं हम लोगों का रक्षणावेक्षण करते रहे। मेरे उपनयनसंस्कार के तीन वर्षों बाद उन्होंने भी काशीलाभ किया। किन्तु उनकी स्मृति अबतक बनी हुई है। उनकी सदाचारनिष्ठा, अध्ययन-अध्यापन के प्रति निष्काम अभिरुचि, सर्वतोऽधिक मौलिक मर्यादा का पालन एवं ब्राह्मण्य आज भी मेरे परिवार की प्रतिष्ठा के लिये गौरव की वस्तु है। उन लोगों की कृपा से हम सभी भाई-बहन उनकी प्रतिष्ठा को यत्किञ्चित् मात्रा में ही सही रखने को तत्पर रहे, शास्त्राध्ययन एवं अध्यापन का कार्य भी कुछ अंशों में चालू रखा। पिताजी के पौत्र दौहित्रगण भी अच्छे-अच्छे पदों पर हैं। भूसंपत्ति भी उनके समय से बढ़ी। यह सब उन्हीं लोगों के पुण्य का प्रभाव है।

पिताजी के काशीलाभ के बाद हमलोगों की असहायावस्था में अवलम्ब देने वाले थे पिताजी के शिष्यप्रवर वैद्यनाथ मिश्रजी और लक्ष्मीपति झा जी। ये दोनों महानुभाव अपने आश्रम में रखकर हमलोगों के आवास भोजन तथा अध्ययन की व्यवस्था की एवं मेरे सम्पत्ति की रक्षा का भी प्रबन्ध किया। यह व्यवस्था उन लोगों ने मेरे ज्येष्ठ भ्राता के दार-ग्रहण तक जारी रखा। उनलोगों की अहैतुकी कृपा को मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ? केवल उनके उपकारों का स्मरण कर ही अपने को धन्य और पवित्र कर सकता हूँ।

मैं अपने गायत्री मन्त्र के प्रदाता आचार्य तथा तान्त्रिकमन्त्र के उपदेष्टा एवं न्यायशास्त्र के प्रथम गुरु महानैयायिक धर्मशास्त्री स्व० नीलाम्बर झा जी के चरणों में कोटिशः प्रणाम समर्पित करता हूँ।

इसके बाद काशी आकर मैंने सर्वप्रथम म० म० पं० स्व० फणिभूषणजी तर्कवागीश के चरणों में बैठकर अध्ययन प्रारम्भ किया। मेरे जीवनपथ के निर्वाचन में

उनकी त्यागशीलता, अगाधपाण्डित्य, लोभशून्यता और सारल्य आलोकस्तम्भ के समान रहे हैं।

तदनन्तर मैंने आठवर्षों तक स्वनामधन्य म० म० बामाचरण जी भट्टाचार्य 'महाशय' के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की, जिसके बल से अद्यपर्यन्त शास्त्रचर्चास्वरूप अपने कौलिकवृत्ति में स्थिर हूँ एवं अवशिष्ट जीवन भी उसी में बिताने की आशा रखता हूँ।

इन तीनों ही महानुभावों का भास्वर रूप अपनी स्मृति के द्वारा आज भी मेरे अन्तःकरण में समय-समय पर आने वाले मालिन्य को दूर करने में समर्थ है।

स्वर्गीय भट्टाचार्य महाशय के चरणों में बैठने का दुर्लभ सुयोग मेरे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने से २ वर्ष पहिले ही छूट गया। यद्यपि अनुमानखण्ड के सभी ग्रन्थों का वे अध्ययन करा चुके थे। इसके बाद के कार्यों को मैंने तात्कालिक गवर्नमेण्ट कालेज के न्यायशास्त्र के प्रधान अध्यापक भट्टाचार्य महाशय के प्रधान शिष्य एवं अनेक ग्रन्थों के प्रणेता श्री शिवदत्त मिश्र जी गौड़ से सम्पन्न किया। उनकी कृपा आजीवन मेरे ऊपर बनी रही।

अध्ययन के लिये काशी आने के मूल में थे मेरे श्वसुर स्व० म० म० डा० सर गंगानाथ झा जी। उनके उपकारों को कहाँ तक गिनाया जाय, जिन्होंने मेरे पैतृकसंपत्ति को ऋणमुक्त किया एवं अपने दान से उसे सम्बर्धित किया, तथा जिनकी कृपा से अन्य जीविका के बिना भी जीवन निर्वाह की निश्चिन्तता मुझमें आयी, उनके स्मरण मात्र से भी मैं अपने को धन्य समझता हूँ। जिनकी अहैतुकी कृपा ने मुझ जैसे अज्ञात और अप्रसिद्ध व्यक्ति को विद्वानों के समक्ष लाकर खड़ा किया। जिनकी अनुकम्पा से मुझे पूर्णसौविध्य से युक्त बारह वर्षों का काशीवास का अलभ्य लाभ मिला। जिनकी मूलभूत कृपा के बल पर ही अन्य महत्त्वपूर्ण महानुभावों का आनुकूल्य प्राप्त हुआ—उन स्वनामधन्य स्व० पं० आदित्य नाथ झा जी की कृपाओं का केवल अनुभव ही किया जा सकता है—वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी कृपा के प्रतिदान में अयोग्य मैं, उनकी साधारण सी आज्ञा के पालन में विमुख अकृतज्ञ मैं किस बूते पर उनकी गुणावलियों की चर्चा करूँ? अतः अक्षम व्यक्ति के परमावलम्ब श्री १०८ साम्बसदाशिव से केवल यह प्रार्थना ही कर सकता हूँ कि उन्हें शान्ति दें और पुत्रादि को स्वस्थ सन्तति संपत्ति से पूर्ण सुखी रखें।

अन्य जिन महानुभावों का इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रमुख सहयोग रहा है, उनमें परमश्रद्धाभाजन पं० श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी, महानैयायिक पं० श्री

बदरीनाथ शुक्ल जी, डा॰ श्री गौरीनाथजी शास्त्री, पं॰ श्री बलदेवजी उपाध्याय एवं पं॰ श्री भागीरथ प्रसादजी त्रिपाठी प्रमुख हैं। इन सभी महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इन महानुभावों के सहयोग के बिना यह ग्रन्थ इतने समय बाद भी प्रकाशित नहीं हो पाता।

सुदर्शन प्रेस के स्वत्वाधिकारी आचार्यप्रवर श्री सीतारामजी चतुर्वेदी सपरिकर के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनके सहयोग के बिना इस ग्रन्थ का मुद्रण सम्भव नहीं था। कई बार इनलोगों ने अन्य आवश्यक छपाई को रोक कर भी इसे आगे बढ़ाया है।

अन्त में विश्वविद्यालय के ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ सभी सहकर्मियों के प्रति अपनी शुभेच्छा व्यक्त करता हूँ। जिनके सहयोग, सदाशयता और मैत्रीभाव के कारण इस भीषण दुःसमय में एक युग के समान बारह वर्षों का समय मैंने पूर्ण शान्ति से बिताया।

अन्त में श्री तन्त्रेश्वर झा लाइब्रेरियन काशीविद्यापीठ के प्रति अपनी मैं कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने विश्वविद्यालय की सेवा निवृत्ति के बाद अपने आश्रम में आश्रय दिया एवं मेरी सभी सुविधाओं के प्रति पूर्ण सजग रहे। यह निःसङ्कोच कह सकता हूँ कि उनकी कृपा के बिना इस ग्रन्थ के मुद्रण का अवशिष्ट कार्य कदापि न हो सकता। श्री १०८ साम्ब सदाशिव उन्हें सर्वविध समृद्धि से पूर्ण करें।

प्रेस कापी तैयार करने से लेकर संशोधन तक मैंने जो इस कार्य को अकेले ही किया है, अतः इस ग्रन्थ में अशुद्धियाँ रह गयी हैं, उनके लिये पाठकों से क्षमा चाहता हूँ क्योंकि इतने बड़े गम्भीर विषयक ग्रन्थ के लेखन में और मुद्रण में भ्रम और प्रमाद दोनों की ही सम्भावनायें हैं, अतः जिन्हें वे प्रतिभात हों, वे कृपया सूचित करें, जिससे यदि मेरे अवशिष्ट जीवन काल में इसका पुनः संस्करण हो पाया तो उन सूचनाओं का मैं पुनः संशोधन कार्य में उपयोग कर सकूँ। अन्त में भट्टपाद कुमारिल की इस युक्ति के साथ अपनी भूमिका को समाप्त करता हूँ।

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनुसूयवः॥

श्रीदुर्गाधरझा
सेवानिवृत्त अनुसन्धानसहायक
वा॰ सं॰ वि॰ वि॰, वाराणसी

वर्तमान सङ्केत
ग्राम पो॰ गङ्गौली
भाया—लोहनारोड
जि॰ दरभङ्गा (विहार, मिथिला)

विषयसूची

विषयः	पृष्ठम्

विषय पृष्ठम्

विषयः पृष्ठम्



न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकाः

प्रथमस्तबकः

सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्द्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः ।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥ १ ॥

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥ २ ॥
न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥ ३ ॥

सापेक्षत्वादनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥ ४ ॥

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥ ५ ॥

प्रवाहोऽनादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् ।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः ॥ ६ ॥

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य न ।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ७ ॥

विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥ ८ ॥

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना ।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥ ९ ॥
भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः ।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥१०॥

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः ।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥११॥

निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः ।
देवताः संनिधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥१२॥

जयेतरनिमितस्य वृत्तिलाभाय केवलम् ।
परीक्ष्य समवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥१३॥

कर्त्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः ।
अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः ॥१४॥

नान्यदृष्टं स्मरन्त्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।
वासनासङ्क्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥१५॥

न वैजात्यं विना तत् स्याद् न तस्मिन्ननुमा भवेत् ।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥१६॥

स्थैर्य्यदृष्टयोर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः ।
एकतानिश्चयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः ॥१७॥

हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तु सत् ।
तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम् ॥१८॥

पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित् ।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि ॥१९॥

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधमयतोऽविद्येति यस्योदिता ।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात्साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम ॥२०॥

द्वितीयस्तबकः

प्रमायाः परतन्त्रात्वत् सर्गप्रलयसंभवात् ।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसंभवः ॥ १ ॥

वर्षादिवद्भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत् ।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा मायावत्समयादयः ॥ २ ॥

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्म्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः संप्रदायस्य मीयताम् ॥ ३ ॥

कारङ्कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥ ४ ॥

तृतीयस्तबकः

योग्या दृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्दिः कुतस्तराम् ।
क्वायोग्यं बाध्यते शृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥ १ ॥
व्यापस्याभाववत्त्वैव भाविकी हि विशेष्यता ।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥ २ ॥

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता ।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥ ३ ॥
इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे ।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा ॥ ४ ॥
आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥ ५ ॥

दृष्टयदृष्टयोः क्व सन्देहो भावाभावविनिश्चयात् ।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥ ६ ॥
शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥ ७ ॥
परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥ ८ ॥

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तिमिति चेत् प्रकृते न किम् ॥ ९ ॥
सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥१०॥

सादृश्यस्यानिमित्तत्वाद् निमित्तस्याप्रतीतितः ।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा ॥११॥

श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन संगतिः ॥१२॥
अनैकान्तः परिच्छेदे संभवे च न निश्चयः ।
आकांक्षा सत्ताया हेतुर्योग्यासत्तिरनिबन्धना ॥१३॥
निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये ।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥१४॥
व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात् पदैरमी ।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः ॥१५॥

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता ।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ॥१६॥

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात् ।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥१७॥

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा ।
तदभावात् प्रवृत्तिर्नो कर्मवादेऽप्ययं विधिः ॥१८॥

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।
न मान्योर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धेवाप्यसौ समः ॥१९॥

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥२०॥

प्रतियोगिनि सामर्थ्याद् व्यापाराण्यवधानतः ।
अक्षाश्रयत्वाद् दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥२१॥

अवच्छेदग्रहो ध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात् ।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः ॥२२॥

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते ।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवं
देवानामपि देवमुद्धवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥२३॥

चतुर्थस्तबकः

अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥

स्वभावनियमाभावादुपकारोऽपि दुर्घटः ।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥ २ ॥

अनैकान्तादिसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया ।
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ॥ ३ ॥

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।
क्रियैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्तावि वस्तुक्रमः ।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेखकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥ ६ ॥

पञ्चमस्तवकः

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥ १ ॥

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः ।
सिध्यसिध्योर्विरोधो न नासिद्धिरनिबन्धना ॥ २ ॥

तर्काभासतयाऽन्येषां तर्काशुद्धिरदूषणम् ।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम् ॥ ३ ॥

स्वातन्त्र्ये जडताहानिर्नादृष्टं दृष्टघातकम् ।
हेत्वभावे फलाभावो विशेषस्तु विशेषवान् ॥ ४ ॥

कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः ।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ॥ ५ ॥

उद्देश एव तात्पर्यं व्याख्या श्विवद्दशः सती ।
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा ।
तज्ज्ञानं विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथवा ॥ ७ ॥

इष्टहानेरनिष्टाप्तेरप्रवृत्तेर्विरोधतः ।
असत्त्वात् प्रत्ययत्यागात् कर्त्तृधर्मो न सङ्करात् ॥ ८ ॥

कृताकृतविभागेन कर्त्तृरूपव्यवस्थया ।
यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥ ९ ॥

भावनैव हि यत्नात्मा सर्वत्राख्यातगोचरः ।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥१०॥

आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना ।
संख्येयमात्रलाभेऽपि साकांक्षेण व्यवस्थितिः ॥११॥

अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः ।
तदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाप्यप्रवृत्तितः ॥१२॥

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी ।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः ॥१३॥

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः ।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः ॥१४॥

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्त्तुरिष्टाभ्युपायता ॥१५॥

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ॥१६॥

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादिसंख्या च प्रवक्तृगा ।
समाख्यापि न शाखानां नाद्यप्रवचनादृते ॥१७॥

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोऽभिराक्षालिते
येषां नास्पमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥१८॥

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धानन्दनिधे तथापि तरलं नाद्यापि संतृप्यते ।
तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥१९॥

इत्येष नीतिकुसुमाञ्जलिरुज्वलश्री-
र्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ ।
नो वा ततः किममरेश गुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पितेन ॥२०॥

॥ इति कुसुमाञ्जलिकारिकाः ॥

—×—

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

न्यायकुसुमाञ्जलिः

(गद्यपद्यात्मकः)

प्रथमः स्तबकः

--: ० :--

सत्पक्षप्रसरस्सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः ।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥ १ ॥

---

[1]न्यायपक्षीय अनुवाद

पक्षगत दोषों से रहित, परामर्श में निपुण पुरुष के उपयुक्त व्याप्तिज्ञान के कारण एवं विरोधी अनुमान के रहते हुये भी अपने (ईश्वर-साधन रूप) कार्य में क्षम, अभीष्ट प्राप्यर्ह मोक्ष रूप मधु के उत्पादक अञ्जलि के ये न्यायरूपी पुष्प ईश्वर के साधन में नियुक्त होकर मेरी आत्मा को दुःखों के सभी कारणों से दूर रखें, जो दुःखों से सर्वथा मुक्त होने के लिए भ्रमरों के समान भटक रही है ॥ १ ॥

पुष्पपक्षीय अनुवाद

अच्छी तरह फूले हुये एवं सूघने की शक्ति से युक्त पुरुषों को सुगन्ध की अनुभूति करानेवाले, हाथों की रगड़ खाने पर भी म्लान न होनेवाले, अमृत के समान रस रूप मधु के आश्रय, अंजलि के ये पुष्प परमेश्वर के श्रीचरणों में समर्पित होकर भ्रमरों के समान दुःखों से छूटने के लिये इधर-उधर भटकनेवाली मेरी आत्मा को दुःख के कारणों से दूर रखें ॥ १ ॥

---

१. प्रस्तुत पद्य के 'सत्पक्षप्रसरः' इत्यादि विशेषणों से न्यायगत कितने दोषों का परिहार किस रीति से ग्रन्थकार को अभिप्रेत है, उन सबों का विवरण नीचे दिया जाता है ।

दूसरों को अनुमान के द्वारा किसी विषय को समझाने के लिये परार्थानुमान का ही सहारा लेना पड़ता है । उस दूसरे (बोद्धा) पुरुष की अभीष्ट अनुमिति के उत्पादन में समर्थ परामर्श रूप ज्ञान जिस शब्दराशि के द्वारा हो सके, वह शब्दराशि ही नैयायिकों के यहाँ 'न्याय' शब्द से व्यवहृत होती है । 'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा भी 'न्याय' शब्द से उसी अर्थ का समर्थन होता है ।

उपयुक्त बल से युक्त हेतु का ज्ञान ही अनुमिति का उत्पादक है । व्याप्ति और पक्षधर्मता ये दोनों ही हेतु के प्रधान बल हैं, जिसके लिये (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितत्व और (५) असत्प्रतिपक्षितत्व इन पाँच धर्मों

का हेतु में रहना आवश्यक है। चूँकि हेतु के प्रधानबल के ये पाँचों साधक हैं, अर्थात् इनके रहते ही हेतु में साध्य के साधन की क्षमता रहती है, इनके न रहने से नहीं, अतः इन पाँचों को भी हेतु का बल कहा जाता है।

जिन वाक्यों के द्वारा इन पाँचों बलों से युक्त हेतु का प्रतिपादन हो, उन पाँच वाक्यों का समूह ही प्रकृत में 'न्याय' शब्द का अर्थ है। उन पाँचों में से पहिले का नाम है (१) प्रतिज्ञा, दूसरे का नाम है (२) हेतु, तीसरे का नाम है (३) उदाहरण, चौथे का नाम है (४) उपनय और पाँचवें का नाम है (५) निगमन। साध्यज्ञान के प्रयोजक हेतु के उक्त पाँचों बलों के बोधक पाँच अवयव वाक्य ही आह्लादकत्व रूप साम्य के कारण प्रकृत में 'कुसुमाञ्जलि' शब्द से कहे गये हैं। विन्यस्त पुष्पाञ्जलि में अनेक रङ्ग के फूल रहते हैं। न्याय रूप इस कुसुमाञ्जलि में भी प्रतिज्ञावाक्य, हेतुवाक्य प्रभृति विविधि प्रकार के कुसुम हैं।

काव्य के जो शब्दगत और अर्थगत दो प्रकार के दोष हैं, उनमें से प्रथम प्रकार के दोषों का निराकरण इस श्लोक के पूर्वार्द्ध से किया गया है और दूसरे प्रकार के दोषों का निराकरण 'अनघः' पद से किया गया है।

ईशस्य पदयुगे निवेशितः

'पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत पद' शब्द का अर्थ है ज्ञापक। 'तद्युगम् पदयुगम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ईश्वर के ज्ञापक प्रमाण और उनके सहायक तर्क ये दोनों ही प्रकृत में 'पदयुग' शब्द से अभिप्रेत हैं। 'तत्र निवेशितः' अर्थात् 'तद्विषयतया उपपादितः' अर्थात् तर्क के साहाय्य से ईश्वर-साधक अनुमान के द्वारा जिन विषयों की सिद्धि अभिप्रेत है, उन्हीं विषयों को समझाने के लिये इस ग्रन्थ में न्यायवाक्यों का प्रयोग भी किया गया है।

सत्पक्षप्रसरः

'सति अर्थात् पक्षतावच्छेदकाश्रयीभूते एवं सिषाधयिषिते च धर्मिणि 'प्र' प्रकर्षेण 'सरः' ज्ञानं यस्मात् स सत्पक्षप्रसरः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पक्षतावच्छेदक एवं पक्षता इन दोनों के आश्रय रूप प्रामाणिक पक्ष में साध्य का प्रमाज्ञान जिन वाक्यों के द्वारा हो सके, वही न्यायवाक्य 'सत्पक्षप्रसर' है। इस विशेषण के द्वारा इस ग्रन्थ में प्रयुक्त अनुमानों के हेतुओं में आश्रयासिद्धि, बाध, सिद्धसाधन, स्वरूपासिद्धि एवं भागासिद्धि इन पाँच दोषों का न रहना दिखलाया गया है।

सदनुमान के लिये यह आवश्यक है कि पक्ष में पक्षतावच्छेदक धर्म की सत्ता रहे। अनुमिति में जिस रूप से पक्ष का ज्ञान इष्ट हो उसे पक्षतावच्छेदक कहते हैं।

पक्ष में पक्षतावच्छेदक का न रहना ही 'आश्रयासिद्धि' दोष कहलाता है। इस दोष का उदाहरण है 'काञ्चनमयपर्वतो वह्निमान्, धूमात्'। यहाँ काञ्चनमयत्व रूप से पर्वत का भान अनुमिति में अभिप्रेत है, अतः काञ्चनमयत्व पक्षतावच्छेदक है, किन्तु चूँकि पक्ष में काञ्चनमयत्व रूप पक्षतावच्छेदक नहीं है, अतः उक्त हेतु आश्रयासिद्धि दोष से युक्त होने के कारण हेतु नहीं है, किन्तु आश्रयासिद्ध नाम का हेत्वाभास है। इस अनुमान के हेतु में और कोई भी दोष नहीं है। प्रकृत श्लोक में 'सत्पक्षप्रसरः' इस विशेषण के द्वारा इस ग्रन्थ में प्रयुक्त अनुमानों के पक्षों को चूँकि पक्षतावच्छेदक का आश्रय कहा गया है, अतः उक्त विशेषण से सूचित होता है कि इस ग्रन्थ में प्रयुक्त ईश्वर-साधक अनुमानों के हेतु आश्रयासिद्धि से दूषित नहीं हैं।

यह ध्यान रखना चाहिये कि पक्ष में पक्षतावच्छेदक के न रहने से आश्रयासिद्धि, एवं साध्य में साध्यतावच्छेदक के न रहने से साध्याप्रसिद्धि, हेतु में हेतुतावच्छेदक के न रहने से हेत्वप्रसिद्धि, पक्ष में साध्य के न रहने से बाध, पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धि इत्यादि जो भी दोष जहाँ भी जिस के भी न रहने से हों, किन्तु उस दोष के द्वारा हेतु ही दुष्ट कहलायेगा और कोई नहीं।

इसी प्रकार 'सत्पक्षप्रसरः' इस विशेषण के द्वारा ही इस ग्रन्थ में प्रतिपादित अनुमानों में उस के 'पक्षता' रूप कारण की सत्ता भी बतलायी गयी है। क्योंकि पक्षधर्मता प्रभृति सहायकों से परामर्श के संकलन के बाद भी 'पक्षता' की आवश्यकता अनुमति के लिये बनी ही रहती है।

अनुमान को प्रमाण माननेवाले सभी विचारकों को यह स्वीकार है कि जिस क्षण में एक प्रकार का अनुमान रहता है, उसके रहते उसी प्रकार का दूसरा अनुमान नहीं होता। किन्तु परामर्श रूप अन्तिम कारण की सत्ता अनुमिति की उत्पत्ति के बाद भी एक क्षण तक बनी रहती है। अतः उस के बल से प्रथम अनुमिति की उत्पत्ति के दूसरे क्षण में भी उसी आकार की अनुमिति की उत्पत्ति किस प्रकार प्रतिरुद्ध की जा सकती है? क्योंकि प्रथम अनुमिति की उत्पत्ति के क्षण में भी परामर्शादि कारणों की सत्ता है ही। अनुमिति की इसी पुनरुत्पत्ति को रोकने के लिए अनुमिति के 'पक्षता' नाम के एक और कारण की कल्पना की जाती है। पक्षता के उद्देश्य के प्रसङ्ग में विवाद न रहने पर भी उस के स्वरूप या लक्षण के प्रसङ्ग में विभिन्न मत अवश्य हैं। अतः 'पक्षता' एक स्वतन्त्र ही सूक्ष्म निरूपण की अपेक्षा रखती है।

यहाँ इतना ही समझना आवश्यक है प्रकृत में सिषाधयिषित साध्य रूप धर्म को ही 'पक्षता' मान कर यहाँ के सन्दर्भ लिखे गये हैं। सदनुमिति के पक्ष में इस प्रकार की 'पक्षता' का रहना भी आवश्यक है। 'सिद्धि की इच्छा' को 'सिषाधयिषा' कहते हैं।

पक्ष में साध्य का निश्चय ही प्रकृत 'सिद्धि' शब्द से अभिप्रेत है। तदनुसार प्रकृत में 'पक्षता' का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि पक्ष में साध्यनिश्चय की इच्छा में विषयीभूत साध्य रूप धर्म की सत्ता ही पक्षता है। यह स्वाभाविक नियम है कि प्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं होती है। इस नियम के अनुसार जिस पुरुष को साध्य का निश्चय हो चुका है, उसे साध्य के निश्चय की इच्छा अर्थात् 'सिषाधयिषा' नहीं होगी, अतः अगर पहिले क्षण में पुरुष को साध्य का निश्चय रहेगा (साध्य की अनुमिति रहेगी) तो उस के आगे के क्षण में पक्ष में अगर साध्य रहेगा भी तो वह पक्ष सिषाधयिषित साध्य धर्म से युक्त नहीं होगा, क्योंकि उस साध्य में सिषाधयिषितत्व नहीं है। अतः सिद्धि की दशा में परामर्शादि के रहने पर भी उक्त पक्षता रूप कारण के न रहने से ही अनुमिति की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध हो जायगी। प्रकृत ग्रन्थ में ईश्वर की सिद्धि के लिये जिन अनुमानों का प्रयोग किया गया है, उन अनुमानों के समान आकार की सिद्धि पहिले से नहीं है, अतः इन अनुमानों के हेतु सिद्धसाधन से दूषित नहीं हैं। फलतः इन अनुमानों में पक्षता रूप कारण की अनुपपत्ति नहीं है। इसी की सूचना 'सत्पक्षप्रसरः' इस पद के विवरण में प्रयुक्त 'सिषाधयिषित' पद से दी गयी है।

'सत्पक्षप्रसरः' पद के विवरण में 'साध्यधर्म' पद के प्रयोग से उक्त अनुमानों के हेतुओं में बाध दोष की शून्यता सूचित की गयी है। पक्ष में साध्य का न रहना ही 'बाध' है। पक्ष में विशेषणीभूत 'साध्यधर्म' पद का अर्थ है साध्य रूप धर्म से युक्त। अतः उक्त बाध दोष का परिहार उस विशेषण से स्पष्ट है।

प्रकृत पद के विवरण में जो 'धर्मिणि' पद दिया गया है, उस से प्रकृत अनुमान के हेतुओं में 'स्वरूपासिद्धि' दोष का राहित्य सूचित होता है। प्रकृत 'धर्मिणि' पद में जो 'धर्म' शब्द है उस का अर्थ है 'हेतु' रूप धर्म। तदनुसार 'धर्मिणि' पद का अर्थ होता है—हेतु रूप धर्म से युक्त धर्मी। पक्ष में हेतु का न रहना ही स्वरूपासिद्धि दोष है। जिस पक्ष में 'हेतु' रूप धर्म की सत्ता रहेगी, उसमें कथित स्वरूपासिद्धि दोष नहीं रह सकता। अतः प्रकृत 'धर्मिणि' पद का उपादान यह सूचित करने के लिये किया गया है कि इन अनुमानों के हेतुओं में स्वरूपासिद्धि दोष नहीं है।

'सत्पक्षप्रसरः' इस पद में प्रयुक्त 'प्र' शब्द से प्रकृत अनुमान के हेतुओं में 'भागासिद्धि' दोष का न रहना दिखलाया गया है। 'प्र' शब्द का अर्थ है 'प्रकर्ष'। प्रकृत 'प्र' शब्द से हेतु के ज्ञान में व्याप्ति का विषय होना ही 'प्र' शब्द के उक्त प्रकर्ष रूप अर्थ से अभिप्रेत है, क्योंकि किसी पक्ष विशेष में हेतु का न रहना ही 'भागासिद्धि' दोष है। अतः भागासिद्धि दोष की दशा में हेतु में साध्य की व्याप्ति नहीं रह सकती। अतः प्रकृत में

ईश्वरानुमान के हेतुओं को अगर 'प्र' शब्द के द्वारा व्याप्ति से युक्त कह दिया जाता है, तो फिर उनमें उक्त भागासिद्धि दोष की सम्भावना नहीं रह जाती है।

सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवः—

इस वाक्य में प्रयुक्त 'सत्' शब्द से (न्यायपक्ष में) परामर्श स्वरूप अनुमिति के चरम कारण परामर्श में कुशल पुरुष ही अभिप्रेत हैं, अतः इस 'सताम्' पद का विवरण है 'परामर्शकुशलानाम्'। 'परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवः' इस पद की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप से प्रकृत में अभिप्रेत है परिमलः परि परितः, पक्षे सत्तया विपक्षे चासत्तया यो 'मलः' सम्बन्धो व्याप्तिरूपः, तस्य यः 'प्रोद्बोधः' साध्यसाधनयोः साध्याभावसाधनाभावयोः अबाधितप्रतिबन्धनिश्चयः, तेन 'बद्धः' स्थिरीकृतः 'उत्सवः' आनन्दो येन स परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवः'। अर्थात् इस ग्रन्थ के द्वारा परामर्श में निपुण व्यक्तियों को ईश्वर के अनुमान में सहायक अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति इन दोनों की आनन्दजनक उपलब्धि होती है। फलतः इस विशेषण के द्वारा प्रकृत ईश्वरानुमान के हेतुओं में यथासम्भव अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति की सूचना दी गयी है, जिससे उक्त हेतुओं में व्याप्ति के विरोधी व्याप्यत्वासिद्धि, सव्यभिचार और विरुद्ध दोषों का न रहना सूचित होता है।

व्याप्यत्वासिद्धि का निरास

उपाधि से युक्त हेतु को ही व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इस ग्रन्थ में उपाधि के बहुत से प्रसङ्ग आनेवाले हैं। अतः इस प्रसङ्ग में संक्षेपतः अभी इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि जिस हेतु में उपाधि रहेगी, उसमें व्याप्ति नहीं रह सकती। सम्बन्ध दो प्रकार के हैं (१) स्वाभाविक और (२) औपाधिक। हेतु में साध्य का स्वाभाविक सम्बन्ध या साध्य के अभाव के साथ हेतु के अभाव का स्वाभाविक सम्बन्ध ही 'व्याप्ति' है। औपाधिक सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध के विपरीत है। जपाकुसुम में अरुणिमा का स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसी अरुणिमा का जपाकुसुम के समीपवर्त्ती स्फटिक में औपाधिक सम्बन्ध है। अतः इस ग्रन्थ में कहे हुये हेतुओं में जब व्याप्ति की सत्ता कही जाती है तो फिर उनमें उपाधि का अभाव स्वभावतः सूचित हो जाता है, क्योंकि व्याप्ति और उपाधि दोनों परस्पर विरोधी हैं। सुतराम् कथित विशेषण से ग्रन्थ में कथित हेतुओं में व्याप्यत्वासिद्धि दोष के परिहार की सूचना होती है।

व्यभिचार और विरोध दोष का परिहार

(१) अन्वय और (२) व्यतिरेक-भेद से व्याप्ति के दो प्रकार कह आये हैं। अन्वयव्याप्ति का विपरीत ही व्यभिचार दोष है। व्याप्ति का चाहे जो भी लक्षण करें, उसी को उलट देने से व्यभिचार का लक्षण बन जायगा। अगर साध्यशून्य स्थानों में हेतु का

न रहना ही व्याप्ति है तो फिर साध्यशून्य स्थान में हेतु का रहना ही व्यभिचार है। वस्तुतः जो व्यभिचार का विरोधी न हो वह व्याप्ति है ही नहीं। सुतराम्, अगर इस ग्रन्थ के द्वारा प्रतिपादित हेतुओं में अन्वयव्याप्ति की सत्ता कह दी जाती है तो फिर उनमें व्यभिचार दोष का न रहना स्वतः सूचित हो जाता है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में कथित हेतुओं में व्यतिरेकव्याप्ति की सत्ता कह देने से ही उक्त हेतुओं में 'विरोध' दोष का अभाव समझना चाहिये, क्योंकि साध्य के अभाव में हेतु के अभाव की व्याप्ति के द्वारा सूचित व्याप्ति को ही हेतु में साध्य की व्यतिरेकव्याप्ति कहते हैं एवं हेतु में साध्य के अभाव की व्याप्ति को ही 'विरोध' कहते हैं। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति और विरोध दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः एक हेतु में ये दोनों नहीं रह सकते। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कथित हेतुओं में व्यतिरेकव्याप्ति की सूचना से विरोध दोष का परिहार समझना चाहिये।

विम्लानो न विमर्दने

न्याय पद्य में इस विशेषण के द्वारा ईश्वर-साधक हेतुओं में आचार्य ने सत्प्रतिपक्ष दोष का न रहना सूचित किया है। अतः इस पद्य में 'विमर्दने' शब्द की व्याख्या है 'विरोधिप्रमाणसत्त्वदशायाम्' और 'न विम्लानः' का अर्थ है 'न कार्याक्षमः'। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ वादी और प्रतिवादी एक ही पक्ष में परस्पर विरोधी भाव और अभाव को समान बल के विभिन्न हेतुओं के द्वारा साधन करने का प्रयास करते हैं, वहाँ सत्प्रतिपक्ष दोष होता है। जैसे, किसी ने प्रयोग किया कि जिस प्रकार कृति से उत्पन्न होने के कारण घट अनित्य है, उसी प्रकार शब्द भी चूँकि कृति से उत्पन्न होता है, अतः, वह भी अनित्य है। इस पर अगर प्रतिवादी ने शब्द रूप पक्ष में ही शब्दत्व हेतु के द्वारा व्यतिरेक दृष्टान्त के बल से नित्यत्व के साधन के लिये 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इस विरोधी अनुमान वाक्य का प्रयोग किया तो यहाँ सत्प्रतिपक्ष दोष होगा, क्योंकि दोनों ही हेतु समान बल के होने के साथ-साथ परस्पर विरुद्ध अर्थ के एक ही पक्ष में साधन के लिये प्रयुक्त हुये हैं, अतः एक भी अपना काम नहीं कर सकता। उक्त हेतुओं में इस अक्षमता के हेतुभूत दोष को ही 'सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं। अगर विरोधी हेतु दुर्बल रहेगा तो पहिले हेतु की कार्यक्षमता को विनष्ट नहीं कर पावेगा, तो फिर उस स्थिति में सत्प्रतिपक्ष नहीं होगा। प्रकृत ग्रन्थ में ईश्वर साधन के लिये जिन हेतुओं का प्रयोग किया गया है, उन हेतुओं में उक्त प्रकार की अक्षमता नहीं है। वे अपने विरोधी हेतुओं के रहते हुये भी उन से प्रबल होने के कारण अपने कार्य में क्षम हैं। अतः ये हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से दुष्ट नहीं हैं। इसी की सूचना 'विम्लानो न विमर्दने' इस वाक्य से दिया गया है।

न्याय रूप कुसुमों की यह अञ्जलि ईश्वर के 'पदयुग' में समर्पित है। 'पदयुग' शब्द में प्रयुक्त 'पद' शब्द का 'पद्यते ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ईश्वर के

ज्ञापक प्रमाण और उसके सहायक तर्क अभिप्रेत हैं। वे हैं (१) अनुमान और (२) तर्क; इन दोनों का युग, अर्थात् ये दोनों। इन में अनुमान रूप पहिले 'पद' में 'सत्प्रवृत्तप्रसरः' इत्यादि तीनों विशेषणों की योजना लगा दी गयी है। तर्क रूप दूसरे 'पद' में उन विशेषणों का संयोजन अवशिष्ट है, इसके लिये यह आवश्यक है कि 'तर्क' को सामान्य रूप से समझ लिया जाय। इस ग्रन्थ में तर्कों की भरमार है।

साधारण लोग यद्यपि तर्क शब्द को अनुमान का ही पर्याय मानते हैं, किन्तु न्याय-दर्शन में इस का विशेष अर्थ है। नैयायिक लोग इसे अनुमिति का सहायक 'ऊह' रूप मानते हैं।

अनेक स्थलों में हेतु को साध्य के साथ देखने से (भूयोदर्शन से) हेतु में साध्य की व्याप्ति निर्णीत होती है, किन्तु जीवमात्र की दर्शन-शक्ति सीमित है एवं साध्य और हेतु के आश्रय भी असंख्य हैं। अतः कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि 'अमुक हेतु को और अमुक साध्य को जितने भी स्थानों में साथ रहने की सम्भावना है, उन सभी स्थानों में दोनों को मैं साथ देख चुका हूँ'। धूम और वह्नि का प्रसिद्ध उदाहरण ही लिया जाय। रसोईघर में, गोशाला में, जंगल में, पहाड़ पर इन कुछ ही स्थानों में धूम को वह्नि के साथ आपने देखा होगा। इन कुछ स्थानों में साध्य के साथ हेतु को देखने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि 'सभी धूम वह्नि के साथ ही रहते हैं', क्योंकि कोई भी पुरुष सभी धूम-व्यक्तियों और सभी वह्निव्यक्तियों और उन दोनों के सभी आश्रयों को नहीं देख सकता। अतः यह शङ्का बनी ही रहेगी कि 'धूम बिना वह्नि के भी रह सकता है' अथवा यों कहिये कि 'जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ भी धूम रह सकता है।' यही है वह व्यभिचार शङ्का, जिसका कोई निवारण करनेवाला नहीं दीखता, और जब तक व्यभिचार की यह शङ्का मिट नहीं जाती, तब तक व्याप्तिनिर्णय की शुद्धता की अपेक्षा करना व्यर्थ है। अतः अनुमान को प्रमाण माननेवालों के सामने यह विपत्ति आ खड़ी होती है कि शुद्ध व्याप्ति-निर्णय से होनेवाली अनुमिति किस प्रकार हो? इस विपत्ति से उन्हें केवल यह तर्क ही उबार सकता है, अर्थात् व्यभिचार की उक्त शङ्का से व्याकुल होकर प्रमाता पुरुष यह 'ऊह' या तर्क करता है कि धूम में अगर वह्नि का व्यभिचार रहता, अर्थात् जहाँ वह्नि नहीं है, वहाँ भी अगर धूम रहता तो धूम वह्नि से उत्पन्न ही न होता। अतः जिन असंख्य धूम-व्यक्तियों को मैं नहीं देख सकता, वे सभी धूम भी वह्नि के बिना न होंगे, वह्नि के साथ ही होंगे। अतः धूम में वह्नि के व्यभिचार की कोई शङ्का नहीं है।

व्याप्य के आरोप के द्वारा व्यापक के आरोप को तर्क कहते हैं। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भ्रमात्मक निर्णय ही 'आरोप' है। व्याप्ति के निश्चय से अनुमिति होती है, एवं

व्यभिचार की शङ्का व्याप्ति का प्रतिरोधी है। व्यभिचार-शङ्का की निवृत्ति तर्क से होती है। इस प्रकार व्यभिचार-शङ्का की निवृत्ति के द्वारा व्याप्ति निश्चय का सहायक होने के कारण तर्क अनुमिति का भी सहायक है। यह तो है तर्क का बाह्य रूप। अब उसके आन्तरिक रूप पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अनुमान को प्रमाण माननेवाले उक्त 'आरोप' या 'आपत्ति' रूप तर्क के द्वारा व्याप्तिनिश्चय के विघटक व्यभिचार शङ्का को दूर करते हैं। विचार की सुविधा के लिये कथित वह्नि और धूम की व्याप्ति को उदाहरण के तौर पर रखना उचित होगा। धूम में वह्नि के व्यभिचार की जिस शङ्का का उल्लेख किया गया है उस शङ्का का निवारक तर्क है 'धूमो यदि वह्नि-व्यभिचारी स्यात्तदा वह्निजन्यो न स्यात्'—अर्थात् धूम को पक्ष मान कर उस में वह्निव्यभिचारित्व के आरोप के द्वारा उस में वह्नि से उत्पन्न न होने की आपत्ति ही कथित तर्क का स्वरूप है। तर्क को समझने के लिये आपत्ति आपादक और उसके पक्ष इन तीन वस्तुओं को समझ लेना आवश्यक है। कथित आपत्ति रूप तर्क में धूम हेतु ही पक्ष है एवं कथित आरोप या आपत्ति का विषय वह्निव्यभिचारित्व या वह्नि का व्यभिचार ही उक्त आपत्ति का कारण अर्थात् 'आपादक' है। 'आपाद्य' अर्थात् आपत्ति का विषय है धूम का वह्नि से उत्पन्न न होना (वह्निजन्यत्वाभाव)। आपत्ति देनेवाले को पहिले से ही निश्चित रहता है कि उक्त 'आपाद्य' पक्ष में नहीं है। इस निश्चय के विना वह आपत्ति दे ही नहीं सकता। अतः पक्ष में आपाद्य के अभाव का निश्चय भी तर्क का एक हेतु है। अत: पक्ष में आपाद्य का अभाव अगर निर्णीत न हो तो तर्क हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आपाद्य में आपादक की व्याप्ति का रहना भी तर्क के लिये आवश्यक है, क्योंकि 'जिन सभी वस्तुओं में वह्नि का व्यभिचार रहेगा, वे कभी भी वह्नि से उत्पन्न नहीं हो सकतीं' इस नियम के कारण ही किसी के द्वारा धूम में वह्नि के व्यभिचार की स्थिति उठाने पर धूम में वह्नि से उत्पन्न न होने की आपत्ति देना सम्भव होता है। अगर ऐसी बात न हो—वह्नि से उत्पन्न होकर भी कोई वस्तु वह्नि के विना भी रह सके तो फिर उक्त तर्क के द्वारा दी गयी आपत्ति को इष्ट किया जा सकता है, जिससे तर्क का अपना स्वरूप ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि तर्क तो 'अनिष्टापत्ति' रूप है। अतः आपाद्य में आपादक की व्याप्ति का निश्चय भी तर्क का एक कारण है। अनुमिति में अपेक्षित व्याप्ति-निश्चय को व्यभिचार शङ्का से बचाने के लिये जिस तर्क का आश्रय लिया गया है, उस में भी अगर व्याप्ति की अपेक्षा हो तो फिर अनवस्था दोष आ पड़ेगा। इस दोष का परिहार आचार्य ने तीसरे स्तबक में स्वयं किया है।

इन कारणों से जब तर्क के सभी पक्षों में, अर्थात् अनुमिति के हेतुओं में अनिष्ट-प्रसक्ति रूप आपत्ति दी जाय, तभी तर्क अनुमान का सहायक हो सकता है। प्रकृत में

(सभी धूमों में) अगर वह्नि से उत्पन्न न होने की आपत्ति न देकर किसी विशेष प्रकार के धूम में अथवा कुछ धूमों के समुदाय में ही वह्नि से उत्पन्न न होने की आपत्ति दी जाय तो सामान्यतः सभी धूमों में सामान्यतः सभी वह्नि की व्याप्ति के निश्चय में कोई भी सहायता न मिलेगी। अतः तर्क से होनेवाली अनिष्टापत्ति को पक्ष का व्यापक भी होना चाहिये।

इस प्रकार तर्क को सामान्य रूप से समझ लेने पर 'ईश' के 'पदयुग' में से तर्क रूप पद में 'सत्पक्षप्रसरः' इत्यादि विशेषणों की योजना को समझना सुलभ होगा।

सत्पक्षप्रसरः

'सन्' निर्दोषः 'पक्षप्रसरः' अनिष्टप्रसञ्जनरूपस्तर्को यस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस विशेषण के द्वारा इस ग्रन्थ में प्रयुक्त अनुमानों के लिये जिन तर्कों का प्रयोग किया गया है, उनकी समीचीनता व्यक्त होती है। तर्क की समीचीनता यह है कि तर्क के सभी पक्षों में अनिष्टापत्ति देने की क्षमता, अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रयुक्त सभी तर्क सभी पक्षों में अनिष्टापत्ति रूप हैं, किसी एक पक्ष में या कुछ पक्षों में नहीं।

सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवः

इस विशेषण के द्वारा सत्पुरुषों के आनन्द का उत्पादन और तर्क के लिये व्याप्ति की अपेक्षा ये दोनों उपपादित हो चुके हैं। तदनुसार तर्क पक्ष में इस विशेषण का अभिप्राय है सत्पुरुष में आपाद्य में रहनेवाली आपादक की व्याप्ति के निश्चय का रहना। अर्थात् इस ग्रन्थ में जितने भी तर्क प्रयुक्त हुये हैं, वे सभी आपाद्य में रहनेवाली आपादक की व्याप्तिमूलक ही हैं। अतः उनमें व्याप्ति के न रहने के कारण तर्काभासता नहीं आ सकती।

विम्लानो न विमर्दने

तर्कपक्ष में इस विशेषण के द्वारा इस ग्रन्थ में अभीष्ट पक्ष की सिद्धि के लिए प्रयुक्त तर्कों में विरोधी तर्कों के रहते हुये भी पूर्ण क्षमता सूचित होती है, जिसका पर्यवसान विरोधी तर्कों की दुर्बलता और अपने तर्कों की सबलता में होता है। अन्य सभी विशेषण प्रमाण और तर्क दोनों पक्षों में समान रूप से लगते हैं।

'सत्पक्षप्रसरः' इत्यादि विशेषणों से युक्त कुसुमाञ्जलि के उक्त विवरण से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों की सूचना दी गयी है। किन्तु उस से भी आवश्यक है प्रयोजन की सूचना, अर्थात् यह उपादान आवश्यक है कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से लाभ क्या होगा? 'अमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः' इस विशेषण के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। मोक्ष को 'अमृत' कहते हैं। तदनुसार उक्त विशेषण के द्वारा यह अर्थ व्यक्त होता है कि यह न्यायकुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थ परम अभीप्सित मोक्षरूप मधु का उत्पत्तिस्थान या कारण है। अतः इस ग्रन्थ के मर्म को यथार्थ रूप से समझ कर सन्मार्ग के द्वारा ईश्वर की आराधना करने से अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होगा॥ १॥

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥ २ ॥

स्वर्ग के ही समान अत्यन्त काम्य जीवन्मुक्ति और परममुक्ति—इन दोनों प्रकार के मोक्षों के लिये विद्वान् लोग जिनकी उपासना करते हैं, उन्हीं परमात्मा का निरूपण रूप उपासना ही (इस ग्रन्थ में) करता हूँ ॥ २ ॥[1]

---

१. जिस मोक्ष की चर्चा मङ्गल श्लोक में की गयी है उस के प्रसंग में यह विवाद उपस्थित होता है कि क्या इसका होना संभव भी है ? नैयायिकों के मत से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है । वैशेषिकों के सिद्धान्त में आत्मा के सभी विशेष गुणों के नाश को ही मुक्ति की संज्ञा दी गयी है, किन्तु दोनों सिद्धान्तों के अनुसार मोक्ष के लिये जन्म का उच्छेद आवश्यक है । जन्म का उच्छेद या विनाश कर्मों के विनाश के बिना संभव नहीं है । भोग से ही कर्मों का क्षय होगा । भोग से फिर दूसरे कर्म (अदृष्ट) भी अवश्य उत्पन्न होंगे । फलतः जीव कभी अदृष्टों (कर्मों) से रहित हो ही नहीं सकते । अदृष्ट के रहते किसी भी प्रकार का मोक्ष संभव नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर के प्रसङ्ग में प्रमाणों के प्रदर्शन से और मोक्ष से क्या सम्बन्ध ? इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के साधक प्रमाणों का उपपादन वस्तुतः ईश्वर का मनन ही है । ईश्वर के मनन से अपवर्ग की प्राप्ति श्रुति-स्मृत्यादि में शतशः वर्णित है । अतः मोक्ष के लिये ईश्वर की सत्ता के अनुगुण प्रमाणों का व्युत्पादन असङ्गत नहीं है, किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं जँचता । यद्यपि ईश्वर आत्मस्वरूप ही है, तथापि 'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इसी श्रुति के द्वारा ईश्वर के मनन को मोक्ष का कारण नहीं कहा गया है । इस वाक्य के द्वारा आत्मा के निदिध्यासनरूप साक्षात्कार को ही मोक्ष का चरम कारण कहा गया है । उक्त वाक्य में प्रयुक्त एक ही 'आत्मा' पद का अन्वय 'श्रोतव्यः' और 'मन्तव्यः' दोनों के साथ है । इस से स्पष्ट है कि जिस आत्मा का निदिध्यासन रूप साक्षात्कार मोक्ष का कारण है, उसी आत्मा का श्रवण और मनन भी उक्त साक्षात्कार में सहायक होने के नाते मोक्ष का सहकारी कारण है । जो बद्ध होगा, वही मुक्त भी होगा । बद्ध है जीव, अतः वही मुक्त भी होगा । अज्ञान या भ्रम के द्वारा कल्पित वस्तु का ही साक्षात्कार रूप तत्त्वज्ञान से नाश होता है । यह भी नियम है कि जिस विषय में भ्रम या अज्ञान से जिस वस्तु की कल्पना होगी, उसी विषय के तत्त्वज्ञान से उक्त अविद्या या भ्रम के द्वारा कल्पित वस्तु का विनाश होगा प्रकृत में तत्तज्जीव का अज्ञान या भ्रम ही उस जीव के संसार का कारण है,

इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय संप्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति

जिस किसी पुरुषार्थ की प्रेप्सा से सभी विचारकों ने किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर रखी है। जैसे:—

(१) वेदान्ती सभी प्रकार के द्वैतों से रहित स्वप्रकाश ज्ञान-स्वरूप परब्रह्म के रूप में, (२) सांख्यविद् 'आदि विद्वान्' अर्थात् स्वाभाविक चैतन्य से युक्त, कूटस्थ, नित्य, विशेष प्रकार के पुरुष के रूप में, (३) योगिजन अविद्या आदि पाँच प्रकार के क्लेश, धर्म और अधर्म के साधक याग-हिंसादि कर्म एवं (जाति, आयु और भोग इन तीन प्रकार के) विपाक, (धर्म और अधर्म रूप) आशय, इन सबों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित, (वेदादि के) निर्माण के लिये विशेष प्रकार के शरीर को धारणकर वेदों के प्रवर्त्तक, (सृष्टि के आदि में कुलालादि के) शरीरों को धारणकर घटादि के निर्माण की शिक्षा के द्वारा जीवों के ऊपर अनुग्रह करनेवाले पुरुष-विशेष के रूप में, (४) महापाशुपत (चिताभस्मादि धारण रूप) लोक-विरुद्ध एवं (द्विजवधूविप्लवादि रूप) वेद-विरुद्ध आचरणों से भी पाप और लोकनिन्दा से सर्वथा मुक्त विशिष्ट पुरुष के रूप में, (५) शैव त्रिगुणातीत पुरुष के रूप में, (६) वैष्णव 'पुरुषोत्तम' अर्थात् सभी पुरुषों से उत्कृष्ट पुरुष के रूप में, (७) पौराणिक 'पितामह' अर्थात् संसार को उत्पन्न करनेवाले विशिष्ट पुरुष के रूप में, (८) याज्ञिक 'यज्ञपुरुष' अर्थात् जिसके उद्देश्य से यागों में अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं—उस विशिष्ट पुरुष के रूप में, (९) बौद्ध क्षणिक एवं सर्वज्ञ पुरुष के रूप में, (१०) दिगम्बर जैन (धर्म और अधर्म से उपार्जित शरीरादि) आवरणों से रहित विशेष प्रकार के पुरुष के रूप में, (११) मीमांसक वेदों के द्वारा स्तूयमान पुरुष अथवा वेदों में उपास्य रूप से निर्दिष्ट मन्त्र के रूप में, (१२) नैयायिक (संप्रदाय भेद से) ईश्वर के ये जितने भी विशेषण कहे गये हैं—उन में से

अतः तत्तज्जीव के साक्षात्कार से उन-उन जीवों के संसार का नाश या मोक्ष होगा, सभी जीवों के तत्त्वज्ञान या अन्य जीवों के तत्त्वज्ञान से नहीं। जब ये दोनों साक्षात्कार कथञ्चित् जीव रूप समान विषय के होने पर भी अन्य जीव के मोक्ष के कारण नहीं हो सकते, तो फिर ईश्वर-विषयक साक्षात्कार, जो जीव से सर्वथा भिन्न विषय का है, किसी जीव के मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? अतः ईश्वर का निरूपण करनेवाले इस ग्रन्थ की रचना ही व्यर्थ है। इसी आक्षेप के समाधान के लिये 'स्वर्गापवर्गयोः' इत्यादि कारिका लिखी गयी है ॥२॥

चार्वाकाः; किं बहुना, यं कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते, तस्मिन्नेवं जातिगोत्र-प्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः ? किं निरूपणीयम् ॥२॥

तथापि—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥३॥

श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो भवति, 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५) इति श्रुतेः ।

जितने विशेषण युक्तियों से उपपन्न हो सकें उतने विशेषणों से युक्त पुरुष के रूप में, (१३) चार्वाक सर्वसाधारण जनों से उत्कृष्ट सर्वमान्य एवं (अदृश्य चैतन्य से रहित) चतुर्भुज दशभुज आदि प्रतिमाओं के रूप में, यहाँ तक कि राज, बढ़ई प्रभृति साधारणजन भी ईश्वर को 'विश्वकर्मा' अर्थात् विश्वस्रष्टा के रूप में ईश्वर को मान कर अपना उपास्य बना रखा है, तो इस प्रकार जो ईश्वर संसार के आदिकाल से ही ब्राह्मणत्वादि जातियों, काश्यपादि गोत्रों, और्व-च्यवनादि प्रवरों, वेदों की बह्वृच कौथुमादि शाखाओं, एवं प्रत्येक कुल में प्रचलित विशेष प्रकार से शिखाधारणादि कुल धर्मों के समान सभी जनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, उसकी सत्ता के सम्बन्ध में सन्देह ही क्यों होगा ? और फिर उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये न्याय-प्रयोग की आवश्यकता ही कैसे उपस्थित होगी ? ईश्वर के निरूपण के प्रसङ्ग में यद्यपि इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं ॥२॥

तथापि इनका कोई औचित्य नहीं, क्योंकि ईश्वर का निरूपण, ईश्वर के अस्तित्व के बारे में किसी प्रकार के सन्देह के निवारणार्थ नहीं करना है किन्तु श्रवण-रूप उपासना के बाद कर्त्तव्य-रूप से मनन-रूप उपासना के रूप में करना है । अतः ईश्वर के सम्बन्ध में प्रस्तुत होनेवाला यह न्यायप्रयोग उनकी मननात्मक उपासना ही है ।

आशय यह है कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार एवं 'आगमेनानुमानेन' इत्यादि स्मृतियों के द्वारा श्रवण रूप उपासना के बाद मनन-रूप उपासना का विधान किया गया है । अतः (उपनिषदादि) श्रुतियों से, (मनु प्रभृति की) स्मृतियों से एवं (महाभारतादि) इतिहासों से एवं (श्रीमद्भागवतादि) पुराणों से अनेक बार परमेश्वर की विस्तीर्ण एवं विशद चर्चा सुनने के बाद अब उसकी मनन रूप उपासना अवश्य कर्त्तव्य में आ जाती है ।

'श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्य के द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पहिले ईश्वर का श्रवण करना चाहिए, फिर उसके बाद मनन करना चाहिये और उसके बाद निदिध्यासन रूप उपासना करनी चाहिए ॥३॥

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

(यो० सू० व्या भा० भाष्यधृत १।४८)

इति स्मृतेश्च ।

तदिह संक्षेपतः पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः—(१) अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात् । (२) अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसंभवात् । (३) तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात् । (४) सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् । (५) तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति ॥३॥

(यही बात) 'आगमेनानुमानेन' इत्यादि श्लोक के द्वारा इस प्रकार कहा गयी है कि 'आगम' अर्थात् शब्द प्रमाण, अनुमान (मनन) प्रमाण एवं 'ध्यानाभ्यासरस' अर्थात् निदिध्यासन (क्रमशः) इन तीनों प्रकार की उपासनाओं से ईश्वर-विषयणी प्रज्ञा को विभक्त (निर्मल कर लेने के बाद ही ईश्वर-विषयक) 'उत्तमयोग' अर्थात् ईश्वर का चरम साक्षात्कार होता है । (अतः ईश्वर मनन रूप परमेश्वर को सिद्धि का प्रयास असङ्गत या व्यर्थ नहीं है) ।

ईश्वर मनन-रूप (ईश्वर के इस निरूपण में अङ्गीभूत) विप्रतिपत्तियाँ संक्षेप में पाँच प्रकार की हैं—

(१) (चार्वाकों से स्वीकृत प्रथम प्रकार की अदृष्ट रूप) परलोक के अलौकिक साधन के अभाव से उत्पन्न होनेवाली ('अलौकिकपरलोकसाधनं वर्त्तते न वा' इस आकार की है) ।

(२) वेदकर्त्ता सर्वज्ञ परमेश्वर को माने बिना भी परलोक के यागादि साधनों का अनुष्ठान हो सकता है (मीमांसकों के इस सिद्धान्त से उत्पन्न होनेवाली वेदकर्त्ता कश्चित्सर्वज्ञः परमेश्वरोऽस्ति न वा) इस आकार की विप्रतिपत्ति है ।

अथवा (कपिलादि मुनियों के द्वारा ही वेदों की रचना मानकर आप्तरचित होनेके कारण ही वेदों में निर्दिष्ट यागादि का अनुष्ठान हो सकता है । इस के लिए सर्वज्ञ परमेश्वर की कल्पना आवश्यक नहीं है अतः) 'अन्यथापि' जीवों से भिन्न वेदों के रचयिता परमेश्वर की कल्पना न करने पर भी 'परलोक के साधन' यागादि का अनुष्ठान हो सकता है । (सांख्याचार्यों के इस अभिमत के कारण भी 'जीवातिरिक्तः सर्वज्ञः परमेश्वरोऽस्ति न वा' इस आकार की विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है) ।

(३) (सभी अनुपलब्धियों से अभाव का बोध होता है केवल योग्यानुपलब्धि से ही नहीं । अतः अभाव के प्रत्यक्ष के लिये प्रतियोगी का प्रत्यक्ष आवश्यक नहीं है । सुतरां क्षित्यादि में सकर्त्तृकत्व के साधक ईश्वर-सम्बन्धी सभी अनुमान अन्ततः अनुपलब्धि के द्वारा बाधित होंगे ही । चार्वाक के इस कुमति के द्वारा यह विप्रप्रपत्ति आ खड़ी होती है कि) 'अनुपलब्धिः अभाव-ग्राहिका न वा' ।

(४) (वही 'प्रमाणपुरुष' कहलाता है, जो प्रमाज्ञान का आश्रय हो । उसी विषय का ज्ञान प्रमा हो सकता है जो पहिले से ज्ञात न हो । तथाकथित सर्वज्ञ परमेश्वर से कोई विषय

तत्र न प्रथमः कल्पः, यतः—

सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥ ४ ॥

न ह्ययं संसारोऽनेकविधदुःखमयो निरपेक्षो भवितुमर्हति । तदा हि स्यादेव, न स्यादेव वा, न तु कदाचित् स्यात् ॥४॥

अज्ञात नहीं रह सकता । इस लिये उनके सभी ज्ञानों के विषय पूर्वज्ञात ही होंगे । अतः वे प्रमाण नहीं हो सकते । अप्रामाणिक पुरुष के ऊपर विश्वास करना सम्भव नहीं है । मीमांसकों-के ही इस विश्वास के द्वारा) 'नित्यसर्वज्ञः परमेश्वरः प्रमाणं न वा' इस आकार की विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है ।

(५) (ईश्वर की सिद्धि में बाधक इन चार विप्रतिपत्तियों का खण्डन कर देनेसे ही ईश्वर की सिद्धि स्वतः नहीं हो सकती । उस के लिये साधक हेतु-युक्त अनुमान का अलग से प्रयोग करना पड़ेगा । प्रकृत में यह संभव नहीं है, अतः ईश्वर के विरोधी मीमांसक, चार्वाक, बौद्ध-प्रभृति सभी पक्षों से यह विप्रतिपत्ति आती है कि), 'ईश्वरसाधने प्रमाणमस्ति न वा' ॥३॥

(इस ग्रन्थ के पांच स्तबकों में क्रमशः इन्हीं विप्रतिपत्तियों के आधार पर विचार कर अपना मत स्थिर किया गया है । इन सभी विप्रतिपत्तियों में विधिपक्ष है नैयायिकों का और निषेधपक्ष है कथित पूर्वपक्षियों का) ।

इन में प्रथम विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि (१) सभी कार्य अपनी उत्पत्ति के लिये किसी वस्तु की अपेक्षा रखते हैं, (अतः कार्यों का कोई कारण अवश्य है) । (२) (जो किसी कार्य का कारण है, उसका भी कोई कारण अवश्य है । कार्य और कारण की यह परम्परा बीज और अंकुर की परम्परा की तरह) अनादि है, (अतः यह अनवस्था दोषावह नहीं है) । (३) प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि संसार के कार्य विविध प्रकार के हैं, अतः एक ही ब्रह्म को अथवा एक ही जाति के बुद्धितत्त्वों का सभी कार्यों का कारण नहीं माना जा सकता । (४) कार्यों के ये कारण लोकप्रत्यक्ष से सिद्ध दण्डादि स्वरूप ही हैं । अतः केवल 'कारण' की सिद्धि से अलौकिक कारण रूप अदृष्ट की सिद्धि नहीं की जा सकती । अतः अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । किन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि विश्व के सभी परलोक चाहनेवाले (यागादि के अनुष्ठानों में) प्रवृत्त दीखते हैं । (५) (परलोक का अदृष्ट रूप यह अलौकिक साधन भोग करनेवाले पुरुष की आत्मा में रहता है ? या चन्दनादि भोग्यपदार्थों में ? इन दोनों में 'अदृष्ट भोक्ता पुरुष की आत्मा में ही रहता है' यह पहिला पक्ष ही ठीक है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में विभिन्न प्रकार के भोग नियमित हैं । अतः (दण्डादि प्रत्यक्ष सिद्ध कारणों के अतिरिक्त कार्यों का अदृष्ट रूप) अलौकिक हेतु भी अवश्य है ।

न ह्ययम्०............

(कार्यों के कारण अवश्य हैं, क्योंकि) अनेक प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण यह संसार बिना किसी की अपेक्षा के उत्पन्न नहीं हो सकता । (यदि ऐसी बात हो तो फिर यह संसार)

अकस्मादेव भवतीति चेन्न,

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥ ५ ॥

हेतुनिषेधे भवनस्यानपेक्षत्वेन सर्वदा भवनमविशेषात्, भवनप्रतिषेधे प्रागिव पश्चादप्यभवनमविशेषात् । उत्पत्तेः पूर्वं स्वयमसतः स्वोत्पत्तावप्रभुत्वेन स्वस्मादिति

निरन्तर उत्पन्न ही होता रहेगा या फिर कभी उत्पन्न ही नहीं होगा (बिना कारण के यह नहीं हो सकता कि वह) 'कदाचित्' उत्पन्न हो (अर्थात् किसी नियमित समय में ही उत्पन्न हो, उससे भिन्न समयों में नहीं) ॥ ४ ॥

पू० प०—अकस्मादेव············

(पू.) (विश्व के सारे कार्य) 'अकस्मात्' ही उत्पन्न होते हैं । (उ.) (यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य के ये (पाँच) ही अर्थ हो सकते हैं:—(१) कार्यों का कोई भी कारण नहीं है । (२) कार्यों की उत्पत्ति ही नहीं होती है । (३) कार्य स्वयं अपने द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । (४) 'अनुपाख्य' अर्थात् गगनकुसुमादि की तरह अप्रसिद्ध किसी पदार्थ से ही सभी कार्यों की उत्पत्ति होती है । (५) 'स्वभाव' से ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं । ये सभी पक्ष निम्नलिखित युक्तियों से अयुक्त ठहरते हैं, क्योंकि (१) यदि सभी कारणों को अस्वीकार कर दिया जाय तो कार्यों की उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा नहीं रह जायगी । इस से सदा सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी, क्योंकि (जिस समय कार्य की उत्पत्ति अनुभव से सिद्ध है और जिन क्षणों में कार्यों की उत्पत्ति अनुभव के विरुद्ध है, उन दोनों समयों में कारण की सत्ता न मानने पर कोई) अन्तर नहीं रह जाता है ।

(२) इस लिये कि सभी कार्य अपने नियत समय में ही उत्पन्न होते हैं, अतः 'अकस्मादेव भवति' इस वाक्य से कार्यों की उत्पत्ति को ही अस्वीकार करनेवाला पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता । (अगर ऐसा करें तो फिर जिस प्रकार कारणों के एकत्र होने के) पहिले कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार (कारणों के एकत्र होने के अव्यवहित) उत्तरकाल में भी कार्यों की (अनुभवसिद्ध) उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि (कारणों से कार्यों की उत्पत्ति को ही अस्वीकार कर देने पर कारणों के एकत्र होने से पूर्वकाल और उत्तर काल) दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता है ।

(३) 'स्व' रूप कार्य से ही 'स्व' रूप उसी कार्य की उत्पत्ति इस लिये संभव नहीं है कि उत्पत्ति से पहिले के क्षणों में 'स्व' रूप उस वस्तु की सत्ता संभव नहीं है । जिस समय जिस वस्तु की अपनी ही सत्ता नहीं है, उस वस्तु में आगे के क्षणों में 'स्व' रूप उसी कार्य के उत्पादन की क्षमता नहीं मानी जा सकती ।

पक्षानुपपत्तेः। पौर्वापर्यनियमश्च कार्यकारणभावः। न चैकं पूर्वमपरञ्च, तत्त्वस्य भेदाधिष्ठानत्वात्। अनुपाख्यस्य हेतुत्वे प्रागपि सत्त्वप्रसक्तौ पुनः सदातनत्वापत्तेः।

स्यादेतत्। नाकस्मादिति कारणनिषेधमात्रं वा, भवनप्रतिषेधो वा, स्वात्महेतुकत्वं वा, निरुपाख्यहेतुकत्वं वाऽभिधित्सितमपि त्वनपेक्ष एव कश्चिन्नियतदेशवन्नियतकालस्वभाव इति ब्रूमः। निरवधित्वे अनियतावधित्वे वा कादाचि-

---

दूसरी बात यह भी है कि 'कारण' वही है जो कार्य के (अव्यवहित) पूर्व क्षण में नियमतः रहे। 'कार्य' वही है जो कारणों के अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न हो। पहिले रहने का और पीछे उत्पन्न होने का यह 'पौर्वापर्य' नियम परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में ही हो सकता है।

(४) (अगर गगनकुसुमादि के समान 'अनुपाख्य' अर्थात् सर्वथा अप्रसिद्ध किसी वस्तु को ही सभी कार्यों का कारण मानें तो फिर जिस समय जिस की उत्पत्ति नियमित है) उससे पहिले उस के सभी समय में भी कार्यों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। जिस से कार्यों में 'सदातनत्व' की अर्थात् नित्यत्व की आपत्ति होगी। (फलतः कार्यों का 'कादाचित्कत्व' अनुपपन्न हो जायगा)।

नाकस्मादिति……

(पू. प.) 'कार्यमकस्मादेव भवति' इस वाक्य के द्वारा कारणत्व का निषेध, अपनी उत्पत्ति का "कार्य स्वयं अपना कारण है" इस पक्ष का विशेष विधान, अथवा अलीक किसी विशेष वस्तु में सभी कार्यों के कारणत्व का विधान इन अर्थों में से कोई भी अभिप्रेत नहीं है, किन्तु उक्त वाक्य का यह अभिप्राय है कि (५) जिस प्रकार (नैयायिक भी मानते हैं कि) संसार के सभी वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी 'विशेष देश' में ही रहें। जैसे कुछ नित्य पदार्थ सभी मूर्त द्रव्यों के साथ सम्बद्ध रहते हैं, यथा—आकाशादि। कुछ ऐसे भी नित्य पदार्थ हैं, जो किसी देश विशेष में ही रहते हैं, सर्वत्र नहीं, जैसे परमाणु। एवं पटों के तुरी, वेमा प्रभृति सभी समान रूप से कारण हैं, फिर भी पट की उत्पत्ति तन्तुओं में ही होती है, या घट की उत्पत्ति कपालों में ही होती है। वस्तुओं की उक्त नियत देश-वृत्तित्व का नियामक जैसे कि 'स्वभाव' को छोड़कर किसी दूसरे को नैयायिक भी नहीं मानते) उसी प्रकार सभी कार्यों का यह स्वभाव ही मान सकते हैं कि वे (नियत देश की तरह) नियत काल में ही उत्पन्न हों। (नियतकालवृत्तित्व को ही नैयायिक 'कादाचित्कत्व' कहते हैं। इसकी उपपत्ति भी उक्त 'स्वभाववाद' से ही हो जायगी)।

निरवधित्वे……

(सि. प.) कार्यों को यदि विना किसी अवधि का मानें या अनियत कारणों से उत्पन्न मानें (दोनों ही स्थितियों में) 'कार्य किसी समय उत्पन्न होता है, किसी समय नहीं' इस (कादाचित्कत्व) की उपपत्ति नहीं हो सकती (क्योंकि निरवधित्व और अनियतावधित्व इन दोनों ही के साथ कादाचित्कत्व का विरोध है)। 'कार्यों की कोई अवधि है' इस वाक्यका इतना

एकत्वव्याघातात्। न ह्युत्तरकालसिद्धित्वमात्रं कादाचित्कत्वम्, किन्तु प्रागसत्त्वे सति। सावधित्वे तु स एव प्राच्यो हेतुरित्युच्यते। अस्तु प्रागभाव एवावधिरिति चेन्न, अन्येषामपि तत्काले सत्त्वात्। अन्यथा तस्यैव निरूपणानुपपत्तेः। तथा च न तदेकावधित्वमविशेषात्। इतरनिरपेक्षस्य प्रागभावस्यावधित्वे प्रागपि तदवधेः कार्यसत्त्वप्रसङ्गात्। सन्तु ये केचिदवधयो न तु तेऽपेक्ष्यन्त इति स्वभावार्थ इति

ही अर्थ नहीं है कि 'कारणों के एकत्र होने के बाद कार्य की सत्ता होती है' किन्तु (उक्त वाक्य का यह अर्थ है कि) जो (कारणों के एकत्र होने से) पहिले न रहे और कारणों के एकत्र होने के बाद रहे। इस प्रकार 'कादाचित्कत्व' हेतु के द्वारा कार्यों में 'सावधित्व' की सिद्धि होती है। कार्यों के पहिले अवश्य रहनेवाली यह 'अवधि' ही 'कारण' कहलाती है।

पू० प०—अस्तु······

कार्यसे पहिले अवश्य रहनेवाली 'अवधि' को अगर मान भी लें, तथापि वह 'प्रागभाव' रूप ही है (दण्डादि भाव पदार्थों को घटादि कार्यों को अवधि अर्थात् कारण मानना आवश्यक नहीं है)

सि० प०—अन्येषामपि······

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि प्रागभाव की तरह दण्डादि भाव पदार्थ भी उस (कार्य) की उत्पत्ति से पहिले नियमतः विद्यमान रहते हैं। अगर दण्डादि भाव पदार्थों को घटादि कार्यों का कारण न मानें तो फिर (घटादि) प्रागभावों का निरूपण ही असंभव हो जायगा। (क्योंकि दण्डादि भाव कारणों के संवलन के बाद जबतक घटादि कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो जाती, उस मध्यवर्त्ती समय में जो 'घटो भविष्यति' इत्यादि आकार की प्रतीतियाँ होती हैं, उन्हीं से प्रागभाव की स्थिति मानी जाती है)। अतः केवल प्रागभाव ही कार्यों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि (कार्यों के नियतपूर्ववर्त्ती प्रागभाव और नियतपूर्ववर्त्ती ही दण्डादि भाव पदार्थ इन दोनों में ही कारणत्व मानने की) स्थिति में कोई अन्तर नहीं है।

इतरनिरपेक्षस्य················

यदि दण्डादि भावों से निरपेक्ष केवल (घटादि के) प्रागभावों को ही (घटादि) कार्यों का कारण मानें तो फिर (दण्डादि भाव पदार्थों के एकत्र होने के क्षण के अव्यवहित जिस क्षण में घटादि की उत्पत्ति नियत है) उस से पहिले भी (घटादि) कार्यों की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। क्योंकि (सृष्टि के आदि से लेकर घट के उत्पत्ति-क्षण से पहिले तक घट का प्रागभाव रूप कारण तो विद्यमान ही है)।

पू० प०—सन्तु केचित्··················

"घटादि कार्य अपने 'स्वभाव' से ही उत्पन्न होते हैं" इस वाक्य का इतना ही 'अर्थ' अर्थात् तात्पर्य है कि यद्यपि घटादि कार्यों के दण्डादि अवधि भी हैं, तथापि कार्यों को अपनी

चेत्—नाऽपेक्ष्यन्त इति कोऽर्थः ? किं न नियताः ? आहोस्विन्नियता अप्यनुपकारकाः ?। प्रथमे धूमो दहनवद्गर्दभमप्यवधीकुर्यात्, नियामकाऽभावात्। द्विती॰ तु किमुपकारान्तरेण, नियमस्यैवाऽपेक्षार्थत्वात्, तस्यैव च कारणात्मकत्वात्, ईदृशस्य च स्वभाववादस्येष्टत्वात्। नित्यस्वभावनियमवदेतत्। न ह्याकाशस्य तत्त्वमाकस्मिकमिति सर्वस्य किं न स्यादिति वक्तुमुचितमिति चेन्न—सर्वस्य भवतस्स्वभाव-

---

उत्पत्तिके लिये उन अवधियों की अपेक्षा नहीं होती है। (वे अपने 'स्वभाव' से ही उत्पन्न होते हैं)।

सि० प०—नापेक्ष्यन्त इति···············

(घटादि) 'कार्य अपनी उत्पत्ति के लिये (दण्डादि) भाव कारणों की अपेक्षा नहीं रखते' इस वाक्य का क्या अर्थ ? इस वाक्य के ये दो ही अर्थ हो सकते हैं कि (१) दण्डादि भाव पदार्थ रूप कारण घटादि कार्यों से अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से नहीं रहते। अथवा (२) नियत रूप से रहने पर भी (घटादि कार्यों की उत्पत्ति में) किसी प्रकार का उपकार नहीं करते। इन दोनों पक्षों में से पहिला पक्ष इस लिये सङ्गत नहीं है कि कार्य अगर अपने अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से न रहनेवाले पदार्थो से भी उत्पन्न हो सकते हैं, तो फिर जिस प्रकार धूम रूप कार्य की 'अवधि' वह्नि होती है, उसी प्रकार 'रासभ' भी धूम को अवधि हो सकता है। अगर दूसरा पक्ष मानें तो (उसका यह उत्तर है कि) कार्यो की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से रहना ही 'अवधि' या 'कारण' का कार्य के उत्पादन में 'उपकार' स्वरूप है। प्रकृत में 'उपकार' शब्द से किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार का 'स्वभाववाद' स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

पू० प०—नित्यस्वभाव···············

जिस प्रकार आकाश के नित्य होने पर भी उसका आकाशत्व (शब्दाश्रयत्व—फलतः शब्द) नित्य नहीं होता। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सभी नित्य पदार्थो के सभी धर्म नित्य ही होते हैं (क्योंकि आत्मा स्वयं भी नित्य है और उसका आत्मत्व-रूप धर्म भी नित्य है) उसी प्रकार कारणों से अनपेक्ष अर्थात् 'आकस्मिक' कार्यों का भी यह स्वभाव स्वीकार किया जा सकता है कि वे किसी कालविशेष के साथ ही सम्बद्ध हों, अर्थात् 'कादाचित्क' हों।

सि० प०—सर्वस्य भवतः···············

अनन्त कार्यों में रहनेवाला 'कादाचित्कत्व' किसी 'स्व' रूप कार्यविशेष का 'भाव' नहीं हो सकता (क्योंकि केवल तद्व्यक्ति में रहनेवाला उसका धर्म ही तद्व्यक्ति का 'स्वभाव' होता है) कोई भी एक धर्म अनेक वस्तुओं का स्वभाव नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी धर्म का अनेक वस्तुओं में रहना और 'स्वभाव' शब्दसे अभिहित होना दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

स्वानुपपत्तेः। न ह्येकमनेकस्वभावं नाम, व्याघातात्। नन्वेवमिहाऽपि सर्वदा भवतः कादाचित्कत्वस्वभावव्याघात इति तुल्यः परिहारः। न तुल्यः, निरवधित्वेऽनियतावधित्वे वा कादाचित्कत्वव्याघातात्। नियतावधित्वे हेतुवादाभ्युपगमात् ॥५॥

स्यादेतत्। उत्तरस्य पूर्वः पूर्वस्योत्तरो मध्यमस्य उभयमवधिरस्तु। दर्शनस्य दुरपह्नवत्वात्, त्वयाऽप्येतदभ्युपगन्तव्यम्। न हि भाववदभावेऽप्युभयाऽवधित्वमस्ति। तद्वद्भावेष्वप्यनुपलभ्यमानैकैककोटिषु स्यात्। न स्यात्, अनादित्वात् ॥५॥

पू० प०—नन्वेवमिहापि···············

किन्तु यह विरोध तो 'कादाचित्कत्व' के साथ भी समान रूप से है, क्योंकि वह भी सभी कार्यों का धर्म है। (उक्त न्याय के अनुसार) 'सभी कार्यों में रहनेवाला (अर्थात् अनेक वृत्ति) 'कादाचित्कत्व' भी किसी 'स्व' का 'भाव' नहीं हो सकता)।

सि० प०—न तुल्य···············

(कार्यों का आकस्मिकत्व और कादाचित्कत्व ये दोनों पक्ष पूर्वपक्षी की कथित युक्ति के अनुसार) समान नहीं हैं। क्योंकि बिना किसी अवधि के कार्यों का होना और अनियत अवधि में होना इन (निरवधित्व और अनियतावधित्व) दोनों के साथ कादाचित्कत्व का विरोध है। (कथित युक्ति के द्वारा कथित दोनों धर्मों में से जब अनियतावधित्व रूप धर्म का प्रतिषेध कर दिया जाता है तो फिर) कार्यों का नियत अवधि के भीतर उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है जिसकी 'परिणति' 'हेतुवाद' अर्थात् कार्य-कारणभाव को स्वीकार करने में होती है।

पू० प०—स्यादेतत् उत्तरस्य···············

'उत्तर' अर्थात् ध्वंस का केवल उत्पादक कारण रूप पूर्व अवधि ही स्वीकार करेंगे (नाशक रूप उत्तर अवधि नहीं)। 'पूर्व' का अर्थात् प्रागभाव का केवल नाशक रूप उत्तर अवधि ही स्वीकार करेंगे (उत्पादक कारण रूप पूर्व अवधि नहीं)। 'मध्यमों' की अर्थात् उत्पत्ति और विनाश दोनों के बीच रहनेवाले घटादि पदार्थों की (उत्पादक और नाशक रूप) दोनों ही अवधियाँ स्वीकार करेंगे, क्योंकि प्रमाणों के द्वारा निश्चित इस वस्तुस्थिति का अपलाप नहीं किया जा सकता। तुम लोगों (नैयायिकों) को भी यह मानना ही होगा कि (घटादि भाव पदार्थों के समान प्रागभाव और ध्वंस इन दोनों अभावों की दोनों अवधियाँ नहीं हैं। अतः किसी अभाव की जिस प्रकार केवल 'पूर्व अवधि' रूप एक ही कोटि है, एवं किसी अभाव की 'उत्तरावधि' रूप दूसरी कोटि ही है, उसी प्रकार जिन भाव पदार्थों की एक ही कोटि उपलब्ध होगी, उन भाव पदार्थों की भी एक ही कोटि मानेंगे। अर्थात् यह नियम भाव पदार्थों में भी नहीं मानेंगे कि जिस की एक कोटि हो, उस की दूसरी भी कोटि हो ही)।

सि० प०—न, अनादित्वात्···············

यह बात नहीं हो सकती, क्योंकि कार्यों और कारणों की यह परम्परा अनादि है ॥५॥

प्रवाहोऽनादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् ।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः ॥ ६ ॥

प्रागभावो ह्युत्तरकालावधिरनादिः, एवं भावोऽपि घटादिस्स्यात् । अनुपलभ्यमानप्राक्कोटिकघटादिविषयं नेदमनिष्टमिति चेन्न । तावन्मात्रावधिस्वभावत्वे तदहर्वत्पूर्वेद्युरपि तमवधीकृत्य तदुत्तरस्य सत्त्वप्रसङ्गात् । अपेक्षणीयान्तराभावात् । एवं पूर्वपूर्वमपि । भावे, तदेव सदातनत्वम् । तदहरेवानेन भवितव्यमित्यस्य स्वभाव इति चेन्न । तस्याप्यह्नः पूर्वन्यायेन पूर्वमपि सत्त्वप्रसङ्गात् ।

प्रवाहोऽनादिमानेष··············

कार्यकारण की यह धारा अनादि है । विभिन्न जातियों की अनेक वस्तुओं में एक जाति की वस्तुओं के उत्पादन करने की शक्ति भी नहीं मानी जा सकती । 'कौन किसका कारण है और कौन किसका कार्य है' इसको समझने के लिये अन्वय और व्यतिरेक को समझने के पीछे यत्नपूर्वक तत्पर होना चाहिए ।

सि० प०—प्रागभावो हि················

प्रागभाव का तो (नाशक रूप) उत्तर अवधि ही है, पूर्व अवधि नहीं, अतः वह अनादि है । (यदि प्रागभाव के दृष्टान्त से पूर्व अवधिरूप कारण के बिना ही घटादि भाव पदार्थों में भी कादाचित्कत्व की उपपत्ति करें तो फिर प्रागभाव के समान) घटादि भाव पदार्थ भी अनादि हो जायेंगे ।

पू० प०—अनुपलभ्यमान················

जिन (भावपदार्थों) का पूर्व अवधिरूप कारण उपलब्ध नहीं होगा, उन घटादि भाव पदार्थों के प्रसङ्ग में उक्त अनादित्व की आपत्ति को इष्ट मान लेने में कोई बाधा तो नहीं है ?

सि० प०—न, तावन्मात्रावधि···············

ऐसी बात नहीं हो सकती (क्योंकि यदि घटादि पदार्थों को नित्य मानें तो फिर) उन घटादि पदार्थों से आज उत्पन्न होनेवाले (जलाहरणादि) कार्यों के समान आज से पूर्व दिन भी उन से होनेवाले जलाहरणादि कार्यों की उत्पत्ति माननी होगी । क्योंकि उन (जलाहरणादि) कार्यों को अपनी उत्पत्ति के लिये कोई और वस्तु अपेक्षित नहीं है । इसी प्रकार फिर उससे भी पहिले उन (जलाहरणादि) कार्यों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जिससे सभी समयों में कार्यों की उत्पत्ति रूप सदातनत्व की आपत्ति होगी ।

पू० प०—तदहरेवानेन················

(जलाहरणादि) कार्यों का ही यह स्वभाव स्वीकार करें कि वे उसी दिन उत्पन्न हों (उस से पहिले के दिनोंमें नहीं) ।

सि० प०—तस्याप्यह्नः··················

"पहिले ही जलाहरणादि कार्योंकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?" इस आपत्ति के समाधान के लिये जो युक्ति दी गयी है, उसी युक्ति से यह भी कहा जा सकता है कि "वह निर्दिष्ट दिन ही उस से पहिले क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ?" अतः (कार्यों के प्रत्यक्षसिद्ध कादाचित्कत्व

तस्मात्तस्यापि तत्पूर्वकत्वमेवं तत्पूर्वस्यापीत्यनादित्वमेव ज्यायो न त्वपूर्वानुत्पादे कस्यचिदपूर्वस्य सम्भव इति। तथापि व्यक्त्यपेक्षया नियमोऽस्तु, न जात्यपेक्षयेति चेन्न। नियतजातीयतास्वभावव्याघातात्। यदि हि यतः कुतश्चिद्भवन्नेव तज्जातीयस्वभावस्स्यात्, सर्वस्य सर्वजातीयत्वमेकजातीयत्वं वा स्यात्। एवं तज्जातीयेन यतः कुतश्चिद्भवितव्यमित्यस्य स्वभावः, तदाऽपि सर्वस्मात् सर्वजातीय-मेकजातीयं वा स्यात्। कथं तर्हि तृणारणिमणिभ्यो भवन्नाशुशुक्षणिरेकजातीयः? एकशक्तिमत्त्वादिति चेन्न। यदि हि विजातीयेष्वप्येकजातीयकार्यकारणशक्तिस्सम-

---

की अनुपपत्ति से बचनेके लिए) यही मानना उचित है कि 'घटादि कार्यों के उत्पादक—कारणों का समूह भी किसी दूसरे कारणों के समूह से उत्पन्न होता है, यह दूसरा कारण-समूह भी किसी तीसरे कारणों के समूह से उत्पन्न होता है। अतः (कार्य और कारण की धारा को) अनादि मानना ही उचित है। यदि 'अपूर्व' की (अर्थात् पहिले से अविद्यमान कारणों की) उत्पत्ति न मानें तो फिर 'अपूर्व' की (अर्थात् पहिले से अविद्यमान कार्यों की) उत्पत्ति भी न हो सकेगी।

पू० प०—तथापि...............

(अन्वय और व्यतिरेक से युक्त कोई व्यक्ति विशेष ही किसी कार्यव्यक्ति विशेष का कारण है—इस प्रकार) व्यक्ति के आधार पर ही कार्यकारणभाव को मानना उचित है। (अर्थात् जिस कार्यव्यक्ति का अन्वय और व्यतिरेक जिस कार्यव्यक्ति के साथ है, उस कार्य-व्यक्ति की सजातीय जितने भी कार्यव्यक्ति हैं, उन सबके प्रति उक्त कारणव्यक्ति की सजातीय जितने भी कारणव्यक्ति हैं, सभी कारण हैं, इस प्रकार) जाति के आधार पर कार्यकारणभाव का मानना उचित नहीं है।

सि० प०—न, नियतजातिस्वभावता...............

ऐसा मानने से एक दण्डव्यक्ति से जिस जाति की घटव्यक्ति की उत्पत्ति होती है, एवं दूसरी दण्डव्यक्ति से जिस दूसरी घटव्यक्ति की उत्पत्ति होती है, उन दोनों ही घटों में 'अयं घटः' इस एक ही आकार की प्रतीति होती है। व्यक्तिसापेक्ष कार्यकारणभाव के मानने पर विभिन्न कार्य-व्यक्ति में जो एकनियतजातीयता की उक्त प्रतीति होती है, वह न हो सकेगी।

अगर जिस किसी जातिके कारणों से एक सजातीय कार्यों की ही उत्पत्ति मानें तो फिर सभी जाति के कारणों से सभी जातिके कार्यों की उत्पत्ति माननी होगी, या फिर सभी जाति के कारणों से एक ही जाति के कार्यों की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी।

पू० प०—कथं तर्हि...............

(यदि ऐसी स्थिति है तो फिर) तिनकों से, लकड़ियों से एवं सूर्यकान्तमणि से वह्नि रूप एक ही जातिके कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

मीमांसकमत से इस का समाधान—एकशक्तिमत्त्वात्...............

तृण (तिनका) अरणि (काष्ठ) और (सूर्यकान्त) मणि इन विभिन्न जाति की वस्तुओं में वह्निरूप एक जाति की विभिन्न वह्निव्यक्तियों को उत्पन्न करने की 'एक जाति की

वेयान्न कार्यात्कारणविशेषः काप्यनुमीयेत। कारणाव्यावृत्त्या च न तज्जातीयस्यैव कार्यस्य व्यावृत्तिरवसीयेत। तदभावेऽपि तज्जातीयशक्तिमतोऽन्यस्मादपि तदुत्पत्तिसंभवात्। यावद्दर्शनं व्यवस्था भविष्यतीति चेन्न। निमित्तस्याऽदर्शनात्, दृष्टस्य चानिमित्तत्वात्। एतेन सूक्ष्मजातीयादिति निरस्तम्। अवह्नेरपि तत्सौक्ष्म्याद्धू-

---

शक्ति' है। इस (एकजातीय शक्ति के बल से ही तृणादि विभिन्न जातीय वस्तुओं) से भी वह्नि रूप एकजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है।

सि० प०—मीमांसकों की इस उपपत्तिका खण्डन—न, यदि हि………………

यह (उपपत्ति ठीक) नहीं है, क्योंकि विभिन्न जाति की व्यक्तियों में भी यदि एक जाति के कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति मानी जाय, तो फिर विशेष प्रकार के कार्य (रूप हेतु) से विशेष प्रकार के कारण का जो अनुमान होता है, एवं कारणविशेष के अभाव से जो उस जाति के कार्य के अभाव का अनुमान होता है, ये दोनों ही अनुमान न हो सकेंगे। क्योंकि उस जाति के कारण के न रहने पर भी विशेष प्रकार कार्य के उत्पादन की शक्ति से युक्त किसी अन्य जाति के कारणों से भी उसी जाति के कार्यों की उत्पत्ति (मीमांसकों के उक्त मत के अनुसार) हो सकती है।

पू० प०—(मीमांसा के मत से) यावद्दर्शनम्………………

जिन कारणों से जिस कार्य की उत्पत्ति प्रमाण के द्वारा सिद्ध होगी, उन्हीं कारणों में उस कार्य के उत्पादन की शक्ति स्वीकार करेंगे (इस प्रकार तृणादि में से प्रत्येक में परस्पर निरपेक्ष वह्नि के उत्पादन की शक्ति की कल्पना करेंगे, क्योंकि वह प्रमाण से अनुमोदित है। किन्तु प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण तन्तुओं में घट के उत्पादन की शक्ति नहीं मानेंगे)।

सि० प०—निमित्तस्य………………

(इस का तो यह अर्थ हुआ कि शक्ति के अतीन्द्रिय होने के कारण जो शक्तिविशिष्ट तृणादि अप्रत्यक्ष हैं उन को (आप मीमांसक) कारण मानते हैं; किन्तु वे ही तृणादि जिन तृणत्वादि रूपों से प्रत्यक्षसिद्ध हैं, उन तृणत्वादि रूपों से उन में वह्नि की कारणता नहीं मानते।

एतेन………………

("कार्य के उत्पादन की शक्ति से युक्त तृणादि ही कारण हैं, केवल तृणत्वादिविशिष्ट तृणादि कारण नहीं हैं" इस पक्ष के खण्डन की युक्ति से ही यह 'कुर्वद्रूपत्व' रूप) "सूक्ष्म जातिसे युक्त वस्तुओं से ही कार्य की उत्पत्ति होती है" यह बौद्धों का पक्ष भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि वह्नि से भिन्न अथ च धूमकुर्वद्रूपत्वविशिष्ट अन्य पदार्थों से भी धूम की उत्पत्ति इस पक्ष में संभव होगी।

मोत्पत्त्यापत्तेः। कार्यजातिभेदाभेदयोस्समवायिभेदाभेदावेव तन्त्रं न निमित्तासमवायिनी इति चेन्न। तयोरकारणत्वप्रसङ्गात्। न हि सति भावमात्रं तत्, किन्तु सत्येव भावः। न च जातिनियमे समवायिकारणमात्रं निबन्धनम्, अपि तु सामग्री। अन्यथा द्रव्यगुणकर्मणामेकोपादानकत्वे विजातीयत्वं न स्यात्। न च कार्यद्रव्यस्यैषा रीतिरिति युक्तम्। आरब्धदुग्धैरेवाऽवयवैर्दध्यारम्भदर्शनात्।

एतेनाऽपोहवादे नियमो निरस्तः, कार्यकारणभावाद्वेत्यादि विप्लवप्रसङ्गात्।

पू० प०—कार्यजाति...............

विभिन्न समवायिकारणों से उत्पन्न होने से ही कार्य विभिन्न होते हैं। निमित्तकारण असमवायिकारण इन दोनों की विभिन्नता कार्यों में परस्पर भेद के नियामक नहीं हैं।

सि० प०—न, तयोः...............

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर निमित्तकारण और असमवायिकरण ये दोनों अपना कारणत्व ही खो बैठेंगे। 'कार्य से पूर्व जो विद्यमान रहे' कारण का यही लक्षण नहीं है, किन्तु 'जिसके रहने से ही कार्यकी उत्पत्ति हो' यही कारण का लक्षण है। 'कौन सा कार्य किस जाति का हो ?' इसका नियमन किसी भी एक कारण से संभव नहीं है। किन्तु कार्य की उत्पत्ति के लिये जितने भी कारण अपेक्षित हों—वे सभी अर्थात् सामग्री ही कार्यों के जातिभेद की नियामिका हो सकती है। अगर ऐसी बात न हो (केवल समवायिकारण को ही कार्यमें रहनेवाली विभिन्न जातियों का नियामक मान लें तो फिर) द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों विभिन्न जातिके न रह जायँगे, क्योंकि इन तीनों के ही समवायिकारण द्रव्य ही हैं।

पू० प०—न च कार्यद्रव्यस्य...............

द्रव्य रूप कार्यों में रहनेवाली जातियों का ही नियमन समवायिकारण से मानेंगे (गुण एवं कर्म रूप कार्यों में रहनेवाली जातियों का नहीं)।

सि० प०—न, आरब्ध दुग्धै...............

यह भी संभव नहीं है, क्योंकि दूध के उत्पादक अवयवों से ही (अर्थात् दूध के उत्पादक पार्थिवपरमाणुओं से ही) दही की भी उत्पत्ति होती है। (अर्थात् दूध और दही दोनों विभिन्न द्रव्य रूप कार्य हैं, किन्तु दोनों के समवायिकरण एक ही पृथिवीत्व जाति के परमाणु हैं)।

एतेन...............

(मीमांसकों के इस शक्तिकारणतावाले पक्ष में "कार्य से कारणानुमान और कारणों के अभाव से कार्याभाव का अनुमान इन दोनों अनुमानों की अनुपपत्ति के लिये कही गयी युक्ति से ही बौद्धों के) 'अपोहवाद' में भी 'नियम' की अर्थात् व्याप्ति की अनुपपत्ति प्रदर्शित हो जाती है, क्योंकि (उन दोनों अनुमानों की अनुपपत्ति से बौद्धों के) 'कार्यकारणभावाद्वा' इत्यादि श्लोक के द्वारा कथित व्याप्तिके नियामक अनुपपन्न हो जाते हैं।

तस्मान्नियतजातीयतास्वभावभङ्गेन व्यक्त्यपेक्षयैव नियम इति न, फूत्कारेण तृणादेरेव, निर्मन्थनेनारणेरेव, प्रतिफलिततरणिकिरणैर्मणेरेवेति प्रकारनियमवत्तेनैव व्यज्यमानस्य कार्यजातिभेदस्य भावात्। दृश्यते च पावकत्वाविशेषेऽपि प्रदीपः प्रासादोदरव्यापकमालोकमारभते, न तथा ज्वालाजालजटिलोऽपि दारुदहनो न तराञ्च कारीषः ॥

यस्तु तं नाऽऽकलयेत्, स कार्यसामान्येन कारणमात्रमनुमिनुयादिति किमनुपपन्नम्? एवं तर्हि धूमादावपि कश्चिदनुपलक्षणीयो विशेषः स्याद्यस्य दहनापेक्षेति न धूमादिसामान्याद्वह्निसामान्यासिद्धिः। एतेन व्यतिरेको व्याख्यातः। तथा च कार्यानुपलब्धिलिङ्गभंगे स्वभावस्याप्यसिद्धेर्गतमनुमानेनेति चेत्, प्रत्यक्षानुपलम्भगोचरो जातिभेदो न कार्यप्रयोजक इति वदतो बौद्धस्य शिरस्येष प्रहारः। अस्माकन्तु

तस्मात्

"अमुक विशेष प्रकार के कारणसमुदाय से उत्पन्न होने के कारण अमुक कार्यव्यक्ति ही अमुक जाति की हो" इस प्रकारका 'व्यक्तिविश्रान्त'[१] कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर "अमुक जाति के कारणों से उत्पन्न सभी कार्यों का किसी नियत जाति के ही होने का जो स्वभाव सर्वसिद्ध है, वह अनुपपन्न हो जायगा।

फूत्कारेण……

जैसे फूँकने से केवल तृण के द्वारा रगड़ खाने से केवल लकड़ियों के द्वारा, और सूर्य के उपयुक्त तेजःसंयोग से केवल सूर्यकान्तमणि के द्वारा ही वह्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार तत्तद्वह्नि में रहनेवाली जो तार्णत्वादि (वह्नित्व की) अवान्तर जातियाँ हैं, उन की अभिव्यक्ति भी उन्हीं सहकारिकारणों से होती है। देखा भी जाता है कि प्रदीप से कोठरी में जिस प्रकार का नियमित प्रकाश होता है, उस से बड़े दावानल से भी उस प्रकार का नियमित प्रकाश नहीं होता। गोंइठे का आग से तो, जरा भी उस प्रकार का प्रकाश नहीं होता, यद्यपि तीनों ही वह्नियोंमें वह्नित्व जाति समान भाव से है।

यस्तु तम्……

अतः यदि इन विशेषों की आलोचना न करनेवाला कोई पुरुष सामान्यतः वह्नि रूप-कार्य से उसके सामान्य कारणों का ही अनुमान करे तो इसमें कौन सी हानि है?

पू० प०—एवं तर्हि……

इस प्रकार तो (अग्नि मे तार्णत्वादि जातियों के समान) धूम में भी वह्निजनित किसी 'विशेष जाति' की सत्ता माननी पड़ेगी, जिस से धूम सामान्य के द्वारा वह्निसामान्य का अनुमान अनुपपन्न हो जायगा। एवं इसी अनुपपत्ति से 'व्यतिरेक' अर्थात् अनुपलब्धिमूलक सामान्याभाव के अनुमान की अनुपपत्ति भी जान लेनी चाहिए। इन दोनों अनुपपत्तियों से 'स्वभावलिङ्गक' अनुमान स्वतः अनुपपन्न हो जाता है।

यत्सामान्याक्रान्तयोर्ययोरन्वयव्यतिरेकवत्ता तयोस्तथैव हेतुहेतुमद्भावनिश्चयः। तथा चाऽवान्तरविशेषसद्भावेऽपि न नो विरोधः। किं पुनस्तार्णादौ दहनसामान्यस्य प्रयोजकम्? तृणादीनां विशेष एव नियतत्वादिति चेत्? तेजोमात्रोत्पत्तौ पवनो निमित्तम्, अवयवसंयोगोऽसमवायी, तेजोऽवयवाः समवायिनः। इयमेव सामग्री गुरुत्ववद् द्रव्यसहिता पिण्डितस्य। इयमेव तेजोगतमुद्भूतस्पर्शमपेक्ष्य दहनम्, तत्राऽपि जलं प्राप्य दिव्यम्, पार्थिवं प्राप्य भौमम्, उभयं प्राप्यौदर्यमारभत इति स्वयमूहनीयम् ॥६॥

सि० प० प्रत्यक्षानुपलम्भ······

जो प्रत्यक्ष से सिद्ध अन्वय और व्यतिरेक (अनुपलम्भ) इन दोनों से निर्णीत बीजत्वादि जातियों को अंकुरादि कार्यों की उत्पत्ति का प्रयोजक नहीं मानते, उन बौद्धों के शिर पर ही यह (अनुमानमात्रोच्छेद का) प्रहार हो सकता है।

यत्सामान्याक्रान्तयो··············

हम लोगों के मत में जिस जाति के जिस कार्य के साथ जिस जाति से युक्त जिस कारणव्यक्ति का अन्वय और व्यतिरेक गृहीत होता है, उस जाति की सभी कार्यव्यक्तियों के साथ उस जाति की सभी कारणव्यक्तियों का कार्यकारणभाव गृहीत होता है। इस रीति को मान लेने पर कार्यों में (महासामान्य के) अवान्तर किसी व्याप्य जाति की सत्ता यदि है भी, तथापि हम लोगों को कोई आपत्ति नहीं है।

पू० प० किं पुनः······

तृणादि से उत्पन्न विशेष प्रकार के अग्नियों में जिस वह्नित्व जाति को आप ने स्वीकार किया है, उस का प्रयोजक कौन है? क्योंकि अग्नि के तृण-प्रभृति जितने भी कारण उपलब्ध हैं, वे सभी नियमतः विशेष प्रकार के वह्नि के ही उत्पादक हैं (अर्थात् वे तार्णत्वादि विशेष धर्मों के ही प्रयोजक हो सकते हैं, वह्नित्व रूप सामान्य धर्म के नहीं)।

सि० प० तेजोमात्रोत्पत्तौ······

केवल तेज की उत्पत्ति में तैजस अवयवों के संयोग असमवायिकारण हैं, तैजस अवयव समवायिकारण हैं, और वायु प्रभृति निमित्तकारण हैं (अर्थात् तृणादि-जनित विशेष प्रकार के अग्नियों में जो 'तैजसत्व' जाति है, उसका प्रयोजक कारणों का उक्त समूह है)। इसी कारणसमूह में जब गुरुत्व से युक्त द्रव्य भी सम्मिलित हो जाता है (तो यही गुरुद्रव्यघटित) सामग्री सुवर्णादि घनीभूत तैजस द्रव्यों का उत्पादन करती है (अर्थात् यही सामग्री तैजसत्व-व्याप्य सुवर्णत्वादि जातियों की नियामिका होती है)। (गुरुद्रव्यघटित उक्त) सामग्री में जब प्रत्यक्ष के योग्य उष्ण स्पर्श आ मिलता है, तब वही उक्त उष्णस्पर्श-घटित सामग्री वह्नि को उत्पन्न करती है (अर्थात् यही उद्भूत-उष्णस्पर्शघटित सामग्री तार्णादि सभी वह्नियों में रहनेवाली वह्नित्व जाति की प्रयोजिका है। (वह्नित्व प्रयोजिका इस) सामग्री को ही जब जल का सहयोग प्राप्त होता है, तो उस जलघटित सामग्री से ही (विद्युत् प्रभृति) दिव्य तेजों की

तथाप्येकमेकजातीयमेव वा किञ्चित् कारणमस्तु, कृतं विचित्रेण। दृश्यते ह्यविलक्षणमपि विलक्षणाऽनेककार्यकारि। यथा प्रदीप एक एव तिमिरापहारी, वर्तिविकारकारी, रूपान्तरव्यवहारकारीति चेन्न, वैचित्र्यात् कार्यस्य।

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य न।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥७॥

उत्पत्ति होती है। उसी सामग्री को जब (जल के बदले) लकड़ी प्रभृति पार्थिव द्रव्यों का सहयोग प्राप्त होता है, तो उसी से भौमवह्नि की उत्पत्ति होती है। वह्नित्व जाति की प्रयोजिका सामग्री को ही जब जल और पार्थिव द्रव्य दोनों का सहयोग एक साथ प्राप्त होता है, तो उसी से औदर्य वह्नि की उत्पत्ति होतो है। इसी प्रकार और स्थितियों में अन्य प्रकार से ऊहन करना चाहिए ॥ ६॥

पू० प० तथापि……

'कार्यों का कोई कारण है' यह मान लेने पर भी (१) किसी एक (ब्रह्म) को ही सभी कार्यों का कारण मानिये या (२) उन अनेक वस्तुओं को ही कार्यों का कारण मानिये जो (व्यक्तिशः भिन्न होते हुए भी) जातितः एक हैं। उन व्यक्तियों में विभिन्न जातियों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक ही जाति के कारणों से विविध प्रकार के कार्य वैसे ही उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे कि एक ही दीप अन्धकार का भी अपहरण करता है, वर्तिका में विकार को भी उत्पन्न करता है एवं स्व से भिन्न घटादि द्रव्यों के रूपों को भी प्रकाशित करता है।

सि० प० न, वैचित्र्यात्……

ऐसी बातें नहीं हो सकतीं, क्योंकि कार्य विभिन्न प्रकार के देखे जाते हैं।

एकस्य न क्रमः……

(१) सभी कार्यों का एक ही कारण स्वीकार कर लेने से कार्यों की क्रमशः उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। (२) सभी कार्यों की उत्पत्ति अनेक कारणों से मान लेने पर भी उन कारणों को यदि एकजातीय मानेंगे तो फिर कार्यों में परस्पर जो विचित्रता है उस की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। (३) (एक ही जाति के उन विभिन्न कारणों में) विविध प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति के अनुकूल विशेष प्रकार की शक्तियों को स्वीकार कर लेने पर भी कार्यों का कथित वैचित्र्य अनुपपन्न ही रहेगा, क्योंकि उक्त शक्तियाँ अपने आश्रयीभूत उन कारणों से अभिन्न हैं। (४) एक जाति के उन कारणों में विचित्र प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने का 'स्वभाव' यदि स्वीकार कर लेंगे, तथापि कार्यों का उक्त वैचित्र्य अनुपपन्न ही रहेगा। (क्योंकि एक कार्य को उत्पन्न करने के समय भी उनमें दूसरे कार्यों को उत्पन्न करने का वह स्वभाव बना ही रहेगा) अतः 'स्वभाव' का अतिक्रमण किसी भी समय नहीं किया जा सकता।

न तावदेकस्मादनपेक्षादनेकम्, अक्रमात् क्रमवत्कार्यानुपपत्तेः। क्रमवत्तावत्-कार्यकारणस्वभावत्वात् तस्य तत्तथा योगपद्यवदिति चेत् ? अयमपि क्षणभङ्गे परिहारः, न तु सहकारिवादे। पूर्वपूर्वानपेक्षायां क्रमस्यैव व्याहतेः, क्रमनियमे त्वनपेक्षानुपपत्तेः।

नाप्यनेकमविचित्रम्, यदि ह्यन्यूनमनतिरिक्तं वा दहनकारणमदहन-

सि० प० न तावत्……………

बिना दूसरे कारणों के साहाय्य से किसी 'एक' ही कारण से 'अनेक' अर्थात् विविध कार्यों की क्रमशः उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि 'अक्रम' से अर्थात् बिना उत्पादक सहकारि-कारणों के कार्यों की क्रमशः उत्पत्ति संभव नहीं है।

पू० प० क्रमवत्तावत्……………

जिस प्रकार एक ही (प्रदीप) में एक ही समय अनेक कार्यों के उत्पादन की सामर्थ्य (नैयायिक) स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार एक कारण में ही अपने सभी कार्यों को क्रमशः उत्पन्न करने का स्वभाव स्वीकार करेंगे। इस प्रकार 'तत्' अर्थात् कार्य 'तथा' अर्थात् क्रमशः उत्पन्न हो सकते हैं।

सि० प० अयमपि……………

(१) यह समाधान भी क्षणभङ्गवादी बौद्धों के लिये भले ही उपयोगी हो, हम सहकारि-वादियों के लिये उपयोगी नहीं है।

(२) एवं (एक ही कारण से या एकजातीय कारणों से उत्पन्न होनेवाले आगे आगे के कार्यों को यदि पहिले पहिले के कार्यों की अपेक्षा न हो तो फिर) कार्यों का क्रमशः उत्पन्न होना ही संभव नहीं होगा।

(३) (यदि क्रमशः उत्पन्न होनेवाले कार्यों में से आगे आगे के कार्य को पहिले के कार्य से सापेक्ष मान कर कार्यों का क्रमिकत्व उत्पन्न करें तो फिर) यह सिद्धान्त ही नहीं स्थिर रहेगा कि "किसी और कारण के साहाय्य के बिना 'एक' ही कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति होती है।"

सि० प० नाप्यनेकम्……………

एक जाति की अनेक वस्तुएँ भी (वैचित्र्य के प्रयोजक नहीं हो सकते। अगर वह्नि के लिये जितने कारण अपेक्षित होते हैं—न उनसे अधिक न उनसे कम-ठीक उतने ही कारणों से वह्नि से भिन्न घटादि कार्यों की भी उत्पत्ति मानें तो फिर वे (घटादि) कार्य वह्नि से भिन्न ही न रह जायेंगे। (अर्थात् वह्नि से भिन्न घटादि भी वह्नि ही हो जायेंगे)।

(इसी प्रकार) वह्नि से भिन्न घटादि कार्यों के लिये जितने कारणों की अपेक्षा है—न अधिक न कम—उतने ही कारणों से यदि 'दहन' अर्थात् वह्नि रूप कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो फिर वह 'दहन' रूप कार्य 'दहन' अर्थात् वह्नि रूप न होकर 'अदहन' अर्थात् वह्नि से भिन्न कार्य स्वरूप ही होगा।

स्यापि हेतुः, नासावदहनो दहनो वा स्यादुभयात्मको वा स्यात्। न चैवम्। शक्तिभेदादयमदोष इति चेन्न, धर्मिभेदाभेदाभ्यां तस्यानुपपत्तेः। असङ्कीर्णोभय-जननस्वभावत्वादयमदोष इति चेन्न, न हि स्वाधीनमस्यादहनत्वम्, अपि तु तज्जनकस्वभावाधीनम्। तथा च तदायत्तत्वाद् दहनस्यापि तत्त्वं केन वारणीयम् ?

इसी प्रकार परस्पर विरोध के कारण 'दहन' स्वरूप कार्य दहन और अदहन दोनों स्वरूपों का भी नहीं हो सकता। एवं उसी रीति से परस्पर विरोध के कारण ही 'अदहन' अर्थात् वह्नि से भिन्न स्वरूप कार्य वह्नि से भिन्न और वह्नि इन दोनों स्वरूपों का भी नहीं हो सकता।

शक्तिभेदात्...............

सभी कार्यों के एक ही जाति के कारणों में ही यदि विभिन्न जातीय कार्यों को उत्पन्न करने की विशेष प्रकार की शक्तियाँ मान ली जायँ तो कथित आपत्तियों का उद्धार हो सकता है (इसके लिये विभिन्न जातीय कारणों की कल्पना आवश्यक नहीं है)।

सि० प० न, धर्मिभेद...............

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त शक्ति को यदि आश्रयीभूत कारणों से भिन्न मान लें तो फिर (एक जाति के कारणों से ही विभिन्न जाति के कार्यों की उत्पत्ति होती है) यह सिद्धान्त ही व्याहत हो जायगा। (क्योंकि उक्त कारण से भिन्न उक्त शक्ति को कार्यों की विचित्रता का प्रयोजक मान लिया है)। यदि उक्त शक्ति को आश्रयीभूत कारणों से अभिन्न मानें तो फिर इस शक्ति को मान लेने से भी कोई अन्तर आने वाला नहीं है। अतः इस पक्ष में भी कार्यों की विचित्रता की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों है।

पू० प० —असङ्कीर्णोभय...............

एक ही जाति के कारणों में वह्नि रूप कार्य को उत्पन्न करने का एवं वह्नि से भिन्न कार्यों को उत्पन्न करने का परस्पर निरपेक्ष (एक दूसरे से असम्बद्ध) दो स्वभावों को स्वीकार कर लेने से ही कथित दोष हट जायँगे।

सि० प० न, न हि...............

ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि घटादि पदार्थ यों ही वह्नि से भिन्न नहीं हैं। वे वह्नि से भिन्न इस लिये हैं कि वह्नि से भिन्न कार्यों को उत्पन्न करने के स्वभाव से युक्त कारणों से वे उत्पन्न होते हैं। उन्हीं कारणों में यदि वह्नि को उत्पन्न करने का स्वभाव भी मान लें तो फिर वह्नि से भिन्न घटादि कार्यों में वह्नित्व की आपत्ति किस प्रकार हटाई जा सकती है ? क्योंकि किसी भी कार्य में वह्नित्व के लिये इतना ही पर्याप्त है कि वह वह्नि को उत्पन्न करने के स्वभाव से युक्त कारणों से उत्पन्न हो। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह्नि से भिन्न कार्यों के उन एक जातीय कारणों में वह्नि को उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं रहता (क्योंकि ऐसा मानने पर वह 'स्वभाव' ही न रह पायगा)। सुतराम् कार्य जिस लिये कि विविध प्रकार के हैं, अतः कारणों

न हि तस्मि नुजनयितव्ये नासौ तत्स्वभावः । तस्माद्विचित्रत्वात् कार्यस्य कारणेनापि विचित्रेण भवितव्यम् । न च तत्स्वभावनस्तथा । ततस्सहकारिवैचित्र्यानुप्रवेशः । न तु क्षणोऽपि तदनपेक्षस्तथा भवितुमर्हतीति ॥ ७ ॥

अस्तु दृष्टमेव सहकारिचक्रम्, किमपूर्वकल्पनयेति चेन्न, विश्ववृत्तिः ।

विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलाऽपि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥८॥

यदि हि पूर्वपूर्वभूतपरिणतिपरम्परामात्रमेवोत्तरोत्तरनिबन्धनम्, न परलोकार्थी कश्चिदिष्टापूर्त्तयोः प्रवर्त्तेत । न हि निष्फले दुःखैकफले वा कश्चिदेकोऽपि प्रेक्षापूर्व-

---

को भी विभिन्न जातियों का होना ही चाहिये। एकजातीय कारणों में विभिन्न जातियों के कार्यों की नैसर्गिक क्षमता नहीं है। अतः कार्यों के वैचित्र्य के लिये कारणों के समूह में विभिन्न सहकारियों का प्रवेश आवश्यक है।

(बौद्धसम्मत विशेष प्रकार के) क्षण भी विभिन्न सहकारियों के बिना विभिन्न प्रकार के कार्यों का उत्पादन नहीं कर सकते। ॥ ७ ॥

पू० प० अस्तु दृष्टमेव...............

(कार्यों के उत्पादक समूहरूप सामग्री को विविध कारणों का समूह स्वरूप स्वीकार कर लेने पर भी) वह समूह प्रत्यक्ष योग्य वस्तुओं का ही मान लिया जाय। उस समूह में अपूर्व या अदृष्ट को ले आने की कौन सी आवश्यकता है ?

सि० प० न, विश्ववृत्तिः...............

ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि विश्व में जितने भी जीव परलोक की इच्छा रखते हैं, वे सभी यागादि कामों में प्रवृत्त दीखते हैं।

विफला विश्ववृत्तिर्नो...............

संसार के सभी परलोक चाहने वालों की (कूप तडागादि कार्योंकी) उक्त प्रवृत्तियाँ निष्फल नहीं हो सकतीं। केवल दुःख ही इन प्रवृत्तियों से उत्पन्न नहीं हो सकता। केवल धनादि दृष्ट फलों के लिये भी इन कार्यों में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार की वञ्चना (ठगी) भी स्वीकार नहीं की जा सकती (कि केवल लोगों को ठगने के लिये ही कोई भी इन कार्यों को करता है)।

सि० प० यदि हि...............

अगर (कार्यों से) पहिले अवश्य रहने वाले (प्रत्यक्ष से सिद्ध केवल दण्डादि) 'भूत पदार्थ ही आगे आगे होने वाले घटादि रूप सभी कार्यों के कारण हों तो फिर (स्वर्गादि) परलोक' की कामना से पुरुष (श्रौत यागादि) 'इष्ट' कार्यों में एवं (स्मार्त कूप तडागादि के खनन रूप) 'पूर्त्त' कार्यों में प्रवृत्त न होता। जिस कार्य का कोई भी फल न हो या जिस से केवल दुःखरूप

कारी घटते, प्रागेव जगत् । लाभपूजाख्यात्यर्थमिति चेत्, लाभादय एव किन्निबन्धना: ? न हीयं प्रवृत्तिः स्वरूपत एव तद्धेतुः, यतो वाऽनेन लब्धव्यम्, यो वैनं पूजयिष्यति, स किमर्थम् ? ख्यात्यर्थमनुरागार्थञ्च जनो दातरि मानयितरि च रज्यते, 'जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः' इति चेन्न, नीतिनर्मसचिवेष्वेव तदर्थं दानादिव्यवस्थापनात् । त्रैविद्यतपस्विनो धूर्तबका एवेति चेन्न, तेषां दृष्टसम्पदं प्रत्यनुपयोगात् । सुखार्थं तथा करोतीति चेन्न, नास्तिकैरपि तथा

फल ही मिले, इस प्रकार के किसी भी कार्य में समझ से काम लेने वाला एक भी पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है। फिर यह संभव ही नहीं है कि विश्व के परलोक को चाहनेवाले इतने सारे पुरुष निष्फल या दुःखमात्र-फलक इष्टापूर्तादि कार्यों में प्रवृत्त होंगे ।

पू० प० लाभपूजा···············

द्रव्य के लाभ, अथवा आदर की प्राप्ति या प्रसिद्धि पाने के लिये ही परलोक के वे चाहनेवाले इष्टापूर्तादि (याग कूपतडागादि) कार्यों में प्रवृत्त होते हैं ।

सि० प० लाभादय एव···············

(इस के प्रसङ्ग में पूछना है कि इष्टापूर्तादि अनुष्ठानों से) लाभ पूजा या ख्याति ही क्यों मिलेगी ? यागादि के अनुष्ठानों की या कूपतडागादि खनन की प्रवृत्तियाँ स्वतः तो लाभादि की उत्पादिका हैं नहीं । अतः (यह प्रश्न उपस्थित होता है कि) यागादि का अनुष्ठान करनेवाला पुरुष किसी से द्रव्यादि का लाभ क्यों करेगा ? या क्यों पूजित होगा ?

पू० प० ख्यात्यर्थम्···············

यागादि के अनुष्ठाताओं को दानादि से पुरस्कृत करनेवाले पुरुष भी अपनी प्रसिद्धि और जनसाधारण के अनुराग की प्राप्ति के लिये ही (परलोकार्थियों को दान देते हैं या आदर करते हैं) । (जैसा कि भारवि कवि की उक्ति है कि) 'जनता के अनुराग से ही संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं'

सि० प० न, नीतिनर्म···············

यह उत्तर युक्त नहीं है, क्योंकि जनता की अनुरक्ति के लिये दानादि की व्यवस्था तो नीति में निपुण पुरुषों के लिए या क्रीडासहचरों के लिए ही उचित है (यागादि के अनुष्ठाताओं के लिये नहीं) ।

पू० प० त्रैविद्यतपस्विनः···············

वेदों के ज्ञाता तपस्विगण बक के समान ही धूर्त होते हैं (अतः वे भी कथित नीतिनिपुण पुरुषों या क्रीडासहचरों के ही समान हैं) ।

सि० प० न, तेषाम्···············

(दोनों प्रकार के पुरुषों में समानता) नहीं है, क्योंकि, नीतिनिपुण पुरुषों या क्रीडासहचरों के सदृश यागादि के अनुष्ठाता पुरुषों का उपयोग सांसारिक संपत्तियों के लिये नहीं किया जाता ।

करणप्रसङ्गात्, सम्भोगवत्। लोकव्यवहारसिद्धत्वादफलमपि क्रियते, वेदव्यवहार-सिद्धत्वात् सन्ध्योपासनवदिति चेद् गुरुमतमेतत्, न तु गुरोर्मतम्। ततो नेदमनवसर एव वक्तुमुचितम्। वृद्धैर्विप्रलब्धत्वाद् बालानामिति चेन्न, वृद्धानामपि प्रवृत्तेः। न च विप्रलम्भकाः स्वात्मानमपि विप्रलभन्ते, तेऽपि वृद्धतरैरित्येवमनादिरिति चेत्, न तर्हि विप्रलिप्सुः कश्चिदत्र, यतः प्रतारणाशङ्का स्यात्। इदं प्रथम एव कश्चि-

---

पू० प० सुखार्थम्...............

यागादि के अनुष्ठानों से भी (अन्य सांसारिक सुखों के समान ही एक प्रकार का) सुख प्राप्त होता है। इसी लिये वे उन में प्रवृत्त होते हैं।

सि० प० न, नास्तिकै...............

(अगर ऐसी बात होती तो फिर) संभोगादि सुखों के अन्य साधनों के समान ही नास्तिकादि यागादि के अनुष्ठानों में भी प्रवृत्त होते।

पू० प० लोकव्यवहार...............

जिस प्रकार विना फल के ही वैदिक व्यवहारों से सिद्ध सन्ध्यावन्दनादि का अनुष्ठान किया जाता है, उसी प्रकार लोकव्यवहार से सिद्ध कुछ निष्फल इष्टापूर्तादि कार्यों का अनुष्ठान भी किया जाता है।

सि० प० गुरुमतम्...............

यह तो 'गुरुमत' अर्थात् प्रभाकर और उनके अनुयायियों का मत है (कि संध्यावन्दनादि नित्यकर्मों के फल नहीं मिलते)। हम लोगों (नैयायिकों) के 'गुरु' (आचार्यों) का यह मत नहीं है (क्योंकि नैयायिकों के मत के अनुसार नित्यकर्मों के भी फल मिलते हैं) किन्तु प्रभाकर (गुरु) की बात उठाने का यह अवसर उपयुक्त नहीं है।

पू० प० वृद्धैः...............

(वेदज्ञ धूर्त) वृद्धों ने बालकों (के समान अज्ञ पुरुषों) को ठग लिया है, अतः (वे इष्टापूर्तादि कामों मे प्रवृत्त होते हैं)।

सि० प० वृद्धानाम्...............

(यह उत्तर उचित) नहीं है, क्योंकि (बालकों के सदृश उक्त अज्ञ पुरुषों के समान ही) वृद्ध (अर्थात् विचक्षण) पुरुष भी (इष्टापूर्तादि कार्यों में) प्रवृत्त होते हैं।

पू० प० न च विप्रलम्भका...............

ये ठगनेवाले वृद्धलोग दूसरों को और स्वयं अपने को भी ठगते हैं और वे भी अपने पूर्ववर्ती वृद्धों से ठगे गये थे। इस प्रकार ठगाई की परम्परा ही चल पड़ी।

सि० प० न तर्हि...............

(तथाकथित ठग लोग स्वयं जिस कार्य को करते हैं, उसी में अगर दूसरों को भी प्रवृत्त कराते हैं, तो) इस परम्परा में कोई भी ठग नहीं, जिस से ठगे जाने की शङ्का की जाय।

दनुष्ठायापि धूर्तः पराननुष्ठापयतीति चेत्, किमसौ सर्वलोकोत्तर एव ? यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखविमुखो ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया वा केवलपरवञ्चनकुतूहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति। कथञ्चैनमेकं प्रेक्षाकारिणोऽप्यनुविदध्युः। केन वा चिह्नेनायमीदृशस्त्वया लोकोत्तरप्रज्ञेन प्रतारक इति निर्णीतः ? न ह्येतावतो दुःखराशेः प्रतारणसुखं गरीयः। यतः पाखण्डाभिमतेष्वप्येवं दृश्यत इति चेन्न, हेतुदर्शनाऽदर्शनाभ्यां विशेषात्। अनादौ चैवम्भूतेऽनुष्ठाने प्रतार्यमाने प्रकारान्तर-

---

पू० प० इदं प्रथम एवं.................. अनुष्ठायापि..................

कोई ऐसा महाधूर्त था, जिस ने सब से पहिले स्वयं (इन इष्टापूर्त्तादि का) अनुष्ठान कर के और लोगों को भी इन में फँसाया।

सि० प० किमसौ..................

सभी जनों से विलक्षण, सभी प्रकार के सुखों से मुँह मोड़नेवाला, वह कैसा प्रवञ्चक रहा जो अपने सर्वस्व को दक्षिणा में देकर, अपने सभी बन्धुओं को छोड़कर, ब्रह्मचर्य के पालन और तपस्या के अनुष्ठान के द्वारा केवल दूसरों को ठगने के औत्सुक्य मात्र से जीवन भर अपने को पीडित करता रहा।

दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार के एक ही धूर्त्त के पीछे बुद्धिमान् पुरुषों का इतना बड़ा दल चला कैसे ? एवं 'वह पुरुष ठग था' इस का निर्णय तुम ने भी किस विलक्षण प्रतिभा के द्वारा किया ? क्योंकि (दक्षिणा में सर्वस्व दानादि के) दुःखों से लोगों को ठगने का सुख तो कभी भी श्रेष्ठ नहीं है।

पू० प० यतः पाखण्डाभिमतेषु..........

(जिन्हें नैयायिक पाखण्डी कहते हैं—उन बौद्धादि के शास्त्रों में भी इस प्रकार के दृष्टफल निरपेक्ष) चैत्यवन्दनादि कार्यों के उपदेश हैं क्या (इष्टापूर्त्तादि के अनुष्ठानों की तरह) उन से भी अदृष्ट की उत्पत्ति माननी होगी ?

सि० प० हेतुदर्शन............

(इष्टापूर्त्तादि और चैत्यवन्दनादि) दोनों समान नहीं हैं, क्योंकि चैत्यवन्दनादि दृष्ट फल के लिये ही अनुष्ठित होते हैं, किन्तु इष्टापूर्त्तादि अदृष्ट फल के लिये अनुष्ठित होते हैं। सुतराम् इष्टापूर्त्तादि अदृष्ट के हेतु हैं, और चैत्यवन्दनादि अदृष्ट के हेतु नहीं हैं। इस प्रकार हेतु के ज्ञान और अज्ञान इन दोनों से इन दोनों में महान् अन्तर है।

एवं बहुत पहिले से प्रसिद्ध एवं स्वयं अपने द्वारा अनुष्ठित किसी कार्य को दूसरे पुरुष को इस प्रकार से समझाना ही 'प्रतारणा' कहलाती है, जिसमें उक्त पहिले कार्य से अधिक व्यय हो।

माश्रित्यापि बहुवित्तव्ययायासोपदेशमात्रेण प्रतारणा स्यात्, न त्वनुष्ठानागोचरेण कर्मणा। अन्यथा प्रमाणविरोधमन्तरेण पाखण्डित्वप्रसिद्धिरपि न स्यात् ॥ ८ ॥

अस्तु दानाध्ययनादिरेव विचित्रो हेतुर्जगद्वैचित्र्यस्येति चेन्न, क्षणिकत्वात्, अपेक्षितस्य कालान्तरभावित्वात्।

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥ ९ ॥

तस्मादस्त्यतिशयः कश्चित्। ईदृशान्येवैतानि स्वहेतुबलायातानि, येन नियतभोगसाधनानीति चेत्। तदिदममीषामतीन्द्रियं रूपं सहकारिभेदो वा?

स्वयं अपने से अनुष्ठित कार्य को उसी रूप में समझाना 'प्रतारणा' नहीं है। अगर ऐसी बात हो, अर्थात् उक्त दोनों ही प्रकार के अनुष्ठान प्रामाणिक हों, तो फिर किसी भी व्यवहार को 'पाखण्डपूर्ण' कहना दुष्कर होगा, क्योंकि किसी भी अनुष्ठान को 'पाखण्डपूर्ण' कहने के लिये उस अनुष्ठान में प्रमाण के विरोध को छोड़कर कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥ ८ ॥

पू० प० अस्तु...............

(संसार के विविध प्रकार के कार्यों के लिये विविध प्रकार के कारणों की सत्ता मान लेने पर भी) दान, वेदाध्ययन प्रभृति विविध प्रकार के दृष्ट कारण हो विविध कार्यों को उत्पन्न कर लेंगे, इस के लिये उन अनुष्ठानों से धर्माधर्म रूप अदृष्ट को मध्यवर्ती व्यापार के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० न, क्षणिकत्वात्......चिरध्वस्तम्......

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि दान-यागादि क्रियाएँ क्षणमात्र रहनेवाली हैं। उन से होनेवाली स्वर्गादि की उत्पत्ति उन क्रियाओं से बहुत समय बाद होती है।

बहुत समय पूर्व विनष्ट हुये (दान यागादि) कर्म (बहुत समय बाद उत्पन्न होनेवाले) स्वर्गादि फलों के उत्पादन का सामर्थ्य कर्म-जनित 'अतिशय' अर्थात् अदृष्ट के विना नहीं रखते। जीवों में अदृष्ट रूप विशेष वस्तु की सत्ता को माने विना जीवों के भोगों की अच्छी प्रकार से उपपत्ति भी नहीं हो सकती। एवं (दान यागादि क्रियाओं से भोग के साधनीभूत) भौतिक द्रव्यों में संस्कार (अदृष्ट) के मानने पर भी जीवों के भोगों की उचित उपपत्ति नहीं होगी।

अतः (दान यागादि क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाला) कोई (मध्यवर्ती) 'अतिशय' (अदृष्ट) अवश्य है।

पू० प० ईदृशानि......

भोगों के संपादक ये (शरीरादि) विषय अपने अपने कारणों से इस प्रकार की 'शक्ति' को लिए ही उत्पन्न होते हैं कि उन से व्यवस्थित भोग ही उत्पन्न होते हैं।

सि० प० तदिदम्......

शरीरादि भोग्य विषयों की यह 'शक्ति' इन में रहनेवाला एवं प्रत्यक्ष न दीखने वाला (अतीन्द्रिय) धर्म है? या उपयुक्त सहकारी का साहाय्य ही उक्त 'शक्ति' है? इन दोनों में से

न तावदैन्द्रियकस्यातीन्द्रियं रूपम्, व्याघातात्। द्वितीये त्वपूर्वसिद्धिः। सिद्धयतु भूतधर्म एव गुरुत्वादिवदतीन्द्रियः। अवश्यं त्वयाप्येतदंगीकरणीयम्। कथमन्यथा मन्त्रादिभिः प्रतिबन्धः। तथाहि—करतलानलसंयोगाद् यादृशादेव दाहो दृष्टस्तादृशादेव मन्त्रादिप्रतिबन्धे सति दाहो न जायते, असति तु जायते। तत्र न दृष्टवैगुण्यमुपलभामहे, नापि दृष्टसाद्गुण्येऽदृष्टवैगुण्यं सम्भावनीयम्, तस्यैतावन्मात्रार्थत्वात्। अन्यथा कर्मण्यपि विभागः कदाचिन्न जायेत। न च प्रतिबन्धकाभावविशिष्टा

पहिला पक्ष इसलिये अयुक्त है कि प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तुओं का कोई धर्म अतीन्द्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु के किसी भी धर्म का अतीन्द्रिय होना युक्ति विरुद्ध है। अगर दूसरा पक्ष मानें तो फिर अपूर्व या अदृष्ट स्वीकृत ही हो जाता है (क्योंकि) 'अदृष्ट' को छोड़कर उक्त सहकारि रूप कारण दूसरा नहीं हो सकता।

पू० प० सिद्धयतु······

जैसे कि प्रत्यक्ष दीखनेवाले पृथिवी और जल रूप द्रव्यों में गुरुत्व नाम के अतीन्द्रिय धर्म (गुण) की सत्ता तुम (नैयायिक) स्वीकार करते हो, उसी प्रकार भोग के कारण शरीरादि भूत पदार्थों में भी एक ऐसी अतीन्द्रिय 'शक्ति' को स्वीकार कर लेने से ही भोग की उचित उपपत्ति हो जायगी।

अवश्यम्······

इस प्रकारकी 'शक्ति' की सत्ता तुम्हें (नैयायिक को) भी माननी ही होगी, क्योंकि इस को माने बिना मन्त्रादि प्रयोगों के रहते वह्नि से होनेवाले दाहादि कार्यों का प्रतिरोध क्यों कर हो सकेगा?

तथा हि······

(इस पक्ष का विशदार्थ यह है कि) हाथ के साथ वह्नि के जिस प्रकार के संयोग के रहने पर हाथ जलने लगता है, उसी प्रकार के संयोग के रहने पर भी प्रतिरोधक मन्त्र के रहते हाथ नहीं जल पाता। प्रतिरोधक मन्त्रादि के हट जाने पर पुनः उसी संयोग से हाथ जलने लगता है। ऐसे स्थलों में वह्नि-प्रभृति मूल कारणों में कोई विघटन भी नहीं देखा जाता। कारणों में कार्यों के अनुकूल जितने भी गुण हैं, उन सभी के रहते हुये कारणों में कार्योत्पत्ति के प्रतिकूल किसी विरोधी 'अदृष्ट' की संभावना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि 'अदृष्ट' रूप कारण का तो इतना ही प्रयोजन है कि वह कार्य के सभी 'दृष्ट' कारणों को उपयुक्त रूप से संघटित कर दे। अगर ऐसी बात न हो (दृष्ट सभी कारणों के उपयुक्त संघटन के बाद भी किसी 'अदृष्ट' रूपा शक्ति से कार्योत्पत्ति का प्रतिरोध मानें) तो फिर क्रिया के रहने पर भी कभी विभाग की उत्पत्ति रुक जायगी।

न च प्रतिबन्धकाभाव······

यह कहना भी संभव नहीं है कि प्रतिरोधक पदार्थों के अभाव से युक्त कारणों का समूह (सामग्री) ही कार्यों का उत्पादक है। क्योंकि (१) 'अभाव' नाम का कोई पदार्थ प्रमाण से सिद्ध

सामग्री कारणम्, अभावस्याकारणत्वात् । तुच्छो ह्यसौ। प्रतिबन्धकोत्तम्भक-प्रयोगकाले च तेन विनापि कार्योत्पत्तेः। प्राक्प्रध्वंसादिविकल्पेन चाऽनियतहेतुकत्वापातात् । अकिञ्चित्करस्य प्रतिबन्धकत्वायोगात् । किञ्चित्करत्वे चाऽतीन्द्रिय-शक्तेः स्वीकारात् । मन्त्रादिप्रयोगे चेतरेतराभावस्य सत्त्वेऽपि कार्यानुदयात् । अतोऽतीन्द्रियं किञ्चिद्दाहानुगुणमनुग्राहकमग्नेरुन्नीयते, यस्यापकुर्वतां प्रतिबन्धकत्व-मुपपद्यते। यस्मिन्नविकले कार्यं जायते । यस्यैकजातीयत्वादनियतहेतुकत्वं निरस्यत इति ॥ ६ ॥

अत्रोच्यते—

भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः ।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥ १० ॥

नहीं है, अतः वह किसी का कारण (या कारणतावच्छेदक) नहीं हो सकता । (२) प्रतिबन्धक के रहते हुये (प्रतिबन्धकाभाव रूप कारण के न रहने पर भी) 'उत्तेजक' के रहने पर कार्यों की उत्पत्ति होती है। (३) (प्रतिबन्धक का प्रागभाव कारण है ? या प्रध्वंस रूप अभाव कारण है ? इन विभिन्न विकल्पों की प्रसक्ति के कारण (प्रतिबन्धक के सभी प्रकार के अभावों को परस्पर निरपेक्ष होकर कारण मानना होगा, जिससे) कार्यों का नियमित सामग्री से ही उत्पन्न होना स्थिर न रह सकेगा। (४) जो कार्य के उत्पादन में अपने किसी व्यापार के द्वारा प्रतिरोध को उपस्थित नहीं कर सकता, उसे 'प्रतिबन्धक' ही नहीं कहा जा सकता। अगर प्रतिबन्धक से उत्पन्न किसी व्यापार के द्वारा कार्यों का प्रतिरोध मानें, तो फिर प्रत्यक्ष न दीखनेवाली एक 'शक्ति' स्वीकृत ही हो जाती है। (५) मणिमन्त्रादि अनेक प्रतिबन्धकों में से किसी एक की भी स्थिति दशा में अन्य प्रतिबन्धकों के अभाव के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। इन सभी हेतुओं से वह्नि में दाह को उत्पन्न करने की एक 'शक्ति' को स्वीकार करते हैं। इस 'शक्ति' को स्वीकार कर लेने से ही अपकार करने वाले (कार्य के उत्पादन में बाधा डालने वाले मणिमन्त्रादि) का 'प्रतिबन्धक' होना उपपन्न होता है। जिस (शक्ति) के रहने से दाहादि कार्यों की उत्पत्ति होती है एवं जिस (शक्ति) के बल से वह्नि प्रभृति का (कभी तृण से कभी काठ से और कभी सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न होने का) अनियम भी निरस्त होता है ॥ ६ ॥

सि० प० अत्रोच्यते—भावो यथा तथा·········

इस प्रसङ्ग में हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि—जिस प्रकार भाव पदार्थों को (किसी कारण से उत्पन्न) 'कार्य' एवं किसी कार्य का उत्पादक कारण मानना आवश्यक है, उसी प्रकार 'अभाव' पदार्थ को कार्यों का उत्पादक 'कारण' एवं उत्पाद्य कार्य मानना भी आवश्यक है। कार्यों के उत्पादक समूह (सामग्री) का विघटन ही 'प्रतिबन्धक' शब्द का अर्थ है। इसी 'प्रतिबन्ध' के सम्पादक हेतु को 'प्रतिबन्धक' कहते हैं।

न ह्यभावस्याकारणत्वे प्रमाणमस्ति। न हि विधिरूपेणासौ तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, निषेधरूपाऽभावे विधेरपि तुच्छत्वप्रसङ्गात्। कारणत्वस्य भावत्वेन व्याप्तत्वात्तन्निवृत्तौ तदपि निवर्त्तत इति चेन्न, परिवर्त्तप्रसङ्गात्। अन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य च कारणत्वनिश्चयहेतोर्भाववदभावेऽपि तुल्यत्वात्। अभावस्यावर्जनीयतया सन्निधिर्न तु हेतुत्वेनेति चेत्, तुल्यम्। प्रतियोगिनमुत्सारयतस्तस्यान्यप्रयुक्तः सन्निधिरिति चेत्, तुल्यम्। भावस्याभावोत्सारणं स्वरूपमेवेति चेदभावस्यापि भावोत्सारणं

सि० प० न हि……………

"अभाव किसी भी कार्य का कारण नहीं है" यह मानने का कोई प्रमाण नहीं है। भावत्व रूप से अभाव की स्थिति न रहने के कारण अभात्व रूप से उसकी अपनी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। (अगर ऐसी बात मानें तो फिर तुल्य युक्ति से) यह भी कहा जा सकता है कि जिस लिये अभावत्व रूप से अभाव की सत्ता है, (एवं इस अभावत्व रूप से भाव पदार्थों की सता नहीं है, अतः) भाव पदार्थ ही 'तुच्छ' अर्थात् अप्रामाणिक हैं।

पू० प० कारणत्वस्य……………

'केवल भाव पदार्थ ही कारण होते हैं' इस नियम के रहते "जो भाव नहीं है वह कारण भी नहीं है" यह बात 'अर्थतः' (अर्थात् बिना किसी अन्य प्रमाण के) सिद्ध हो जाती है।

सि० प० परिवर्त्त……………

उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस के विपरीत यह भी कहा जा सकता है (कि 'जिस लिये 'कारण' केवल अभाव ही होता है, अतः जो पदार्थ 'अभाव' नहीं है, वह कारण नहीं हो सकता)। क्योंकि कार्यों के साथ अन्वय और व्यतिरेक ये दोनों ही कारणत्व के नियामक हैं। ये दोनों ही भाव और अभाव दोनों के साथ समान रूप से हैं।

पू० प० अभावस्य……………

कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में अभाव की सत्ता उस के 'कारण' होने से नहीं रहती है। अभाव की उक्त समय में सत्ता तो इस लिये रहती है कि उस समय उस की सत्ता को हटाया नहीं जा सकता। (अतः अभाव कारण नहीं, किन्तु अन्यथासिद्ध है)।

सि० प० तुल्यम्……………

(यह समाधान तो अभाव को ही कारण मानें और भाव को कार्य के अव्यवहित पूव में अनिवार्य स्थिति के हेतु से अन्यथासिद्ध मानें—इन दोनों ही पक्षों में) समान है।

पू० प० भावस्य……………

(मणिमन्त्रादि का) अभाव (दाहादि) कार्यों से पहिले इस लिये रहता है कि वह अपने (मणिमन्त्रादि) विरोधियों का उच्छेदक है। (जिस लिये कि कार्य के उत्पादन में सहायक होने के नाते अभाव कार्यों का अव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है, सुतराम् अभाव की उक्त नियतपूर्ववर्त्तिता अन्य हेतु से रहती है, अतः) अभाव 'अन्यथा सिद्ध' है।

स्वरूपान्नातिरिच्यते। तस्माद् यथा भीवस्येव भावो जनक इति नियमोऽनुपपन्नः, तथा भाव एव जनक इत्यपि। को ह्यनयोर्विशेषः ? प्रतिबन्धकोत्तम्भकप्रयोगकाले तु व्यभिचारस्तदा स्यात्, यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृश एव सत्युत्पादः स्यात्। न त्वेवम्, तदापि प्रतिपक्षस्याभावात्। असत्प्रतिपक्षो हि प्रतिबन्धकाभिमतो मन्त्रः प्रतिपक्षः। स च तादृशो नास्त्येव। यस्त्वस्ति, नासौ प्रतिपक्षः। तथापि विशेष्ये

सि० प० अभावस्यापि...............

यही बात केवल भाव को ही कारण मानने के विपक्ष में भी कही जा सकती है कि (वह्नि प्रभृति भाव पदार्थों में दाहादि कार्यों का सांनिध्य इस लिये नहीं है कि, वे दाहादि कार्यों की उत्पत्ति के लिये कुछ करते हैं। दाहादि की उनकी संनिधि तो वह्न्यभाव प्रभृति प्रतिबन्धकों को हटाने के लिये है। इस प्रकार भाव पदार्थों की संनिधि को भी अन्य प्रयुक्त मान कर उन्हें अन्यथा सिद्ध कहा जा सकता है)।

पू० प० भावस्याभावोत्सारणम्...............

भाव पदार्थों का यह स्वभाव हो है कि वे अपने विरोधी अभावों को हटावें। फलतः अभावों का हटाना ही भावों का रहना है। इस प्रकार दोनों एक ही वस्तु हैं। अतः भाव पदार्थों में जो कार्यों की संनिधि है, वह 'अन्य प्रयुक्त' नहीं है।

सि० प० अभावस्यापि भावोत्सारणम्...............

इस प्रसङ्ग में भी यह कहा जा सकता है कि भावों का रहना और अभावों का न रहना दोनों एक ही बात है। अतः कार्यों में जो अभावों का सांनिध्य है, वह भी 'अन्य प्रयुक्त' नहीं है। सुतराम् जिस प्रकार यह नियम नहीं किया जा सकता कि भाव पदार्थ केवल भावपदार्थों के ही कारण हैं, उसी प्रकार यह नियम भी नहीं किया जा सकता कि 'केवल भाव पदार्थ ही किसी कार्य के कारण हो सकते हैं।

सि० प० प्रतिबन्धकोत्तम्भक...............

(चन्द्रकान्तमणि प्रभृति) प्रतिबन्धक और (सूर्यकान्तमणि प्रभृति) उत्तेजक इन दोनों के रहते हुये प्रतिबन्ध के अभाव के न रहने पर भी दाहादि कार्यों की उत्पति से व्यभिचार तब होता जब कि जिस प्रकार के प्रतिबन्धक के रहते कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार के प्रतिबन्धक के रहते कार्य की उत्पत्ति होती। किन्तु बात ऐसी नहीं है। क्योंकि उस (सूर्यकान्तमणि प्रभृति के रहने के) समय विद्यमान (चन्द्रकान्तमण्यादि) पदार्थ वास्तव में (दाहादि कार्यों के) प्रतिबन्धक ही नहीं हैं। क्योंकि जिन मणिमन्त्रादि का कोई विरोधी प्रतिपक्ष न हो वे ही मणिमन्त्रादि दाहादि कार्यों के प्रतिबन्धक हैं। इस प्रकार का (उत्तेजक के साथ न रहनेवाला) प्रतिबन्धक प्रकृत में नहीं है। जो (सूर्यकान्त मणि प्रभृति

सत्येव विशेषणमात्राभावस्तत्र, स चोत्तम्भकमन्त्र एवेत्यन्यैव सामग्रीति चेन्न, विशिष्टस्याप्यभावात्। न हि दण्डिनि सत्यऽदण्डानामन्येषां नाभावः, किन्तु दण्डाभावस्यैव केवलस्येति युक्तम्। यथा हि केवलदण्डसद्भावे उभयसद्भावे द्वयाभावे वा केवलपुरुषाभावः सर्वत्राविशिष्टः, तथा केवलोत्तम्भकसद्भाव प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे द्वयाभावे वा केवलप्रतिबन्धकाभावोऽविशिष्ट इत्यवधार्यताम्।

उत्तेजकों के साथ रहने वाले) चन्द्रकान्त मण्यादि हैं, वे वस्तुतः प्रतिबन्धक ही नहीं है। (क्योंकि प्रतिबन्धक वही है जिसके प्रतिरोध को विफल कर देनेवाला कोई प्रतिपक्ष उत्तेजक) उस के साथ विद्यमान न रहे।

पू० प० 'तथापि विशेष्ये सत्येव'...............

जहाँ (उत्तेजक के रहते प्रतिबन्धक के रहने पर भी दाह रूप कार्य उत्पन्न होता है, ऐसे स्थलों में मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धक रूप) विशेष्य का जो उत्तेजकाभाव रूप विशेषण, उस के अभाव से ही दाह रूप कार्य उत्पन्न होता है। वह (सूर्यकान्तमणि या मन्त्र के अभाव का अभाव) उत्तेजक मणिमन्त्रादि रूप ही है। इस प्रकार के दाह के उत्पादक कारणों का (उत्तेजक मन्त्रादि घटित) समूह (उत्तेजक मन्त्रादि के न रहने पर भी दाह के उत्पादक केवल वह्निघटित कारणों के समूह से) भिन्न ही होगा। अतः एक ही कार्य के परस्पर दो निरपेक्ष कारणों को स्वीकार करने से परस्पर दोनों ही कारण व्यभिचरित हो जायेंगे। (अतः दाहानुकूलशक्तिमत्ता रूप एक ही धर्म से वह्निघटित सभी कारण समूह को दाह का उत्पादक मानना चाहिये)।

सि० प० न विशिष्टस्य...............

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि उत्तेजक के अभाव रूप एक ही विशेषण से युक्त प्रतिबन्धक स्वरूप एक ही विशिष्ट के अभाव को सभी स्थलों में कारण मान लेंगे। ऐसी बात नहीं है कि जहाँ पर दण्ड से युक्त (दण्डी) पुरुष की सत्ता है, वहाँ पर दण्ड से रहित अन्य पुरुषों का अभाव भी नहीं रहता। वहाँ तो केवल दण्ड के अभाव का ही अभाव रहता है। जैसे कि (१) जहाँ केवल दण्ड की सत्ता है, (२) एवं जहाँ दण्ड और पुरुष दोनों की ही सत्ता है (अर्थात् दण्ड से युक्त पुरुष की सत्ता है)। (३) अथवा जहाँ दण्ड और पुरुष दोनों में से एक भी नहीं है, इन तीनों ही प्रकार के स्थलों में केवल (दण्डाभाव रूप विशेषण से रहित) पुरुष का अभाव समान रूप से रहता है। उसी प्रकार यह मानना ही पड़ेगा कि (१) जहाँ केवल (चन्द्रकान्तमणि रूप प्रतिबन्धक से रहित सूर्यकान्तमणि रूप) उत्तेजक है। (२) जहाँ (सूर्यकान्त मणि प्रकृति) उत्तेजक एवं (चन्द्रकान्तमणि एवं मन्त्र प्रभृति दाह के) प्रतिबन्धक इन दोनों की सत्ता है। (३) अथवा जहाँ न उत्तेजक है न प्रतिबन्धक– इन तीनों ही प्रकार के स्थलों में 'केवल' (सूर्यकान्तमणि प्रभृति) उत्तेजकों से सर्वथा असम्बद्ध (चन्द्रकान्तमणि प्रभृति) प्रतिबन्धक का अभाव समान रूप से है।

अथैवम्भूतसामग्रीत्रयमेव किं नेष्यते ? कार्यस्य तद्व्यभिचारात् । जातिभेदकल्पनायाञ्च प्रमाणाभावात् । यथोक्तेनैवोपपत्तेः । भावे वा काममसावस्तु । का नो हानिः ? प्राक्प्रध्वंसविकल्पोऽपि नानियतहेतुकत्वापादकः । यस्मिन् सति कार्यं न जायते तस्मिन्नसत्येव जायत इत्यत्र संसर्गाभावमात्रस्यैव प्रयोजकत्वात् ।

पू० प०……अथैवम्………

यदि ऐसी बात है तो (जहाँ प्रतिबन्धक और उत्तेजक इन दोनों के रहते कार्य की उत्पत्ति होती है, वहाँ के लिये) (१) उत्तेजकाभाव के अभाव से युक्त कारणों के समूह को ही (दाह का उत्पादक मानिये) । (२) जहाँ प्रतिबन्धक और उत्तेजक इन दोनों में से कोई भी नहीं है किन्तु दाहादि कार्य उत्पन्न होते हैं, वहाँ के लिये केवल प्रतिबन्धक के अभाव से युक्त कारणों के समुदाय को ही दाहादि कार्यों का उत्पादक मानिये । (३) एवं (जहाँ प्रतिबन्धक तो नहीं है, किन्तु उत्तेजक है, वहाँ के लिये प्रतिबन्धक का अभाव एवं उस में विशेषणीभूत उत्तेजकाभाव का अभाव) इन दोनों अभावों से युक्त कारणों के समूह को ही दाहादि कार्यों का उत्पादक मानिये । (कथित सभी स्थलों के लिये उत्तेजक के अभाव से युक्त प्रतिबन्धक का अभाव रूप) विशिष्टाभाव से समन्वित सामग्री को कार्यों का उत्पादक क्यों मानते हैं ?

सि० प० कार्यस्य,……जातिभेद………

(एक ही जाति के अनेक कार्यों का परस्पर निरपेक्ष अनेक कारण नहीं हो सकते, क्योंकि एक ही जाति के उन कार्यों में से) प्रत्येक कार्य के पहिले वे सभी कारण नहीं रहते । अतः उक्त तीन प्रकार के कारणों की कल्पना करने से व्यभिचार होगा । एक ही जाति के उन तीनों प्रकार के कार्यों में से प्रत्येक में किसी अवान्तर जाति की कल्पना करके भी उक्त व्यभिचार का वारण नहीं किया जा सकता । क्योंकि प्रकृति दाह कार्यों में से किसी भी दाह कार्य में दाहत्व की अवान्तर किसी जाति की कल्पना का कोई प्रामाणिक साधन नहीं है । क्योंकि एक विशिष्टाभाव को ही कथित रीति से दाहों का कारण मान लेने से सभी प्रकार के दाह कार्यों की उपपत्ति हो जाती है । यदि तीनों ही प्रकार के कारण समूहों की कल्पना के बल पर दाह रूप में अवान्तर जातियों की कल्पना कर भी लें तो इससे हम लोगों (नैयायिकों) की क्या हानि होगी ?

सि० प० प्राक्प्रध्वंस……………

(अभाव को कारण मानने के पक्ष में मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों का) प्रागभाव कारण है ? या प्रतिबन्धक का ध्वंस स्वरूप अभाव हेतु है ? कि वा प्रतिबन्धकों का अत्यन्ताभाव कारण है ? इन विकल्पों के द्वारा जो कार्यों के अनियत हेतुओं से उत्पन्न होने की आपत्ति दी जाती है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि—"जिस के रहने से कार्य की उत्पत्ति

यस्तु संसर्गाभावतादात्म्यनिषेधयोर्विशेषमनाकलयन्नितरेतराभावेन प्रत्यवतिष्ठते, स प्रतिबोधनीयः। तथाप्यभावेषु जातेरभावात् कथं त्रयाणामुपग्रहः स्यात्, अनुपगृहीतानाञ्च कथं कारणत्वावधारणमिति चेत्। माभूज्जातिः। न हि तदुपगृहीतानामेव व्यवहाराङ्गत्वम्, सर्वत्रोपाधिमद्व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। एतेन प्रतिबन्धके सत्यपि तज्जातीयस्यान्यस्याऽभावसम्भवात् कार्योत्पादप्रसङ्गः, अनुत्पादे

'न' हो सके, उस के 'न' रहने से ही कार्य की उत्पत्ति होती है" (इस व्यतिरेक बोधक वाक्य में प्रयुक्त दूसरे) 'न' शब्द से यही कहना अभिप्रेत है कि प्रतिबन्धकीभूत वस्तु के सभी प्रकार के संसर्गाभाव कार्यों के कारण हैं।

यस्तु संसर्गाभाव············

जो कोई संसर्गाभाव और तादात्म्यनिषेध (अन्योन्याभाव) इन दोनों के अन्तर को न समझने से प्रतिबन्धक के अभाव को कारण मानने के पक्ष में (प्रतिबन्धक के रहते हुये भी कार्य में प्रतिबन्धक के भेद के रहने से) कार्योत्पत्ति की आपत्ति देते हैं, उन्हें संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में जो अन्तर है, उस को अच्छी तरह समझा कर पराजित करना चाहिये।

पू० प० तथाप्यभावेषु···············

अभावों में कोई जाति नहीं रहती है। अतः प्रतिबन्धकीभूत मण्यादि के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव इन तीनों को एक रूप में संग्रह करनेवाली कोई जाति भी नहीं है, सुतराम् प्रतिबन्ध के इन तीनों प्रकार के अभावों में कारणता किस रूप से गृहीत होगी ?

सि० प० मा भूत्···············

प्रागभावादि तीनों अभावों में किसी जाति के न रहने पर भी, कोई हानि नहीं है, क्योंकि विभिन्न वस्तुओं का किसी एक रूप से व्यवहार किसी जाति के ही द्वारा हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि ऐसा मानें तो (जाति से भिन्न सखण्ड या अखण्ड) उपाधियों के द्वारा विभिन्न वस्तुओं की जितनी भी एक आकार की प्रतीतियाँ होती हैं, उन सभी प्रतीतियों का विलोप हो जायगा।

एतेन···············

आगे के 'यथा हि तज्जातीये सति' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कही जानेवाली युक्ति से ही "प्रतिबन्धके सत्यपि" इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उठायी गयी आपत्ति का भी समाधान हो जाता है।

पू० प० प्रतिबन्धके सत्यपि···············

(प्रतिबन्धक के अभाव को कारण मानने के विपक्ष में 'मन्त्रादि प्रयोगे च सन्दर्भ के द्वारा संक्षेप में कथित आक्षेप ग्रन्थ का विशदार्थ यह है कि यदि प्रतिबन्धक के

वा ततोऽप्यधिकं किञ्चिदपेक्षणीयमस्ति' इति निरस्तम्। यथा हि 'तज्जातीये सति कार्यं जायते, अर्थादसति न जायते' इति स्थिते तद्भावेऽपि तज्जातीयान्तराभावान्न भवितव्यं कार्येणेति न, तथैतदपि, अनुकूलवत् प्रतिकूलेऽपि सति तज्जातीयान्तराभावानामकिञ्चित्करत्वादिति। यत्त्वकिञ्चित्करस्येति, तदप्यसत्। सामग्रीवैकल्यं

अभाव को कारण मानें तो चन्द्रकान्तमणि प्रभृति किसी) एक प्रतिबन्धक के रहने पर भी (मन्त्रादि अन्य) प्रतिबन्धकों का अभाव रह सकता है। अतः एक प्रतिबन्धक के रहते कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु एक भी प्रतिबन्धक के रहते अन्य सभी प्रतिबन्धकों का अभाव रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः कार्य के उत्पादन के लिये प्रतिबन्धकों के अभाव से अतिरिक्त किसी वस्तु की अपेक्षा (नैयायिकों को भी) माननी होगी। इस प्रकार 'शक्ति' पदार्थ अर्थतः स्वीकृत हो जाता है।

सि० प० यथा हि··· ··· ···

जिस प्रकार (केवल 'भाव, ही कारण है, अभाव कारण नहीं, इस पक्ष में) किसी एक बीजादि व्यक्ति के रहने पर भी अङ्कुरादि कार्यों की उत्पत्ति होती है। "(बीजादि के) न रहने पर (अंकुरादि) कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है" इस व्यतिरेक के प्राप्त होने पर भी यह आपत्ति नहीं दी जा सकती कि 'एक बीज के रहने पर भी, चूँकि बीजत्व जाति के दूसरे व्यक्ति का अभाव वहाँ विद्यमान है। अतः इस अभाव के रहते अंकुरादि कार्यों का उत्पादन उचित नहीं है। उसी प्रकार प्रकृत में भी (प्रतिबन्धक के अभाव को कारण मानने के पक्ष में भी) यह कहा जा सकता है कि प्रतिबन्ध के एक अभाव के रहने की स्थिति में अगर दूसरे प्रतिबन्धक का अभाव नहीं भी है, तथापि दाहादि कार्यों की उत्पत्ति नहीं रुक सकती। जिस प्रकार 'भाव ही केवल कारण हो सकते हैं' इस पक्ष में एक 'अनुकूल' अर्थात् कारण के रहते हुए यदि उसी अनुकूल व्यक्ति का सजातीय दूसरे व्यक्ति का अभाव कार्य के उत्पादन में कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता। उसी प्रकार 'प्रतिकूल' अर्थात् प्रतिबन्धक के तीनों अभावों के प्रसङ्ग में भी कहा जा सकता है कि प्रतिबन्धक के एक प्रकार के अभाव के रहते उसी प्रतिबन्धक के अन्य प्रकार के अभावों की सत्ता के न रहने पर भी कार्य का प्रतिरोध नहीं रोका जा सकता। (क्योंकि प्रतिबन्धकों का सामान्याभाव ही कारण है, एक भी प्रतिबन्धक व्यक्ति के रहते प्रतिबन्धकों का सामान्याभाव नहीं रह सकता। अतः जहाँ कोई एक प्रतिबन्धक व्यक्ति नहीं भी है, किन्तु दूसरा प्रतिबन्धक व्यक्ति है, उस स्थल में प्रतिबन्धक का सामान्याभाव न रहने के कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है)।

सि० प० यत्त्वकिञ्चित्करस्येति··· ··· ···

(४) यह जो कहा गया है कि "मणिमन्त्रादि दाह के प्रतिबन्धक ही नहीं हैं, क्योंकि 'प्रतिबध्नातीति प्रतिबन्धकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कार्य की उत्पत्ति को प्रतिरुद्ध करने के लिये 'कुछ' करे वही 'प्रतिबन्धक' शब्द का मुख्यार्थ है। मणिमन्त्रादि तो

प्रतिबन्धपदार्थो मुख्यः। स चात्र मन्त्रादिरेव। न त्वसौ प्रतिबन्धकः। ततः किं तस्याकिञ्चित्करत्वेन, तत्प्रयोक्तारस्तु प्रतिबन्धारः। ते च किञ्चित्करा एवेति किमसमञ्जसम् ?

ये तु व्युत्पादयन्ति, 'कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध' इति, तैः प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्तं भवति। तथाहि—कार्यस्यानुत्पादः प्रागभावो वा स्यात् ? तस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा ? न पूर्वः, तस्यानुत्पाद्यत्वात्। न द्वितीयः, कालस्य स्वरूपतोऽभेदात्। तदुपाधेस्तु मन्त्रमन्तरेणापि स्वकारणाधीनत्वात्। प्रागभावाव-

---

दाह को रोकने के लिये 'कुछ' नहीं करते हैं, अतः वे प्रतिबन्धक शब्द के मुख्यार्थ नहीं हो सकते। अगर कार्य के प्रतिरोध के लिये उन में कोई अदृश्य व्यापार मानेंगे, तो उसका पर्यवसान शक्ति पदार्थ को स्वीकार करने में ही होगा" यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारणों के समूह (सामग्री) का विघटन ही 'प्रतिबन्ध' शब्द का मुख्यार्थ है। मणिमन्त्रादि 'प्रतिबन्ध' शब्द के मुख्यार्थ हो हैं (क्योंकि उनके द्वारा मणिमन्त्रादि के अभाव स्वरूप कारण दाह की सामग्री से हट जाते हैं)। 'मणिमन्त्रादि' प्रतिबन्धक शब्द के अभिधेय नहीं है। अतः वे यदि कार्य-प्रतिरोधक किसी व्यापार से युक्त नहीं है तो इस में क्या हानि है ? जो कोई चेतन प्राणी दाहादि कार्यों से पहिले मणिमन्त्रादि की सत्ता के लिये प्रयत्न करते हैं, वे ही प्रकृत में 'प्रतिबन्धक' हैं। वे कार्य-प्रतिरोध के लिये कुछ व्यापार करते ही हैं। इस में कौन सी असङ्गति है ?

सि० प० ये तु व्युत्पादयन्ति··········

जो संप्रदाय कार्य की अनुत्पत्ति को ही कथित 'प्रतिबन्धक' शब्द का मुख्यार्थ मानते हैं, वे कार्यप्रतिरोध के लिये कुछ न करने वाले को ही वास्तव में 'प्रतिबन्धक' शब्द का मुख्यार्थ मानते हैं। क्योंकि 'कार्यों की अनुत्पत्ति' के (१) कार्यों के प्रागभाव अथवा (२) इस प्रागभाव का किसी दूसरे काल के साथ सम्बन्ध ये दो स्वरूप ही हो सकते हैं। इन में पहिला पक्ष इस लिये असङ्गत है कि 'प्रागभाव' की उत्पत्ति नहीं होती, अतः उसकी उत्पत्ति के लिये कुछ किया ही नहीं जा सकता। दूसरा पक्ष इस लिये ठीक नहीं है कि काल एक अखण्ड और नित्य है। उसके लिये भी कुछ नहीं किया जा सकता, क्योंकि वास्तव में काल अभिन्न है। काल में विभिन्नता के ज्ञापक (सूर्य की गति प्रभृति) जितनी भी उपाधियाँ हैं, उनके अपने अपने स्वतन्त्र कारण हैं, जिन से उनकी उत्पत्ति मणिमन्त्रादि के साहाय्य के विना ही होती है। (इसके लिये भी मणिमन्त्रादि कुछ नहीं कर सकते)।

पू० प० प्रागभावावच्छेदक···············

(काल की सभी उपाधियाँ यद्यपि मणिमन्त्रादि से उत्पन्न नहीं होती हैं, तथापि) जिन कालों के व्यवच्छेदक प्रागभाव हैं, उन कालों की उपाधियाँ अपनी उत्पत्ति के लिये तो मणिमन्त्रादि की अपेक्षा रखतीं हैं।

च्छेदककालोपाधिस्तदपेक्ष इति चेन्न, मन्त्रात्पूर्वमपि तस्य भावात्। तस्मात् सामग्री-तत्कार्ययोः पौर्वापर्यनियमात् तदभावयोरपि पूर्वापरभाव उपचर्यते। वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नायं पन्थाः।

न चेदेवं शक्तिस्वीकारेऽपि कः प्रतीकारः ? तथाहि—(१) प्रतिबन्धकेन शक्तिर्वा विनाश्यते,। (२) तद्धर्मो वा, (३) धर्मान्तरं वा जन्यते, (४) न जन्यते वा किमपि, इति पक्षाः।

सि० प० मन्त्रात् पूर्वम्···············

(बात ऐसी नहीं है, क्योंकि) मणिमन्त्रादि के प्रयोग के पहिले भी दाहादि कार्यों के प्रागभाव की सत्ता रहती है। वे काल भी प्रागभाव के व्यवच्छेदक हैं। अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि दाहादि प्रागभाव के अधिकरणीभूत जिन कालों के व्यवच्छेदक प्रागभाव हैं, उन सभी कालों की उपाधियों के मणिमन्त्रादि कारण हैं।

'तस्मात्' कारणों के अमुक समुदाय (सामग्री) से अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है, एवं अमुक कारण समुदाय (सामग्री) अमुक कार्य की उत्पत्ति के अव्यवहितपूर्वक्षण में अवश्य ही रहता है, कार्य में और कारणों के समूह में जो पूर्वापरीभाव का उक्त नियम है। इसी नियम के द्वारा कारणों के समूह रूप सामग्री के अभाव और कार्यों के अभाव इन दोनों में भी पूर्वापरीभाव के उक्त नियम का गौण व्यवहार होता है। वास्तव में कथित सामग्री का अभाव और उस सामग्री से उत्पन्न कार्यों का अभाव ये दोनों एक ही समय उत्पन्न होते हैं। अतः प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने के पथ को छोड़कर शक्ति पदार्थ को मानने के पथ को अपनाया जाना ठीक नहीं है।

न चेदेवम्···············

अगर ऐसी बात न हो (सामग्री के अभाव और कार्यों के अभाव इन दोनों में भी कार्य और कारण के समान ही पूर्वापरीभाव के नियम को मुख्य ही मानें) तो फिर आप (मीमांसक) 'शक्ति' पदार्थ को स्वीकार कर के भी मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों के रहते कार्य की उत्पत्ति के प्रतिरोध का संपादन किस रीति से करेंगे ?

तथा हि···············

क्योंकि 'शक्ति' पदार्थ को मानने के पक्ष में निम्नलिखित चार अर्थों की कल्पना के द्वारा ही मणिमन्त्रादि को 'प्रतिबन्धक' शब्द का मुख्यार्थ मान कर दाह के अनुत्पाद का निर्वाह हो सकता है, किन्तु ये चारों ही पक्ष अयुक्त हैं। अतः 'कार्यों का अनुत्पाद' 'प्रतिबन्ध' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं हो सकता। एवं उस अनुत्पाद के प्रयोजक 'मणिमन्त्रादि' भी प्रतिबन्धक शब्द के मुख्यार्थ नहीं हो सकते। ये चारों पक्ष इस प्रकार हैं—

(१) अग्नि प्रभृति में दाहादि को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, चन्द्रकान्तमणि प्रभृति प्रतिबन्धकों से उसका विनाश हो जाता है (अतः वह्नि के रहने पर भी चन्द्रकान्तमणि प्रभृति प्रतिबन्धकों के रहने पर दाहादि कार्य उत्पन्न नहीं हो पाते)।

तत्राकिञ्चित्करस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः, विपरीतधर्मान्तरजनने 'तदभावे सत्येव कार्यम्' इत्यभावस्य कारणत्वस्वीकारः, प्रागभावादिविकल्पावकाशश्च । तद्विनाशे तद्धर्मविनाशे वा पुनरुत्तम्भकेन तज्जननेऽनियतहेतुकत्वम्, पूर्वं स्वरूपो-

---

(२) वह्नि में रहने वाली दाह की अनुकूला शक्ति में 'जो दाहजनकत्व' रूप धर्म है, उसका मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों से विनाश हो जाता है (अतः वह्नि और उस में रहनेवाली दाहानुकूला शक्ति इन दोनों के रहने पर भी मणिमन्त्रादि के रहते दाह उत्पन्न नहीं होता है) ।

(३) मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों के द्वारा वह्नि में दाह के प्रतिकूल विरोधिनी दूसरी शक्ति ही उत्पन्न होती है, जिससे दाह का प्रतिरोध होता है ।

(४) वह्नि में मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् मणिमन्त्रादि केवल अपनी संनिधि से ही दाह का प्रतिरोध करते हैं ।

तत्राकिञ्चित्करस्य...............

(इन में चौथा पक्ष इस लिये अयुक्त है कि जो कार्योत्पत्ति के प्रतिकूल) कुछ भी नहीं कर सकता, उस को 'प्रतिबन्धक' नहीं कहा जा सकता । (तीसरे पक्ष के अनुसार) यदि (मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों से वह्नि में दाह को विरोधिनी किसी 'शक्ति' की सत्ता मानें तो फिर इस शक्ति के अभाव को दाह का कारण मानना पड़ेगा (अभाव को किसी का भी कारण मानना मीमांसकों को इष्ट नहीं है) । इस प्रसङ्ग में दूसरी बात यह भी है कि (प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने के पक्ष में जिस प्रकार प्रागभावादि के विकल्पों को उठा कर दोष दिया गया है) उसी प्रकार के विकल्प शक्ति के कथित अभाव के प्रसङ्ग में भी उपस्थित होंगे । (कथित प्रथम पक्ष को स्वीकार कर) वह्नि में जो दाह की अनुकूल शक्ति है, यदि उसका विनाश मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों से मानकर दाह के कथित अनुत्पाद का निर्वाह करें, अथवा (द्वितीय पक्ष को स्वीकार कर) वह्नि में दाह को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, उस में रहने वाले 'दाहानुकूलत्व' धर्म का विनाश ही मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकों से मान कर दाह के कथित अनुत्पाद का निर्वाह करें तो इन दोनों ही पक्षों में अनुकूलशक्ति रूप कार्य या शक्तिगत कार्यानुकूलत्व रूप कार्य क्रमशः इन दोनों कार्यों में अनियत हेतु से उत्पन्न होने की आपत्ति होगी, क्योंकि प्रतिबन्धक और उत्तेजक इन दोनों में किसी के भी न रहने पर वह्नि में अनुकूल शक्ति की उत्पत्ति या इस शक्ति में कार्यानुकूलत्व धर्म की उत्पत्ति 'स्वरूपोत्पादक' से अर्थात् शक्ति के आश्रयीभूत वह्नि के उत्पादक कारणों से ही मानते हैं । एवं प्रतिबन्धक और उत्तेजक इन दोनों के रहने पर उन दोनों की ही उत्पत्ति सूर्यकान्तमणि प्रभृति उत्तेजकों से मानते हैं । इस प्रकार कथित प्रथम और द्वितीय इन दोनों ही पक्षों में (अनियत हेतुकत्व) की आपत्ति होती है ।

त्पादकादिदानीमुत्तम्भकादुत्पत्तेः । न च समानशक्तिकतया तुल्यजातीयत्वान्नैवमिति साम्प्रतम्, विजातीयेषु समानशक्तिनिषेधात् । न च प्रतिबन्धकशक्तिमेवोत्तम्भको विरुणद्धि, न तु भावशक्तिमुत्पादयतीति साम्प्रतम्, तदनुत्पादप्रसङ्गात् । कालविशेषात्तदुत्पादे तदेवानियतहेतुकत्वमिति ॥ ११ ॥

पू० प० न च समान···············

दाहादि की अनुकूला शक्ति और इस शक्ति में रहनेवाला कार्यानुकूलत्व धर्म—इन दोनों को उत्पन्न करने की शक्ति स्वरूपोत्पादक और उत्तेजक इन दोनों में ही है। इस प्रकार उक्त उभयमशक्तिमत्त्व रूप एक धर्म के द्वारा उक्त दोनों कारणों का संग्रह संभव है। अतः अनियतहेतुकत्व की कथित आपत्ति नहीं है। (क्योंकि उक्त 'उभयशक्तिमत्' रूप एक ही नियत कारण से दोनों की उत्पत्ति होगी)।

सि० प० विजातीयेषु···············

विभिन्न जाति की अनेक वस्तुओं में एक जातीय कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं मानी जा सकती। (यह बात 'न विजात्येकशक्तिमान्' इत्यादि से कही जा चुकी है)।

पू० प० न च प्रतिबन्धकशक्तिम्···············

(सूर्यकान्तमणि प्रभृति) उत्तेजकों से वह्नि में चन्द्रकान्तमणि प्रभृति प्रतिबन्धकों के समवधान के समय भावरूपा किसी दूसरी शक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु (चन्द्रकान्तमणि प्रभृति) प्रतिबन्धकों में कार्य को प्रतिरोध करने की जो शक्ति है, उस शक्ति में (सूर्यकान्तमणि प्रभृति) उत्तेजकों से अक्षमता ही आती है।

सि० प० तदनुत्पाद···············

फिर भी (प्रतिबन्धक के द्वारा वह्नि की दाहिका शक्ति के विनष्ट हो जाने से) उत्तेजक का सामीप्य रहने पर भी उक्त वह्नि से दाह की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

पू० प० कालविशेषात्···············

उत्तेजक के सांनिध्य का जो काल है, वही काल 'विशेष' वह्नि में पुनः दाह करने की शक्ति को उत्पन्न करता है।

सि० प० तदेव···············

ऐसा मानने पर कार्यों में अनियतहेतुकत्व की आपत्ति पुनः आ पड़ेगी क्योंकि वह्नि में जो दाहिका शक्ति है, उसकी उत्पत्ति पहिले वह्नि के उत्पादक कारणों (अर्थात् स्वरूपोत्पादक) से मानते हैं, एवं प्रतिबन्धक और उत्तेजक इन दोनों के सांनिध्य के समय वह्नि में उसी दाहिका शक्ति की उत्पत्ति 'काल' घटित कारणों से मानते हैं ॥ ११ ॥

स्यादेतत् । मा भूत् सहजशक्तिः, आधेयशक्तिस्तु स्यात् । दृश्यते हि प्रोक्षणादिना व्रीह्यादेरभिसंस्कारः । कथमन्यथा कालान्तरे तादृशानामेव कार्यविशेषोपयोगः । न च मन्त्रादीनेव सहकारिणः प्राप्य ते कार्यकारिण इति साम्प्रतम्, तेषु चिरध्वस्तेष्वपि कार्योत्पादात् । नापि प्रध्वंससहायास्ते तथा । एवं हि यागादिप्रध्वंसा एव स्वर्गादीनुत्पादयन्तु, कृतमपूर्वकल्पनया ? तेषामनन्तत्वादनन्तफलप्रवाहः प्रसज्यत इति

पू० प० स्यादेतत् मा भूत्...............

वह्नि के साथ ही उत्पन्न होनेवाली वह्नि की जो (सहज) शक्ति है, प्रतिबन्धक से उस शक्ति के विनष्ट हो जाने के बाद पुनः उस में उक्त सहज शक्ति की उत्पत्ति उत्तेजक के द्वारा भले ही संभव न हो. किन्तु जिस प्रकार व्रीहि में पुरोडाश बनाने की सहज शक्ति के न रहने पर भी प्रोक्षण से पुरोडाश बनाने की शक्ति का उत्पादन व्रीहि में किया जाता है, उसी प्रकार प्रतिबन्धक के आ जाने के बाद उत्तेजक से वह्नि में दाहिका शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। अगर प्रोक्षण से व्रीहि में किसी विशेष प्रकार की शक्ति या संस्कार की उत्पत्ति न मानें तो फिर यह नियम कैसे उत्पन्न होगा कि "प्रोक्षण के बहुत समय बाद भी पुरोडाश बनाने के लिये प्रोक्षित व्रीहि का ही उपयोग हो" ।

न च मन्त्रादीन्.............

यदि ऐसा कहें कि 'मन्त्रादि रूप सहकारि कारणों को पाकर ही व्रीहि पुरोडाश का संपादन करेंगे ? किन्तु यह कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि मन्त्रादि सहकारियों के विनष्ट हो जाने के बहुत समय बाद व्रीहि से पुरोडाश बनता है।

नापि प्रध्वंस...............

(यदि ऐसा कहें कि) जिन कारणों से पुरोडाश बनता है, उन्हें पुरोडाश के निष्पादन में मन्त्र एवं प्रोक्षण क्रिया इन दोनों के ध्वंसों के साहाय्य की भी अपेक्षा होती है, किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि अगर ध्वंस के साहाय्य से भी कार्यों का संपादन संभव हो तो फिर यागादि के ध्वंसों से भी स्वर्गादि की उत्पत्ति हो सकती है, इसके लिये 'अपूर्व' की कल्पना अनावश्यक हो जायगी ।

तेषाम्...............

यदि ऐसा कहें कि ध्वंस तो अनन्त काल तक रहने वाली वस्तु है, अतः याग के ध्वंस से यदि स्वर्ग की उत्पत्ति मानेंगे तो (एक याग से एक स्वर्ग की प्राप्ति के बाद अनन्त समय तक उसी याग के ध्वंस से अनन्त स्वर्गों की उत्पत्ति माननी होगी) । यागादि से स्वर्गादि फलों की व्यवस्थित उत्पत्ति के लिये ही अपूर्व की कल्पना आवश्यक होती है ।

चेत्, अपूर्वेऽपि कल्पिते तावानेव फलप्रवाह इति कुतः? अपूर्वस्वाभाव्यादिति चेत्, तुल्यमिदमिहाऽपि। तावतापि तत्प्रध्वंसो न विनश्यतीति विशेषः।

स्यादेतत्। उपलक्षणं प्रोक्षणादयो, न तु विशेषणम्। तथा चाविद्यमानैरपि तैरुपलक्षिता व्रीह्यादयस्तत्रतत्रोपयोक्ष्यन्ते। यथा गुरुणा टीका, कुरुणा क्षेत्रमिति चेत्।

अपूर्वेऽपि…… ………

(किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि) याग से स्वर्ग के लिये अपूर्व की कल्पना कर लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि एक याग से उत्पन्न एक अदृष्ट से एक ही स्वर्ग क्यों उत्पन्न होता है? इस एक अपूर्व से आगे बराबर अनन्तकाल तक अनन्त स्वर्गों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती रहती है?

अपूर्वस्वभाव्यात्………………

(यदि इस का यह उत्तर दें कि) अपूर्व का यही स्वभाव है कि एक अपूर्व एक ही स्वर्ग को उत्पन्न करे (एवं स्वर्ग को उत्पन्न कर स्वयं विनष्ट हो जाय)।

तुल्यमिदम्……………

(किन्तु यह उत्तर भी समीचीन नहीं होगा, क्योंकि) याग के ध्वंस से स्वर्ग की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में भी समान रूप से यही बात कही जा सकती है कि याग के ध्वंस का यह स्वभाव ही है कि वह एक ही स्वर्ग को उत्पन्न करे। याग से अपूर्व के द्वारा स्वर्गोत्पत्ति की कल्पना की अपेक्षा याग के ध्वंस से स्वर्ग की उत्पत्ति मानने में यह लाघव रूप अन्तर अधिक भी है कि अपूर्व से स्वर्ग की उत्पत्ति मानने पर स्वर्ग रूप कार्य से अपूर्व रूप कारण का नाश भी मानना पड़ता है। किन्तु याग के ध्वंस से स्वर्ग की उत्पत्ति मानने पर यह (कार्य से कारण के नाश की) कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है (क्योंकि सभी ध्वंसों का अविनाशी होना स्वीकृत है)।

स्यादेतत्। उपलक्षणम्…………

(यदि ऐसा कहें कि) 'प्रोक्षिता एव व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्ते', अथवा "अवहनननिष्पादितैरेव तण्डुलैः पुरोडाशो निष्पाद्यः" इत्यादि स्थलों में) प्रोक्षणादि उपलक्षण हैं, विशेषण नहीं। अतः जिस समय प्रोक्षणादि नहीं भी रहते (वे विनष्ट हो जाते हैं) उस समय भी उन से उपलक्षित ही व्रीहि प्रभृति का अवहनन या पुरोडाश के निष्पादन में उपयोग हो सकता है। अतः अप्रोक्षित व्रीहि से पुरोडाश के निष्पादन की आपत्ति नहीं है। (अविद्यमान होते हुये भी उपलक्षण व्यावर्त्तक होते हैं) जैसे कि आज 'गुरु' (प्रभाकर) की सत्ता न रहने पर भी उन से रचित (शाबरभाष्य की बृहती) टीका गुरु के द्वारा ही अन्य टीकाग्रन्थों से भिन्न समझी जाती है। एवं आज कुरुओं की सत्ता न रहने पर भी उन का क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) उन्हीं के द्वारा अन्य क्षेत्रों से भिन्न रूप में व्यवहृत होता है।

तदसत्। न हि स्वरूपव्यापारयोरभावेऽप्युपलक्षणस्य कारणत्वं कश्चिदिच्छति, अतिप्रसङ्गात्। व्यवहारमात्रं तु तज्ज्ञानसाध्यम्, न तु तत्साध्यम्। तज्ज्ञानमपि स्वकारणाधीनम्, न तु तेन निरन्वयध्वस्तेन जन्यते। अस्तु वा तत्राप्यतिशयकल्पना, किन्नश्छिन्नम्! यद्वा यागादेरप्युपलक्षणत्वमस्तु। तदुपलक्षितः कालो यज्वा वा स्वर्गादि साधयिष्यति, कृतमपूर्वेण।

न च देवदत्तस्य स्वगुणाकृष्टाः शरीरादयो भोगाय, तद्भोगसाधनत्वात् स्रगादिवदित्यन्वयिबलादपूर्वसिद्धेर्नाविशेष इति साम्प्रतम्। इच्छाप्रयत्नज्ञानैर्यथायोगं

तदसत्............

(यह समाधान भी उपयुक्त नहीं है), क्योंकि अविद्यमान उपलक्षणों से इस प्रकार की व्यावृत्ति बुद्धियाँ होने पर भी कार्य से अव्यवहित पूर्व क्षण में उपलक्षण की स्थिति न रहने की स्थिति में उपलक्षण से उत्पन्न किसी वस्तु (व्यापार) के न रहने पर उपलक्षण में कारणता नहीं मानी जा सकती। यदि जिस किसी प्रकार कार्य से पूर्व के समय में रहने से ही कारणता मानी जाय तो 'अतिप्रसङ्ग' होगा (अर्थात् तन्तु प्रभृति में घटादि की कारणता माननी होगी)

अतीत उपलक्षणों के द्वारा जो गुरुटीका कुरुक्षेत्रादि व्यवहारों की चर्चा की गयी है, वे व्यवहार भी सर्वथा विनष्ट उपलक्षणों से नहीं होते, किन्तु उपलक्षण के (परोक्ष) ज्ञान से होते हैं। वे ज्ञान भी अपने कारणों से ही उत्पन्न होते हैं, चिर विनष्ट अपने विषयों से नहीं। अथवा उपलक्षणों से भी (यागों से अपूर्व के समान कथित व्यवहार पर्यन्त स्थायी) किसी 'अतिशय' की कल्पना कर लेने से भी हमलोगों (मीमांसकों) की कोई हानि नहीं है। (वे ही अतिशय 'गुरुटीका' और 'कुरुक्षेत्रम्' इत्यादि व्यवहारों के अव्यवहित पूर्वक्षण पर्यन्त रह कर उन व्यवहारों को उपपन्न कर देंगे)। अथवा 'यागात् स्वर्गः' (याग से स्वर्ग उत्पन्न होता है) इत्यादि व्यवहार भी याग को उपलक्षण मान कर उपपन्न किये जा सकते हैं। (गुरु और कुरु के समान सर्वथा विनष्ट याग से) उपलक्षित काल अथवा यागकर्त्ता पुरुष ही स्वर्ग का संपादन कर लेंगे। इस के लिये (यागजनित) अपूर्व की क्या आवश्यकता है ?

न च देवदत्तस्य............

जिस प्रकार चन्दन वनितादि ऐहिक भोग्य पदार्थ देवदत्तादि भोक्ताओं की आत्मा में रहनेवाले प्रयत्नादि गुणों के द्वारा समीप लाये जाने पर ही भोगों का संपादन करते हैं, उसी प्रकार 'यद् यद् भोगसाधनं तत्तद् स्वगुणाकृष्टं सदेव भोगं संपादयति' (अर्थात् भोग के जितने भी साधन हैं वे सभी भोक्ता पुरुषों के गुणों से आकृष्ट होकर ही भोग का संपादन करते हैं) इस व्याप्ति के अनुसार प्रकृत में भी कहा जा सकता है कि स्वर्ग रूप भोग्य पदार्थ भी याग करनेवाले भोक्ता पुरुष के किसी गुण से आकृष्ट होकर ही उपभुक्त हो सकते हैं।

सिद्धसाधनात् । न च तद्रहितानामपि भोग इति युक्तिमद्, येन ततोऽप्यधिकं सिद्धयेत्, नापि स्वगुणोत्पादिता इति साध्यार्थः । मानसाऽनैकान्तिकत्वात् । नापि कार्यत्वे सतीति विशेषणीयो हेतुः, तथाप्युपलक्षणैरेव सिद्धसाधनात् ।

प्रकृत में वह गुण 'अपूर्व' रूप ही है । किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वर्गादयो भोग्याः स्वगुणाकृष्टा एव भोगं संपादयन्ति भोग्यवस्तुत्वात्, चन्दनवनितादिवत्' इस अनुमान से (चन्दनवनितादि इष्टवस्तुओं के उपभोग के लिये सिद्ध) ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन्हीं गुणों में से योग्यता के अनुसार किसी की सिद्धि होगी । ये गुण तो पहिले से सिद्ध ही हैं । अतः उक्त अनुमान में सिद्धसाधन दोष है । इन गुणों के विना किसी उपभोग रूप क्रिया की उत्पत्ति संभव ही नहीं है । अतः उक्त अनुमान के द्वारा ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीनों गुणों से भिन्न किसी गुण की सिद्धि संभव नहीं है ।

नापि स्वगुणोत्पादिता············

"स्वगुणाकृष्टा एव भोग्या भोगसाधनाः, भोग्यत्वात् स्रगादिवत्" इस अनुमान के साध्यबोधक वाक्य में 'स्वगुणाकृष्टाः' के स्थान पर 'स्वगुणोत्पादिताः' ऐसा परिवर्तन कर दें तो उक्त सिद्धसाधन दोष का परिहार हो जायगा । क्योंकि स्वर्गादि भोग्य पदार्थ भोक्ता के इच्छादि गुणों से उत्पन्न नहीं होते । अतः जिस गुण से स्वर्ग की उत्पत्ति होगी, वह गुण ही प्रकृत 'अपूर्व' होगा ।

किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि (भोग के जो भी साधन हों वे सभी भोक्ता के किसी गुण से उत्पन्न ही हों' यह नियम) 'मन' में व्यभिचरित है । (क्योंकि सुख या दुःख का मानस प्रत्यक्ष ही भोग है । मन उक्त प्रत्यक्ष रूप भोग का साधन होते हुए भी भोक्ता के गुण से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि मन नित्य है । अतः उस की उत्पत्ति किसी से भी नहीं होती है) ।

नापि कार्यत्वे सति············

(यद् यद् भोगसाधनं तत्तद् भोक्तृगुणोत्पन्नम्' व्याप्ति के बोधक इस वाक्य में 'यद् यद् भोगसाधनम्' इतना जो हेतु का बोधक अंश है, उस में एक 'जन्यम्' पद अधिक जोड़ दें, अर्थात् 'यद् यद् जन्यं भोगसाधनम्' ऐसा वाक्य मान लें (अर्थात् भोग के जो जन्य साधन है, वे अवश्य ही भोक्ता के किसी गुण से उत्पन्न होते हैं) तो मन में कथित व्यभिचार का वारण हो जायगा । किन्तु ऐसा करने पर भी उक्त अनुमान से भोक्ता पुरुष में रहनेवाले जन्मान्तरीय ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न रूप उपलक्षण की ही सिद्धि होगी (क्योंकि चिरविनष्ट इच्छादि रूप उन उपलक्षणों से ही स्वर्गादि की उत्पत्ति हो जायगी । जिस से इस अनुमान में सिद्धसाधन दोष ज्यों का त्यों रह जायगा । सुतराम् इस अनुमान से भी 'अपूर्व' की सिद्धि नहीं होगी) ।

असतां तेषां कथमुत्पादकत्वमिति चेत्, तदेतदभिमन्त्रणादिष्वपि तुल्यम् । तस्माद्भावभूतमतिशयं जनयन्त एव प्रोक्षणादयः कालान्तरभाविने फलाय कल्पन्ते, प्रमाणतस्तदर्थमुपादीयमानत्वात्, यागकृषिचिकित्सावदिति । अन्यथा कृष्यादयो दुर्घटाः प्रसज्येरन् । बीजादीनामापरमाण्वन्तभङ्गात्, तेषु चावान्तरजातेरभावान्नियतजातीयकार्यारम्भानुपपत्तेः ॥१०॥

अत्रोच्यते—

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः ।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥ ११ ॥

असतां तेषाम्…………

भोक्ता पुरुष के दूसरे जन्म के ज्ञान इच्छा प्रभृति ये उपलक्षण इस स्वर्गोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान नहीं रहते, अतः इन से स्वर्गोत्पत्ति की संभावना नहीं है । अतः यागादि से अपूर्व का मानना आवश्यक है ।

तदेतत्…………

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस अभियोग का अवसर 'अभिमन्त्रणादि' में भी समान रूप से है ।

तस्मात्…………

'तस्मात्' यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार याग और कृषि ये दोनों क्रमशः अपने द्वारा उत्पन्न अपूर्व एवं क्षेत्र गत 'बल' इन दोनों भाव पदार्थों के उत्पादन के द्वारा ही स्वर्ग एवं अन्न का उत्पादन करते हैं, उसी प्रकार प्रोक्षणादि क्रियायें भी व्रीहि प्रभृति पदार्थों में भावपदार्थ रूप किसी 'अतिशय' या 'अपूर्व' को उत्पन्न करके ही अपनी स्थिति समय के बहुत काल के बाद भी पुरोडाशादि का निष्पादन कर सकती हैं, क्योंकि (श्रुति रूप) प्रमाण के द्वारा वे पुरोडाश निर्माण के लिये ही निर्दिष्ट हैं । 'अन्यथा' (भूतद्रव्यों में उक्त अपूर्व या अतिशय न मानें तो) कृषि कार्य ही दुष्कर हो जायगा, क्योंकि खेत में गिराये गये यवादि के बीज जब परमाणु पर्यन्त विनष्ट हो जाते हैं तो उन में (पृथिवीत्वादि की अवान्तर) यवत्वादि जातियाँ नहीं रहती हैं । फिर यव के बीज से यवाङ्कुर ही हो, या यव के अङ्कुर यव के बीज से ही उत्पन्न हों, इसका दूसरा कोई नियामक उस समय 'अतिशय' को छोड़कर नहीं है । अतः उक्त नियमों की उपपत्ति भी न हो सकेगी । (अतः प्रोक्षणादि क्रियाओं से व्रीहि प्रभृति भूतद्रव्यों में भी 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है) ।

अत्रोच्यते संस्कारः…………पुंस…………

इस प्रसङ्ग में हम लोग कहते हैं कि—

प्रोक्षण, अभ्युक्षण प्रभृति क्रियाओं से 'अपूर्व' अथवा 'अतिशय' की उत्पत्ति अवश्य ही होती है । किन्तु वह पुरुष की आत्मा में ही उत्पन्न होती हैं (व्रीहि प्रभृति भूतद्रव्यों में नहीं)

यथा हि देवताविशेषोद्देशेन हुताशने हविराहुतयः समन्त्राः प्रयुक्ताः पुरुषमभिसंस्कुर्वंते न वह्निम्, नापि देवताः, तथा व्रीह्याद्युद्देशेन प्रयुज्यमानः प्रोक्षणादिः पुरुषमेव संस्कुरुते, न तम्। यथा च कारीरीजनितसंस्काराधारपुरुषसंयोगाज्जलमुचां सञ्चरणजलक्षरणरूपा क्रिया, तथा व्रीह्यादीनां तत्तदुत्तरक्रियाविशेषाः; यथा चैकत्र कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात् फलाभावस्तथा परत्रापि, आगमिकत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। न तर्हि बर्हिष इव व्रीह्यादेः पुनरुपयोगान्तरं स्यात्, उपयोगे वा

यवादि बीजों के परमाणुओं के रूप रसादि में पाकादि से उत्पन्न होनेवाले जो 'विशेष' हैं (वे ही उक्त नियमों के प्रयोजक हैं)।

सि० प० यथा हि············

जिस प्रकार (इन्द्रादि) किसी देवता के लिये अग्नि में मन्त्रोच्चारण पूर्वक डाली गयी आहुतियाँ (मीमांसकों के मत से भी) आहुति डालनेवाले पुरुषों में ही संस्कार (अपूर्व) को उत्पन्न करती हैं, देवता और वह्नि इन दोनों में से किसी में भी अपूर्व को उत्पन्न नहीं करतीं। इसी प्रकार व्रीहि प्रभृति के लिये प्रयुक्त प्रोक्षणादि क्रियायें (प्रोक्षण करनेवाले) पुरुष में ही 'अतिशय' अथवा 'अपूर्व' को उत्पन्न करती है, व्रीहि प्रभृति भूतद्रव्यों में नहीं। एवं जिस प्रकार कारीरी याग से उत्पन्न अदृष्ट से युक्त पुरुष के (विशेष प्रकार के) संयोग से मेघों में जल गिराने की क्रिया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार (प्रोक्षण करने वाले पुरुष के सम्बन्ध के द्वारा ही) व्रीहि प्रभृति से ही आगे होनेवाली अवहननादि क्रियायें उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार श्रुति से निर्दिष्ट होने के कारण कारीरी या पुत्रेष्टि प्रभृति यागों के अनुष्ठान के वाद भी उनसे वर्षा एवं पुत्रादि फल के प्राप्त न होनेपर याग के कर्त्ता, यागक्रिया, अथवा याग के अन्य साधनों में वैगुण्य की कल्पना की जाती है उसी प्रकार निष्फल होने पर व्रीहि प्रभृति की प्रोक्षणादि क्रियाओं में भी वैगुण्य की कल्पना कर ली जायगी। क्योंकि दोनों ही प्रकार के स्थलों में श्रुति-प्रमाण का निर्देश समान है।

पू० प० न, तर्हि···············

ऐसी बात नहीं हो सकती, यदि ऐसा मानें तो फिर जिस प्रकार स्तरण में प्रयुक्त कुशों (बर्हिष) का ही पुनः (हविराधान में) प्रयोग होता है, उसी प्रकार प्रोक्षण रूप क्रिया में लगे हुए व्रीहि का ही पुनः अवहनन रूप दूसरी क्रिया में उपयोग न हो सकेगा। यदि (व्रीहीनवहन्ति, व्रीहिभिर्यजेत–इत्यादि श्रौत विधानों के बलपर प्रोक्षण क्रिया में उपयुक्त होने के बाद) पुनः उपयोग कर भी लें, तथापि यह अभियोग बना ही रहेगा कि प्रोक्षित व्रीहि के ही समान ही अप्रोक्षित व्रीहि का भी अवहननादि अन्य क्रियाओं में उपयोग क्यों नहीं? (इस से 'प्रोक्षिता एव व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्ते' अर्थात् प्रोक्षित व्रीहि का ही अवहन क्रिया में विनियोग हो) यह नियम अनुपपन्न हो जायगा।

तज्जातीयान्तरमप्युपादीयेत, अविशेषात्। न, विचित्रा ह्यभिसंस्काराः, केचिद् व्याप्रियमाणोद्देश्यसहकारिण एव कार्ये उपयुज्यन्ते। किं क्रियताम्, विधेर्दुर्लङ्घ्यत्वात्। यथा चाभिचारसंस्कारो यं देहमुद्दिश्य प्रयुक्तस्तदपेक्ष एव तत्सम्बद्धस्यैव दुःखमुपजनयति, नान्यस्य, न वा तदनपेक्षः। एवमभिमन्त्रणादिसंस्कारा अपि भवन्तो न मानागपि नोपयुज्यन्ते। कथं तर्हि व्रीह्यादीनां संस्कार्यकर्मतेति चेत्, प्रोक्षणादिफलसंबन्धादेव।

ननु यदुद्देशेन यत् क्रियते तत्तत्र किञ्चित्करम्। यथा पुत्रेष्टिपितृयज्ञौ। तथा

सि० प० न, विचित्रा हि...............

यह आपत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि विभिन्न संस्कार विभिन्न रीति से अपना-अपना काम करते हैं (सभी समान रूपसे अपना कार्य नहीं करते)। इन में कुछ संस्कार ऐसे हैं जो अपने उत्पादन में सहायक द्रव्य का साहाय्य लेकर ही अपना मुख्य काम करते हैं, क्योंकि वेद के विधानों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

यथा चाभिचारसंस्कारः...............

जिस प्रकार (श्येनयागादिरूप) अभिचार से उत्पन्न संस्कार (अपूर्व) जिस (शत्रु) देह के लिये प्रयुक्त होता है, उस देह के साहाय्य से ही उसी देह से सम्बद्ध (आत्मा) में दुःख का उत्पादन करता है। वह संस्कार बिना उस देह के साहाय्य के न उस देह में दुःख को उत्पन्न कर सकता है, न दूसरी आत्माओं में दुःख को उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार मन्त्रोच्चारण पूर्वक व्रीहि के प्रोक्षण से जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह उन प्रोक्षित व्रीहि के साहाय्य से ही अवहननादि क्रियाओं में उपयुक्त होने की सामर्थ्य रखते हैं। अतः अवहननादि क्रियाओं में जो अप्रोक्षित व्रीहि के उपयोग की आपत्ति दी गयी वह उचित नहीं है।

पू० प० कथं तर्हि...............

यदि प्रोक्षण क्रिया से व्रीहि में संस्कारादि किसी फल की उत्पत्ति नहीं होती है, तो फिर व्रीहि प्रोक्षणक्रिया का कर्म कारक ही कैसे है ?

सि० प० प्रोक्षणादि...............

प्रोक्षणक्रिया से जो व्रीहि में जल का संयोग उत्पन्न होता है, उस संयोगरूप फल के सम्बन्ध से ही व्रीहि में प्रोक्षण क्रिया की कर्मता आती है। (अतः 'व्रीहीन्' पद में द्वितीया विभक्ति की अनुपपत्ति नहीं है)।

पू० प० ननु यदुद्देशेन...............

जो कार्य जिस आश्रय (उद्देश) में किया जाता है, उस आश्रय में वह अवश्य ही किसी वस्तु को उत्पन्न करता है। जैसे कि पुत्रेष्टि याग पुत्र में अपूर्व का उत्पादन करता है। एवं पितरों के उद्देश से किये गये श्राद्ध से उन में प्रीति उत्पन्न होती है। इसी लिये प्रोक्षण रूप कार्य जिस लिये कि व्रीहि रूप उद्देश (आश्रय) में ही किया जाता है, अतः प्रोक्षण से व्रीहि

चाभिमन्त्रणादयो व्रीह्याद्युद्देशेन प्रवृत्ता इत्यनुमानमिति चेत्, तन्न; हविस्त्यागादिभिरनैकान्तिकत्वात् । न हि ते कालान्तरभाविफलानुगुणं किञ्चिद्धुताशनादौ जनयन्ति । किं वा न दृष्टमिन्द्रियलिङ्गशब्दव्यापारा: प्रमेयोद्देशेन प्रवृत्ताः प्रमातर्येव किञ्चज्जनयन्ति, न प्रमेये इति ।

कृषिचिकित्से अप्येवमेव स्यातामिति चेन्न; दृष्टेनैव पाकजरूपादिभेदेनोपपत्तावदृष्टकल्पनायां प्रमाणाभावात् ।

में किसी वस्तु की उत्पत्ति अवश्य होती है । इस से यह अनुमान निष्पन्न होता है कि प्रोक्षण-क्रिया जिस लिये कि व्रीहि के उद्देश से की जाती है, अत: उस से भी (पुत्रेष्टि पितृश्राद्धादि के समान) अवश्य ही व्रीहि रूप उद्देश में ही किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है । (प्रोक्षणादय: व्रीह्यादौ किञ्चिदुत्पादयन्ति, तदुद्देशकक्रियात्वात्, व्रीह्यादय: प्रोक्षणादिजनितकिञ्चिद्वस्तुमान् प्रोक्षणादिक्रियोद्देश्यत्वात् पुत्रादिवत्)

सि० प० तन्न, हविस्त्यागादिभि:................

यह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि इसका हेतु हवि के त्याग प्रभृति क्रियाओं में व्यभिचरित है । इन क्रियाओं से वह्नि प्रभृति वस्तुओं में किसी ऐसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है, जिस से हविस्त्याग के बहुत समय बाद भी हविस्त्याग के मुख्य फल के लिये कुछ साहाय्य हो सके । अथवा क्या आप लोग (मीमांसक) यह नहीं देखते कि प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द जिन वस्तुओं को यथार्थ रूप से समझाने के लिए प्रवृत्त होते हैं, उद्देश्यभूत उन विषयों में किसी वस्तु का उत्पादन नहीं करते, किन्तु वे प्रमाण प्रमाता पुरुषों में ही प्रमाज्ञान रूप अतिशय को उत्पन्न करते हैं ।

पू० प० कृषिचिकित्से............

(ऐसी स्थिति में) कृषि एवं चिकित्सा ये दोनों कार्य भी क्षेत्रबीजादि में या रोगी के शरीर में किसी 'अतिशय' का उत्पादन नहीं करेंगे, किन्तु कृषि करनेवाले पुरुष की आत्मा में या चिकित्सक की आत्मा में ही 'अतिशय' को उत्पन्न करेंगे ।

सि० प० न, दृष्टेनैव............

ऐसी बात नहीं है (क्योंकि अदृष्ट रूप अतिशय के प्रसङ्ग में ही यह बात कही गयी है कि 'वे आत्मा में ही रहते हैं, भूतद्रव्यों में नहीं) कृषि और चिकित्सा ये दोनों तो पाकज-रूपादि दृष्टव्यापारों को उत्पन्न कर उनके द्वारा ही अन्न एवं आरोग्य का संपादन करते हैं, उनसे अदृष्ट रूप किसी व्यापार की उत्पत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है । (अत: कृषि और चिकित्सा से उत्पन्न अतिशयों में आत्मनिष्ठ होने की आपत्ति नहीं दी जा सकती) ।

अत एव............

"अगर भौतिक द्रव्यों में अदृश्य संस्कार न मानें तो फिर बीजपूर (नीबू) के फूल में जो अरुणिमा उत्पन्न होती है, वह उत्पन्न न हो सकेगी (स्वभावत: बीजपूर के फूल श्वेत

तथा च लाक्षारसावसेको व्याख्यातः।

अत एव बीजविशेषस्यापरमाण्वन्तभङ्गेऽपि परमाणूनामवान्तरजात्यभावेऽपि प्राचीनपाकजविशेषादेव विशिष्टाः परमाणवस्तं तं कार्यविशेषमारभन्ते। यथा हि कलमबीजं यवादेः, नरबीजं वानरादेः, गोक्षीरं माहिषादेर्जात्या व्यावर्तते, तथा तत्परमाणवोऽपि मूलभूताः पाकजैरेव व्यावर्तन्ते। न ह्यस्ति सम्भवो गोक्षीरं सुरभि मधुरं शीतम्, तत्परमाणवश्च विपरीताः। तस्मात् तथाभूताः

ही होते हैं) इस आपत्ति का भी समाधान कृषि और चिकित्सा के प्रसङ्ग में दिये गये समाधान से ही हो जाता है (अर्थात् बीजपूर स्थल में भी लाह की पानी से उक्त फूल मे अरुणिमा की उत्पत्ति उक्त सेक से बीजपूर में उत्पन्न किसी अदृष्ट से नहीं होती है, किन्तु उक्त सेक से फूल को अरुणिमा के असमवायिकारणीभूत रूप में पाकादि से होनेवाले किसी दृश्य परिवर्तन से ही होती है)

सि० प० अत एव…………

कथित युक्ति से ही 'यव के बीज से यवाङ्कुर ही उत्पन्न हों एवं धान्य के बीज से धान्यांकुर ही उत्पन्न हों' इस नियम की भी उपपत्ति के लिये 'शक्ति' पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि यवांकुर के उत्पादक परमाणु और धान्यांकुर के उत्पादक परमाणु इन दोनों प्रकार के परमाणुओं में रहनेवाले रूपरसादि भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। रूप रसादि की यह भिन्नता पाक से उत्पन्न होती है। एक ही जाति के परमाणुओं में किसी अवान्तर जाति के न रहनेपर भी पाक के द्वारा विभिन्न प्रकार के रूपरसादि उत्पन्न होते है। अतः यव में जिस प्रकार की रूपरसादि की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार के रूपससादि से युक्त परमाणुओं से ही युवांकुर की उत्पत्ति होती है, एवं धान में जिस प्रकार के रूपरसादि की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार के रूपरसादि से युक्त धान के परमाणुओं से धान्यांकुर की उत्पत्ति होती है। अवयवी में जिस प्रकार के रूप-रसादि की उपलब्धि होगी, अवयवों में भी उसी प्रकार के रूपरसादि की सत्ता माननी होगी। यह तो सम्भव ही नहीं कि गाय के दूध में सुरभि गन्ध हो, मधुर रस हो और शीत स्पर्श हो, किन्तु गाय के दूध के उत्पादक परमाणुओं में उसके विपरीत असुरभि गन्ध हो, तिक्त रस हो, एवं अनुष्णाशीत स्पर्श हो। अतः जिस प्रकार धान्य के बीज यव के बीज से, मनुष्य के बीज वानर के बीज से एवं गाय का दूध भैंस के दूध से तत्तत् जातियों के द्वारा ही विभिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार धान्य, यव अथवा नर, वानरादि के उत्पादक परमाणु भी अपने में रहनेवाले विभिन्न प्रकार के पाकज रूपरसादि से ही परस्पर विभिन्न समझे जायेंगे। तस्मात् (उपलब्ध अवयवियों में जिस प्रकार की रूपरसादि की उपलब्धि होती है, उन अवयवियों के उत्पादक परमाणुओं में भी उस प्रकार की रूपरसादि की सत्ता माननी होगी। इन विलक्षण रूपरसादि से युक्त परमाणुओं से ही) यव बीज से यवाङ्कुर के उत्पादक द्वयणुक

पाकजा एव परमाणवो यथाभूतैरेव आद्यातिशयोऽन्त्यातिशयोऽङ्कुरादिर्वेति किमत्र शक्तिकल्पनया? कल्पादावप्येवमेव। इदानीं बीजादिसन्निविष्टानामस्मदादिभिरुपसम्पादनम्, तदानीं तु विभक्तानामदृष्टादेव केवलान्मिथः संसर्ग इति विशेषः। न च वाच्यमिदानीमपि तथैव किं न स्यात्? यतः कृष्यादिकर्मोच्छेदे तत्साध्यानां भोगानामुच्छेदप्रसङ्गात्। अव्यवस्थाभयाच्चादृष्टानि कर्माणि दृष्टकर्मव्यवस्थयैव भोगसाधनानीत्युन्नीयते। तस्मात् पाकजविशेषैः संस्थानविशेषैश्च विशिष्टाः परमाणवः

रूप) 'आद्यतिशय' (अर्थात् प्रथम कार्य) अथवा 'यवांकुर' रूप 'अन्त्याशय' (अर्थात् चरमकार्य) की उत्पत्ति होगी, जिस लिये कि इसी से धान्य के बीज से धान्यांकुर ही हों और यव के बीज से यवाङ्कुर ही हों--इस नियम की उपपत्ति हो जायगी, अतः उक्त दोनों प्रकार के परमाणुओं में किसी) 'शक्ति' की कल्पना अनावश्यक है। सृष्टि के आदि में भी इसी प्रकार परमाणुओं में रहनेवाले पाकजनित रूपादि से ही विभिन्न वस्तुओं की नियमित उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। इस समय की अंकुरादि की उत्पत्ति में एवं सृष्टि की आदि की अंकुरादि की उत्पत्ति में इतना ही अन्तर है कि अभी के अंकुर के उत्पादन में बीजों को क्षेत्रादि सहकारियों का सामीप्य हम लोगों के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु सृष्टि की आदि में बीजों को सहकारियों का यह सामीप्य तत्तत्कार्य के लिये नियमित अदृष्ट से प्राप्त होता है।

पू० प० न च वाच्यम् ··· ··· ··· ···

तो फिर वर्त्तमान काल में भी बीज को क्षेत्रादि सहकारियों के समीप्य का लाभ केवल अदृष्ट से ही क्यों नहीं मान लेते? (इसके लिये कृषक के द्वारा हलकर्षणादि व्यापार की अपेक्षा क्यों मानते हैं?)

सि० प० यतः ··· ··· ··· ···

यदि ऐसा मानेंगे तो फिर कृषि कार्यों का बिलकुल ही लोप हो जायगा। एवं उनके लोप हो जाने से कृषिकार्य के द्वारा होनेवाले भागों की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। (आधुनिक अंकुर के प्रति कृषिकार्य में अन्वय और व्यतिरेक से जो कारणता) व्यवस्थित है, उसके भंग हो जाने के डर से यह अनुमान करते हैं कि अदृष्ट से भोग का संपादन दृष्टकारणों के द्वारा ही होता है। अतः विभिन्न परमाणुओं में जो विभिन्न प्रकार के रूपादि हैं, अथवा परमाणुओं में जो विभिन्न प्रकार के उत्पादक संयोग (संस्थान) है उनके साहाय्य से ही वे विभिन्न प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करते हैं। वे पाकज रूपादि अथवा विभिन्न प्रकार के संयोग भी जल, तेज और वायु इन तीन द्रव्यों के विशेष प्रकार के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं (यहाँ भी शक्ति की कोई अपेक्षा नहीं है)। जलादि द्रव्यों के उक्त संयोग भी इनकी अपनी क्रियाओं से

कार्यविशेषमारभन्ते । ते च तेजोऽनिलतोयसंसर्गविशेषैः, ते च क्रियया, सा च नोदनाभिघातगुरुत्ववेगद्रवत्वादृष्टवदात्मसंयोगेभ्यो यथायथमिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

निमित्तभेदाश्च पाके भवन्ति तद्यथा—हारीतमांसं हरिद्राजलावसिक्तं हरिद्राग्निप्लुष्टमुपयोगात् सद्यो व्यापादयति । दशरात्रोषितं कांस्ये घृतञ्चापि विषायते । ताम्रपात्रे पर्युषितं क्षीरमपि तिक्तायते इत्यादि ॥११॥

यत्र तर्हि तोये तेजसि वायौ वा न पाकजो विशेषस्तत्र कथमुद्भवानुद्भव-द्रवत्वकठिनत्वादयो विशेषाः ? कथं वा पार्थिवे प्रतिमादौ प्रतिष्ठादिना संस्कृतेऽपि

ही उत्पन्न होती है (इस में भी शक्ति का कोई उपयोग नहीं है । उक्त संयोग को उत्पन्न करनेवाली यह) क्रिया भी नोदन संयोग, अभिघात संयोग, गुरुत्व, वेग, द्रवत्व एवं उपयुक्त अदृष्ट से युक्त आत्मा का संयोग इन्हीं सबों में से यथासंभव किसी से उत्पन्न होती है (इस क्रिया की उत्पत्ति में भी अदृष्ट की कोई आवश्यकता नहीं है)। अतः (शक्ति नाम की किसी वस्तु की सत्ता को स्वीकार न करने पर भी) कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

निमित्तभेदाश्च ··· ··· ··· ···

विभिन्न प्रकार के पाकों से विभिन्न प्रकार के कार्य प्रत्यक्ष सिद्ध हैं । जैसे कि हारिल पक्षी के मांस को हल्दी की पानी से भिगो कर हल्दी की ही आग से पका कर खाने वाले की तत्क्षण मृत्यु हो जाती है । कांसे के पात्र में घृत को दश रात छोड़ देने से वह भी विष हो जाता है । तांबे के पात्र में रखा गया दूध रातभर में ही कड़वा हो जाता है ॥११॥

पू० प० यत्र तर्हि ··· ··· ··· ···

(यदि परमाणुओं में रहनेवाले रूपरसादि के पाकजनित परिवर्तन से ही कार्यों की उक्त विभिन्नता मानी जाय, अर्थात् विभिन्न कार्यों की उपयुक्त शक्तियाँ विभिन्न परमाणुओं में न मानी जायँ तो फिर) जल, तेज, और वायु इन तीन द्रव्यों के रूप-रसादि में तो पाक से कोई परिवर्तन नहीं होता, अतः जलीय परमाणुओं से जो कभी ऐसे जलों की उत्पत्ति होती है जिनके रूप-रसादि और द्रवत्व ये सभी प्रत्यक्ष से गृहीत हो सकते हैं, एवं कभी जलीय परमाणुओं से ही ऐसे जल की उत्पत्ति होती है, जिसके प्रकृत रूप-रसादि का प्रत्यक्ष नहीं होता, एवं द्रवत्व के बदले कठिनत्व की उपलब्धि होती है । इस प्रकार एक ही प्रकार के जलीय परमाणुओं से विभिन्न प्रकार के रूपरसादि गुणों से युक्त जलादि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । एवं एक ही प्रकार के तैजस परमाणुओं से ही जो कभी ऐसे तेज की उत्पत्ति होती है, जिसके प्रकृत रूप स्पर्शादि का प्रत्यक्ष होता है, एवं कभी उन्हीं तैजस परमाणुओं से स्वर्णादि ऐसे तैजस पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जिनके प्रकृत रूपरसादि की उपलब्धि नहीं होती ।

कथं वा ···········

(उक्त जलीय वा तैजस पदार्थों की बात छोड़ भी दी जाय तथापि) देवताओं की पार्थिव प्रतिमाओं में ही देवता की प्रतिष्ठा के बाद, उस प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा से धर्म होता

विशेषाभावात् पूजादिना धर्मः, व्यतिक्रमे त्वधर्मः, अप्रतिष्ठिते तु न किञ्चित् । न च तत्र यजमानधर्मेणान्यस्य साहाय्यकमाचरणीयम्, अन्यधर्मस्यान्यं प्रत्यनुपयोगात्, उपयोगे वा साधारण्यप्रसङ्गात् ।

अत्रोच्यते—

निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः ।
देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ।।१२।।

है, एवं प्रतिष्ठित उसी प्रतिमा के असम्मान करने पर जो पाप होता है, तथा प्रतिष्ठा से पहिले उसी प्रतिमा की पूजा या असम्मान से पुण्यापुण्य कुछ भी नहीं होता—इनकी उपपत्ति तब तक नहीं हो सकेगी जबतक की प्रतिमारूप पार्थिव द्रव्य में प्रतिष्ठा से किसी 'अतिशय' अथवा शक्ति की उत्पत्ति को न स्वीकार किया जाय।

सि० प० न च तत्र ··· ··· ··· ···

प्रतिष्ठा करनेवाले यजमान में प्रतिष्ठा से जो पुण्यरूप धर्म उत्पन्न होता है, वह पुण्य भी प्रतिष्ठित प्रतिमा के पूजन से धर्म की उत्पत्ति का और उक्त प्रतिमा के अपमान से होनेवाले पाप का सहायक है। इस 'सहायक पुण्य' के रहने से ही अप्रतिष्ठित प्रतिमा के पूजन से पुण्य और अपमान से पाप दोनों में से एक भी नहीं होता। (इसके लिये प्रतिष्ठा से प्रतिमा में किसी 'अतिशय' को मानने की आवश्यकता नहीं है)।

पू० प० अन्यधर्मस्य············

यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक आत्मा में रहने वाले पाप-पुण्य का उपयोग दूसरी आत्मा में पाप-पुण्य के उत्पादन में नहीं हो सकता। (यदि किसी प्रकार ऐसा मान भी लें तथापि) प्रतिष्ठितप्रतिमा और अप्रतिष्ठितप्रतिमा दोनों में 'साधारण्य' अर्थात् समानता की आपत्ति होगी (क्योंकि प्रतिष्ठा करनेवाले पुरुष का प्रतिष्ठाजनित पुण्य जब भोग से विनष्ट हो जायगा, उसके बाद प्रतिष्ठित प्रतिमा के पूजन से धर्म और अपमान से पाप उसी प्रकार नहीं होगा, जैसे कि अप्रतिष्ठित प्रतिमा के पूजन से पुण्य और अपमान से पाप दोनों में से एक भी नहीं होता। अतः प्रतिमा की विधिवत् प्रतिष्ठा से अवश्य ही प्रतिमा में किसी अतिशय या शक्ति की उत्पत्ति होती है)।

सि० प०······अत्रोच्यते······निमित्तभेदसंसर्गात्············

(मीमांसकों के इन आक्षेपों के प्रसंग में हम लोगों (नैयायिकों) का कहना है कि— विभिन्न अदृष्टों से युक्त आत्मा के विभिन्न संयोगादि) कारणों की विभिन्नता से ही जल, तेज, वायु प्रभृति में उद्भूतरूपादि एवं अनुद्भूतरूपादि अथवा द्रवत्व, कठिनत्वादि विभिन्न कार्यों की उपपत्ति हो सकती है (इसके लिये उनके परमाणुओं में 'शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं है।)

उपनायकादृष्टविशेषसहाया हि परमाणवो द्रव्यविशेषमारभन्ते । तेषां विशेषादुद्भवविशेषाः प्रादुर्भवन्ति । तथा स्वभावद्रवा अप्यापो निमित्तभेदप्रतिबद्धद्रवत्वाः कठिनं करकाद्यमारभन्ते—इत्यादि स्वयमूहनीयम् ।

प्रतिमादयस्तु तेन तेन विधिना सन्निधापितरुद्रोपेन्द्रमहेन्द्राद्यभिमानिदेवताभेदास्तत्र तत्राराधनीयतामासादयन्ति, दष्टमूर्छितं राजशरीरमिव विषापनयनविधिनाऽऽपादितचैतन्यम् । सन्निधानञ्च तत्र तेषामहङ्कारममकारौ, चित्रादावि-

---

प्रतिष्ठा के द्वारा प्रतिमायें देवताओं के सामीप्य का लाभ करती हैं । देवताओं के सामीप्य से युक्त प्रतिमाओं के पूजन से ही पुण्य और अपमान से पाप होता है । (एवं चाण्डालादि के स्पर्श से जब प्रतिमाओं से देवताओं का सांनिध्य हट जाता है, तो उस प्रतिमा के पूजन से न धर्म ही होता है न अधर्म ही, अतः प्रतिष्ठा से प्रतिमा में किसी 'अतिशय' को मानने की आवश्यकता नहीं है) ।

अथवा 'देवताओं का जो स्वरूप शास्त्रों में निर्दिष्ट है, उस स्वरूप के अनुरूप ही यह प्रतिमा है' इस आकार के प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान के साहाय्य से ही उक्त पुण्य और पापादि की उपपत्ति हो जायगी (इसके लिये किसी अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नहीं है) ।

उपनायकादृष्टसहायाः…………

परमाणुओं में जिस विशेष प्रकार के (उपनायकादृष्ट) अदृष्ट से क्रिया उत्पन्न होती है, उसी विशेष प्रकार के अदृष्ट के साहाय्य से एक जाति के परमाणुओं में उद्भूतरूप, अनुद्भूतरूपादि अनेक प्रकार के विशेषों से युक्त उसी जाति के अनेक प्रकार के द्रव्य उत्पन्न होते हैं । इस विशेष प्रकार के अदृष्ट से ही कहीं पर जल के परमाणुओं का द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाता है, एवं उन विशेष प्रकार के (अवरुद्ध द्रवत्ववाले) परमाणुओं से ही करका प्रभृति कठोर जाति के जलीय द्रव्य उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी ऊह करना चाहिये ।

प्रतिमादयस्तु…………

प्रतिमा के प्रसङ्ग में हमलोगों की (नैयायिकों की) यह दृष्टि है कि प्रतिष्ठा के विविध अनुष्ठानों के द्वारा उन प्रतिमाओं में नियमित रुद्र, विष्णु, इन्द्र प्रभृति देवताओं में से अभीष्ट देवता का सामीप्य प्राप्त होता है । देवताओं की इस संनिधि के बल से ही प्रतिमाओं में पूज्यता आती है । जैसे कि सर्पादि के काटने से मूर्च्छित राजा का शरीर मूर्च्छितावस्था में शासन करने के योग्य न रहने पर भी मन्त्र अथवा औषध से विष के छूट जाने के कारण चैतन्य के आ जाने पर (वही शरीर) राजोचित कार्य करने में पुनः समर्थ होता है । एवं जिस प्रकार राजा को अपनी प्रतिकृति में 'यह मैं ही हूँ' इस आकार का 'अहंकार' अर्थात् 'अहम्' विषयक बुद्धि होती है । एवं उसी प्रतिकृति में अंकित अवयवों में 'ये मेरे ही अवयव हैं' इस प्रकार का 'ममकार' रूप बुद्धि उत्पन्न होती है । उसी प्रकार

स्वसादृश्यदर्शिनो राज्ञ इति नो दर्शनम् । अन्येषां तु पूर्वपूर्वपूजितप्रत्यभिज्ञानविषयस्य प्रतिष्ठिताभिज्ञानविषयस्य च तथात्वमवसेयम् । एतेनाभिमन्त्रितपयःपल्लवादयो व्याख्याताः ॥१२॥

घटादिषु का वार्ता ? कुशलैवेति चेन्न; न हि सामग्री दृष्टं विघटयति,

---

संपूर्ण प्रतिमा में 'यह मैं ही हूँ' देवताओं की इस प्रकार की बुद्धि ही उनका 'अहंकार' है। एवं उसी प्रतिमा के अवयवों में 'ये मेरे ही अवयव हैं' इस प्रकार की जो देवताओं की बुद्धि होती है, उसे ही देवताओं का 'ममकार' कहते हैं। इसी अहंकार और ममकार के द्वारा प्रतिमा को देवतागण अपना सांनिध्य प्रदान करते हैं। (इसके लिये प्रतिमारूप पार्थिवभूत पदार्थ में भी किसी 'शक्ति' की कल्पना आवश्यक नहीं है)।

अन्येषां तु··· ··· ··· ···

देवता के चेतन न माननेवाले पूर्वपक्षवादी मीमांसकों के मत से भी (प्रतिमाओं में प्रतिष्ठा से किसी शक्ति की उत्पत्ति स्वीकार किये बिना भी) प्रतिमा में कथित पूज्यत्वादि की उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है कि जिस प्रतिमा में लोगों की यह बुद्धि हो कि "यह वही प्रतिमा है जो लोगों के द्वारा पहिले से पूजित होती आयी है।" अथवा "यह वही प्रतिमा है, जिसकी प्रतिष्ठा हो चुकी है" वे ही प्रतिमायें पूजनीय हैं।

एतेन··· ··· ··· ···

इसी प्रकार (गारुडादि मन्त्रों से) अभिमन्त्रित जल एवं पल्लवादि से जो विष को हटाने आदि के कार्य होते हैं, उनका भी समाधान (शक्ति को बिना माने ही मन्त्रादि के द्वारा गरुडादि के सांनिध्य से कथित अभिमन्त्रितत्व की प्रत्यभिज्ञा से समझना चाहिए) ॥१२॥

पू० प० घटादिषु··· ··· ··· ···

(यदि भौतिक द्रव्यों में शक्ति न मानें तो फिर 'घट' (अर्थात् पाप और पुण्य की निर्णायक) तुला (तराजू) के प्रसंग में आप की स्थिति क्या होगी ? (विशेष प्रकार के अनुष्ठान से तुला या तत्समान प्रभृति में यदि विशेष प्रकार की शक्ति को स्वीकार न करें तो फिर तुलारोहणादि शपथों के द्वारा जो पुरुष के पाप और निष्पापत्व का निर्णय होता है, वह न हो सकेगा, क्योंकि शक्ति से विहीन तुला एवं शपथ में उपयुक्त होनेवाली अन्य तुलाओं में कोई भी अन्तर नहीं है)।

सि० प० कुशलैव··· ··· ··· ···

(कथित तुला भृप्रति में किसी आधेय शक्ति की कल्पना किये बिना भी) हम लोगों की स्थिथि बहुत अच्छी है।

पू० प० न, न हि··· ··· ··· ···

ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष की निष्पापत्व की परीक्षा के तुलारोहण प्रभृति जितने भी कारण हैं, उनमें से प्रतिमान (बाट) प्रभृति किन्हीं दृष्ट कारणों एवं पाप प्रभृति

नाप्यदृष्टम्, ज्ञापकत्वात् । नाप्यदृष्टमुत्पादयति, धर्मजनने सर्वदा विजयप्रसङ्गात् । विपर्यये सर्वदा भङ्गप्रसङ्गात् ।

अत्रोच्यते—

जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम् ।
परीक्ष्यसमवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥१३॥

यद्यपि धर्माद्यभिमानिदेवतासन्निधिरत्रापि क्रियते । ताश्च कर्मविभवानुरूपं लिङ्गमभिव्यञ्जयन्तीत्यस्माकं सिद्धान्तः । तथापि परविप्रतिपत्तेरन्यथोच्यते । तेनापि हि विधिना तदेव जयस्य पराजयस्य वा निमित्तमभिव्यक्तं कार्यमुन्मीलयति ।

अदृष्ट कारणों में से किसी का नाश कर प्रकृत परीक्षा का निर्वाह नहीं किया जा सकता, वे तुलारोहण प्रभृति कारणों के समूह निष्पापत्व या पापसहितत्व के 'ज्ञापक' कारण ही हैं, किसी के उत्पादक कारण नहीं हैं । अतः उनसे किसी दृष्ट कारण का अथवा अदृष्ट कारण का 'विनाश' रूा कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता । तुलारोहणादि सामग्री किसी विशेष पाप अथवा पुण्य (अदृष्ट) को उत्पन्न करके भी परीक्षा विधि के उद्देश्य को सफल नहीं बना सकती, क्योंकि यदि उन सामग्रियों से पुण्य रूप अदृष्ट के द्वारा परीक्षा की संपन्नता मानी जाय तो परीक्ष्य पुरुष को सदा विजय ही मिलनी चाहिए । यदि पाप रूप अदृष्ट के उत्पादन के द्वारा तुलारोहणादि सामग्री से परीक्षाविधि की संपन्नता को स्वीकार करें तो परीक्ष्य पुरुष को सदा पराजय ही मिलनी चाहिए । किन्तु ये दोनों ही स्थितियाँ इष्ट नहीं हैं ।

अतः परीक्षाविधि के द्वारा उनके सहायक तुला या तसमाष प्रभृति में किसी शक्ति की उत्पत्ति को स्वीकार करना आवश्यक है ।

सिद्धान्त पक्ष··· ···अत्रोच्यते जयेतरनिमित्तस्य··· ··· ··· ···

इस प्रसङ्ग में हमलोगों का कहना है कि—

जय और पराजय इन दोनों के मूल कारण जो परीक्ष्य पुरुष में समवायसम्बन्ध से कार्योन्मुखता रहनेवाले धर्म और अधर्म हैं, इन दोनों में अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करने के अनुकूल ही 'परीक्षा-विधियों' के द्वारा उत्पन्न होती हैं ।

सि० प० यद्यपि··· ··· ··· ···

यद्यपि इस प्रसङ्ग में भी हम (नैयायिकों) लोगों के मत से प्रतिमावाला वह सिद्धान्त ही लागू होता है । तदनुसार प्रकृत में भी परीक्षाविधि से धर्म के अभिमानी देवगण ही अपने कथित अहंकार के द्वारा तुला के समीप आ जाते हैं, एवं पुण्य और पाप के ज्ञापन के अनुकूल नमन, उन्नमनादि हेतुओं को तुला में उत्पन्न करते हैं ।

किन्तु इस समाधान से पूर्वपक्षवादी मीमांसकों को परितोष नहीं हो सकता (क्योंकि वे देवताओं में चैतन्य को स्वीकार नहीं करते) । अतः इस तुला के प्रसङ्ग में यह दूसरा समाधान कहते हैं कि तुलारोहणादि अनुष्ठानों से भी जय और पराजय के कारणीभूत पहिले के पुण्य और पाप ही अभिव्यक्त हो कर जय और पराजय रूप कार्यों का उत्पादन करते हैं ।

कर्मणश्चाऽभिव्यक्तिस्सहकारिलाभ एव। तच्च सहकारि, 'सोऽहमनेन विधिना **तुलामधिरूढो योऽहं** पापकारी, निष्पापो वा' इति प्रत्यभिज्ञानम् । यदाहुः— **'तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वश्चैवान्तरपूरुषः'।**

[अथवा–प्रतिज्ञाऽनुरूपां विशुद्धिमपेक्ष्य तेन धर्मो जायते। निमित्ततो विधाना-द्विजयफलश्रुतेश्च। अविशुद्धिश्चापेक्ष्याधर्मः। पराजयलक्षणानपेक्षितफलोपदर्शनेन **फलतो निषेधात्।]**

अथ शक्तिनिषेधे किं प्रमाणम्? न किञ्चित्। तत् किमस्त्येव? बाढम्। **न हि नो दर्शने शक्तिपदार्थ एव** नास्ति। कोऽसौ तर्हि? कारणत्वम्। किं तत्?

सहकारिकारणों के साथ सम्बद्ध होना ही पाप और पुण्य रूप कार्यों की अभिव्यक्ति है। 'जो मैंने पाप किया है वही मैं इस तुला के ऊपर चढता हूँ' अथवा 'जो मैं पाप से रहित हूँ, वही मैं तुला के ऊपर चढ़ता हूँ' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान ही उनके सहकारिकारण हैं। जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है कि—"तुलारोही पुरुष की अन्तरात्मा एवं अधिकारी देवतागण उन पापों और पुण्यों को यथार्थ रूप से जानते हैं।"

अथवा (यह भी कहा जा सकता है कि) परीक्ष्य पुरुष जिस प्रकार की प्रतिज्ञा करके तुलारोहणादि में प्रवृत्त होता है, उस प्रकार की प्रतिज्ञा के विषयीभूत पाप का अभाव वस्तुतः यदि उस पुरुष में है, तो फिर उसी पापाभाव रूप सहकारिकारण के साहाय्य से तुलारोहणादि अनुष्ठानों के द्वारा एक स्वतन्त्र पुण्य ही उत्पन्न होता है (जिससे परीक्ष्य पुरुष को विजय प्राप्त होती है)। (तुलारोहणादि क्रियाओं से निष्पापत्व के ज्ञापक एवं स्वतन्त्र पुण्य को स्वीकार करने में ये दो प्रमाण हैं) (१) मिथ्या अभियोग को निमित्त बना कर ही 'जयकामस्तुलामारोहेत' यह विधान किया गया है। विहित क्रिया से धर्म की उत्पत्ति अवश्य होती है। (२) इसी प्रकार तुलारोहणक्रिया से विजय रूप फल की उत्पत्ति शास्त्रों में निर्दिष्ट है (तुलारोहणक्रिया से विजय फल की उत्पत्ति उक्त क्रिया से उत्पन्न मध्यवर्त्ती पुण्य रूप व्यापार के बिना सम्भव नहीं है)। परीक्ष्य पुरुष में वस्तुतः विद्यमान 'अविशुद्धि' (पाप) रूप दूसरे सहकारी को पाकर उस तुलारोहणक्रिया से ही एक स्वतन्त्र अधर्म की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा उक्त तुलारोहण से ही परीक्ष्य पुरुष पराजित होता है। इस दूसरे प्रकार की तुलारोहणक्रिया से पाप की उत्पत्ति के लिये उक्त पाप से उत्पन्न होने वाले पराजय रूप अनिष्ट फल के अनुकूल निषेध वाक्य की कल्पना भी सुलभ है।

पू० प० शक्तिनिषेधे··· ··· ··· ··· ···

(शक्ति पदार्थ को मानने की अनावश्यकता को दिखाने मात्र से 'शक्ति का प्रतिषेध' नहीं किया जा सकता, अर्थात् शक्ति पदार्थ की सत्ता नहीं उठाई जा सकती। उस प्रतिषेध के ज्ञापक स्वतन्त्र प्रमाण का उल्लेख आवश्यक है। अतः पूछा जा सकता है कि) शक्ति पदार्थ को न मानने में कौन सा प्रमाण है?

सि० प० न,·················

कोई भी प्रमाण नहीं है।

पूर्वकालनियतजातीयत्वम्, सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वेति। ततोऽधिकनिषेधे का वार्त्ता? न काचित्। तत्किं विधिरेव? एतदपि नास्ति, प्रमाणाभावात्। सन्देहस्तर्हि? कथमेवं भविष्यति? अनुपलब्धचरत्वात्। विवादस्तर्हि कुत्र?

पू० प० तत् किम्..............

तो फिर मैं क्या यही समझूँ कि आप के मत से भी शक्ति पदार्थ की सत्ता है ही।

सि० प० बाढम्... ... ...

अवश्य ही शक्ति नाम की वस्तु है। ऐसी बात नहीं है कि हम लोगों की दृष्टि में 'शक्ति' पद का कोई अर्थ ही नहीं है।

पू० प० कोऽसौ.................

न्यायशास्त्र के अनुसार 'शक्ति' पद का कौन-सा अर्थ है?

सि० प० कारणत्वम्.................

न्यायशास्त्र में 'कारणत्व' को ही 'शक्ति' कहते हैं।

पू० प०.....................किं तत्.........

'शक्ति' पद का अर्थ यह 'कारणत्व' ही कौन-सा पदार्थ है?

सि० प०......पूर्वकाल...........

कार्य से (अव्यवहित) पूर्व क्षण में नियत रूप से रहने वाले पदार्थं व्यक्ति में विद्यमान जाति से युक्त सभी व्यक्ति उस कार्यजातीय सभी व्यक्तियों के 'कारण' हैं (यह कारणत्व का भावघटित लक्षण है। कारणत्व का अभावघटित लक्षण यह है कि) सहकारियों के बिना जो कार्य का उत्पादन न कर सके वही कारण' है।

पू० प० ततोऽधिक.................

(यदि कारणत्व ही शक्ति है—जिस को हम दोनों ही स्वीकार करते हैं, तो फिर 'कारणत्व' से भिन्न जिस शक्ति पदार्थ का आप खण्डन करते हैं उस में क्या युक्ति है?

सि० प० न काचित्.................

कोई भी युक्ति नहीं है।

पू० प० तत् किम्.................

क्या आप (नैयायिकों) के मत से भी (कारणत्व से भिन्न) 'शक्ति' नाम की वस्तु की सत्ता स्वीकृत ही है?

सि० प० एतदपि...............

ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि उस को मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

पू० प० सन्देह.................

तो क्या शक्ति के अस्तित्व के विषय में आप को संशय है?

सि० प० कथम्.................

शक्ति में अस्तित्व का या अन्य किसी वस्तु का संशय भी कैसे हो सकता है? क्योंकि शक्ति सर्वथा अज्ञात वस्तु है। (प्रमाण के द्वारा निश्चित किसी वस्तु में ही प्रमाणसिद्ध किसी दूसरी वस्तु का संशय भी हो सकता है)

पू० प० विवादः.................

ऐसी स्थिति में हम लोगों के साथ आप का विवाद ही किस विषय में है?

अनुग्राहकत्वसाम्यात् सहकारिष्वपि शक्तिपदप्रयोगात् सहकारिभेदे । तत्रापि दहनादेरनुग्राहकोऽधिकोऽस्त्येव । यः प्रतिबन्धकैरपनीयते इति यदि, तदा न विवदामहे । अस्मदभिप्रेतस्य चाभावादेरनुग्राहकत्वमङ्गीकृत्य निस्साधना मीमांसका अपि न विप्रतिपत्तुमर्हन्ति । ततोऽभावादिरनुग्राहक इत्येके, नेत्यपरे, इति विवाद-काष्ठायां व्युत्पादितमेवैतस्यानुग्राहकत्वम् । किमपरमवशिष्यते यत्र प्रमाणमभिधा-नीयमित्यलमतिविस्तरेण ।

तथापि चेतन एवायं संस्क्रियते, न भूतानीति कुतो निर्णय इति चेत् ? उच्यते—भोक्तॄणां नित्यविभूनां सर्वदेहप्राप्तावविशिष्टायां विशिष्टैरपि भूतैर्निया-

सि० प० अनुग्राहकत्वसाम्यात्..................

(मीमांसकों के मत में भी) वह्नि से दाह रूप कार्य के सम्पादन में साहाय्य करने के नाते ही वह्नि में 'शक्ति' पदार्थ की कल्पना की जाती है। किन्तु दाह कार्य में वह्नि को चन्द्रकान्त मण्यभावादि कुछ अन्यों का भी साहाय्य अपेक्षित होता है। अतः 'जिस प्रकार 'शक्ति' दाह की सहायिका है, उसी प्रकार चन्द्रकान्तमण्यभावादि भी दाह कार्य के सम्पादन में वह्नि के सहायक हैं।" इस सादृश्य के बल से 'चन्द्रकान्तमण्यभावादि' अन्य सहायकों में भी 'शक्ति' पद का गौण प्रयोग हो सकता है। (अतः प्रश्न होता है कि यह 'सहकारित्व' कौन-सी वस्तु है ?) मीमांसक गण यदि उसका यह लक्षण करें कि प्रतिबन्धक के द्वारा जिसका हटना सम्भव हो, वही सहकारिकारण है, तो इस प्रसङ्ग में हमलोग (नैयायिकगण) कोई विवाद नहीं करेंगे। किन्तु इस लक्षण के अनुसार मीमांसकों को (चन्द्रकान्तमणि के) अभाव को भी (दाह का) सहकारिकारण मानना पड़ेगा, क्योंकि वह भी चन्द्रकान्तमणि रूप प्रतिबन्धक के द्वारा अपसृत होता है, किन्तु अभाव को किसी भी प्रकार का कारण मानने पर मीमांसक शक्ति पदार्थ के स्थापन के अपने प्रधान साधन से ही वञ्चित हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में शक्ति-पदार्थ के हम लोगों के खण्डन के विरुद्ध उन लोगों का कुछ भी कहना असङ्गत होगा। फलतः प्रकृत विवाद का पर्यवसान इसी में होता है कि मीमांसक लोग 'अभाव को कारण नहीं मानते' और हम (नैयायिक) लोग 'अभाव को कारण मानते हैं।' इस प्रसङ्ग में हम अपने (अभावकारणत्व) पक्ष का समर्थन (श्लोक १०) में कर चुके हैं। अतः इस प्रसङ्ग में ऐसा कोई भी विषय अवशिष्ट नहीं रह जाता जिसके लिये प्रमाण दिखाना आवश्यक हो। इस प्रसङ्ग में इतना ही यथेष्ट है। इस से अधिक कहना व्यर्थ है।

पू० प० तथापि चेतन एव..................

तथापि यह निश्चय कैसे करते हैं कि यागादि के अनुष्ठानों से चेतन आत्मा में ही संस्कार की उत्पत्ति होती है, शरीरादि भौतिक पदार्थों में नहीं।

सि० प० उच्यते, भोक्तॄणाम् ....

(शरीरादि भौतिक पदार्थ) भोग्य हैं, आत्मा ही भोग करने वाला (भोक्ता) पुरुष है। वह नित्य है, एवं विभु है। अतः सभी भोग्य द्रव्यों के साथ उसका सम्बन्ध सर्वदा बना रहता है। ऐसी स्थिति भौतिक द्रव्यों में यदि यागादि से उत्पन्न अपूर्व को स्वीकार भी करलें, तथापि उस (अपूर्व रूप) संस्कार के बल से भी वे (भौतिक द्रव्य) नियमित भोगों का

मकाभावात् प्रतिनियतभोगासिद्धेः। न हि तच्छरीरं तन्मनस्तानीन्द्रियाणि विशिष्टान्यपि तस्यैवेति नियमः, नियामकाभावात्। तथा च साधारणविग्रहवत्त्व-प्रसङ्गः। न च भूतधर्मं एव कश्चिच्चेतनं प्रत्यसाधारणः, विपर्ययदर्शनात्। द्वित्वादिवदिति चेन्न, तस्यापि शरीरादितुल्यतया पक्षत्वात्। नियतचेतनगुणोप-ग्रहेणैव तस्यापि नियमः, न तु तज्जन्यतामात्रेण, स्वयमविशेषात्।

संपादन नहीं कर सकते। क्योंकि भोग्य द्रव्यों में अपूर्व के मान लेने पर भी किसी ऐसे धर्म की संभावना नहीं है कि जिस से नियमित भोग उत्पन्न हो सके। भोग के साधनीभूत शरीर, मन एवं इन्द्रियों में अदृष्ट की सत्ता मान भी लें, तथापि यह नियम नहीं किया जा सकता कि "अदृष्ट से युक्त वह शरीर, वह मन एवं वे इन्द्रियां उसी आत्मा की हैं," क्योंकि इस नियम का कोई हेतु नहीं है। यदि ऐसा मान भी लें तो शरीर, मन और इन्द्रियां भी (घटादि द्रव्यों के समान) 'साधारण' (अर्थात् अनेक पुरुषों के द्वारा उपभोग्य हो जांयगा)

पू० प० न च भूतधर्मं एव…………………

द्रव्यों में ही कोई ऐसा विलक्षण धर्म स्वीकार कर लेंगे, जिस के रहते उस धर्म का आश्रयीभूत शरीरादि भोग्य द्रव्य साधारण अर्थात् अनेक जनों से उपभोग्य नहीं हो सकेंगे।

सि० प० विपर्यय……………

(ऐसा कहना भी संभव) नहीं है, क्योंकि—घटादि भूतद्रव्यों के रूपादि धर्मों को असाधारण के 'विपरीत' साधारण ही (अनेक पुरुषोपभोग्य ही) देखा जाता है।

पू० प० द्वित्वादिवत्…………………

(अन्य भूत द्रव्यों के रूपादि धर्म 'साधारण' भले ही न हों, किन्तु अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न) द्वित्वादि गुणों को तो 'असाधारण' (अर्थात् उक्त अपेक्षा बुद्धि वाले पुरुष मात्र से ग्राह्य) ही देखा जाता है। अतः भूत द्रव्यों के द्वित्वादि धर्मों के दृष्टान्त से शरीरादि में रहने वाले धर्मों को भी असाधारण मानेंगे।

सि० प० तस्यापि… … … …

जिस प्रकार शरीरादि भोग्य द्रव्यों में साधारण्य की आपत्ति दी गयी है, उसी प्रकार द्वित्वादि गुणों में भी साधारण्य की आपत्ति देना भी अभीष्ट ही है। अतः द्वित्वादि भी (साधारण्यानुमान के) पक्ष के अन्तर्गत ही आते हैं (अतः उनमें व्यभिचार का प्रदर्शन दोषावह नहीं है।)

नियतचेतन… … … …

जिस चेतन (आत्मा) की अपेक्षा बुद्धि से द्वित्वादि गुण उत्पन्न होते हैं, उस चेतन (आत्मा) के द्वारा ही वे गृहीत होते हैं। इस प्रकार का जो उन में 'असाधारण्य' है, उसका प्रयोजक उक्त द्वित्वादि गुणों का भूतद्रव्यों से उत्पन्न होना नहीं है। (घटादि भूत द्रव्यों के) द्वित्वादि गुण तो इस लिये 'असाधारण हैं कि उनमें चेतन आत्मा का असाधारण सम्बन्ध है। वैसे शरीरजन्य द्वित्वादि गुणों में एवं शरीरजनित नीलादि गुणों से कोई भी अन्तर नहीं है।

तथापि तज्जन्यतयैव नियमोपपत्तौ विपक्षे बाधकं किमिति चेत् ? कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गः, शरीरादीनां चेतनधर्मोपग्रहेणैव तद्धर्मजननोपलब्धेः। तद्यथा—इच्छोपग्रहेण प्रयत्नो ज्ञानोपग्रहेणेच्छादयः, तदुपग्रहेण सुखादय इत्यादि। प्रकृतेऽपि चेतनगता एव बुद्ध्यादयो नियामकाः स्युरिति चेन्न, शरीरादेः प्राक् तेषामसत्त्वात्। तथा च निरतिशयाश्चेतनाः, साधारणानि भूतानीति न भुक्तिनियम उपपद्यते ॥ १३ ॥

पू० प० तथापि तज्जन्यतयैव··· ··· ··· ···

भूत द्रव्यों के नीलादि गुणों को अनेक पुरुषों से उपभोग्य (साधारण) मान भी लें, तथापि शरीर के ही 'अपूर्व' रूप गुण को यदि भूत द्रव्य से उत्पन्न होने के कारण ही भोगों के नियम की उपपत्ति मान लें तो इसमें कौन सी बाधा है ?

सि० प० ··· कार्यकारण··· ··· ···

(यही बाधा है कि नियमित भोगों के साथ शरीर का जो) कार्यकारणभाव का सम्बन्ध स्वीकृत है, वह भङ्ग हो जायगा।

शरीरादीनाम्··· ··· ··· ···

क्योंकि शरीरादि भोग्य पदार्थों में प्रतिनियत भोग की कारणता (इच्छादि) चेतन (आत्मा) के गुणों के सहारे ही देखा जाता है। (जैसे) इच्छा के साहाय्य से ही शरीर प्रयत्न को उत्पन्न करता है। एवं ज्ञान के साहाय्य से ही शरीर इच्छा प्रभृति गुणों को भी उत्पन्न करता है। इसी प्रकार इन इच्छादि गुणों के साहाय्य से ही शरीर सुखादि (एवं सुखादि के उपभोग) को उत्पन्न करता है।

पू० प० प्रकृतेऽपि··· ··· ··· ···

जिस प्रकार चेतन (आत्मा) की अपेक्षा बुद्धि रूप गुण से ही द्वित्वादि गुणों के असाधारण्य की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार नियमित भोगों की उत्पत्ति भी चेतन (आत्मा) के (साधारण) बुद्धि प्रभृति गुणों से ही होगी। (इसके लिये आत्मा में 'अपूर्व' नाम के गुण का मानना अनावश्यक है)।

सि० प० न, शरीरादे ··· ··· ··· ···

उक्त कथन संगत नहीं है, क्योंकि शरीर से पहिले आत्मा में बुद्धि प्रभृति गुण नहीं रहते (अतः शरीर परिग्रह से पहिले एक आत्मा से दूसरी आत्मा में किसी अन्तर का होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में) आत्मा में यदि 'अपूर्व' अथवा अतिशय न रहे तो नियमित भोग की उपपत्ति नहीं हो सकती (क्योंकि आत्माओं में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु) चन्दनादिभोग्य विषयों में 'साधारण्य' (अर्थात् अनेक पुरुषों के द्वारा उपभुक्त होने की क्षमता) है ही। ऐसी स्थिति में आत्मा में किसी अतिशय अथवा अपूर्व को माने विना भोगों की नियमित उत्पत्ति नहीं की जा सकती ॥१३॥

एतेन साङ्ख्यमतमपास्तम्। एवं हि तत्—अकारणमकार्यः कूटस्थचैतन्य-स्वरूपः पुरुषः। आदिकारणं प्रकृतिरचेतना परिणामिनी। ततो महदादिसर्गः। न हि चितिरेव विषयबन्धनस्वभावा, अनिर्मोक्षप्रसंगात्। नापि प्रकृतिरेव तदीयस्वभावा, तथापि नित्यत्वेनानिर्मोक्षप्रसङ्गात्। नापि घटादिरेवाऽऽहृत्य तदीयः, दृष्टादृष्टत्वा-

---

एतेन ··· ··· ··· ···

(चेतन आत्मा में अपूर्व न मानने के सिद्धान्त के विपक्ष में जो शरीरादि भोग्य वस्तुओं में 'साधारण्य' की आपत्ति दी गयी है) उसी से सांख्यदर्शन के सिद्धान्त भी खण्डित हो जाते हैं।

(सांख्य मत इस प्रकार है) पुरुष कूटस्थ (जन्य धर्मों के अनाश्रय) है और चैतन्य स्वरूप है। अतः उससे न किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न वह स्वयं किसी से उत्पन्न हो सकता है। किन्तु जड (अचेतन) स्वभावा प्रकृति ही अपनी परिणामशीलता के कारण सभी कार्यों का मूल कारण है। उसी के द्वारा महत्तत्त्वादि की क्रम से सृष्टि होती है।

न हि चितिरेव··· ··· ··· ···

(पुरुष रूप) चिति शक्ति अपने विषयबन्धन (अविद्यासम्बन्ध) के कारण (जगत् का आदि कारण है। अचेतना प्रकृति को जगत् का कारण मानने की आवश्यकता नहीं है)। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर (जिस लिये कि चेतनस्वभाव का पुरुष या ब्रह्म नित्य हैं, अतः उनका स्वभाव भी नित्य ही होगा, चाहे वह विषय बन्धन स्वरूप हो अथवा अविद्यासम्बन्ध रूप हो)। जिस से मोक्ष ही असंभव हो जायगा।

नापि प्रकृतिरेव··· ··· ··· ···

(तथापि बन्धन रूप स्वभाव से युक्त प्रकृति से साक्षात् ही दृश्य जगत् की उत्पत्ति क्यों न मान ली जाय, महदादिक्रम से सृष्टि मानने की कौन सी आवश्यकता है ?)। किन्तु यह भी संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भी मोक्ष की प्राप्ति असंभव हो जायगी। क्योंकि प्रकृति जिस लिये कि नित्य है, अतः उसका बन्धनस्वभाव भी नित्य ही होगा। नित्यबन्ध का नाश नहीं हो सकता।

नापि घटादिरेव··· ··· ··· ···

यदि घटादि अनित्य विषयों का ही यह स्वभाव स्वीकार करें कि वे प्रकृति या पुरुष के साथ सम्बद्ध रहें। प्रकृति अथवा पुरुष के साथ सम्बन्ध रूप यह स्वभाव जिस लिये घटादि अनित्य विषयों का है, अतः यह 'स्वभाव' भी अनित्य ही होगा। उसका उच्छेद असंभव नहीं है, अतः इस पक्ष में अनिर्मोक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर पदार्थों के जो दृष्ट और अदृष्ट ये दो भेद अनुभवों से सिद्ध हैं, उनकी अनुपपत्ति हो जायगी (अर्थात् संसार के सभी पदार्थ अतीन्द्रिय ही होंगे अथवा इन्द्रियवेद्य ही होंगे, क्योंकि सभी पदार्थों में प्रकृति का सम्बन्ध समान है)।

नुपपत्तः । नापीन्द्रियमात्रप्रणाडिकया, व्यासङ्गायोगात् । नापीन्द्रियमनोद्वारा, स्वप्नदशायां वराहव्याघ्राद्यभिमानिनो नरस्यापि नरत्वेनात्मोपधानायोगात् । नाप्यहङ्कारपर्यन्तव्यापारेण, सुषुप्त्यवस्थायां तद्व्यापारविरमेऽपि श्वासप्रयत्न-सन्तानावस्थानात् । तद् यदेतास्ववस्थासु सव्यापारमेकमनुवर्तते, यदाश्रया

नापीन्द्रियमात्र··· ··· ··· ···

(प्रकृति से घटादि विषयों के अतिरिक्त केवल चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों की सृष्टि मानेंगे, किन्तु प्रकृति से बुद्धि अहंकारादि पदार्थों की उत्पत्ति न मानेंगे, अतः) जिन विषयों के साथ इन्द्रियों के द्वारा प्रकृति सम्बद्ध होगी, उन पदार्थों को 'दृष्ट' मानेंगे। जिन विषयों के साथ अपने सम्बन्ध के लिये प्रकृति को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होगी, उन विषयों को ('अदृष्ट' मानेंगे। इस प्रकार पदार्थों के दृष्ट और अदृष्ट ये दोनों भेद उत्पन्न हो सकते हैं) ।

किन्तु कह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही यदि प्रकृति का सम्बन्ध विषयों के साथ मानें, मध्यवर्त्ती रूप में मन रूप इन्द्रिय को स्वीकार न करें तो 'व्यासङ्ग' की अनुपपत्ति होगी (अर्थात् किसी ज्ञान की उत्पत्ति शीघ्र होती है और किसी ज्ञान की उत्पत्ति देर से ही है, इसकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः मध्यवर्त्ती मन की सत्ता भी माननी होगी। इसकी उत्पत्ति भी प्रकृति से ही होगी) ।

नापीन्द्रियमनोद्वारा··· ··· ··· ···

तथापि (अहंकार को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि) बाह्य इन्द्रिय और मन रूप अन्तरिन्द्रिय इन्हीं दोनों के द्वारा प्रकृति का सम्बन्ध विषयों के साथ स्वीकार करेंगे।

किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है। (क्योंकि ऐसा मानने पर स्वप्नावस्था में जिस मनुष्य को 'वराहोऽहम्, व्याघ्रोऽहम्' इत्यादि प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं, उस समय उस मनुष्य को 'नरोऽहम्' इस आकार की प्रतीति नहीं होती है। वह होने लगेगी।

नाप्यहंकारपर्यन्त··· ··· ··· ···

तथापि इन्द्रिय, मन और अहंकार इन्हीं सबों के द्वारा प्रकृति का सम्बन्ध विषयों के साथ स्वीकार करेंगे। (मध्य में बुद्धितत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है) ।

किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, मन और अहंकार इन तीनों के ही व्यापार नहीं चलते। फिर भी श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं। इनके लिये प्रयत्नों का चलते रहना आवश्यक है। इन प्रयत्नों के लिये 'बुद्धितत्त्व' को स्वीकार करना होगा। जिससे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में व्यापार चलते रहें। एवं अनुभव से उत्पन्न वासना (संस्कार) के रूप में भी बुद्धितत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। इस बुद्धितत्त्व के विषयीभूत पदार्थों के साथ ही पुरुष का सम्बन्ध होता है। (अर्थात् बुद्धितत्त्व के द्वारा ही पुरुष का सम्बन्ध विषयों के साथ होता है।

चानुभववासना, तदन्तःकरणमुपारूढोऽर्थः पुरुषस्योपधानीभवति। भेदाग्रहाच्च निष्क्रियेऽपि तस्मिन् पुरुषे कर्तृत्वाभिमानः, तस्मिन्नचेतनेऽपि चेतनाभिमानः, तत्रैव कर्मवासना।

पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः। आलोचनं व्यापार इन्द्रियाणाम्, विकल्पस्तु मनसः, अभिमानोऽहङ्कारस्य, कृत्यध्यवसायो बुद्धेः। सा हि बुद्धिरंशत्रयवती। पुरुषोपरागो विषयोपरागो व्यापारावेशश्चेत्यंशाः। भवति हि 'मयेदं कर्तव्यम्' इति। तत्र मयेति चेतनोपरागो दर्पणस्येव मुखोपरागो भेदाग्रहादतात्त्विकः। इदमिति विषयोपराग इन्द्रियप्रणाडिकया परिणतिभेदो दर्पणस्येव निःश्वासाभिहतस्य मलिनिमा पारमार्थिकः। एतदुभयायत्तो व्यापारावेशोऽपि। तत्रैवंरूपव्यापारलक्षणाया बुद्धेर्विषयोपरागलक्षणं ज्ञानम्। तेन सह यः पुरुषोपरागस्यातात्त्विकस्य सम्बन्धो दर्पणप्रतिबिम्बितस्य मुखस्येव मलिनिमा, सोपलब्धिरिति।

तदेवमष्टावपि धर्मादयो भावा बुद्धेरेव, तत्सामानाधिकरण्येनाध्यवसीयमान-

---

भेदाग्रहाच्च··· ··· ··· ···

(क्रियादि से युक्त अन्तःकरण और पुरुष इन दोनों में जो वास्तविक भेद है, उस) भेद के अज्ञान से ही क्रिया से सर्वथा रहित पुरुषों में कर्त्तृत्व का अभिमान होता है। यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न (धर्माधर्म रूप) वासना भी वस्तुतः अन्तःकरण में ही रहती है।

पुरुष तो कमल के पत्ते के समान निर्लेप अर्थात् विषयों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित है। इनमें आलोचन (निर्विकल्पक ज्ञान) इन्द्रियों का व्यापार है। विकल्प (संशय) मन का धर्म है। अभिमान अहंकारतत्त्व का विषय है। कृति, अध्यवसाय (निश्चयात्मकज्ञान) प्रभृति सीधे बुद्धि के परिणाम हैं। इस (कृत्यादिधर्मिणी) बुद्धि के (१) पुरुषोपराग, (२) विषयोपराग और (३) व्यापारवेश ये तीन अंश हैं। बुद्धि 'मयेदं कर्त्तव्यम्' (मुझे यह करना चाहिये) इस आकार की है। इन में 'मया' वाला अंश 'चेतनोपराग' या पुरुषोपराग है। यह पुरुषोपराग पुरुष और बुद्धि इन दोनों में जो वास्तविक भेद है, उसके अज्ञान से उत्पन्न होता है। अतः दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान अवास्तविक (अतात्त्विक) है। कथित अध्यवसाय में जो 'इदम्' वाला अंश है, वही 'विषयोपराग' रूप दूसरा अंश है। बुद्धितत्त्व का चक्षुरादि इन्द्रियों के रास्ते निकल कर घटादि विषयों के आकार में जो परिणति होती है, वही वास्तव में 'विषयोपराग' है। यह दर्पण में ही निःश्वास के अभिघात से उत्पन्न मालिन्य के समान ही तात्त्विक पदार्थ है। कथित चेतनोपराग और विषयोपराग इन दोनों ही से 'बुद्धि' में 'व्यापारावेश' उत्पन्न होता है। यह व्यापारावेश भी विषयोपराग के ही समान तात्त्विक ही है। इन तीनों ही प्रकार के उपरागों से युक्त अन्तःकरण का जो 'विषयोपराग' वाला अंश है, वही (सांख्यदर्शन में) 'ज्ञान' शब्द से अभिहित होता है। प्रतिबिम्बित मुख से जिस प्रकार दर्पण में अवास्तव मलिनता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विषयोपरक्त अन्तःकरण में जो पुरुष का उपराग रूप अतात्त्विक सम्बन्ध है, वही (सांख्यदर्शन में) 'उपलब्धि' शब्द

त्वात्। न च बुद्धिरेव स्वभावतश्चेतनेति युक्तम्, परिणामित्वात्। पुरुषस्य तु कूटस्थनित्यत्वादिति। तदेतदपि प्रागेव निरस्तम्। तथा हि—

कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः।
अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः ॥१४॥

कृतिसामानाधिकरण्यव्यस्थितास्तावद्धर्मादयो नियामका इति व्यवस्थितम्। चेतनोऽपि कर्त्तैव, कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्येनानुभवात्। नायं भ्रमः, बाधकाभावात्। परिणामित्वाद् घटवदिति बाधकमिति चेन्न, कर्त्तृत्वेऽपि समान-

---

से व्यवहृत होता है। इसी प्रकार (धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य ऐश्वर्य और अनैश्वर्य ये) आठ प्रकार के 'भाव' भी अन्तःकरण के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। क्योंकि अन्तःकरण में ही अभेद सम्बन्ध से धर्मादि की प्रतीति ('धार्मिकोऽहम्' इत्यादि आकार की) होती है। यह कहना तो संभव ही नहीं है कि बुद्धि में चैतन्य की वास्तविक सत्ता है, क्योंकि बुद्धि परिणामशील वस्तु है। अतः चैतन्य पुरुष का ही धर्म है, क्योंकि उस में एक भी अनित्य धर्म नहीं है।

स्या० सि० तदेतत्............

सांख्य दर्शन का यह सिद्धान्त यद्यपि 'प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेः' इस सन्दर्भ की व्याख्या के द्वारा पहिले ही खण्डित हो चुका है, तथापि (और भी विस्तृत रूप से 'कर्तृधर्मानियन्तारः' इस श्लोक द्वारा खण्डन करते हैं)।

कर्तृधर्मा नियन्तारः

हम प्रमाणानुयायियों के मत से (देवदत्तादि) कर्त्ताओं में रहने वाले धर्म ही "देवदत्तादि कर्त्ताओं के द्वारा अनुष्ठित यागादि का फल देवदत्तादि कर्त्ताओं को ही मिले" इत्यादि नियमों के प्रयोजक हो सकते हैं। एवं चेतन ही कर्त्ता हो सकता है। 'अन्यथा' अर्थात् यदि इन दोनों बातों को स्वीकार न करें तो फिर न कभी अपवर्ग ही प्राप्त हो सकेगा। अथवा न कभी संसार ही प्राप्त हो सकेगा।

कृतिसामानाधिकरण्य............

(यह सिद्ध किया जा चुका है कि) कृति (प्रयत्न) के साथ नियमतः एक आश्रय में रहनेवाले धर्मादि ही (नियमित एवं सम्यक् भोग के) नियामक हैं। (एवं यह भी सिद्ध ही है कि) कर्त्ता चेतन ही हो। क्योंकि 'चेतनोऽहं करोमि' इस आकार के ज्ञान से कृति और चैतन्य ये दोनों ही एक (अहम् पद के) अर्थ रूप अधिकरण में ही प्रतीत होते हैं।

नायम्.........

यह कहना भी संभव नहीं है कि 'चेतनोऽहं करोमि' यह ज्ञान भ्रम रूप है। (अतः इससे केवल कर्त्ता में ही चैतन्य की सिद्धि नहीं की जा सकती), क्योंकि इस ज्ञान का किसी दूसरे ज्ञान से बाध नहीं होता है।

त्वात् । तथा च कृतिरपि भाविकी महतो न स्यात् । दृष्टत्वादयमदोष इति चेत्, तुल्यम् । अचेतनकार्यत्वं बाधकम्, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः । न हि कर्त्तुः कार्यत्वे प्रमाणमस्ति, प्रत्युत 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या० ३-१-२५)

पू० प० परिणामित्वात्............

चेतन पदार्थ कभी परिणामशील नहीं हो सकता, एवं परिणामशील पदार्थ ही कर्त्ता होता है (इन दोनों नियमों से यह अनुमान होता है कि) 'कर्त्ता अचेतनः परिणामित्वात् कपालादिवत्', यह अनुमान ही 'चेतनोऽहं करोमि' इस ज्ञान का बाधक होगा ।

सि० प० न, कर्त्तृत्वेऽपि...........

यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि कपालादि दृष्टान्तों के द्वारा जिस प्रकार परिणामित्व हेतु कर्त्ता में अचैतन्य का साधन कर सकता है, उसी प्रकार कपालादि दृष्टान्तों से ही वही परिणामित्व हेतु परिणामशील वस्तुओं में अकर्तृत्व का भी साधन कर सकता है (अर्थात् जिस प्रकार परिणामी होने के कारण कपालादि किसी कार्य के कर्त्ता नहीं हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण भी परिणामशील होने के कारण किसी का कर्त्ता नहीं हो सकता, 'अर्थात् अन्तःकरणं कृतिशून्यं परिणामित्वात् कपालवत्' यह विरोधी अनुमान भी हो सकता है) । इस प्रकार सांख्यविद्गण जो अन्तःकरण में भाविकी' अर्थात् स्वाभाविकी कृति मानते हैं, वह संभव न हो सकेगा ।

पू० प० दृष्टत्वात्............

'अहं करोमि' इस आकार के प्रत्यक्ष से ही अन्तःकरण में कृति सिद्ध है, अतः प्रत्यक्ष से दुर्बल होने के कारण (उक्त) अनुमान से अन्तःकरण में कर्तृत्व बाधित नहीं हो सकता ।

सि० प० तुल्यम्............

(यह तो कर्त्ता में ही चैतन्य मानने के प्रसङ्ग में भी) समान रूप से कहा जा सकता है कि 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रत्यक्ष से जिस लिये कि चेतन में कर्तृत्व सिद्ध है, अतः (कर्त्ता अचेतनः परिणामित्वात्' इस अनुमान के द्वारा चेतन में कर्तृत्व का बाध नहीं हो सकता) ।

पू० प० अचेतनकार्यत्वम्............

'कार्य अपने उपादान कारणों से अभिन्न ही होते हैं' इस नियम के अनुसार अन्तःकरण भी अचेतन ही होगा, क्योंकि अचेतना प्रकृति ही उसका उपादान कारण है । अतः अन्तःकरण को चेतन मानने में 'अन्तःकरणमचेतनम् अचेतनकार्यत्वात्, घटादिवत्' यह अनुमान ही बाधक होगा ।

सि० प० न, असिद्धेः............

कथित समाधान ठीक नहीं है, १-क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि 'कर्त्ता किसी से उत्पन्न ही हो' (इसमें केवल प्रमाणों का अभाव ही नहीं है, किन्तु) कर्त्ता को नित्य मानने में विशेष प्रमाण भी है, जिसका उल्लेख 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या०सू०अ०३, आ० १ सू० २५) इस सूत्र में किया गया है । २-दूसरी बात यह भी है कि 'कार्य में जितने भी

इति न्यायादनादितैव सिद्धयति। यद्यच्च कार्ये रूपं दृश्यते तस्य तस्य कारणात्मकत्वे रागादयोऽपि प्रकृतौ स्वीकर्तव्याः स्युः। तथा च सैव बुद्धिर्न प्रकृतिः, भावाष्टकसंपन्नत्वात्। स्थूलतामपहाय सूक्ष्मतया ते तत्र सन्तीति चेत्, चैतन्यमपि तथा भविष्यति। तथाप्यसिद्धो हेतुः। तथा सति घटादीनामपि चैतन्यप्रसङ्गस्तादात्म्यादिति चेत्, रागादिमत्त्वप्रसङ्गोऽपि दुर्वारः। सौक्ष्म्यञ्च समानमिति। तस्मात्, यज्जातीयात्कारणाद्यज्जातीयं कार्यं दृश्यते, तथा भूतात्तथाभूतमात्रमनुमातव्यम्, न तु यावद्धर्मकं कारणं तावद्धर्मकं कार्यम्, व्यभिचारादिति किमनेनाप्रस्तुतेन।

धर्म देखे जांय, वे सभी उपादान कारणों में 'रहें ही' यह नियम स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्तःकरण में रागादि जितने भी धर्म स्वीकृत हैं, उन सबों की सत्ता प्रकृति में भी माननी होगी, क्योंकि वह अन्तःकरण का उपादान कारण है। ऐसा होने पर प्रकृति 'प्रधान' न होकर 'बुद्धि' ही हो जायगी, क्योंकि 'धर्मादि अष्टविध भावों से युक्त को ही आप (सांख्यविद् गण) अन्तःकरण' कहते हैं।

पू० प० स्थूलताम्·········

(बुद्धि में स्थूल धर्मादि भावों की सत्ता रहती है) प्रकृति में धर्मादि भावों के सूक्ष्म रूप ही रहते हैं। अतः प्रकृति बुद्धि नहीं कहला सकती, क्योंकि स्थूल धर्मादि अष्टविध भाव ही बुद्धि के लक्षण हैं।

सि० प० चैतन्यमपि··· ··· ··· ···

इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि सूक्ष्म चैतन्य प्रकृति में भी है। (अतः बुद्धि में अचेतनकार्यत्व हेतु के न रहने से 'अन्तःकरणमचेतनं चेतनकार्यत्वात्' इस अनुमान का हेतु स्वरूपासिद्ध होगा)।

पू० प० तथा सति··· ··· ··· ···

यदि ऐसा मानें तो घटादि (उभय सिद्ध) जड पदार्थों को भी चेतन मानना पड़ेगा, क्योंकि चैतन्य से युक्त अन्तःकरण के साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध है।

सि० प० रागादिमत्त्व··· ··· ··· ···

यदि घटादि पदार्थों को अन्तःकरण से अभिन्न मानें तो उन में भी रागादि की सत्ता माननी ही होगी। जिस प्रकार प्रकृति में सूक्ष्म चैतन्य है, उसी प्रकार धर्मादि अष्टविध भावों के भी सूक्ष्म रूप प्रकृति में हैं ही। अतः यही अनुमान करना चाहिये कि 'जिस प्रकार के कारणों से जिस प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं, उस जाति के अन्य कारणों से भी उसी जाति के अन्य कार्य भी उपलब्ध होंगे। इस से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि कारणों में जितने भी धर्म रहें, वे सभी कार्यों में भी अवश्य रहें, क्योंकि यह नियम 'व्यभिचरित' है। अर्थात् कार्यों में कारणों के सभी धर्म उपलब्ध नहीं होते, एवं कारणों में न रहने वाले धर्मों की उपलब्धि भी कार्यों में होती है। प्रकृत विचार से असम्बद्ध इस विषय का आगे विस्तार व्यर्थ है।

यदि च बुद्धिनित्या, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पुंसः सर्वदा सोपाधित्वे स्वरूपेणानवस्थानात्। अथ विलीयते, ततो नाऽनादेर्विलय इत्यादिमत्त्वे तदनुत्पत्तिदशायां को नियन्ता? प्रकृतेः साधारण्यात्, तथा चासंसारः। पूर्वपूर्वबुद्धिवासनानुवृत्तेः साधारण्येऽप्यसाधारणीति चेत्, बुद्धिनिवृत्तावपि तद्धर्मवासनानुवृत्तिरित्यपदर्शनम्। सौक्ष्म्यान्न दोष इति चेत्, मुक्तावपि पुनः प्रवृत्तिप्रसंगः।

यदि च बुद्धिः··· ··· ··· ···

एवं (बुद्धि नित्य है ? अथवा अनित्य ? इस विकल्प का यह प्रथम पक्ष मानें कि) 'बुद्धि नित्य है' तो पुरुष कभी मुक्त ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि पुरुष (अपनी बुद्धि रूप उपाधि के नित्य होने के कारण) सर्वदा उपाधि से युक्त हो रहेगा। कभी अपने स्वरूप में आवेगा ही नहीं। (मुक्ति के लिये पुरुष को उपाधि से मुक्त होना आवश्यक है)। बुद्धि को विलयनशील (अर्थात् अनित्य) मानें तो बुद्धि की 'आदि' को भी मानना ही होगा, क्योंकि अनादि (भाव) पदार्थों का नाश नहीं होता। बुद्धि को यदि 'सादि' मान लेते हैं, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बुद्धि की उत्पत्ति से पहिले बन्ध और मोक्ष इन दोनों का नियामक कौन था ? नित्य एवं मूलभूता प्रकृति से यह नियमन का कार्य हो नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति का सभी पुरुषों के साथ 'साधारण' (समान) सम्बन्ध है। अतः प्रकृति के सम्बन्ध से कौन पुरुष बद्ध है ? एवं कौन पुरुष मुक्त है ? इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। अतः (बुद्धि को नित्य मानने के पक्ष में) पुरुष को कभी संसार ही प्राप्त नहीं होगा।

पू० प० पूर्वपूर्वबुद्धि··· ··· ··· ···

यद्यपि केवल प्रकृति का सम्बन्ध सभी पुरुष के साथ समान है, किन्तु पूर्व पूर्व बुद्धियों की वासनाओं की अनुवृत्ति के कारण किसी पुरुष विशेष के साथ प्रकृति का विशेष सम्बन्ध भी हो सकता है।

सि० प० बुद्धिनिवृत्तौ··· ··· ··· ···

यह मानने योग्य नहीं है कि बुद्धि तो स्वयं विनष्ट हो जाय और उसमें रहनेवाली वासनायें बनी रहें, एवं बुद्धि से सर्वथा असम्बद्ध इन वासनाओं की अनुवृत्ति प्रकृति में बनी रहे।

पू० प० सौक्ष्म्यात्··· ··· ··· ···

बुद्धि स्वयं भी सूक्ष्म रूप से रहती ही है, अतः उसकी वासनाओं की सत्ता एवं इन वासनाओं की प्रकृति में अनुवृत्ति को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० मुक्तावपि··· ··· ··· ···

यदि ऐसा मानें तो मुक्त हो जाने के बाद पुनः उसी पुरुष को बन्ध की प्राप्ति (संसार) माननी होगी, क्योंकि उस समय भी उस पुरुष की बुद्धि रूप उपाधि प्रकृति में सूक्ष्म रूप से है ही।

निरधिकारत्वान्नैवमिति चेत्, तर्हि साधिकारा प्रसुप्तस्वभावा बुद्धिरेव, प्रकृतिरस्तु, कृतमन्तरा प्रकृत्यहङ्कारमनःशब्दानामर्थान्तरकल्पनया। सैव हि तत्तद्व्यवहारगोचरा तेन तेन शब्देन व्यपदिश्यते, शारीरवायुवदित्यागमोऽपि संगच्छत इत्यतोऽपि हेतुरसिद्धः। अधिकारनिवृत्या बुद्धेरप्रवृत्तिरपवर्गः, वासनायोगश्चाधिकारः, ततः संसारः।

पू० प० निरधिकारत्वात्··· ··· ··· ···

जिस पुरुष को एक बार मोक्ष मिल जाता है, उस पुरुष के लिये पुनः संसार के निर्माण का 'अधिकार' प्रकृति को नहीं रहता है, क्योंकि पुरुष की बुद्धि में रहनेवाली वासनाओं की अनुवृत्ति ही प्रकृति के उक्त 'अधिकार' को प्रयोजिका है। अतः अधिकार के न रहने से (मुक्त पुरुष को) पुनः संसार की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

सि० प० तर्हि··· ··· ··· ···

यदि बुद्धि में रहनेवाली वासनाओं के सम्बन्ध से ही प्रकृति में सृष्टि को क्षमता आती है, तो प्रकृति, मन, अहंकार प्रभृति अनेक अर्थों की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। केवल बुद्धि को ही संसार का मूल कारण मान लें, एवं बुद्धि की (१) साधिकारा और (२) प्रसुप्त स्वभावा ये अवस्थायें मान ली जांय। (जिस से वासनाओं की अनुवृत्ति के समय संसार की उत्पत्ति होगी एवं वासनाओं के न रहने से संसार की उत्पत्ति नहीं होगी)।

सैव हि··· ··· ··· ···

(प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व के ज्ञापक) 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के (एवं अहंकार के पृथक् अस्तित्व के ज्ञापक) 'अहंकार इतीयं मे' इत्यादि स्मृति वचनों के विरोध की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार एक ही प्राणवायु स्थान भेद से प्राणापानादि अनेक नामों से अभिहित होता है, एवं उससे प्राणवायु के एकत्व में कोई बाधा नहीं आती है, उसी प्रकार एक ही बुद्धि अवस्थाओं के भेद से कभी प्रकृति कहलायेगी एवं कभी मन अहङ्कारादि नामों से अभिहित होगी। एवं इस से उक्त शास्त्र वचनों का भी कोई विरोध उपस्थित नहीं होगा। इस प्रकार के उपपादन से यह सिद्ध हो जाता है कि बुद्धि अचेतना प्रकृति से उत्पन्न नहीं होती है। अतः 'बुद्धिरचेतना, अचेतनकार्यत्वात्' इस अनुमान का हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है (क्योंकि बुद्धि रूप पक्ष में अचेतनकार्यत्व रूप हेतु सिद्ध नहीं है)। (केवल बुद्धि को ही स्वीकार कर लेने पर प्रकृति, मन, अहंकार को स्वीकार न करने पर भी) संसार और अपवर्ग दोनों की उचित व्यवस्था इस प्रकार हो जायगी कि उक्त वासनानुवृत्ति रूप अधिकार के न रहने पर बुद्धि का संसारोत्पादन में अप्रवृत्ति से अपवर्ग होगा। एवं उक्त अधिकार के रहने पर बुद्धि की प्रवृत्ति से ही संसार होगा।

धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदे च कौटस्थ्याविरोधः। भेदश्च विरुद्धधर्माध्यासलक्षणो घटपटादिवत् प्रत्यक्षसिद्धः। न च सामानाधिकरण्यादभेदोऽपि, तद्धि समानशब्दवाच्यत्वम्, एकज्ञानगोचरत्वम्, एकाधिकरणत्वम्, आधाराधेयभावः, विशेष्यत्वं, सम्बन्धमात्रं वा, भेद एव भेदेऽपि चोपपद्यमानं नाभेदं स्पृशतीति सर्वमवदातम् ॥१४॥

स्यादेतत्। नित्यविभुभोक्तृभावे सर्वमेतदेवं स्यात्। स एव कुतः? भूतानामेव चेतनत्वात्। कायाकारपरिणतानि भूतानि तथा, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां

सि० प० धर्मधर्मिणोः··· ··· ··· ··

(बुद्धि को चेतन मानने में सांख्य के आचार्यगण 'कूटस्थो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुति के विरोध का उद्भावन करते हैं, क्योंकि जो किसी भी अनित्य धर्म का आश्रय न हो उसी को कूटस्थ कहते हैं। चूँकि बुद्धि में तो उत्पत्तिविनाशशील ज्ञानादि धर्म रहते हैं, अतः बुद्धि 'कूटस्थ' नहीं है, अतः चेतन भी नहीं है)। कौटस्थ्य के इस विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि धर्म और धर्मी को अत्यन्त भिन्न मान लें। क्योंकि धर्म और धर्मी का भेद घट और पट के भेद के समान ही प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

पू० प० न च··· ··· ··· ···

(प्रत्यक्ष के द्वारा धर्म और धर्मी में जिस प्रकार भेद सिद्ध है, उसी प्रकार 'नीलो घटः' 'नीलः पटः' इत्यादि अभेदविषयक प्रत्यक्ष प्रतीतियों से धर्म और धर्मी इन दोनों में अभेद की भी सिद्धि की जा सकती है।

सि० प० तद्धि··· ··· ··· ···

उक्त 'सामानाधिकरण्य' अथवा अभेद की प्रतीति से धर्म और धर्मी में अभेद की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि कथित सामानाधिकरण्य के (१) समानशब्दवाच्यत्व, (२) एकज्ञानविषयत्व, (३) एकाधिकरणत्व, (४) आधारआधेयभाव, (५) विशेष्यत्व अथवा (६) केवल सम्बन्ध, ये छ प्रकार के अर्थ ही हो सकते हैं। इन में प्रथम, द्वितीय और षष्ठ प्रकार के तीन सामानाधिकरण्य तो परस्पर भिन्न एवं परस्पर अभिन्न दोनों ही प्रकार के वस्तुओं में उपपन्न हो सकते हैं। अवशिष्ट तीन प्रकार के समानाधिकरण सम्बन्ध तो परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में ही हो सकते हैं। अतः उक्त सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से इसके प्रतियोगी और अनुयोगी इन दोनों में अभेद की उपपत्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार इस प्रसङ्ग की सभी बातें स्वच्छ कर दी गयी हैं ॥१४॥

पू० प० स्यादेत् नित्यविभु ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में भूतचैतन्यवादी चार्वाक कहते हैं कि) ये सभी बातें तभी ठीक हो सकती हैं, जब कि यह सिद्ध हो कि 'भोक्ता' पुरुष 'नित्य' और 'विभु' है। किन्तु यही तो अभी सिद्ध नहीं है, क्योंकि शरीर रूप में परिणत पृथिव्यादि पञ्चभूतों में ही चैतन्य मान कर (नियमित भोगादि) सभी कार्य हो सकते हैं। अन्वय और व्यतिरेक से भी यह सिद्ध होता है

तथोपलब्धेः। कर्मज्ञानवासने तु सर्वत्र प्रतिभूतनियते अनुवर्तिष्येते, यतो भोगप्रतिसन्धाननियम इति चेत्; उच्यते—

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ ५ ॥

न हि भूतानां समुदायपर्यवसितं चैतन्यम्, प्रतिदिनं तस्यान्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूतस्यास्मरणप्रसंगात्। नापि प्रत्येकपर्यवसितम्, करचरणाद्यवयवापाये तदनुभूतस्य स्मरणायोगात्। नापि मृगमदवासनेव वस्त्रादिषु संसर्गादन्यवासनाऽन्यत्र

(कि शरीर चैतन्य का कारण है); कर्म से उत्पन्न (धर्म एवं अधर्म रूप) वासनायें भी उसी शरीर में स्वीकार करेंगे, जिन वासनाओं से जिस शरीर की उत्पत्ति होगी। एवं ज्ञान की वासनायें (भावनाख्य संस्कार) भी उसी शरीर में रहेंगी, जिस शरीर के द्वारा उन वासनाओं के मूल अनुभवों की उत्पत्ति होगी। ऐसा स्वीकार कर लेने से ही नियमित भोग और नियमित स्मृति की उपपत्ति हो जायगी।

सि० प० उच्यते, नान्यदृष्टम् ... ...

इस आक्षेप के उत्तर में हम (नैयायिक) कहते हैं कि :—

जिस लिये कि एक पुरुष के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण दूसरे पुरुष को नहीं होता। (एवं जिन शरीरादि मूलद्रव्यों में से किसी को हम व्यवहार में आपाततः एक समझते हैं, वे भी) 'एक' नहीं हैं, (क्योंकि प्रति तीसरे क्षण में उनका विनाश एवं दूसरे तत्सदृश अवयवी की उत्पत्ति से होती रहती है)। अतः शरीर में ही चैतन्य (ज्ञान) को मान लेने से देवदत्त के द्वारा अनुभूत विषयों का स्मरण देवदत्त को भी न रह सकेगा। (जिस लिये कि वासनायें द्रव्य नहीं हैं, अतः एक क्षण में एक शरीर में रहनेवाली वासनाओं का सीमित 'संक्रमण' दूसरे क्षण में उत्पन्न दूसरे शरीरों में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिससे (स्मृति की उपपत्ति हो सके)। अतः चैतन्य के आश्रय को 'स्थिर' नित्य माने बिना दूसरी गति नहीं है।

सि० प० न हि भूतानाम् ... ...

(१) जिस भौतिक द्रव्य (अवयवी) का उत्पादन जितने अवयवों से होता है; उन सभी अवयवों में चैतन्य की पर्याप्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अवयवों का वह समुदाय प्रतिदिन बदलता रहता है। अतः उक्त पक्ष को स्वीकार करने पर एक दिन में अनुभूत विषयों का स्मरण दूसरे ही दिन न हो सकेगा।

पू० प० नापि प्रत्येक ... ...

अवयवी के निष्पादक जितने भी अवयव हैं, उनमें से प्रत्येक अवयव में यदि चैतन्य मानेंगे तो हाथ पैर प्रभृति किसी एक अवयव के विनष्ट हो जाने पर उस अवयव के द्वारा विषयों का स्मरण कभी नहीं हो सकेगा।

पू० प० नापि मृगमद ... ...

कस्तूरी के साथ साक्षात् सम्बन्ध के न रहने पर भी कस्तूरी के साथ संश्लिष्ट वस्त्र के साथ संपृक्त दूसरे वस्त्र में भी कस्तूरी के सुगन्धि की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार अवयवों के

सङ्क्रामति, मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन भ्रूणेन स्मरणप्रसंगात्। न चोपादानोपादेय-भावनियमो गतिः। स्थिरपक्षे परमाणूनां तदभावात्। खण्डावयविनं प्रति च विच्छिन्नानामनुपादानत्वात्। पूर्वसिद्धस्य चावयविनो विनाशात्।

अस्तु तर्हि क्षणभंगः। न चातिशयोऽप्यतिरिच्यते, किन्तु सादृश्यतिरस्कृत्वाद् द्रागेव न विकल्प्यते, कार्यदर्शनादध्यवसीयते, अन्त्यातिशयवत्। तथा च भूतान्येव

एक समुदाय के द्वारा एक अवयव के अनुभव से उत्पन्न संस्कार का संक्रमण (उक्त समुदाय के या उक्त एक अवयव के विनष्ट हो जाने पर भी) स्थापनापन्न दूसरे अवयवसमुदाय में अथवा अवयव में होता है, अतः स्मृति की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

सि० प० मात्रानुभूतस्य ··· ··· ··· ···

यदि इस प्रकार वासना (संस्कार) का संक्रमण (गति) मानें तो माता के द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण गर्भस्थित भ्रूण में भी मानना होगा।

पू० प० नचोपादानोपादेय ··· ··· ··· ···

वासनाओं के संक्रमण के प्रसङ्ग में ऐसा नियम मानते हैं कि उपादान कारणों में स्थित वासना का संक्रमण उपादेय (कार्य) में होता है। (माता यद्यपि भ्रूण का कारण है, किन्तु उपादान कारण नहीं, भ्रूण के उपादान कारण तो भ्रूण के अवयव ही हैं)।

सि० प० स्थिरपक्षे ··· ··· ··· ···

(वस्तुओं के जो 'स्थिर' पक्ष और 'क्षणिक' पक्ष नाम के दो मत क्रमशः आस्तिकों और बौद्धों के हैं, उनमें से आस्तिक सम्मत) स्थिर पक्ष में कथित उपादानोपादेयत्व की युक्ति से परमाणु रूप भूतद्रव्यों में चैतन्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि परमाणुओं का कोई उपादान कारण ही नहीं है।

शरीर रूप अवयवी में भी (कथित स्थिर पक्ष में) चैतन्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि जिस समय शरीर रूप एक अखण्ड अवयवी के कोई हाथ पैर प्रभृति अवयव टूट जाते हैं, उस समय (लूले-लँगड़े शरीर रूप 'खण्डावयवी' के उपादान कारण वे टूटे हुये हाथ पैर प्रभृति अवयव नहीं हैं, अतः उस हाथ के द्वारा अनुभूत विषयों का स्मरण उन लूले-लँगड़े पुरुषों को न हो सकेगा। क्योंकि हाथ पैर से युक्त पहिले का शरीर तो नष्ट हो चुका है।

पू० प० अस्तु तर्हि ··· ··· ··· ···

आस्तिकों के द्वारा स्वीकृत 'स्थिर' पक्ष में यदि 'भूतचैतन्यवाद' की उपपत्ति संभव न हो तो बौद्धों के द्वारा स्वीकृत 'क्षणभङ्ग' पक्ष ही स्वीकार कर लिया जाय। (इस पक्ष में) घर के बीज और खेतों में डाले गये बीज भिन्न हैं। देखने के बाद ही जो इन दोनों में रहने-वाली विभिन्नता का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, उसका कारण दोनों बीजों का अत्यन्त सादृश्य है। अतः जिस प्रकार नैयायिकगण कार्य से 'अन्त्यातिशय' रूप सामग्री का अनुमान करते हैं

तथा तथोत्पाद्यन्ते, यथा यथा प्रतिसन्धाननियमादयोऽप्युपपद्यन्ते। क्षणिकत्वसिद्धावेवमेतत्, तदेव त्वन्यत्र विस्तरेण प्रतिषिद्धम् ॥१५॥

अपि च—

न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥१६॥

न हि करणाऽकरणयोस्तज्जातीयस्य सतः सहकारिलाभालाभौ तन्त्रमित्यभ्युपगमे क्षणिकत्वसिद्धिः। तथैकव्यक्तावप्यविरोधात्, 'तद्वा तादृग्वा' इति न कश्चिद्विशेष इति न्यायात्। ततस्तावनादृत्य वैजात्यमप्रामाणिकमेवाभ्युपेयम्।

उसी प्रकार बीज के अंकुर रूप कार्य से दोनों बीजों की विभिन्नता एवं अंकुरकुर्वद्रूपत्व का अनुमान हो सकता है। अतः क्षणिक होने के कारण भूतद्रव्यों की उत्पत्ति उस प्रकार से होगी जिससे स्मृति एवं भोगादि की नियमित उत्पत्ति होती रहेगी।

सि० प० ··· ··· ··· ···

ये सभी बातें पदार्थों के क्षणिकत्व की सिद्धि के ऊपर निर्भर करती है, किन्तु यह क्षणभङ्गवाद ही 'अन्यत्र' आत्मतत्त्वविवेक ग्रन्थ में विस्तृत रूप से खण्डित हो चुका है ॥१५॥

दूसरी बात यह है कि—

न वैजात्यं विना ··· ··· ··· ···

जबतक 'वैजात्य' अर्थात् एक ही जाति के एक विशेष व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की (कुर्वद्रूपत्व नाम की) जाति को स्वीकार नहीं करते तब तक 'क्षणिकत्व' की सिद्धि नहीं की जा सकती। यदि विशेष प्रकार की उक्त कुर्वद्रूपत्व जाति को मान लेते हैं तो (बौद्धों के द्वारा स्वीकृत) कार्यलिङ्गक कारणानुमान को मानने की आवशतकता नहीं रह जाती। कार्यलिङ्गक कारणानुमान के बिना 'कुर्वद्रूपत्व' की सिद्धि ही संभव नहीं है। एवं 'निश्चय' के बिना अर्थात् कार्यलिङ्गक कारणानुमिति रूप सविकल्पक ज्ञान रूप 'निश्चय' के बिना 'अध्यक्ष' अर्थात् प्रमा रूप निर्विकल्पक ज्ञान उदित नहीं हो सकता।

सि० प० न हि करणाकरणयोः ··· ··· ··· ···

जिस जाति के एक बीज व्यक्ति को जिस समय सहकारी मिल जाता है, उस समय उस से अंकुर की उत्पत्ति होती है। एवं उसी जाति की दूसरा बीज व्यक्ति को उसी समय यदि सहकारी नहीं प्राप्त होता तो उस व्यक्ति से अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो पाती। इन (अंकुरोत्पत्ति और अंकुरानुत्पत्ति) दोनों के प्रयोजक क्रमशः सहकारियों को प्राप्ति और अप्राप्ति को मान लें तो बीजादि पदार्थों का क्षणिक मानने की आवश्यकता नहीं रह जाता। इसी प्रकार एक व्यक्ति से सहकारियों के मिलने पर कार्य का उत्पादन एवं सहकारियों के न मिलने पर उसी व्यक्ति से कार्य का अनुत्पादन के मान लेने पर कोई विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि "वही व्यक्ति सहकारियों के साहाय्य से कार्य का उत्पादन करे, अथवा उस जाति की कोई दूसरी व्यक्ति सहकारियों के साहाय्य से कार्य का उत्पादन करे, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है" इस न्याय के द्वारा सहकारिकारणों के लाभ और आलभ को ही (एक ही जाति के एक बीज व्यक्ति से अंकुर की उत्पत्ति एवं उसी जाति की दूसरी बीज व्यक्ति से अंकुर की अनुत्पत्ति का) प्रयोजक न मान कर इसके लिये बीजों को क्षणिक मानना अप्रामाणिक है।

एवञ्च कारणवत् कार्येऽपि किञ्चिद्वैजात्यं स्याद्यस्य कारणापेक्षा, न तु दृष्टजातीयस्येति शङ्कया न तदुत्पत्तिसिद्धिः। दृष्टजातीयमाकस्मिकं स्यादिति चेन्न, तत्रापि किञ्चिदन्यदेव प्रयोजकं भविष्यतीत्यविरोधात्। न कार्यस्य विशेषस्तत्प्रयुक्ततयोपलभ्यते। नापि कार्यसामान्यस्यान्यत्प्रयोजकं दृश्यत इति चेत्, तत्किं कारणस्य विशेषः स्वगतस्तत्प्रयोजकतयोपलब्धः, कारणसामान्यस्य वाऽन्यत् प्रयोज्यान्तरं दृश्यते?

सि० प० एवं च कारणवत् ··· ··· ··· ···

यदि उस कुर्वद्रूपत्व को ही वह्नि के द्वारा धूम की उत्पत्ति का प्रयोजक मानें, जिसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है, तो यह शङ्का भी हो सकती है कि कुर्वद्रूपत्वादि के सदृश किसी विशेष प्रकार की जाति से युक्त) धूम रूप कार्य की ही उत्पत्ति (उक्त अप्रत्यक्ष जाति से युक्त) वह्नि से होती है। जिन धूमों को हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उनकी उत्पत्ति में वह्नि की अपेक्षा नहीं है। इस शङ्का के रहते प्रत्यक्ष दृष्ट सभी धूमों के प्रति जो सभी वह्नियों में कारणता गृहीत होती है, वह न हो सकेगी।

पू० प० दृष्टजातीयम् ··· ··· ··· ···

यदि (कारणों में कुर्वद्रूपत्व के समान ही) वह्नि से उत्पन्न धूम रूप कार्य में किसी अवान्तर जाति की कल्पना करें, तो प्रत्यक्ष से दृष्ट एवं धूमत्व जाति से युक्त सभी व्यक्तियों को 'आकस्मिक' अर्थात् अनियत हेतुओं से उत्पन्न मानना पड़ेगा।

सि० प० न, तत्रापि ··· ··· ··· ···

यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (इस आकस्मिकत्वापत्ति का वारण तो) पिशाचादि किसी भी वस्तु को धूमसामान्य को कारण मान लेने से भी हो सकता है। इसके लिये धूमसामान्य को वह्निसामान्य का कारण मानना आवश्यक नहीं है।

पू० प० न कार्यस्य विशेष··· ··· ··· ···

१. (जिस प्रकार वह्निस्वरूप कारण में धूमकुर्वद्रूपत्व स्वरूप जाति मानते हैं, उसी प्रकार यदि) धूम रूप कार्य में भी कोई विशेष धर्म मान लें, तथापि यह नहीं कह सकते कि धूम रूप कार्य में रहनेवाला यह 'विशेष' धर्म 'वह्निजन्यत्व' (वह्नि से उत्पन्न होना) ही है, क्योंकि सभी धूमों को वह्नि से उत्पन्न होते नहीं देखा जाता (अर्थात् वह विशेषधर्म वह्निजन्यत्व रूप नहीं है यह एक ही 'विरोध' है)।

नापि कार्यसामान्यस्य··· ··· ··· ···

२. एवं वह्नि सामान्य को छोड़कर सभी धूमों का कोई कारण उपलब्ध भी नहीं है यह दूसरा विरोध है। इन दोनों विरोधों से यह कल्पना करते हैं कि धूम सामान्य का वह्नि सामान्य ही कारण है।

सि० प० तत्किं कारणस्य विशेषः ··· ··· ··· ···

(तुल्य युक्ति से पूर्वपक्षवादी के उक्त कथन में भी दो विरोधों का उद्भावन किया जा सकता है कि) (१) जिस लिये कि वह्नि में धूमसामान्य का प्रयोजक कोई 'विशेष' धर्म उपलब्ध नहीं होता है, अतः कुर्वद्रूपत्व से युक्त 'विशेष' प्रकार का वह्नि ही यदि धूम का कारण हो तो वह्नि सामान्य किसका कारण होगा? (२) यदि वह्निसामान्य को किसी

यतो विवक्षितसिद्धिः स्यात् । शङ्का तूभयत्रापि सुलभेति । कार्यजन्माजन्मभ्यामुन्नीयत इति चेन्न । सहकारिलाभालाभाभ्यामेवोपपत्तेः । उन्नीयतां वा, कार्येषु शङ्क्यते, निषेधकाभावात् ।

न हि धूमस्य विशेषं दहनप्रयोज्यं प्रतिषेद्धुं स्वभावानुपलब्धिः प्रभवति । कार्यैकनिश्चेयस्य तदनुपलब्धेरेवानिश्चयोपपत्तेः । कार्यस्य चातीन्द्रियस्यापि संभवात् । अत एवानुपलब्ध्यन्तरमपि निरवकाशमिति ।

कार्य का कारण ही न मानें तो 'वह्निसामान्य' की सत्ता ही उठ जायगी, क्योंकि जो किसी कार्य का उत्पादक नहीं है (अर्थात् अर्थक्रियाकारी नहीं है) उसकी सत्ता आप लोग (बौद्धगण) स्वीकार ही नहीं करते। इस प्रकार पूर्वपक्षवादी यदि कारणों में सर्वथा अनुपलब्ध कुर्वद्रूपत्व रूप विशेष की शङ्का करेंगे तो उसी प्रकार 'विशेष' की शंका कार्यों में भी की जा सकती है। क्योंकि किसी बाधक के न रहने की स्थिति तो दोनों ही स्थलों में समान है। (अतः कुर्वद्रूपत्व को मानने से जो अनुमान की अनुपपत्ति दिखलायी गयी है, वह असङ्गत नहीं है)।

पू० प० कार्यजन्माजन्म··· ··· ··· ···

घर के बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, एवं खेत के बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है। इस अन्वय और व्यतिरेक से कारण में रहने वाले 'वैजात्य' अर्थात् कुर्वद्रूपत्व रूप विशेष धर्म का अनुमान कारणों में करते हैं (कार्य में इस प्रकार की किसी अवान्तर जाति की कल्पना का कोई हेतु नहीं है, अतः कार्य में किसी विशेष धर्म की कल्पना नहीं करते हैं)।

सि० प० सहकारिलाभ··· ··· ··· ···

ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि घर के बीज से अंकुर की अनुत्पत्ति और खेत के बीज से अंकुर की उत्पत्ति ये दोनों ही क्रमशः सहकारिकारणों के अलाभ और लाभ से ही उपपन्न हो सकते हैं (इसके लिये कारण में कुर्वद्रूपत्व रूप वैजात्य की कल्पना अनावश्यक है)। यदि अनुमान से कारण में उक्त वैजात्य की सत्ता मान भी लें, तथापि कार्य में भी उसी प्रकार के वैजात्य की शंका तो अन्ततः बनी ही रहेगी, क्योंकि उस शंका का कोई बाधक नहीं है। (अतः इस शंका के रहते जो अनुमान की अनुपपत्ति दी गयी है, वह वैसी ही बनी रहेगी, क्योंकि व्यभिचार की शंका भी व्याप्ति की विरोधिनी है)।

पू० प० न हि धूमस्य विशेषम्··· ··· ··· ···

(इस पर बौद्धलोग कह सकते हैं कि धूम रूप कार्य में वह्निजनित किसी वैजात्य की निश्चयात्मक उपलब्धि नहीं है। धूमादि कार्यों में वैजात्य की यह 'अनुपलब्धि' ही बाधक होगी। अतः धूमादि कार्यों में कोई वैजात्य नहीं है। इसका यह उत्तर है कि) वह्नि के द्वारा उत्पन्न होने से धूम में जिस वैजात्य की चर्चा हो रही है, वह जिस लिये कि अतीन्द्रिय

एवं विधिरूपयोर्व्यावृत्तिरूपयोर्वा जात्योर्विरोधे सति न समावेशः। समाविष्टयोश्च परापरभावनियमः । अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिजातिद्वयकल्पनायां प्रमाणाभावात् । व्यावर्त्यभेदाभावेन विरोधानवकाशे भेदानुपपत्तेः । परस्परपरिहारवत्योश्च समावेशे गत्वाश्वत्वयोरपि तथाभावप्रसंगात् ।

है, अतः उसकी अनुपलब्धि (स्वभावानुपलब्धि 'स्व' जो धूम, उस में रहनेवाला जो उक्त वैजात्य रूप 'भाव' उसकी अनुपलब्धि) से धूमादिकार्यगत वैजात्य का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त 'स्वभावानुपलब्धि' को 'योग्यानुपलब्धि' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कार्य की अनुपलब्धि से कारण का अनिश्चय ही उत्पन्न हो सकता है, उससे कारणाभाव का निश्चय नहीं उत्पन्न हो सकता। (कारण का अनिश्चय एवं कारणाभाव का निश्चय ये दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं)। जिस लिये कि धूम रूप कार्य अतीन्द्रिय भी हो सकता है (अतः उस में रहनेवाले 'वैजात्य' का भी अतीन्द्रिय होना पूर्ण संभावित है)। इसी प्रकार अवशिष्ट अन्य सभी (१५ प्रकार की) अनुपलब्धियाँ अनुमान की कथित अनुपपत्ति को हटाने में असमर्थ हैं।

सि० प० विधिरूपयोः··· ··· ··· ···

एवं जातियों को विधि (भाव) रूप मानें अथवा व्यावृत्ति (अभाव अपोह) रूप मानें (दोनों ही स्थितियों में यह मानना होगा कि परस्पर विरुद्ध दो जातियाँ किसी एक आश्रय में नहीं रह सकतीं। एवं जिन दो जातियों की सत्ता किसी एक आश्रय में हैं, उन दोनों में से एक जाति दूसरी जाति को व्याप्य (न्यूनदेशवृत्ति) अथवा व्यापक (अधिकदेशवृत्ति) अवश्य होंगी, क्योंकि समान आश्रयों में रहनेवाली किन्हीं दो जातियों की कल्पना अप्रमाणिक है। (यदि परस्पर विरोधी दो जातियों का भी एक आश्रय में रहना स्वीकार कर लें तो बौद्धों के मत में घट, पट प्रभृति दो वस्तुओं में भी) भेद नहीं रह जायगा। क्योंकि (अघट व्यावृत्ति एवं अपटव्यावृत्ति प्रभृति अपोहों का कोई) प्रतिषेध्य ही नहीं रह जायगा। परस्पर एक दूसरे के अनाश्रयीभूत वस्तुओं में रहनेवाली दो जातियों का यदि किसी एक आश्रय में समावेश मान लें तो कदाचित् गोत्व और अश्वत्व इन दोनों जातियों की सत्ता गो और अश्व इन दोनों में से किसी एक ही आश्रय में भी संभव हो जायगी।

पू० प० सामग्रीविरोधात्··· ··· ··· ···

अश्व को उत्पन्न करनेवाले कारणों का समूह (सामग्री) एवं गो को उत्पन्न करनेवाली सामग्री जिस लिये कि विभिन्न देशों में रहती है, अतः दोनों सामग्रियाँ परस्पर विरोधिनी हैं। अतः उन दोनों सामग्रियों से उत्पन्न दोनों वस्तुओं में से प्रत्येक में गोत्व और अश्वत्व इन दोनों जातियों की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती।

सि० प० एतत्··· ··· ··· ···

कथित दोनों सामग्रियों में परस्पर विरोध ही क्यों है ?

सामग्रीविरोधान्नैवमिति चेत्, एतत्कुतः ? परस्परपरिहारेण सर्वदाऽव्यवस्थितेरिति चेत्, नेदमप्यध्यक्षम् । एकदेशसमावेशेन तु सामग्रीसमावेशोऽप्युन्नीयते । यावत्कार्ययोः परस्परपरिहृतिस्वभावत्वादिति चेत्; तर्हि कम्पशिशपयोः परस्परपरिहारवत्योर्न समावेशः स्यात् । दृश्यते तावदिदमिति चेत्; गोत्वाश्वत्वयोरपि न

पू० प० परस्परपरिहारेण··· ··· ··· ···

जिस लिये कि दोनों सामग्रियों में से प्रत्येक सामग्री दूसरी सामग्री को छोड़कर ही रहती है, अतः समझते हैं कि दोनों सामग्रियाँ परस्पर विरोधिनी हैं ।

सि० प० नेदमपि··· ··· ··· ···

प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नहीं है कि कथित दोनों सामग्रियों में से प्रत्येक सामग्री दूसरी सामग्री के विना ही रहती है (क्योंकि सामग्री के अन्तर्गत अदृष्टादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी हैं । 'अतीन्द्रिय पदार्थों से युक्त कोई एक समूह अतीन्द्रिय पदार्थ से युक्त किसी दूसरे समूह से अलग रहता है' यह प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं देखा जा सकता), प्रत्युत गोत्व और अश्वत्व इन दोनों के एक अधिकरण में रहने की संभावना से गो और अश्व इन दोनों के उत्पादक सामग्रियों के एकत्र रहने का तब तक अनुमान किया ही जा सकता है (जब तक कोई बाधक उपलब्ध न हो) ।

पू० प० कार्ययोः परस्पर··· ··· ··· ···

गो एवं अश्व रूप दोनों कार्य जिस लिये 'परस्पर परिहृतिस्वभाव' के हैं, अर्थात् एक को छोड़ कर ही दूसरा रहता है, अतः दोनों कार्यों के उत्पादक सामग्रियों में भी 'विरोध' की कल्पना करते हैं ।

सि० प० तर्हि कम्पशिशपयोः ··· ··· ··· ···

ऐसा स्वीकार करने पर कम्प (क्रिया) और शिशपा इन दोनों की भी एकत्र स्थिति को अस्वीकार करना होगा, अर्थात् इन दोनों में भी विरोध मानना पड़ेगा, (क्योंकि शिशपा से भिन्न जलादि में भी कम्प है एवं शिशपा भी कंप से रहित रहती है, अतः ऐसा नहीं माना जा सकता कि जो कथित 'परस्पर परिहृतिस्वभाव' के हों वे परस्पर विरुद्ध ही हों) ।

पू० प० दृश्यते ··· ··· ··· ···

परस्पर परिहृति स्वभाववाली शिशपा एवं कम्पक्रिया इन दोनों की एकत्र स्थिति भी देखते हैं (अतः उन दोनों में परस्पर परिहृतिस्वभाव और एकत्र स्थिति दोनों ही स्वीकार करते हैं । किन्तु गोत्व और अश्वत्व इन दोनों में केवल परस्पर परिहृतिस्वभाव की ही उपलब्धि होती है, एकत्र स्थिति की उपलब्धि नहीं होती है, अतः दोनों में विरोध को ही स्वीकार करना पड़ता है) ।

सि० प० गोत्वाश्वत्वयोः ··· ··· तथा च ··· ··· ··· ···

इस का ही कौन सा विश्वास है कि गोत्व और अश्वत्व इन दोनों की भी एकत्र स्थिति नहीं देखी जायगी ? (गोत्व और अश्वत्व इन दोनों की एकत्रस्थिति की संभावना अगर स्वीकृत

द्रक्ष्यत इति का प्रत्याशा ? तथा च गतमनुपलब्धिलिंगेनापि, क्वचिदपि विरोधासिद्धेः। ततो विपक्षे बाधकाभावात् स्वभावहेतुरप्यपास्तः।

नन्वस्ति तत्, तथाहि—वृक्षजनकपत्रकाण्डाद्यन्तर्भूता शिंशपासामग्री। सा वृक्षमतिपत्य भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेत्। एवं, शाखादिमन्मात्रानुबन्धी वृक्षव्यवहारः, तद्विशेषानुबन्धी च शिंशपाव्यवहारः। स कथं तमतिपत्यात्मानमासादयेदिति चेत्; एवं तर्हि शिंशपासामग्र्यन्तर्भूता चलनसामग्री, ततस्तामतिपत्य चलनादिरूपता भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेत्, तथा शाखादिमद्विशेषानुबन्धी शिंशपाव्यवहारः, तद्विशेषानुबन्धी च चलनव्यवहारः। स कथं तमतिपत्यात्मानमासादयेदिति तुल्यम्।

हो जाती है, तो फिर (कथित कार्यलिङ्गक कारणानुमान के समान ही) अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान की भी आशा छोड़ देनी होगी (क्योंकि उक्त संभावना के कारण 'विरोध' की बात ही छोड़ देनी पड़ेगी)।

ततो विपक्षे ··· ··· ··· ···

(इस प्रकार विरोध की सत्ता के उठ जाने से) 'स्वभाव' लिङ्गक 'वृक्षः शिंशपायाः' इत्यादि अनुमानों से भी हाथ धो लेना होगा, क्योंकि विपक्ष में साध्यसत्ता का विरोध करनेवाला कोई न रह जायगा।

पू० प० नन्वस्ति तत् ··· ··· ··· ···

प्रकृत में विपक्ष का बाधक हेतु है। क्योंकि (१) जिन कारणों से शिंशपा की उत्पत्ति होती है, उन में वृक्ष के उत्पादक कारण भी संनिविष्ट हैं। अतः वृक्ष के उत्पादक कारणों को छोड़कर भी शिंशपा की उत्पत्ति यदि स्वीकार की जाय तो इसका यही अर्थ होगा कि शिंशपा अपने कारणों के बिना भी उत्पन्न होती है। (२) एवं सर्ववृक्ष साधारण शाखादि से युक्त होने के कारण ही शिंशपा में वृक्ष का व्यवहार होता है, किन्तु विशेष प्रकार की शाखादि से उसी वृक्ष में शिंशपा का व्यवहार होता है। अतः वृक्ष व्यवहार के कारणों के बिना वृक्ष में शिंशपा का व्यवहार किस प्रकार हो सकता है ?

सि० प० एवं तर्हि ··· ··· ··· ···

इस प्रकार तुल्यन्याय से यह भी कहा जा सकता है कि जिस लिये शिंशपा में रहनेवाली चलन क्रिया का समवायिकारण शिंशपा है, अतः शिंशपा के जितने भी कारण हैं, वे सभी भी चलन क्रिया के कारण समूह में निविष्ट हैं। अतः शिंशपा को छोड़कर यदि चलन क्रिया की उत्पत्ति मानें तो यही कहना पड़ेगा कि 'चलन क्रिया अपने कारणों के बिना ही उत्पन्न होती है'। एवं (वृक्षसामग्री सहित) विशेष प्रकार की शाखादि से युक्त सामग्री के द्वारा शिंशपा का व्यवहार होता है, एवं शिंशपा के व्यवहार की सामग्री एवं चलन व्यवहार की विशेष क्षमता रखनेवाली शाखा की सामग्री से होनेवाला चलन का व्यवहार यदि शिंशपा के व्यवहार के बिना भी उत्पन्न हो तो यही कहना पड़ेगा कि चलन का व्यवहार अपने कारणों के बिना ही उत्पन्न होता है।

नोदनाद्यागन्तुकनिबन्धनं चलनत्वम्, न तु तद्विशेषमात्राधीनमिति चेत्; यदि नोदनादयः स्वभावभूतास्ततस्तद्विशेषा एव, अथाऽस्वभावभूतास्ततः सहकारिण एव, ततस्तानासाद्य निर्विशेषैव शिंशपा चलनस्वभावत्वमारभत इति। तथा च कुतः क्षणिकत्वसिद्धिः ?

स्वभावभूता एवागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशाद्भवन्तीति चेत्, एवं तर्हि वृक्षसामग्र्यामागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशादेव शिंशपाऽपि जायत इति न कश्चिद्विशेषः।

पू० प० नोदनादि ··· ··· ··· ···

शिंशपा के लिये जितने कारणों की अपेक्षा होती है, चलन क्रिया के लिये उनसे अतिरिक्त (सभी चलन क्रियाओं में अपेक्षित) नोदनादिसंयोग भी विशेष रूप से आवश्यक होते हैं। अतः 'केवल शिंशपा' के लिये (अर्थात् चलन स्वभाववाली और अचलन स्वभाव वाली सभी शिंशपाओं के लिये) जितने भी विशेष कारणों के समूह अपेक्षित हैं, केवल उतने से ही चलनस्वभाव की शिंशिपा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सि० प० यदि नोदनादयः ··· ··· ··· ···

यदि (चलन क्रिया के कारणीभूत) नोदनादि शिंशपा के 'स्वभाव' हैं अर्थात् शिंशपा और नोदनादि आगन्तुक कारण ये दोनों अभिन्न हैं, तो नोदन में शिंशपा की व्याप्ति ही माननी होगी। यदि नोदन को शिंशपा का स्वभाव न मानें अर्थात् नोदन और शिंशपा इन दोनों को भिन्न मानें तो यही कहना पड़ेगा कि नोदनादि चलन स्वभाव की शिंशपा के सहकारी कारण हैं। सहकारिकारणों की सत्ता मान लेने पर फिर 'कुर्वद्रूपत्व' को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, क्योंकि इन सहकारि कारणों का साहाय्य पाकर केवल शिंशपा ही अपने में चलन (स्वभाव) को उत्पन्न कर सकती है (इसके लिये शिंशपा में चलनकुर्वद्रूपत्व रूप 'विशेष' को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार) वस्तुओं को क्षणिक मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। सुतराम् क्षणिकत्व की सिद्धि कैसे होगी ?

पू० प० स्वभावभूता एव ··· ··· ··· ···

नोदनादि शिंशपा के स्वभाव ही हैं, किन्तु इस शिंशपा की उत्पत्ति नोदनादि सहकारिकारणों के संवलन के बाद होती है। इन सहकारिकारणों से युक्त (घटित) शिंशपा के कारणसमूह (सामग्री) से ही चलनस्वभाववाली (अचलनस्वभाव वाली शिंशपा से भिन्न) दूसरी ही शिंशपा की उत्पत्ति होती है।

सि० प० एवं तर्हि ··· ··· ··· ···

ऐसा स्वीकार करने पर तुल्यन्याय से सभी शिंशपाओं के प्रसङ्ग में भी यह कहा जा सकता है कि सभी वृक्षों के उत्पादक कारणसमूह (सामग्री) में शिंशपा के उत्पादक रूप सहकारी के मिल जाने से ही शिंशपा की उत्पत्ति होती है।

एवमेतत्, किन्तु शिशपाजनकास्तरुसामग्रीमुपादायैव, चलनजनकास्तु न तामेव, किन्तु मूर्तमात्रम्। तथा दर्शनादिति चेत्; मैवम्, कम्पजनकाः शिशपाजनकविशेषा अपि सन्तस्तानतिपतन्ति, न तु वृक्षजनकविशेषाः शिशपाजनकास्तानिति, नियामकाभावात्। शिशपाजनकास्तद्विशेषा एव, कम्पकारिणस्तु न तथा, किन्त्वागन्तवः सहकारिण इति चेत्, एवं तर्हि तानासाद्य सदृशरूपा अपि

पू० प० एवमेतत्, किन्तु ··· ··· ··· ···

(चलन स्वभाववाली शिशपा के प्रसङ्ग में) आप का कहना ठीक है (किन्तु इतना अन्तर है कि) शिशपा के जो विशेष कारण हैं, वे सभी वृक्षों के उत्पादक कारणों को लेकर ही शिशपा को उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु चलन क्रिया के जो असाधारण कारण हैं, वे चलन क्रिया के उत्पादन में केवल सभी शिशपाओं के लिये अपेक्षित सामग्री के साहाय्य की ही अपेक्षा नहीं रखते, किन्तु जितने भी मूर्तद्रव्य हैं (जिनमें शिशपा भी है) उनकी भी अपेक्षा रखते हैं। जिससे शिशपा के समान ही अन्यमूर्त्त द्रव्यों में भी चलन क्रिया की उत्पत्ति होती है (अतः ऐसी कल्पना करते हैं)।

सि० प० मैवम्, कम्पजनकाः ··· ··· ··· ···

ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि कम्प (चलन) शिशपा में भी रहता है, एवं सभी पलाशादि अन्य मूर्त्तद्रव्यों में भी। एवं शिशपा में भी कभी कम्प रहता है कभी नहीं। अथ च कम्प और उसके आश्रय (बौद्धों के मत से) अभिन्न हैं। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार 'वृक्ष विशेष' ही 'शिशपा' है, उसी प्रकार 'शिशपा विशेष' ही 'कम्प' है। अतः तुल्यन्याय से यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'कम्प' शिशपा का एक विशेष स्वरूप होने पर भी शिशपा से भिन्न पलाशादि मूर्त्त द्रव्यों में रहता है, उसी प्रकार वृक्ष से भिन्न द्रव्य भी शिशपा हो सकती है। इसका कोई भी नियामक नहीं है कि शिशपात्व की अवान्तर जाति कम्पत्व का तो शिशपात्वातिपात हो (अर्थात् वह शिशपात्व को छोड़कर भी रहे) किन्तु वृक्षत्व की अवान्तर जाति शिशपात्व का वृक्षत्वातिपात न हो (अर्थात् वृक्ष न होने पर शिशपा न हो)। अतः जिस युक्ति से बौद्धगण 'वृक्षः शिशपायाः' इस स्वभावलिङ्गक अनुमान की उपपत्ति करेंगे, उसी प्रकार पलाशादि वृक्षों में 'अयं शिशपा कम्पकारित्वात्' इस अनुमान को भी आपत्ति होगी।

पू० प० शिशपाजनकास्तद्विशेषा एव ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार विशेष प्रकार की वृक्षसामग्री शिशपा की उत्पादिका सामग्री है, विशेष प्रकार की शिशपा की उत्पादिका सामग्री ही उसी प्रकार कम्प की उत्पादिका नहीं है, किन्तु नोदनादि संयोगों से युक्त सामग्री ही कम्प की उत्पादिका है (यह नोदनादि से युक्त सामग्री शिशपा की उत्पादिका नहीं है, क्योंकि जैसे कि शिशपात्व वृक्षत्व की अवान्तर जाति है, उसी प्रकार कम्पत्व या कम्पकारित्व शिशपात्व की अवान्तर जाति नहीं है)।

सि० प० एवं तर्हि तानासाद्य ··· ··· ··· ···

इससे तो यही निष्पन्न होता है कि शिशपा का सामान्य कारण ही नोदनादि विशेष कारणों का साहाय्य पाकर कम्प स्वभाववाली शिशपा (विशेष) का भी उत्पादन करते हैं।

केचित्कम्पकारिणोऽनासादितसहकारिणस्तु न तथा। तथा च तद्वा तादृग्वेति न कश्चिद्विशेषः स्यात्। तस्माद्विरुद्धयोरसमावेश एव। समाविष्टयोश्च परापरभाव एव। अनेवम्भूतानां द्रव्यगुणकर्मादिभावेनोपाधित्वमात्रम्। तेषान्तु विरुद्धानां न समावेशो व्यक्तिभेदात्। जातीनाञ्च भिन्नाश्रयत्वात्। तथा च कुतः क्षणिकत्वम्?। वैजात्याभ्युपगमे च कुतोऽनुमानवार्ता?। मा भूदनुमानमिति चेन्न; तेन हि विना न तत्सिद्धयेत्।

एवं शिशपा के ही उक्त सामान्य कारणों को जब कथित नोदनाद सहकारियों का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता है तो वे ही कारण (कम्पस्वभाववाली शिशिपा को उत्पन्न न कर) अकम्प-स्वभाववाली शिशिपा को ही उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार कम्पस्वभाव की शिशपा के उत्पादक कारणों के समूह (सामग्री) अकम्प स्वभाववाली शिशपा को उत्पन्न करनेवाले कारणों के समूह (सामग्री) से यद्यपि भिन्न है, तथापि दोनों सामग्रियों में अत्यन्त सादृश्य के कारण उन दोनों सामग्रियों के भेद जान नहीं पड़ते। क्योंकि 'तत्' में और 'तत्सदृश' में कार्यतः अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता।

तस्माद्विरुद्धयोरसमावेश एव … … … …

तस्मात् (पहिले जो यह कह आये हैं कि अन्यूनानतिप्रसक्त) दो विरुद्ध जातियाँ किसी एक आश्रय में नहीं रह सकतीं। एवं जिन दो जातियों का एकत्र समावेश है भी उन में से एक दूसरे से 'पर' (अधिकदेश वृत्ति) अथवा 'अपर' (न्यूनदेश वृत्ति) अवश्य होंगे। वह सर्वथा उचित है)।

जो 'अनेवम्भूत' हैं (अर्थात् जिन दो धर्मों में परस्पर विरोध के रहने पर भी एकत्र स्थिति देखी जाती है, एवं उनमें परापरभाव नहीं देखा जाता) उनमें से एक 'धर्म' कदाचित् जाति स्वरूप हो भी, तथापि दूसरा तो अवश्य ही जाति स्वरूप न होकर 'उपाधि' स्वरूप ही होगा; वह 'उपाधि' द्रव्यस्वरूप हो अथवा गुणस्वरूप अथवा कर्मस्वरूप हो। जिन परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से प्रत्येक जातिस्वरूप होगा, वे दोनों कभी भी एक आश्रय में नहीं रह सकते, क्योंकि उनके लिये नियमित आश्रय अत्यन्त भिन्न हैं। अतः परस्पर विरुद्ध जातियाँ भिन्न-भिन्न आश्रयों में ही रहती हैं। इस प्रकार 'वैजात्य' अथवा कुर्वद्रूपत्व स्वरूप विशेष प्रकार की जाति को माने विना क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। एवं 'वैजात्य' को स्वीकार कर लेने पर अनुमान की चर्चा ही वृथा हो जाती है।

पू० प० मा भूत् … … … …

उठ जाय अनुमान की चर्चा?

सि० प० न, तेन हि … … … …

ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमान प्रमाण के विना क्षणिकत्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती।

न हि क्षणिकत्वे प्रत्यक्षमस्ति । तथा निश्चयाभावात् । गृहीतनिश्चित एवार्थे तस्य प्रामाण्यात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

ननु वर्तमानः क्षणोऽध्यक्षगोचरः । न चासौ पूर्वापरवर्तमानक्षणात्मा । ततो वर्तमानत्वनिश्चय एव भेदनिश्चय इति चेत्; किमत्र तदभिमतमायुष्मतः ? यदि धर्म्यैव नीलादिनं किञ्चिदनुपपन्नम्, तस्य स्थैर्यास्थैर्यसाधारण्यात् । अथ

न हि क्षणिकत्वे ··· ··· ··· गृहीत एवार्थे

ऐसा कहना भी संभव नहीं है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही क्षणिकत्व की सिद्धि करेंगे ? क्योंकि 'क्षणिकमिदम्' इस आकार का प्रत्यक्षात्मक 'निश्चय' उत्पन्न नहीं होता ।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय है। अतः वह इन्द्रिय गोचर नहीं हो सकता । सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप ज्ञान का ही प्रत्यक्ष होता है । जिस विषय का सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होगा, उससे उसी विषय के निर्विकल्पक ज्ञान का अनुमान होगा । यदि 'क्षणिकमिदम्' इस आकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष ही नहीं है तो फिर क्षणिकत्व विषयक निर्विकल्पक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमान किससे होगा ? अतः 'क्षणिकमिदम्' इस आकारके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की संभावना न रहने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती । 'अन्यथा' (यदि ऐसे विषयों का भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानें जिनका कि सविकल्पक हो ही नहीं सकता तो) 'अतिप्रसङ्ग' होगा (अर्थात् आकाश परमाणु प्रभृति वस्तुओं के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी) ।

पू० प० ननु वर्त्तमानः क्षणः ··· ··· ··· ···

जिस लिये कि अतीत एवं अनागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः मानना होगा कि (वर्त्तमान क्षण में विद्यमान वस्तुओं) का ही प्रत्यक्ष होता है । सुतराम् वर्त्तमान-क्षणात्मक घट अतीतकालिक और भविष्यत्कालिक दोनों ही घटों से भिन्न है । अतः वर्त्तमानत्व विषयक उक्त प्रत्यक्ष रूप निश्चय वस्तुतः पूर्वापरकाल वृत्ति घटों में परस्पर भेद का निश्चय स्वरुप हो है । एक ही वस्तु में काल भेद से परस्पर भेद का निश्चय ही 'क्षणिकत्व' का नियामक है ।

इस दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से ही क्षणिकत्व का निश्चय होगा । अनुमान से क्षणिकत्व का निश्चय भले ही संभव न हो ।

सि० प० किमत्र तत् ··· ··· ··· ···

'वर्त्तमानत्व' शब्द का कौन सा अर्थ आप को अभिप्रेत है ? यदि ('अयं नील:; अयं घट:' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों में भासमान) नीलादि स्वरूप ही वह 'वर्त्तमानत्व' है, तो कोई अनुपपत्ति ही नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में नीलादि धर्मी को स्थिर मानें अथवा क्षणिक मानें दोनों ही स्थितियों में कोई अनुपपत्ति नहीं है । यदि 'वर्त्तमानत्व' को नीलादि का धर्म मानते हैं, तथापि कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि नीलादि धर्मियों में रहनेवाले अतीत्व और अनागतत्व से उसी धर्मी में रहनेवाला वर्त्तमानत्व भिन्न है, उनके नीलादि धर्मियों को भी परस्पर भिन्न मानने का कोई कारण नहीं है । एक ही धर्मी के धर्म विभिन्न हो सकते हैं) । अतः कथित वर्त्तमानत्व एवं अवर्त्तमानत्व धर्मों से उनके नीलादि धर्मी भिन्न हैं ।

धर्मः, तद्भेदनिश्चयेऽपि धर्मिणः किमायातम्? तस्य ततोऽन्यत्वात्। वर्तमानावर्तमानत्वमेकस्य विरुद्धमिति चेत्; यदि सदसत्त्वं तत्; तन्न, अनभ्युपगमात्। ताद्रूप्येणैव प्रत्यभिज्ञानात्। सदसत्सम्बन्धश्चेत्; किमसङ्गतम्?। ज्ञानवत्तदुपपत्तेः। क्रमेणानेकसम्बन्ध एकस्यानुपपन्न इति चेन्न; उपसर्पणप्रत्ययक्रमेणैव तस्याप्युपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणमिति चेत्; अस्ति तावदतो निरूपणीयम्, क्षणप्रत्ययस्तु भ्रान्तोऽपि नास्तीति विशेषः ॥१६॥

पू० प० वर्त्तमाना ··· ··· ··· ···

वर्त्तमानत्व एवं अवर्त्तमानत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः किसी एक धर्मी में इन दोनों की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती।

सि० प० यदि सदसत्त्वम् ··· ··· ··· ···

यदि वर्त्तमानत्व को सत्त्व स्वरूप एवं अवर्त्तमानत्व (अर्थात् अतीतत्व और अनागतत्व इन दोनों) को असत्त्व रूप मानें तभी उक्त विरोध उत्पन्न हो सकता है, किन्तु ऐसा हम लोग नहीं मानते। क्योंकि नीलादि की सभी प्रतीतियाँ बराबर (अनागतत्वादि के समय भी) 'सत्' रूप से ही होती है। यदि 'वर्त्तमानत्व' शब्द का अर्थ 'सत्' सम्बन्ध, एवं 'अवर्त्तमानत्व' शब्द का अर्थ 'असत् सम्बन्ध' करें तो उन धर्मों में कोई भी विरोध नहीं रह जाता है, क्योंकि 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' (जिस घट को मैंने देखा था उसी घट को मैं छू रहा हूँ) इत्यादि 'ज्ञान' रूप प्रत्यभिज्ञाओं में एक ही घट में वर्त्तमानत्व एवं अवर्त्तमानत्व दोनों ही भासित होते हैं।

पू० प० क्रमेण ··· ··· ··· ···

(एक ही समय एक ही वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्मों का समावेश कदाचित् हो भी किन्तु) एक ही वस्तुमें 'क्रमशः' अनेक धर्मों का सम्बन्ध संभव नहीं है। (अतः एक ही नील में वर्त्तमानत्व और अवर्त्तमानत्व दोनों का सम्बन्ध संभव नहीं है)।

सि० प० न, उपसर्पण ··· ··· ··· ···

उपसर्पण (संन्निधान) के प्रत्यय (कारण) जिस लिये कि क्रमशः एकत्र होते हैं, अतः एक धर्मी में क्रमशः अनेक धर्मों के समावेश में भी कोई बाधा नहीं है।

पू० प० प्रत्यभिज्ञानम् ··· ··· ··· ···

('योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' इत्यादि प्रत्यभिज्ञानों के बल से ही तो घटादि को स्थिर माना जाता है, किन्तु) यह प्रात्यभिज्ञा ही तो यथार्थ (प्रमा) ज्ञान रूप नहीं है। (अतः इसके द्वारा ज्ञात स्थैर्य से क्षणिकत्व बाधित नहीं हो सकता)।

सि० प० अस्ति तावत् ··· ··· ··· ···

नीलादि वस्तुओं में स्थैर्य की प्रतीति होती है (यह बौद्ध गण भी मानते हैं। यह प्रतीति उनके मत से अप्रमा भले ही हो) क्योंकि प्रतीति में अप्रमात्व (अथवा प्रमात्व की सिद्धि के लिये प्रतीति की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है)। किन्तु क्षणिकत्व विषयिणी तो कोई भ्रमात्मक प्रतीति भी नहीं है। यही स्थैर्यवादियों और क्षणिकत्ववादियों में अन्तर है ॥१६॥

स्यादेतत् । मा भूदध्यक्षमनुमानं वा क्षणिकत्वे, तथापि सन्देहोऽस्तु। एतावताऽपि सिद्धं समीहितं चार्वाकस्येति चेत्; उच्यते —

स्थैर्यदृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः ।
एकतानिश्चयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः ।।१७।।

न हि स्थिरे तद्दर्शने वा स्वरसवाही सन्देहः, प्रत्यभिज्ञानस्य दुरपह्नवत्वात् ।

पू० प० स्यादेतत्, मा भूत ... ...

प्रत्यक्ष अथवा अनुमान इन दोनों प्रमाणों से 'क्षणिकत्व' की सिद्धि भले ही संभव न हो, तथापि (क्षणिकत्व के अभाव का भी कोई साधक प्रमाण न रहने से) क्षणिकत्व का संशय तो हो ही सकता है । इससे भी मेरा (चर्वाक का) अभिप्रेत सिद्ध हो जायगा ।

सि० प० ... ...

इसके उत्तर में हम (सिद्धान्तियों) लोगों का कहना है कि :—

(जिस 'सन्देह' से आप स्थैर्यवादियों को निरस्त करना चाहते हैं, वह क्या) (१) स्थैर्यविषयक है, अथवा (२) दृष्टि (अर्थात स्थैर्य के साधक प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान) विषयक है ? (३) कि वा सभी प्रामाण्यों के विषय में है ? इनमें पहिला सन्देह इस लिये अनुपपन्न है कि वह 'स एवायं घटः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं से ही बाधित है । प्रत्यभिज्ञा रूप 'दृष्टि' विषयक दूसरा संशय 'प्रत्यभिजानामि' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही बाधित है, क्योंकि 'प्रत्यजिज्ञानामि' इस प्रत्यभिज्ञा से 'प्रत्यभिज्ञा' की सत्ता निश्चित है । एवं सभी प्रामाण्य विषयक तीसरा संशय इसलिये नहीं हो सकता कि वह सभी सन्देहों का विनाशक है क्योंकि 'सन्देह्मि' इस आकार का अनुव्यवसाय ही 'सन्देह' की सत्ता का ज्ञापक है । अगर सभी ज्ञानों का प्रामाण्य सन्दिग्ध हो तो 'सन्देह्मि' इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञान का प्रामाण्य भी सन्दिग्ध होगा । जिस ज्ञान का प्रामाण्य सन्दिग्ध हो उससे किसी वस्तुकी सिद्धि संभव नहीं है। तदनुसार सन्दिग्ध प्रामाण्य वाले 'सन्देह्मि' इस आकार के अनुव्यवसाय से किसी सन्देह की सत्ता ही नहीं मानी जा सकेगी । (जिससे सन्देह की ही सत्ता उठ जायगी) । अतः सभी ज्ञानों के प्रामाण्यों में सन्देह नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' इस प्रत्यभिज्ञा में भी प्रामण्य का सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रमाण के द्वारा (बौद्धों के मत में) केवल एक ही क्षण में रहनेवाले घट में 'एकत्व' का निश्चय होगा, उसी प्रमाण के द्वारा नाना क्षणों में रहनेवाले घट में भी 'एकत्व' का निर्णय होगा । (इससे उक्त प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य निश्चित है, अतः उसमें भी प्रामाण्य का संशय नहीं हो सकता) ।

सि० प० न हि स्थिरे...............

'नीलादि पदार्थ अनेक क्षणों तक स्थिर रहते हैं ? अथवा नहीं ? इस प्रकार का स्थैर्य-विषयक संशय नहीं हो सकता, क्योंकि 'सोऽयं नीलः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं के द्वारा स्थैर्य का निश्चय निरबाध है । एवं 'तद्दर्शन' में अर्थात् 'सोऽयंनीलः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा रूप

नापि तत्प्रामाण्ये । स हि न तावत्सार्वत्रिको, व्याघातात्, तथाहि—प्रामाण्यासिद्धौ सन्देहोऽपि न सिद्धयेत्, तत्सिद्धौ वा तदपि सिद्धयेत् । निश्चयस्य तदधीनत्वात् । कोटिद्वयस्य चादृष्टस्यानुपस्थाने कः सन्देहार्थः ? । तद्दर्शने च कथं सर्वथा तदसिद्धिः ? ।

एतेनाऽप्रामाणिकस्तदव्यवहार इति निरस्तम् । सर्वथा प्रामाण्यासिद्धौ तस्याप्यसिद्धेः । प्रकृते प्रामाण्यसन्देहो लूनपुनर्जातकेशादौ व्यभिचारदर्शनादिति

'दर्शन' में भी संशय नहीं हो सकता, क्योंकि 'सोऽयं नील इति प्रत्यभिजानामि' इस अनुव्यवसाय का भी अपलाप नहीं किया जा सकता ।

नापि तत्प्रामाण्ये...............

एवं कथित अनुव्यवसाय में भी अप्रामाण्य का संशय नहीं किया जा सकता, (क्योंकि यह सन्देह सभी ज्ञानों के प्रामाण्य को सन्दिग्ध मानकर भी हो सकता है ? अथवा केवल उक्त अनुव्यवसाय रूप ज्ञानों के प्रामाण्य को ही सन्दिग्ध मानकर भी किया जा सकता है ?) । यदि सभी ज्ञानों में प्रामाण्य को सन्दिग्ध माना जाय तो किसी भी 'सन्देह' की सिद्धि न हो सकेगी, (क्योंकि उक्त नियम के अनुसार सन्देह के साधक 'सन्देह्मि' इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञान के प्रामाण्य को भी सन्दिग्ध मानना होगा) । यदि 'सन्देह' की सत्ता को स्वीकार करना है तो 'सन्देह्मि' इस आकार के ज्ञान के प्रामाण्य को भी स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि 'निश्चय' अर्थात सन्देह विषयक 'सन्देह्मि' इस आकार का प्रत्यभिज्ञा रूप निश्चय से सन्देह की सिद्धि भी 'तदधीन' अर्थात् प्रामाण्य के अधीन है । एवं 'अदृष्ट' अर्थात् अनिश्चित दोनों कोटियों की निश्चय रूप 'उपस्थिति' के विना 'सन्देह' शब्द का अर्थ ही क्या होगा ? यदि संशय के लिये दोनों कोटियों की उपस्थिति आवश्यक है, इसलिये यदि संशय के दोनों कोटियों के निश्चयात्मक ज्ञानों का मानना आवश्यक है, तो प्रामाण्य निश्चय का सर्वथा निराकरण नहीं किया जा सकता (अन्ततः कथित उपस्थिति रूप ज्ञानों में तो प्रामाण्य मानना ही होगा, क्योंकि अप्रामाणिक उपस्थिति से संशय उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य निश्चित नहीं है) ।

एतेन...............

इसी समाधान के द्वारा पूर्वपक्षवादियों का यह कथन भी खंडित हो जाता है कि "जितने भी ये व्यवहार हैं, सभी 'अप्रमाणमूलक' ही हैं" क्योंकि यदि सभी व्यवहारों को अप्रामाणिक मानेंगे तो पूर्वपक्षवादी के द्वारा उत्थापित 'अप्रामाणिकस्तद्व्यवहारः' यह व्यवहार भी अप्रामाणिक हो जायगा ।

पू० प० प्रकृते...............

अन्यत्र चाहे जो कुछ भी हो, किन्तु वस्तुओं के स्थैर्य के प्रसङ्ग में प्रामाण्य सन्देह का हेतु अवश्य ही विद्यमान है, क्योंकि मुण्डन के बाद जो मस्तक पर केश उग आते हैं, उन केशों में 'ये वे ही केश हैं' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा को सभी अप्रमाण मानते हैं ।

चेन्न; एकत्वनिश्चयस्य त्वयाऽपीष्टत्वात्। अनिष्टौ वा न किञ्चित्सिद्धयेत्। सिद्धयतु यत्र विरुद्धधर्मविरह इति चेत्; तेनैव स्थिरत्वमपि निश्चीयते। स इह सन्दिह्यते इति चेत्: तुल्यमेतत्। क्वचिन्निश्चयोऽपि कथञ्चिदिति चेत्; समः समाधिः ॥१७॥

सि० प० न, एकत्वनिश्चयस्य……………

ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि एक क्षणमात्र में रहनेवाले घट में तो 'एकत्व' का निश्चय तुम्हें भी अभीष्ट है। ऐसा न मानो तो किसी भी वस्तु की सिद्धि संभव न होगी।

पू० प० सिद्ध्यतु यत्र……………

जहाँ जिस धर्म के विरुद्ध किसी धर्म की सिद्धि संभव न हो वहाँ उस धर्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं (अतः नीलादि वस्तुओं में क्षणिकत्व के विरुद्ध स्थैर्य धर्म की सत्ता संभावित नहीं है, अतः उनमें क्षणिकत्व को स्वीकार करना ही होगा)।

सि० प० तेनैव……………

इसी रीति से नीलादि वस्तुओं में स्थैर्य की भी सिद्धि होगी (क्योंकि नीलादि में स्थैर्य के विरुद्ध क्षणिकत्व की उपलब्धि नहीं होती है)।

पू० प० स इह……………

(नीलादि वस्तुओं में स्थैर्य के) विरुद्ध क्षणिकत्व का (निश्चय संभव न भी हो) किन्तु सन्देह तो हो ही सकता है (इस सन्देह से भी स्थैर्य पक्ष का विघटन होगा)।

सि० प० तुल्यम्……………

समानरूप से ही नीलादि के प्रसङ्ग में यह भी कहा जा सकता है कि नीलादि में क्षणिकत्व के विरुद्ध स्थैर्य का निश्चय भले ही संभव न हो, किन्तु इस स्थैर्य का संशय तो हो ही सकता है। इस सन्देह से भी नीलादि पदार्थों का क्षणिकत्व अवश्य ही विघटित हो जायगा।

पू० प० क्वचिन्निश्चयोऽपि……………

यदि एकक्षणमात्र में रहनेवाले घटादि भाव पदार्थों में 'एकत्व' का निश्चय नहीं मानेंगे तो किसी भी पदार्थ का निश्चय न हो सकेगा। फलतः लोकव्यवहार ही रुक जायगा। अतः 'क्वचित्' अर्थात् घटादि पदार्थों में एकत्व का निश्चय भी स्वीकार करते हैं।

सि० प० समः……………

यह समाधान तो घटादि पदार्थों को स्थैर्य मानने के प्रसङ्ग में भी समान रूपसे दिया जा सकता है कि यदि घटादि पदार्थों में स्थैर्य का निर्णय नहीं होगा तो घटादि पदार्थों को (अतीन्द्रिय क्षणमात्र वृत्ति) क्षणिक होने के कारण अतीन्द्रिय मानना होगा, जिससे प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप लोकयात्रा ही विघटित हो जायगी। अतः जिस लोकयात्रा की अनुपपत्ति से आप क्षणिक पदार्थों में 'एकत्व' का निर्णय करेंगे उसी से उनका स्थैर्य भी निर्णीत हो सकता है ॥१७॥

नन्वेतत्कारणत्वं यदि स्वभावो भावस्य नीलादिवत्तदा सर्वसाधारणं स्यात्। न हि नीलं किञ्चित्प्रत्यनीलम्। अथौपाधिकं, तदा उपाधेरपि स्वाभाविकत्वे तथात्वप्रसङ्गः। औपाधिकत्वे त्वनवस्था। अथाऽसाधारणत्वमप्यस्य स्वभाव एव, तत उत्पत्तेरारभ्य कुर्यात्, स्थिरस्यैकस्वभावत्वादिति चेत्; उच्यते—

हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तु सत्।
तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम् ॥१८॥

सर्वसाधारणनीलादिवैधर्म्येण काल्पनिकत्वं कार्यकारणभावस्य व्युत्पादयता नीलादिपारमार्थिकमेवाभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा तद्वैधर्म्येण हेतुफलभावस्यापारमार्थिकत्वानुपपत्तेः। न च कार्यकारणभावस्याऽपारमार्थिकत्वे नीलादि पारमार्थिकं

पू० प० नन्वेतत्··· ··· ··· ···

(इस प्रकार परलोक के अदृष्ट रूप साधन की सिद्धि हो जाने पर भी—यह आक्षेप रह जाता है कि 'कारणत्व' की सिद्धि संभव होने पर ही परलोक का अदृष्ट रूप कारण की भी सिद्धि सम्भव है, किन्तु यह 'कारणत्व' सामान्य ही सिद्ध नहीं है, क्योंकि कारणत्व को यदि दण्डादि वस्तुओं का 'स्वभाव' मानें तो दण्ड जिस प्रकार घट रूप कार्य विशेष का कारण है, उसी प्रकार उसे सभी कार्यों का कारण मानना होगा, क्योंकि घटादि के नीलादि स्वभाव रूप धर्म सभी पुरुषों के लिये नीलादि ही रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि देवदत्त के लिये घट नील स्वभाव का है और यज्ञदत्त के लिये वही घट पीत स्वभाव का।

यदि कारणत्व को (दण्ड का) औपाधिक धर्म मानें तो (उपाधि के प्रसङ्ग में भी यह प्रश्न उदित होगा कि) वह स्वयं दूसरी उपाधि से युक्त है ? अथवा स्वयं स्वाभाविक ही है ? यदि उपाधि को स्वाभाविक मानें तो कथित 'साधारण्य' की आपत्ति होगी। यदि उपाधि की भी कोई दूसरी उपाधि मानें तो अनवस्था होगी। यदि 'असाधारण्य' भी कारणों का स्वभाव मानें तो उसे स्वयं उत्पन्न होते ही कार्य का उत्पादन कर देना चाहिये, क्योंकि स्थिर वस्तुओं का एक प्रकार का स्वभाव नियत है।

सि० प० उच्यते, हेतुशक्तिमनादृत्य··· ··· ··· ···

इन आक्षेपों के उत्तर में हम (सिद्धान्तीगण) कहते हैं कि 'हेतुशक्ति' अर्थात् कारणत्व को स्वीकार न करने पर (पूर्वपक्षियों के दृष्टान्तभूत) नीलादि पदार्थों की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। 'तद्' अर्थात् सहकारिकारणों से युक्त मुख्य कारण ही 'तत्र' अर्थात् कार्य के उत्पादन में समर्थ है (सहायकों से विहीन मुख्य कारण अपने कार्य के उत्पादन में समर्थ नहीं है)। इस प्रकार का 'साधारण्य' क्या कारण में नहीं है ? (अवश्य है)।

सि० प० सर्वसाधारण··· ··· ··· ···

सभी पुरुषों के द्वारा एक ही प्रकार से दीखनेवाले नीलादि पदार्थ को वैधर्म्यदृष्टान्त बना कर जो सम्प्रदाय कार्यकारणभाव को ही काल्पनिक प्रतिपन्न करना चाहते हैं, उन लोगों को भी नीलादि पदार्थों की वास्तविक सत्ता माननी ही होगी। ऐसा न मानने पर यह

भवितुमर्हति, नित्यत्वप्रसङ्गात्। तस्मादस्य पारमार्थिकत्वेऽपरमपि तथा, न वोभयमपीति कथमेकमनेकं परस्परविरुद्धं कार्यं कुर्यात्?। तत्स्वभावत्वादिति यदि, तदोत्पत्तेरारभ्य कुर्यादविशेषादित्यपि न युक्तं, तत्तत्सहकारिसान्निध्ये तत्तत्कार्यं करोतीति स्वभावव्यवस्थापनात्। इदञ्च साधारणमेव, सर्वैरपि तथोपलम्भात्। न हि नीलादेरप्यन्यत्साधारण्यमिति ॥ १८ ॥

कहना सम्भव नहीं है कि "जिस लिये वास्तविक वस्तुओं में रहनेवाला 'साधारण्य' कार्य-कारणभाव में नहीं है, अतः कार्यकारणभाव वास्तविक नहीं है"। क्योंकि कार्यकारणभाव काल्पनिक हों, किन्तु उसी से अपनी सत्ता को प्राप्त करनेवाले नीलादि पदार्थ वास्तविक हों ये दोनों बातें एक साथ स्वीकरणीय नहीं हैं। क्योंकि जिन वास्तविक वस्तुओं को कारण की अपेक्षा नहीं होती है, वे नित्य ही होती हैं (जैसे कि आकाशादि) अतः नीलादि पदार्थों को भी वास्तविक होने के साथ-साथ यदि कारणों से अनपेक्ष मानें तो उन्हें भी नित्य मानना होगा। 'तस्मात्' नीलादि पदार्थों की यदि पारमार्थिक सत्ता माननी है तो कार्यकारणभाव को भी पारमार्थिक ही मानना होगा। नहीं तो दोनों में से कोई भी पारमार्थिक न हो सकेगा।

कथमेकमनेकम्··· ··· ··· ···

दण्डादि एक ही कारण परस्पर विरुद्ध स्वभावों से युक्त (घट गवादि) अनेक कार्यों का उत्पादन कैसे कर सकता है?

पू० प० तत्स्वभावत्वात्··· ··· ··· ···

यदि ऐसा कहें कि "एक ही कारण जिस लिये कि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले कार्यों के उत्पादन के सामर्थ्य रूप स्वभाव से युक्त है, अतः 'एक' कारण से भी कथित अनेक प्रकार के कार्यों का उत्पादन हो सकता है"। क्योंकि उक्त एक ही कारण का परस्पर विरुद्ध अनेक कार्यों का उत्पादन स्वभाव ही है।

तदोत्पत्तेरारभ्य··· ··· ··· ···

किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर दण्डादि कारणों के उत्पन्न होते ही उन से घटादि कार्यों की उत्पत्ति माननी होगी, किन्तु सो उचित नहीं है।

सि० प० तत्तत्सहकारिसान्निध्ये··· ··· ··· ···

(अतः इस प्रसङ्ग में हम सिद्धान्तीगण) कारणों का ऐसा स्वभाव स्वीकार करते हैं कि (मुख्य) कारण अपने सहकारिकारणों का सहयोग पाने पर अवश्य ही अपने अपने कार्यों को उत्पन्न करते हैं। (इदञ्च) इस प्रकार का 'कारणत्व' तो (नीलादि पदार्थों के ही समान) 'साधारण' हैं ही, क्योंकि कारणों के इस प्रकार के 'साधारण्य' की उपलब्धि सभी को होती है। नीलादि पदार्थों के जिस साधारण्य की चर्चा की गयी है, वह भी कारण समुदाय के रहने पर सभी जनों के द्वारा नीलत्वादि रूपों से उनका गृहीत होना छोड़कर और कुछ भी नहीं है ॥ १८ ॥

स्यादेतत्। अस्तु स्थिरं, तथापि नित्यविभोर्न कारणत्वमुपपद्यते। तथा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमवधार्यते; नान्वयमात्रेण, अतिप्रसङ्गात्। न च नित्यविभूनां व्यतिरेकसम्भवः। न च सोपाधेरसावस्त्येवेति साम्प्रतम्; तथाभूतस्योपाधिसंबन्धेऽप्यनधिकारात्। जनितो हि तेन स तस्य स्यात् ? नित्यो वा ?। न प्रथमः, पूर्ववत्। नापि द्वितीयः, पूर्ववदेव।

पू० प० स्यादेतत् ··· ··· अस्तु··· ··· ··· ···

यदि घटादि भाव पदार्थों को (क्षणिक न मान कर यदि) स्थिर ही मान लेते हैं, तथापि 'आत्मा' को किसी भी कार्य का 'कारण' मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह नित्य एवं विभु है। चूँकि अन्वय और व्यतिरेक ये दोनों मिलकर ही 'कारणत्व' के ज्ञापक हैं, केवल अन्वय नहीं। नित्य एवं विभु आत्मा में सभी कार्यों का अन्वय रहने पर भी किसी भी कार्य का 'व्यतिरेक' सम्भव नहीं है। यदि केवल 'अन्वय' को 'कारणत्व' का ज्ञापक मानें तो (गगनादि नित्य एवं विभु पदार्थों में भी घटादि कार्यों की कारणता की आपत्ति रूप) 'अतिप्रसङ्ग' होगा।

सि० प० न च सोपाधेः ··· ··· ··· ···

केवल आत्मा में अदृष्टादि कार्य उत्पन्न नहीं होते, किन्तु शरीर रूप उपाधि से युक्त आत्मा में ही अदृष्टादि कार्यों की उत्पत्ति होती है। अदृष्टादि कार्यों के साथ शरीर का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही सम्भावित हैं। अतः शरीर के उक्त अन्वय और व्यतिरेक से शरीरविशिष्ट आत्मा में भी व्यतिरेक के व्यवहार की उपपत्ति की जा सकती है (विशेष्य का अभाव न रहने पर भी विशेषण के अभाव से विशिष्ट में अभाव का व्यवहार 'शिखी विनष्टः' इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है)।

पू० प० तथाभूतस्य ··· ··· ··· ···

(यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि) 'तथाभूत' अर्थात् नित्य एवं विभु आत्मा शरीर रूप उपाधि के साथ सम्बद्ध होने का अधिकार ही नहीं रखता। क्योंकि (१) यह शरीर रूप उपाधि यदि अनित्य है तो फिर यही कहना होगा कि उक्त नित्य एवं विभु आत्मा से उत्पन्न उस शरीर रूप उपाधि के साथ ही आत्मा सम्बद्ध है। (२) अथवा शरीर रूप उपाधि भी आत्मा के ही समान नित्य है ?। इन दोनों में प्रथम पक्ष तो 'पूर्ववत्' असङ्गत है, (अर्थात् तत्तत् शरीर का भी उपभोक्ता आत्मा में रहने वाला अदृष्ट कारण है। अदृष्ट का कारण है आत्मा। इस प्रकार आत्मा भी शरीर का कारण है) किन्तु अभी यह बात चल ही रही है कि—'आत्मा किसी का कारण हो ही नहीं सकता"। फलतः जिस प्रकार आत्मा में अदृष्ट की कारणता अनुपपन्न है, उसी प्रकार शरीर की कारणता भी अनुपपन्न ही है)।

(२) शरीर रूप उपाधि को नित्य मानकर भी आत्मा में कारणता की उपपत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि इसमें भी 'पूर्ववत्' बाधक विद्यमान है। अर्थात् पूर्व में कही

तथापि चोपाधेरेव व्यतिरेको न तस्य, अविशेषात्। तद्वत इति चेन्न; स चोपाधिश्चेत्यतोऽन्यस्य तद्वत्पदार्थस्याभावात्। भावे वा स एव कारणं स्यात्।

गयी व्यतिरेकाभाव रूप जिस युक्ति के अनुसार नित्य आत्मा में कारणता अनुपपन्न है, उसी युक्ति से नित्य शरीर में भी कारणता की उपपत्ति प्रतिरुद्ध होगी।[1]

तथापि चोपाधेरेव ··· ··· ··· ···

(यदि उपाधि एवं उपाधि के साथ आत्मा के सम्बन्ध को स्वीकार भी करलें) 'तथापि' शरीर रूप उपाधि रूप विशेषण से युक्त शरीर विशिष्ट आत्मा के अभाव का पर्यवसान केवल शरीर रूप उपाधि के अभाव में ही होगा, क्योंकि शरीरविशिष्ट आत्मा के अभाव को केवल शरीर का अभाव रूप मान लेने से भी कोई अन्तर नहीं आता है।[2]

सि० प० तद्वत् ··· ··· ··· ···

शरीरविशिष्ट आत्मा एक अतिरिक्त ही वस्तु है, वह शरीर और आत्मा इन दोनों में से प्रत्येक से भिन्न है। अतः केवल आत्मा का 'व्यतिरेक' सम्भव न होने पर भी शरीर-विशिष्ट आत्मा का 'व्यतिरेक' हो सकता है। अतः शरीर विशिष्ट आत्मा के न रहने एवं अदृष्ट की उत्पत्ति न होने से इन दोनों में अन्वय के समान व्यतिरेक भी सम्भव है। सुतराम् शरीर विशिष्ट आत्मा में कारणता की कोई अनुपपत्ति नहीं है।[3]

पू० प० न, सोचोपाधिश्च ··· ··· ··· ···

शरीर रूप उपाधि एवं आत्मा इन दोनों से भिन्न शरीर विशिष्ट आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि शरीरविशिष्ट आत्मा नाम की एक अलग वस्तु को मान भी लें

---

१. दूसरी यह बात भी है कि उपाधि को नित्य मानिये अथवा अनित्य, किन्तु आत्मा के साथ उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध मानना ही होगा। एवं वह सम्बन्ध अवश्य ही उन दोनों से 'अन्य' होगा। प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों ही सम्बन्ध के कारण हैं। अतः आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का भी आत्मा को कारण मानना होगा। किन्तु आत्मा में किसी भी प्रकार की कारणता ही अनुपपन्न है। अतः इस प्रकार से भी आत्मा में व्यतिरेकमूलक कारणता की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

२. अर्थात् विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव को केवल विशेषणाभाव रूप ही स्वीकार करना चाहिये। 'शिखी विनष्टः' इत्यादि स्थलों में शिखा से युक्त पुरुष का विनाश प्रत्यक्ष से बाधित है, क्योंकि पुरुष का प्रत्यक्ष होता है। अतः 'शिखी विनष्टः' इस प्रतीति का विषय शिखा रूप विशेषण का अभाव ही है। एवं उक्तस्थल में 'शिखा विनष्टा' यह स्वतन्त्र प्रतीति भी होती है, इस प्रतीति का विषय केवल शिखा के विनाश को स्वीकार करना ही है। इसी प्रकार शरीरविशिष्ट आत्मा का अभाव फलतः केवल शरीर का अभाव ही है। इस से आत्मा के अभाव की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

अत्रोच्यते—

पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित् ।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि ॥१९॥

भवेदेवं यद्यन्वयव्यतिरेकावेव कारणत्वम्, किन्तु कार्यान्नियतः पूर्वभावः। स च क्वचिदन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते, क्वचिद्धर्मिग्राहकात्प्रमाणात्। अन्यथा कार्यात्कारणानुमानं क्वापि न स्यात्, तेन तस्यानुविधानानुपलम्भात्। उपलम्भे वा कार्यलिङ्गानवकाशात्, प्रत्यक्षत एव तत्सिद्धेः।

तथापि केवल आत्मा में कारणता की सिद्धि न होकर कथित व्यतिरेक से युक्त शरीर-विशिष्ट आत्मा में ही कारणता सिद्ध होगी केवल आत्मा में नहीं। अतः नित्य एवं विभु होने के कारण आत्मा किसी का कारण हो ही नहीं सकती।

सि० प० अत्रोच्यते० पूर्वभावो हि ··· ··· ··· ···

इस आक्षेप के उत्तर में हम सिद्धान्ती कहते हैं कि कार्य का नियत पूर्ववर्त्तित्व ही 'कारणता' है। यह कारणता जिस किसी हेतु से निश्चित हो सकती है (अर्थात् कभी अन्वय से, कभी व्यतिरेक से कभी इन दोनों से एवं कभी धर्मिग्राहक मान से)। 'अन्यथा' यदि ऐसा न मानें अर्थात् केवल सम्मिलित अन्वय और व्यतिरेक को ही कारणता का ज्ञापक मानें तो नित्य एवं विभु जिस आत्मा रूप धर्मी में कारणत्वाभाव रूप धर्म का साधन पूर्वपक्षी करना चाहते हैं, उस धर्मी का ज्ञान ही सम्भव नहीं होगा।[1]

भवेदेवम् ··· ··· ··· ···

आत्मा का व्यतिरेक सम्भव न होने से आत्मा में कारणत्व की अनुपपत्ति तब होती जब कि 'कारण' का यह लक्षण होता कि "कार्य का अन्वय और व्यतिरेक जिसके अन्वय और व्यतिरेक से हो वही कारण है", किन्तु कारण का लक्षण तो 'कार्यनियतपूर्ववर्त्तित्व' रूप है। इस प्रकार का कारणत्व कभी अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों से गृहीत होता है एवं कभी 'धर्मिग्राहक' प्रमाण से।

अन्यथा कार्यात् ··· ··· ··· ···

'अन्यथा' यदि केवल अन्वय व्यतिरेक को ही कारणता का ग्राहक मानें तो कार्य रूप हेतु से कारण का कोई भी अनुमान नहीं हो पायेगा। क्योंकि कारण कभी भी कार्य के साथ नहीं देखा जाता। अतः कार्य कारण का ज्ञापक नहीं हो सकेगा। यदि कार्य के साथ

---

1. विशिष्ट बुद्धि के लिये धर्मिज्ञान की अपेक्षा होती है। भूतल रूप धर्मिज्ञान के बिना 'घटवद् भूतलम्' यह विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। अतः आत्मज्ञान को 'आत्मा न कारणम्' इस विशिष्ट बुद्धि का कारण मानना ही होगा। हम लोगों को ज्ञान इच्छादि के समवायिकारण रूप से ही आत्मा का ज्ञान होता है। अतः आत्मा को यदि कारण ही नहीं मानेंगे तो पूर्वपक्षी 'आत्मा न कस्यापि कारणम्' इस पक्ष का भी स्थापन न कर सकेंगे। अतः पूर्वपक्षवादी जिस प्रमाण से अपने पक्ष के 'धर्मी' रूप आत्मा के ज्ञान का सम्पादन करेंगे, उसी धर्मिग्राहक मान से आत्मा में कारणता की भी सिद्धि होगी।

कारण देखा जाय तो फिर उस कारण का ग्रहण तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जायगा, उसके लिये कार्यलिङ्गक कारण के अनुमान की प्रवृत्ति ही व्यर्थ हो जायगी।

तज्जातीयानुविधानदर्शनात् ··· ··· ··· ···

[1]घटादि अन्य द्रव्यों में जो गुण की कारणता अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा पहिले से सिद्ध है, उसी के बल से द्रव्यत्व से युक्त आत्मा रूप द्रव्य में भी गुण की कारणता प्राप्त हो जाती है—इसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता।

(कहने का तात्पर्य है कि तत्कपाल व्यक्ति में जो तद्घट की कारणता सिद्ध की जाती है, उसका प्रयोजक तद्घट के साथ तत्कपाल व्यक्ति का अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, किन्तु अन्य घटों के साथ अन्य कपालों का जो अन्वय और व्यतिरेक पूर्व से गृहीत है, उसी के बल से प्रकृत तत्कपाल व्यक्ति में प्रकृत तद्घट व्यक्ति की कारणता गृहीत होती है। इसी प्रकार घटादि द्रव्यों में घटादिगत रूपादि गुणों की कारणता जिस अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध की जाती है, उसी अन्वय व्यतिरेक से आत्मा रूप द्रव्य में भी अदृष्ट रूप गुण की कारणता सिद्ध होगी। फलतः जिस व्यक्ति में जिस व्यक्ति की कारणता सिद्ध करना इष्ट है, उन दोनों व्यक्तियों का अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण आवश्यक नहीं है, किन्तु तज्जातीय दूसरी व्यक्तियों में अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण ही आवश्यक है। प्रकृत में अदृष्ट रूप कार्य 'गुण' है, एवं आत्मा रूप कारण द्रव्य है। गुण का समवायिकारण द्रव्य है। अर्थात् गुणनिष्ठ कार्यतानिरूपित समवायिकारणता का अवच्छेदक द्रव्यत्व है। घट में जो तद्गत रूप की समवायिकारणता है उसका अवच्छेद (व्यावर्त्तक) धर्म भी द्रव्यत्व ही है, घटत्व नहीं। अर्थात् घट चूँकि द्रव्य है इसीलिये समवायिकारण है। 'वह घट है' इसलिये समवायिकारण नहीं है। अतः गुणनिष्ठ समवायिकारणता का अवच्छेद जो द्रव्यत्व धर्म है, उसकी सत्ता जब आत्मा में है तो उसमें गुण की समवायिकारणता भी अवश्य है। आत्मा में द्रव्यत्व तो रहे, किन्तु तदवच्छेद्य समवायिकारणता न रहे यह संभव नहीं है। ऐसा होने से द्रव्यत्व समवायिकारणता का अवच्छेदक ही नहीं रह

1. कार्यलिङ्गक कारणानुमान की कथित अनुपपत्ति का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि जिस कार्यव्यक्तिविशेष से जिस कारणव्यक्तिविशेष का अनुमान इष्ट है, उन दोनों का अन्वय और व्यतिरेक भले ही उपलब्ध न हो, किन्तु तत्सजातीय किसी दूसरी कार्यव्यक्ति के साथ तत्सजातीय किसी दूसरी कारणव्यक्ति का अन्वय और व्यतिरेक दोनों का गृहीत होना सम्भव है। प्रकृत अनुमेय रूप कारण व्यक्ति में एवं हेतुभूत कार्य व्यक्ति में उन जातियों की अनुसृति देखी जाती है। इसी से किसी कार्यव्यक्तिविशेष से किसी कारणव्यक्तिविशेष का अनुमान होगा। इन दोनों के अन्वय और व्यतिरेक का अग्रहण इसका बाधक नहीं होगा 'तज्जातीयानुविधानदर्शनात्' इस सन्दर्भ के द्वारा इसी समाधान का अतिदेश आत्मा में कारणत्व के साधन के लिये भी किया गया है।

तथापि कोष्ठगत्यानुविहितान्वयव्यतिरेकमेव कार्यात्कारणं सिद्धयेत्, अन्यत्र तथा दर्शनादिति चेन्न; बाधेन सङ्कोचात्, विपक्षे बाधकाभावेन

जायगा। आत्मा जिन गुणों का समवायिकारण होगा वे गुण हैं अदृष्ट एवं ज्ञानादि। अतः आत्मा का व्यतिरेक संभव न होने पर भी आत्मा कारण हो सकता है।

पू० प० तथापि कोष्ठगत्या ··· ··· ··· ···

फिर भी 'कोष्ठगत्या' अर्थात् वस्तुगत्या कार्य रूप हेतु से उसी कारण का अनुमान होगा, जो कारण कार्य के अन्वय और व्यतिरेक दोनों से ही युक्त हो, क्योंकि रूपज्ञान से जो चक्षु का अनुमान होता है, वहाँ ऐसी ही स्थिति देखी जाती है। अतः ज्ञानअदृष्टादि कार्यों से जिस आत्मा का अनुमान होगा, उसे भी ज्ञान अदृष्टादि कार्यों के अन्वय और व्यतिरेक से युक्त होना आवश्यक है। किन्तु आत्मा का 'व्यतिरेक' बाधित है। अतः आत्मा में कारणत्व का अनुमान साध्याप्रसिद्धि दोष से ग्रसित होगा (साध्य में विशेषणीभूत धर्म-साध्यतावच्छेदक का अभाव जहाँ साध्य में रहे वहाँ साध्याप्रसिद्धि दोष होता है। जैसे 'पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान्' इत्यादि)। अतः कथित युक्ति से धर्मिग्राहकमान के द्वारा आत्मा में कारणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

सि० प० न, बाधेन ··· ··· ··· ···

उक्त आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि (१) दृष्टान्त में जिस रूप से साध्य देखा जाता है, उस रूप से युक्त साध्य यदि पक्ष में बाधित रहता है, तो उस बाध के प्रयोजक रूप को छोड़कर संकुचित रूप से युक्त साध्य की भी अनुमिति होती है (जैसे कि पहिले 'महानसीयवह्न्यभाववान् पर्वतः' इस आकार का बाधनिश्चय पहिले से रहने पर सामान्यतः वह्नित्व रूप से व्याप्ति प्रभृति का निश्चय रहने पर भी पर्वत में सामान्यतः वह्नित्व रूप से वह्निसामान्य का 'पर्वतो वह्निमान्' इस आकार की अनुमिति नहीं होती, किन्तु 'पर्वतो महानसीयवह्नीतरवह्निमान्' इसी आकार की अनुमिति होती है। उसी प्रकार यद्यपि रूपज्ञान स्वरूप कार्य से उसके अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूपों से युक्त चक्षु रूप कारण का ही अनुमान होता है, तथापि आत्मा में चूंकि 'व्यतिरेक' रूप धर्म बाधित है, अतः अदृष्टादि रूप कार्यों के केवल अन्वय एवं आत्मत्व इन दोनों रूपों से युक्त आत्मस्वरूप कारण का ही अनुमान होगा।

विपक्षे बाधकाभावेन ··· ··· ··· ···

(२) 'विपक्ष' का अर्थात् व्यतिरेक से रहित कारणत्व की सिद्धि का कोई बाधक नहीं है, अतः आत्मा में 'व्यतिरेक' से रहित कारणता की सिद्धि हो सकती है। (अर्थात् ऐसा कोई नियम नहीं है कि दृष्टान्त में जिन सभी रूपों से युक्त साध्य की सिद्धि रहे, पक्ष में भी उन सभी रूपों से युक्त ही साध्य की अनुमिति हो। अतः ऐसा हो सकता है कि रूपज्ञान स्वरूपकार्य से चक्षु-रूप जिस कारण का जो अनुमान होता है, उस कारण रूप साध्य में कार्य

चाव्याप्तेः, दर्शनमात्रेण चोत्कर्षसमत्वात्। अस्य च ईश्वरे विस्तरो वक्ष्यते। सर्वव्यापकानां सर्वान्प्रत्यन्वयमात्राविशेषे कारणत्वप्रसङ्गो बाधकमिति चेन्न।

का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही रहे, किन्तु अदृष्टादि गुण रूप कार्य से जो आत्मा रूप कारण का अनुमान होगा उसमें अदृष्टादि रूप कार्य का केवल अन्वय ही रहे व्यतिरेक नहीं)।

दर्शनमात्रेण ... ...

('अन्यत्र तथा दर्शनात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा जो यह आक्षेप किया गया है कि 'अन्यत्र' अर्थात् चक्षु प्रभृति दृष्टान्तों में जो कारणता है वह कार्यों के अन्वय और व्यतिरेक दोनों के साथ है, अतः आत्मा में भी यदि कारणता रहेगी तो कार्यों के अन्वय और व्यतिरेक दोनों के ही साथ रहेगी, किन्तु आत्मा का व्यतिरेक संभव न होने से आत्मा में कार्यों का अन्वय और व्यतिरेक दोनों का रहना संभव नहीं है, अतः आत्मा में व्यतिरेक के साथ नियत रूप से रहनेवाली कारणता भी नहीं रह सकती) यह आक्षेप 'उत्कर्षसम जाति' नाम का असत् उत्तर है।[1]

इस 'उत्कर्षसम' जात्युत्तर की और विस्तृत चर्चा आगे (पञ्चम स्तबक में) करेंगे।

पू० प० सर्वव्यापकानाम् ... ...

कार्य के व्यतिरेक के न रहने पर भी कार्य के अन्वय मात्र से कारणत्व की स्वीकृति में एक यह बाधा है कि जिस प्रकार अदृष्टादि कार्यों के साथ केवल आत्मा का ही अन्वय नहीं है, बल्कि आकाशादि नित्य विभु पदार्थों का अन्वय विद्यमान है। अतः जिस प्रकार आत्मा में अदृष्टादि कार्यों की कारणता की सिद्धि होगी, उसी प्रकार आत्मा एवं और भी विभु एवं नित्य द्रव्यों में भी सभी कार्यों की कारणता माननी होगी। अतः केवल अन्वय के बल से आत्मा में कारणता की सिद्धि नहीं की जा सकती।

---

1. न्यायसूत्र में 'उत्कर्षसम' जाति का लक्षण इस प्रकार है 'दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासञ्जयत उत्कर्षसमः' (न्या० सू० अ० ५, अ० १, सू० ४)। अर्थात् वादी के द्वारा स्वीकृत दृष्टान्त में विद्यमान जिस धर्म की सत्ता पक्ष में नहीं है, उस धर्म के अभाव के द्वारा पक्ष में प्रकृत साध्य के अभाव का 'समासञ्जन' अर्थात् प्रतिवादी के द्वारा दोष का उद्भावन करें तो वह 'उत्पर्षसम' नाम का जात्युत्तर होगा। जैसे कि 'आत्मा सक्रियः, क्रिया-हेतुगुणवत्वात् लोष्टवत्' ऐसा न्याय प्रयोग किये जाने पर अगर प्रतिवादी यह कहें कि आत्मा अगर लोष्ट के समान क्रिया से युक्त हो तो लोष्ट के ही समान उन्हें स्पर्श से युक्त भी होना चाहिये, किन्तु आत्मा चूँकि स्पर्श से युक्त नहीं है, अतः आत्मा में क्रिया भी नहीं रह सकती। तदनुसार प्रकृत में चक्षुरादि दृष्टान्तों में ज्ञात कार्यव्यतिरेक की आपत्ति से आत्मा में अकारणत्व की जो आपत्ति दी गयी है वह कथित 'उत्कर्षसम' नाम का जात्युत्तर है।

अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयतया विपक्षे बाधकेन च विशेषेऽनतिप्रसङ्गात् ।

तथा हि कार्यं समवायिकारणवद् दृष्टमित्यदृष्टाश्रयमपि तज्जातीयकारणकम्, आश्रयाभावे किं प्रत्यासन्नमसमवायिकारणं स्यात् ? तदभावे निमित्तमपि किमुपकुर्यात् ? । तथा चानुत्पत्तिः सततोत्पत्तिर्वा सर्वत्रोत्पत्तिर्वा स्यात् ।

सि० प० न, अन्वयव्यतिरेकवत् ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार रूपादि कार्यों के घटादि समवायिकारण अन्वय और व्यतिरेक दोनों से ही युक्त हैं, आत्मा भी अदृष्टादि गुणों के उसी प्रकार समवायिकारण हैं । अतः आत्मा को भी अन्वय और व्यतिरेक दोनों से युक्त होना चाहिये । इस प्रकार आत्मा में जो अन्वय और व्यतिरेक दोनों से युक्त घटादि समवायिकारणों में रहने वाले समवायिकारणत्व रूप समानजातीयता है, इस समान जातीयता रूप 'विशेष' अर्थात् अन्तर के कारण ही आत्मा में एवं आकाशादि में घटादि कार्यों के कारणत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती ।

विपक्ष बाधक············

एवं 'विपक्षबाधक तर्क' के द्वारा भी उस 'विशेष' की सिद्धि की जा सकती है, जिससे (आत्मा एवं आकाशादि विभु पदार्थों में घटादि सभी कार्यों के कारणत्व की आपत्ति रूप) अति प्रसङ्ग नहीं होगा ।[1]

तथा हि············

(विशदार्थ यह है कि समवायिकारणों से घटादि कार्यों की उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है । अदृष्ट भी कार्य है, अतः उसका भी कोई समवायिकारण अवश्य होगा । जिस आश्रय में कार्य की उत्पत्ति होती है, वही आश्रय उस कार्य का समवायिकारण कहलाता है । अगर

---

1. प्रकृत में आत्मा में अकारणत्व का पक्ष सिद्धान्तियों के लिये 'विपक्ष' है, आत्मा में कारणत्व का पक्ष ही उक्त 'विपक्ष' का बाधक है, जो सिद्धान्तियों का 'स्वपक्ष' है । इस विपक्ष के बाधक तर्क के द्वारा भी आत्मा में सकारणत्व की सिद्धि की जा सकती है । अर्थात् कार्यों के उत्पादन में अगर समवायिकारणों की अपेक्षा न हो तो उनके उत्पादन के लिये किसी नियत देश का नियम न रह जायगा । ज्ञान अदृष्टादि भी कार्य हैं, अतः उनका भी कोई समवायिकारण अवश्य होगा । केवल द्रव्य पदार्थ ही समवायिकारण हो सकता है । आत्मा से भिन्न पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से कोई भी ज्ञानादि के समवायिकारण नहीं हो सकते । सुतराम् पृथिव्यादि आठो द्रव्यों से भिन्न कोई अन्य द्रव्य ही ज्ञानादि का समवायिकारण हो सकता है । वही समवायिकारणीभूत द्रव्य है 'आत्मा' । कारणत्व रूप सामान्यधर्म के विना 'समवायिकारणत्व' रूप विशेष धर्म नहीं रह सकता । अतः उक्त समवायिकारणत्व हेतु से भी आत्मा में कारणत्व सामान्य का अनुमान किया जा सकता है । इस प्रकार नित्य और विभु होने के कारण आत्मा में कार्यों का व्यतिरेक संभव न रहने पर भी आत्मा में कारणता रह सकती है ।

एवमपि निमित्तस्य सामर्थ्यादेव नियतदेशोत्पादे स एव देशोऽवश्यापेक्षणीयः स्यात्। तथा च सामान्यतो देशसिद्धावितरपृथिव्यादिबाधे तदतिरिक्तसिद्धिं को वारयेत् ?

'आश्रय' रूप 'समवायिकारण' न रहे तो कहाँ पर 'प्रत्यासन्न' हो कर 'असमवायिकारण' कार्य को उत्पन्न करेगा। क्योंकि 'समवायिकारण' में 'प्रत्यासन्न' कारण ही असमवायिकारण कहलाता है। अतः कार्यों का कोई 'समवायिकारण' अवश्य है। अदृष्ट भी एक कार्य है, अतः उसका भी कोई 'समवायिकारण' अवश्य चाहिये। अदृष्ट का वह समवायिकारण ही आत्मा है। यदि समवायिकारण और असमवायिकारण ये दोनों न रहें तो किन कारणों को साहाय्य पहुँचाने से उन दोनों से भिन्न 'कारण' 'निमित्तकारण' कहलायेंगे। क्योंकि उन दोनों के 'उपकारक' कारण ही 'निमित्तकारण' कहलाते हैं। अतः समवायिकारण अवश्य है। समवायिकारण के खण्डित होने पर वस्तुतः 'कारणता' ही खण्डित हो जाती है। जिससे कार्य की या तो कभी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी या फिर सभी कार्यों की बराबर उत्पत्ति होती ही रहेगी। यदि असमवायिकारण और निमित्तकारण इन दोनों को स्वीकार कर केवल 'समवायिकारण' को ही नहीं मानेंगे तो सभी आश्रयों में सभी कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी।

एवमपि ....

(यदि ऐसा कहें कि केवल निमित्तकारण ही मानेंगे, समवायिकारण को स्वीकार नहीं करेंगे, किन्तु निमित्त कारण का ही ऐसा स्वभाव स्वीकार करेंगे कि वह किसी नियत देश में ही कार्य का उत्पादन करे। इसी से कार्यों के नियत देश में ही उत्पन्न होने का नियम उपपन्न हो जायगा। अतः समवायिकारण को मानने की आवश्यकता नहीं है। फलतः आत्मा में ज्ञानादि गुणों के समवायिकारणत्व मूलक जो कारणत्व सामान्य की उपपत्ति दी गयी है, वह युक्त नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि) 'एवमपि' अर्थात् समवायिकारण को स्वीकार किये बिना भी यदि कार्यों के नियत देश में ही उत्पत्ति को स्वीकार करें तो उक्त नियतदेश का कार्य की उत्पत्ति से पूर्व नियत रूप से रहना आवश्यक स्वीकार करेंगे या नहीं ? यदि नहीं तो फिर कार्यों की नियतदेशोत्पत्ति का उक्त नियम उपपन्न नहीं होगा। यदि कार्योत्पत्ति से पहिले उक्त नियतदेश का नियत रूप से रहना आवश्यक मानेंगे ? तो उक्त 'नियतदेश' में कार्यनियत पूर्ववर्त्तित्व रूप कारणत्व का लक्षण विद्यमान ही है। अतः उक्त नियतदेश को भी कारण मानना ही होगा। इस प्रकार सभी कार्यों का एकनियतदेश निश्चित हो जाने पर अदृष्ट एवं ज्ञानादि कार्यों के कारणीभूत नियत देश की सत्ता भी माननी होगी। वह 'नियतदेश' केवल द्रव्य ही होगा। एवं पृथिवी प्रभृति आठ द्रव्य अदृष्टादि के नियत देश नहीं हो सकते। अतः पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न आत्मा रूप द्रव्य में कारणत्व की स्वीकृति का निवारण कौन करेगा ?

एवमसमवायिनिमित्ते चोहनीये ।

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो-
मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात्साक्षितया नस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम ॥२०॥

इति श्री मदुदयनाचार्यविरचिते गद्यपद्यात्मके न्यायकुसुमाञ्जलौ प्रथमः स्तवकः

एवम्............

(एवम्) अर्थात् जिस प्रकार 'सर्वत्र सर्वकार्योत्पत्ति' रूप बाधक के बल से ज्ञानादि कार्यों के समवायिकारण की कल्पना आवश्यक समझ कर की गयी है, उसी प्रकार 'बाधक' के बल से ही ज्ञानादि कार्यों के असमवायिकारण और निमित्त कारणों की भी 'कल्पना' (ऊह) करनी चाहिये ।[1]

इत्येषा......असमा ... ...

इस ग्रन्थ के प्रथम स्तवक में प्रधान रूप से उपपादित, एवं सम्पूर्ण विश्व के साधनीभूत इस 'अदृष्ट' को ही (प्रत्येक जीवात्मा में भिन्न-भिन्न होने के कारण) नैयायिकगण 'असमा' (अर्थात् अन्य सभी साधनों के सादृश्य से रहित) कहते हैं । एवं (इन्द्रजाल के समान) दुर्ज्ञेय होने के कारण बौद्धलोग जिसको 'माया' (अथवा संवृति) कहते हैं । इस

---

१. ज्ञानादि की उत्पत्ति यदि केवल आत्मा रूप समवायिकारण से ही माने तो ज्ञानादि की सदा सर्वदा उत्पत्ति होती रहेगी, क्योंकि आत्मा नित्य है । किन्तु ज्ञान की सतत उत्पत्ति नहीं होती है । अतः ज्ञानादि का कोई और ऐसा कारण मानना होगा जिसके न रहने से आत्मा के रहते हुये भी ज्ञानादि की उत्पत्ति रोकी जा सके । वे ज्ञानादि के असमवायिकारण और निमित्त कारण ही होंगे । इसी प्रकार यदि समवायिकारण और असमवायिकारण इन दोनों कारणों को तो मानें, किन्तु निमित्तकारण को न मानें तो इन्द्रिय एवं अर्थ इन दोनों के संनिकर्ष के न रहने पर भी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति माननी होगी । इसी 'प्रत्यक्षापत्ति' रूप बाधक के बल से 'इन्द्रियार्थ संनिकर्ष' रूप निमित्त कारण की कल्पना की जाती है । एवं समवायिकारण और निमित्तकारण इन दोनों को ही मान कर यदि असमवायिकारण को ही अस्वीकार करें तो आत्मा और मन इन दोनों के संयोग के बिना भी ज्ञानादि की उत्पत्ति होने लगेगी । अतः इस 'ज्ञानापत्ति' रूप बाधक के बल से ज्ञानादि का आत्ममनःसंयोग रूप निमित्तकारण भी मानना पड़ता है ।

अदृष्ट को ही 'सांख्याचार्य' गण 'प्रकृति' कहते हैं, क्योंकि यही सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण है। 'तत्त्वज्ञान' रूप 'विद्या' से विनष्ट होने के भय से युक्त होने के कारण इसी को वेदान्ती गण 'अविद्या' कहते हैं।

इस प्रकार जिस 'देव' (परमेश्वर) की विश्वरचना में सहायिका शक्ति रूप 'अदृष्ट' के प्रसङ्ग का उस मतभेदजनित कोलाहल समाप्त हो चुका है। वही रागद्वेषादि से रहित परमेश्वर मेरी आत्मा में प्रत्यक्ष होकर 'साक्षी रूप से (निष्काम होकर) अपनी (परमेश्वर विषयक) चिन्ता को स्थिर बनाये रखें।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

न्यायकुसुमाञ्जलिः

(गद्यपद्यात्मकः)

द्वितीयः स्तबकः

—: ० :—

तदेवं सामान्यतः सिद्धे अलौकिके हेतौ तत्साधनेनावश्यं भवितव्यम्। न च तच्छक्यमस्मदादिभिर्द्रष्टुम्। न चादृष्टेन व्यवहारः। ततो लोकोत्तरः सर्वानुभावी सम्भाव्यते। ननु नित्यनिर्दोषवेदद्वारको योगकर्मसिद्धसर्वज्ञद्वारको वा धर्मसम्प्रदायः स्यात्, किं परमेश्वरकल्पनयेति चेत्; अत्रोच्यते—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात्सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥ १ ॥

सि० प० तदेवम् ··· ··· ··· ···

इस प्रकार (सामान्यतो दृष्ट) अनुमान के कार्यों के द्वारा साधारणदृष्टि से न दीखनेवाले 'अदृष्ट' रूप हेतु की सिद्धि हो जाने पर यह भी (सिद्ध ही है कि) उस अदृष्ट रूप हेतु का भी कोई कारण अवश्य है, किन्तु (अदृष्ट के उत्पादक यागादि कारणों का प्रत्यक्ष अस्मदादिको होने पर भी उनमें जो अदृष्ट का साधनत्व है, उसका प्रत्यक्ष हम जैसे साधारण जनों को नहीं हो सकता। जिस पुरुष को यागादि में अदृष्टसाधनत्व का प्रत्यक्ष न हो उसके द्वारा ('यागादि अदृष्ट के साधन हैं' इस शब्द का प्रयोग रूप) व्यवहार नहीं चल सकता। (व्यवहार की इस अनुपपत्ति से) अस्मदादि से उत्कृष्ट किसी ऐसे सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना सर्वथा उचित है, जिन में यागादि में अदृष्टसाधनत्व का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रहे।

पू० प० ··· ··· ··· ··· ननु नित्यनिर्दोष ··· ··· ··· ···

१. वेद चूंकि नित्य (अनुत्पाद्य और अविनाशी) है (अत एव शब्द में सम्भावित) पुरुषगत भ्रमविप्रलिप्सादि दोषों से सर्वथा रहित भी है। नित्य एवं निर्दुष्ट इन वेदों के द्वारा ही (वह व्यवहार रूप) धर्म सम्प्रदाय चल सकता है।

२. अथवा योगाभ्यास एवं यगादि कर्मों के अनुष्ठानों के द्वारा उपयुक्त ज्ञान से सम्पन्न सर्वज्ञ (कल्प कपिलादि) मुनियों के द्वारा भी उक्त धर्म-सम्प्रदाय का प्रचलन हो सकता है। इसके लिये परमेश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

अत्रोच्यते, प्रमायाः ··· ··· ··· ···

(मीमांसकों के द्वारा एवं कपिलानुयायियों के द्वारा उठायी गयी इन अन्यथासिद्धियों के) प्रसङ्ग में हम (नैयायिक) कहते हैं कि—

तथाहि—प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात्, अप्रमावत्। यदि च तावन्मात्राधीना भवेत्, अप्रमापि प्रमैव भवेत्। अस्ति हि तत्र ज्ञानहेतुः। अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यात्। ज्ञानत्वेप्यतिरिक्तदोषानुप्रवेशादप्रमेति चेत् ?

---

१. सभी यथार्थ ज्ञान चूँकि ज्ञानों के साधारण कारणों से भिन्न किसी और कारण (पर) की भी अपेक्षा रखते हैं (अतः वेद से उत्पन्न होनेवाले यथार्थज्ञान में भी ज्ञान के अन्य साधारण कारणों से 'पर' अर्थात् भिन्न 'गुण' रूप यथार्थज्ञान की भी अपेक्षा है, अपेक्षित इस यथार्थ ज्ञान का आश्रय ही परमेश्वर हैं)।

२. (वेदों से होनेवाले यथार्थज्ञान की उपपत्ति वेदों को नित्य मान कर भी नहीं की जा सकती, क्योंकि) सृष्टि और प्रलय दोनों ही संभव हैं (अतः प्रलय में वेदों का नाश हो जाने पर न वेदों की स्वरूपतः नित्यता सम्भव है, न प्रवाह रूप से ही नित्यता संभव है)।

३. (योगाभ्यास से विशेष ज्ञान प्राप्त करनेवाले कपिलादि मुनियों के द्वारा भी धर्मसम्प्रदाय का चलना सम्भव नहीं है, क्योंकि) ईश्वर से भिन्न किसी व्यक्ति पर (धर्मसम्प्रदाय चलाने के उपयुक्त ज्ञान का) विश्वास करना सम्भव नहीं है।

४. अतः इश्वर को माने विना धर्म सम्प्रदाय को प्रचलित होने का कोई दूसरा उपाय सम्भव ही नहीं है।

सि० प० तथा हि प्रमा ··· ··· ··· ···

अयथार्थ ज्ञान (अप्रमा) की तरह यथार्थज्ञान (प्रमा) भी चूँकि विशेष प्रकार का ज्ञान ही है, अतः जिस प्रकार (मीमांसक भी मानते हैं कि) अप्रमा ज्ञान में ज्ञान के साधारण कारणों से अतिरिक्त (दोष रूप अन्य) कारण की भी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार प्रमा ज्ञान भी चूँकि विशेष प्रकार का ज्ञान ही है अतः उसकी उत्पत्ति के लिये भी ज्ञान के साधारण कारणों से अतिरिक्त (गुण रूप) कारण की भी अपेक्षा अवश्य होती है। अगर प्रमा (यथार्थज्ञान) की उत्पत्ति सभी ज्ञानों के साधारण कारणों से ही हो, तो फिर अप्रमा (अयथार्थज्ञान) को भी प्रमा ही मानना पड़ेगा, क्योंकि अप्रमा ज्ञान की उत्पत्ति में भी ज्ञान के साधारण कारणों की अपेक्षा अवश्य होती है। अगर अप्रमाज्ञान में ज्ञान के साधारण कारणों की अपेक्षा न मानें तो फिर अयथार्थज्ञान (अप्रमा) 'ज्ञान' भी न कहला पायेगा।

पू० प० ··· ··· ··· ··· ज्ञानत्वेऽप्यतिरिक्त ··· ··· ··· ···

(यद्यपि ज्ञान के साधारण कारणों से उत्पन्न होने से प्रमा की तरह अप्रमा ज्ञान भी अवश्य है, फिर भी अप्रमा की उत्पत्ति के लिये जिस कारण समूह की अपेक्षा होती है, उसमें ज्ञान के साधारण कारणों के अतिरिक्त काचकामलादि) दोष भी सम्मिलित हैं। (अतः अप्रमा में कथित रीति से प्रमात्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती)।

एवं तर्हि दोषाभावमधिकमासाद्य प्रमापि जायेत, नियमेन तदपेक्षणात्। अस्तु दोषाभावोऽधिकः, भावस्तु नेष्यत इति चेत्; भवेदप्येवम्, यदि नियमेन दोषैर्भावरूपैरेव भवितव्यम्। न त्वेवम्, विशेषादर्शनादेरभावस्यापि दोषत्वात्। कथमन्यथा ततः संशयविपर्ययौ ? ततस्तदभावो भाव एवेति कथं स नेष्यते ?

स्यादेतत्। शब्दे तावद्विप्रलिप्सादयो भावा एव दोषाः। ततस्तदभावे स्वत एव शाब्दी प्रमेति चेन्न; अनुमानादौ लिङ्गविपर्यासादीनां भावानामपि दोषत्वे

सि० प० ··· ··· एवं तर्हि ··· ··· ··· ···

अगर ऐसी बात हो तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि सभी ज्ञानों के साधारण कारणों के समूह में जब दोष का अभाव रूप कारण भी प्रवेश पाता है तभी (दोषाभावघटित उक्त सामग्री) से प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। क्योंकि बराबर ही प्रमाज्ञान (अपनी उत्पत्ति के लिये सभी ज्ञानों के साधारण कारणों के अतिरिक्त दोष के अभाव रूप) कारण की भी अपेक्षा रखता है।

पू० प० अस्तु दोषाभाव ··· ··· ··· ···

माना कि प्रमाज्ञान की उत्पत्ति में दोष के अभाव को भी अपेक्षा होती है, किन्तु हम लोग (मीमांसक) प्रमाज्ञान की उत्पत्ति में सभी ज्ञानों के साधारण कारणों से अतिरिक्त और किसी भाव रूप कारण की अपेक्षा नहीं मानते।

सि० प० भवेदप्येवम् ··· ··· ··· ···

यह बात तब कही जा सकती थी जब कि 'दोष' केवल भाव रूप ही हों, किन्तु दोष तो अभाव रूप भी होते हैं। जैसे कि किसी वस्तु के विशेष धर्म का अज्ञान प्रभृति। अगर दोष केवल भाव रूप ही हों तो फिर 'विशेषादर्शन' से संशय और विपर्यय की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस प्रकार दोष अभाव रूप भी हो सकता है, अतः प्रमा के प्रति दोषाभाव को मीमांसक भी कारण क्यों नहीं मानते ? क्योंकि दोष का अभाव तो भाव रूप भी हो सकता है।

पू० प० ··· ··· स्यादेतत्, शब्दे तावत् ··· ··· ··· ···

(प्रत्यक्षात्मक यथार्थज्ञानों के प्रतिबन्धक रूप दोष कदाचित् अभाव रूप हो भी सकते हैं) किन्तु शब्द प्रमाण से जो प्रमा ज्ञान उत्पन्न होगा, उसका प्रतिरोधक विप्रलिप्सा (दूसरे को ठगने की इच्छा) प्रभृति दोष तो नियमतः भाव रूप ही हैं, अतः इन भाव रूप दोषों का अभाव शाब्दी प्रमा के लिये अपेक्षित होनेपर भी शाब्दी उसके

विप्रलिप्साद्यभावे वक्तृ-
तदभावमात्रेण प्रमानुत्पत्तेः। अन्यत्र यथातथाऽस्तु, शब्दे तु
गुणापेक्षा नास्तीति चेन्न; गुणाभावे तदप्रामाण्यस्य वक्तृदोषापेक्षा नास्तीति विपर्यय-
स्यापि सुवचत्वात्। अप्रामाण्यं प्रति दोषाणामन्वयव्यतिरेकौ स्त इति चेन्न,
प्रामाण्यं प्रत्यपि गुणानां तयोः सत्त्वात्।

स्वतस्त्व में कोई बाधा नहीं है (सभी ज्ञानों के लिये अपेक्षित सामान्य कारणों से अतिरिक्त
किसी 'भाव' रूप कारण की अपेक्षा न रखना ही प्रमाज्ञान का 'स्वतस्त्व' है)।

सि० प० ··· ··· न, अनुमानादौ ··· ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं हो सकती (कि केवल दोष के अभाव के रहने से ही प्रमा के उपयुक्त गुण के न रहने पर भी प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति हो जाय) क्योंकि हेतु के विपर्ययादि रूप भावात्मक दोषों के न रहने से ही अनुमित्यादि प्रमाज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो जाती। (उनके लिये लिङ्गादि के यथार्थज्ञान रूप गुण की भी अपेक्षा होती है)।

पू० प० ··· ··· अन्यत्र यथा तथा ··· ··· ··· ···

'अन्यत्र' अनुमिति प्रभृति यथार्थज्ञानों के प्रसङ्ग में चाहे जो कुछ भी हो, किन्तु शब्द
प्रमाण से उत्पन्न प्रमाज्ञान के प्रसङ्ग में यही तथ्य है कि विप्रलिप्सा प्रभृति दोषों के न
रहने पर (एवं ज्ञानों के साधारण कारणों के रहने पर) वक्ता में रहने वाले शाब्दीप्रमा के
सदृश प्रमाज्ञान रूप गुण के न रहने पर भी शब्द प्रमाण से प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है।

सि० प० न, गुणाभावे ··· ··· ··· ···

(तुल्यन्याय से) उक्त कथन के विपरीत यह कहना भी ठीक हो सकता है कि अप्रामाण्य के लिये गुण का अभाव ही अपेक्षित है, अतः शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने वाले अप्रमा ज्ञान के लिये भी वक्ता में रहनेवाले तत्सजातीय अप्रमाज्ञान रूप दोष की अपेक्षा नहीं है (फलतः अप्रामाण्य का परतस्त्व भीं उपपन्न नहीं हो सकता)।

पू० प० ··· ··· अप्रामाण्यं प्रति ··· ··· ··· ···

(जहां अप्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है, वहां दोष भी आवश्य ही रहते हैं इस प्रकार का) अन्वय एवं (दोषों के न रहने से कभी भी अप्रमाज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, इस आकार का) ये दोनों ही हैं (अतः अप्रमाण्य के लिये दोष आवश्यक है)।

सि० प० ··· ··· प्रामाण्यं प्रत्यपि ··· ··· ··· ···

यह उत्तर भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य और गुण इन दोनों में भी इस प्रकार का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही हैं (अतः अन्वय और व्यतिरेक से अगर दोष को अप्रामाण्य का कारण मानना है तो फिर इन दोनों के बल से ही प्रामाण्य के प्रति गुण को भी कारण मानना ही पड़ेगा)।

पौरुषेयविषये इयमस्तु व्यवस्था, अपौरुषेये तु दोषनिवृत्त्यैव प्रामाण्यमिति चेन्न; गुणनिवृत्त्याऽप्रामाण्यस्यापि सम्भवात् । तस्या अप्रामाण्यं प्रति सामर्थ्यं नोपलब्धमिति चेत्, दोषनिवृत्तेः प्रामाण्यं प्रति क्व सामर्थ्यमुपलब्धम् ? लोकवचसीति चेत्, तुल्यम् ।

पू० प० ··· ··· **पौरुषेये विषये** ··· ··· ··· ···

पौरुषेय शब्दों से जो ज्ञान उत्पन्न होंगे (उक्त अन्वय व्यतिरेक के कारण) उन में रहनेवाले प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिये (वक्ता में रहनेवाले उक्त यथार्थज्ञान रूप गुण की अपेक्षा भले ही स्वीकार कर ली जाय, किन्तु) अपौरुषेयशब्द रूप वेद से जो ज्ञान उत्पन्न होंगे उन में रहनेवाले प्रामाण्य की उत्पत्ति में उक्त गुण की अपेक्षा नहीं है, केवल (विप्रलिप्सादि) दोषों के अभाव से ही वे उत्पन्न हो जायंगे ।

सि० प० ··· ··· **न, गुणनिवृत्त्या** ··· ··· ··· ···

इस प्रकार तुल्य युक्ति से वेद जनित ज्ञान में अप्रामाण्य की भी उत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि (प्रामाण्य में दोषाभाव की तरह अप्रामाण्य के प्रति गुण के अभाव को भी कारण मानना होगा । गुण का यह अभाव तो वेद जनित ज्ञान से पहिले भी है, अतः) वेद जनित ज्ञान में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी ।

पू० प० ··· ·· **स्या अप्रमाण्यं प्रति** ··· ··· ··· ···

(जिस प्रकार दोषाभाव में प्रामाण्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य उपलब्ध है, उसी प्रकार) गुण के अभाव में अप्रामाण्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य कहीं उपलब्ध नहीं है । (अतः गुणाभाव के द्वारा वेदजनित ज्ञान में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती) ।

सि० प० ··· ··· **दोषनिवृत्तेः** ··· ··· ··· ···

दोष के अभाव में ही अप्रामाण्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य कहाँ उपलब्ध है ?

पू० प० ··· ··· **लोकवचसि** ··· ··· ··· ···

आप्त पुरुषों से उच्चरित वाक्यों से जिन प्रमाज्ञानों की उत्पत्ति होती है, उन ज्ञानों में रहनेवाले प्रमाण्य के पहिले नियमतः विप्रलिप्सादि दोष नहीं रहते, अतः समझते हैं कि दोष के अभाव में प्रमाण्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है ।

सि० प ·· ··· **तुल्यम्** ··· ··· ··· ···

यह बात तो गुणों के अभाव के प्रसङ्ग में भी समान रूप से कही जा सकती है कि अनाप्तपुरुषों से उच्चरित वाक्यों से जिन अप्रमाज्ञानों की उत्पत्ति होती है, उनमें रहनेवाले अप्रामाण्य से पहिले चूंकि वक्ता में रहनेवाले यथार्थज्ञान रूप गुण कदापि नहीं रहते, अतः समझते हैं कि गुणों के अभाव में अप्रामाण्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है ।

तदप्रामाण्ये दोषा एव कारणम्, गुणनिवृत्तिस्त्ववर्जनीयसिद्ध-सन्निधिरिति चेत्, प्रामाण्यं प्रति गुणेष्वपि तुल्यमेतत्। गुणानांदोषोत्सारणप्रयुक्तः सन्निधिरिति चेत्; दोषाणामपि गुणोत्सारणप्रयुक्त इत्यस्तु। निस्स्वभावत्व-मेवमपौरुषेयस्य वेदस्य स्यादिति चेत्।

पू० प० ··· ··· तदप्रामाण्ये ··· ··· ··· ···

ज्ञान में रहनेवाले अप्रामाण्य का दोष ही कारण है। अप्रमाण्य से पहिले नियत रूप से गुणों के अभाव की सत्ता तो इस लिये रहती है कि दोषों के रहते उसकी सत्ता हटाई नहीं जा सकती।

सि० प० ··· ··· ··· ···प्रामाण्यं प्रति··· ··· ··· ···

गुण को प्रामाण्य का कारण मानने के पक्ष में भी इसी तरह यह बात कही जा सकती है कि प्रमाण्य के प्रति गुण ही 'कारण' हैं (दोषों का अभाव नहीं)। प्रामाण्य की उत्पत्ति से पहिले दोषों का अभाव इस लिये नियत रूप से रहता है कि गुण और दोष परस्पर विरोधी हैं, अतः गुणों के रहते दोष नहीं रह सकते।

पू० प० ··· ··· ··· ·· गुणानाम्··· ··· ··· ···

प्रामाण्य की उत्पत्ति से पहिले दोषों का हटना आवश्यक है। गुण दोष हटाने का यही काम करता है। इसी लिये वह प्रमाण्यज्ञान से पहिले अवश्य रहता है। (अतः गुण प्रामाण्य का कारण नहीं, किन्तु अन्यथासिद्ध है)।

सि० प० ··· ··· ··· ··· दोषाणामपि··· ··· ··· ···

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अप्रामाण्य के प्रति गुणों का अभाव ही कारण है (दोष नहीं) किन्तु दोषों से ही गुणों की सत्ता हटाई जा सकती है। अ : अप्रामाण्य से पहिले दोषों का रहना अनिवार्य है (किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोष अप्रामाण्य का कारण है)।

पू० प० ··· ··· ··· ··· निःस्वभावत्वम्··· ··· ··· ···

इस प्रकार तो अपौरुषेय वेदों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान 'निःस्वभाव' हो जायेंगे (चूँकि वेद रूप शब्द पुरुष से उत्पन्न नहीं होते, अतः वक्तृगत विप्रलिप्सादि दोष वहां नहीं रह सकते, सुतराम् वेदों से उत्पन्न ज्ञान अप्रमाण नहीं होंगे। एवं उक्त कारण से ही वक्तृगत सम्यक् ज्ञान रूप गुण की भी संभावना भी नहीं है, अतः उक्त ज्ञान प्रमाण भी नहीं होंगे) ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दो ही स्वभाव हैं, उक्त वेद जनित ज्ञान में दोनों स्वभावों में से किसी के न रहने से उक्त ज्ञान 'निःस्वभाव हो जांयगे।

आत्मानमुपालभस्व । तस्माद्... द्वेषरागाभावाऽविनाभावेऽपि रागद्वेषयोरनुविधाननियमात् प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयत्नयो रागद्वेषकारणकत्वम्, न तु निवृत्तिप्रयत्नो द्वेषहेतुकः, प्रवृत्तिप्रयत्नस्तु सत्यपि रागानुविधाने द्वेषाभावहेतुक इति विभागो युज्यते, विशेषाभावात् । तथा प्रकृतेऽपि ।

तथापि वेदानामपौरुषेयत्वे सिद्धे अपेतवक्तृदोषत्वादेव प्रामाण्यं सेत्स्यति । ततः सिद्धे प्रामाण्ये गुणाभावेऽपि तदिति दोषाभाव एव हेतुरकारणं गुणा इति

सि० प० ··· ··· ··· ···आत्मानम् ·· ··· ··· ···

(वेदजनित ज्ञान में निःस्वाभत्व का) यह उपालम्भ (मीमांसक) अपने आप को दें (मुझे नहीं, क्योंकि मेरे मत के अनुसार जैसे कि) राग प्रवृत्तिप्रयत्न का कारण है और उसके साथ अवश्य रहनेवाले (अविनाभूत) द्वेष के अभाव की सत्ता भी अवश्य रहती है) एवं निवृत्तिजनक प्रयत्न के द्वेष रूप कारणके होते हुये भी द्वेष के साथ अवश्य रहनेवाला राग का अभाव भी अवश्य रहता है । किन्तु उन दोनों अभावों की नियमित सत्ता से राग में प्रवृत्तिप्रयत्न की कारणता और द्वेष में निवृत्तिप्रयत्न की कारणता को नहीं हटाई जा सकती । यह नहीं कहा जा सकता कि निवृत्तिप्रयत्न का कारण तो दोष अवश्य है, किन्तु प्रवृत्तिप्रयत्न का कारण द्वेष का अभाव ही है, राग नहीं । भले ही प्रवृत्तिप्रयत्न के साथ राग का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही रहे । इसी प्रकार प्रकृत में भी (हम लोगों का कहना है कि) गुण प्रमा का और दोष अप्रमा का कारण हैं, गुण की तरह जो दोषाभाव में प्रमा का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही देखे जाते हैं, एवं गुणाभाव में जो अप्रमा का अन्वय और व्यतिरेक ये दोनों ही दोष की तरह देखे जाते है, उसका हेतु है क्रमशः गुण के साथ दोषाभाव की व्याप्ति एवं दोष के साथ गुणभाव की व्याप्ति । इससे दोषाभाव में प्रमात्व की कारणता और गुणभाव में अप्रमात्व की कारणता नहीं आ सकती । अतः वेद से उत्पन्न ज्ञान को अगर प्रमा मानना है तो किसी आप्तपुरुष को उसका वक्ता मानना ही होगा । जिससे उक्त पुरुष में रहनेवाले वेदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान रूप गुण के द्वारा वेदजनित ज्ञान में प्रमात्व की उपपत्ति हो सके ।

पू० प० ··· ··· ··· ··· तथापि वेदानाम्··· ··· ··· ···

फिर भी वेदों में अपौरुषेयत्व के सिद्ध हो जाने पर इस अनुमान से ही प्रामाण्य की सिद्धि हो जायगी (अनुमान का प्रकार यह है कि) चूंकि वेदों का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं है, अतः वेदों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से पहिले वक्तृगत विप्रलिप्सादि दोष नहीं रह सकते । इसलिये अपौरुषेय वेदों से उत्पन्न ज्ञान में अगर प्रमात्व की उत्पत्ति होगी तो वक्ता में रहनेवाले दोष की असंभावना से ही होगी । फलतः दोष के अभाव से ही होगी, गुणों से नहीं । सुतराम् यह

चेन्न, अपेतवक्तृगुणत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात् । स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः। किन्तु शङ्कामात्रमनेनापनीयते, दोषनिबन्धनत्वात्तस्य तदभावेऽभावात् । अतो नेदमनुमानवत् सत्प्रतिसाधनीकर्त्तुमुचितमिति चेन्न; गुणनिवृत्तिनिबन्धनायाः शङ्कायाः

अनुमान सुलभ है कि 'वेदाः प्रमाणम् अपेतवक्तृदोषत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा प्रतारक-वाक्यम्, इस अनुमान के द्वारा दोषों के अभाव में प्रामाण्य की कारणता के सिद्ध हो जाने पर वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि हो जायगी।

सि० प० ··· ··· ··· ···न, अपेतवक्तृगुणत्वेन ··· ··· ··· ···

उक्त अनुमान की तरह यह विरोधी अनुमान भी किया जा सकता है कि 'वेदा अप्रमाणम् अपेतवक्तृगुणत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा आप्तवाक्यम्' अर्थात् वेदों को अगर अपौरुषेय मानते हैं तो फिर दोषों की तरह गुणों की संभावना भी मिट जाती है। सुतराम् जिस प्रकार (आपके मतके अनुसार प्रमाण्य के प्रयोजक दोषाभाव की सत्ता है, उसी प्रकार मेरे मत के अनुसार प्रमाण्य के प्रयोजक गुणों की भी संभावना नहीं है) इस प्रकार वेद रूप पक्ष में ही अपेतवक्तृगुणत्व रूप दूसरे हेतु से मीमांसकों के अभिमत प्रामाण्य रूप साध्य के अभाव रूप अप्रामाण्य का भी अनुमान हो सकता है। (जहाँ प्रकृत पक्ष में किसी दूसरे हेतु से प्रकृत साध्य के अभाव का अनुमान संभावित हो वहाँ प्रकृत हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जाता है)। इस प्रकार वेदों में प्रामाण्य का साधक प्रकृत हेतु सत्प्रतिपक्ष से दूषित होने के कारण वेदों में प्रामाण्य का साधन नहीं कर सकता।

पू० प० ··· ··· ··· ···स्वत एव ··· ··· ··· ···

कथित अपेतवक्तृदोषत्व हेतु से वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि नहीं होती है, वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि तो 'स्वतः' होती है। कथित 'अपेतवक्तृदोषत्व' हेतु से तो वेदों में स्वाभाविक अप्रामाण्य के संशय का निरास भर होता है। क्योंकि दोष से ही संशय की उत्पत्ति होती है। चूँकि संशय अप्रमाज्ञान स्वरूप है, अतः वक्तृगत दोष के न रहने से प्रामाण्य का संशय भी स्वभावतः छूट जाता है। सुतराम् उक्त रीति से सत्प्रतिपक्ष दोष के उद्भावन का प्रकृत में कोई अवसर नहीं है।

सि० प० ··· ··· न, गुणनिवृत्ति : ··· ··· ··· ···

जैसे कि दोष प्रमात्व के संशय का कारण है, वैसे ही गुणों की निवृत्ति भी संशय का कारण है। प्रकृत में वेदों का आदि वक्ता किसी को न मानने से जैसे वक्ता में रहनेवाले विप्रलिप्सादि दोषों की संभावना नहीं रहती, उसी प्रकार वक्ता में रहनेवाले यथार्थज्ञानादि गुणों की संभावना भी नहीं रह जाती। इस स्थिति में दोष के न रहने से अप्रमाण्य का सन्देह भले

सुलभत्वात्। केवलाया अप्रामाण्यं प्रत्यनङ्गत्वान्न शंकेति चेत्? दोषनिवृत्तेरपि केवलायाः प्रमाण्यं प्रत्यनङ्गत्वान्न तया शङ्कानिवृत्तिरिति तुल्यमिति।

एवं प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात्, अप्रामाण्यवत्। यदि तु स्वतो ज्ञायेत; कदाचिदपि प्रामाण्यसंशयो न स्यात्, ज्ञानत्वसंशयवत्। निश्चिते तदनवकाशात्।

ही संभव न हो, किन्तु गुण की निवृत्ति से वेदों में जो प्रामाण्य का जो सन्देह प्राप्त होगा, उसका निवारण कौन करेगा ?

पू० प० ··· ··· तस्याः केवलायाः ··· ··· ··· ···

दोषों के साहाय्य के बिना केवल गुणों के अभाव से प्रामाण्य का संशय कहीं भी संभव नहीं है। अतः वेदों में अपेतवक्तृकत्व हेतु से गुणाभाव मूलक प्रामाण्य के संशय की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

सि० प० ··· ··· दोषनिवृत्तेरपि ··· ··· ··· ···

तुल्य न्याय से यह भी कहा जा सकता है कि जैसे कि दोष से अनपेक्ष केवल गुणाभाव ही अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है, उसी प्रकार गुणों के बिना केवल दोषों की निवृत्ति भी प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है। अतः गुणों के न रहने से केवल दोषाभाव से अप्रामाण्य के सन्देह का निरसन नहीं हो सकता।

एवं प्रामाण्यं परतः ··· ··· ··· ···

इसी प्रकार (ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व की उत्पत्ति की तरह) ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का अर्थात् प्रमात्व का ज्ञान भी 'परतः' होता है। (अर्थात् ज्ञान में रहने वाले प्रमाण्य को समझने के लिये भी प्रमात्व के आश्रयीभूत ज्ञान को समझानेवाले प्रमाणों से अतिरिक्त दूसरे प्रमाण की भी आवश्यकता होती है)। अगर ऐसा न मानें (ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व का ग्रहण भी ज्ञान के ज्ञापक प्रमाणों से ही मानें) तो फिर किसी भी ज्ञान में प्रमात्व का संशय नहीं हो सकेगा। किन्तु यह सभी मानते हैं कि कोई नया ज्ञान (अनभ्यासदशापन्नज्ञान) होने पर उसमें प्रमात्व का इस आकार का संशय होता है कि यह ज्ञान यथार्थ है या नहीं ?' अगर प्रमात्व के आश्रयीभूत ज्ञान को समझाने वाले प्रमाण को ही उक्त प्रमात्व को निश्चित करने वाला भी मान लें (अर्थात् प्रमात्व की ज्ञप्ति को परतः न मानें) तो कथित संशय की उपपत्ति नहीं होगी। (क्योंकि संशय के दोनों कोटियों) में से किसी एक कोटि का भी निश्चय संशय को रोक देता है। प्रकृत ज्ञान के बाद उस ज्ञान को समझानेवाला जो प्रमाण है उसी को अगर उस ज्ञान में रहनेवाले प्रमात्व का भी निश्चायक मान लें तो फिर सभी ज्ञानों में नियमतः प्रमात्व का निश्चय भी हो ही जायगा। जो 'इदं ज्ञानं प्रमा नवा' इस संशय के एक कोटि का निश्चय स्वरूप है।

न हि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवाऽसौ। तथा सति तदुदच्छेदप्रसङ्गात्।

अथ प्रमाणवदप्रमाणेऽपि तत्प्रत्ययदर्शनाद्विशेषादर्शनाद्भवति शङ्केत्यभिप्रायः;

पू० प० ··· ··· न हि साधकबाधकप्रमाणाभावम्··· ··· ··· ···

धर्मी में संशय के दोनों कोटि.ों के साथ रहने वाले किसी एक धर्म का ज्ञान संशय का कारण है। (पर्वत में वह्नि धूम के साथ देखा जाता है एवं अयोगोलक में धूमाभाव के साथ ; अत एव वह्नि के देखने से धूम का संशय होता है। इस संशय का प्रयोजक धर्म धूम और धूमाभाव दोनों के साथ रहनेवाला वह्नि रूप साधारण धर्म ही है)। प्रकृत में ज्ञानत्व रूप धर्म प्रमाज्ञान और अप्रमाज्ञान दोनों में ही है। अतः ज्ञानत्व ही प्रामाण्य संशय का जनक साधारण धर्म है, क्योंकि वह प्रामाण्य के साथ भी रहता है और अप्रामाण्य के साथ भी। जिस समय प्रमात्व निश्चित भी रहेगा, उस समय भी ज्ञानत्व रूप उक्त उभयसाधारण धर्म के ज्ञान से प्रमात्व का संशय हो सकता है।

सि० प०··· ··· ··· ··· तथा सति ··· ··· ··· ···

उक्त साधारण धर्म का ज्ञान भी संशय का कारण अवश्य है, किन्तु केवल वही संशय का कारण नहीं है। संशय के और भी कारण हैं। कार्य की उत्पत्ति सभी कारणों के रहने पर ही होती है। किसी एक भी कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार उक्त साधारण धर्म का ज्ञान संशय का कारण है, उसी प्रकार साधकप्रमाण और बाधकप्रमाण इन दोनों का अभाव भी संशय का कारण है। संशय के भाव कोटि का निर्णायक प्रमाण ही है साधकप्रमाण, एवं संशय के अभाव कोटि का साधक प्रमाण ही बाधक प्रमाण है, इन दोनों प्रमाणों में से एक के रहने पर भी एक कोटि का निश्चय अवश्य हो जायगा, अतः दोनों प्रमाणों के अभाव का रहना भी आवश्यक है। अगर ऐसा न मानें तो कभी भी संशय का उच्छेद नहीं होगा। प्रकृत में प्रमात्व की सिद्धि के जनक प्रमाण हैं वे अनुव्यवसायादि, जो ज्ञान के भी ग्राहक प्रमाण हैं। इन साधक प्रमाणों के रहते हुए प्रमात्व एवं अप्रमात्व दोनों के साथ रहने वाले ज्ञानत्व रूप साधारण धर्म का ज्ञान रहने पर भी प्रामाण्य के संशय की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि साधकप्रमाण के रहने पर भी साधकप्रमाण का अभाव और बाधकप्रमाण का अभाव ये दोनों अभाव नहीं रहेंगे।

पू० प०··· ··· ··· ···अथ प्रमाणवत् ··· ··· ··· ···

ज्ञान को समझाने वाले (ज्ञानग्राहक) प्रमाणों से प्रामाण्य का ज्ञान यथार्थज्ञान में भी होता है, एवं अयथार्थज्ञान में भी होता है (क्या कि अयथार्थ को यथार्थज्ञान समझने वाले की कमी नहीं है) अतः 'यह ज्ञान प्रमा है' एवं 'यह ज्ञान अयथार्थ है' इन दोनों के निर्णायक

तत्किं प्रमाणज्ञानोपलम्भेऽपि न तत्प्रामाण्यमुपलब्धम्, प्रमाणज्ञानमेव वा नोपलब्धम् ? आद्ये कथं स्वतः प्रामाण्यग्रहः ? प्रत्ययप्रतीतावपि तदप्रतीतेः। द्वितीये, कथं तत्र शङ्का ? धर्मिण एवाऽनुपलब्धेरिति।

यदपि झटिति प्रचुरतरसमर्थप्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या स्वतः प्रामाण्यमुच्यते,

---

किसी 'विशेष' को जब तक नहीं देखा जाता, तबतक संशय को रोकना संभव नहीं है। अतः साधारण धर्मादि के ज्ञानों की तरह 'विशेषादर्शन' भी संशय का एक कारण है। तदनुसार जब तक अप्रमात्व कोटि को विघटित करने वाले विशेषधर्म का दर्शन नहीं हो जाता तब तक प्रमात्व का संशय होगा ही। फलतः ऐसे स्थलों में प्रामाण्य का संशय अप्रामाण्य रूप विशेष धर्म के अदर्शन से ही होता है।

सि० प०··· ··· ··· ···तत्किम् ··· ··· ··· ···

तो फिर इस से मैं आप का यह अभिप्राय समझूं कि प्रमाज्ञान की उपलब्धि होने पर भी उस में रहने वाला प्रमात्व धर्म उपलब्ध नहीं होता है, अतः प्रमात्व का संशय होता है ? अथवा (२) प्रमाज्ञान ही उपलब्ध नहीं होता, इसी लिये प्रामाण्य का संशय होता है ?

इन दोनो में पहिला पक्ष इसलिये असंगत है कि प्रमाज्ञान के ज्ञात हो जाने पर अगर उस में रहने वाले प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता है तो फिर प्रामाण्य की ज्ञप्ति 'स्वतः' अर्थात् प्रामाण्य के आश्रयीभूत ज्ञान को समझाने वाले प्रमाण से ग्राह्य कैसे हुई ? द्वितीय पक्ष इस लिये असंगत है कि अगर प्रामाण्य के आश्रयीभूत ज्ञान की ही उपलब्धि नहीं हुई तो फिर उस ज्ञान में प्रामाण्य का संशय ही क्यों कर होगा ? क्यों कि संशय से पहिले धर्मी का निश्चय आवश्यक है।

(इतने 'पर्यन्त' के सन्दर्भ से प्रामाण्य के परतस्त्व के साधक प्रमाणों को दिखलाया गया है। इस के आगे 'झटिति' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रामाण्य के स्वतस्त्व की सिद्धि करने के लिये मीमांसकों द्वारा प्रयुक्त प्रमाणों का उल्लेख पूर्वक खंडन किया गया है)।

पू० प० ···············यदपि झटिति प्रचुरतर ··· ··· ··· ···

विषय का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण है। क्योंकि जब तक घट ज्ञात नहीं हो जाता तब तक घट में प्रवृत्ति नहीं होती। एंव जिस विषय के ज्ञान में अप्रामाण्य की बुद्धि रहती है, उस ज्ञान के रहते भी उस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः विषय का भी वही ज्ञान प्रवृत्ति का कारण है, जिसमें अप्रामाण्य गृहीत न हो। जल को देखने के बाद प्यासा आदमी तत्क्षण हो जल को ले आने के लिये दौड़ पड़ता है। उसकी वह प्रवृत्ति सफल भी होती है। इस प्रकार की प्रवृत्तियां सैकड़ो हजारों कीं संख्या के लोगों में देखी जातीं हैं। पहिले कह आये हैं कि विषय का वही ज्ञान प्रवृत्ति को उत्पन्न कर सकता है, जिसका प्रमाण्य निश्चित हो। ऐसी वस्तुस्थिति में अगर प्रामाण्य का ज्ञान 'स्वतः' न मान कर 'परतः' माने अर्थात् अनुमानादि अन्य प्रमाणों के द्वारा प्रामाण्य का ज्ञान स्वीकार करें तो कथित झटितिप्रवृत्तियों एवं सफलप्रवृत्तियों की उपपत्ति

तत्किं प्रमाणज्ञानोपलम्भेऽपि न तत्प्रामाण्यमुपलब्धम्, प्रमाणज्ञानमेव वा नोपलब्धम् ? आद्ये कथं स्वतः प्रामाण्यग्रहः ? प्रत्ययप्रतीतावपि तदप्रतीतेः। द्वितीये, कथं तत्र शङ्का ? धर्मिण एवाऽनुपलब्धेरिति।

यदपि झटिति प्रचुरतरसमर्थप्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या स्वतः प्रामाण्यमुच्यते,

---

किसी 'विशेष' को जब तक नहीं देखा जाता, तबतक संशय को रोकना संभव नहीं है। अतः साधारण धर्मादि के ज्ञानों की तरह 'विशेषादर्शन' भी संशय का एक कारण है। तदनुसार जब तक अप्रमात्व कोटि को विघटित करने वाले विशेषधर्म का दर्शन नहीं हो जाता तब तक प्रमात्व का संशय होगा ही। फलतः ऐसे स्थलों में प्रामाण्य का संशय अप्रामाण्य रूप विशेष धर्म के अदर्शन से ही होता है।

सि० प०··· ··· ··· ···तत्किम् ··· ··· ··· ···

तो फिर इस से मैं आप का यह अभिप्राय समझूँ कि प्रमाज्ञान की उपलब्धि होने पर भी उस में रहने वाला प्रमात्व धर्म उपलब्ध नहीं होता है, अतः प्रमात्व का संशय होता है ? अथवा (२) प्रमाज्ञान ही उपलब्ध नहीं होता, इसी लिये प्रामाण्य का संशय होता है ?

इन दोनो में पहिला पक्ष इसलिये असंगत है कि प्रमाज्ञान के ज्ञात हो जाने पर अगर उस में रहने वाले प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता है तो फिर प्रामाण्य की ज्ञप्ति 'स्वतः' अर्थात् प्रामाण्य के आश्रयीभूत ज्ञान को समझाने वाले प्रमाण से ग्राह्य कैसे हुई ? द्वितीय पक्ष इस लिये असंगत है कि अगर प्रामाण्य के आश्रयीभूत ज्ञान की ही उपलब्धि नहीं हुई तो फिर उस ज्ञान में प्रामाण्य का संशय ही क्यों कर होगा ? क्यों कि संशय से पहिले धर्मी का निश्चय आवश्यक है।

(इतने 'पर्यन्त' के सन्दर्भ से प्रामाण्य के परतस्त्व के साधक प्रमाणों को दिखलाया गया है। इस के आगे 'झटिति' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रामाण्य के स्वतस्त्व की सिद्धि करने के लिये मीमांसकों द्वारा प्रयुक्त प्रमाणों का उल्लेख पूर्वक खंडन किया गया है)।

पू० प० ....यदपि झटिति प्रचुरतर ··· ··· ··· ···

विषय का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण है। क्योंकि जब तक घट ज्ञात नहीं हो जाता तब तक घट में प्रवृत्ति नहीं होती। एंव जिस विषय के ज्ञान में अप्रामाण्य की बुद्धि रहती है, उस ज्ञान के रहते भी उस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः विषय का भी वही ज्ञान प्रवृत्ति का कारण है, जिसमें अप्रामाण्य गृहीत न हो। जल को देखने के बाद प्यासा आदमी तत्क्षण ही जल को ले आने के लिये दौड़ पड़ता है। उसकी वह प्रवृत्ति सफल भी होती है। इस प्रकार की प्रवृत्तियां सैकड़ो हजारों कीं संख्या के लोगों में देखी जातीं हैं। पहिले कह आये हैं कि विषय का वही ज्ञान प्रवृत्ति को उत्पन्न कर सकता है, जिसका प्रमाण्य निश्चित हो। ऐसी वस्तुस्थिति में अगर प्रामाण्य का ज्ञान 'स्वतः' न मान कर 'परतः' माने अर्थात् अनुमानादि अन्य प्रमाणों के द्वारा प्रामाण्य का ज्ञान स्वीकार करें तो कथित झटितिप्रवृत्तियों एवं सफलप्रवृत्तियों की उपपत्ति

तदपि नास्ति, अन्यथैवोपपत्तेः । झटिति प्रवृत्तिर्हि झटिति तत्कारणोपनिपातमन्तरेणानुपपद्यमाना तमाक्षिपेत्, प्रचुरप्रवृत्तिरपि स्वकारणप्राचुर्यम् । इच्छा च प्रवृत्तेः कारणम् । तत्कारणमपीष्टाभ्युपायताज्ञानम्, तदपि तज्जातीयत्वलिङ्गानुभवप्रभवम् । सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षादिजन्मा, न तु प्रामाण्यग्रहस्य कचिदप्युपयोगः ।

एवं कथित सहस्रों व्यक्तियों में होने वाली 'प्रचुरप्रवृत्तियों' की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । क्योंकि प्रामाण्य का ज्ञान परतः मानने के अनुसार पहिले विषय का ज्ञान होगा, उसके बाद उस ज्ञान में रहनेवाले प्रामाण्य का अनुमानप्रमाण से ज्ञान के लिये उपयुक्त व्याप्तिज्ञान पक्षधर्मताज्ञान परामर्शादि का संबलन होगा । इस संबलन के बाद प्रमात्व का ज्ञान होगा । तब कहीं जाकर प्रवृत्ति की उत्पत्ति होगी । इससे जल को देखने के बाद ही जो 'झटिति' अर्थात् कथित परामर्शादि के लिये अपेक्षित समय की अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियां हैं, वे अनुपपन्न हो जायगी । एवं हजारों प्यासे पुरुष जल को देख कर जल ले आने के लिये जो प्रवृत्त होते हैं और उनकी ये प्रवृत्तिया सफल भी होतीं है । जल ले आने की प्रवृत्तियों की यह प्रचुरता या आधिक्य भी प्रामाण्य ज्ञान को स्वतः न मानने से अनुपपन्न हो जायगा । क्यों कि यह संभव नहीं है कि उक्त हजारों व्यक्तियों में प्रवृत्ति के प्रयोजक प्रमाण्यानुमान के उपयुक्त परामर्शादि का संबलन एक ही समय हो सके । अतः यही कहना पड़ेगा कि जल को समझने के बाद अनुमान को सामग्री की अपेक्षा किये बिना ही केवल जल ज्ञान के ग्राहक सामग्रियों से ही जलज्ञान में रहने वाला प्रमात्व या प्रामाण्य भी गृहीत हो जाता है, अतः यह भी कहा जा सकता है की कथित 'झटितिप्रवृत्ति' एवं 'प्रचुरप्रवृत्ति' इन दोनों की अनुपपत्तियों से प्रमात्व की ज्ञप्ति के स्वतस्त्व का आक्षेप होता है । अर्थात् प्रामाण्य या प्रमात्व की ज्ञप्ति गत स्वतस्त्व की सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण से भी होती है ।

सि० प० ··· ··· ··· ···तदपि नास्ति... ... ...

सफल होनेवाली कथित 'झटिति-प्रवृत्ति' एवं सफल होने वाली कथित 'प्रचुरप्रवृत्ति' दोनों की उपपत्ति 'अन्यथा' भी हो सकती है । अर्थात् प्रामाण्यज्ञान को स्वतः न मानने पर भी हो सकती है । कारणों का शीघ्रतापूर्वक संबलन ही झटित्ति प्रवृति का कारण है । अतः झटिति प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से सभी कारणों के झटिति संबलन का ही आक्षेप हो सकता है, प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व का नहीं । क्योंकि जो वस्तु जिसके बिना अनुपपन्न रहती है, उस से उसी वस्तु का आक्षेप होता है । इसी तरह प्रचुरप्रवृत्ति भी स्वयं अनुपपन्न होकर कारणों के प्राचुर्य का ही आक्षेप कर सकती है, प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व का नहीं । क्योंकि कारणों का प्राचुर्य ही प्रचुरप्रवृत्ति का कारण है । एवं उक्त दोनों प्रवृत्तियों की सफलता या सामर्थ्य की अनुपपत्ति से उक्त प्रवृत्तियो के कारणीभूत ज्ञान के प्रमात्व का ही आक्षेप होगा, प्रमात्वज्ञान के स्वतस्त्व का नहीं । क्योंकि प्रामाण्यज्ञान का स्वतस्त्व प्रवृत्ति के साफल्य का कारण नहीं है ।

उपयोगे वा स्वत एवेति कुत एतत्? ततः समर्थंप्रवृत्तिप्राचुर्यमपि प्रामाण्यप्राचुर्यात्, तद्ग्रहणप्राचुर्याद्वा। स्वतस्त्वं तु तस्य कोपयुज्यते? न हि पिपासूनां झटिति प्रचुरा समर्था च प्रवृत्तिरम्भसीति पिपासोपशमनशक्तिस्तस्य प्रत्यक्षा स्यात्।

ततः समर्थं ··· ··· ··· ··· ···

जिन झटितिप्रवृति एवं प्रचुरप्रवृत्तियो को चर्चा की गयी है, वे प्रवृत्तियाँ ऐसे ही विषयों में होतीं हैं, जिनके विषय के समान (सजातीय) विषयों से पुरुष लाभ उठा चुका होता है। उन्हीं विषयों की इच्छा जीव को होती है, जिन्हें वह अपने इष्ट का संपादक समझता है। फलतः इष्टसाधनत्व का ज्ञान भी प्रवृत्ति का कारण है। जिस जाति के वस्तु से जीव को पहिले सुख मिला रहता है या दुःख छूटा रहता है, उस जाति की वस्तुओं को वह जीव इष्ट अर्थात् सुख या दुःखनिवृत्ति का साधन समझता है। फलतः 'तदपि' अर्थात् इष्टसाधनता का वह ज्ञान भी इष्टजातीयत्व लिङ्गक अनुमान से ही होता है। इस अनुमान के इष्टजातीयत्व रूप हेतु का ज्ञान भी इन्द्रियसंनिकर्षादि से होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति की जो कारण परम्परा है, उसका अगर अनुसन्धान करते हैं तो 'क्वचिदपि' अर्थात् कहीं दूर पर भी प्रवृत्ति की उत्पत्ति के लिए प्रामाण्य के ज्ञान का उपयोग नहीं दीखता। जब प्रवृत्ति में प्रामाण्यज्ञान के उपयोग की ही यह दशा है तो फिर प्रवृत्ति में प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व के उपयोग की चिन्ता ही व्यर्थ है। अगर किसी प्रकार प्रवृत्ति में प्रामाण्यज्ञान का उपयोग मान भी लिया जाय, तथापि प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व के उपयोग की तो संभावना कदापि नहीं है।

अगर मीमांसकों के कथन के अनुसार दृष्टार्थक प्रवृत्तियों में प्रामाण्यनिश्चय का उपयोग न मान कर अदृष्टार्थक ज्योतिष्टोमादि यागों में प्रवृत्ति के लिये उसके विधायक वाक्यो में प्रामाण्यनिश्चय का उपयोग मान भी लें, तथापि प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व का उपयोग तो प्रवृत्ति में कहीं भी नहीं है। अतः प्रवृत्ति की 'अन्यथानुपपत्ति' से प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

पिपासोपशमन ··· ··· ··· ··· ···

(एवं प्रवृत्ति के उत्पादन में प्रामाण्यज्ञान का उपयोग मान भी लें फिर भी इस से यह सिद्ध नहीं होता कि प्रामाण्य का ज्ञान 'स्वतः' अर्थात् प्रामाण्य के आश्रयीभूत ज्ञान के ज्ञापक प्रमाणों से ही होता है। क्योंकि यह नियम नहीं किया जा सकता कि जिस प्रमाण से धर्मी का ग्रहण हो, उसी प्रमाण के द्वारा उस धर्मी में रहनेवाले धर्म का भी ग्रहण हो। अगर ऐसा मानें तो फिर मीमांसकों को) जल में जो प्यास को बुझाने की शक्ति रूप धर्म है, उस का भी प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय से मानना होगा। क्योंक जल रूप धर्मी का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है। अर्थात् जिस प्रकार जलानयनप्रवृत्ति के लिये उपयोगी प्यास बुझाने की जल की (पिपासोपशमन) शक्ति का ज्ञान शक्ति के आश्रयीभूत जल के ग्राहक इन्द्रियों से नहीं होता है, किन्तु अनुमान से होता है। उसी प्रकार प्रवृत्ति के लिये प्रामाण्य का ज्ञान अगर आवश्यक भी हो, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उस प्रामाण्य का ज्ञान स्वाश्रयीभूत ज्ञान के ज्ञापक प्रमाणों से ही होता है।

स्यादेतत्। प्रामाण्यग्रहे सति सर्वमेतदुपपद्यते। स च स्वतो यदि न स्यात्, न स्यादेव। परतः पक्षस्यानवस्थादुःस्थत्वादिति चेन्न। तदग्रहेऽप्यर्थसन्देहादपि

पू० प० ··· ··· ··· ···स्यादेतत्, प्रामाण्यग्रहे सति

प्रकृत में प्रामाण्यज्ञान का स्वतस्त्व भले ही उपयुक्त न हो, किन्तु कथित झटिति प्रवृत्याादि के लिये प्रामाण्यज्ञान का उपयोग आप (नैयायिक) भी मानते हैं। किन्तु प्रामाण्यज्ञान की उत्पत्ति अगर होगी तो 'स्वतः' ही होगी अर्थात् प्रामाण्यके आश्रयीभूत ज्ञान के ज्ञापक सामग्री से ही होगी। 'परतः' अर्थात् ज्ञान के ज्ञापक कारणों से अतिरिक्त सफल-प्रवृत्ति जनकत्वादि लिङ्गक अनुमानादि से प्रामाण्यज्ञान को उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जिस ज्ञान का प्रमात्व निश्चित रहता है, उसी ज्ञान से अर्थ को सिद्धि हो सकती है। जिस ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित नहीं रहता है, उस से अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। इस वस्तु-स्थिति के अनुसार (परतः प्रामाण्य पक्ष में) प्रमात्व या प्रायाण्य रूप अर्थ की सिद्धि सफलप्रवृत्तिजनकत्वादि लिङ्गक जिस अनुमान से होगी, उस अनुमान में जबतक प्रामाण्य निश्चित नहीं हो जाता, तब तक घटादि विषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में प्रमात्व का निश्चय नहीं हो सकता। अतः इस अनुमिति में रहनेवाले प्रमात्व के निश्चय के लिये किसी दूसरे अनुमान का सहारा लेना होगा। ऐसा मान लेने से इस दूसरे अनुमान में रहनेवाले प्रमात्व के प्रसङ्ग में भी यह प्रश्न होगा कि इस का प्रामाण्य किस से गृहीत होगा? क्योंकि प्रपाण्यग्रह के बिना इस से भी तो पहिले के ज्ञान में रहनेवाले प्रामाण्य की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार प्रमात्वग्रह की सामग्री के अन्वेषण की धारा कभी नहीं रुकेगी। अतः परतः प्रामाण्य पक्ष में अनवस्था दोष की आपत्ति होगी।

एवं अनुमिति के लिये पक्षधर्मिक हेतुमत्ता का ज्ञान और हेतु धार्मिक साध्य की व्याप्ति का ज्ञान ये दोनों ही आवश्यक हैं। ये दोनों ही ज्ञान निश्चय रूप ही चाहिये संशय रूप नहीं। एवं यह भी तय है कि वही ज्ञान कारण हो सकता है जिसमें किसी भी प्रकार से अप्रामाण्य गृहीत न हो। अतः यह भी आवश्यक है कि अनुमिति के कारणीभूत उन दोनों ज्ञानों में प्रामाण्य गृहीत रहे। जिस अनुमान के द्वारा उक्त दोनों ज्ञानों में प्रामाण्य गृहीत होगा, उस अनुमान के प्रयोजकीभूत व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता के ज्ञान में प्रामाण्य के ग्रहण के लिये भी स्वतन्त्र सामग्री का अन्वेषण करना पड़ेगा। इस रीति से भी नैयायिकों के परतः प्रामाण्य-पक्ष में अनवस्था होगी। सुतराम् चूँकि प्रामाण्य का परतः ग्रहण संभव ही नहीं है, अतः उस का ज्ञान 'स्वतः' मानते हैं।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, तदग्रहेऽपि

किसी भी अर्थ के निश्चय के लिये प्रामाण्य या प्रमात्व का ज्ञान आवश्यक नहीं है। यद्यपि यह ठीक है कि जिस ज्ञान में अप्रामाण्य का सन्देह भी रहता है उस ज्ञान से अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु इस का इतना ही अर्थ है कि वही ज्ञान अर्थ का साधक

सर्वस्योपपत्तेः। न चानवस्थाऽपि, प्रामाण्यस्यावश्यज्ञेयत्वानभ्युपगमात्, अन्यथा **स्वतः पक्षेऽपि सा स्यात्।**

हो सकता है, जिस में अप्रामाण्य का जिस किसी भी प्रकार का ज्ञान न रहे (अर्थात् अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित ज्ञान ही अर्थ का साधक है)। इस से यह सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान से अर्थ साधन के लिये ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण भी कारण है। (अप्रामाण्य का अग्रहण एवं प्रामाण्य का ग्रहण ये दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं)। अर्थ के निश्चय के लिये कदाचित् प्रामाण्य के निश्चय को कारण मान भी लें, तथापि प्रवृत्ति के लिये प्रामाण्यनिश्चय की अपेक्षा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अर्थ के सन्देह से भी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः संशय निश्चय साधारण अर्थ का केवल ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण है। अर्थात् अर्थ का ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण है, वह चाहे संशय रूप हो अथवा निश्चय रूप हो। अतः प्रवृत्ति के लिये प्रामाण्यज्ञान की अपेक्षा ही नहीं है। (सुतराम् 'प्रामाण्यग्रहे सति सर्वमेत दुपपद्यते' यह कहना ही असंगत है)।

पू० प० ··· ··· ··· ···न चानवस्था

अर्थ की सिद्धि के लिये प्रामाण्य की आवश्यकता अवश्य है। अगर ऐसी बात न हो तो फिर जिस विषय का ज्ञान प्रथमतः उत्पन्न होता है (अनभ्यासदशापन्न) उस ज्ञान से भी अर्थ की सिद्धि माननी होगी। अतः इस ज्ञान में जो अर्थ सिद्धि का विघटक अप्रामाण्य का सन्देह है, उसको हटाने के लिये प्रामाण्य के निश्चय की आवश्यकता होती है। किन्तु प्रामाण्यज्ञान को 'परतः' मानने में अनवस्था का उपपादन कर चुके हैं। अतः प्रामाण्य का ज्ञान 'स्वतः' मानना ही उचित है।

सि० प० ··· ··· ··· ···प्रामाण्यस्यावश्य

ज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि के लिये सफल प्रवृत्तिजनकत्वादि लिङ्गक जिन अनुमानों की आवश्यकता बतायी गयी है, उन सभी अनुमानों में कथित प्रामाण्य की सिद्धि के लिये प्रामाण्य का ग्रहण की आवश्यता नहीं है, अर्थात् अनुमिति से प्रामाण्य के ग्रहण के लिये इतना ही अपेक्षित है कि उस अनुमिति में अप्रामाण्य गृहीत न रहे। इसके लिये इतना ही आवश्यक है कि अनुमिति में अप्रामाण्य का सन्देह न रहे। जिन स्थलों में प्रामाण्य के ज्ञापक अनुमिति में प्रामाण्य का संशय होगा, उन सभी स्थलों में ज्ञाप्य प्रामाण्य की अनुमिति रूप ज्ञान में भी प्रामाण्य का संशय अवश्य होगा। उन्हीं स्थलों प्रामाण्य के ज्ञापक अनुमानों में प्रामाण्य के निश्चय की आवश्यकता है। फिर भी प्रामाण्य संशय की धारा जब तब चलेगी तभी तक प्रामाण्य निश्चय की कथित आवश्यकता रहेगी। जब यह धारा स्वतः प्रमाण रूप अन्तिम ज्ञान पर पहुँचेगी (जहाँ अप्रामाण्य का संशय नहीं हो सकेगा)

वहाँ प्रामाण्य के संशय की धारा टूट जायगी। उस के बाद प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य रूप दोनों कोटियों का स्मरण न रहने से अथवा उसके बाद किसी दूसरे बाधक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने से प्रामाण्य का संशय नहीं होगा। यह कोई नियम नहीं है कि सभी ज्ञानों में प्रामाण्य का संशय अवश्य ही हो। तस्मात् परतः प्रामाण्यपक्ष में अनवस्था दोष की संभावना नहीं है। मीमांसकगण भी अप्रामाण्य को परतः ही स्वीकार करते हैं। इस प्रसङ्ग में उक्त युक्ति से जब अनवस्था दोष की आपत्ति आती है तो वे भी कथित युक्ति से ही अनवस्था दोष का परिहार करते हैं। (देखिये श्लो. वा. चोदनासूत्र का ६१ श्लो.)।

यह ध्यान रखना चाहिये कि नैयायिकलोग सभी ज्ञानों के प्रामाण्यों को परतः स्वीकार नहीं करते। अभ्यासदशापन्न ज्ञानों में अर्थात् जिस प्रकार के ज्ञानों में बारम्बार प्रामाण्य गृहीत हो चुका है इस प्रकार के कितने ही ऐसे ज्ञान हैं, जिनमें प्रामाण्य का संशय उदित ही नहीं होता। इस प्रकार के ज्ञानों में प्रामाण्य के निश्चय के लिये दूसरे कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। नैयायिकों का इतना ही अभिप्राय है कि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य न स्वतः उत्पन्न होता है, न स्वतः गृहीत होता है।

प्रकृत में कहना है कि यह नियम नहीं है कि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य अवश्य ही गृहीत हो। अगर यह बात मानी जाय तो फिर मीमांसकों के स्वतस्त्व वाले पक्ष में भी अनवस्था अनिवार्य होगी। कुमारिल भट्ट ज्ञान के ग्राहक ज्ञाततालिङ्गक अनुमान से प्रामाण्य का ग्रहण मानते हैं। एवं मुरारिमिश्र ज्ञान के ग्राहक अनुव्यवसाय को ही प्रामाण्य का भी ग्राहक कहते हैं। इन दोनों ही पक्षों में यह प्रश्न होता है कि उक्त अनुमिति एवं उक्त अनुव्यवसाय के प्रामाण्यों का ग्रहण किस से होता है? जिस दूसरी अनुमिति को या जिस दूसरे अनुव्यवसाय को कथित अनुमिति एवं कथित अनुव्यवसायगत प्रामाण्यों का ग्राहक मानेंगे, उन अनुमितियों एवं उन अनुव्यवसायों में रहनेवाले प्रामाण्यों के ग्राहक का प्रश्न उपस्थित होकर इस पक्ष में भी अनवस्था को ले आवेगा। प्राभाकर संप्रदाय के लोग ज्ञान के उत्पादक कारणों से ही उस में रहनेवाले प्रामाण्यों की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति (ज्ञान) दोनों ही मानते हैं। उन लोगों से भी यह पूछना चाहिये कि प्रामाण्यों की यह 'स्वतोग्राह्यता' किस से गृहीत होती है? प्रामाण्य के ग्राहकों से फलतः ज्ञान के उत्पादकों से तो यह गृहीत नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान में रहने वाला प्रामाण्य एवं उस प्रामाण्य में रहनेवाली 'स्वतोग्राह्यता' या स्वतस्त्व ये दोनों दो पदार्थ हैं। अतः उक्त स्वतस्त्व के ज्ञान के लिये परिशेषात् किसी दूसरे प्रमाण का ही खोज करना पड़ेगा। उस दूसरे प्रमाण के प्रसङ्ग में भी ये सभी प्रश्न उपस्थित होकर अनवस्था दोष को ले आवेंगे। अतः मीमांसकों के सभी पक्षों में भी यह अनवस्था दोष अनिवार्य है।

लिङ्गं निश्चितमेव निश्चायकम्। ततस्तन्निश्चयार्थमवश्यं लिङ्गान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेत् ? तत्किमनुपपद्यमानोऽर्थोऽनिश्चित एव स्वोपपाद-

पू० प० लिङ्गं निश्चितमेव············

परतः प्रामाण्य पक्ष में कथित रीति से अनवस्था दोष समान होने के कारण वारणीय भले ही न हो किन्तु अन्य रीति से जो अनवस्था दोष होगा, वह हम लोगों के पक्ष में नहीं है। अनुमिति के लिये पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है। 'पक्षधर्मताज्ञान' पद से पक्षधर्मिक हेतु प्रकारक निश्चयात्मक ज्ञान ही लेना होगा। संशय से भिन्न ज्ञान ही निश्चय कहलाता है। एवं ज्ञान में प्रामाण्य के संशय से विषय का भी संशय होता है। 'पर्वतो धूमवान् इदं ज्ञानं प्रमा नवा' इस प्रकार के संशय से 'पर्वतो धूमवान् न वा' इस प्रकार का विषय संशय होता है। प्रामाण्य के निश्चय से ही प्रामाण्य का संशय विनष्ट होता है। इस प्रकार पक्ष धर्मताज्ञान धार्मिक प्रामाण्य निश्चय भी हेतुनिश्चय के संपादन के द्वारा अनुमिति का कारण है। अतः प्रकृत में नैयायिक लोग सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतु से जो प्रामाण्य की अनुमिति मानते हैं, उस के लिये 'इदं ज्ञानं सफलप्रवृत्तिजनकम्' इस आकार का पक्षधर्मता का निश्चय आवश्यक होगा। एवं इस पक्षधर्मता के निश्चय के लिये उक्त पक्षधर्मता ज्ञान धार्मिक प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक होगा। क्योंकि जब तक पक्षधर्मता का उक्त निश्चय नहीं होगा, तब तक प्रामाण्य की अनुमिति नहीं होगी। इस रीति से पक्षधर्मताज्ञानगत प्रामाण्य के ज्ञापक हेतु के प्रसङ्ग में प्रामाण्य का उक्त प्रश्न उपस्थित होकर अनवस्था में परिणत होगी। अतः प्रामाण्य ज्ञान के परतस्त्व की चर्चा ही छोड़ देने चाहिये।

सि० प० तत्किम्············

पक्षधर्मता के निश्चय के लिये प्रामाण्य के जिस ज्ञान की अपेक्षा की बात कही गयी है, उस प्रामाण्य के ज्ञान की धारा भी अविश्रान्त नहीं है। अतः इस पक्ष में अनवस्था नहीं होगी। जिस प्रकार प्रामाण्य के ज्ञापक सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतुक अनुमान में ही प्रामाण्यज्ञान की धारा अवरुद्ध होकर अनवस्था को रोक देती है, उसी प्रकार जिस पक्षधर्मताज्ञान में प्रामाण्य का संशय होगा, उसी स्थल में पक्षधर्मता ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक होगा। प्रामाण्य के इस निश्चय रूप ज्ञान में प्रामाण्य निश्चय की आवश्यकता नहीं है। अतः इस रीति से भी आई अनवस्था का परिहार हो सकता है।

मीमांसक लोग झटितिप्रवृत्ति की अनुपपत्ति एवं प्रचुरप्रवृत्ति की अनुपपत्ति से प्रामाण्य के स्वतस्त्व को उपपन्न करते हैं। अर्थात् प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व के प्रसङ्ग में वे अर्थापत्ति प्रमाण को उपस्थित करते हैं। उपपाद्य के ज्ञान से जो उपपादक का ज्ञान होता है उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। इन दोनों ज्ञानों में से (अर्थस्य आपत्तिः कल्पना यस्मात् इस व्युत्पत्ति के अनुसार) उपपाद्य का ज्ञान है अर्थापत्ति प्रमाण। एवं (अर्थस्य आपत्तिः इस

कमाक्षिपति, येनाऽनवस्था न स्यात्। प्रत्यक्षेण तस्य निश्चयात्तस्य च सत्तयैव निश्चायकत्वान्नैवमिति चेत्; ममापि प्रत्यक्षेण लिङ्गनिश्चयात्तस्य च सत्तयैव निश्चायकत्वान्नैवमिति तुल्यम्। लिङ्गज्ञानस्य प्रामाण्यानिश्चये कथं तन्निश्चयः स्यादिति चेत्; अनुपपद्यमानार्थज्ञानप्रामाण्यानिश्चये कथं तन्निश्चय इति तुल्यम्।

व्युत्पत्ति के अनुसार) उपपादक का ज्ञान है अर्थापत्ति प्रमिति। अनुमिति में पक्षधर्मता के निश्चय की तरह उपपाद्य के निश्चयात्मक ज्ञान से ही उपपादक का आक्षेप होगा। पक्षधर्मता निश्चय के स्थल में विषयनिश्चय के प्रति प्रामाण्य के निश्चय की अपेक्षा दिखला चुके हैं। सुतराम् प्रथम प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व के ज्ञापक प्रमाण रूप अर्थापत्ति निश्चय के लिये भी किसी दूसरे उपयुक्त प्रामाण्य ज्ञान की अपेक्षा अवश्य होगी। इस दूसरे प्रामाण्य के ज्ञान के लिये स्वतस्त्व के ज्ञापक किसी तीसरी अर्थापत्ति प्रमाण रूप निश्चयात्मक ज्ञान की भी अपेक्षा होगी। अतः इस प्रमाण्य ज्ञान को स्वतः मानने के पक्ष में भी अनवस्था दोष अपरिहार्य है।

पू० प० प्रत्यक्षेण तस्य············

प्रामाण्यज्ञान का स्वतस्त्व जिस अर्थापत्ति प्रमाण से आक्षिप्त होता है, वह अर्थापत्ति प्रमाण प्रत्यक्षात्मक निश्चय रूप है। प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमिति के उत्पादन में चक्षुरादि इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल अपनी सत्ता से ही प्रमाज्ञान के उत्पादक हैं। अतः अर्थापत्ति प्रमाण रूप निश्चय के लिये प्रामाण्यनिश्चय की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार इस पक्ष में अनवस्था दोष नहीं है।

सि० प० ममापि·············

प्रामाण्य की अनुमिति के लिये अपेक्षित 'इदं ज्ञानं सफलप्रवृत्तिजनकम्' इस आकार के पक्षधर्मता ज्ञान को भी प्रत्यक्षात्मक ही मानेंगे। सुतराम् प्रामाण्यज्ञान के परतस्त्व पक्ष में भी अनवस्था दोष की आपत्ति नहीं है। क्योंकि उक्त लिङ्ग के निश्चय के लिये हेतुज्ञान में प्रामाण्य निश्चय की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

पू० प० लिङ्गज्ञानस्य············

चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमाणों के साहाय्य से अगर पक्षधर्मता का ज्ञान हो भी जायगा, फिर भी उस ज्ञान को तब तक निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता जब तक कि उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय न हो जाय। अतः पक्ष में हेतु के निश्चय के लिये प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक है। फिर तन्मूलक अनवस्था दोष भी अनिवार्य है ही।

सि० प० अनुपपद्यमानार्थं··········

यह आपत्ति (नैयायिक और मीमांसक इन) दोनों पक्षों में समान है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उत्पन्न अर्थापत्ति रूप अनुपपत्ति का ज्ञान भी प्रामाण्य के निश्चयात्मक

न हि निश्चयेन स्वप्रामाण्यनिश्चयेन वा विषयं निश्चाययति प्रत्यक्षम्, अपि तु स्वसत्तयैत्युक्तमिति चेत्? तुल्यम्। तथापि यदि तल्लिङ्गाभासः स्यात्तदा का वार्तेति चेत्? अनुपपद्यमानोऽप्यर्थो यद्याभासः स्यात्तदा का वार्तेति तुल्यम्।

ज्ञान के विना नहीं हो सकता। निश्चयात्मक अर्थापत्ति ही प्रमाण है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा अनुपपत्ति या अर्थापत्ति ज्ञान का उत्पादन मानने पर भी प्रामाण्य के निश्चय की अपेक्षा रह जाती है। अतः मीमांसकों के पक्ष में भी अनवस्था दोष अनिवार्य है।

पू० प० न हि निश्चयेन..............

हम (मीमांसकगण) तो पहिले ही कह चुके है कि प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु की निश्चय के लिये प्रत्यक्ष जनित निश्चयात्मकज्ञान का या प्रत्यक्षप्रमाणगत प्रामाण्यनिश्चय का कोई उपयोग नहीं है। प्रत्यक्षप्रमाण केवल अपनी सत्ता से ही वस्तु को सिद्ध करने की क्षमता रखता है। अतः इस पक्ष में अनवस्था दोष की कोई संभावना नहीं है।

सि० प० तुल्यम्.............

यह बात तो हम लोगों के पक्ष में भी समान ही है। अर्थात् नैयायिक लोग भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा जो हेतु का निश्चय उत्पन्न होगा, उसमें प्रामाण्य के निश्चय का कहीं भी उपयोग नहीं है। अतः सिद्धान्त पक्ष में भी तन्मूलक अनवस्था दोष नहीं है।

पू० प० तथापि यदि.............

यह ठीक है कि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल अपनी सत्ता मात्र से निश्चयात्मक ज्ञान का उत्पादक है। एवं प्रामाण्यनिश्चय के विना भी उस से हेतु का निश्चय हो सकता है। किन्तु हेतु को हेत्वाभास से भिन्न रूप में समझाने की सामर्थ्य केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चित हेतु में भी हेत्वाभासत्व का संशय हो सकता है। जिस हेतु में हेत्वाभासत्व का संशय भी संभव हो उससे प्रभा अनुमिति नहीं हो सकती, अतः हेतु में हेत्वाभासत्व को भ्रान्ति को मिटाने के लिये हेतु के ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का ज्ञान भी अवश्य ही चाहिये। अतः प्रामाण्य की अनुमिति के लिये जिस सफल प्रवृत्तिजनकत्व हेतु का उल्लेख किया गया है, उस हेतु के ज्ञान में रहनेवाले प्रामाण्य के ज्ञान के विना उससे प्रामाण्य की अनुमिति नहीं हो सकती। अतः प्रामाण्य को परतः मानने में अनवस्था दोष अनिवार्य है।

सि० प० अनुपपद्यमान...........

यह बात तो अर्थापत्ति के प्रसङ्ग में भी समान रूप से कही जा सकती है कि प्रत्यक्ष के द्वारा उत्पन्न उपपाद्य का ज्ञान अगर भ्रान्ति रूप होगा तो फिर उस भ्रान्तिरूप ज्ञान से जिस 'अर्थ' का निश्चय होगा, वह 'अर्थाभास' ही होगा। अतः इस अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान

सोऽपि प्रामाण्यमाक्षिपतीत्युत्सर्गः, स च कचिद्बाधकेनापोद्यते इति चेत् ? लिङ्गेऽप्येवमिति तुल्यम् । तर्हि प्रामाण्यानुमानेऽपि शङ्का तदवस्थैवेति निष्फलः प्रयास इति चेत् ? एतदपि तादृगेव ।

के प्रामाण्य का स्वतस्त्व आक्षिप्त नहीं हो सकता । इसलिये मीमांसकों को भी प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व की सिद्धि के लिये ज्ञानरूप अर्थापत्तिगत प्रामाण्य के ज्ञान की अपेक्षा अवश्य होगी । फिर तन्मूलक अनवस्था दोष से वे भी बच नहीं सकते । अतः अनवस्था दोष दोनों के लिये समान रूप से समाधेय है । सुतराम् किसी एक पक्ष के लिये उसका उद्भावन उचित नहीं है ।

पू० प० सोऽपि............

भ्रान्ति रूप अर्थापत्ति से भी प्रामाण्य के स्वतस्त्व का आक्षेप होता है । क्योंकि प्रामाण्य के स्वतस्त्व का आक्षेप करना उसका स्वभाव है । जहाँ दोषादि प्रतिबन्धक उपस्थित हो जाते हैं, वहीं व्यतिक्रम होता है । अर्थात् वहाँ अर्थापत्ति से प्रामाण्य के स्वतस्त्व का आक्षेप नहीं होता । अतः हमलोगों के पक्ष में अनवस्था दोष नहीं है ।

सि० प० लिङ्गेऽप्येवम्............

यही बात तो लिङ्गज्ञान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि निश्चित हेतु अगर वस्तुतः हेत्वाभास भी रहेगा, तथापि उससे यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है । पर्वत में वह्नि की अनुमिति अगर जल हेतु से भी होती है तो भी उसे भ्रम नहीं कहा जा सकता । अतः सफलप्रवृत्तिजनकत्व रूप हेतु अगर हेत्वाभास भी होगा, तथापि उससे प्रमात्व की यथार्थनुमिति ही होगी । अतः प्रमाण्य को परतंत्र मानने के पक्ष में भी अनवस्था दोष संभव नहीं है ।

पू० प० ... ... तर्हि प्रामाण्यानुमानेऽपि............

अगर हेत्वाभास से भी प्रमा अनुमिति हो फलतः सफलप्रवृत्तिजनकत्व रूप हेत्वाभास से भी प्रमाण्य का यथार्थ अनुमिति हो तो प्रामाण्य की अनुमिति के लिये सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतु तक जाने का 'प्रयास' व्यर्थ है । क्योंकि घटपटादि जिस किसी हेतु से प्रमाण्य की उक्त यथार्थ अनुमिति हो सकती है । घटादि हेतुओं से प्रामाण्य रूप साध्य की व्याप्ति प्रभृति न रहने से भी तो इतना ही होगा कि वह हेतु न होकर हेत्वाभास होगा । यदि हेत्वाभास से भी यथार्थ अनुमिति हो सकती है तो फिर कथित घटादि हेत्वाभासों से भी प्रामाण्य की यथार्थ अनुमिति होगी । इस के लिये समर्थप्रवृत्तिजनकत्वादि किसी विशेष हेतु का अवलम्बन व्यर्थ है ।

सि० पी० ... ...एतदपि............

कथित रीति से मीमांसकों के पक्ष में भी यह बात कही जा सकती है कि यदि अर्थाभास की अनुपपत्ति के ज्ञान से भी प्रामाण्य का आक्षेप संभव हो तो फिर झटितिप्रवृत्ति एवं प्रचुरप्रवृत्ति प्रभृति की अनुपपत्ति का अनुधावन व्यर्थ है ।

अनुपपद्यमानोऽर्थ एवासौ तथाविधः कश्चित्, यः स्वप्नेऽपि नाभासः स्यात् ततो नाशङ्केति चेत् ? लिङ्गेऽप्येवमिति समः समाधिः। कः पुनरसावर्थो यः स्वप्नेऽपि नाभासः स्यात् ? यदनुपलम्भे विभ्रमावकाशो यादृगुपलम्भे च तद्बाधव्यवस्था।

पू० प० ··· ··· ··· ···अनुपपद्यमानोऽर्थः···········

जो अर्थ जिस के बिना अनुपपन्न हो, उनमें से ऐसा कोई विलक्षण अर्थ भी है जो 'स्वप्न' में भी अर्थाभास नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से जो प्रामाण्य के स्वतस्त्व का आक्षेप होता है, उस में अर्थापत्ति में रहनेवाले प्रामाण्य की अपेक्षा ही नहीं है। अतः मेरे पक्ष में अनवस्था दोष नहीं है।

सि० प० ··· ··· ··· ···लिङ्गेप्येवम्··········

हम (नैयायिक) भी इसी प्रकार कह सकते जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति रहेगी, वह हेतु 'स्वप्न' में भी व्यभिचारी (हेत्वभास) नहीं हो सकता। जिस हेतु में साध्य का व्यभिचार रहता है, वही हेत्वाभास कहलाता है।

पू० प० ··· ··· ··· ···कः पुनरसौ········

ऐसे हेतु भी हेत्वाभास होते हैं, जिन में साध्य की व्याप्ति रहती हैं। जैसे कि जल में वह्नि साधन के लिये प्रयुक्त धूम हेतु। अतः प्रश्न है कि कौन सा ऐसा हेतु है जो स्वप्न में भी हेत्वाभास न हो सके। जैसे कि अनुपपद्यमान कोई भी अर्थ अर्थाभास नहीं होता।

सि० प० ··· ··· ··· ···यदनुपलम्भे···········

(इस पूर्वपक्ष के दो उत्तर हैं) (१) वही 'हेतु' है जिस की उपलब्धि न रहने पर भ्रान्ति की संभावना हो। (२) अथवा जिस की उपलब्धि के रहने से भ्रान्ति का बाध हो।[1]

---

1. इस प्रकार का हेतु कभी भी हेत्वाभास नहीं हो सकता। प्रस्तुत उदाहरण के लिये जल पक्षक वह्नि साध्यक धूम हेतु को लिया जा सकता है। यह हेत्वाभास है, क्योंकि इस में हेतु का लक्षण नहीं है। क्योंकि जल में उक्त हेतु की उपलब्धि से 'जलं वह्निमत्' इस भ्रान्ति की संभावना है। एवं हेतु की उक्त उपलब्धि से उक्त भ्रान्ति के बाध की संभावना भी नहीं है। जलं वह्न्यभाववत् इस ज्ञान का भी बाध यद्यपि हेतु की उपलब्धि से संभव है, किन्तु वह भ्रान्ति नहीं है। पर्वत पक्षक वह्नि साध्यक धूम हेतु कभी स्वप्न में भी हेत्वाभास नहीं हो सकता। क्योंकि पर्वत में धूम की उपलब्धि न होने पर पर्वत में वह्नि के अभाव की भ्रान्ति का अवकाश है। एवं पर्वत में धूम की उपलब्धि हो जाने पर पर्वत में वह्नि के अभाव की भ्रान्ति का निरास भी सम्भव है। इस प्रकार पर्वत पक्षक वह्नि साध्यक धूम हेतु में हेतु के दोनों ही लक्षण है, अतः वह कभी भी हेत्वाभास नहीं हो सकता।

अन्यथा हि तथाभूतस्यापि व्यभिचारे सापि न स्यात्। मा भूदिति चेन्न। भवितव्यं हि तत्त्वाऽतत्त्वविभागेन, अन्यथा व्याघातात्। कथं हि नियामकनिःशेष-

अन्यथा (अर्थात् साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु से उत्पन्न ज्ञान को भी यदि) व्यभिचारी मानें (अर्थात् साध्य का नियामक न मानें तो फिर 'सा' अर्थात्) भ्रम और बाध की व्यवस्था ही लुप्त हो जायगी।

पू० प० ··· ··· ··· ···मा भूत् ··· ··· ··· ···

(माध्यमिकादि कहते हैं कि) न रहे भ्रम और बाध की व्यवस्था ?

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, भवितव्यम् ··· ··· ··· ···

(भ्रम और बाध की व्यवस्था आवश्यक है। ऐसा न मानने पर) यह तत्त्व हैं और यह अतत्त्व है इस प्रकार का आवश्यक विभाग ही लुप्त हो जायगा।[1]

क्योंकि ऐसा न मानने पर 'व्याघात' होगा। (अर्थात् जो कोई सद्धेतु प्रभृति से उत्पन्न ज्ञान में भी प्रामाण्य को सन्दिग्ध ही मानते हैं, उनके मत से 'किमपि न तत्त्वम्' यही तत्त्व है। अगर संसार से तत्त्व और अतत्त्व की व्यवस्था ही उठ जाय तो फिर उक्त तत्त्व की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकार किसी तत्त्व को स्वीकार करना एवं तत्त्व और अतत्त्व की व्यवस्था को न मानना ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध है। जो कोई तत्त्व और अतत्त्व के विभाग को स्वीकार नहीं करते उन के मत से न कोई किसी ज्ञान का बाधक हो सकता है न कोई ज्ञान किसी से बाधित ही हो सकता है। इस स्थिति को स्वीकार करने पर 'व्याघात' होगा। अर्थात् वे भी 'न किमपि तत्त्वम्' अपने इस मत को उपपन्न नहीं कर पाएँगे। क्योंकि किसी भी वस्तु की सिद्धि प्रमाण के बिना नहीं हो सकती। अतः तत्व निषेध के लिये भी कोई प्रमाण अवश्य ही चाहिये। किसी भी प्रमाण के ऊपर विश्वास न करने पर तत्त्व के निषेध करनेवाले प्रमाण के ऊपर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः तत्त्व का उक्त निषेध भी संभव नहीं होगा। इसलिये यह सिद्धान्त स्वीकार करना आवश्यक है कि चूँकि प्रमा ज्ञान से भ्रम का बाध होता है, एवं प्रमाज्ञान का विषय ही 'तत्त्व' है, अतः बाधकत्व ही तत्त्व है एवं बाध्यत्व ही 'अतत्त्व' है।

१. भ्रम को बाधित करने की क्षमता ही 'तत्त्व' है। एवं प्रमा से बाधित होने का दौर्बल्य ही 'अतत्त्व' है। शुक्तित्व का प्रमाज्ञान शुक्ति में रजतत्वभ्रम का बाधक है, अतः शुक्तित्व ही शुक्ति का 'तत्त्व' है। शुक्ति में भासित होनेवाला रजतत्व शुक्ति का 'अतत्त्व' है, क्योंकि रजतत्व का उक्त अवभास शुक्तित्व रूप तत्त्व के ज्ञान से बाधित होता है।

विशेषोपलम्भेऽपि विपरीतारोपः ? । तथाभावे वा तदतिरिक्तविशेषानुपलम्भे कथं बाधकम् ? । तदभावे त्वबाधस्य कथं भ्रान्तत्वमिति ।

ज्ञान के द्वारा विषयों में भी बाध्यबाधकभाव होता है । अगर ऐसा न मानें तो शुक्ति में रजतत्व के अभाव का नियामक है शुक्तित्व, इस शुक्तित्व के उपलब्धि होने पर भी रजतत्वाभाव के विपरीत रजतत्व का 'आरोप' अर्थात् भ्रम की आपत्ति होगी । जिस वस्तु के अनेक 'विशेष' अर्थात् असाधारण धर्म हों, वहाँ दूसरे असाधारण धर्म की अनुपलब्धि से आरोप की संभावना है । इसी लिये 'विशेष' पद का उपादन किया गया है) ।

तथाभावे वा … … … … …

सभी विशेष धर्मों की उपलब्धि रहने पर भी अगर 'आरोप' को स्वीकार करें तो फिर वह 'आरोप' ही नहीं रह जायगा । क्योंकि नियामक धर्म के ज्ञान से बाधित होना ही 'आरोप' अर्थात् भ्रम का लक्षण है । अगर ऐसा न मानें तो फिर सभी ज्ञान भ्रम कहलाएंगे । अतः यह मानना होगा 'कौन सा ज्ञान भ्रम है ? इस को समझाने की सामर्थ्य बाधकज्ञान में ही है । ऐसा न मानने पर 'बाधक' (अर्थात् भ्रान्ति रूप) जो ज्ञान है उसे भ्रम कैसे समझा जायगा । अर्थात् जो ज्ञान किसी दूसरे विरोधी ज्ञान को बाधित नहीं करता उसे 'भ्रम' कहते हैं । अगर कोई भी ज्ञान किसी भी ज्ञान का बाधक न हो तो फिर प्रमात्मक ज्ञान भी किसी का बाधक नहीं होगा । इस प्रकार 'अबाधकत्व' रूप भ्रम ज्ञान का लक्षण प्रमाज्ञान में अव्याप्त होने के कारण भ्रम का लक्षण ही नहीं होगा । (इसी अभिप्राय से 'कथं हि' यहाँ से लेकर 'कथं भ्रान्तत्वम्' इतने पर्यन्त का ग्रन्थ लिखा गया है ।[1]

१. इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए वर्द्धमान ने लिखा है कि प्रामाण्य को अगर अनुमेय मानते हैं या प्रामाण्य ज्ञान में परतस्त्व को मानते हैं, तथापि बहुत से धन के व्यय से और बहुत परिश्रम से होनेवाले याग में प्रवृत्ति का कारण वाक्य से होने वाला ज्ञानधार्मिक प्रमात्व का ज्ञान नहीं हो सकता । क्योंकि कथित प्रवृत्ति और उक्त प्रमात्व ज्ञान ये दोनों अत्यन्त विभिन्न काल में होते हैं । अतः याग में प्रवृत्ति के लिये कारणीभूत प्रवर्त्तकज्ञान में अप्रामाण्य का किसी भी प्रकार के ज्ञान का न रहना ही पर्याप्त है । यह आवश्यक नहीं है कि उक्त प्रवर्त्तक ज्ञान में प्रामाण्य गृहीत ही हो । बात रही कि फिर प्रामाण्य की अनुमिति का प्रवृत्ति में उपयोग की ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि पहिले पहल जो प्रवर्त्तक ज्ञान उत्पन्न होगा उसमें स्वभावतः अप्रामाण्य की शंका होगी, उस अप्रामाण्य शंका को हटाना ही प्रामाण्य के अनुमिति का प्रयोजन है । फिर आगे उक्त प्रवर्त्तक ज्ञान के समान ज्ञान ही उत्पन्न होंगे, उस में अप्रामाण्य की शंका नहीं होगी ।

स्यादेतत् । परतः प्रामाण्येऽपि नित्यत्वाद्वेदानामनपेक्षत्वं, महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यमिति को विरोधः ? न, उभयस्याप्यसिद्धेः ।

न हि वर्णा एव तावन्नित्याः । तथा हि 'इदानीं श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति, निवृत्तः कोलाहल' इति प्रत्यक्षेणैव शब्दध्वंसः प्रतीयते । न हि शब्द एवाऽन्यत्र गतः, अमूर्तत्वात् । नाप्यावृतः, तत एव सम्बन्धविच्छेदानुपपत्तेः । नाप्यनवहितः

पू० प० ··· ··· ··· ···स्यादेतत्, परतः प्रामाण्येऽपि

('सर्गप्रलयसम्भवात्' इस दूसरे चरण की व्याख्या)

किसी वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों के प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं उक्त ज्ञान में प्रामाण्य का ज्ञान इन दोनों को (प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों को) 'परतः' स्वीकार भी करलें, तथापि वेद रूप शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति इन दोनों को स्वतः स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है । क्योंकि वेद नित्य हैं, अतः उसका कोई वक्ता नहीं है । शब्द जनित ज्ञान में प्रमात्व के लिये जिस गुण की आवश्यकता है, वह है शब्द का आप्त से उच्चरित होना । किन्तु वेद किसी के द्वारा उच्चरित नहीं है, अतः वेदजन्य प्रमा 'परतन्त्र' नहीं है । इसी प्रकार वेदों से उत्पन्न ज्ञान में रहनेवाले प्रमात्व का ग्रहण भी (स्वतः) होता है । फलतः वेदों का प्रामाण्य किसी वक्ता की अपेक्षा नहीं रखता । किसी वक्ता से 'अनपेक्ष' प्रामाण्य ही वेदों का 'अनपेक्षत्व' है । इस प्रकार से 'अनपेक्ष' होने के कारण ही वेद प्रमाण हैं । वेदों का यह स्वतः प्रामाण्य वशिष्ठादि 'महाजनों' के द्वारा परिगृहीत होने के कारण अन्य जनों के द्वारा गृहीत होता है । (इस प्रकार ईश्वर को न मानने पर भी वेदों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं है) ।

सि० प० ··· ··· ··· ··· ···न, उभयस्यापि··········

किन्तु वेदों की नित्यता एवं महाजनपरिग्रह से उनके स्वतः प्रामाण्य का ग्रहण, ये दोनों ही बातें सिद्ध नहीं हैं । (अर्थात् इन दोनों में से किसी की भी सिद्धि सम्भव नहीं है) ।

चूँकि गकारादि वर्ण नित्य नहीं हैं, अतः वर्णों का समूह रूप पद भी नित्य नहीं हैं । एवं पदों का समूह रूप वाक्य भी अनित्य है, सुतराम् वाक्यों का समूह रूप वेद भी नित्य नहीं हो सकता ।

वर्ण अनित्य इस लिये हैं कि जिसने पहिले गङ्गा शब्द को सुना है, कुछ क्षण के बाद उसे भी गङ्गा शब्द के 'ग' कार की उपलब्धि नहीं होती है । अतः पहिले सुना गया 'ग'

श्रोता, अवधानेऽप्यनुपलब्धेः। नापीन्द्रियं दुष्टम्, शब्दान्तरोपलब्धेः। नापि सहकार्यन्तराभावः, अन्वयव्यतिरेकवतस्तस्यासिद्धेः। नाप्यतीन्द्रियम्, तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। अन्यथा घटादावपि तत्कल्पनाप्रसङ्गात्। न च शब्दनित्यत्वसिद्धौ तत्कल्पनेति युक्तम्। निराकरिष्यमाणत्वात्।

कार अभी नहीं है। अगर शब्द नित्य होता तो अभी भी पहिले सुने हुये 'ग' कार का श्रवण होता। अतः यही कहना पड़ेगा कि पहिले सुने गये 'ग' कार का विनाश हो गया है। 'ग' कार का यह विनाश प्रत्यक्ष प्रमाण से ही समझा जाता है, क्योंकि 'हल्ला बन्द हो गया' इस प्रकार की सार्वजनीन प्रतीति से प्रत्यक्ष प्रमाण में शब्द के विनाश को ग्रहण करने की सामर्थ्य परिगृहीत है। (उक्त स्थल में) ग कारादि शब्दों की जो पुनः उपलब्धि नहीं होती है उसका कारण यह भी नहीं है कि, वे शब्द कहीं अन्यत्र चले गये हैं। क्योंकि शब्द मूर्त्तद्रव्य नहीं हैं, अतः उसका कहीं भी जाना सम्भव नहीं है। (२) यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूर्वश्रुत गकार चूँकि किसी अन्य द्रव्य से आवृत हो गया है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द चूँकि मूर्त्त द्रव्य नहीं है, अतः शब्द रूप गकार का किसी से आवृत होना सम्भव नहीं हैं। सुतराम् आवरण स्थल में जो विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं हो पाता और इस लिये विषय के रहते हुए प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, यह भी प्रकृत गकार के अप्रत्यक्ष स्थल में नहीं कहा जा सकता। (३) प्रकृत में यह कहना भी सम्भव नहीं है कि चूँकि सुननेवाले का मन अन्यत्र लगा रहता है, अतः कथित गकार का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इससे ग कार के नाश की कल्पना नहीं

किन्तु किसी वस्तु के केवल प्रत्यक्ष न होने से ही उसका अभाव निर्णीत नहीं हो जाता। अतः गकार के अभी के अप्रत्यक्ष से उसका विनाश निश्चित नहीं होता। निम्नलिखित ऐसी सात स्थितियाँ है जिनमें से प्रत्येक में प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के विद्यमान रहते हुये भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार विद्यमान गकार का भी अप्रत्यक्ष हो सकता है। उक्त सात स्थितियाँ ये है (१) विषय का उस प्रदेश से चला जाना, जहाँ इन्द्रिय के साथ वह सम्बद्ध न हो सके। (२) किसी दूसरे द्रव्य से आवृत हो जाने पर भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। जैसे दिवाल से घिरी हुई वस्तु को बाहर का आदमी नहीं देख पाता। (३) सुननेवाले का मन अगर दूसरी ओर लगा रहता है तब भी वह शब्द को सुन नहीं पाता। (४) इन्द्रियों में दोष उत्पन्न हो जाने पर भी पुरुष देख या सुन नहीं पाता। (५) प्रत्यक्ष के कारणीभूत समुदाय में से किसी के भी विघटन से भी प्रत्यक्ष रुक सकता है। (६) समय विशेष में विषयों का अतीन्द्रिय हो जाना भी प्रत्यक्ष को रोक सकता है।

१. 'न हि वर्णा एव' यहीं से लेकर 'कुतस्तमां च तत्समूहस्य वेदस्य' इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से शब्दों के नित्यत्व का खण्डन किया गया है।

ये त्वेकदेशिनो नैवमिच्छन्ति, तान् प्रत्युच्यते। विवाध्यासितः शब्दप्रध्वंसः इन्द्रियग्राह्यः, ऐन्द्रियकाभावत्वात् घटाभाववत्।

की जा सकती। यह कहना इस लिये सम्भव नहीं है कि श्रोता के पूर्ण एकाग्र रहने पर भी उस स्थल में ग कार का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। (४) यह कहना भी सम्भव नहीं है कि उस समय सुननेवाले की श्रोत्रेन्द्रिय में दोष आ गया है जिससे उक्त गकार सुनाई नहीं देता है। क्योंकि उसी समय उस गकार को छोड़ कर दूसरे शब्द का श्रवण उसी पुरुष को होता है। (५) यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि उस समय ग कार के प्रत्यक्ष की सामग्री में से ग कार रूप विषय को छोड़ कर कोई अन्य कारण ही वहाँ नहीं है, अतः ग कार का प्रत्यक्ष नहीं होता हैं' क्योंकि पहिले के गकार प्रत्यक्ष के लिये अन्वय और व्यतिरेक से युक्त एवं गकार रूप विषय से भिन्न जितने भी कारण हैं, वे ही इस गकार के प्रत्यक्ष के लिये भी अपेक्षित हैं। उनमें से किसी के अभाव से भी गकारके अप्रत्यक्ष की उपपत्ति प्रकृत प्रत्यक्ष स्थल में सम्भव नहीं है। सुतराम् गकार के प्रकृत प्रत्यक्ष के अभाव का प्रयोजक गकार रूप विषय के नाश को ही मानना होगा। (६) प्रत्यक्ष न होनेवाले इस गकार को अतीन्द्रिय मान कर भी गकार के अप्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि उसको अतीन्द्रिय मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अगर केवल प्रत्यक्ष न होने से ही किसी को अतीन्द्रिय माना जाय तो फिर घटादि पदार्थों को भी उनकी अप्रत्यक्षता दशा में अतीन्द्रिय मानना होगा। अगर यह कहें कि 'शब्द का नित्य होना सिद्ध हैं, अतः अप्रत्यक्षता दशा में गकारादि की असत्ता तो मानी नहीं जा सकती। अतः गकारादि की प्रत्यक्षता की उपपत्ति के लिये गकारादि में सामयिक अतीन्द्रियत्व की कल्पना आवश्यक होती हैं, क्योंकि शब्द के नित्यत्व का ही आगे खण्डन करना है।

ये त्वेकदेशिनः………

नैयायिक सम्प्रदाय के ही कुछ लोग शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष नहीं मानते, उन्हें सन्तुष्ट करनेके लिये अनुमान का प्रयोग कहते हैं। जिससे शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष से संग्रहीत होना सिद्ध हो सके। 'जिस प्रकार इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले घट का अभाव भी इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसी प्रकार शब्द का ध्वंस रूप अभाव भी इन्द्रिय से गृहीत होगा, क्योंकि वह भी श्रोत्र रूप इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले शब्द का अभाव है।

नैतदेवम्, इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात्, अतीन्द्रियत्वाधारत्वाद्वेतिचेन्न । इदं ह्युपाध्युद्भावनं वा स्यात्, व्यापकानुपलब्ध्या सम्प्रतिपक्षत्वं वा ?

पू० प० ··· ··· ··· ···नैदंतदेवम्··········

उक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि (१) शब्द प्रध्वंस रूप पक्ष इन्द्रिय के साथ उपयुक्त संनिकर्ष से युक्त नहीं है (क्योंकि शब्द प्रध्वंस रूप अभाव का प्रत्यक्ष अपने प्रतियोगी शब्द के प्रत्यक्ष के उत्पादक श्रोत्र रूप इन्द्रिय से ही हो सकता है, किन्तु शब्द के प्रध्वंस के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है। क्योंकि वह सम्बन्ध श्रोत्रसम्बद्ध-विशेषणता रूप ही हो सकता है। सो प्रकृत में सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्दध्वंस के अधिकरणीभूत आकाश के साथ श्रोत्र सम्बद्ध नहीं है। सुतराम् शब्दध्वंस में आकाश रूप विशेष्य की विशेषणता यद्यपि है, किन्तु श्रोत्र सम्बद्धआकाश रूप विशेष्य की विशेषणता नहीं है। अतः इन्द्रिय संनिकर्ष के न रहने के कारण शब्दप्रध्वंस इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं हो सकता)।

(२) शब्दप्रध्वंस का आधार आकाश है (क्योंकि वह शब्द रूप प्रतियोगी का समवायी देश है) आकाश है अतीन्द्रिय। जिस अभाव का आश्रय अतीन्द्रिय हो वह अभाव इन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता। (जैसे कि पिशाचादि गत किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता)।

सि० प० ··· ··· ··· ··· इदं हि ··· ··· ··· ···

इन दोनों हेतु वाक्यों के द्वारा क्या शब्दप्रध्वंस पक्षक इन्द्रियग्राह्यत्व साध्यक प्रकृत अनुमान में उपाधि का उद्भावन इष्ट है ? या सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन अभिप्रेत है ?[1]

---

1. प्रकृत अनुमान है 'शब्दप्रध्वंसः इन्द्रियग्राह्यः ऐन्द्रियकाभावत्वात् घटाभाववत्' सिद्धान्तियों के इस अनुमान में पूर्वपक्ष ग्रन्थ के (1) इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात्' इस वाक्य के द्वारा उपाधि के उद्भावन पक्ष का अभिप्रेतार्थ यह है कि उक्त अनुमान में इन्द्रियासंनिकृष्टत्व का अभाव रूप इन्द्रियसंनिकृष्टत्व अर्थात् इन्द्रिय का संनिकर्ष उपाधि है। क्योंकि प्रकृत अनुमान का इन्द्रियग्राह्यत्व जहाँ कहीं भी है, उन सभी स्थानों में इन्द्रिय का संनिकर्ष अवश्य है। इस प्रकार उपाधि साध्य का व्यापक है। एवं प्रकृतानुमान का हेतु है 'ऐन्द्रियकाभावत्व' वह शब्दप्रध्वंस रूप पक्ष में है, किन्तु उसमें इन्द्रियसंनिकर्ष रूप उपाधि नहीं है। अतः इन्द्रिय संनिकर्ष हेतु का अव्यापक भी है। सुतराम् प्रकृत हेतु सोपाधिक होनेके कारण हेत्वाभास है। अतः उस से शब्दप्रध्वंस में इन्द्रियग्राह्यत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

कथित 'इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात्' इस वाक्य से प्रकृतानुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन इस प्रकार अभिप्रेत हो सकता है। प्रकृतानुमान का हेतु है ऐन्द्रियकाभावत्व, यह हेतु शब्दप्रध्वंस रूप पक्ष में 'इन्द्रियग्राह्यत्व' रूप साध्य को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन्द्रियग्राह्यत्व रूप साध्य जहाँ कहीं भी है, उन सभी स्थानों में इन्द्रियसंनिकृष्टत्व और ऐन्द्रियकाधारत्व ये दोनों धर्म भी अवश्य हैं।

तत्र न प्रथमः, स्वरूपयोग्यतां प्रति सहकारियोग्यताया अनुपाधित्वात् तस्यास्तामपेक्ष्यैव सर्वदाऽव्यवस्थितेः।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न प्रथमः, स्वरूपयोग्यताम्

(उपाधि उद्भावन का पहिला पक्ष और सत्प्रतिपक्ष उद्भावनवाला दूसरा पक्ष इन दोनों में से) पहिला पक्ष इस लिये ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत अनुमान का 'इन्द्रियग्राह्यत्व' रूप जा साध्य है, उसका अर्थ है इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने की स्वरूपयोग्यता। अतः शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष हो सकता है। (इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी शब्दध्वंसों का प्रत्यक्ष होता ही है। अतः सभी शब्दध्वंसों में इन्द्रियसंनिकर्ष रूप उपाधि नहीं हैं, किन्तु सभी शब्दध्वंसों में इन्द्रिय से गृहीत होने की क्षमता है। इस प्रकार 'स्वरूपयोग्यता' रूप साध्य का व्यापकत्व

अतः ये दोनों धर्म इन्द्रियग्राह्यत्व रूप साध्य के व्यापक हुए। व्यापक धर्म का जहाँ अभाव होगा वहाँ व्याप्य धर्म का अभाव अवश्य ही रहेगा। सुतराम् प्रकृत में यह विरोधी अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'शब्दप्रध्वंसः इन्द्रियाग्राह्यः इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात् ऐन्द्रियकाधारत्वाभावाद्वा'। अर्थात् शब्दप्रध्वंस में चूँकि श्रोत्र रूप इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं है, अतः वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अथवा शब्दप्रध्वंस का आधार चूँकि ऐन्द्रियक नहीं है, अतः वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इस प्रकार उक्त दोनों हेतुओं से प्रकृतानुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन पूर्वपक्षवादी का अभिप्रेत हो सकता है। जैसे कि द्व्यणुक का ध्वंस इन्द्रियासंनिकृष्ट होने के कारण एवं ऐन्द्रियकानाधार होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं होता।

'अतीन्द्रियाधारत्वात्' इस वाक्य के द्वारा उक्त अनुमान में अतीन्द्रियाधारत्व' का अभाव 'ऐन्द्रियकाधारत्व रूप उपाधि का उद्भावन अभिप्रेत हो सकता है। क्योंकि प्रकृत में साध्य है 'इन्द्रियग्राह्यत्व'। यह साध्य जिन सब स्थानों में है, उन सभी स्थानों में 'ऐन्द्रियकाधारत्व' रूप उपाधि भी है, अतः यह उपाधि साध्य का व्यापक हुआ। एवं ऐन्द्रियकाभावत्व रूप हेतु है शब्दप्रध्वंस' में वहाँ ऐन्द्रियकाधारत्व नहीं है, क्योंकि उसका आधार आकाश ऐन्द्रियक नहीं है। इस प्रकार ऐन्द्रियकाधारत्व हेतु का अव्यापक भी हुआ। अतः इस अनुमान में अतीन्द्रियाधारत्व रूप हेतु के द्वारा उपाधि का उद्भावन भी प्रकृतानुमान में इष्ट हो सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि शब्दध्वंस में जो इन्द्रियाग्राह्यत्व का प्रत्यनुमान होता है, उसका मूल है 'व्यापकानुपलब्धि'। अर्थात् इन्द्रियग्राह्यत्व (प्रत्यक्षत्व) के व्यापकीभूत इन्द्रियसंनिकर्ष और ऐन्द्रियकाधारत्व ये दोनों धर्म चूँकि शब्द में उपलब्ध नहीं है, अतः उक्त अनुमान होता है। इसी अभिप्राय से 'व्यापकानुपलब्ध्या' यह पद लिखा गया है।

नाप्यैन्द्रियकाधारत्वप्रयुक्तमभावस्य प्रत्यक्षत्वम् । धर्माद्यभावस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । अत एव नोभयप्रयुक्तम् ।

इन्द्रियसंनिकर्ष में न रहने के कारण प्रकृत अनुमान में कथित रीति से उपाधि की सम्भावना नहीं है ।[1]

नाप्यैन्द्रियकाधारत्वम्……………

इसी प्रकार 'ऐन्द्रियकाधारत्व' भी प्रकृत में उपाधि नहीं हो सकता । क्योंकि किसी भी वस्तु में प्रत्यक्ष की योग्यता इस लिये नहीं रहती है कि उसका आधार इन्द्रय से गृहीत होने के योग्य है । अगर ऐसा मानेंगे तो फिर त्रसरेणु में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं रहेगी, क्योंकि उसका आधार द्वयणुक इन्द्रिय से गृहीत होनेके योग्य नहीं है । सुतराम् जिस अभाव का आधार 'ऐन्द्रियक' अर्थात् इन्द्रिय से गृहीत होने के योग्य होता है, उन सभी अभावों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, अगर ऐसा मानें तो फिर धर्म के अभाव का भी प्रत्यक्ष मानना होगा । क्योंकि धर्माभाव का आधार आत्मा 'ऐन्द्रियक' है । तस्माद् अभाव के प्रत्यक्ष का प्रयोजक उसके आधार का 'ऐन्द्रियक' होना नहीं है । अतः कोई अभाव ऐसा भी हो सकता है, जिसका आधार इन्द्रिय से गृहीत होने योग्यता न भी रखता हो, एवं वह अभाव स्वयं ऐन्द्रियक हो । इस वस्तुस्थिति के अनुसार प्रकृत अनुमान में 'ऐन्द्रियकाधारत्व' उपाधि नहीं हो सकता । क्योंकि इन्द्रियग्रहणयोग्यत्व रूप साध्य त्रसरेणु में है, किन्तु उसमें ऐन्द्रियकाधारत्व रूप उपाधि नहीं है । क्योंकि उसका आधार द्वयणुक ऐन्द्रियक नहीं है । अतः साध्य का व्यापक न होने के कारण ऐन्द्रियकाधारत्व प्रकृत अनुमान में उपाधि नहीं हो सकता ।

अत एव नोभय प्रयुक्तम्……………

चूँकि धर्म के अभाव में मनःसंयुक्तविशेषणता रूप इन्द्रिय का संनिकर्ष एवं ऐन्द्रियकाधारत्व इन दोनों के रहते हुये भी धर्माभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है, 'अत एव' उन दोनों को अर्थात् दोनों में से प्रत्येक को अभाव के प्रत्यक्ष का प्रयोजक न मानने से दोनों में सम्मिलित रूप से भी प्रत्यक्ष की प्रयोजकता नहीं मानी जा सकती ।

---

1. 'स्वरूप योग्यताऽप्रति अर्थात् इन्द्रियग्रहणयोग्यता रूप साध्य का प्रयोजक 'सहकारियोग्यता' अर्थात् इन्द्रियसंनिकर्ष रूप 'सहकारिकारण' की योग्यता 'उपाधि' नही है अर्थात् प्रयोजक नहीं है ।

जिस प्रकार स्फटिक में रहनेवाली रक्तिमा का कारण है जपाकुसुम का सांनिध्य, क्योंकि उसके बिना स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक में रक्तिमा नहीं दीखती है । उसी प्रकार अगर इन्द्रिय से गृहीत की योग्यता इन्द्रियसंनिकर्ष के बिना नहीं रहती तो यह कहा जा सकता था कि वह इन्द्रियसंनिकर्ष रूप हेतु उपाधि मूलक है । किन्तु यह कहना संभव नहीं है, क्योंकि (तस्यास्तामपेक्ष्यैव सर्वदाऽव्यवस्थितेः अर्थात्) इन्द्रिय ग्रहण की योग्यता की अवस्थिति सर्वदा सहकारियोग्यता अर्थात् इन्द्रियसंनिकर्ष की अपेक्षा नहीं रखती है । इस प्रकार इन्द्रियसंनिकर्ष इन्द्रियग्रहणयोग्यता का व्यापक नहीं है । अतः साध्यव्यापक न होने के कारण वह उपाधि नहीं हो सकता ।

नापि द्वितीयः, प्रथमस्यासिद्धेः। अस्ति हि श्रोत्रशब्दाभावयोः स्वाभाविको विशेषण-

---

नापि द्वितीयः…………

अर्थात् 'इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात् अतीन्द्रियाधारत्वाद्वा' इन दोनों वाक्यों से प्रकृतानुमान में सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन भी संभव नहीं हैं; क्योंकि 'शब्दप्रध्वंसः इन्द्रियाग्राह्यः इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात् अतीन्द्रियाधारत्वाच्च' इत्यादि विरोधी अनुमानों से भी प्रकृत अनुमान बाधित नहीं हो सकता। (सत्प्रतिपक्ष वहीं होता है, जहाँ प्रकृत पक्ष में प्रकृत साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु प्रकृत हेतु के समान ही बलशाली विद्यमान हो)। व्याप्ति और पक्षधर्मता ये दोनों ही 'हेतु' के बल हैं। व्याप्ति का बाधक है व्यभिचार और पक्षधर्मता का बाधक है स्वरूपासिद्धि। सत्प्रपतिपक्ष दोष का उद्भावन जिन दो हेतुओं से किया गया है, उनमें व्यभिचार दोष का रहना पहिले दिखा आये हैं। (प्रथमस्य यहाँ से लेकर शब्दस्याग्रहणप्रसङ्गात्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से सत्प्रतिपक्ष के उद्भावक 'इन्द्रियासंनिकृष्टत्व' रूप प्रतिहेतु में स्वरूपासिद्धि दोष की सत्ता दिखलाई गयी है)। पक्ष में हेतु का अभाव ही 'स्वरूपासिद्धि' दोष है। पक्ष में हेतु का रहना ही हेतु का साध्यज्ञापकत्व रूप 'स्वरूप' है। जो हेतु पक्ष में नहीं रहेगा, वह अपने उक्त 'स्वरूप' से विच्युत हो जायगा। अतः इन्द्रिया-संनिकृष्टत्व रूप हेतु चूँकि शब्दध्वंस रूप पक्ष में नहीं है, अतः वह 'स्वरूपासिद्ध' है। किन्तु 'ऐन्द्रियकाभावत्व' रूप प्रकृत हेतु उक्त 'स्वरूव' से विच्युत नहीं है, क्योंकि वह शब्दध्वंस रूप पक्ष में है। अतः हेतु और प्रतिहेतु दोनों समान बलशाली नहीं है। सुतराम् उक्त प्रतिहेतु से प्रकृत हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं दिया जा सकता।

('अस्ति हि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'इन्द्रियासंनिकृष्टत्व रूप पहिले प्रतिहेतु में स्वरूपासिद्धि दोष का उपपादन करते हैं) शब्दप्रध्वंसः इन्द्रियाग्राह्यः इन्द्रियासंनिकृष्टत्वात्' यह विरोधी अनुमान भी संभव नहीं है। क्योंकि शब्दप्रध्वंस रूप पक्ष में इन्द्रियसंनिकर्ष है, अतः इन्द्रियासंनिकृष्टत्व रूप हेतु का अभाव भी है (क्योंकि इन्द्रियासंनिकृष्टत्व का अभाव इन्द्रियसंनिकर्ष रूप ही है।) इस प्रकार इन्द्रियानिकृष्टत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। ('शब्द-प्रध्वंस में इन्द्रिय का संनिकर्ष किस रीति से है' इसका उपपादन हो 'अस्ति हि' इत्यादि संदर्भ के द्वारा हुआ है। इस सन्दर्भ का अभिप्राय है कि) श्रोत्र में विशेषणता सम्बन्ध से शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है। अतः श्रोत्र और शब्दाभाव इन दोनों में कोई 'स्वाभाविक' सम्बन्ध अर्थात् संयोग समवायादि से निरपेक्ष किसी प्रत्यक्ष का उत्पादक सम्बन्ध मानना ही होगा, उसी सम्बन्ध का नाम 'विशेषणता' होगी। क्योंकि श्रोत्र विशेष्यक एवं शब्दाभाव विशेषणक 'श्रोत्रः निःशब्दवान्' इस आकार की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्दध्वंस में विशेषणता नाम का इन्द्रिय संनिकर्ष है। अतः इन्द्रियासंनिकृष्टत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हुआ। इस प्रति हेतु के द्वारा प्रकृत अनुमान का हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता।

विशेष्यभावः। विशेष्यस्यातीन्द्रियत्वात् कथमैन्द्रियकविशिष्टज्ञानविषयत्वम् ?। तथा विशेष्यमव्यवस्थापयतश्च कथं विशेषणत्वमिति चेन्न। तथा विशेष्यव्यवस्थापनायाः फलत्वात्। न तु तदेव विशेषणत्वम्, आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। विशेषणभावेन

पू० प० (विशेष्यस्य ··· ··· ··· कथं विशेषणत्वम्)

विशेषण वही है जो विशेष्य का व्यावर्त्तक हो। जैसे कि नीलरूप घट का विशेषण है, क्योंकि अपने नीलघट स्वरूप विशेष्य को पीतघटादि औरों से पृथक् रूप में समझाता है। शब्दध्वंस श्रोत्र का विशेषण तभी हो सकता है, जब कि वह निःशब्द श्रोत्र को सशब्द श्रोत्र से भिन्न रूप में उपस्थित कर सके। किन्तु सो संभव नहीं है। क्योंकि विशेषण स्वविशिष्ट विषयक ज्ञान के द्वारा ही अपने विशेष्य का व्यावर्त्तक होता है। शब्दध्वंस का कथित श्रोत्र रूप विशेष्य तो अतीन्द्रिय है, अतः वह किसी भी विशेषण से युक्त होकर प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। अतः निःशब्द श्रोत्र, का सजातीय जो सशब्द श्रोत्र तद्भिन्नत्व विशिष्ट श्रोत्र का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सुतराम् चूंकि व्यावृत्तिबुद्धि का जनक होना ही विशेषणत्व या विशेषणता है, और यह विशेषणता शब्दध्वंस में नहीं है। अतः प्रत्यक्ष का प्रयोजक विशेषणता रूप सम्बन्ध शब्दध्वंस में नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियासंनिकृष्टत्व रूप प्रतिहेतु शब्दध्वंस रूप पक्ष में है, इसलिये यह प्रतिहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। अतः यह प्रतिहेतु प्रकृत हेतु को सत्प्रतिपक्षित करने में पूर्ण समर्थ है।

सि० प० तथा विशेष्यव्यवस्थापनाया ··· ··· आत्माश्रयप्रसङ्गात्

कथित रीति से प्रकृत प्रतिहेतु में स्वरूपासिद्धि दोष का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि 'विशेष्यव्यवस्थापना' अर्थात् विशेष्य में उससे भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति की बुद्धि विशेषण का फल अवश्य है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उक्त व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्व और विशेषणत्व दोनों एक ही वस्तु हैं। अगर उन दोनों को एक मानेंगे तो 'आत्माश्रय' दोष होगा। स्वापेक्षग्रहविषयत्व ही 'आत्माश्रय' का लक्षण है। विशेषणता संनिकर्ष से अभाव और समवाय इन दोनों का प्रत्यक्ष होता है। दृष्टान्त रूप में कह सकते हैं कि घट में विशेषण है पटाभाव और समवाय। ये दोनों घट के विशेषण तभी हो सकते हैं जब कि घट में रहनेवाली विशेष्यता निरूपित विशेषणता दोनों में रहे। उसके बाद विशेषणता सम्बन्ध से होनेवाला समवाय और अभाव का प्रत्यक्ष होगा। किन्तु विशेषणता को व्यावृत्ति बुद्धि-जनकत्व रूप कहा है। सुतराम् जब तक समवाय और अभाव में विशेषणता नहीं आवेगी, तब तक उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा। एवं जब तक प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक उनमें विशेषणता नहीं आवेगी। यही है प्रकृत में 'आत्माश्रय' दोष (जिसका उपपादन 'विशेषणभावेन' इत्यादि ग्रन्थ से किया गया है)। तस्मात् श्रोत्र और शब्दध्वंस इन दोनों के बीच कोई 'सम्बन्धान्तर' अर्थात् इन दोनों से भिन्न संयोगादि किसी सम्बन्ध के न रहते हुए भी श्रोत्र एवं शब्दाभाव

समवायाऽभावयोर्ग्रहणं, तथा ग्रहणमेव च विशेषणत्वमिति। तस्मात् संबन्धान्तरमन्तरेण तदुपश्लिष्टस्वभावत्वमेव हि तयोः। सैव च विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यता विशेषणतेत्युच्यते। सा चात्र दुर्निवारा, प्रतियोग्यधिकरणेन स्वभावत एवाभावस्य मिलितत्वात्। तथापि तया तथैव प्रतीतिः कर्तव्येति चेन्न।

ये दोनों 'तदुपश्लिष्टस्वभाव' के हैं। अर्थात् दोनों विशेष्यविशेषणभाव स्वभाव के हैं। 'सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धि की सत्ता का नियामक है' यह सत्य है, किन्तु यह सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धियों से भिन्न ही हो—ऐसा नियम नहीं माना जा सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि श्रोत्र में शब्दध्वंस का संयोग समवायादि सम्बन्धों के न रहने पर भी 'स्वरूप' सम्बन्ध सम्भव है, जो दोनों सम्बन्धियों से अभिन्न होगा। इस प्रकार श्रोत्र में स्वरूप सम्बन्ध से शब्दाभाव की प्रतीति हो सकती है। विशिष्टप्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता ही 'विशेषणता' है। इस प्रकार की विशेषणता को शब्दध्वंस में कोई रोक नहीं सकता।[1]

पू० प० ··· ··· ··· तथापि तया ··· ··· ···

अगर यह स्वीकार कर लें कि शब्द ध्वंस में श्रोत्र की विशेषणता है, तो फिर यह भी मानना होगा कि उस विशेषणता सम्बन्ध से जो शब्द ध्वंस का प्रत्यक्ष होगा, उसमें श्रोत्र भासित होगा। क्योंकि विशेष्य सहित ही विशेषण का प्रत्यक्ष विशेषणता सम्बन्ध से होता है। जैसे कि चक्षुःसंयुक्त विशेषणता सम्बन्ध से जो घटाभावादि का प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्ष में चक्षुः संयुक्त भूतलादि विशेष्यों का भान भी अवश्य ही होता है। किन्तु प्रकृत में श्रोत्र विशेष्यक शब्दाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् शब्दाभाव के प्रत्यक्ष में श्रोत्र का विशेष्य विधया भान नहीं होता। अतः शब्द ध्वंस में श्रोत्र की विशेषणता नहीं है।

---

१. किन्तु इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि सम्बन्ध की सत्ता के अधीन सम्बन्धी वस्तु की सत्ता होती है। एवं सम्बन्ध अपने प्रतियोगी और अनुयोगी रूप दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होते हैं। घट की सत्ता भूतल में इस लिये है कि उसके संयोग रूप सम्बन्ध की सत्ता भूतल में है। एवं यह संयोग रूप सम्बन्ध घट और भूतल इन दोनों सम्बन्धियों से भिन्न भी है। एवं विशेषण को विशेष्य में रहना अनिवार्य है। फलतः विशेषणता के लिये विशेष्य और विशेषण से भिन्न किसी सम्बन्ध का रहना आवश्यक है। श्रोत्रके साथ शब्दध्वंस का ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः श्रोत्र विशेष्यक शब्दध्वंस विशेषणक प्रत्यक्ष नहीं बन सकता। इसी प्रश्न का समाधान उपसंहार के ब्याज से 'तस्मात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया गया है।

गृह्यमाणविशेष्यत्वावच्छिन्नत्वाद्व्याप्तेः । अन्यथा संयुक्तसमवायेन रूपादौ विशिष्टविकल्पधीजननदर्शनात् गन्धादावपि तथात्वप्रसंगात् । तथापि नेन्द्रियविशेषणतया कस्यचिद् ग्रहणम् दृष्टम् ।, अपि त्विन्द्रियसंबद्धविशेषणतया, सा चाऽतो निवर्तते इति चेन्न । अस्य प्रतिबन्धस्य इन्द्रियसन्निकृष्टार्थप्रति-संबन्धिविषयत्वात् । अन्यथा संयुक्तसमवायेनगन्धादावुपलब्धिदर्शनात्, समवा-येनाऽदर्शनात् शब्दस्याग्रहणप्रसङ्गात् ।

सि० प०··· ··· ··· ··· ··· न, गृह्यमाण

'विशेषणता सम्बन्ध से होने वाले प्रत्यक्ष में विशेष्य का भी नियमतः भान हो' ऐसा नियम नहीं है। विशेषण के जिस प्रत्यक्ष के स्थल में विशेष्य विषयक प्रत्यक्ष के कारण समूह (सामग्री) भी एकत्र होते हैं, वहीं विशेष्य भी भासित होता है। जैसे कि घटाभाव के प्रत्यक्ष में भूतल भी भासित होता है। प्रकृत में श्रोत्र है आकाश रूप, अतः वह अतीन्द्रिय है। सुतराम् उसके प्रत्यक्ष की सामग्री ही अप्रसिद्ध है, उसका संबलन असंभव है। अतः प्रकृत में केवल शब्दध्वंस रूप अभाव के प्रत्यक्ष की सामग्री का ही संबलन है। इसलिये वहाँ केवल शब्दध्वंस का ही प्रत्यक्ष होता है। 'अन्यथा' अगर यह स्वीकार कर लें कि विशेषण का प्रत्यक्ष विशेष्य प्रत्यक्ष के साथ ही हो तो फिर जैसे आखों से रूप के साथ उसका आश्रय भी प्रत्यक्ष में भासित होता है, उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय से गन्ध के ग्रहण में उसके आश्रय का भी भान मानना पड़ेगा। तस्मात् 'विशेषण का प्रत्यक्ष विशेष्य के साथ ही हो' यह व्याप्ति ही भ्रम मूलक है।

पू· प०··· ··· ··· ···तथापि नेन्द्रियविशेषणतया

शब्दध्वंस में केवल विशेषणता रूप सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु इन्द्रियासम्बद्ध यह केवल विशेषणता सम्बन्ध अभाव के प्रत्यक्ष का उत्पादक संनिकर्ष नहीं है। किन्तु इन्द्रियसम्बद्धविशे-षणता संनिकर्ष ही प्रत्यक्ष का उत्पादक संनिकर्ष है क्योंकि 'अघटं भूतलम्' इत्यादि सर्वसिद्ध अभाव प्रत्यक्ष स्थल में चक्षुःसंयुक्तविशेषणता संनिकर्ष का ही उपयोग देखते हैं। अतः केवल विशेषणता सम्बन्ध से होनेवाला शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष अप्रामाणिक है।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, अस्य प्रतिबन्धस्य

जिस विषय के साथ इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध संभव नहीं है, एवं उस विषय का प्रत्यक्ष होता है, उस विषय के प्रत्यक्ष के लिये परम्परा सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। जैसे कि रूप के प्रत्यक्ष के लिये संयुक्तसमवाय सम्बन्ध की, एवं रूप गत स्पर्शाभाव के प्रत्यक्ष के लिये संयुक्तसमवेतविशेषणता सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। शब्दध्वंस के साथ तो श्रोत्र का साक्षात ही विशेषणता रूप सम्बन्ध है। अतः शब्दध्वंस में श्रोत्रसम्बद्धविशेषणता रूप सम्बन्ध के न रहने पर भी उसके प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है। 'अन्यथा' अगर ऐसा

नाप्यभावत्वे सतीन्द्रियाधारत्वात् सत्प्रतिपक्षत्वम्, योग्यताविरहप्रयुक्तत्वाद्व्याप्तेः ।

नियम मानें कि भूतलादि में घटाभावादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सम्बन्ध से होता है, अतः अभावों के सभी प्रत्यक्षों का उत्पादक संनिकर्ष इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता ही है" तो फिर समान रीति से यह भी कल्पना कर सकते हैं कि गन्धादि विशेषगुणों का प्रत्यक्ष चूँकि संयुक्तसमवाय संनिकर्ष से होता है, अतः सभी विशेषगुणों का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय से ही हो' ऐसी कल्पना करने पर शब्द का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। क्योंकि शब्द में श्रोत्र का केवल समवाय सम्बन्ध ही है, संयुक्तसमवाय नहीं। इस प्रकार शब्द का प्रत्यक्ष ही अनुपपन्न हो जायगा। तस्मात् 'अभाव का प्रत्यक्ष इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता संनिकर्ष से ही हो' यह नियम उन घटाभावादि विषयक प्रत्यक्ष के लिये है, जो (अभाव) इन्द्रिय से सम्बद्ध घटादि के साथ प्रतिसंबद्ध है। सभी अभावों के प्रत्यक्षों के लिये उक्त नियम नहीं है। अर्थात् इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध भूतल में रहनेवाले घटभावादि का प्रत्यक्ष अगर इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सम्बन्ध से होता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि इन्द्रिय के साथ असम्बद्ध श्रोत्र में रहनेवाले शब्दध्वंस रूप अभाव का प्रत्यक्ष केवल विशेषणता सम्बन्ध से न हो। तस्मात् शब्दध्वंस इन्द्रियसंनिकृष्ट है, अतः इन्द्रियासंनिकृष्टत्व रूप पहिला प्रतिहेतु शब्दध्वंस रूप पक्ष में नहीं है। इस लिये यह प्रतिहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होनेके कारण प्रकृत हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता। क्योंकि उस में पक्षधर्मता रूप बल न रहने के कारण प्रकृत हेतु के समान बल नहीं है।

सि० प० ··· ··· ··· ··· नाप्यभावत्वे सति[1]

'शब्दध्वंसः इन्द्रियाग्राह्यः अभावत्वे सति अतीन्द्रियाधारत्वात् परमाणुगतद्व्यणुकध्वंसवत्' यदि इस विरोधी अनुमान को उपस्थित करें तो इसमें 'योग्यताविरह' अर्थात् अयोग्यत्व उपाधि होगा। परमाणु में रहनेवाले द्व्यणुकध्वंस का जो प्रत्यक्ष नहीं होता है, उसका हेतु

---

1. 'नाप्यभाववत्वे सति' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सत्प्रतिपक्ष के उत्थापक अतीन्द्रियाधारत्व रूप दूसरे प्रतिहेतु से होने वाले सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्धार किया गया है। यद्यपि सत्प्रतिपक्ष के उत्थापक ग्रन्थ में 'अतीन्द्रियाधारत्वात्' यही हेतु वाक्य लिखित है। किन्तु इस हेतु में व्यभिचार दोष अत्यन्त स्फुट है, क्योंकि शब्द में इन्द्रियाग्राह्यत्व रूप विरोधी अनुमान का साध्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रियाधारत्व रूप हेतु है। अतः प्रतिवादी को प्रतिहेतु में 'अभावत्वे सति, इतना और जोड़ना होगा। इसीलिये तत्त्वनिर्णयेच्छु आचार्य ने पूर्वपक्षवादी के अभीष्ट विशेषण के साथ ही 'अभावत्वे सति' इत्यादि हेतु वाक्य का अनुवाद किया है। अब शब्द में उक्त व्यभिचार नहीं है, क्योंकि शब्द में अगर इन्द्रियाग्राह्यत्व रूप साध्य नहीं है तो 'अभावत्वे सति अतीन्द्रियाधारत्व' रूप हेतु भी नहीं है।

न चातीन्द्रियाधारत्वमेव तस्य योग्यताविरहः, तद्विपर्ययस्यैव योग्यतात्वापत्तेः। न चैवमेव, धर्मादिप्रध्वंसग्रहणप्रसङ्गात्। दृश्याधारत्वं दृश्यप्रतियोगिता चेति द्वयमप्यस्य योग्यतेति चेन्न।

द्व्यणुकध्वंस के आधारभूत परमाणु का अतीन्द्रिय होना नहीं है। किन्तु स्वयं द्व्यणुकध्वंस की अपनी ही अयोग्यता अर्थात् द्व्यणुकध्वंस का अतीन्द्रिय होना ही उसका हेतु है। फलतः द्व्यणुकध्वंस के प्रतियोगी द्व्यणुक की अयोग्यता ही उसका हेतु है। शब्दध्वंस का प्रतियोगी शब्द अयोग्य नहीं है, अतः शब्द का ध्वंस भी अयोग्य नहीं है। प्रतियोगी की (प्रत्यक्ष) योग्यता ही उसके अभाव की योग्यता है, इस रीति के अनुसार जिन सभी स्थानों में इन्द्रियाग्राह्यत्व रूप साध्य है, उन सभी स्थानों में अयोग्यत्व रूप उपाधि भी है ही, अतः अयोग्यत्व साध्य का व्यापक है। शब्द के ध्वंस में 'अभावत्वे सति अतीन्द्रियाधारत्व' रूप हेतु है, किन्तु अयोग्यत्व रूप उपाधि नहीं है। अतः अयोग्यत्व साधन (हेतु) का अव्यापक भी है। सुतराम् अयोग्यत्व को प्रकृतानुमान में उपाधि होने में कोई बाधा नहीं है। चूँकि अभावत्वे सति अतीन्द्रियाधारत्व रूप हेतु उपाधि से युक्त होने के कारण व्याप्ति से रहित है। अतः उस में व्याप्ति रूप हेतु का बल नहीं है। इसलिये वह प्रकृत हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न चातीन्द्रियाधारत्वमेव ··· ··· ··· ···

जैसे कि आप प्रतियोगी की अयोग्यता को अभाव की अयोग्यता प्रयोजक मानते हैं, उसी प्रकार समान युक्ति से यह भी कहा जा सकता है कि अभाव का प्रत्यक्ष न होने का कारण उस के आधार का अतीन्द्रिय होना ही है, अर्थात् अतीन्द्रियाधारत्व ही अभाव की अयोग्यता नियामक है। सुतराम् यह भी कहा जा सकता है कि शब्दध्वंस का आधारभूत श्रोत्र चूँकि प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, अतः शब्दध्वंस भी प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। इस प्रकार शब्दध्वंस में अयोग्यत्व रूप उपाधि एवं अभावत्वे सति अतीन्द्रियाधारत्व रूप हेतु ये दोनों ही हैं। अतः साधन का व्यापक होने के कारण अयोग्यत्व प्रकृत अनुमान में उपाधि नहीं हो सकता।

पू० प० ··· ··· ··· ··· द्वयमप्यस्य ··· ··· ··· ···

उसी अभाव का प्रत्यक्ष होता है जिस का प्रतियोगी एवं जिसका आधार दोनों ही प्रत्यक्ष के योग्य हों। फलतः दृश्याधारत्व और दृश्यप्रतियोगिकत्व ये दोनों ही अभाव प्रत्यक्ष के नियामक हैं। भूतल में रहनेवाले घटाभाव का प्रत्यक्ष इस लिये होता है, चूँकि उसका प्रतियोगी घट और उसका आधार भूतल ये दोनों ही प्रत्यक्ष के योग्य हैं। आकाश में रहनेवाले घटभाव का प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि उसका आधार आकाश अदृश्य

उभयनिरूपणीयत्वनियमानभ्युपगमात् । प्रतियोगिमात्रनिरूपणीयो ह्यभावः, अन्यथा, 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येषाऽपि प्रतीतिः प्रत्यक्षा न स्यात् । संयोगो ह्यत्र निषिद्धयते । तदभावश्च भूतलवद् घटेऽपि

है। भूतल में रहनेवाले द्वयणुकाभाव का आधार यद्यपि दृश्य है, किन्तु उसका प्रतियोगी द्वयणुक दृश्य नहीं है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। दृश्यप्रतियोगिकत्व और दृश्याधारत्व इन दोनों को सम्मिलित रूप से अभाव प्रत्यक्ष का नियामक मान लेने से प्रत्यनुमान के अतीन्द्रियाधारत्व हेतु में अयोग्यत्व उपाधि नहीं होता है, क्योंकि अब अभाव प्रत्यक्ष की अयोग्यता दृश्यप्रतियोगिकत्व और दृश्याधारत्व एतदुभयाभाव रूप होगी। शब्दध्वंस में दृश्य प्रतियोगिकत्व के रहते हुए भी दृश्याधारत्व के न रहने के कारण (एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति' इस न्याय से) उक्त उभयाभाव रूप अयोग्यता रहेगी। अतः यह अयोग्यत्व हेतु का व्यापक ही हुआ। साधन का अव्यापक न होने से अयोग्यत्व में उपाधि का लक्षण नहीं है। (कहने का तात्पर्य है कि—शब्दध्वंस में दृश्यप्रतियोगिकत्व अगर है भी तो उस में दृश्याधारत्व नहीं है। सुतराम् शब्दध्वंस में (प्रत्यक्ष की) योग्यता नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के उपयुक्त इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं है। एवं (दृश्याधारत्व दृश्य प्रतियोगिकत्व इन दोनों को सम्मिलित रूप से अभाव के प्रत्यक्ष का प्रयोजक मान लेने से) धर्म के अभाव में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं होती है, क्योंकि धर्माभाव का आधार आत्मा यद्यपि दृश्य है, किन्तु उसका प्रतियोगी धर्म दृश्य नहीं है)।

सि० प०, न, उभयनिरुपणीयत्वानभ्युपगमात् ··· ··· ··· ···

पहिली बात तो यह है कि इस में कोई प्रमाण नहीं है कि अभाव का निरूपण उसके प्रतियोगी और उसके आधार दोनों के निरूपण के अधीन है।

'अन्यथा' अर्थात् अभाव को प्रतियोगी और आधार दोनों के द्वारा निरूप्य मानें तो अनुपपत्ति भी होगी। 'भूतले घटो नास्ति' इस आकार की प्रत्यक्ष प्रतीति सार्वजनीन है। इस प्रतीति का विषय वस्तुतः घट के संयोग का अभाव है। जिस प्रकार भूतल में घट के रहने (अस्तित्व) की प्रतीति का प्रयोजक घट और भूतल का संयोग है: उसी प्रकार भूतल में घट के अभाव की प्रतीति का प्रयोजक भूतल मे घट के संयोग का अभाव ही है। इससे यह नियम उपपन्न होता है कि जहां जिस सम्बन्ध के बल से जिस वस्तु की सत्ता की प्रतीति होती है, वहाँ अगर उस आधार में उस वस्तु के अभाव की प्रतीति होगी तो उसका प्रयोजक अस्तित्व के नियामक सम्बन्ध का अभाव ही होगा। इस रीति से 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है, घटसंयोग का अभाव

वर्तते। तत्र यदि प्रत्यक्षतया भूतलस्योपयोगो घटस्यापि तथैव स्यादविशेषात्। अथ घटस्याऽन्यथोपयोगः; भूतलस्याप्यन्यथैव स्यादविशेषात्। कथमन्यथेति चेत्? प्रतियोगिनिरूपणार्थमभावसन्निकर्षार्थञ्च। तत्र प्रतियोगिनिरूपणं स्मरणलक्षण-

---

अथवा यों कहिये कि उक्त प्रतीति घट संयोगाभाव विषयक है। संयोगभाव के प्रत्यक्ष के लिये पूर्वपक्षी के मत से संयोग एवं संयोग के आधार इन दोनों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। भूतल के साथ घट के संयोग का आधार जैसे कि भूतल है वैसे ही घट भी है। इस प्रकार घटाभाव के प्रत्यक्ष के लिये घट का प्रत्यक्ष आवश्यक हो जाता है। किन्तु घट का प्रत्यक्ष तो घटाभाव के प्रत्यक्ष का बाधक है। अतः घट के प्रत्यक्ष के बाद घटाभाव का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। किन्तु पूर्वपक्षी के लिये वह आवश्यक होगा। अतः अभाव के प्रत्यक्ष के लिये अगर उसके प्रतियोगी और आधार दोनों का प्रत्यक्ष अपेक्षित हो तो फिर भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

पू० प० ··· ··· ··· ···प्रतियोगिमात्र प्रत्यक्षतया भूतलस्योपयोगः ··· ··· ··· ···

अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित है। अतः संयोगाभाव के ज्ञान के लिये संयोग का ज्ञान आवश्यक है। संयोग है सम्बन्ध रूप, सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान भर अपेक्षित है। वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही हो यह आवश्यक नहीं है। प्रतियोगी के स्मरणात्मकादि परोक्ष ज्ञानों से भी काम चल सकता है। स्मरणादि परोक्षज्ञान के द्वारा घट का उपयोग ही घट का 'अन्यथोपयोग' है। अतः घट विषयक प्रत्यक्ष के बिना 'अघटं भूतलम्' यह प्रत्यक्ष अनुपपन्न नहीं है।

सि० प० भूतलस्यापि ··· ··· ··· ··· ···

इस प्रकार तो भूतल का भी 'अन्यथोपयोग' हो सकता है। क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् संयोगाभाव के प्रतियोगी संयोग का सम्बन्धी जैसे कि घट है, वैसे ही भूतल भी है, इन में यदि एक के प्रत्यक्ष के बिना भी उपयोग हो सकता है, तो दूसरे का भी बिना प्रत्यक्ष के ही उपयोग हो सकता है।

पू० प० कथम्

संयोगाभाव के प्रत्यक्ष में भूतल का उपयोग बिना उसके प्रत्यक्ष के (अन्यथोपयोग) कैसे हो सकता है?

सि० प० तत्र प्रतियोगिनिरूपणार्थम्

'अघटं भूतलम्' इस आकार के प्रत्यक्ष में भासित होनेवाले संयोगाभाव के प्रत्यक्ष में भूतल का दो प्रकारों से उपयोग होता है। (१) प्रतियोगी के निरूपण के लिये और (२) संनिकर्ष के संपादन के लिये। (प्रतियोगी के निरूपण में प्रत्यक्ष के बिना ही भूतल का उपयोग इस प्रकार होता है कि) संयोग सम्बन्ध रूप है। सम्बन्ध के ज्ञान में उसके दोनों सम्बन्धियों का जिस किसी भी प्रकार का ज्ञान मात्र आवश्यक है। वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही

मनुपलभ्यमानेनाऽपीति न तदर्थमध्यक्षगोचरत्वमपेक्षणीयमन्यतरस्यापि, कुत उभयस्य। सन्निकर्षस्तु भूतलघटसंयोगस्येन्द्रियेण साक्षान्नास्ति। येनाऽस्ति, तेनापि यदीन्द्रियं न सन्निकृष्येत कथमिव तं गमयेत् ?

हो, इसकी आवश्यकता नहीं है। स्मरणादि परोक्ष ज्ञानों से भी काम चल सकता है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार 'अघटं भूतलम्' इस प्रत्यक्ष में भूतल का प्रत्यक्ष आवश्यक नहीं है। अतः संयोगाभाव के प्रत्यक्ष में भूतल और घट इन दोनों में से एक के प्रत्यक्ष की भी आवश्यकता नहीं है। जब दोनों में से किसी एक के भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता प्रकृत में नहीं है, तो फिर दृश्यप्रतियोगित्व और दृश्याधारत्व दोनों में ही अभाव के प्रत्यक्ष की योग्यता को स्वीकार करना तो सुतराम् अनावश्यक है।

संनिकर्षस्तु ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

(२) संयोगाभाव के प्रत्यक्ष के सम्पादक इन्द्रियसंनिकर्ष के सम्पादन में बिना प्रत्यक्ष के भूतल का उपयोग इस प्रकार सम्भव है कि भूतल और घट इन दोनों में संयोग के साथ चक्षुरिन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। अतः परम्परा सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। संयोग का साक्षात् सम्बन्ध भूतल में है या घट में है। अतः इन्हीं दोनों में से किसी के द्वारा चक्षु का संयोग के साथ परम्परा सम्बन्ध स्थापित होगा। जब संयोग के प्रत्यक्ष में ही इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तो फिर संयोग के अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के परम्परा सम्बन्ध की कल्पना तो अवश्य ही करनी पड़ेगी। इसी कारण संयोगाभाव के प्रत्यक्ष के लिये भी भूतल में चक्षु का संनिकर्ष आवश्यक होता है। न होने पर संयोगाभाव प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता नाम के सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं होगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भूतल की प्रत्यक्षविषयता संयोगभाव के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।

पू० प० ··· ··· ··· ···येनास्ति

अभाव का प्रत्यक्ष उसके आधार के प्रत्यक्ष के साथ ही होता है। भूतलादि को छोड़कर केवल घटाभाव का प्रत्यक्ष कहीं नहीं होता। अगर संयोगभाव के प्रत्यक्ष में भूतल का केवल इतना ही उपयोग मानें कि संयोगाभाव के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष का वह सम्पादन करता है, तो फिर जिस प्रकार गन्ध या गन्धाभाव के प्रत्यक्ष में आश्रय का भान कभी होता है कभी नहीं। उसी प्रकार संयोगाभाव के प्रत्यक्ष में भी भूतल का भान कभी होगा कभी नहीं। गन्ध या गन्धाभाव के प्रत्यक्ष में भी इन्द्रिय का संनिकर्ष आश्रय के जरिये ही होता है। अतः प्रकृत में जिस प्रकार इन्द्रिय का संनिकर्ष संयोगाभाव के प्रत्यक्ष का अङ्ग है, उसी प्रकार भूतल का प्रत्यक्ष भी संयोगाभाव के प्रत्यक्ष का अङ्ग ही है। अतः संयोगाभाव के प्रत्यक्ष में भूतल का भान नियमतः होता है। तस्मात् भूतल के प्रत्यक्ष होने के बाद ही संयोगाभाव में इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है। इस प्रकार आश्रय का प्रत्यक्ष अवश्य ही अभाव प्रत्यक्ष का प्रयोजक है।

न चोपलब्धोपलभ्यमानाभ्यामेवेन्द्रियं सन्निकृष्यते, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। तस्मात् सन्निकर्षे सति योग्यत्वाद् भूतलमप्युपलभ्यते, न तु तस्योपलभ्यमानत्वमभावोपलब्धेरंगमिति युक्तमुत्पश्यामः।

प्रकृते तु न प्रतियोगिनिरूपणार्थं तदुपयोगः, तस्य संयोगवदाधारानिरूप्यत्वात्। नापि सन्निकर्षार्थम्, तदभावस्य साक्षादिन्द्रियसन्निकर्षादिति।

सि० प० ··· ··· ··· ···न चोपलब्धोपलभ्यमानाभ्यामेव

अगर प्रत्यक्ष के द्वारा उपलब्ध भूतल के साथ ही इन्द्रिय का संनिकर्ष मानें तो फिर 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा। क्योंकि जब तक संनिकर्ष नहीं होगा, तब तक प्रत्यक्ष नहीं होगा, एवं प्रत्यक्ष के बिना संनिकर्ष नहीं होगा। तब प्रश्न रहा कि अगर भूतल का प्रत्यक्ष संयोगाभाव के प्रत्यक्ष का अङ्ग नहीं है, तो फिर भूतल प्रत्यक्ष के बिना अभाव का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि संयोगाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तविशेषणता सम्बन्ध से होता है। इस सम्बन्ध के लिये भूतल के साथ चक्षु का संयोग आवश्यक है। एवं चक्षु के साथ भूतल का संयोग ही भूतल के प्रत्यक्ष का भी नियामक है। भूतल में प्रत्यक्ष की योग्यता है ही। अतः संयोगाभाव के प्रत्यक्ष के पहिले जैसे उसके कारणसमूह (सामग्री) एकत्र होते हैं, उसी प्रकार उसी समय साथ-साथ भूतल प्रत्यक्ष के कारण समूह भी एकत्र हो जाते हैं। अतः संयोगाभावादि के प्रत्यक्ष में नियमतः भूतलादि आश्रय भी विषय होते हैं। इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि भूतलादि आश्रयों का प्रत्यक्ष संयोगाभावादि प्रत्यक्ष के कारण हैं। गन्धाभावादि विषयक जिन प्रत्यक्षों से पहिले उस के आश्रयों के प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण समूह एकत्र नहीं होते, ऐसे गन्धाभावादि के प्रत्यक्षों में आश्रयों का भान कभी नहीं होता।

सि० प०··· ··· ··· ··· ···प्रकृते तु

प्रकृत स्थल में अर्थात् श्रोत्र विशेष्यक शब्दध्वंस विशेषणक प्रत्यक्ष स्थल में शब्दध्वंस का प्रतियोगी जो शब्द है, उस के निरूपण के लिये श्रोत्र रूप आश्रय का निरूपण आवश्यक नहीं है। क्योंकि शब्द तो संयोग की तरह सम्बन्ध रूप है नहीं कि उसका निरूपण आधार के निरूपण के अधीन होगा। अतः प्रतियोगिनिरूपणविधया श्रोत्र का निरूपण अनावश्यक है। शब्दध्वंस के साथ श्रोत्र का जो संनिकर्ष होगा, उसके लिये श्रोत्र में शब्द का संनिकर्ष आवश्यक नहीं है। क्योंकि शब्दध्वंस के प्रत्यक्ष के लिये जिस विशेषणता सम्बन्ध की आवश्यकता होती है, वह स्वयं साक्षात् सम्बन्ध रूप है (परम्परा सम्बन्ध रूप नहीं)। अभाव के प्रत्यक्ष के लिये आधार के प्रत्यक्ष की आवश्यकता के दो ही प्रयोजन संभव हैं, (१) प्रतियोगी का निरूपण

न चेदेवं, कुत एषा प्रतीतिरिदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्तीति। अनुमानादिति चेन्न। शब्दस्यैव पक्षीकरणे हेतोरनाश्रयत्वात्। अनित्यत्वमात्रसाधनेऽभावस्य नियतकालत्वासिद्धेः।

और (२) संनिकर्ष का संपादन। प्रकृत में इन दोनों में से किसी भी प्रयोजन के लिये आश्रय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं है। तस्मात 'शब्दध्वंस का श्रोत्र रूप आश्रय आकाश चूँकि अतीन्द्रिय है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस लिये यह कहना ठीक नहीं है। कि 'शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता' सुतराम् शब्द के ध्वंस का प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

सि० प० न चेदवम्··· ··· ··· ···

अगर यह नियम न मानें कि वे सभी अभाव (चाहे उनका आधार अतीन्द्रिय ही क्यों न हो) प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण के योग्य हैं, जिनके प्रतियोगी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने के योग्य हों' तो फिर 'इदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' (अभी वह शब्द नहीं है, जिसे मैंने पहिले सुना था) इस आकार की प्रत्यक्षप्रतीति कैसे उपपन्न होगी? (क्योंकि उक्त प्रतीति के विषय शब्दाभाव का शब्द रूप प्रतियोगी यद्यपि प्रत्यक्षयोग्य है, किन्तु उसका आधार आकाश प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। अतः अभाव की प्रत्यक्षयोग्यता के लिये प्रतियोगी की प्रत्यक्ष-योग्यता ही केवल अपेक्षित है, उसके साथ आधार के (प्रत्यक्ष की) योग्यता अपेक्षित नहीं है)।

पू० प० ··· ··· ··· ···अनुमानादितिचेत्

'इदानी श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' इस आकार की प्रतीति प्रत्यक्ष रूप नहीं है, क्योंकि शब्दाभाव स्वरूप विषय का आधार है, आकाश वह अतीन्द्रिय है। किन्तु उक्त प्रतीति अनुमिति रूप है। अतः इसके बल पर शब्दध्वंस की प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं हो सकती।

सि० प०··· ··· ··· ···न, शब्दस्यैव

अर्थात् किस आकार के अनुमान के द्वारा उसकी उपपत्ति करेंगे? (१) शब्द को पक्ष मान कर उस में प्रतियोगित्व सम्बन्ध से ध्वंस का साधन अगर 'इदानीमनुपलभ्यमानत्व' हेतु से करेंगे (श्रुतपूर्वः शब्दो ध्वंसप्रतियोगी इदानीमनुपलभ्यमानत्वात्) तो सो संभव नहीं होगा। क्योंकि वस्तु के साधक अनुमान के लिये पक्ष में हेतु की सत्ता आवश्यक है। अविद्यमान वस्तु में किसी की सत्ता नहीं मानी जा सकती। प्रकृत अनुमान का शब्द रूप पक्ष तो ध्वस्त हो चुका है। अतः उसकी अपनी ही सत्ता नहीं है। इसलिये वह किसी का भी आश्रय नहीं हो सकता। सुतराम् पक्षधर्मता न बनने के कारण उक्त आकार की अनुममिति नहीं हो सकती।

सि० प०··· ··· ··· ···अनित्यत्वमात्रसाधने च[१]

(२) 'इदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' इस प्रतीति के विषय पहिले सुने हुए शब्द में

---

१. इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि शब्द की अनित्यता ही हमलोगों का लक्ष्य है, वह तो सामान्यतः सभी शब्दों को पक्ष बना कर उसमें अनित्यत्व के साधन से भी पूरा हो सकता है। अथवा अनित्य वही कहलाता है जो प्रागभाव का प्रति-

आकाशस्य पक्षत्वे तद्वत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वात्। शब्दसद्भावकालेऽपि तस्य सत्त्वात्। एवं कालपक्षेऽपि दोषात्।

एतत्कालवृत्ति ध्वंस की प्रतियोगिता है। सामान्य रूप से जिस अनित्यत्व का साधन करते हैं, उस अनित्यत्व के शरीर में जो ध्वंस प्रविष्ट है, वह नियमतः एतत्काल में ही रहनेवाला नहीं है। क्योंकि अभी वर्त्तमान शब्द में भी अनित्यत्व है, किन्तु उसमें एतत्कालवृत्तिध्वंस की प्रतियोगिता नहीं है। इस शब्द का जब नाश हो जायगा, उस समय विद्यमान ध्वंस की प्रतियोगिता को लेकर विद्यमान शब्द में अनित्यत्व की उपपत्ति होगी। तस्माद् इस अनुमान के द्वारा 'इदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' इस प्रतीति में भासित होनेवाले 'श्रुतपूर्वशब्द' में एतत्काल रूप 'नियतकाल' में रहनेवाले ध्वंस के प्रतियोगित्व की उपपत्ति नहीं हो सकती।

आकाशस्य पक्षत्वे··· ··· ··· ···

३. कदाच यह कहें कि आकाश को ही पक्ष करेंगे, शब्द ध्वंस को साध्य करेंगे, एवं शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्व को हेतु करेंगे (आकाशः शब्दध्वंसवान् शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्वात्) इस अनुमान से ही 'इदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' इस प्रतीति की उपपत्ति करेंगे। किन्तु सो भी संभव नहीं है, क्योंकि आकाश स्वयं अतीन्द्रिय है, अतः किसी भी विशेषण के साथ उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः सभी समयों में (जिस समय आकाश में शब्द की सत्ता है उस समय भी आकाश में शब्दवत्तया अनुपलभ्यमात्व हेतु है ही (क्योंकि अनुपलभ्यमानत्व में जो, उपलब्धि प्रविष्ट है वह प्रत्यक्षात्मक है)। किन्तु आकाश में उस समय शब्दध्वंस रूप साध्य नहीं है। अतः शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्व हेतु (साध्याभाव के अधिकरण में विद्यमान होने के कारण) अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अतः इससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

एवं कालपक्षेऽपि··· ··· ··· ··· ···

४. (पूर्वपक्षवादी कदाच यह कहें कि) 'इदानीम्' काल को ही पक्ष बना कर उस में शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्व हेतु से शब्दध्वंस की सिद्धि करेंगे। (एतत्कालः

योगी होने का साथ ही ध्वंस का भी प्रतियोगी हो। इस प्रकार की अनित्यता अगर सभी शब्दों में सिद्ध हो जाती है तो फिर पहिले सुने हुए शब्दों में उस अनित्यता की सिद्धि हो ही जायगी। अतः 'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात्' इस अनुमान से ही उक्त प्रतीति उपपन्न हो जायगी। इसके लिये शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष मानना आवश्यक नहीं है। इस प्रसङ्ग में प्रकृत में जिन अनुमानों का उपयोग संभव है उन सभी अनुमानों का उल्लेक पूर्व खण्डन ही आचार्य ने 'न, शब्दस्यैव पक्षीकरणे' इत्यादि सन्दर्भ से प्रारम्भ किया है।

अहमिदानीं निःशब्दश्रोत्रवान्, शब्दोपलब्धिरहितत्वात्, बधिरवदिति चेन्न। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, व्याहतत्वाच्च। बधिरश्च श्रोत्रवाँश्चेति व्याहतम्।

शब्दध्वंसवान् शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्वात्) काल पक्षक इस अनुमान के द्वारा ही 'इदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' इस प्रतीति की उपपत्ति करेंगे। किन्तु यह भी संभव नहीं है, क्योंकि इसमें भी कथित रीति के अनुसार व्यभिचार दोष है ही। चूँकि काल भी अतीन्द्रिय है, अतः किसी भी विशेषण के साथ उसका भी प्रत्यक्ष संभव नहीं है। अतः जिस स्थिति में काल में शब्द की सत्ता है, उस स्थिति में भी शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्व हेतु काल में है, अथ च शब्द का ध्वंस उस स्थिति में काल में नहीं है। इस रीति से यह हेतु भी अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। अतः काल पक्षक उक्त अनुमान से भी काम नहीं चल सकता।

पू० प० अहमिदानीम् ··· ··· ··· ···

आत्मा को ही पक्ष करेंगे, शब्दध्वंसविशिष्ट श्रोत्र को साध्य करेंगे, एवं शब्दोपलब्धि-रहितत्व को हेतु करेंगे और बधिर पुरुष को दृष्टान्त बनावेंगे। अनुमान का आकार होगा 'अहमिदानीं निःशब्दश्रोत्रवान् शब्दोपलब्धिरहितत्वात् बधिरवत्।' इस अनुमान से ही 'इदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति' इस प्रतीति की उपपत्ति करेंगे।

वीचीतरङ्गन्याय से जब कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश में शब्द की उत्पत्ति होती है, तभी शब्दका प्रत्यक्ष होता है। जिस समय आत्मा में शब्द का प्रत्यक्ष होता है, उस समय श्रोत्र में शब्द भी रहता है। सुतराम् आत्मा में जिस समय शब्द की उपलब्धि नहीं रहती है, उस समय श्रोत्र भी निःशब्द रहता है। अतः यह व्याप्ति सुलभ है कि जो आत्मा शब्द की उपलब्धि से रहित होती है, वह शब्दविहीन श्रोत्र से युक्त भी होती है। इस प्रसङ्ग में बधिर पुरुष को दृष्टान्त दिया जा सकता है, क्योंकि वह शब्द की उपलब्धि से रहित भी होता है, और उसके श्रोत्र निःशब्द भी होते हैं।

सि० प० न, दृष्टान्तस्य ··· ··· ··· ···

पहिला दोष इस अनुमान में यह है कि इसका दृष्टान्त बधिरपुरुष निःशब्दश्रोत्र रूप साध्य से विहीन है। दृष्टान्त में साध्य का रहना आवश्यक है। निःशब्द श्रोत्र रूप साध्य का अभाव दो प्रकार से हो सकता है। १. श्रोत्र में शब्द के न रहने से और २. श्रोत्र के ही रहने से। इन में बधिर पुरुष को श्रोत्र तो है, किन्तु उस में शब्द नहीं है। अतः श्रोत्र निःशब्द भी है। किन्तु इस रीति से दृष्टान्त में साध्य की सत्ता का उपपादन नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि बधिर को श्रोत्र तो है, किन्तु उस में शब्द नहीं है। सुतराम् बधिर के श्रोत्र में भी शब्द है ही। अतः दृष्टान्त में निःशब्द श्रोत्र

तस्यापि च श्रवसः निःशब्दत्वे प्रमाणं नास्ति। अनुपभोग्यस्य उत्पादवैयर्थ्यं प्रमाणमिति चेन्न। आद्यादिशब्दवदुपपत्तेः। तेषां शब्दान्तरारम्भं प्रत्युपयोगः, अन्त्यस्य न तथेति चेन्न। अन्त्यत्वासिद्धेः। सर्वेषाञ्चोत्पादवतां प्रयोजनतदभाव-

---

रूप साध्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'वह पुरुष बधिर है' एवं 'उस पुरुष को श्रोत्रन्द्रिय है' ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। बधिर पुरुष को श्रोत्रेन्द्रिय होता ही नहीं। अतः दृष्टान्त में निःशब्द श्रोत्र रूप साध्य नहीं है। अतः दृष्टान्त में साध्य वैकल्य दोष विद्यमान है।

पू० प० अनुपभोग्यस्य ··· ··· ··· ···

बधिर के श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि बिना प्रयोजन के किसी वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं है। श्रोत्र में शब्द की उत्पत्ति का प्रयोजन है शब्द का उपभोग। शब्द के प्रत्यक्ष के बिना शब्द का उपभोग संभव नहीं है। अतः बधिर के कर्ण में शब्द की उत्पत्ति बिना प्रयोजन की होगी। सुतराम् बधिर के कर्ण में शब्द की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः बधिर रूप दृष्टान्त साध्य से शून्य नहीं है।

सि० प० न, आद्यादिशब्दवत् ··· ··· ··· ···

यह सत्य है कि बिना प्रयोजन के किसी की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु कोई साक्षात् ही प्रयोजन का संपादन करता है, कोई परम्परया। जैसे कि श्रोत्र में उत्पन्न शब्द साक्षात् ही प्रयोजन का संपादक है और आद्यशब्द श्रोत्र में शब्दान्तर के उत्पादन द्वारा प्रयोजन का संपादक है। बधिर के श्रोत्र में उत्पन्न होने वाला शब्द अबधिर पुरुष के श्रोत में उत्पन्न शब्द की तरह साक्षात् प्रयोजन का संपादक भले ही न हो, किन्तु आद्यशब्द की तरह परम्परया प्रयोजन का संपादन तो कर ही सकता है। अतः अप्रयोजनीय होने के नाते बधिर पुरुष के कर्ण में शब्द की उत्पत्ति को ही अस्वीकार करना उचित नहीं है।

पू० प० तेषाम्··· ··· ··· ···न तथेति चेत्

आद्य शब्द का या मध्य शब्द का यह प्रयोजन हो सकता है कि वह दूसरे शब्द को उत्पन्न करे। किन्तु श्रोत्र में उत्पन्न होनेवाला शब्द तो अन्तिम है। उससे तो दूसरे शब्द की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः शब्द का उपभोग ही केवल उस शब्द का प्रयोजन हो सकता है। यह शब्दोपभोग रूप प्रयोजन यदि बधिर पुरुष के श्रोत्र में उत्पन्न शब्द से न हो सके तो फिर यही कहना पड़ेगा उसकी उत्पत्ति ही निरर्थक है। चूँकि निरर्थक वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः बधिर पुरुष के श्रोत्र में शब्द उत्पन्न ही नहीं होता है।

सि० प० न, अन्त्यत्वासिद्धेः ··· ··· ··· ··· ··· अनुपयोगात्

श्रोत्र में जो शब्द उत्पन्न होता है, वह अन्तिम है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः जिस प्रकार आद्यशब्द या मध्यशब्द का यह प्रयोजन संभव है कि उनसे दूसरे शब्दों की उत्पत्ति हो, उसी प्रकार श्रोत्रगत शब्द के प्रसङ्ग में भी यह कहा जा सकता है उससे दूसरे

योरस्माद्दशैरनाकलनात्। सुषुप्त्यवस्थायां श्वासप्रश्वासप्रयोजनवच्च तदुपपत्तेः। आरम्भे सति प्रयोजनमवश्यमिति व्याप्तेः, न त्वापाततः प्रयोजनानुपलम्भमात्रेणारम्भनिवृत्तिः। तथा सति कर्णशष्कुल्यवच्छेदोत्पाद एव नभसः तं प्रति निवर्तेत। बधिरस्य तेनाऽनुपयोगात्। विवादकाले बधिरकर्णः शब्दवान्, योग्यदेशस्यानावृत-

---

शब्द का उत्पादन रूप प्रयोजन निष्पन्न होगा। अतः प्रयोजन के अभाव से बधिर पुरुष के श्रोत्र में शब्द की उत्पत्ति नहीं रोकी जा सकती। उत्पत्तिशील सभी वस्तुओं का प्रयोजन और अप्रयोजन हम जैसे साधारण व्यक्ति समझ भी नहीं सकते। सुषुप्ति अवस्था में जो श्वास और प्रश्वास चलता है, उसका प्रयोजन हम लोगों को कहाँ ज्ञात है? किन्तु इस श्वास और प्रश्वास की उत्पत्ति का निराकरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार बधिर पुरुष के श्रोत्र में शब्द की उत्पत्ति का भी खण्डन नहीं किया जा सकता। 'जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका कोई प्रयोजन अवश्य रहता है' इस व्याप्ति के रहते हुये किसी वस्तु के प्रयोजन का आपात दृष्टि से ज्ञान न होने पर उसके उत्पादन का ही खण्डन कर देना उचित नहीं है। अगर साधारणजनों के द्वारा प्रयोजन के अज्ञात होने पर उसकी उत्पत्ति ही रुक जाय तो फिर बधिर पुरुष के शरीर में कर्णशष्कुली रूप अवच्छेदक का निर्माण ही नहीं होता। कर्णशष्कुली रूप अवच्छेदक की उत्पत्ति तो इसीलिये होती है कि तदवच्छेदेन आकाश में उत्पन्न होकर शब्द की उपलब्धि हो। बधिर पुरुष को जब शब्द की उपलब्धि ही नहीं होती है, तब बधिर पुरुष के शरीर में कर्णशष्कुली का निर्माण ही क्यों? तस्मात् जैसे साधारण जनों को प्रयोजन की उपलब्धि नहीं है—केवल इसके बल पर जैसे बधिर पुरुष के शरीर में कर्णशष्कुली का निर्माण नहीं रुक सकता, वैसे ही उस बधिर के कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश रूप श्रोत्र में शब्द की उत्पत्ति भी नहीं रोकी जा सकती। अतः बधिर पुरुष के श्रोत्र में भी शब्द है। चूँकि बधिर पुरुष निःशब्द श्रोत्रवाला नहीं हो सकता। अतः उक्त अनुमान के दृष्टान्त में साध्य के नहीं रहने का (साध्यवैकल्य) दोष है ही।

सि० प० विवा[1]दकाले ··· ··· ··· सुषिरवत्

जिस समय उस देश में रहनेवाले एवं श्रोत्रेन्द्रिय से युक्त (अबधिर) लोगों को शब्द की उपलब्धि होती है, उस (विवाद) काल में बधिर पुरुष के कान में भी शब्द, है, क्योंकि बधिरों के कान भी कर्णशष्कुली के बीच का छिद्र रूप ही है, जैसे कि अबधिर पुरुष के कर्णशष्कुली के बीच का छिद्र किसी से ढँका नहीं रहने के कारण शब्द की उत्पत्ति के योग्य है

---

१. 'तस्यापि च श्रवसः' यहाँ से लेकर 'तेनानुपयोगात्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से यह प्रतिपादन किया गया है कि 'बधिर के श्रोत्र में शब्द के नहीं रहने का कोई प्रमाण नहीं है' किन्तु केवल इतने भर से तो उसमें शब्द का रहना सिद्ध नहीं हो सकता, उसके लिये अलग से प्रमाण चाहिये। अतः 'विवादकाले' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा बधिर पुरुष के श्रोत्र में शब्द की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा दिखलायी गयी है।

कर्णशष्कुलीसुषिरत्वात्। तदितरकर्णशष्कुलीसुषिरवदिति। निःशब्दाः पणववीणावेणवः, तदेकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वस्य तदनुपलम्भेऽप्युपलभ्यमानत्वात्। यत्

उसी प्रकार वह छिद्र भी किसी से ढँका न रहने के कारण शब्द की उत्पत्ति के योग्य है। अतः इस अनुमान के द्वारा बधिर पुरुष के श्रोत्र रूप दृष्टान्त में शब्द रूप साध्याभाव की सिद्धि हो जाने पर 'अहमिदानीम्' इत्यादि अनुमान नहीं हो सकता।

पू० प० निः शब्दाः पणववीणावेणवः ··· ··· ··· ···

जिस विशेषण के साथ जिस विशेष्य का ज्ञान कभी होता है, उसी विशेष्य के किसी ज्ञान में यदि वह विशेषण कभी भासित न हो सके तो यह समझना चाहिये कि उस समय उस विशेष्य में वह विशेषण नहीं है। जैसे कि जिस समय भूतल में घट रहता है, उस समय का भूतल विषयक ज्ञान घट विषयक भी होता है। अतः 'घटवद् भूतलम्' इस आकार के भूतल विषयक ज्ञान घट रूप विशेषण विषयक भी होता है। किन्तु जिस समय भूतल में घट नहीं रहता है, उस समय भूतल की उपलब्धि बिना घट रूप विषयक ही होती है। इससे समझना सुलभ हो जाता है कि उस समय भूतल में घट नहीं है। (इससे यह निष्कर्ष निकला कि) जिस विशेषण के ज्ञान की विषयता जिस विशेष्य में सम्भावित है, वह विशेष्य किसी समय यदि किसी ऐसे ज्ञान के द्वारा उपलब्ध होता है, जिसमें वह विशेषण भासित नहीं होता है, तो यह समझना चाहिये कि उस समय उस विशेष्य में वह विशेषण नहीं है। प्रकृत में यह कहना है कि जिस समय वीणा, मृदङ्ग प्रभृति बाजे बजते हैं, उस समय "सशब्दा वीणापणववेणवः" इस आकार की शब्दविशेषणक प्रतीति होती है। अत एव वीणादि में शब्द विषयक एक ज्ञान का 'संसर्गित्व' अर्थात् विषयताकी योग्यता है। किन्तु जिस समय वीणादि वाद्य नीरव रहते हैं, उस समय केवल वीणादि वाद्यों की ही उपलब्धि होती है। इससे यह समझना सुलभ है कि उस समय वीणादि वाद्यों में शब्द नहीं है।[1]

1. 'निःशब्दाः पणववीणावेणवः तदेकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वे सति तदनुपलम्भेऽप्युपलभ्यमानत्वात्' इस अनुमान के हेतु वाक्य में पदों की व्यावृत्तियाँ इस प्रकार हैं। अगर तदेकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वे सति' यह विशेषण नहीं देंगे तो व्यभिचार दोष होगा, क्योंकि धर्म की उपलब्धि न होने पर भी आत्मा की उपलब्धि होती है, किन्तु इस से आत्मा में धर्म का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। अगर उक्त विशेषण दे देते हैं तो उक्त व्यभिचार दोष मिट जाता है, क्योंकि आत्मा में धर्म विशिष्ट आत्म प्रत्यक्ष की विषयत्व की योग्यता ही नहीं है। चूँकि धर्म अतीन्द्रिय है, अतः धर्म विशिष्ट आत्मा का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। अगर हेतु वाक्य में 'तदनुपलम्भे सति' यह पद नहीं देते हैं तो फिर सशब्द वीणा में व्यभिचार होगा, क्योंकि सशब्द वीणा में शब्द विशिष्ट वीणा के प्रत्यक्ष विषयत्व की योग्यता भी है एवं उपलभ्यमानत्व भी है। अतः हेतु है, किन्तु शब्दाभाव रूप साध्य नहीं है। 'तदनुपलम्भेऽपि' यह पद देने पर व्यभिचार दोष मिट जाता है, क्योंकि—सशब्द वीणा में 'सशब्दा वीणा' इस आकार की प्रत्यक्ष विषयता ही है, अतः हेतु की सत्ता नहीं है।

यदेकज्ञानसंसर्गयोग्यस्यानुपलम्भेऽप्युपलभ्यते तत् तदभाववत्। यथा अघटं भूतलमिति चेन्न। एकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वाभावात्। शब्दस्य श्रौत्रत्वाद्वीणादीनां चाक्षुषत्वात्। अभिमानमात्रादिति चेन्न। तथापि शब्दप्रध्वंसस्याऽतद्देशत्वात्, अत्यन्ताभावस्य च कालानियमात्।

सि० प० न, एकज्ञान संसर्गयोग्यत्वाभावात् ··· ··· ··· ···

वीणादि में 'स शब्दाः पणववीणावेणवः' इस आकार के 'एकज्ञान' रूप प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है। क्योंकि वीणादि चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय हैं। एवं शब्द श्रावणप्रत्यक्ष का विषय है। अतः ऐसा कोई एक प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है, जिसमें वीणादि और शब्द दोनों ही विषय हों। इसलिये वीणादि रूप पक्ष में हेतु का 'तदेकज्ञानसंसर्गयोग्यत्व' रूप विशेषण नहीं है। अतः पक्ष में उक्त विशेषण से युक्त हेतु भी नहीं है। फलतः प्रकृत हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। पक्ष में हेतु के अभाव को स्वरूपासिद्धि दोष कहते हैं।

पू० प० अभिमान — ··· ··· ···

'मधुरस्वरा वीणा' इत्यादि प्रतीतियाँ सार्वजनीन हैं। अतः इन प्रतीतियों की उपपत्ति करनी ही पड़ेगी। यह उपपत्ति चाहे उक्त ज्ञान को भ्रम मानकर हो अथवा उक्त ज्ञान में वीणा का अलौकिक संसर्ग से भान मान कर हो। किन्तु उक्त ज्ञान से वीणादि में शब्द विषयकज्ञान में विषय होने की योग्यता अवश्य आ जायगी। 'एकज्ञान संसर्गयोग्यत्व' में जो 'ज्ञान' पद है, उससे 'मधुरस्वरा वीणा' इत्यादि आकार का 'अभिमान' रूप भ्रमरूप ज्ञान ही अभिप्रेत है। अतः उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध न होने से हेत्वाभास नहीं है। सुतराम् उक्त अनुमान ठीक है।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, तथापि शब्दप्रध्वंसस्य

[1]वीणादि में शब्द के जिस अभाव की सिद्धि आप करते हैं शब्द का वह अभाव (१) ध्वंस रूप है? या (२) अत्यन्ताभाव रूप? अगर (१) शब्द ध्वंस को साध्यकरेंगे तो उक्त अनुमान में बाध दोष होगा। क्योंकि ध्वंस नियमतः उसी देश में रहता है जो देश उसके प्रतियोगी का समवाय सम्बन्ध से नियमतः आश्रय हो। वाणादि शब्द के समवायी देश न होने के कारण शब्दध्वंस के आश्रय नहीं है (शब्द का समवायी देश आकाश है) अतः वीणादि

१. पूर्वपक्षवादी के उक्त समाधान को तत्वान्वेषक आचार्य ने स्वीकार कर लिया है। अतः 'न तथापि' इत्यादि से आरम्भ कर 'कालानियमात्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से पूर्वपक्षी के अनुमान में दूसरे दोष दिखलाये हैं।

स्यादेतत् । शब्दवदाकाशोपाश्रयो हि भेर्यादयः । तेन तेषु विधीयमानः शब्दः आकाश एव विहितो भवति, प्रतिषिद्ध्यमानश्च तत्रैव प्रतिषिद्धो भवति, शरीरे सुखादिवदिति चेन्न ।

शब्दध्वंस के आश्रय नहीं हो सकते । अतः वीणादि रूप पक्ष में शब्दध्वंस रूप साध्य के न रहने से प्रकृत में बाध दोष स्फुट है, क्योंकि पक्ष में साध्य के न रहने से बाध दोष होता है । सुतराम उक्त अनुमान का हेतु स्वरूपासिद्ध न होने पर भी बाधित नाम का हेत्वाभास होगा । (२) अगर शब्द के अत्यन्ताभाव का साधन वीणादि में करना चाहते हैं तो उक्त बाध यद्यपि नहीं होगा, फिर भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी । क्योंकि जिस प्रकार वायु में रूप का अत्यन्ताभाव सभी समय रहता है, उसी प्रकार वीणादि में भी शब्द का अत्यन्ताभाव सभी समय विद्यमान है । आप को तो 'इदानीम्' रूप नियत काल में पहिले सुने हुए शब्द के अभाव को सिद्ध करना अभीष्ट है । यह कार्य सभी समयों में शब्दाभाव की सिद्ध करनेवाले अनुमान से नहीं हो सकता । वस्तुतः प्रकृत में यह विचार उपस्थित है कि शब्द का ध्वंस प्रत्यक्षवेद्य है ? या (२) प्रत्यक्षवेद्य नहीं है ? यह विचार तो शब्द के अत्यन्ताभाव को अनुमानगम्य सिद्ध कर देने से निवृत्त नहीं हो सकता ।

पू० प० स्यादेतत् ··· ··· ··· ··· शरीरसुखादिवत् ··· ··· ··· ···

आकाश में जो शब्द की अधिकरणता है, भेरी-मृदङ्ग-वीणा प्रभृति द्रव्य उस अधिकरणता के अवच्छेदक (भेदक) उपाधि हैं । जिस से यह ज्ञात होता है कि तदवच्छेदेनैव आकाश में शब्द को अधिकरणता है । जैसे शरीरावच्छेदेन आत्मा में सुख की अधिकरणता रहती है । उपधेय वस्तु (आत्मा आकाश प्रभृति) में रहनेवाली वस्तु का उनकी उपाधि (वीणा शरीर प्रभृति) में भी व्यवहार होता है । जैसे शरीर में सुख या सुख के अभाव का व्यवहार होता है । किन्तु उपाधि में होनेवाले इस गौण व्यवहार से उपाधि में किसी वस्तु की वास्तविक सिद्धि या पारमार्थिक निषेध नहीं हो सकता । वह तो उपाधि से युक्त उपधेय में ही होता है । जैसे कि 'शरसि में सुखम्' या 'पादे में वेदना' इत्यादि व्यवहारों से शिर में सुख या पैर मे दुःख की सिद्धि नहीं होती है । अथवा 'शरीरे मे सुखं नास्ति' इत्यादि प्रतीति से शरीर में सुख के अभाव की सिद्धि न होकर आत्मा में ही सुख के अभाव की सिद्धि होती है । इसी प्रकार प्रकृत में मृदङ्ग वीणा प्रभृति से अवच्छिन्न आकाश में जो शब्द की अधिकरणता है, उस का अवच्छेदकीभूत उपाधि है भेरी मृदङ्गादि । अतः, भेर्यां शब्दः, वीणायां शब्दः इत्यादि प्रतीतियों से आपाततः यद्यपि भेरी प्रभृति में शब्द की सत्ता प्रतीत होती हैं । किन्तु वास्तव में उन प्रतीतियों से तदवच्छिन्न आकाश में ही शब्दकी सत्ता सिद्ध होती है । एवं 'निःशब्दा भेरी,' निःशब्दा वीणा' इत्यादि प्रतीतियों से भी तत्तदवच्छिन्न आकाश में ही शब्द का निषेध होता है ।

तत्र सोपाधावात्मनि प्रत्यक्षसिद्धे सुखादिनिषेधस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। न चैवमिहापि, तदुपहितस्य नभसोऽप्रत्यक्षत्वात् । उपाधयस्तावत् प्रत्यक्षा इति चेन्न । तैरभावाऽनिरूपणात् । निरूपणे वा प्रत्यक्षेणापि ग्रहणप्रसङ्गात् ।

सुतराम् 'निःशब्दाः पणव-वीणा-वेणवः' इत्यादि अनुमानों में वीणादि पक्ष ही नहीं है, किन्तु तदवच्छिन्न आकाश ही पक्ष है। उक्त आकाश तो शब्दध्वंश का देश है ही। अतः शब्दध्वंस साध्यक अनुमान में जो स्वरूपासिद्धि दोष कहा गया है, सो नहीं है।

सि० प० न, तत्र सोपाधावात्मनि

शरीर में सुख के निषेध से जहाँ आत्मा में सुख का निषेध होता है, वहाँ शरीर रूप उपाधि से युक्त आत्मा का प्रत्यक्ष होता हैं। अतः प्रत्यक्ष आत्मा में प्रत्यक्षयोग्य सुख का निषेध प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध हो सकता है। प्रकृत में आकाश अतीन्द्रिय है। अतः भेरी प्रभृति उपाधियों से अवच्छिन्न आकाश भी अतीन्द्रिय ही है। सुतराम् शब्द के ध्वंस से युक्त होकर भी आकाश का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः आकाश पक्षक अनुमान में जितने भी दोष कहे गये हैं, वे सभी इस अनुमान में भी होंगे। पणववीणादि पक्षक उक्त अनुमान भी वास्तव में आकाशपक्षक ही हैं। (अर्थात् पक्ष में तदनुपलम्भेऽपि अनुपलभ्यमानत्व हेतु के न रहने से यहाँ भी स्वरूपासिद्धि दोष है ही)।

सि० प० न, तैरभावानिरूपणात्

हम यह तो कहते नहीं कि 'वीणादि का प्रत्यक्ष नहीं होता' है। किन्तु हम यह कहते हैं कि वीणादि शब्द के समवायिकारणीभूत देश नहीं हैं, अतः उनसे शब्दध्वंस का निरूपण नहीं हो सकता। अगर यह मान लें कि (शब्द के समवायिकरण न होते हुए भी) वीणादि से भी शब्दध्वंस का निरूपण हो सकता है, तो फिर शब्दध्वंस के प्रत्यक्ष में कोई बाधा न रह जाने के कारण हम लोगों का मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जायगा। क्योंकि शब्दध्वंस के प्रत्यक्ष में तो इतनी ही बाधा है कि उसके प्रतियोगी का समवायी आकाश अतीन्द्रिय है। एवं किसी दूसरे के द्वारा उसका निरूपण हो नहीं सकता। सो अगर शब्द के समवायिकारणीभूत आकाश को छोड़कर उसके निमित्त कारणीभूत वीणादि से भी शब्दध्वंस का निरूपण हो सकता है तो फिर शब्दध्वंस के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं रह जाती। दूसरी बात यह है कि ('एवं सति' अर्थात्) वीणादि से भी शब्दध्वंस का निरूपण मानने का यह निष्कर्ष होगा कि ध्वंस केवल अपने प्रतियोगी के समवायी रूप 'पारमार्थिक' (वास्तविक) अधिकरण से ही निरूप्य नहीं है। किन्तु ऐसा मानने पर जिस समय वीणादि 'व्यवहित' होने के कारण प्रत्यक्ष योग्य नहीं रहते, उस समय अप्रत्यक्षवीणादि में जो शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष होता है, वह न हो सकेगा। क्योंकि वीणादि जब स्वयं शब्दाभाव

न चैवं सति पारमार्थिकाधिकरणनिरूपणीयत्वमभावस्य । न च तेऽपि प्रत्यक्षसिद्धाः । सर्वत्र शब्दकारणाव्यवधानेऽप्युपलब्धस्य शब्दस्य नास्तिताप्रतीतेः । आनुमानिकैस्तैस्तथा व्यवहार इति चेन्न । हेतोस्तद्वत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वस्याऽनैकान्तिकत्वात् । अभावप्रतीतिकाले सन्दिग्धाश्रयत्वाच्च । उपलभ्यमानविशेष्यत्वपक्षे

के निरूपक है, तो फिर उनके प्रत्यक्ष के बिना उनमें शब्दाभाव की प्रतीति कैसे होगी ? अतः (यह मानना पड़ेगा कि) ध्वंस अपने प्रतियोगी के (समवायिकारण रूप) 'पारमार्थिक' अधिकरण से ही निरूपित हो सकता है, वीणादि निमित्त कारणों के द्वारा नहीं ।

पू० प० ··· ··· ··· ··· आनुमानिकैः

व्यवहित वीणादि में जो शब्दध्वंस का व्यवहार होता है, वह 'आनुमानिक' वीणादि से होता है । अर्थात् विशेष प्रकार के शब्द से अनुमित वीणादि में शब्दध्वंस का अनुमान होता है । अनुमिति में पक्ष का जिस किसी भी प्रकार का ज्ञान ही अपेक्षित है । पक्ष के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की नियमतः अपेक्षा नहीं है । अतः व्यवहित वीणादि में शब्दध्वंस के व्यवहार की कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, हेतोः

किस आकार के अनुमान से व्यवहित वीणादि में शब्दध्वंस के व्यवहार की उपपत्ति करना चाहते हैं ? (१) 'व्यवहिताः वीणादयः निःशब्दाः शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्वात्' अगर इस आकार का अनुमान अभीष्ट हो, तो इस अनुमान का हेतु 'अनैकान्तिक' दोष से ग्रसित होगा । क्योंकि वीणादि है चाक्षुष एवं शब्द है श्रावण । अतः सशब्द वीणा में भी शब्दवत्तया अनुपलभ्यमानत्व हेतु है, किन्तु वहाँ शब्दध्वंस रूप साध्य नहीं है । (२) इसी अनुमान में दूसरा दोष यह है कि जिस समय व्यवहित वीणादि में शब्दध्वंस का अनुमान करना चाहते हैं, उस समय उन वीणादि पक्षों की ही सत्ता सन्दिग्ध है । जब देखते नहीं हैं, तब कैसे निश्चय करें कि वीणादि की सत्ता है । फलतः उक्त अनुमान 'सन्दिग्ध-पक्षक' हो जाता है । किन्तु अनुमान में पक्षसत्ता का निश्चय अपेक्षित है । इस हेतु से भी उक्त अनुमान नहीं हो सकता ।

पू० प० ··· ··· ··· ··· उपलभ्यमानत्वविशेष्यत्वपक्षे च

उक्त दोष को हटाने के लिये उक्त अनुमान के हेतु में 'उपलभ्यमानत्व' विशेषण देंगे । अर्थात् 'शब्दवत्तयाऽनुलभ्यमानत्वे सति उपलभ्यमानत्व' को हेतु बनावेंगे । व्यवहित वीणादि की भी सत्ता अनुमान प्रमाण या शब्द प्रमाण से सिद्ध हो सकती है । यह आवश्यक नहीं है कि

चासिद्धेः। इन्द्रियव्यवधानाच्छब्दलिङ्गस्य चानुपलम्भात्।

अपि च, नष्टाश्रयाणां द्रव्यगुणकर्मणां नाशोपलम्भः कथम्?। न कथञ्चिदिति चेत्? आश्रयनाशात्कार्यनाश इति कुत एतत्?। अनुमानतस्तथोपलम्भादिति चेन्न।

पक्षसत्ता का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो। अतः प्रकृत अनुमान में 'सन्दिग्धपक्षकत्व' दोष नहीं है।

सि० प० ··· ··· ··· ··· असिद्धेः

उक्त अनुमान में सन्दिग्धपक्षकत्व दोष भले ही न हों किन्तु कथित हेतु में उपलभ्य-मानत्व विशेषण देने पर वह हेतु 'असिद्ध' हेत्वाभास हो जायगा। क्योंकि व्यवहित वीणादि का ज्ञान प्रत्यक्ष से संभव ही नहीं है। वीणादि के ज्ञापक विशेष प्रकार का शब्द भी उपलब्ध नहीं है, जिससे कि व्यवहित वीणादि का अनुमान हो सके। अगर ऐसा मानेंगे तो उससे वीणादि में शब्द की अनुमिति हो• जायगी, जिससे प्रकृत अनुमान बाधित हो जायगा। वीणादि के ज्ञापक आप्तोपदेश रूप शब्द भी उपलब्ध नहीं है इस प्रकार यह सिद्ध है कि वीणादि में उक्त उपलभ्यमानत्व हेतु नहीं है। सुतराम् पक्ष में न रहने से प्रकृत हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तस्मात् यही ठीक है कि ध्वंस के प्रत्यक्ष में उसके अधिकरण का प्रत्यक्ष आवश्यक नहीं है, केवल प्रतियोगी के योग्य होने से ही अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है।

सि० प० अपि च ··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह है कि अगर ध्वंस के निरूपण में प्रतियोगी के निरूपण की तरह उसके अधिकरण का निरूपण भी आवश्यक मानेंगे तो द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों में से किसी के आश्रय का या सभी के आश्रय का यदि नाश हो जाय (अर्थात् आश्रयनाश से जहाँ द्रव्यगुणादि का नाश हो जाय) तो उस द्रव्यनाश या गुणनाश या कर्मनाश का निरूपण कैसे होगा? अगर ऐसा मानेंगे कि 'ऐसे स्थलों में ध्वंस का प्रत्यक्ष होता ही नहीं है' तो फिर 'आश्रयनाशात् कार्यनाशः' इस व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः ध्वंस के प्रत्यक्ष में उसके आश्रय का प्रत्यक्ष कारण नहीं है।

पू० प० ··· ··· ··· ··· अनुमानतः

आश्रय का विनाश हो जाने पर यद्यपि उस में कार्यनाश का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, किन्तु विनाश प्राप्त आश्रय में भी अनुमान प्रमाण के द्वारा कार्य के ध्वंस का अनुमान हो सकता है। इसी से 'आश्रयनाशात् कार्यनाशः' इस व्यवहार की भी उपपत्ति हो जायगी। इसके लिये आश्रय के प्रत्यक्ष में ध्वंस-प्रत्यक्ष की कारणता खण्डित नहीं हो सकती।

तुल्यन्यायेनोक्तोत्तरत्वात् । तन्तुषु नष्टेष्वपि यदि पटो न नश्येत्तद्वदेवोपलभ्येतेति

सि० प० तुल्यन्यायेन ··· ··· ··· ···

'तुल्यन्याय से'[1] अर्थात् जिस प्रकार आनुमानिक आकाशपक्षक और शब्दध्वंस साध्यक अनुमानों में अनैकान्तिकत्वादि दोष होते हैं, उसी प्रकार इन अनुमानों में भी दोष आपन्न होंगे ।

पू० प० ··· ··· ··· ··· तन्तुषु नष्टेष्वपि

तन्तुओं के विनष्ट हो जाने पर अगर पट विनष्ट न हों तो फिर उस समय तन्तुनाश की तरह पट की उपलब्धि भी होनी चाहिए । किन्तु तन्तुओं के विनष्ट हो जाने पर पट की उपलब्धि नहीं होती है । अतः समझते हैं कि तन्तुओं के विनाश से पट भी विनष्ट हो जाता है ।

---

1. आश्रय नाश के अधीन कार्यनाश के दृष्टान्त रूप में तन्तु नाश के अधीन पटनाश को लिया जाय । इस पटनाश के ये ही सब अनुमान सम्भावित हैं । (१) अगर पट को पक्ष करेंगे और प्रतियोगित्व सम्बन्ध से ध्वंस को साध्य करेंगे, तो जिस किसी को भी हेतु बनावेंगे वह अवश्य ही स्वरूपासिद्ध होगा, क्योंकि विनष्ट पट किसी का भी आश्रय नहीं हो सकता । (२) अगर पट में केवल अनित्यत्व की सिद्धि करेंगे तो जिस किसी समय का अनित्यत्व सिद्ध होगा, उससे आश्रयनाश के अधिकरणीभूत नियत काल में ध्वंस प्रतियोगित्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी । जिससे 'आश्रयनाशात् कार्यनाशः' इस प्रतीति की उपपत्ति न हो सकेगी । (३) पटावच्छेदकीभूत आकाश को पक्ष कर उसमें अगर पटवत्तया अनुपलभ्यमानत्व हेतु से पट के ध्वंस का साधन करेंगे तो अन्ततः यह अनुमान व्यभिचरित तो होगा ही । क्योंकि आकाश अतीन्द्रिय है, अतः अनुपलभ्यमानत्व रूप हेतु नहीं रह सकता । (४) 'इदानीम्' काल में अगर पटध्वंस को साध्य करेंगे और पटवत्तया अनुपलभ्यमानत्व को हेतु करेंगे तो व्यभिचार होगा, क्योंकि पट के अधिकरणीभूत काल में पटध्वंसरूप साध्य नहीं है किन्तु हेतु है, क्योंकि काल अतीन्द्रिय है, अतः किसी भी विशेषण से युक्त होकर उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । सुतराम् पट के अधिकरणीभूत काल में भी पटवत्तया अनुपलभ्यमानत्व हेतु रहेगा ही । अगर पट के अवयव को पक्ष बना कर उस में पटध्वंस का साधन करेंगे तो बाध होगा, क्योंकि पट का अवयव तो पट का आधार ही है । ये सभी अनुमान वर्द्धमान के स्वरस से लिखे गये हैं । बोधिनी आमोद प्रभृति टीकाओं में अनुमानों के और प्रकार भी दिखवाये गये हैं । जिन्हें विद्वान लोग अवश्य देखें ।

चेत् ? एतस्य तर्कस्यानुग्राह्यमभिधीयताम् ? यदत्रोपलभ्यते न तत् कार्यपरम्परावत्, योग्यस्य तथाऽनुपलभ्यमानत्वे सति उपलभ्यमानत्वादिति चेन्न। तन्त्ववयवानां पटाऽनाधारत्वे साध्ये सिद्धसाधनात्। पटप्रध्वंसवत्त्वे साध्ये बाधितत्वात्। तस्य स्वप्रतियोगिकारणमात्रदेशत्वात्।

सि० प० ··· ··· ··· ··· एतस्य

(इस प्रसङ्ग में पूर्ववादी से पूछना है कि) कथित बातें तर्क रूप हैं। तर्क तो स्वयं प्रमाण नहीं है। किन्तु अनुमान प्रमाण का सहायक (अनुग्राहक) है। अतः तर्क का प्रयोग अनुमान की सूचना भर दे सकता है। केवल तर्क से कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः प्रकृत तर्क से जिस अभिप्रेत अनुमान की सूचना होती है, उस अनुमान का उल्लेख आवश्यक है।

पू० प० यदत्रोपलभ्यते ··· ··· ··· ···

तन्तुओं के विनष्ट हो जाने के बाद जब पट का विनाश हो जाता है, उस समय यद्यपि तन्तु एवं पट इन दोनों की सत्ता नहीं रहती है। किन्तु तन्तु का अवयव जो 'अंशु' उसकी सत्ता तो उस समय भी बनी रहती है। अतः उसकी उपलब्धि तो हो सकती है। उपलब्ध एवं विद्यमान इन 'अंशुओं' में ही 'कार्यपरम्परा' के (अर्थात् अंशु का कार्य तन्तु एवं तन्तु का कार्य पट—इन कार्यसमूह के) अभाव—ध्वंस को सिद्ध करेंगे। क्योंकि अंशु प्रभृति यद्यपि अंशुत्वादि अपने धर्मों के साथ उपलब्ध हैं, किन्तु तन्तु एवं पट प्रभृति कार्यों के साथ उपलब्ध नहीं है (जैसे कि भूतलत्व रूप से उपलब्ध भूतल में जिस समय भूतलत्व घट के साथ उपलब्ध नहीं रहता है, उस समय भूतल घटाभाव का आश्रय होता है)। (इदानीमशव: तन्तुपटादिस्वकार्यध्वंसवन्तः तन्तुपटादिवत्त्वेनानुपलभ्यमानत्वात्)।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, तन्त्ववयवानाम्

प्रश्न है कि तन्तुओं के विनाश से जो पट का नाश होता है, उसकी उपपत्ति कैसे हो ? उक्त अनुमान के प्रयोग से दो ही प्रकार से उक्त ज्ञान की उपपत्ति अभिप्रेत हो सकती है। (१) तन्तुओं के अवयव अंशुओं में पट की अनाधारता की सिद्धि से। एवं (२) तन्तु के अवयव अंशु में पट के विनाश के साधन से। किन्तु ये दोनों ही प्रकार के अनुमानों में दोष हैं। (१) प्रथम अनुमान में 'सिद्धसाधन' दोष है, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि अंशु तन्तुओं के आधार हैं पट के नहीं। अर्थात् जिस समय अंशुओं में तन्तुओं की सत्ता है, उस समय भी अंशु पट के आधार नहीं है। अतः अंशुओं में पट की अनाधारता पूर्व सिद्ध रहने के कारण साधनीय नहीं है। एवं अंशु पक्षक पटध्वंस साध्यक जो दूसरा अनुमान है, उसका हेतु बाधित है, क्योंकि ध्वंस अपने प्रतियोगी के समवायिकरण में ही रहता है। अंशु तन्तु का समवायिकारण है, पट का नहीं। अतः पटध्वंस रूप साध्य अंशु में कभी रह ही नहीं सकता। सुतराम् पक्षीभूत अंशु में पटध्वंस रुप साध्य के न रहने से यह हेतु बाधित है।

ये पटध्वंसवन्तस्तन्तवस्तदभाववन्त एते अंशव इति साध्यमिति चेन्न। तन्तुनाशोत्तरकालं पटनाशात् तद्वृत्तानुपपत्तेः। योग्यतामात्रसाधने च, पटप्रध्वंसाऽसिद्धेः। तस्य नाशाऽनाशयोः समानत्वात्। अनन्यगतिकतया विशिष्टनिषेधे कृते विशेषणानामप्यभावः प्रतीतो भवति। गुणक्रियावत्पटाधारास्तन्तवो न सन्ति स्वावयवेष्विति हि प्रत्यय इति चेत्; तथापि गुणकर्मणां

पू० प० ··· ··· ··· ··· ये पटध्वंसवन्तः

पट का ध्वंस तन्तु में है, एवं तन्तु का ध्वंस अंशु में है। यहाँ पटध्वंस विशिष्ट जो तन्तु उसके ध्वंस को अंशु में साध्य करेंगे। इस अनुमान में सिद्धसाधन अथवा बाध की संभावना नहीं है।

सि० प० ··· ··· ··· ··· न, तन्तुनाशोत्तरम्

प्रकृत प्रश्न है तन्तुनाश के अधीन जो पट का नाश होता है, उसकी उपलब्धि का। प्रकृत पटनाश की उत्पत्ति तन्तुओं के विनाश के बाद होती है। अतः इस पटविनाश का आश्रय तन्तु हो ही नहीं सकता, क्योंकि इस पटविनाश के बाद उस पट के अवयवीभूत तन्तु की सत्ता ही नहीं है। अतः इस अनुमान में 'साध्याप्रसिद्धि' दोष है। अगर पटध्वंसवन्तः इस पद का अर्थ 'पटध्वंसयोग्याः' ऐसा करें और तदनुसार अंशु में पटध्वंस के योग्य जो तन्तु, उसके अभाव का साधन करें तो 'साध्याप्रसिद्धि' दोष यद्यपि नहीं लगेगा, क्योंकि उस समय तन्तु में पटध्वंस के न रहने पर भी पटध्वंस के रहने की योग्यता तो है ही। किन्तु यह योग्यता तो जिस समय पट और तन्तु दोनों विद्यमान है, उस समय भी है। अतः इस से तन्तुनाश के अधीन पटनाश को प्रतीति की जो अनुपपत्ति दिखलायी गयी है, वह नहीं मिटेगी।

पू० प० अनन्यगतिकतया ··· ··· ··· ··· ··· प्रत्यय इति चेत्

गुण और क्रिया से युक्त त का अभाव अंशु में साधित होने पर तन्तु में विशेषणीभूत गुण और क्रिया का अभाव भी अंशु में सिद्ध हो जाता है। इस से यह नियम निष्पन्न होता है कि जिस अधिकरण में जिस विशेषण से युक्त (विशिष्ट) का अभाव साधित होता है, उस अधिकरण में उस विशेषण का भी अभाव साधित हो जाता है। इस नियम के अनुसार जैसे कि अंशु में तन्तु के विशेषणीभूत गुण और क्रिया का अभाव साधित होता है, वैसे ही चूँकि पट भी तन्तु का विशेषण है, अतः पट का अभाव भी अंशु में सिद्ध हो जायगा।

सि० प० ··· ··· ··· ··· तथापि गुणकर्मणाम्

यद्यपि इस में कोई विवाद नहीं हैं कि 'गुणक्रियावन्तः पटाधारास्तन्तवो न सन्ति स्वावयवेषु' (अर्थात् गुण और क्रिया से युक्त एवं पट के आधार तन्तु अपने अवयव भूत अंशुओं में नहीं हैं) इस प्रतीति में जैसे कि गुण का ध्वंस और क्रिया का ध्वंस ये दोनों भासित होते हैं, वैसे ही पट का ध्वंस भी भासित होता है। किन्तु पूछना यह है कि उक्त

पटस्य च प्रध्वंसः किमधिकरणः प्रतीयत इति वक्तव्यम् । अंशवधिकरण एवेति चेत् ? भ्रान्तिस्तर्हीयम्, तस्याऽतद्देशत्वात् । आश्रयावच्छेदकतया तेषामप्यदूरविप्रकर्षेण तद्देशत्वम् । एवम्भूतेनापि देशेन तन्निरूपणम्, योग्यताया अव्यभिचारादिति चेत् ? न तर्हि प्रतियोगिसमवायिदेशेनैव प्रध्वंसनिरूपणमिति नियमः, प्रकारान्तरेणापि निरूपणात् । तस्मात् यस्य यावतीग्रहणसामग्री तं विहाय तस्यां सत्यां तदभावो यत्र कचिन्निरूप्यो देशे काले वा ।

प्रतीति में गुणादिध्वंस या पटध्वंस का भान किस अधिकरण में होता है ? अगर 'अंशु' का ही उक्त ध्वंसविषयक प्रतीति में अधिकरण विधया भान मानें तो उस प्रतीति को भ्रान्ति रूप मानना होगा, क्योंकि प्रतियोगी का समवायिकारण ही ध्वंस का वास्तविक आश्रय होता है । अतः गुणादि के आधार ही उनके ध्वंस के भी वास्तविक आश्रय होंगे । एवं पटध्वंस का वास्तविक आश्रय तन्तु ही होगा । अंशु तन्तु के ध्वंस का या अपने रूपादि के ध्वंस का ही आश्रय होगा, पटादिध्वंसों का नहीं । इस प्रकार अंशु में पटध्वंस की प्रतीति चूँकि तदभाववति तत्प्रकारक है, अतः वह भ्रान्ति रूप होगी । किन्तु भ्रम प्रतीति से पूर्वपक्षवादी का काम चलने का नहीं ।

पू० प० आश्रयावच्छेदकतया··· ···अव्यभिचारादितिचेत् ··· ··· ··· ···

अंशु तन्तु का आश्रय है, तन्तु पट का आश्रय है, अतः तन्तु में जो पट की आश्रयता है, उसका अवच्छेदक है अंशु । इस प्रकार अंशु तन्तु का समीपवर्ती है । अतः तन्तु यदि पटादि के ध्वंस एवं स्वगत रूपादि के ध्वंस का आश्रय है तो उसके समीपी अंशु भी उन ध्वंसों का आश्रय अवश्य है । अतः अंशु में जो पटादि ध्वंसों की प्रतीति होगी, वह भ्रान्ति रूप नहीं होगी ।[1]

सि० प० न, तर्हि ··· ···

अंशु के द्वारा पटध्वंस का निरूपण मानने से यह नियम टूट जाता है कि 'ध्वंस अपने प्रतियोगी के समवायी देश से ही निरूपित होता है' पटध्वंस का प्रतियोगी जो पट, उसका समवायी देश तन्तु है, अंशु नहीं । किन्तु अंशु रूप देश के द्वारा पटध्वंस का निरूपण आप स्वीकार कर चुके हैं । 'तस्मात्' इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जिस वस्तु के प्रत्यक्ष में (विषय विधया कारणीभूत) उस वस्तु को छोड़ कर जिन सभी कारणों की अपेक्षा होती है, उन कारणों का समूह जिस देश में या जिस समय एकत्र हो जायगा, उसी देश में उसी समय उस वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होगा ।[1]

१. घटमें रहने वाले नील रूप के प्रत्यक्ष में घट का प्रत्यक्ष और नील रूप की सत्ता ये दोनों ही कारण हैं । सुतराम् नीलध्वंस के प्रत्यक्ष में घट का प्रत्यक्ष कारण है । चूँकि नील रूप की सत्ता नीलध्वंस के प्रत्यक्ष से पूर्व रह नहीं सकती, अतः इतना संकोच करना पड़ा कि प्रतियोगि के प्रत्यक्ष में जितने भी कारण अपेक्षित होते हैं, उन में से

इयांस्तु विशेषः। सा सती चेत्, प्रत्यक्षेण। असत्येव ज्ञाता चेत्, अनुमानादिनेति स्थितिः। एतेन 'सद्भ्यामभावो निरूप्यते' इत्यादिशास्त्रविरोधः परिहृतो वेदितव्यः। उभयनिरूपणीयप्रतियोगिविषयत्वात्, अनुमानविषयत्वाच्च। अन्यथा,

इयांस्तु ··· ··· ··· ··· ···

अन्तर इतना ही है कि ('सा' अर्थात्) योग्यानुपलब्धि विद्यमान रहकर (सती) जिस अभावोपलब्धि में सहायक होती है, वह अभावोपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण (इन्द्रिय) से उत्पन्न होती है। एवं जिस अभावोपलब्धि से पहिले योग्यानुपलब्धि स्वयं न रह कर अपने परोक्ष ज्ञानों के द्वारा ही साहाय्य करती, वह अभावोपलब्धि अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों में से किसी से उत्पन्न होती है।

एतेन ··· ··· ··· ···

(१) अभाव को अधिकरण निरूप्य न मानने पर 'सद्भ्यामभावो निरूप्यते' इस शास्त्रवचन का विरोध इस लिये नहीं होता है कि 'सद्भ्याम्' पद में प्रयुक्त द्विवचन का अन्वय प्रतियोगी और अधिकरण रूप दो 'सद्' पदार्थों में नहीं है, किन्तु दोनों अधिकरण रूप सत्पदार्थ में ही उक्त द्वित्व का अन्वय है। फलतः संयोगादि जिन प्रतियोगियों का निरूपण संयोगादि के आश्रयी भूत (प्रतियोगी और अनुयोगी इन) दोनों सम्बन्धियों के अधीन हो, तत्प्रतियोगिक संयोगाभावादि का निरूपण दो सम्बन्धी रूप दो सत्पदार्थों से होता है। यही उक्त शास्त्रवचन

प्रतियोगी को छोड़कर प्रतियोगिप्रत्यक्ष के और सभी कारण उस प्रतियोगी के ध्वंस के प्रत्यक्ष के भी कारण हैं। अत एव प्रकृत संदर्भ में 'तन्निवृत्तये' यह वाक्य लिखा गया है। प्रकृत में कहना है कि शब्द के प्रत्यक्ष में आकाश का प्रत्यक्ष कारण नहीं है, सुतराम् शब्द प्रतियोगिक ध्वंस के प्रत्यक्ष में भी आकाश के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं है। अतः आकाश के प्रत्यक्ष के न होने से शब्द के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है। अगर अभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण के प्रत्यक्ष की आवश्यकता न हो, तो फिर सभी अभावों का—अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति में रहने वाले अभावों का भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा, किन्तु सो अनुभव के विरुद्ध है। अतः किस अभाव का प्रत्यक्ष हो एवं किस अभाव का प्रत्यक्ष न हो इसका नियमन आवश्यक है। इसी की पूर्ति, 'इयांस्तु विशेषः' यहाँ से लेकर 'इति स्थितिः' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से की गयी है।

प्रथम प्रकार से भूतल में रहने वाले घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। दूसरे प्रकार से तन्तु में तन्तुनाशाधीन पटनाश का ग्रहण होता है। किन्तु अभाव को अगर अधिकरण निरूप्य न मानें तो फिर सद्भ्यामभावो निरूप्यते' इस शास्त्रवचन का विरोध होगा। क्योंकि इस वचन का यही अर्थ है कि अभाव अपने प्रतियोगी और आश्रय इन्हीं दोनों के द्वारा निरूपित होता है। अगर अभाव के निरूपण में अधिकरण के निरूपण की अपेक्षा न हो तो उक्त शास्त्र वचन का विरोध अनिवार्य है। इसी आक्षेप का 'एतेन' इत्यादि से अनुवाद और 'उभयनिरूपणीयत्वात्' इत्यादि से समाधान हुआ है।

वत्तद्विनाशः" (न्या० सु० ४-१-२७) इति नोदाहरेत्, असिद्धत्वात् । न हि वह्निविनाशः तदवयवपरम्परास्वनिरूप्यः, तासामनिरूपणात् । नाप्यन्यत्र गमनाभावादिना

कथित वह्नि के अन्तिमविनाश की सिद्धि अर्थात् ज्ञान, उसके अवयवों के ज्ञान से संभव नहीं है। अर्थात् किसी वस्तु के विनाश का निरूपण प्रतियोगी के समवायी रूप अधिकरण के निरूपण के विना न हो सके तो फिर हो ही नहीं सकता।

पू० प० ... ... नाप्यन्यत्र गमनाभावादिना ... ...

कथित वह्नि के विनाश का प्रत्यक्ष रूप निरूपण भले ही संभव न हो किन्तु परिशेषानुमान रूप निरूपण तो हो सकता है। क्योंकि जहाँ पहिले वह्नि को देखते थे, वहीं

की जाती है, वह 'अनित्यत्व' स्वयं नित्य है? अथवा अनित्य है? अगर उक्त 'अनित्यत्व' को नित्य मानेंगे तो 'सर्वमनित्यम्' यह प्रतिज्ञा ही व्याहत होगी, क्योंकि सर्वान्तर्गत यह 'अनित्यत्व' ही अनित्य नहीं है। अगर उक्त 'अनित्यत्व' को भी अनित्य ही कहेंगे तो भी सभी पदार्थों की अनित्यता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि सभी पदार्थों में रहनेवाले अनित्यत्व धर्म के कारण ही तो सभी पदार्थों को अनित्य कहते हैं, वह 'अनित्यत्व' ही जब अनित्य है अर्थात् बिना उसके कोई भी पदार्थ अनित्य हो सकता तो फिर वह अनित्यत्व जब अपनी अनित्यता के कारण विनष्ट हो जायगा तो और सभी पदार्थ किस धर्म के बल से अनित्य होंगे? इसी आक्षेप के समाधान के लिये 'वह्नेर्दाह्यम्' इत्यादि सूत्र लिखा गया है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि यद्यपि अनित्यत्व भी अनित्य ही है, किन्तु उसका विनाश सभी पदार्थों के विनाश के बाद होता है। अनित्यत्व को छोड़कर और सभी पदार्थों का विनाश अनित्यत्व से ही होता है। अनित्यत्व और सभी पदार्थों को विनष्ट करने के बाद स्वयं विनष्ट होता है। अनित्यत्व के विनाश के बाद कोई पदार्थ बच नहीं जाता जिसमें अनित्यत्व के विनष्ट हो जाने से नित्यत्व की आपत्ति हो। इस प्रसङ्ग में दृष्टान्त है 'वह्नि'। अर्थात् जिस प्रकार वह्नि अपने दाह्य काष्ठादि को विनष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार अनित्यत्व भी सभी वस्तुओं को विनष्ट कर पीछे स्वयं विनष्ट हो जाता है।

प्रकृत में कहना है कि अगर वस्तु का विनाश प्रतियोगी के समवायी देश के द्वारा ही निरूपित हो तो फिर वह्नि का विनाश भी वह्नि की अवयव परम्परा के द्वारा ही निरूपित होगा। अगर यह संभव हो तो सूत्रकार का वह्नि रूप दृष्टान्त असङ्गत हो जायगा। चूँकि सूत्रकार ने वह्नि का दृष्टान्त दिया है, अतः समझते हैं कि 'वह्नि का विनाश उसके अवयव परम्परा के द्वारा ही निरूपित हो, यह सिद्धान्त सूत्रकार को इष्ट नहीं है। फलतः कोई भी विनाश अपने प्रतियोगी के अवयव परम्परा के द्वारा निरूपणीय नहीं है। यही सूत्रकार का भी आशय है।

पारिशेष्यादनुमेयः, हेतोरेव निरूपयितुमशक्यत्वात्। आश्रयानुपलब्धेः। नापि निमित्तविनाशात्सर्वमिदमेकवारेण सेत्स्यतीति युक्तम्।

अब उसे नहीं देखते हैं। अतः यहाँ यह परिशेषानुमान हो सकता है कि उस वह्नि का विनाश हो गया है[1]। अतः सूत्रकार ने अनुमान के द्वारा सिद्ध उदाहरण का ही उल्लेख उक्त सूत्र में किया है। इस से अभाव के निरूपण में अधिकरण के निरूपण की आवश्यकता का निराकरण नहीं होता।

सि० प० हेतोरेव ··· ··· ··· ··· आश्रयानुपलब्धेः

उक्त अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि इस अनुमान का हेतु जो 'अनुपलभ्यमानत्व' है, वह अभावघटित है, एवं उसका विशेषण 'अन्यत्र गमनाभावे सति' भी एक अभाव ही है। पहिले अभाव का अर्थ है विषय में रहनेवाला उपलब्धि विषयता का अभाव (अर्थात् विषय गत विषयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताउपलब्धि का अभाव) एवं दूसरे अभाव का अर्थ है अन्यत्र देश में रहनेवाले गमन का अभाव। इनमें से पहिले अभाव का अधिकरण वह्नि और दूसरे अभाव का अधिकरण 'अन्यत्रदेश' दोनों अभाव के इन दोनों अधिकरणों का प्रत्यक्ष सम्भव हो नहीं है। क्योंकि वह्नि रूप अधिकरण का यदि प्रत्यक्ष ही हो जायगा तो फिर उसमें उक्त अनुपलभ्यमानत्व हेतु कैसे रहेगा? एवं 'अन्यत्रदेश' रूप अधिकरण विप्रकृष्ट होने के कारण इस देश में रहनेवालें पुरुषों के प्रत्यक्ष का विषय ही कैसे होगा? सुतराम् पक्ष में चूंकि हेतु का रहना सम्भव नहीं है, अतः यह अनुमान नहीं हो सकता।

पू० प० निमित्तविनाशात् सर्वमिदम् ··· ··· ··· ···

(उक्त अनुमान भले ही सम्भव न हो किन्तु) वह्नि का निमित्तकारण है इन्धन। उसका विनाश तो प्रत्यक्षसिद्ध है। प्रकृत में उसका विनाश वह्नि से ही हुआ है। अतः यह भी नहीं कह सकते कि वह्नि अन्यत्र चला गया है। सुतराम् इन्धन के विनाश से वह्नि के अन्यत्रगमन के अभाव का अनुमान और इस अन्यत्रगमनाभाव के द्वारा वह्नि के विनाश का अनुमान होगा। (यही दोनों अनुमिति रूप सिद्धियाँ उक्त 'सर्वमिदम्' शब्द से अभिप्रेत हैं अर्थात् वह्नितदवयवपरम्परा नष्टा नष्टनिमित्तत्वात् इस अनुमान से प्रकृत में काम चलावेंगे।)

---

१. श्री शंकर मिश्र ने आमोद टीका में कथित परिशेषानुमान का यह आकार लिखा है—'दाहाद्युत्पादानन्तरं वह्निरिह नष्टः अन्यत्र गमनाभावे सति योग्यतायामिहानुपलम्भात्'।

तस्यानैकान्तिकत्वात्। तेजसा विशेषितत्वादयमदोष इति चेन्न, व्याप्त्यसिद्धेः। न हि इन्धनविनाशात्तेजोद्रव्यमवश्यं विनश्यतीति कचित्सिद्धम्, प्रत्यक्षवृत्तेरनभ्युपगमात्। तस्माद् यत्त्यागेनान्यत्र गमनं न संभाव्यते, तेन निमित्तादिनापि देशेन प्रध्वंसो निरूप्यत इत्यकामेनापि स्वीकरणीयम्, गत्यन्तराभावात्। अत एव तमसः प्रत्यक्षत्वेऽप्यभावत्वमामनन्त्याचार्याः।

सि० प० तस्यानैकान्तिकत्वात् ··· ··· ··· ··· ···

निमित्तकारण के विनष्ट होने पर भी कार्य की सत्ता बनी रहती है। दण्डचक्रादि के मिट जाने पर भी घटादि कार्यों की सत्ता बनी रहती है। सुतराम् 'नष्टनिमित्तत्व' हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि घट एवं उसकी अवयवपरम्परा का विनाश न होने पर भी घट में नष्टनिमित्तत्व हेतु है। अतः यह अनुमान नहीं हो सकता।

पू० प० तेजसा ··· ··· ··· ···

इस व्यभिचार का वारण तो उक्त नियम को तेजोमात्र में नियन्त्रित कर देने से ही हो जायगा। अर्थात् घटादि पार्थिव वस्तुओं का विनाश निमित्तकारण के विनाश से भले ही न हो, किन्तु तैजस द्रव्यों का विनाश तो निमित्तकारण के विनाश से होता है। फलतः कथित अनुमान का हेतु है 'नष्टतेजोनिमित्तत्व'। यह हेतु घट में नहीं रहेगा। अतः व्यभिचार दोष का वारण हो जायगा।

सि० प० न व्याप्त्यसिद्धेः ··· ··· ··· ··· ···

'निमित्तकारण के विनाश से ही तेजस् का विनाश हो' यह व्याप्ति निर्णीत नहीं है, क्योंकि अतीन्द्रिय आधार में रहनेवाले अभाव में आप (पूर्वपक्षी) 'प्रत्यक्षवृत्ति' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। तस्मात् 'वह्नेर्दाहम्' इत्यादिसूत्र के बल से सूत्रकार का यह तात्पर्य समझा जा सकता है कि इन्धनादि जिन निमित्तकारणों के बिना वह्नि प्रभृति कार्यों का दूसरी जगह जाना सम्भव नहीं है, उन वह्निप्रभृति कार्यों के ध्वंस का निरूपण निमित्तिकारण रूप देशों के द्वारा भी हो सकता है। क्योंकि यह माने बिना दूसरी गति नहीं है। (अतः शब्द के समवायिकारण आकाश के अतीन्द्रिय होने पर भी शब्दध्वंस के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है)। यही कारण है कि अन्धकार को तेज का अभाव मानते हुए भी आचार्यों ने अन्धकार को प्रत्यक्ष का विषय माना है। (अगर ऐसी बात न हो तो फिर अन्धकार का प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं होगा, क्योंकि उसके प्रतियोगी तेजस् की अवयव-परम्परा की विश्रान्ति परमाणुओं में होने से उनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है)।

एतेन शब्दप्रागभावो व्याख्यातः। एवं स्थिते अनुमानमप्युच्यते—

एतेन··· ··· ······

इससे शब्द के प्रागभाव के प्रत्यक्ष का भी समर्थन जानना चाहिये।[1]

एवं स्थिते ··· ··· ··· ···घटवत्

इस प्रकार (प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा शब्द की अनित्यता की सिद्धि हो जाने पर भी प्रौढिवश या विशेष प्रकार के ज्ञान के लिये) शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के लिये अनुमान भी कहता हूँ।[2]

---

१. अर्थात् जिस प्रकार ध्वंस का निरूपण केवल उसके प्रतियोगी के समवायिकारण के निरूपण के अधीन नहीं है, उसी प्रकार प्रागभाव के निरूपण में भी उसके प्रतियोगी के उपादान कारण का निरूपण नियमतः आवश्यक नहीं है। अतः शब्दध्वंस की तरह शब्दप्रागभाव का प्रत्यक्ष आकाश के प्रत्यक्ष के विना भी हो सकता है।

शब्द के ध्वंस और उस के प्रागभाव इन दोनों के प्रत्यक्षके सिद्ध हो जाने पर शब्द की अनित्यता सुतराम् प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है, क्योंकि वही नित्य कहलाता है जिसका प्रागभाव और ध्वंस ये दोनों ही अभाव संभावित हों। अगर शब्द के ध्वंस और प्रागभाव इन दोनों का प्रत्यक्ष संभव न हो तो फिर इन दोनों अभावों से घटित अनित्यत्व का भी प्रत्यक्ष संभव नहीं होगा। किन्तु जब वह होता है तो फिर शब्द के अनित्यत्व को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गृहीत होने में कोई बाधा नहीं है। अतः शब्द की अनित्यता प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। इसी अभिप्राय से 'तस्माद् यत्यागेन' इस सन्दर्भ से लेकर 'व्याख्यातः' इतने पर्यन्त का सन्दर्भ लिखा गया है।

गुणों का नाश दो ही प्रकार से संभव है—(१) आश्रय के नाश से एवं (२) सजातीय दूसरे गुण की उत्पत्ति से। पहिले प्रकार से घटादि के परिमाण प्रभृति गुणों का नाश होता है। दूसरी रीति से घट में ही पाक के द्वारा रक्त रूप की उत्पत्ति से उसके पहिले के नील रूप का विनाश होता है। शब्द स्वरूप गुण का नाश आश्रय के नाश से संभव नहीं है, क्योंकि उसका आश्रय आकाश नित्य है। अतः शब्दनाश के लिये दूसरी रीति ही माननी होगी। अर्थात् आगे के शब्द से ही पहिले शब्द का विनाश मानना होगा। किन्तु प्रत्यभिज्ञा के द्वारा नाश करने वाले उत्तरवर्त्ती शब्द के बाद भी जब विनष्ट होनेवाले शब्द की सत्ता सिद्ध होती है, तो मानना ही होगा कि शब्द नित्य है।

२. यहाँ पूर्व ग्रन्थ का थोड़ा सा सिंहावलोकन आवश्यक है। मीमांसकों के साथ नैयायिकों का विवाद है कि शब्द नित्य है ? अथवा अनित्य ? इस प्रसङ्ग में नैयायिक अपने पक्ष का उपपादन 'नहि वर्णा एव सावभिन्नाः' यहाँ से लेकर

शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वाद् घटवत्। न चेदं प्रत्यभिज्ञानबाधितम्, तस्य ज्वालादिप्रत्यभिज्ञानेनाविशेषात्। नैवमबाधितस्य तस्य स्वतः प्रमाणत्वादिति

(१) शब्द चूँकि उत्पत्तिशील है, अतः वह अनित्य है। घटादि जितने भी उत्पत्तिशील (भाव) पदार्थ हैं, वे सभी अनित्य हैं, अतः उत्पत्तिशील होने के नाते शब्द भी अनित्य है।

पू० प० न चेदम् ··· ··· ··· ···

सोऽयं गकारः (यह वही ग वर्ण है) इस आकार की प्रत्यभिज्ञा रूप प्रतीति से पहिले सुने गये 'ग' वर्ण और अभी सुने गये 'ग' वर्ण में अभिन्नता सिद्ध है। उक्त प्रत्यभिज्ञा के द्वारा दोनों 'ग' वर्णों में जिस अभेद की सिद्धि होती है, उसकी परिणति शब्द के नित्यत्व में ही होगी। अतः शब्द में अनित्यत्व का साधक 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु बाध दोष से ग्रसित होने के कारण हेत्वाभास है।

सि० प० ··· ··· ··· ···तस्य ज्वालादि

उक्त प्रत्यभिज्ञा तो 'सेयं दीपज्वाला' इस आकार की दीप शिखा की प्रत्यभिज्ञा की तरह है। (अर्थात् अत्यन्त सादृश्य के कारण विभिन्न दो वस्तुओं में भी उक्त प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, जैसे कि दीपशिखा की उक्त प्रत्यभिज्ञा। दीपशिखा के प्रसङ्ग में यह कोई नहीं कहता कि पहिली वाली दीपशिखा ही अभी दीख पड़ती है, क्योंकि दीपशिखा का विनाश प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा से पूर्वकाल के और परवर्तीकाल के दोनों गकारों में ऐक्य की सिद्धि संभव नहीं है। अतः इस से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

पू० प० नैवमबाधितस्य ··· ··· ··· ···

(शब्द की प्रत्यभिज्ञा और ज्वाला की प्रत्यभिज्ञा इन दोनों में अन्तर है।) ज्वाला की प्रत्यभिज्ञा बाधित है, अतः 'पहिले की ज्वाला और अभी की ज्वाला दोनों एक हैं' यह

'निराकरिष्यमाणत्वात्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से पहिले आरम्भ कर कहा कि शब्द की अनित्यता तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। किन्तु कुछ नैयायिकों का ही कहना है 'शब्द अनित्य तो है, किन्तु उसकी अनित्यता प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जानी जा सकती। क्योंकि शब्द के अनित्यत्व के स्वरूप के अन्तर्गत जो शब्दध्वंस है, उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता' इस गूढ़ विवाद से बचने के लिये आचार्य ने शब्दध्वंस के प्रत्यक्षत्व का बड़े ऊहापोह से उपपादन किया है। अनेक आवान्तर विचारों से युक्त यह विचार 'एतेन शब्दप्रागभावो व्याख्यातः' इतने पर्यन्त के दीर्घ सन्दर्भ तक आया है। अब पुनः शब्द के अनित्यत्व के प्रकृत प्रसङ्ग पर आचार्य आ गये हैं।

चेत् ? तुल्यम् । ज्वालायां तन्नास्ति, विरुद्धधर्माध्यासेन बाधितत्वात् । अन्यथा भेदव्यवहारविलोपप्रसङ्गो निमित्ताभावात् । आकस्मिकत्वे वा अतिप्रसङ्ग इति चेत्, तुल्यं शब्देऽपि ।

सिद्ध नहीं किया जा सकता । 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा में कोई बाध नहीं है, अतः उससे पहिले के 'ग' कार और अभी के 'ग' कार दोनों को एक मानने में कोई बाधा नहीं है ।

सि० प० तुल्यम् ··· ··· ··· ···

अर्थात् 'सोऽयं गकारः' और 'सेयं दीपज्वाला' ये दोनों प्रत्यभिज्ञायें समान रूप की हैं । अगर बिना किसी हेतु के एक प्रत्यभिज्ञा को बाधित कहेंगे तो फिर दूसरी प्रत्यभिज्ञा को भी बाधित मानना ही होगा । अतः ज्वाला की प्रत्यभिज्ञा को अगर बाधित मानते हैं, तो फिर उसी के समान 'ग' कार की प्रत्यभिज्ञा को भी बाधित मानना ही होगा ।

पू० प० ज्वालायाम् ··· ··· ··· ···

ज्वाला की प्रत्यभिज्ञा अबाधित नहीं है, क्योंकि एक ज्वाला तीव्र है तो दूसरी मन्द । विभिन्न दो प्रकार के परिमाणों का आश्रय कोई एक द्रव्य नहीं हो सकता । उसके आश्रयीभूत द्रव्य विभिन्न ही होंगे । अतः उक्त दोनों ज्वालाओं का अभेद बाधित है । अतः जिनका अभेद बाधित है, उन दोनों ज्वालाओं को अभिन्न समझाने वाली प्रत्याभिज्ञा भी बाधित अवश्य होगी । 'अन्यथा' विरुद्ध दो धर्मों के आश्रय में अगर भेद को स्वीकार न करें तो फिर भेद का व्यवहार ही लुप्त हो जायगा । अथवा भेद के व्यवहार की उत्पत्ति (नियत कारण जन्य न मान कर) 'आकस्मिक' अर्थात् अनियत कारण से मानें तथापि 'अतिप्रसङ्ग' होगा अर्थात् एक ही व्यक्ति में उसी व्यक्ति के भेद की प्रतीति होने लगेगी । (अतः ज्वाला की प्रत्यभिज्ञा और 'ग' कार की प्रत्यभिज्ञा इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है) ।

सि० प० तुल्यम् ··· ··· ··· ··· शब्देऽपि

(ज्वाला के प्रसङ्ग में मीमांसक जो भी कहते हैं, मुझे सभी स्वीकार है, किन्तु मेरा इतना ही कहना है कि) 'तुल्य' रूप से गकारादि शब्दों में भी विरुद्ध धर्मों का अध्यास है ही; क्योंकि गकारादि शब्दो में भी 'तीव्रः गकारः, मन्दः गकारः' इत्यादि आकार की प्रतीतियाँ होती हैं । अतः तीव्रत्व और मन्दत्व इन दोनों धर्मों के आश्रयीभूत दो 'ग' कारों को स्वीकार करना अनिवार्य है । सुतराम् 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं से गकारादि में जिस अभेद का बोध होता है, वह बाधित है । अतः जिस युक्ति से ज्वाला की प्रत्यभिज्ञा को भ्रम रूप मानना पड़ता है, उसी युक्ति से 'ग' कारादि की प्रत्यभिज्ञाओं को भी भ्रम रूप मानना होगा ।

तीव्रतीव्रतरत्वमन्दमन्दतरत्वादेर्भावात्। तदिह न स्वाभाविकमिति चेन्न; स्वाभाविकत्वावधारणन्यायस्य तत्र तत्र सिद्धस्याऽत्रापि तुल्यत्वात्। न ह्यपां शैत्यद्रवत्वे स्वाभाविके, तेजसो वा औष्ण्यभास्वरत्व इत्यत्रान्यत्प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षाद्विना। तत्तथैव युज्यते अन्यस्योपाधेरनुपलम्भान्नियमेन तद्वत्त्वेन चोपलम्भादिति चेत्तुल्यमेतत्।

पू० प० तदिह ... ...

तीव्रत्व और मन्दत्व ये दोनों शब्द के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। अतः शब्द में तीव्रत्व और मन्दत्व वस्तुतः नहीं हैं। अतः 'तीव्रः गकारः' 'मन्दः गकारः' इत्यादि प्रतीतियाँ ही भ्रम रूप हैं। फलतः शब्द में न तीव्रत्व है, न मन्दत्व।

सि० प० स्वाभाविकत्वावधारणस्य ... ...

किसी भी धर्मी के किसी भी धर्म को स्वाभाविक होने के लिये जो युक्ति दी जाती है, वह तीव्रत्व मन्दत्वादि धर्मों को गकारादि शब्दों के स्वाभाविक होने में भी है। यह सभी मानते हैं कि जल में प्रतीत होनेवाले शैत्य और द्रवत्व एवं तेज में ज्ञात होनेवाले उष्णस्पर्श और भास्वर शुक्ल रूप ये उनके स्वाभाविक धर्म हैं। किन्तु जलादि धर्मियों में शैत्यादि के स्पर्श को छोड़ कर उन धर्मों को उन धर्मियों के स्वाभाविक धर्म मानने में भी कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। प्रकृत गकारादि शब्दों में भी तीव्रत्व और मन्दत्व का प्रत्यक्ष समान रूप से होता है। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से यह निश्चय किया जाता है कि शैत्यद्रवत्वादि जल के स्वाभाविक धर्म हैं, या उष्णस्पर्श एवं भास्वर रूपादि तेज के स्वाभाविक धर्म हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष से ही यह सिद्ध होता है कि तीव्रत्वमन्दत्वादि शब्द के स्वाभाविक धर्म ही हैं।

पू० प० अन्यस्योपाधेः ... ...

जलादि में प्रतीत होनेवाले शैत्यादि धर्मों में एवं गकारादि शब्दों में प्रतीत होनेवाले तीव्रत्व-मन्दत्वादि धर्मों में अन्तर है। जिस धर्मी में जिस धर्म की नियमित रूप से उपलब्धि हो एवं दूसरे धर्मी में उस धर्म को उपलब्धि न हो, वही धर्म उस धर्मी का स्वाभाविक धर्म है। इस प्रकार शैत्यादि जलादि के स्वाभाविक धर्म है, और तीव्रत्वादि शब्दों के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। अतः केवल प्रत्यक्ष से किसी धर्म को किसी धर्मी का स्वाभाविक धर्म नहीं माना जा सकता।

सि० प० तुल्यमेतत् ... ...

जिनको आपने धर्म के स्वाभाविकत्व का नियामक माना है वे नियामक भी (अर्थात् धर्मी में उपलब्धि और अन्यत्रानुपलब्धि) भी गकारादि शब्दों में प्रतीत होनेवाले

तथाऽप्यतीन्द्रियान्यधर्मत्वशङ्का स्यादिति चेत्; एतदपि तादृगेव। तत्कि यद्वत्त्वेन यदुपलभ्यते, तस्यैव स धर्मः? नन्वेवं पीतः शङ्खो रक्तः स्फटिको नीलः पट इत्यपि तथा स्यादविशेषात्। न, पीतत्वादीनाम् अन्यधर्मत्वस्थितौ शङ्खादीनाञ्च तद्विरुद्धधर्मत्वे स्थिते जपाकुसुमाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानाच्च

तीव्रत्वादि धर्मों में हैं ही, क्योंकि जिस प्रकार के तीव्रत्वादि की प्रतीति गकारादि शब्दों में होती है, उसी प्रकार की उपलब्धि अन्यत्र नहीं होती है। अतः तीव्रत्व मन्दत्वादि गकारादि शब्दों के स्वाभाविक धर्म ही हैं।

पू० प० तथाप्यतीन्द्रिय ··· ··· ··· ···

(चार्वाक मत के अनुसार यह कहा जा सकता है कि) गकारादि शब्दों में जिन तीव्रत्व मन्दत्वादि धर्मों की उपलब्धि होती है, वे प्रत्यक्ष दीखनेवाले जलादि द्रव्यों के धर्म भले ही न हों क्योंकि जलादि में उनकी उपलब्धि नहीं होती है। फिर भी यह शङ्का बनी ही रह जाती है कि ये तीव्रत्वादि किसी अतीन्द्रिय वस्तु के धर्म न हों? इतने सन्देह भर से ही तीव्रत्वादि धर्मों को गकारादि शब्दों का स्वाभाविक धर्म होने की संभावना हट जाती है।

सि० प० एतदपि ··· ··· ··· ··· ···

जिस धर्मी को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उपलब्ध होने वाले धर्म को भी अगर किसी अन्य अतीन्द्रिय वस्तु के धर्म होने की सम्भावना से उस धर्मी के स्वाभाविक धर्म होने में बाधा उपस्थित होती हो तो फिर शैत्य प्रभृति को भी जलादि का स्वाभाविक धर्म मानना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि शैत्यादि के प्रसङ्ग में भी यह सम्भावना बनी है कि कदाचित् यह प्रत्यक्ष दीखनेवाले जल का स्वाभाविक धर्म न होकर किसी अतीन्द्रिय वस्तु का ही स्वाभाविक धर्म न हो?

पू० प० तत्किम् ··· ··· ··· ··· अविशेषात्

(मीमांसकों से यह पूछना है कि) जिस धर्म की उपलब्धि जहाँ हो उस को उस धर्मी का धर्म माना जाय? अगर ऐसा मानेंगे तो पीतिमा को शंख का धर्म मानना होगा, क्योंकि 'शङ्खः पीतः' (शङ्ख पीला है) इस आकार की प्रतीति होती है। एवं जवाकुसुम के समीप में रहनेवाले स्फटिक में 'रक्तः स्फटिकः' (स्फटिक लाल है) इस आकार की प्रतीति होती है, अतः रक्तिमा को भी स्फटिक का स्वाभाविक धर्म मानना होगा। किन्तु यह सम्भव नहीं है। (प्रकृत में कहना है कि) 'मन्दः गकारः' या 'तीव्रः गकारः' इत्यादि प्रतीतियाँ यदि होती भी हैं, तथापि केवल इन से ही तीव्रत्वादि धर्मों को गकारादि शब्दों का स्वाभाविक धर्म नहीं माना जा सकता।

सि० प० न, पीतत्वादीनाम् ··· ··· ··· ··· अनुविधत्ते

यह स्थिर है कि पीतिमा हल्दी प्रभृति द्रव्यों का धर्म है। यह भी निर्णीत है कि शङ्ख का वर्ण पाण्डुर है, पीत नहीं। ऐसी स्थिति में 'शङ्ख पीतवर्ण का है' यह प्रतीति अगर

बाधेन भ्रान्तत्वावधारणात्। न चेह तारतारतरत्वादेरन्यधर्मत्वस्थितिः। नापि शुकसारिकादिगकाराणां तद्विरुद्धधर्मत्वं, नाप्यन्यस्य तद्धर्मिणोऽन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते। तथापि शङ्का स्यादिति चेदेवमियं सर्वत्र। तथा च न कचित् किञ्चित्

होती भी है, तथापि उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'शङ्ख का वर्ण पीत है', या पीतिमा शङ्ख का स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि 'शङ्खः पीतः' यह प्रतीति बाधित होने के कारण भ्रान्ति रूप है। भ्रान्ति से किसी भी वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'रक्तः स्फटिक.' यह प्रतीति भी भ्रम रूप ही है। क्योंकि जब तक जवाकुसुम स्फटिक के समीप में नहीं रहता, तब तक उसमें रक्तिमा की प्रतीति नहीं होती है। एवं जवाकुसुम का सामीप्य रहने पर रक्तिमा की प्रतीति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्फटिक में भासित होनेवाली रक्तिमा उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। एवं जिस धर्मी का जो स्वाभाविक धर्म नहीं है, किन्तु उस धर्म की प्रतीति उस धर्मी में होती है, तो वह प्रतीति अवश्य ही 'भ्रान्ति' रूप है। सुतराम् जो धर्म जिस धर्मी का स्वाभाविक धर्म निष्पन्न है, उससे भिन्न धर्म का अगर उस धर्मी में भान होता है, तो वह अवश्य ही उस धर्मी का औपाधिक धर्म है।

शब्द में जिन तारत्व (तीव्रत्व) मन्दत्व प्रभृति धर्मों की प्रतीति होती है वे किसी अन्य धर्मी के धर्म रूप में गृहीत नहीं हैं। एवं शुकादि से उच्चरित विशेष प्रकार के 'ग'-कारादि वर्णों में तीव्रत्वादि से विरुद्ध कोई धर्म है भी नहीं। इसी प्रकार गकारादि वर्णों में तारत्वादि की प्रतीति के लिये किसी अन्य वस्तु का अन्वय और व्यतिरेक भी अपेक्षित नहीं है। अतः तारत्वादि गकारादि शब्दों के स्वाभाविक धर्म ही हैं, औपाधिक नहीं।

पू० प० तथापि ··· ··· ··· ··· ···

(चार्वाक मत के अनुसार यह कहा जा सकता है कि) यद्यपि यह ज्ञात भले ही न हो सके कि गकारादि में जिन तारत्वादि धर्मों की उपलब्धि होती है वे किसी अन्य वस्तु के धर्म नहीं है। फिर भी यह शङ्का तो बनी ही रहेगी कि तारत्वादि शब्दों से भिन्न किसी अन्यवस्तु के धर्म न हों? इस प्रकार के संशय के रहने पर भी यह कहना सम्भव नहीं है कि तारत्वादि शब्दों के स्वाभाविक धर्म हैं।

सि० प० एवमियम् ··· ··· ··· ··· ···

इस प्रकार विना मूल की शङ्का तो सभी स्थानों में हो सकती है। फलतः किसी से कहीं भी किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। जिससे अनुमान की बात ही छोड़ देनी होगी। किन्तु सो आप (मीमांसकों) को भी इष्ट नहीं है। अतः इस युक्ति से भी तारत्वादि धर्मों को गकारादि के स्वाभाविक धर्म होने में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती।

कुतश्चिदसिद्धत्वे त् । न चेतच्छङ्कितुमपि शक्यते, अप्रतीते संस्काराभावात् । संस्कारानुपनीतस्य चारोपयितुमशक्यत्वात् ।

न च ध्वनिधर्मा एव गृह्यन्ते, स्पर्शाद्यनन्तर्भावेन भावेषु त्वगादीनामव्यापारात् । न च श्रवणेनैव तद्ग्रहणम् । अवायवीयत्वेन तस्य वायुधर्माऽग्राहकत्वात्, चक्षुर्वत् ।

न चेतत् ··· ··· ··· ··· आरोपयितुमशक्यत्वात्

दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार की शङ्का हो ही नहीं सकती, क्योंकि संशय के लिये उसमें भासित होनेवाले दोनों कोटियों की उपस्थिति आवश्यक है। 'उपस्थिति' है स्मरण रूप। स्मरण के संस्कार और संस्कार के पूर्वानुभव कारण हैं। इस प्रकार 'तारत्वादि धर्म किसी अतीन्द्रिय वस्तु के धर्म हैं या नहीं' इस संशय से पूर्व 'तारत्वादि धर्म किसी अतीन्द्रिय वस्तु के धर्म हैं' इस आकार का अनुभव आवश्यक होगा। किन्तु वह सम्भव नहीं है। अतः उक्त संशय हो ही नहीं सकता।

पू० प० न च ध्वनिधर्मा ··· ··· ··· ··· ···

गकारादि शब्दों में तारत्वादि जिन धर्मों की प्रतीति होती है, वे वस्तुतः 'ध्वनि' के धर्म हैं, शब्दों के नहीं। 'ध्वनि' वायु में रहनेवाला एक विशेष प्रकार का गुण है।

सि० प० स्पर्शाद्यनन्तर्भावेन ··· ··· ··· ··· ···

यह निश्चित है कि त्वगिन्द्रिय से ही वायु एवं वायु में रहनेवाले धर्मों का ग्रहण होता है। त्वगिन्द्रिय का यह स्वभाव है कि वह स्पर्श के साथ रहनेवाले भाव पदार्थों का ही ग्रहण करे। (गकारादि) शब्दों में स्पर्श नहीं है, अतः (गकारादि) शब्दों में तारत्वादि धर्म स्पर्श के साथ नहीं हैं। इसलिये उनका ग्रहण त्वगिन्द्रिय से नहीं हो सकता।

पू० प० न च श्रवणेनैव ··· ··· ··· ··· ···

वायु गत ध्वनि में रहनेवाले जिन तारत्वादि धर्मों की बात हो रही है, उनका ग्रहण श्रवणेन्द्रिय से ही होता है। जिससे कि शब्द का ग्रहण होता है। अगर त्वगिन्द्रिय से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है तो न हो।

सि० प० अवायवीयत्वेन ··· ··· ··· ··· ···

वायु में रहनेवाले धर्मों का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय (कान) से नहीं हो सकता, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय वायु रूप द्रव्य नहीं है। यह व्यभिचाररहित नियम है कि जो इन्द्रिय जिस जाति की होती है, वह तज्जातीय द्रव्य एवं तज्जातीय द्रव्य में रहनेवाले धर्मों का ही ग्रहण करती है। (व्यतिरेक दृष्टान्त यह है कि) चक्षु चूँकि तैजस द्रव्य है, वायवीय द्रव्य नहीं है, अतः उससे वायु एवं वायु में रहनेवाले धर्मों का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय चूँकि आकाश रूप है, अतः उससे वायवीय ध्वनि में रहनेवाले तारत्वादि धर्मों का ग्रहण

तारतारतरत्वादयो वा न वायुधर्माः, श्रावणत्वात्, कादिवत्। वायुर्वा न श्रवणग्राह्यधर्मो मूर्तत्वात्, पृथिवीवत्। यदि च नैवम्, कादीनामपि वायवीयत्वप्रसङ्गः। ततः किम्? अवयविगुणत्वेऽनित्यत्वम्, परमाणुगुणत्वेऽग्रहणम्।

नहीं हो सकता। इससे यह अनुभव निष्पन्न होता है कि जैसे चक्षु के अवायवीय होने के कारण वायु या वायु में रहनेवाले धर्मों का ग्रहण नहीं होता है, उसी प्रकार आकाश रूप श्रवणेन्द्रिय से वायुगत ध्वनि के तारत्वादि धर्मों का ग्रहण भी नहीं हो सकता।[1] जिन तारतरत्वादि धर्मों की उपलब्धि होती है, वे वायु के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि उनका ग्रहण श्रवणेन्द्रिय से होता है। 'क' प्रभृति वर्णों की तरह जितने भी श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले पदार्थ हैं, वे वायु के धर्म नहीं हैं। अतः तारत्वादि जिन धर्मों का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय से होता है, वे वायु के धर्म नहीं हो सकते। अतः वे गकारादि शब्दों के ही धर्म हैं।

तारतारतरत्वादयः··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में दूसरा अनुमान यह है कि) जिस पदार्थ का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय से होता है, वह कभी भी मूर्त्त द्रव्य का धर्म नहीं हो सकता। जैसे कि श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले 'ग' कारादि वर्ण पृथिवी प्रभृति के धर्म नहीं होते। वायु भी मूर्त्त द्रव्य है। अतः श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले तारत्वादि वायु (ध्वनि) के धर्म नहीं हो सकते। इस से अनुमान का यह स्वरूप निष्पन्न होता है कि वायु में श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले धर्म नहीं हैं, क्योंकि वायु मूर्त्त द्रव्य है। जितने भी मूर्त्त द्रव्य हैं, उनमें से किसी में भी श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होने वाला कोई भी धर्म नहीं है। जैसे कि पृथिवी। अगर श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होने वाले धर्म मूर्त्त द्रव्य में भी रहें तो फिर ककरादि वर्ण भी वायु में रह सकते हैं।

पू० प० ततः किम्··· ··· ··· ···

ककारादि शब्दों को अगर (आकाश का गुण न मान कर) वायु का ही गुण मान लें तो इसमें हानि ही क्या है?

---

1. इस अनुमान की व्याप्ति में एक त्रुटि है। चक्षु तैजस है, पार्थिव नहीं। किन्तु पृथ्वी का एवं पृथ्वी में ही रहनेवाले नील रूप का ग्रहण उस से होता है। अगर यह व्याप्ति स्वीकार की जाय कि जो इन्द्रिय स्वयं जिस जाति की हो, उस इन्द्रिय से उस जाति के द्रव्य और उस द्रव्य में रहनेवाले गुणों का ही ग्रहण हो' तो फिर चक्षु से घटादि पार्थिव द्रव्यों का एवं उसमें रहनेवाले नीलरूपादि गुणों का ग्रहण नहीं हो सकेगा। अतः उक्त व्याप्ति उपयुक्त नहीं है। जिससे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा वायुगत तारत्वादि धर्म की उपलब्धि में कोई बाधा नहीं रह जाती, इसी लिये आचार्य ने इस प्रसंग में 'तारत्वादयः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा दूसरे समाधान का उल्लेख किया है।

द्वयमप्येतदनिष्टं भवतः। अवश्यञ्च श्रवसा ग्राह्यजातीयगुणवता भवितव्यम्, बहिरिन्द्रियत्वाद् घ्राणादिवत्।

सन्तु ध्वनयोऽपि नाभसाः। तथा च तद्धर्मग्रहणं श्रवसोपपत्स्यत इति चेन्न; तारस्तारतरो वाऽयं गकार इत्यत्र ध्वनीनामस्फुरणात्। न च व्यक्तधा विना

सि० प० अवयविगुणत्वे··· ··· ··· ···अनिष्टं भवतः

परमाणु एवं अवयवी ये दो प्रकार के वायु हैं। इनमें शब्द को किस वायु का गुण मानेंगे? अगर ककरादि शब्दों को अवयवी रूप वायु का गुण मानेंगे तो उन शब्दों को अनित्य मानना होगा, क्योंकि अवयवी के विनष्ट हो जाने पर उसमें रहनेवाले गुण का भी अवश्य ही विनाश होगा। अगर ककरादि शब्दों को परमाणु रूप वायु का गुण मानेंगे तो उन शब्दों का प्रत्यक्ष ही संभव नहीं होगा। क्योंकि गुण के प्रत्यक्ष के लिये उसके आश्रय में महत्त्व का होना आवश्यक है। अतः इस पक्ष में शब्द के अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी। किन्तु आप (मीमांसकों) के लिये ककरादि शब्दों की अनित्यता और उनका प्रत्यक्ष न होना ये दोनों ही अनिष्ट हैं। अतः शब्द वायु का धर्म नहीं हो सकता।

अवश्यञ्च··· ··· ··· ···

('शब्द आकाश का गुण है' इस में अनुमान प्रमाण भी है) बाह्य इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि वह उसी विशेषगुण को ग्रहण कर सकता है, जिस विशेषगुण के सजातीय विशेष गुण की सत्ता उस में रहे। घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है, चूंकि घ्राण में गन्ध की सत्ता है। 'श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है' यह मानी हुई बात है उक्त नियम के अनुसार उसके लिये आवश्यक है कि शब्द रूप विशेषगुण श्रवणेन्द्रिय में रहे। अतः यह भी मानना होगा कि श्रवणेन्द्रिय में शब्द रूप विशेष गुण है। श्रवणेन्द्रिय चूंकि आकाश रूप है, अतः शब्द आकाश का ही गुण है (वायु का नहीं)।

पू० प० सन्तु ध्वनयोऽपि··· ··· ··· ···श्रवसोत्पत्स्यते

ध्वनि को भी वायु का धर्म न मानकर आकाश का ही गुण मान लें। ऐसा मान लेने पर ध्वनि में रहनेवाले तारत्वादि धर्मों की श्रवणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्धि होने में कोई बाधा नहीं होगी। सुतराम् श्रवणेन्द्रिय के द्वारा गृहीत न हो सकने के कारण ध्वनि में रहनेवाले तारत्वादि धर्मों का गकारादि वर्णों में आरोप असंभव नहीं होगा।

सि० प० तारस्तारतरः··· ··· ··· ···

'तारो गकारः' 'गकारस्तारतरः' इन प्रतीतियों में तारत्वादि धर्म एवं गकारादि शब्द रूप धर्मी ये दो ही विषय होते हैं। इन प्रतीतियों में ध्वनि नाम की किसी तीसरे पदार्थ का भान नहीं होता। तारत्वादि अगर ध्वनि के धर्म हों तो वे ध्वनि की प्रतीति में ही भासित

सामान्यस्फुरणम्, कारणाभावात्। व्यक्तिस्फुरणसामग्रीनिविष्टा हि जातिस्फुरण-सामग्री। कुत एतत्? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथाऽवगमात्। ऐन्द्रियकेष्वेव घटादिषु सामान्यग्रहणात्। अतीन्द्रियेषु च मनःप्रभृतिष्वग्रहणात्। स्वरूपयोग्यतैव तत्र

होंगे, ध्वनि को चाहे आकाश का गुण मानें चाहे वायु का (दोनों ही स्थितियों में) चूंकि व्यक्ति के भान के बिना जाति का भान नहीं होता, अतः गकारादि विषयक प्रतीति में अगर ध्वनि का भान नहीं होता है तो फिर उस प्रतीति में तारत्वादि धर्म नहीं भासित हो सकते। अतः ध्वनि को आकाश का गुण स्वीकार कर लेने पर भी 'तारो गकारः' इत्यादि प्रतीतियों से तारत्वादि धर्म गृहीत नहीं हो सकते। तस्मात् तारत्वादि शब्द के स्वाभाविक धर्म ही है (औपाधिक नहीं)।

जाति का भान व्यक्ति के भान के बिना संभव नहीं है, क्योंकि व्यक्ति का भान जिन कारणों से होता है, उन कारणों के उस समूह (सामग्री) में वे भी निविष्ट हैं जिन कारणों से जाति का भान होता है। सुतराम् जबतक जाति का भान नहीं होगा, तब तक व्यक्ति का भान हो ही नहीं सकता।

पू० प० कुत एतत्? ... ...

अर्थात् जाति का ज्ञान नियमतः व्यक्ति भान की अपेक्षा रखती है यह कैसे समझते हैं?

सि० प० अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् ... ...

व्यक्ति का भान होने पर जाति का भान अवश्य होता है। एवं व्यक्ति के भान के बिना जाति का भान नहीं होता है। इस अन्वय और व्यतिरेक से समझते हैं कि जाति के भान के लिये नियमतः व्यक्ति के भान की आवश्यकता होती है। (इस अन्वय और व्यतिरेक का उदाहरण यह है कि) जिन घटादि वस्तुओं का ग्रहण इन्द्रिय से होता है, उनमें ही जाति का ग्रहण भी होता है। मन प्रभृति जिन वस्तुओं का इन्द्रिय से ग्रहण होना संभव नहीं है, उन में रहती हुई भी द्रव्यत्वादि जातियाँ प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होती हैं।

पू० प० स्वरूपयोग्यतैव ... ...

जाति के प्रत्यक्ष के लिये उसके आश्रयीभूत 'व्यक्ति' का प्रत्यक्ष के योग्य होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जाति को अपनी 'स्वरूपयोग्यता' ही अर्थात् जाति का स्वयं प्रत्यक्ष के योग्य होना ही आवश्यक है। घट में रहनेवाली द्रव्यत्वादि जातियाँ प्रत्यक्ष की 'स्वरूपयोग्य' हैं, अतः उनका प्रत्यक्ष होता है। मन प्रभृति में रहनेवाली कोई भी जाति प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, अतः मन प्रभृति में रहनेवाली किसी भी जाति का प्रत्यक्ष नहीं होता।

निमित्तम्, अकारणं व्यक्तियोग्यतेति चेत्; एवं तर्हि सत्ताद्रव्यत्वपार्थिवत्वादीनां स्वरूपयोग्यत्वे परमाण्वादिष्वपि ग्रहणप्रसङ्गः। अयोग्यत्वे घटादिष्वपि तदनुपलम्भापत्तिरिति दुरुत्तरं व्यसनम्। तस्माद् व्यक्तिग्रहणयोग्यतान्तर्गतैव जातिग्रहणयोग्यतेति तदनुपलम्भे जातेरनुपलम्भ एव। तथा च न तारत्वादीनामारोपसम्भव इति स्वाभाविकत्वस्थितौ विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्य पारमार्थिकत्वात् प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणमिति न तेन बाधः।

नापि सत्प्रतिपक्षत्वम्, मिथो विरुद्धयोर्वास्तवतुल्यबलत्वाभावात्। एकस्यान्यत-

---

सि० प० एवं तर्हि ··· ··· ··· ···

सत्ता, द्रव्यत्व पृथिवीत्व प्रभृति जातियों की प्रत्यक्ष प्रतीति घटादि में होती है, अतः इन्हें प्रत्यक्ष के स्वरूपयोग्य तो मानना ही होगा। ऐसी स्थिति में अगर जाति की अपनी 'प्रत्यक्षयोग्यता' ही जाति के प्रत्यक्ष का नियामक हो, उसके लिये व्यक्ति की प्रत्यक्षयोग्यता की कोई भी अपेक्षा न हो, तो फिर कथित सत्ता, द्रव्यत्व पृथिवीत्व प्रभृति जातियों का परमाणु प्रभृति अप्रत्यक्ष द्रव्यों में भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु सो नहीं होता। अतः जाति के प्रत्यक्ष के लिये व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष के योग्य होना आवश्यक है। कथित सत्ता प्रभृति सभी जातियों को अगर प्रत्यक्ष के अयोग्य ही मानेंगे, तो घटादि द्रव्यों में उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, इस प्रकार जातियों को स्वतः प्रत्यक्ष के योग्य मानने और न मानने के दोनों पक्ष में ही असमाधेय संकट उपस्थित हो जाता है।

चूँकि जाति का प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा गृहीत होना व्यक्ति के प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने की योग्यता के ऊपर निर्भर है। अतः व्यक्ति की अगर उपलब्धि नहीं होगी तो जाति की भी उपलब्धि नहीं होगी। इस युक्ति के अनुसार ध्वनि में रहनेवाले तारत्वादि धर्मों का आरोप गकारादि शब्दों में संभव नहीं है। सुतराम् तारत्वादि धर्म गकारादि शब्दों के स्वाभाविक धर्म ही हैं। किन्तु तीव्रत्व और मन्दत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, अतः ये दोनों किसी एक आश्रय में नहीं रह सकते। फलतः यह स्वीकार करना होगा कि तीव्रत्व का आश्रयीभूत गकार से मन्दत्व के आश्रयीभूत गकार भिन्न है। तस्मात् 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञायें यथार्थज्ञान (प्रमा) रूप नहीं हैं, अतः इनका पर्यवसान गकारादिशब्दों के नित्यत्व में होना असंभव है। अतः 'शब्दोऽनित्यः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह अनुमान 'सोऽयं गकारः' इत्यादि अप्रमा प्रत्यभिज्ञाओं से बाधित नहीं हो सकता। एवं उक्त प्रत्यभिज्ञाओं का पर्यवसान भी शब्द की नित्यता में संभव नहीं है।

सि० प० नापि सम्त्प्रतिपक्षत्वम् ··· ··· ··· ··· तुल्यबलत्वाभावात्

(१) एक पक्ष में समानबल के परस्पर विरुद्ध साध्य के साधक दो हेतुओं का रहना

माङ्गवैकल्यचिन्तायामस्य वैकल्ये तस्यैवोद्भाव्यत्वात् । अवैकल्ये त्वदीयेनैव विकलेन भवितव्यमिति हीनस्य न सत्प्रतिपक्षत्वम् ।[1]

सम्भव नहीं है । उन दोनों हेतुओं में एक न्यूनबल का और दूसरा अधिक बल का अवश्य होगा । क्योंकि कोई भी पदार्थ परस्पर विरुद्ध दो स्वभावों का या बिना स्वभाव का नहीं हो सकता ।

विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिये 'शब्दोऽनित्यः' इस स्थल में ही देखना चाहिये । समानबलत्व के जो दो विकल्प दिये गये हैं, उनमें प्रथम विकल्प के अनुसार शब्द में अगर नित्यत्व की सिद्धि के उपयुक्त एवं अनित्यत्व की सिद्धि के उपयुक्त दोनों हेतु समान बल के रहें तो सत्प्रतिपक्ष हो सकता है । अगर समान बल के उक्त दोनों हेतुओं की सत्ता शब्द में रहेगी तो शब्द को नित्य भी मानना होगा और अनित्य भी । किन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि एक वस्तु विरुद्ध दो स्वभावों का नहीं हो सकता । तदनुसार शब्द या तो नित्य ही होगा या फिर अनित्य ही होगा । अगर शब्द को अनित्य मानेंगे तो अनित्यत्व का साधक हेतु बलवान् होगा ।

(१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितत्व और (५) असत्प्रतिपक्षितत्व में पाँच धर्म हेतु के बल हैं । हेतु में अगर इनमें से एक भी धर्म नहीं रहता है, तो उससे साध्य साधन की क्षमता जाती रहती है और हेतु निर्बल हो जाता है । प्रकृत में अगर शब्द में अनित्यत्व के साधक हेतु को निर्बल कहेंगे तो उसमें उक्त पाँच

---

१. इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से अनित्यत्व के साधक उक्त अनुमान में बाध दोष के हटाने के बाद (नापि) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष की सम्भावना का निराकरण किया गया है । अर्थात् उक्त अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं हो सकता । सत्प्रतिपक्ष दोष वहाँ होता है, जहाँ कि एक ही पक्ष में साध्य के साधक हेतु के समान ही उस साध्य के अभाव के साधक दूसरे हेतु की सत्ता हो, एवं वह दूसरा हेतु पहिले हेतु के समान ही बलशाली भी हो । सत्प्रतिपक्ष के लक्षण में जो यह 'समानबल' की बात कही गयी है उसके प्रसंग में यह पूछना है कि प्रतिहेतु को क्या (१) वास्तव में हेतु के समान बलशाली होना चाहिये ? (२) अथवा प्रतिहेतु के समानबल के न रहने पर भी उसको समान बलशाली समझना ही पर्याप्त है ? इनमें प्रथम पक्ष का खण्डन 'मिथो विरुद्धयोः' यहाँ से लेकर 'न सत्प्रतिपक्षत्वम्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से किया गया है । एवं 'तथापि नित्यः शब्दः' इत्यादि सन्दर्भ से दूसरे पक्ष का खण्डन किया गया है ।

इसी अभिप्राय से 'एकस्य' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । इस सन्दर्भ में लिखित 'अस्य' शब्द की व्याख्या है 'अनित्यत्वसाधकहेतोः' और 'तस्यैव' की व्याख्या है 'दौर्बल्यप्रयोजकपक्षसत्त्वाद्यभावस्य' उक्त सन्दर्भ के द्वारा समानबलत्व की दूसरी व्याख्या के अनुसार शब्द में अनित्यत्व के अनुमान को दूषित करने का प्रयास करते हैं ।

तथापि नित्यः शब्दोऽद्रव्यद्रव्यत्वादित्यत्रापि साधनदशायां किञ्चिद्वाच्यमिति चेदसिद्धिः ।

धर्मों में से किसी का अभाव स्वीकार करना होगा । अगर यह सत्य है तो फिर कथित धर्मों में से जिस धर्म का अभाव रहेगा, उस अभाव को ही दोष रूप से उपस्थित किया जा सकता है, सत्प्रतिपक्ष रूप दोषान्तर के उद्भावन की आवश्यकता नहीं है ।

अगर अनित्यत्व के साधक मेरे (नैयायिक के) हेतु में पक्षसत्त्वादि 'वैकल्य' अर्थात् अभाव नहीं है तो फिर शब्द में नित्यत्व के साधक आप (मीमांसक) के हेतु में ही 'बल' के प्रयोजक पक्षसत्त्वादि धर्मों में से किसीका 'वैकल्य' मानना होगा । ऐसी स्थिति में नित्यत्व के साधक दुर्बल हेतु से अनित्यत्व का साधक सबल हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता । (यही बात 'अवैकल्ये' इत्यादि से कही गयी है) । तस्मात् 'समानबलत्व' की प्रथम व्याख्या के अनुसार शब्द में अनित्यत्व का साधक उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित नहीं हो सकता ।

पू० प० तथापि नित्यः शब्दः ··· ··· ··· ··· किञ्चिद्वाच्यमिति चेत्

यद्यपि यह ठीक है कि एक पक्ष में रहने वाले एवं दो विरुद्ध साध्यों के साधक दो हेतु समान बल के नहीं हो सकते । फिर भी उक्त दोनों प्रकार के हेतुओं को किसी समय समान बल का समझा जा सकता है । अतः शब्द में अनित्यत्व के साधन के समय अगर यह ज्ञान हो जाय कि अनित्यत्व के विरुद्ध अनित्यत्व रूप साध्य का साधक कोई हेतु शब्द में है, तब भी शब्द में अनित्यत्व के साधक प्रकृत अनुमान को निरस्त किया जा सकता है । तदनुसार प्रकृत में इस विरोधी अनुमान का प्रयोग किया जा सकता है कि 'शब्दः नित्यः, अद्रव्यद्रव्यत्वात्' । अर्थात् शब्द चूँकि ऐसा द्रव्य है जिसका समवायिकारण द्रव्य नहीं है । परमाणु, आकाश प्रभृति जिन द्रव्यों के समवायिकारण द्रव्य नहीं हैं, वे सभी द्रव्य नित्य हैं । अतः शब्द रूप द्रव्य भी नित्य है, क्योंकि उसके समवायि-कारण का भी समवायिकारण कोई द्रव्य नहीं है ।[1] सुतराम् इस आकार के अनुमान का प्रयोग किया जा सकता है कि 'शब्दो नित्यः, अद्रव्यद्रव्यत्वात् आकाशादिवत्' । जब तक इस अनुमान में कोई दोष प्रदर्शित न हो तब तक वह शब्द में अनित्यत्व के अनुमान को प्रतिहत कर सकता है ।

सि० प० असिद्धेः ··· ··· ··· ··· ···

इस अनुमान के हेतु में 'असिद्धि' दोष है । अर्थात् शब्द गुण है द्रव्य नहीं । जब

---

१. 'न द्रव्यं समवायिकारणं यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अद्रव्यद्रव्य' शब्द का अर्थ है 'बिना द्रव्य समवायिकारण का द्रव्य' उसमें रहनेवाला धर्म ही 'अद्रव्यद्रव्यत्व' शब्द का अर्थ है ।

द्रव्यं शब्दः साक्षात्संबन्धेन गृह्यमाणत्वात्, घटवदिति सिद्ध्यतीति चेन्न; एतस्याऽप्यसिद्धेः । न हि श्रोत्रगुणत्वे द्रव्यत्वे वाऽसिद्धे साक्षात्संबन्धे शब्दस्य प्रमाणमस्ति ।

शब्द द्रव्य ही नहीं तब न वह 'द्रव्यद्रव्य' (समवेतद्रव्य) है, न 'अद्रव्यद्रव्य' (असमवेत द्रव्य है), अतः शब्द रूप पक्ष में कथित 'अद्रव्यद्रव्यत्व' हेतु है ही नहीं । जो हेतु पक्ष में न रहे उसमें 'स्वरूपासिद्धि' दोष समझना चाहिये । अतः कथित अद्रव्यद्रव्यत्व हेतु चूंकि असिद्ध नाम का हेत्वाभास है, अतः उस हेतु से शब्द में अनित्यत्व का साधक प्रकृत अनुमान को सत्प्रतिपक्षित नहीं किया जा सकता ।

पू० प० द्रव्यं शब्दः ··· ··· ··· ··· ···

द्रव्य का यह स्वभाव है कि इन्द्रिय के द्वारा साक्षात् सम्बन्ध से ही उसका ग्रहण हो । घटपटादि वस्तुओं में उसका यह स्वभाव देखा जाता है कि उनका ग्रहण चक्षु और विषयों के संयोग रूप साक्षात् सम्बन्ध से ही होता है । द्रव्य से भिन्न गुणकर्म प्रभृति पदार्थों का यह स्वभाव देखा जाता है कि इन्द्रियों से उनका ग्रहण संयुक्तसमवायादि परम्परा सम्बन्धों से ही होता है । जैसे कि घट में रहनेवाले रूप एवं क्रियादि का संयुक्तसमवाय रूप परम्परा सम्बन्ध से ग्रहण होता है । किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण 'समवाय' रूप साक्षात् सम्बन्ध से ही होता है । अतः शब्द द्रव्य ही है गुण नहीं । सुतराम् 'द्रव्यं शब्दः; साक्षात् सम्बन्धेन गृह्यमाणत्वाद् घटवत्' इस अनुमान के द्वारा शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि सम्भव होने के कारण उक्त 'अद्रव्यद्रव्यत्व' हेतु को स्वरूपासिद्धि (असिद्धि) दोष से ग्रसित नहीं कहा जा सकता ।

सि० प० एतस्याप्यसिद्धेः ··· ··· ··· ··· ··· प्रमाणमस्ति

जिन सम्बन्धों से वस्तुओं का ग्रहण होता है, ऐसे दो साक्षात् सम्बन्धों में से एक है संयोग और दूसरा है समवाय । इनमें संयोग सम्बन्ध से घटादि द्रव्यों का ग्रहण होता है और समवाय सम्बन्ध से श्रोत्रेन्द्रिय के गुण (शब्द) का । इससे यह नियम निष्पन्न होता है कि साक्षात् सम्बन्ध से जिसका ग्रहण होगा वह या तो द्रव्य होगा या फिर श्रोत्र का गुण ही होगा । अर्थात् मीमांसक जब शब्द को गुण पदार्थ नहीं कहते, तब उनके मत से शब्द को आकाश का गुण भी स्वीकार नहीं किया जा सकता । शब्द में द्रव्यत्व की अभी सिद्धि हुई नहीं है । अतः अभी शब्द को द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता । इसलिये द्रव्यत्व और आकाशगुणत्व रूप जिन दो धर्मों को साक्षात् सम्बन्ध से ग्रहण का प्रयोजक माना गया है, उन दोनों में से कोई भी शब्द में नहीं है । अतः शब्द में साक्षात्सम्बन्ध से गृह्यमाणत्व रूप हेतु भी नहीं है । इसलिये शब्द में द्रव्यत्व के साधन के लिये प्रयुक्त 'साक्षात्' सम्बन्धेन गृह्यमाणत्व हेतु भी 'असिद्ध' अर्थात् स्वरूपासिद्ध है ।

परिशेषोऽस्ति, तथा हि—सदाद्यभेदेन सामान्यादित्रयव्यावृत्तौ मूर्तद्रव्यसमवायनिषेधेन कर्मत्वनिषेधात् द्रव्यगुणत्वपरिशेषे संयोगसमवाययोरन्यतरः संबन्ध इति चेन्न; बाधकबलेन परिशेषे द्रव्यत्वस्यापि निषेधाल्लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधापत्तेः।

पू० प० परिशेषोऽस्ति ··· ··· ··· ··· ··· अन्यतरः सम्बन्ध इति चेत्

(शब्द में इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध है । उसका ग्रहण इन्द्रिय के साक्षात् सम्बन्ध से ही होता है। अतः 'साक्षात्सम्बन्धेन गृह्यमाणत्व' हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है)। शब्द में साक्षात् सम्बन्ध से गृह्यमाणत्व हेतु की सत्ता में 'परिशेष' अर्थात् परिशेषानुमान प्रमाण है।

'शब्दः सन्' इस आकार की प्रतीति के बल से यह सिद्ध है कि 'शब्द में सत्ता जाति है', या 'शब्द सत् पदार्थ से अभिन्न है।' यह समझ लेने के बाद शब्द को 'सामान्यादित्रय' से अर्थात् सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों से भिन्न समझना सुलभ हो जाता है। शब्द को 'कर्म' पदार्थ इस लिये नहीं समझा जा सकता कि वह किसी मूर्त्त द्रव्य में नहीं रहता है, क्योंकि 'कर्म' का स्वभाव है कि वह मूर्त्त द्रव्यों में ही रहे। अब शब्द के लिये दो ही गतियाँ शेष रहतीं है अर्थात् शब्द या तो द्रव्य होगा अथवा गुण होगा। अगर द्रव्य है तो उसमें इन्द्रिय का संयोग रूप साक्षात् सम्बन्ध होगा। अगर गुण होगा तो इन्द्रिय का समवाय रूप साक्षात् सम्बन्ध होगा। इस प्रकार यह निष्पन्न होता है कि शब्द में इन्द्रिय के साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा गृह्यमाणत्व हेतु अवश्य है। फलतः शब्द को द्रव्य निष्पन्न करने वाला 'साक्षात्सम्बन्धेन गृह्यमाणत्व' हेतु शब्द रूप पक्ष में रहने के कारण स्वरूपासिद्ध नहीं है।

सि० प० न, बाधकबलेन ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार बाधा रहने के कारण शब्द को कर्म पदार्थ नहीं माना जा सकता उसी प्रकार 'बाधा' रहने के कारण ही शब्द को द्रव्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः उक्त परिशेषानुमान से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि द्रव्य और गुण इन दोनों में से शब्द कोई एक है।' उस परिशेषानुमान से केवल यही सिद्ध किया जा सकता है कि 'शब्द गुण है।' इस प्रकार शब्द में द्रव्यागुणान्यतरत्व (द्रव्य और गुण इन दोनों में से एक होना) के न रहने के कारण इन्द्रिय का 'संयोगसमवायान्यतर' सम्बन्ध भी नहीं रह सकता (अर्थात् शब्द में संयोग और समवाय इन दोनों में से एक की स्थिति न रहेगी केवल संयोग की ही स्थिति रहेगी)। इस प्रकार शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये जिस 'साक्षात्सम्बन्धेन गृह्यमाणत्व' लिङ्ग (हेतु) का प्रयोग किया गया है, पक्ष में उसका साधक कथित 'परिशेषानुमान' रूप प्रमाण ही बाधित हो जाता है।

बाधके सत्यपि वा द्रव्यत्वाप्रतिषेधे कर्मत्वादीनामप्यप्रतिषेधप्रसक्तौ परिशेषासिद्धेः; तस्मादेकदेशपरिशेषो न प्रमाणम्, सन्देहसङ्कोचमात्रहेतुत्वात्।

अथ द्रव्यत्वे किं बाधकम् ? उच्यते—शब्दो न द्रव्यम्, बहिरिन्द्रियव्यवस्था-

---

अगर शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि में बाधक हेतुओं के रहते हुये भी 'शब्द को द्रव्य भिन्न नहीं मान लिया जाता है तो फिर शब्द में कथित मूर्त्तत्व के न रहने से जो कर्मत्व का निषेध किया गया है, उसका भी अवसर नहीं रहेगा। जिससे उक्त परिशेषानुमान की सम्भावना ही मिट जायगी।

असल में उक्त परिशेषानुमान प्रमाण ही नहीं है। क्योंकि परिशेषानुमान रूप प्रमाण का यह कार्य है कि पक्ष में जितने धर्मों की सम्भावना (प्रसक्ति) उपस्थित हो उन में अनभीष्ट धर्मों का प्रतिषेध कर अभीष्ट धर्म का स्थापन करना। प्रकृत में शब्द में द्रव्यत्व गुणत्व, कर्मत्वादि सभी धर्मों की सम्भावना को मिटा कर अगर शब्द में द्रव्यत्व को व्यवस्थित कर पाता तो इसको प्रमाण कहा जा सकता था। किन्तु इस परिशेषानुमान ने तो केवल इतना किया है कि शब्द में द्रव्यत्वादि धर्मों की जो सम्भावना थी, उसको केवल छोटी कर दी है। अर्थात् उस सम्भावना को केवल 'शब्द द्रव्य और गुण इन दोनों में से एक है' इस रूप में ला दी है। तस्मात् यह परिशेषानुमान प्रमाण ही नहीं है। क्योंकि शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि में जितनी सम्भावनायें बाधक हैं, उनमें से 'एकदेश' अर्थात् कुछ ही सम्भावनाओं की निवृत्ति कर सकता है।

पू० प० अथ द्रव्यत्वे ··· ··· ··· ···

('शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि में बाधा है' यह जो शब्दों को अनित्य माननेवाले नैयायिक के पक्ष से सिद्धवत् कहा गया है, उस प्रसङ्ग में पूछना है कि) शब्द में द्रव्यत्व के रहने में कौन सी बाधा है ?

सि० प० उच्यते ··· ··· ··· ···

चक्षु घ्राण प्रभृति बाह्य इन्द्रियों में परस्पर भेद की प्रतीति विभिन्न विषयों को ग्रहण की सामर्थ्य से ज्ञात होती है। जैसे कि चक्षु से रूप का ग्रहण होता है, रसादि का नहीं। त्वचा से स्पर्श का ही ग्रहण होता है, रूपरसादि का नहीं। इससे समझते हैं कि रूप को ग्रहण करने वाली चक्षु रूप इन्द्रिय से स्पर्श को ग्रहण करने वाली त्वचा रूप इन्द्रिय भिन्न है। इस प्रकार रूप और स्पर्श प्रभृति विषय भी 'चक्षुरादि बहिरिन्द्रियों की व्यवस्था' के हेतु हैं, अर्थात् बहिरिन्द्रियों में जो परस्पर भेद है, उसको समझाने के साधन हैं। बहिरिन्द्रियों के परस्पर भेद की बुद्धि रूप यह 'व्यवस्था' के कारण रूपादि गुण ही है, उनसे गृहीत होनेवाले द्रव्य नहीं। इस से

हेतुत्वात्, रूपादिवदिति परिशेषात् गुणत्वेन समवायिसिद्धौ लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् नाव्यवहितसंबन्धग्राह्यत्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः। न चासिद्धेन सत्प्रतिपक्षत्वम्, असिद्धस्य हीनबलत्वात्।

ननु शब्दस्तावदश्रोत्रगुणो नैवेति त्वयैव साधितं प्रबन्धेन।

सि० प० परिशेषात्[1] गुणत्वेन ··· ··· ··· ···

इस निष्कर्ष पर आते हैं कि श्रोत्र रूप बहिरिन्द्रिय में जो चक्षु प्रभृति बहिरिन्द्रियों के भेद है, उनको समझाने वाला 'शब्द' स्वरूप गुण ही है द्रव्य नहीं। अतः शब्द में द्रव्यत्व का बाध 'शब्दो न द्रव्यं बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वात् रूपादिवत्' इस अनुमान से होता है।

शब्द में कर्मत्व प्रभृति धर्मों की तरह कथित युक्ति से द्रव्यत्व का भी निषेध हो जाने पर परिशेषानुमान के द्वारा 'शब्द गुण है' यह सिद्ध हो जाता है। यह निश्चित हो जाने पर कि 'शब्द गुण है' शब्द में समवाय की सिद्धि भी सुलभ हो जाती है, जिससे श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा समवाय रूप साक्षात् सम्बन्ध से शब्द का ग्रहण सम्भव हो जाता है। इस प्रकार जब गुण भी इन्द्रिय के द्वारा साक्षात् सम्बन्ध से गृहीत हो सकता है, तो कथित 'साक्षात् सम्बन्धेन गृह्यमाणत्व' हेतु से शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। क्योंकि यह हेतु कथित द्रव्यत्व साध्य का व्यभिचारी है। इस प्रकार शब्द से द्रव्यत्व की सम्भावना के हट जाने से शब्द में नित्यत्व के साधन के लिये एवं शब्द में अनित्यत्व साधक अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष देने के लिये जिस 'अद्रव्यद्रव्यत्व' हेतु का प्रयोग किया गया था, वह हेतु शब्द रूप पक्ष में न रहने के कारण स्वयं स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास हो जाता है। स्वरूपासिद्धि दोष हेतु के पक्षधर्मता रूप बल का विघटक है। सुतराम् 'स्वरूपासिद्ध' होने से बलहीन अद्रव्यद्रव्यत्व हेतुक नित्यत्व के अनुमान से शब्द में अनित्यत्व के अनुमान का हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता।

पू० प० ननु शब्दस्तावत् ··· ··· ··· ···

तुम (नैयायिकों) ने इतने बड़े सन्दर्भ से जो यह साधन किया है कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय रूप आकाश का ही गुण है, पृथिव्यादि द्रव्यों का नहीं, यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। चूँकि किसी भी इन्द्रिय में स्वगत गुणों

---

1. 'परिशेषाद् गुणत्वेन' इत्यादि सन्दर्भ से 'शब्द द्रव्य नहीं है' इस प्रसङ्ग का उपसंहार किया गया है। उसके बाद 'न चासिद्धेन' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इस अनुमान में जो 'नापि सत्प्रतिपक्षत्वम्' इत्यादि सन्दर्भ से सत्प्रतिपक्ष दोष को मिटाने का उपक्रम किया गया था, उसका उपसंहार किया गया है।

न च श्रोत्रगुणः, तेन गृह्यमाणत्वात्। यद् येनेन्द्रियेण गृह्यते नासौ **तस्य गुणः। यथा गृह्यमाणो गन्धादिः। श्रोत्रं** वा न स्वगुणग्राहकम्, इन्द्रियत्वात् **घ्राण-वदिति न गुणत्वसिद्धिरिति चेत्?** ततः किम्?। न चैतदपि, घ्राणादिसमवेत-**गन्धाद्यग्रहे स्वगुणत्वस्याप्रयोजकत्वात्।** अयोग्यत्वं हि तत्रोपाधिः। **अन्यथा** सुखादिर्नात्मगुणः ते**न** गृह्यमाणत्वात् रूपादिवत्।

को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है, अतः शब्द को अगर श्रोत्रेन्द्रिय रूप आकाश का **गुण मानेंगे** तो श्रोत्रेन्द्रिय से **शब्द का** ग्रहण संभव नहीं होगा। इन्द्रियों में अगर स्वगत **गुणों को** ग्रहण करने की क्षमता होती तो चक्षु में रहनेवाले रूप का ग्रहण भी चक्षु से **होता। या रसना में** रहने वाले **रस का** भी ग्रहण रसनेन्द्रिय से होता। किन्तु ऐसा नहीं **होता है, अतः शब्द को** श्रोत्र रूप आकाश का गुण स्वीकार नहीं किया जा सकता। आपके **मत से भी** शब्द **आकाश** से भिन्न पृथिव्यादि किसी अन्य द्रव्य का गुण नहीं है। फलतः शब्द **गुण पदार्थ है** ही नहीं। **शब्द को** कर्म प्रभृति पदार्थ होने की सम्भावना आप ही के द्वारा **पहिले निरस्त** हो **चुकी है,** अतः परिशेष से यह निश्चित होता है कि 'शब्द द्रव्य पदार्थ ही है।' इसमें ये **दो अनुमान** निष्पन्न होते हैं। (१) शब्द चूँकि श्रोत्र से गृहीत **होता है, अतः वह श्रोत्र का** गुण **नहीं हो** सकता। जिसका ग्रहण जिस से होता है, उस ग्राहक **पदार्थ में वह गृहीत होने वाला पदार्थ नहीं** रहता। जैसे कि प्रत्यक्ष होने वाला कोई भी गन्ध **घ्राणेन्द्रिय का गुण नहीं होता।** (२) श्रोत्र चूँकि इन्द्रिय है, अतः उससे अपने में रहनेवाले **शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता।** जैसे कि घ्राणादि इन्द्रियों से उनमें रहने वाले गन्धादि **गुणों का ग्रहण नहीं होता।**

सि० प० ततः किम् ··· ··· ··· ···

इन दोनों अनुमानों के रहने से ही क्या? अर्थात् 'शब्द गुण नहीं है' केवल इतने से ही शब्द को द्रव्य नहीं **माना जा** सकता। शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये स्वतन्त्र प्रमाण **चाहिये। सो प्रकृत में नहीं है,** अतः शब्द को तब तक द्रव्य नहीं स्वीकार किया जा सकता, जब तक उसके लिये स्वतन्त्र प्रमाण उपस्थित न हो।

अयोग्यत्वं हि ··· ··· ··· ··· ···

'शब्द गुण पदार्थ नहीं है' इस को सिद्ध करने वाले [1]कथित दोनों अनुमान भी शुद्ध नहीं हैं। क्योंकि दोनों अनुमानों के हेतु में उपाधि' दोष है। इनमें (१) 'शब्दो न श्रोत्र गुणः तेन गृह्यमाणत्वात्' इस प्रथम अनुमान में 'अयोग्यत्व' उपाधि है। घ्राणादि इन्द्रियों में

---

१. **इस प्रसङ्ग में पूर्व पक्षी मीमांसक कह** सकते हैं कि 'शब्द भाव पदार्थ है **अभाव पदार्थ नहीं' इसको सभी मा**ते हैं। यह भी सिद्ध किया जा चुका है 'शब्द कर्म

न वा तेन गृह्यते तत्समवेतत्वात्, अदृष्टवत्, आत्मा वा न तद्ग्राहक: तदाश्रयत्वात्, गन्धाद्याश्रयघटादिवदित्याद्यपि शंकेत, तस्मात् स्वगुण: परगुणो वाऽयोग्यो न गृह्यते। गृह्यते तु योग्यो योग्येन। तत्किमत्राऽनुपपन्नम् ?

रहनेवाले गन्धादि गुणों का उन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने का यह हेतु नहीं है कि वे गन्धादि गुण उन इन्द्रियों में रहते हैं। उनके प्रत्यक्ष न होने का तो यह हेतु है वे गन्धादि प्रत्यक्ष के 'अयोग्य' हैं। किन्तु श्रोत्र में रहनेवाले शब्द स्वरूप गुण तो प्रत्यक्ष के योग्य है। अतः श्रोत्र रूप इन्द्रिय में रहने के कारण उसके प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है। अगर यह नियम मानें कि (१) जो जिसका गुण हो उसके द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता या (२) जो जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहे उससे उसका ग्रहण नहीं हो सकता, या (३) जो जिसका आश्रय हो वह उसका ग्राहक नहीं हो सकता तो फिर (१) सुखादि को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि सुखादि का ग्रहण आत्मा से होता है। अथवा (२) यह कहना भी सम्भव होगा कि चूँकि सुखादि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतः वे आत्मा से गृहीत नहीं हो सकते। (३) कि वा यह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार घट में रहने वाले रूप का ग्रहण घट से नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा में रहने वाले सुखादि का ग्रहण आत्मा से नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिसका आश्रय हो उसका ग्रहण उससे नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य है कि आत्मा में ही रहने वाले सुखादि का ग्रहण आत्मा से होता है, क्योंकि सुखादि प्रत्यक्ष के योग्य हैं। किन्तु आत्मा में ही रहनेवाले अदृष्टादि का प्रत्यक्ष किसी से भी नहीं होता है, चूँकि वे प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं है। अतः यह समझना चाहिए किसी गुण का प्रत्यक्ष किसी साधन से इस लिये नहीं होता कि वह उस साधनीभूत वस्तु का गुण है। एवं इस लिये भी किसी गुण का प्रत्यक्ष किसी साधनसे नहीं होता कि वह उस साधनीभूत वस्तु से भिन्न द्रव्य का गुण है। किन्तु किसी भी विषय के प्रत्यक्ष इस लिये होता है वह विषय स्वयं प्रत्यक्ष के योग्य है। एवं साधन में उस विषय के प्रत्यक्ष के उत्पादन की क्षमता है। घटादि में रहनेवाला रूप प्रत्यक्ष के योग्य है, एवं उस का ग्राहक चक्षु भी उन रूपों के प्रत्यक्ष के उत्पादन की क्षमता से युक्त है, अतः चक्षु से रूप का प्रत्यक्ष

प्रभृति पदार्थों में से कोई नहीं है।' इन दोनों अनुमानों से यह सिद्ध हो चुका है 'शब्द गुण नहीं है।' इनसे शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये यह परिशेषानुमान उपस्थित किया जा सकता है कि 'शब्दो द्रव्यम् भावत्वे सति गुणादिष्वनन्तर्भावात्' अतः शब्द में द्रव्यत्व के साधक अनुमान का अभाव भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये आचार्य ने शब्द में गुणत्व को हटाने वाले उक्त दोनों अनुमानों में दोष का उद्भावन किया है।

अवश्यञ्च श्रोत्रेण विशेषगुणग्राहिणा भवितव्यम्, इन्द्रियत्वात्। अन्यथा तन्निर्माणवैयर्थ्यात्। तदन्यस्येन्द्रियान्तरेणैव ग्रहणात्।

न च द्रव्यविशेषग्रहणे तदुपयोगः। विशेषणयोग्यतामाश्रित्यैवेन्द्रियस्य द्रव्यग्राहकत्वात्, न द्रव्यस्वरूपयोग्यतामात्रेण। अन्यथा चान्द्रमसं तेजः स्वरूपेण योग्यमिति तदप्युपलभ्येत। आत्मा वा मनोग्राह्य इति सुषुप्त्यवस्थायामप्युपलभ्येत? अनुद्भूतरूपेऽपि वा चक्षुः प्रवर्तेत, तस्मात् गुणयोग्यतामेव पुरस्कृत्येन्द्रियाणि द्रव्यमुपाददते, नाऽतोऽन्यथेति स्थितिः। अत एव नाऽऽकाशादयश्चाक्षुषाः।

होता है। घटादि में रहनेवाला वही रूप प्रत्यक्ष के योग्य होते हुए भी घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के उत्पादन में समर्थ होनेपर भी चक्षु से परमाणुओं में रहनेवाले रूप का ग्रहण नहीं होता है। अतः (शब्द चूंकि श्रोत्र से गृहीत होता है, अतः श्रोत्र का गुण नहीं है) यह बात नहीं कही जा सकती।

अवश्यं च श्रोत्रेण ··· ··· ··· ···

श्रोत्र चूंकि इन्द्रिय है, अतः उस से किसी 'विशेषगुण' का ग्रहण अवश्य होना चाहिये। क्योंकि जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, उन सबों से कोई न कोई विशेष गुण अवश्य ही गृहीत होता है। जैसे कि चक्षु से 'रूप' गृहीत होता है, घ्राण से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। तदनुसार श्रोत्रेन्द्रिय से जिस विशेष गुण का ग्रहण होगा, वह विशेषगुण शब्द ही हो सकता है, अन्य नहीं। क्योंकि रूपादि दूसरे विशेषगुणों का प्रत्यक्ष तो चक्षु प्रभृति अन्य इन्द्रियों से ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में अगर अन्य इन्द्रियों से गृहीत न होनेवाले शब्द स्वरूप विशेषगुण का भी प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से न होगा तो श्रोत्रेन्द्रिय का बनना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः श्रोत्रेन्द्रिय शब्द स्वरूप विशेष गुण का ही ग्राहक है। सुतराम् शब्द गुण ही है द्रव्य नहीं।

सि० प० न च द्रव्यविशेषग्रहणे ··· ··· ···

जिस द्रव्य में विशेषगुण' रहता है, उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है। अतएव विशेषगुण से युक्त पृथिवी, जल, तेज, और वायु का प्रत्यक्ष होता है। एवं विशेषगुण से रहित काल और दिक् का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस लिये यह आवश्यक है कि जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य का ग्रहण हो, उसी इन्द्रिय से उस द्रव्य में रहनेवाले विशेषगुण का भी ग्रहण हो। चक्षु, त्वचा और मन इन्हीं तीन इन्द्रियों से द्रव्य का ग्रहण होता है। इन में चक्षु के द्वारा रूप से युक्त द्रव्यों का ग्रहण होता है। त्वगिन्द्रिय के द्वारा रूप से युक्त द्रव्यों से भिन्न किन्तु स्पर्श से युक्त द्रव्य का ग्रहण होता है। अर्थात् त्वगिन्द्रिय से रूप से रहित किन्तु स्पर्शवाले द्रव्यों का ग्रहण होता है। मन से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इस से यह निष्कर्ष निकला कि जिस द्रव्य में जिस विशेषगुण का जिस इन्द्रिय से ग्रहण होता है, उस विशेष गुण से युक्त वह द्रव्य भी उसी इन्द्रिय से गृहीत होता

अस्तु तर्हि शब्दो नित्यः, नित्याकाशैकगुणत्वात्, तद्गतपरममहत्त्वपरिमाणवदिति प्रत्यनुमानमिति चेन्न ।

है। फलतः 'विशेषण' का अर्थात् द्रव्य के 'विशेषगुण' रूप विशेषण का प्रत्यक्ष के योग्य होना 'विशेष्य' अर्थात् उस विशेषण के विशेष्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक है। इस वस्तुगतिके कारण ही जिस द्रव्य में रहनेवाले विशेषगुण का जिस इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता है, उस इन्द्रिय से उस विशेषगुण के आश्रयीभूत द्रव्य का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे कि (१) जाग्रत अवस्था में आत्मा का ग्रहण होता हैं, क्योंकि उस समय आत्मा में ज्ञान रूप उस विशेषगुण की सत्ता रहती है जिसका ग्रहण मन से होता है, अतः उसका मन रूप इन्द्रिय से ग्रहण हो सकता है। किन्तु सुषुप्ति की अवस्था में उसी आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि उस समय ज्ञान रूप विशेष गुण की सत्ता नहीं रहती है। (२) आकाश का प्रत्यक्ष चक्षु से नहीं होता है, क्योंकि चक्षु से गृहीत होनेवाला विशेषगुण 'रूप' उसमें नहीं है। (३) अथवा उस रूप से युक्त द्रव्य का भी ग्रहण चक्षु से नहीं होता है, जो रूप उद्भूत नहीं है। अगर ऐसा न हो (अर्थात् विशेषण के अयोग्य होने पर भी द्रव्य स्वरूप विशेष्य का ग्रहण हो, तो फिर चन्द्रमा का तेज रूप द्रव्य स्वयं तो प्रत्यक्ष के योग्य है हो, अतः उसका भी (उष्णस्पर्शवत्वेन) प्रत्यक्ष होना चाहिये। अतः मानना होगा कि गुण में प्रत्यक्ष की योग्यता से द्रव्य में प्रत्यक्ष होने की योग्यता आती है। शब्द को द्रव्य मान भी लेंगे, तथापि उसके प्रत्यक्ष के लिये उसमें किसी दूसरे गुण की सत्ता माननी होगी। ऐसा कोई गुण उपलब्ध नहीं है, अतः यही मानिये कि शब्द स्वयं ही गुण स्वरूप है, उसमें कोई भी गुण नहीं है। इस लिये शब्द द्रव्य नहीं है। तस्मात् शब्द में अनित्यत्व का मेरा अनुमान 'शब्दो नित्यः अद्रव्यद्रव्यत्वात्' इस प्रतिपक्षी अनुमान से बाधित नहीं हो सकता।[1]

पू० प० अस्तु तर्हि शब्दो नित्यः.............

('शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात् घटवत्' यह अनुमान 'शब्दो नित्यः अद्रव्यद्रव्यत्वात्' इस विरोधी अनुमान से सत्प्रतिपक्षित भले ही न हो किन्तु) 'शब्दो नित्यः नित्यैकाशगुणत्वात्' इस विरोधी अनुमान से तो सत्प्रतिपक्षित हो सकता है। (इस प्रत्यनुमान का स्वारस्य है कि) शब्द चूँकि आकाश रूप नित्य द्रव्य का ही गुण है, अतः शब्द भी नित्य ही होगा, क्योंकि

---

१. इस प्रसङ्ग में मीमांसक कह सकते हैं कि शब्द को द्रव्य मान लेने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय की सार्थकता हो सकती है। अर्थात् उसके निर्माण के वैयर्थ्य को हटाया जा सकता है। शब्द रूप द्रव्य के ग्रहण से भी श्रोत्रेन्द्रिय का निर्माण सफल हो सकता है। इसके लिये शब्द को गुण या विशेषगुण मानने की आवश्यकता नहीं है। मीमांसकों के इसी अभिप्राय का खण्डन 'न च द्रव्यविशेषग्रहणे' यहाँ से लेकर 'नाकाशाद्यश्चाक्षुषाः' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से किया गया है।

अकार्यत्वस्यापोषेर्विद्यमानत्वत् । अन्यथा आत्मविशेषगुणा नित्याः, तदेकगुण-त्वात्, तद्गतपरममहत्त्ववदित्यपि स्यात् । अस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादहेतुत्वमिति चेन्न । निरुपाधेर्बाधानवकाशात् ।

उसका आश्रय आकाश नित्य है । जैसे कि नित्य आकाश का परममहत्परिमाण भी नित्य ही होता है । शब्द भी नित्य आकाश का ही गुण है, अतः वह भी नित्य है ।

अकार्यत्वस्य············इत्यपि स्यात्

आकाशमें रहनेवाला परममहत्परिमाण इस लिये नित्य नहीं है कि वह उस आकाश का ही गुण है जो 'नित्य' है । उक्त परममहत्परिमाण तो इस लिये नित्य है कि वह किसी से उत्पन्न नहीं होता है । अर्थात् वह कार्य नहीं है । अगर ऐसा मान लें कि जो केवल नित्यद्रव्य का ही गुण हो वह भी नित्य ही हो तो फिर आत्मा के ज्ञान प्रभृति विशेष गुणों को भी नित्य मानना होगा । अतः केवल नित्यद्रव्य का ही गुण होना किसी गुण के नित्यत्व का प्रयोजक नहीं है । इसलिये शब्द चूँकि 'कार्य' रूप गुण है, अतः ज्ञानादि की तरह केवल नित्यद्रव्य का गुण होते हुये भी अनित्य ही है । सुतराम् नित्याकाशगुणत्व हेतुक अनुमान में 'अकार्यत्व' को उपाधि कहा गया है । चूँकि उक्त प्रत्यनुमान 'अकार्यत्व' रूप उपाधि दोष से युक्त है, अतः दुर्बल होने के कारण शब्द में अनित्यत्वानुमान के उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता ।

पू० प० अस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्··········

आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुणों का विनाश चूँकि प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः ज्ञानादि की अनित्यता भी प्रत्यक्ष सिद्ध है । अतः ज्ञानादि में नित्यत्व का अगर अनुमान करेंगे तो वह प्रत्यक्ष से बाधित होगा । किन्तु शब्द में नित्यैकाशगुणत्व हेतु से नित्यत्वानुमान के प्रसङ्ग में यह प्रतिकूल तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता कि "अगर केवल नित्यद्रव्य में ही रहनेवाले गुण भी नित्य ही हों तो फिर आत्मा में रहनेवाले ज्ञानादि गुणों को भी नित्य माना जाय" । अर्थात् ज्ञानादि में नित्यत्व चूँकि प्रत्यक्ष से बाधित है, अतः केवल नित्य द्रव्य में रहते हुये उनको नित्य नहीं माना जा सकता । शब्द में नित्यत्व तो प्रत्यक्ष से बाधित नहीं है, अतः नित्याकाशगुणत्व हेतु से उसमें नित्यत्व के अनुमान में कोई बाधा नहीं है ।

सि० प० निरुपाधेः··· ··· ··· ···

पहिले यह जानना चाहिये कि शब्द में नित्यत्व साधन के लिये जिस 'नित्यद्रव्यमात्र-वृत्तित्व' को उपस्थित किया है, वह 'निरुपाधि' है ? या नहीं ? (अर्थात् उसमें नित्यत्व रूप साध्य की व्याप्ति है ? अथवा नहीं) अगर उक्त हेतु में नित्यत्व की व्याप्ति है ? तो फिर ज्ञानादि गुणों में नित्यत्व बाधित ही नहीं हो सकता । पक्ष में रहनेवाले जिस हेतु में साध्य की

स्वभावप्रतिबद्धस्य च तत्परित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसंगात्। तस्मात् बाधेन वोपाधिरुन्नीयते, अन्यथा वेति न कश्चिद्विशेषः।

एतेन श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यपि परास्तम्, अत्रापि तस्यैवोपाधित्वात्। अन्यथा, गन्धरूपरसस्पर्शा अपि नित्याः प्रसज्येरन्।

व्याप्ति रहेगी, उस हेतु के द्वारा ज्ञाप्य का बाध पक्ष में हो ही नहीं सकता। ('निरुपाधि' शब्द का अर्थ है व्याप्ति)।

'स्वभावप्रतिबद्धस्य'[1] ··· ··· ··· ···न कश्चिद्विशेषः

किसी भी वस्तु के असाधारण धर्म को उसका 'स्वभाव' कहा • जाता है। जैसे कि धूम के ज्ञान से ज्ञात होना वह्नि का स्वभाव है। कोई भी वस्तु अपने 'स्वभाव' को छोड़कर नहीं रह सकती। जिस धर्म को छोड़ कर जो वस्तु रह सकती है, वह उस वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकता। तदनुसार नित्यद्रव्यवृत्तित्व के ज्ञान से ज्ञात होना गुणों के नित्यत्व का स्वभाव है। अगर यह नित्यत्व अपने उक्त स्वभाव को छोड़ कर भी रहे तो वह अपने स्वभाव को छोड़ कर भी रह सकता है। किन्तु यह सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि चूँ कि ज्ञान केवल नित्यद्रव्य में ही रहता है, अतः अवश्य ही नित्य है। किन्तु यह कहना संभव नहीं है, अतः यही मानना पड़ेगा कि 'जो केवल नित्य द्रव्य में रहे, वह नित्य ही हो' ऐसा नियम स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः शब्द में नित्यत्व साधन के लिये जिस 'नित्यद्रव्यमात्रवृत्तित्व' धर्म का उल्लेख किया गया है वह 'औपधिक' है, स्वाभाविक नहीं। वह उपाधि ज्ञानादि में अनुमित होनेवाले नित्यत्व के बाध से हो या और ही किसी से हो इससे कोई अन्तर नहीं आता। अनुमान को दूषित करने के लिये जिस किसी भी प्रकार से उपाधि का रहना ही यथेष्ट है।

पू॰ प॰ एतेन ··· ··· ··· ···

शब्दत्व जाति का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय से होता है। शब्दत्व जाति नित्य है। शब्द भी श्रवणेन्द्रिय से ही गृहीत होता है अतः शब्द भी नित्य ही है। 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' इस विरोधी अनुमान से नैयायिकों का 'शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह अनुमान सत्प्रतिपक्षित हो सकता है।

सि॰ प॰ अत्रापि ··· ··· ··· ···

मीमांसकों के इस प्रत्यनुमान में भी कथित 'अकार्यत्व' रूप उपाधि है ही। अर्थात् शब्दत्व जाति इसलिये नित्य नहीं है कि वह श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होता है। वह तो इसलिये

---

१. जहाँ कहीं भी नित्यत्व है उन सभी आश्रयों में अकार्यत्व भी है, अतः अकार्यत्व में नित्यत्व रूप साध्य की व्यापकता है। नित्यैकाशगुणत्व रूप हेतु शब्द में है, अथ च इसमें अकार्यत्व नहीं है। अतः अकार्यत्व साधन का अव्यापक भी है। सुतराम् प्रकृत अनुमान में 'अकार्यत्व' उपाधि है।

घ्राणाद्येकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, गन्धत्वादिवदित्यपि प्रयोगसौकर्यात् । विरोधव्यभिचारावसम्भावितावेवात्रेत्यसिद्धिरवशिष्यते ।

नित्य है कि वह उत्पत्तिशील वस्तु नहीं है, अर्थात् किसी भी कारण से उत्पन्न नहीं होता है। अगर ऐसी बात न हो तो फिर गन्ध, रूप, रस स्पर्श प्रभृति को भी नित्य मानना होगा, क्योंकि गन्धत्वादि जातियाँ भी नित्य हैं, एवं घ्राणादि तत्तद् इन्द्रियों से ही गृहीत होती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि घ्राणादि इन्द्रियों से गृहीत होनेवाले गन्धादि भी नित्य ही हैं। सुतराम् जिस प्रकार जातियाँ अकार्य होने से ही नित्य हैं, केवल एक इन्द्रिय से गृहीत होने से नित्य नहीं हैं। एवं गन्धादि गुण एक मात्र इन्द्रिय से गृहीत होने पर भी 'कार्य' होने से अनित्य हैं। उसी प्रकार शब्दत्व जाति श्रवण रूप एक ही इन्द्रिय से गृहीत होने पर भी अकार्य होने से नित्य है, किन्तु शब्द चूँकि कार्य है, अतः श्रवण रूप एक ही इन्द्रिय से ग्राह्य होने पर भी 'अनित्य' ही है। तस्मात् यह श्रावणत्व हेतु भी अकार्यत्व रूप उपाधि से युक्त होने के कारण व्याप्ति से रहित है। अत एव दुर्बल होने के कारण शब्द में अनित्यत्व के साधक उत्पत्ति-धर्मकत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता।

सि० प० विरोधव्यभिचारावसंभावितौ ··· ··· ··· ···

[1]जिस साध्य के हेतु में (साध्य के बदले) साध्य के अभाव की ही व्याप्ति रहती है, वहाँ हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास होता है। प्रकृत उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु साध्य के नित्यत्व रूप अभाव के साथ कहीं भी नहीं है। अतः प्रकृत में 'विरोध' दोष नहीं है। जिस अधिकरण में साध्य नहीं रहता है, उस अधिकरण में हेतु के रहने से व्यभिचार दोष होता है। प्रकृत में अनित्यत्व साध्य आकाशादि रूप अधिकरणों में नहीं है, उन अधिकरणों में कहीं उत्पत्तिधर्मकत्व रूप हेतु भी नहीं है। अतः प्रकृत अनुमान में विरोध और व्यभिचार इन दोनों दोषों की संभावना ही नहीं है।

इत्यसिद्धिरवशिष्यते ··· ··· ··· ···

अतः केवल 'असिद्धि' दोष की संभावना का उपपादन और उसका निराकरण ये ही दोनों अवशिष्ट रह गये हैं। क्योंकि व्यभिचार, विरोध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्धि, और बाध ये पाँच ही हेत्वाभास हैं। जिनमें व्यभिचारादि चार हेत्वाभासों की संभावनाओं का निराकरण हो गया है। अतः केवल असिद्धि की संभावना ही रह गयी है, जिसका निराकरण अवशिष्ट है।

---

१. 'शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इस अनुमान में 'नापि सत्प्रतिपक्षत्वम्' यहाँ से लेकर 'इत्यपि प्रयोगसौकर्यात्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से सत्प्रतिपक्ष के सभी संभावनाओं का निराकरण किया गया है। 'विरोधव्यभिचारौ' इस सन्दर्भ से उक्त अनुमान में विरोध और व्यभिचार इन दो दोषों की संभावनाओं का निराकरण किया गया है।

सापि नास्ति। तथा हि–शब्दस्तावत् पूर्वन्यायेन स्वाभाविकतीव्रमन्दतरतमादिभावेन प्रकर्षनिकर्षवानुपलभ्यते। इयञ्च प्रकर्षनिकर्षवत्ता कारणभेदानुविधायिनी सर्वत्रोपलब्धा। अकारणका हि नित्याः प्रकर्षवन्त एव भवन्ति, यथाऽऽकाशादयः। निकृष्टा एव वा, यथा परमाण्वादयः। न तु किञ्चिदतिशयानाः कुतश्चिदपकृष्यन्ते। तदियं नित्येभ्यो व्यावर्त्तमाना कारणवत्सु च भवन्ती जायमानतामादायैव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धौ प्रयुज्यते, शब्दो जायते, प्रकर्षनिकर्षाभ्यामुपेतत्वात्, माधुर्यादिवत्। अन्यथा नियामकमन्तरेण भवन्ती नित्येष्वपि सा स्यात्, नियमहेतोरभावात्।

(असिद्धि दोष का उद्धार कर देने पर उक्त अनुमान के द्वारा शब्द में अनित्यत्व के साधन में कोई बाधा नहीं रह जायगी।

स्वरूपासिद्धि, आश्रयासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि असिद्धि के ये तीन भेद हैं। इन में आदि की दो असिद्धियों की संभावना पूर्वपक्षी भी नहीं मानते। अतः केवल व्याप्यत्वासिद्धि की संभावना रह जाती है। अतः कथित सन्दर्भ के 'सा' शब्द से वही अभिप्रेत है। 'व्याप्यत्व' फलतः 'व्याप्ति' ही है। अतः व्याप्ति की असिद्धि ही व्याप्यत्वासिद्धि है। अनौपाधिकत्व ही, अर्थात् उपाधि का न रहना ही व्याप्ति का रहना है। फलतः उपाधि को ही व्याप्यत्वासिद्धि कहा जाता है। प्रकृत अनुमान का उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु शब्द रूप पक्ष में तो है, किन्तु इस में कोई प्रमाण नहीं है कि 'उस हेतु में अनित्यत्व की व्याप्ति भी है'। अर्थात् 'शब्द चूँकि उत्पत्तिशील है, अतः अवश्य ही अनित्य भी है' इस नियम को मानने में कोई प्रबल युक्ति नहीं है। अतः अनित्यत्व रूप साध्य की व्याप्ति से रहित उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु से शब्द को अनित्य नहीं माना जा सकता)।

सि० प० सापि नास्ति··· ··· ··· ···तथा हि··· ··· ··· ···

प्रकृत अनुमान में कथित व्याप्यात्वासिद्धि दोष भी नहीं है, क्योंकि पहिले कह आये हैं कि तीव्रत्व और मन्दत्व शब्द के स्वाभाविक धर्म हैं। इस से यह समझना सरल है कि शब्द 'प्रकर्षनिकर्ष' से युक्त है। अर्थात् शब्दों में कोई न्यून है और कोई अधिक। शब्द का यह आधिक्य रूप 'प्रकर्ष' और न्यूनता रूप 'निकर्ष' को अनित्य माने विना उपपन्न नहीं हो सकता। विना कारण के जितने भी (नित्य) पदार्थ हैं, वे या तो 'प्रकृष्ट' ही होंगे जैसे कि आकाशादि, या फिर 'निकृष्ट' ही होंगे जैसे कि परमाणु। जैसे कि माधुर्यादि जितने भी पदार्थ कारणों से उत्पन्न हैं, उन में ही उक्त प्रकर्ष और अपकर्ष ये दोनों देखे जाते हैं। अतः यह समझना चाहिये कि इसी एक आश्रय में कथित प्रकर्ष और निकर्ष दोनों की सत्ता रह सकती है, जो आश्रय

शब्दादन्यत्रेयं गतिरिति चेन्न; साध्यधर्मिणं विहायेति प्रत्यवस्थानस्य सर्वानुमानसुलभत्वात् । न चेद्व्यञ्जकतारतम्याद्व्यञ्जनीयतारतम्यम्,

---

उत्पत्तिशील हो, अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न हो। सुतराम् यह नियम उपपन्न होता है कि 'जितने भी उत्पत्तिशील पदार्थ हैं, वे सभी प्रकर्ष और निकर्ष से युक्त हैं' एवं 'जितने भी कारणों से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं वे सभी अनित्य है' शब्द चूँकि प्रकर्ष और निष्कर्ष से युक्त हैं, अतः वे उत्पत्तिशील हैं। एवं जिस लिये कि शब्द उत्पत्तिशील है, अतः वह अनित्य हैं। इस प्रकार उत्पत्तिमत्त्व हेतु में अनित्यत्व रूप साध्य की व्याप्ति के रहने में कोई बाधा नहीं है। आकाशादि पदार्थों में प्रकर्ष और निकर्ष इन दोनों के एक साथ रहने में किसी को नियामक मानना पड़ेगा। प्रकर्षनिकर्षवत्ता का यह नियामक 'सकारणकत्व' या उत्पत्तिशीलत्व ही है। अतः नित्य पदार्थों में प्रकर्षनिकर्षवत्ता की आपत्ति नहीं होती है। इसलिये शब्द में अनित्यत्व के अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि रूप दोष नहीं है।

पू० प० शब्दादन्यत्रेयम्··· ··· ··· ···

माधुर्य प्रभृति में जो प्रकर्ष और निकर्ष दोनों ही हैं, उसका प्रयोजक उनके उत्पत्तिशीलत्व को मानते हैं, किन्तु शब्द में जो प्रकर्ष और निकर्ष दोनों की सत्ता है, उसका कारण शब्द की उत्पत्तिशीलता को स्वीकार नहीं करते। अतः शब्द में अनित्यत्व के साधक उत्पत्तिमत्त्व हेतु में कथित व्याप्यत्वासिद्धि दोष है ही।

सि० प० न, साध्यधर्मिणं विहाय··· ··· ··· ···सर्वानुमानसुलभत्वात्।

इस प्रकार तो सभी अनुमानों के हेतुओं को व्याप्यत्वासिद्धि के दोष से युक्त कहा जा सकता है, क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में भी कहा जा सकता है कि महानसादि जिन सभी स्थलों में धूम है, उन सभी स्थानों में वह्नि की सत्ता अवश्य मानते हैं। किन्तु पर्वत में ऐसा नहीं मानते। साध्य के धर्मी अर्थात् पक्ष में धूम के रहते हुए भी वह्नि की सत्ता नहीं मानेंगे। इस प्रकार पर्वत में ही धूम में रहने वाली वह्नि की व्याप्ति भङ्ग हो जायगी। इस प्रकार की व्याप्यत्वासिद्धि चूँकि सभी अनुमानों में हो सकती है, अतः यह 'स्वव्याघातक' होने से दोष नहीं है।

पू० प० न चेत्··· ··· ··· ···

शब्द को नित्य मान लेने पर भी उस में प्रकर्षनिकर्षवत्ता की उपपत्ति हो सकती है। जिनको आप शब्द का उत्पादक कारण मानते हैं, वे वास्तव में शब्द को केवल अभिव्यक्त करते हैं, अतः वे शब्द के अभिव्यञ्जक हैं। उन अभिव्यञ्जकों के द्वारा पहिले से विद्यमान शब्द ही अभिव्यक्त होता है। सुतराम् यह कहा जा सकता है कि अभिव्यञ्जक के तारतम्य से ही अभिव्यक्त होनेवाले, अर्थात् अभिव्यङ्ग्य शब्द में भी तारतम्य मालुम होता है। अतः प्रकर्षनिकर्षवत्ता से

अस्वाभाविकत्वप्रसंगात्। व्यवस्थितञ्च स्वाभाविकत्वम्। न च व्यञ्जकोत्पादकाभ्या-मन्यस्यानुविधानमस्ति। न च स्वाभाविकत्वौपाधिकत्वाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भवति।

स्यादेतत्। तथाप्युत्पत्तेर्नित्यत्वेन को विरोधः? येन प्रतिबन्धसिद्धिः स्यात्। असिद्धे च तस्मिन् भवतां व्यापकत्वासिद्धोऽस्माकमप्रयोजकः सौगतानां सन्दिग्ध-विपक्षवृत्तिरयमुपक्रान्तो हेतुरिति चेन्न।

शब्द में जिस सकारणकत्व का अनुमान आप लोग करते हैं, उसका पर्यवसान शब्द के अनित्यत्व में नहीं हो सकता। इसलिये कथित उत्पत्तिमत्त्व हेतु में अनित्यत्व की व्याप्ति की 'असिद्धि' है ही।

सि० प० अस्वाभाविकत्वप्रसङ्गात्··· ··· ··· ···अन्यः प्रकारः सम्भवति

यह पहिले उपपादित हो चुका है कि शब्दों में प्रतीत होने वाले तीव्रत्व और मन्दत्व धर्म उसके स्वाभाविक धर्म ही हैं, औपाधिक धर्म नहीं। अगर शब्द को अभिव्यक्ति के कारणों में रहनेवाले तीव्रत्व और मन्दत्व की ही अभिव्यक्ति शब्दों में मानेंगे तो कथित तीव्रत्व और मन्दत्व धर्म शब्द के स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकेंगे। शब्दों में प्रतीत होनेवाले ये दोनों धर्म या तो उसके कारणों के तीव्रत्व और मन्दत्व से हो सकते हैं, या फिर उसके अभिव्यंजकों के तीव्रत्व और मन्दत्व से प्रतीत हो सकते हैं। पहिली स्थिति में तीव्रत्वादि शब्द के स्वाभाविक धर्म होंगे, और दूसरी स्थिति में वे औपाधिक धर्म होंगे। यह निश्चित हो चुका है कि शब्दों में प्रतीत होने वाले तीव्रत्वादि धर्म शब्द के स्वाभाविक ही धर्म हैं, औपाधिक नहीं। इस से यह सिद्ध हो जाता है कि शब्दों में चूँकि तीव्रत्व और मन्दत्व रूप उसके स्वाभाविक धर्म हैं, अतः उनके प्रयोजक तीव्रत्व और मन्दत्व से युक्त कारणों से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। सुतराम् शब्द में प्रतीत होनेवाले तीव्रत्व-मन्दत्व या प्रकर्ष-निकर्षवत्त्व से शब्द में जिस कारणजन्यत्व की सिद्धि होती है, उस को अन्यथा नहीं किया जा सकता।

पू० प० स्यादेतत्··· ··· ··· ···तथाप्युत्पत्तेः··· ··· ··· ···

चूँकि उत्पत्तिमत्त्व और अनित्यत्व इन दोनों में कोई विरोध नहीं है, अतः शब्द को नित्य मानते हुए भी उसको उत्पत्तिशील स्वीकार किया जा सकता है। इस में कोई बाधा नहीं है। अतः यह स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है कि 'शब्द चूँकि उत्पत्तिशील है, अतः अनित्य है'। इस वस्तुस्थिति के अनुसार कथित उत्पत्तिमत्त्व रूप हेतु में अनित्यत्व रूप साध्य की व्याप्ति नहीं है। अतः 'शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इस अनुमान में आप (नैयायिकों) के मत से 'व्यापकत्वासिद्धि' है (अर्थात् व्याप्यत्वासिद्धि दोष है। चूँकि अनित्यत्व रूप साध्य में उत्पत्तिमत्त्व रूप हेतु की व्यापकता सिद्ध नहीं है, अतः उत्पत्तिमत्त्व रूप हेतु में अनित्यत्व रूप साध्य का व्याप्यत्व भी असिद्ध है)। एवं हम (मीमांसक) लोगों

इदं ह्युत्पत्तिमत्वं विनाशकारणसन्निधिविरुद्धेभ्यो नित्येभ्यः स्वव्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमानं विनाशकसन्निधिमति विनाशिनि विश्राम्यतीति। विनाशकारणेनाऽवश्यं जायमानस्य भवितव्यमिति कुतो निर्णीतमिति चेन्न। तदसन्निधानं हि

के मत से उक्त वस्तुस्थिति के अनुसार ही प्रकृत अनुमान का हेतु 'अप्रयोजक' है। क्योंकि उसमें साध्य को सिद्ध करनेवाले 'प्रयोजक' अर्थात् सहायक 'विपक्षव्यावृत्तत्व' धर्म नहीं है। क्योंकि जो हेतु साध्य का व्याप्य नहीं होगा, वह अवश्य ही साध्य का व्यभिचारी होगा। व्यभिचारी हेतु को विपक्ष में रहना अनिवार्य है। अतः उक्त हेतु साध्य की अनुमिति का प्रयोजक नहीं हो सकता। एवं बौद्धों के मत से शब्द में अनित्यत्व का साधक यह उत्पत्तिमत्त्व हेतु 'सन्दिग्धविपक्षवृत्ति' नाम का हेत्वाभास होगा।

सि० प० इदं हि उत्पत्तिमत्त्वम्··· ··· ··· ···

उत्पत्ति के कारणों के एकत्र होने से वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और विनाश के कारणों के सम्मिलित होने पर वस्तुओं का विनाश होता है। आकाशादि नित्य पदार्थों के विनाश का कोई कारण ही नहीं है, अतः आकाशादि में कभी भी विनाश के कारणों का संमिलन या संनिधान नहीं होता। अतः विनाश-कारणों की संनिधि आकाशादि पदार्थों के विरुद्ध है। जिन सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उन के साथ विनाश के कारणों की यह संनिधि या संनिधान अवश्य रहता है। इस प्रकार विनाश के कारणों का संनिधान उत्पत्तिमत्त्व का व्यापक धर्म है। आकाशादि नित्य पदार्थ चूँकि विनाशकारणों के संनिधान के विरोधी हैं, अतः उनमें विनाशकारणों के संनिधान का व्यापक उत्पत्तिमत्त्व भी नहीं रह सकता। फलतः 'व्यापकाभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि' के अनुसार यह उत्पत्तिमत्त्व अनित्य पदार्थों में व्यवस्थित हो जाता है। इसलिये शब्द चूँकि उत्पत्तिशील है, अतः अवश्य ही अनित्य है।

पू० प० विनाशकारणेन··· ··· ··· ···

'उत्पत्तिशील जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी पदार्थों में अवश्य ही विनाशकारणों का सामीप्य रहे' यह किस हेतु से निर्णय करते हैं ?

सि० प० न, तदसंनिधानं हि··· ··· ··· ···

जिस प्रकार आकाशादि नित्य पदार्थों में विनाश का असंनिधान 'स्वभावविरोध' के कारण होता है, उसी प्रकार उत्पत्तिशील पदार्थों के साथ विनाश के कारणों का 'असंनिधान' स्वभावविरोध से नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति एवं विनाश दोनों की प्रतीति एक ही घट में देखी जाती है। (अतः उत्पत्तिमत्त्व एवं विनाशित्व या विनाशकारणों का संनिधान ये

न तावदाकाशादेरिव, स्वभावविरोधात्, उत्पत्तिविनाशयोः संसर्गदर्शनात्।

अविरुद्धयोरसन्निधिस्तु देशविप्रकर्षात्, हिमवद्विन्ध्ययोरिव स्यात्। देशयोरपि विप्रकर्षो विरोधाद्वा हेत्वभावाद्वा। पूर्वोक्तादेव न प्रथमः; द्वितीयस्तु पटकुङ्कुमयोरिव स्यात्। यदि कुङ्कुमसमागमादर्वागिव प्रध्वंसकसंसर्गादर्वागेव पटो विनश्येत्।

यथा हि विनाशकारणं विना न विनाशः, तथा यदि कुङ्कुमसमागमं विना न विनाशः पटस्येति स्यात्, कस्तयोः संसर्गं वारयेत्? तस्मादविरुद्धयोरसंसर्गः कालविप्रकर्षनियमेन व्याप्तः, स चाऽतो निवर्तमानः स्वव्याप्यमुपादाय निवर्तेत इति प्रतिबन्धसिद्धिः।

दोनों स्वभावतः विरुद्ध नहीं हैं)। अविरुद्ध दो वस्तुओं की असंनिधि या तो 'देशविप्रकर्ष' अर्थात् दोनों के विभिन्न दो दूर देशों में रहने के कारण हो सकता है? जैसे कि हिमालयपर्वत एवं विन्ध्याचलपर्वत इन दोनों में असंनिधान है। इन दोनों देशों में परस्पर विप्रकृष्टता अथवा दूरत्व भी दोनों देशों के विरोध से हो सकती है? अथवा दोनों देशों के सान्निध्य के कारणों के अभाव से ही हो सकती है। इन में पहिला पक्ष तो इस लिये असंगत है कि 'उत्पत्तिमत्त्व एवं नित्यत्व की परस्पर असंनिधि स्वभावविरोध के कारण ही होती है' यह पहिले कहा जा चुका है। कारणों के अभाव से देशों की वह विप्रकृष्टता पट और कंकुम की विप्रकृष्टता की तरह होगी। यह तभी संभव हो सकता है कि यदि किसी पटव्यक्ति और कुंकुम इन दोनों में असामानाधिकरण्य की तरह किसी उत्पत्तिशील वस्तु के साथ विनाशकारणों का भी असमानाधिकरण्य देखा जाता। किन्तु ऐसा संभव नहीं है।

(यदि ऐसा संभव हो तो फिर) जिस प्रकार यह कहना संभव है कि विनाश के कारण जबतक एकत्र न हों तब तक विनाश नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह कहना भी संभव होगा कि कुङ्कुम के संनिधान के कारणों के बिना पट का विनाश संभव नहीं है। किन्तु ऐसा कहना असंभव है, अतः उत्पत्तिमत्त्व एवं अनित्यत्व इन दोनों के व्याप्ति रूप सम्बन्ध का निषेध कौन कर सकता है? 'तस्मात्' यह अव्यभिचरित नियम है कि अविरुद्ध दो वस्तु परस्पर असम्बद्ध तभी होते हैं जब कि दोनों (हिम और विन्ध्य की तरह) परस्पर दूर के दो देशों में विद्यमान हों, अतः अविरुद्ध दो पदार्थों का 'असम्बन्ध' कथित (कालविप्रकर्ष) के साथ 'व्याप्ति' स्वरूप सम्बन्ध से युक्त है। इसलिये व्यापकीभूत वह 'कालविप्रकर्ष' जब उत्पत्तिकारणों से निवृत्त होगा, तो अपने साथ अपने व्याप्य 'असंसर्ग' को भी निवृत्त करता जायगा। अतः शब्द में अनित्यत्व के साधक उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु में अनित्यत्व की व्याप्ति अनुपपन्न नहीं है।

स्यादेतत् । यद्येवमस्थिरः शब्दः कथमर्थेन संगतिरस्योपलभ्यत इति **चेत् ? यथैवाऽर्थस्याऽस्थिरस्य तेन ।** जातिरेव पदार्थः, न व्यक्तिरिति चेन्न; शब्दात्तद-लाभप्रसङ्गात् ।

पू० प० स्यादेतत् ··· ··· ··· यद्येवमस्थिरः शब्द ··· ··· ···

यदि शब्द को नित्य नहीं मानेंगे तो शब्द से बोध ही उत्पन्न नहीं होगा । शक्तिज्ञान के साहाय्य से ही शब्द शाब्दबोध का उत्पादन करता है । जिस 'गो' शब्द की शक्ति गोरूप अर्थ में गृहीत हुई थी, वह गो शब्द अगर अभी के गो शब्द से सर्वथा भिन्न हो तो फिर अभी के गो शब्द से गोरूप अर्थ का बोध नहीं होगा । क्योंकि जिस शब्द की शक्ति गोरूप अर्थ में गृहीत है, वह गो शब्द बहुत पहिले ही विनष्ट हो चुका है । अभी का गो शब्द न कभी पहिले सुना गया था, न उसकी शक्ति ही कहीं गृहीत है । अतः शाब्दबोध की इस अनुपपत्ति से यह मानना होगा कि जिस गो शब्द की शक्ति पहिले गृहीत हुई थी, उससे यह अभी सुना जानेवाला गो शब्द सर्वथा अभिन्न है । सुतराम् पहिले के जिस गो शब्द में पहिले शक्ति गृहीत है, उस से सर्वथा अभिन्न एवं अभी तक ज्ञात होनेवाले इस गो शब्द से शाब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं होगी । यह बार बार लिखा जा चुका है कि पहिले के शब्द और बाद के शब्दों के अभेद का पर्यवसान शब्द के नित्यत्व में ही होता है । अतः शब्द नित्य है ।

सि० प० यथैवार्थस्य ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार मीमांसकों के मत में (शब्द को नित्य मानने पर भी) घटादि अर्थों को अनित्य मानने पर शब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार हम लोगों (नैयायिकों) के मत से भी शब्द और घटादि अर्थ इन दोनों ही को[1] अनित्य मानने पर भी शब्दबोध की कोई अनुपपत्ति नहीं होगी ।

पू० प० जातिरेव ··· ··· ··· ···

पद की शक्ति जाति में ही मानते हैं, व्यक्तियों में नहीं ।

सि० प० न शब्दात् ··· ··· ··· ···

ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि गो प्रभृति पदों से बिना लक्षणा वृत्ति के ही गवादि अर्थों का बोध सभी स्वीकार करते हैं । यह भी सभी मानते हैं कि शाब्दबोध में शब्द से

---

1. शब्द को नित्य माननेवाले मीमांसक भी घटादि अर्थों को अनित्य ही मानते हैं । किन्तु नित्य घटपद की शक्ति जिस घट रूप अर्थ में पहिले गृहीत थी, उसके विनष्ट हो जाने के बाद भी दूसरे घट का बोध उसी घटपद से जिस प्रकार वे भी स्वीकार करते हैं । अर्थात् सभी घटों में घटपद की एक ही शक्ति को मान कर अगर उक्त शाब्दबोध उपपन्न हो सकता है, तो फिर सभी घटपदों में सभी घटों को समझाने की एक ही शक्ति को स्वीकार कर लेने पर भी उक्त शाब्दबोध की उपपत्ति हो सकती है । इसके लिये शब्द को नित्य मानने की आवश्यकता नहीं है ।

आक्षेपत इति चेत् ? कः खल्वयमाक्षेपो नाम ?

न तावदनुमानम्, अनन्ताभिः सह सङ्गतिवदविनाभावस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्, शक्यत्वे वा सङ्गतेरपि तथैव सुग्रहत्वात् ।

'वृत्ति' के द्वारा अनुपस्थित अर्थ भासित नहीं होते । अतः गो प्रभृति अर्थों में यदि गोपद की शक्ति को स्वीकार नहीं करेंगे तो गो प्रभृति पदों से गो प्रभृति अर्थों का शाब्दबोध नहीं हो सकेगा । अतः व्यक्ति में भी शब्द की शक्ति को स्वीकार करना होगा ।

पू० प० आक्षेपत इति ... ...

शाब्दबोध में व्यक्ति का भान 'आक्षेप' से होगा । (इस के लिये 'व्यक्ति' में शक्ति मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि जिन अर्थों की उपस्थिति शब्दों से नहीं होती है, ऐसे कुछ विशेष अर्थ भी शाब्दबोध में विषय होते हैं) ।

सि० प० कः खल्वयम् ... ... सुग्रहत्वात्

यह 'आक्षेप' कौन सी वस्तु है ? आक्षेप अनुमान रूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि इस स्थिति में 'आक्षेप से व्यक्ति के बोध' का अर्थ होगा 'अनुमान से व्यक्ति का बोध' । अर्थात् जाति[1] में शक्ति से युक्त पद से जब व्यक्ति का बोध नियम पूर्वक होता है, तब पद रूप शब्द

---

1. जाति-शक्तिवादी मीमांसकों का कहना है कि आनयनादि व्यवहार ही यद्यपि शक्ति के प्रधान ग्राहक हैं, तदनुसार घटादि व्यक्तियों में ही घटादि पदों की शक्ति को मानना आपाततः उचित जान पड़ता है, फिर भी व्यक्तियों में शक्ति को स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में यह विकल्प उपस्थित होता है कि घट की शक्ति कुछ ही घटादि व्यक्तियों में है ? या सभी घटादि व्यक्तियों में ? इन में से अगर पहिला पक्ष स्वीकार करें (यदि घटादि कुछ ही व्यक्तियों में घटादि पदों की शक्ति है, यह स्वीकार करें) तो यह भी मानना पड़ेगा कि शक्ति के आश्रयीभूत घटादि व्यक्तियों के विनष्ट हो जाने पर उनमें रहनेवाली शक्तियों का भी विनाश हो जाता है । किन्तु ऐसा मानने पर शक्ति और शाब्दबोध इन दोनों में जो कार्यकारणभाव है, उसमें व्यभिचार होगा, क्योंकि शक्ति के विनष्ट हो जाने पर, अर्थात् शक्ति के न रहने पर भी घटादि पदों से शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है । फलतः यह मानना होगा कि शक्ति के न रहने पर भी शाब्दबोध होता है । किन्तु जिसके न रहने पर भी जिसकी उत्पत्ति संभव हो वह उसका कारण नहीं हो सकता । अतः घटादि कुछ व्यक्तियों में घटादि पदों की शक्ति नहीं मानी जा सकती । उक्त व्यभिचार को हटाने के लिये अगर घटादि सभी व्यक्तियों में शक्ति मानेंगे तो अनन्त शक्तियों को स्वीकार करना होगा । एवं (इस पक्ष में) 'गां ददाति' इत्यादि वाक्य अप्रमाण हो जायँगे, क्योंकि गोपद के अर्थ सभी गो व्यक्तियाँ होंगी । सभी गायों को दान करने की सामर्थ्य (कर्तृत्व) किसी एक व्यक्ति में संभव ही नहीं है । अतः जैसे कि 'वह्निना सिञ्चति' इस प्रकार के वाक्य असंभूत विषयों

व्यक्तिमात्ररूपेणाविनाभाव इति चेन्न; व्यक्तित्वस्य सामान्यस्याऽभावात्, भावे वा तदाक्षेपेऽपि विशेषानाक्षेपात्। वाच्यत्वमपि वा तथैवास्तु, किमाक्षेपेण? सङ्गतेरविरोधादिति।

और व्यक्ति रूप अर्थ इन दोनों में (वह्नि और धूम की तरह) नियत सम्बन्ध मानना होगा। इस नियत सम्बन्ध रूप व्याप्ति के बल से पद के द्वारा व्यक्ति का अनुमिति रूप बोध ही हो सकता है। किन्तु उक्त व्याप्ति का ज्ञान ही संभव नहीं है। चूँकि व्यक्ति रूप अर्थ असंख्य हैं, उनके साथ पद की व्याप्ति कैसे गृहीत हो सकती है? अगर उन असंख्य व्यक्तियों में पद की व्याप्ति गृहीत हो सकती है, तो फिर उन्हीं असंख्य व्यक्तियों में पद की शक्ति भी गृहीत हो सकती है। ऐसा होने पर पद से व्यक्ति का जो बोध होगा, उसे शाब्दबोध मान लेना ही उचित है, क्योंकि पद से उत्पन्न एक ही बोध को जात्यंश में शाब्दबोध रूप और व्यक्तिवाले अंश को अनुमिति रूप (यह अर्धजरती—) मानना उचित नहीं है।

पू० प० व्यक्तिमात्ररूपेण ··· ··· ··· ···

व्यक्तियाँ अनन्त हैं, अतः तत्तद्व्यक्तित्व रूप से प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्ति का ग्रहण यद्यपि संभव नहीं है, फिर भी सभी व्यक्तियों में रहनेवाला 'व्यक्तित्व' नाम का जो एक धर्म है, उस रूप से सभी व्यक्तियों में पद की व्याप्ति गृहीत हो सकती है। अतः अनुमान रूप आक्षेप से ही व्यक्ति का भान हो जाने के कारण व्यक्ति में पदों की शक्ति को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

सि० प० व्यक्तित्वस्य सामान्यस्य ··· ··· ··· ···

सभी व्यक्तियों में रहनेवाला 'व्यक्तित्व' नाम का कोई धर्म है ही नहीं। अगर इस प्रकार का कोई धर्म मान भी लिया जाय, तथापि आक्षेप से उस धर्म का ही बोध होगा, किसी विशेष व्यक्ति का नहीं। शाब्दबोध में विशेष व्यक्ति ही भासित होता है। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार असंख्य व्यक्तियों में व्याप्ति का ज्ञान संभव है, उसी प्रकार शक्ति का ज्ञान भी तो संभव है। अतः शक्ति से ही जब व्यक्ति का भी बोध संभव है तो उसके लिये अनुमान रूप आक्षेप का सहारा लेना उचित नहीं है। सुतराम् केवल जाति में ही पद की शक्ति नहीं मानी जा सकती।

का प्रतिपादक होने से अयोग्य होने के कारण अप्रमाण हो जाते हैं। उसी प्रकार 'गां ददाति' इत्यादि प्रमाण माने जानेवाले वाक्य भी अप्रमाण हो जायेंगे। अतः सभी व्यक्तियों में भी शक्ति नहीं मानी जा सकती। व्यक्ति में शक्ति माननेवाला पक्ष चूँकि उक्त दो ही प्रकार से संभव है, अतः उन दोनों के खण्डित हो जाने पर 'व्यक्तिशक्तिपक्ष' ही खण्डित हो जाता है। सुतराम् गोत्वादि जातियों में ही गो प्रभृति पदों की शक्ति मानना उचित है।

अर्थापत्तिराक्षेप इति चेन्न; व्यक्त्या विना किमनुपपन्नम्? जातिरिति चेन्न; तन्नाशानुत्पाददशायामपि सत्त्वात्। तथापि न व्यक्तिमात्रं विनेति चेन्न;

पू० प० अर्थापत्तिः ·· ··· ··· ···

अर्थापत्ति ही 'आक्षेप' है।[1]

सि० प० व्यवस्था विना ··· ··· ··· ···

(१ सौ वर्षों तक जीने वाले देवदत्त का घर में न रहना जब तक उसका बाहर रहना सिद्ध न हो जाय तबतक सिद्ध नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से देवदत्त के बाहर रहने की उपपत्ति होती है। प्रकृत में) व्यक्ति के विना किस की अनुपपत्ति है, जिसकी उपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाण से होगी ?

पू० प० जातिः ··· ··· ··· ···

व्यक्ति के विना जाति अनुपपन्न है, अतः प्रकृत में अर्थापत्ति प्रमाण से व्यक्ति की उपपत्ति होगी।

सि० प० तन्नाशानुत्पाददशायामपि ··· ··· ··· ···

व्यक्ति के विना जाति अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की उत्पत्ति से पहिले और व्यक्ति के नाश के बाद भी जाति की सत्ता बनी रहती है। जिसके विना जो नहीं रह सके, वही उसके विना अनुपपन्न होता है। अगर व्यक्ति के न रहने की स्थिति में भी जाति रह सकती है, तो उसे व्यक्ति के विना अनुपपन्न नहीं कहा जा सकता।

पू० प० तथापि न व्यक्तिमात्रं विना ··· ··· ··· ···

यद्यपि यह ठीक है कि एक व्यक्ति की उत्पत्ति से पहिले और एक व्यक्ति के विनष्ट हो जाने पर भी दूसरी व्यक्ति में जाति की सत्ता बनी रहती है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि 'व्यक्तिमात्र' का सम्बन्ध जाति में बना रहता है, अर्थात् जाति में किसी न किसी व्यक्ति का सम्बन्ध सदा बना रहता है, वह कभी भङ्ग नहीं होता, चूँकि जाति नियमतः किसी व्यक्ति में सदा अवश्य ही आश्रित रहती है, इसलिये पक्षधर्मता के बल से व्यक्ति का भान हो सकता है।

---

१. कुछ मीमांसकों का कहना है कि जिस 'आक्षेप' की चर्चा हो रही है, वह 'अर्थापत्ति' प्रमाण रूप है। अर्थात् चूँकि व्यक्तिबोध के विना जाति का बोध नहीं हो सकता, अतः केवल जाति में ही शक्ति के रहने पर भी व्यक्ति का बोध होता है। इसी 'अर्थापत्ति' का खण्डन 'व्यवस्था विना' इत्यादि सन्दर्भ से आचार्य ने किया है।

मात्रार्थाभावात्। व्यक्तिज्ञानमन्तरेण जातिज्ञानमनुपपन्नमिति चेन्न। तदभावेऽप्युत्पादात्। व्यक्तिविषयत्वं विना जातिविषयता तस्यानुपपन्नेति चेन्न;

सि० प० मात्रार्थाभावात् ··· ··· ··· ···

पूर्वपक्ष ग्रन्थ में जो 'मात्र' शब्द है उसका अर्थ है 'अशेषत्व', वह प्रकृत में संघटित नहीं होता[1]।

पू० प० व्यक्तिज्ञानमन्तरेण ··· ·· ··· ···

'व्यक्तिज्ञान के विना जाति का ज्ञान नहीं होता' प्रकृत में अर्थापत्ति का मूल जातिज्ञान की यह अनुपपत्ति ही है। इस अनुपत्ति से ही व्यक्तिज्ञान का आक्षेप होता है।

सि० प० तदभावेऽपि ··· ··· ··· ···

व्यक्तिज्ञान के न रहने पर भी जाति का ज्ञान होता है। अगर ऐसा न मानें तो जाति के पहिले नियमतः व्यक्ति का ज्ञान मानना होगा। फिर व्यक्तिज्ञान के लिये आक्षेप की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी।

पू० प० व्यक्तिविषयत्वं विना··· ··· ··· ···

जब तक व्यक्ति में ज्ञान की विषयता नहीं आवेगी, तब तक जाति में ज्ञान की विषयता नहीं आ सकती। जाति में ज्ञानविषयता की यह अनुपपत्ति ही अर्थापत्ति है। व्यक्ति जाति के ज्ञान से स्वयं अपने ज्ञानविषयत्व का आक्षेप करती हुई स्वयं भी आक्षिप्त होती है।

---

१. अर्थात् 'मात्र' शब्द जिस शब्द के साथ प्रयुक्त रहता है, उस पद से जहाँ जितने भी व्यक्तियों का बोध संभव है, उन सभी अर्थों को 'मात्र' शब्द के अर्थ 'अशेष' शब्द से समझा जाता है। फलतः 'अशेष' शब्द स्वसमभिव्याहृत पद से जितने भी बोध्य अर्थ व्यक्तियाँ हैं, उन सबों में रहने वाला जो तत्तद्व्यक्तित्वादि असाधारण धर्म हैं, तत्तद्धर्मावच्छिन्न का बोधक है। तदनुसार प्रकृत 'व्यक्तिमात्र' शब्द से कथित सभी व्यक्तियों में रहने वाला जो 'व्यक्तित्व' धर्म है, उस धर्म से युक्त सभी व्यक्तियाँ ही अभिप्रेत होंगी। किन्तु पहिले कह आये हैं कि सभी व्यक्तियों में रहने वाला 'तद्व्यक्तित्व' नाम का कोई धर्म नहीं है। अतः उक्त 'मात्र' शब्द का अर्थ प्रकृत में संघटित नहीं होता। अगर 'व्यक्तित्व' नाम के किसी सामान्य (जाति) या धर्म की सत्ता मानें तो फिर जिस प्रकार उस व्यक्तित्वावच्छेदेन अनुपपत्ति का ज्ञान सम्भव होगा, उसी प्रकार अनन्तव्यक्तियों में रहनेवाले उस तत्तद्व्यक्तित्व के आश्रयीभूत असंख्य व्यक्तियों में शक्ति का ज्ञान भी सम्भव होगा।

एवं तह्य कज्ञानगोचरतायां किमनुपपन्नं किं प्रतिपादयेदिति। जातीनामन्वयानुपपत्त्या व्यक्तिरवसीयत इति चेन्न; परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

सि० प० एवं तर्हि··· ··· ··· ···

व्यक्ति विषयता के बिना जाति विषयता की यह अनुपपत्ति तभी ठीक हो सकती है, अगर जाति और व्यक्ति दोनों ही नियमतः एक ही ज्ञान में भासित होते हों। किन्तु यह होता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति ज्ञान के बिना भी जातिज्ञान की बात अभी-अभी कही जा चुकी है। अगर जाति और व्यक्ति दोनों का नियमतः साथ ही भान स्वीकार भी कर लें, तथापि जातिविषयता से व्यक्तिविषयता का आक्षेप नहीं हो सकता। क्योंकि जाति और व्यक्ति दोनों जब एक ही ज्ञान में नियमतः भासित होते हैं तो कौन भासक होगा ? और कौन भास्य होगा ? इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और जाति दोनों ही समान रूप से ज्ञात हैं, तो फिर दोनों ही दोनो के भासक होंगे या कोई भी किसी का भासक नहीं होगा। अतः इस रीति से भी आक्षेप के द्वारा व्यक्ति का भान नहीं हो सकता।[1]

पू० प० जातीनाम्··· ··· ··· ···

शक्ति के द्वारा उपस्थित जाति का अन्वय चूँकि क्रिया में अनुपपन्न है, अतः इस 'अन्वयानुपपत्ति' के द्वारा व्यक्ति का भान लक्षणा से होता है, शक्ति से नहीं।[2]

सि० प० परस्पराश्रयप्रसङ्गात्··· ··· ··· ···

उक्त पक्ष को स्वीकार करने में 'अन्योन्याश्रय' दोष की आपत्ति होगी, क्योंकि पद से अभिधा वृत्ति के द्वारा जाति का ज्ञान होने पर लक्षणा वृत्ति से व्यक्ति का बोध होगा।

---

१. केवल जाति में शक्ति मानने के पक्ष में और 'आक्षेप' के द्वारा शाब्दबोध में व्यक्ति का भान मानने के पक्ष में वर्द्धमान ने और भी अनेक असमाधेय दोषों का प्रतिपादन किया है।

२. मण्डनमिश्र का मत है कि–'गामानय' इस स्थल में गो पद के अभिधेयार्थ गोत्व जाति में आनयन क्रिया का अन्वय बाधित है। अतः व्यक्ति में उसके अन्वय के लिये व्यक्ति का भान शाब्दबोध में आवश्यक होता है। अन्वय की इस अनुपपत्ति से शाब्दबोध में जिसका भान होता है, उसकी उपस्थिति के लिये लक्षणा वृत्ति की आवश्यकता को सभी मानते हैं। अतः प्रकृत में भी गो व्यक्ति की उपस्थिति लक्षणा वृत्ति से ही मानेंगे। एवं उक्त रीति से उपस्थित गो व्यक्ति में ही आनयन का अन्वय स्वीकार करेंगे। 'गोर्वाहीकः' इत्यादि स्थलों में लक्षणा वृत्ति से गोपद का प्रयोग सर्व स्वीकृत है। तस्मात् एक ही गोपद से अभिधावृत्ति के द्वारा गोत्व जाति का और लक्षणा वृत्ति के द्वारा गो व्यक्ति का बोध हो सकता है। इसके लिये व्यक्ति में अभिधा वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

स्यादेतत् । प्रतिबन्धं विनाऽपि पक्षधर्मताबलाद् यथा लिङ्ग विशेषे पर्यवस्यति, तथा सङ्गति विनाऽपि शब्दः शक्तिविशेषाद्विशेषे पर्यवस्यति । स एवाक्षेप इत्युच्यत इति चेत्, न; तावत्प्रतीतिः क्रमेण, अपेक्षणीयाभावेन विरम्य व्यापारायोगात् ।

किन्तु व्यक्तिज्ञान के बिना जाति का ज्ञान संभव ही नहीं है, अतः जब व्यक्ति का ज्ञान होगा उसके बाद ही जाति का ज्ञान होगा।[1]

पू० प० ··· ··· स्यादेतत् प्रतिबन्धम्··· ··· ··· ···

जिस प्रकार हेतु में विशेष रूप से व्याप्तिज्ञान के न रहने पर भी पक्षधर्मता के बल से हेतु साध्यविशेष का ही अनुमापक होता है, उसी प्रकार शब्द की शक्ति व्यक्ति स्वरूप 'विशेष' में न रहने पर भी व्यक्तिविशेष में पर्यवसन्न हो सकता है।[2]

सि० प० न तावत् ··· ··· ··· ···

जाति और व्यक्ति इन दोनों की प्रतीति एक ही समय साथ-साथ होती है, या क्रमशः होती है ? इन दोनों में से 'क्रमशः होती है' यह दूसरा पक्ष तो उत्पन्न हो नहीं सकता, क्योंकि क्रमशः उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। जाति के शाब्दबोध के लिये जाति में पद की शक्ति का ज्ञान अपेक्षित है। एवं व्यक्ति के शाब्दबोध में व्यक्तिनिष्ठ पद

---

१. इस प्रसङ्ग में भी वर्द्धमान ने अनेक अकाट्य युक्तियाँ दी हैं।

२. अर्थात् पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान न रहने पर भी धूमसामान्य में गृहीत वह्नि सामान्य की व्याप्ति से ही पर्वतीयधूम के व्यापक पर्वतीयवह्नि की अनुमिति होती है। यदि उक्त व्याप्तिविशिष्ट धूम का ज्ञान पर्वत रूप पक्ष में रहता है। पक्षधर्मता ज्ञान के बल से जिस प्रकार पर्वतीयवह्नि की व्याप्ति से युक्त होकर अज्ञात धूम भी पर्वतीयवह्नि रूप विशेष का अनुमापक होता है' उसी प्रकार जाति में शक्ति युक्त रूप से ज्ञात पद भी व्यक्तिविशेष के शाब्दबोध का उत्पादन कर सकता है। इसके लिये व्यक्ति में अलग से शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् जाति में शक्ति युक्त रूप से ज्ञात पद ही पहिले जाति विषयक शाब्दबोध को उत्पन्न करेगा। फिर उस शक्ति से स्वरूपतः (शक्ति ज्ञान के बिना ही) व्यक्ति विषयक शाब्दबोध को उत्पन्न करेगा। फलतः जाति में ही रहनेवाली पद की एक ही शक्ति ज्ञात होकर जाति की बोधिका है और अज्ञात होकर स्वरूपतः व्यक्ति की बोधिका है। इस रीति से व्यक्ति का बोध ही व्यक्ति का आक्षेप है। कहने का तात्पर्य है कि पद की शक्ति जाति और व्यक्ति दोनों में ही है। अन्तर इतना ही है कि उस शक्ति का ज्ञान जाति विषयक शाब्दबोध को उत्पन्न करता है। किन्तु व्यक्ति विषयक शाब्दबोध को वह शक्ति ही उत्पन्न कर देती है। इसके लिये शक्ति को अपने ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है।

जातिप्रत्यायनमपेक्षत इति चेत्; कृतं तर्हि शब्दशक्तिकल्पनया? तावतैव तत्सिद्धेः। श्रोमिति चेन्न; व्यक्त्यनालम्बनाया जातिप्रतीतेरसम्भवादित्युक्तत्वात्, प्रमाणान्तरापातप्रसङ्गाच्च। स्मरणं तदित्ययमदोष इति चेन्न; अननुभूतानन्वय-प्रसङ्गात्।

की शक्ति की आवश्यकता है। इस स्थिति में जिस समय जाति का शाब्दबोध होगा, उसी समय व्यक्ति विषयक शाब्दबोध के उत्पन्न होने में भी कोई बाधा नहीं होगी। एवं व्यक्ति विषयक शाब्दबोध के लिये किसी ऐसे दूसरे कारण की भी अपेक्षा नहीं है, जिसका संबलन जातिबिषयक शाब्दबोध से पहिले न हो सके, और जिस से व्यक्तिविषयक शाब्दबोध की उत्पत्ति कालान्तर में मानना पड़े। अतः यह स्वीकार करना होगा कि जाति और व्यक्ति दोनों का शाब्दबोध क्रमशः नहीं होता।

पू० प० जातिप्रत्यायनम् ··· ··· ··· ···

जाति का ज्ञान व्यक्ति के ज्ञान का कारण है। अतः जातिज्ञान से पहिले व्यक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः जातिज्ञान के बाद ही व्यक्ति का ज्ञान होता है। (इसलिये 'पहिले जाति का ज्ञान उसके बाद व्यक्ति का ज्ञान' इस प्रकार दोनों ज्ञान क्रमशः उत्पन्न हो सकते हैं)।

सि० प० कृतं तर्हि ··· ··· ··· ···

अगर जाति के ज्ञान से ही व्यक्ति का ज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो फिर व्यक्ति में पद की शक्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है? अगर व्यक्ति में पद की शक्ति न मानने के पक्ष में आप अपनी सम्मति दें तो इस प्रसङ्ग में दो बातें कहनी हैं—(१) एक तो जाति की ऐसी कोई प्रतीति हो ही नहीं सकती जिसमें व्यक्ति भासित न होती हो। (२) दूसरी बात यह है कि जातिविषयक शाब्दबोध रूप करण से अगर व्यक्तिविषयक प्रमाज्ञान की उत्पत्ति मानेंगे तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह 'जातिज्ञान' नाम का एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार करना होगा। अतः जाति की प्रतीति से व्यक्ति की प्रतीति की उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती।

पू० प० स्मरणं तत् ··· ··· ··· ···

प्रकृत में व्यक्ति के जिस बोध की चर्चा की गयी है वह अनुभव रूप नहीं, किन्तु स्मरण रूप बोध है। यथार्थ अनुभव के करण को ही प्रमाण कहते हैं। सुतराम् जातिविषयक शाब्दबोध चूँकि व्यक्ति की स्मृति का करण है, अनुभव का नहीं, अतः उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।

सि० प० अननुभूतानन्वय ··· ··· ··· ···

पहिले अनुभव के द्वारा ज्ञात विषय की ही स्मृति होती है। अगर व्यक्तिविषयक सभी शाब्दबोध स्मृति रूप ही हों तो फिर 'गामानय' इत्यादि वाक्यों से पहिले अनुभव के

अस्त्वेकैव प्रतीतिरिति चेत्? कृतं तर्हि शक्तिभेद कल्पनया? एवञ्च यथा सामान्यविषया शक्तिरेकैव तद्वति पर्यवस्यति, तथा सामान्याश्रया सङ्गतिस्तद्वति पर्यवस्येदिति। न च नित्या अपि वर्णाः स्वरानुपूर्व्यादिहीनाः पदार्थैः सङ्गम्यन्ते।

द्वारा सर्वथा अज्ञात गोविषयक शाब्दबोध की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सभी व्यक्ति-विषयक शाब्दबोधों को स्मृति रूप नहीं माना जा सकता।

पू० प० अस्त्वेकैव ··· ··· ··· ···

जाति एवं व्यक्ति इन दोनों विषयों का एक ही शाब्दबोध रूप प्रतीति मान लेंगे।

एवं च यथा सामान्यविषया ··· ··· ··· ···

इस प्रकार जैसे कि (मीमांसकों के मत से) गोत्वादि जातियों में ही रहनेवाली गोपदादि की वाच्यत्व शक्तियाँ ही गो प्रभृति व्यक्ति रूप विशेष में विश्रान्त होती हैं (इसके लिये व्यक्तियों में अतिरिक्त शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं होती है) उसी प्रकार शब्दत्व रूप सामान्य में जो वाचकत्व रूप शक्ति है, वही अस्थिर एवं अनित्य पटादि पदों में भी वाचकत्व के व्यवहार को उपपन्न करेगी। इसके लिये पटादि पदों में पटत्वादि जातियों की वाचकता रूप अतिरिक्त शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।[1]

सि० प० न च नित्या अपि ··· ··· ··· ···

मीमांसकगण भी वर्ण रूप शब्द को ही नित्य मानते हैं, पद रूप शब्द को नहीं। विशेष प्रकार के स्वर एवं विशेष प्रकार की आनुपूर्वी से युक्त वर्ण ही 'पद' कहलाते हैं। वर्णों में जो आनुपूर्वी और स्वर हैं, वे दोनों कभी भी नित्य नहीं हो सकतीं। एक ही पद की शक्ति अलग अलग मानेंगे। किन्तु उन दोनों शक्तियों से एक ही शाब्दबोध उत्पन्न होगा, जिसमें जाति और व्यक्ति ये दोनों ही विषय होंगे। (फलतः नैयायिकों की तरह जाति और व्यक्ति दोनों में एक ही शक्ति को नहीं मानेंगे)।

सि० प० कृतं तर्हि ··· ··· ··· ···

अगर एक ही पद से जाति एवं व्यक्ति इन दोनों विषयक एक ही शाब्दबोध मानते हैं, तो फिर जाति एवं व्यक्ति इन दोनों में पद की एक ही शक्ति को क्यों अस्वीकार करते हैं? अगर पद से जाति एवं व्यक्ति इन दोनों का अलग-अलग बोध संभव होता, तो कदाचित् पृथक् शक्ति मानने की आवश्यकता भी होती। किन्तु जब यह संभव नहीं है तो पद की जाति विषयक शक्ति और व्यक्तिविषयक शक्ति इन दोनों में परस्पर भेदकल्पना रूप गौरव ही केवल हाथ आता है। अतः जाति और व्यक्ति इन दोनों में पद की एक ही शक्ति को मानना उचित है।

---

1. **शब्द को अगर नित्य (स्थिर) नहीं मानेंगे तो** अर्थ के साथ उसकी 'सङ्गति' **अर्थात् वाचकत्वशक्ति कैसे उपपन्न होगी? यह** आक्षेप **मीमांसकों ने** 'स्यादेतद् यद्येवमस्थिरः' **इत्यादि सन्दर्भ से किया था।** उसी प्रसङ्ग का उत्तर उपसंहार के व्याज से 'एवं च' **इत्यादि सन्दर्भ से आचार्य ने दिया है।** अर्थात् शक्ति दो प्रकार की है—(१) **अर्थों में रहनेवाली पद के द्वारा ज्ञात होने की** शक्ति; (२) शब्दों में रहनेवाली **अर्थों को ज्ञात कराने की शक्ति। पहिली है** वाच्यत्वरूपा शक्ति, दूसरी है वाचकत्वरूपा **शक्ति।**

न च तद्विशिष्टत्वमपि तेषां नित्यम्। तस्मात्तत्तज्जातीयक्रोडनिविष्टा एव पदार्थाः पदानि च सम्बध्यन्ते नातोऽन्यथेति नैतदनुरोधेनापि शब्दस्य नित्यत्वमाशङ्कनीयमिति। यदा च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनाऽऽनुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपाणां पदानाम्, कुतस्तराञ्च तत्समूहरचनाविशेषस्वभावस्य वाक्यस्य? कुतस्तमां तत्समूहस्य वेदस्य?

परतन्त्रपुरुषपराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव नित्यतां ब्रूम इति चेत्? एतदपि नास्ति।

पदार्थों में उन पदों के शब्द की ही शक्ति गृहीत होती है जो अनित्यस्वर और अनित्य आनुपूर्वी मूलक होने के कारण अनित्य हैं। अतः जिस प्रकार घटादि अनन्त पदार्थों में घटत्वादि जाति रूप से अनुगत एक ही वाच्यत्वरूपा शक्ति मानी जा सकती है, उसी प्रकार पटपदत्वादि रूप से अनन्त पटादि पदों में भी पटादि अनन्त पदार्थों को समझाने वाली एक ही वाचकता रूप शक्ति भी मानी जा सकती है। (इससे अस्थिर शब्दों की शक्ति अर्थों में गृहीत नहीं हो सकती) इसके लिये शब्द को नित्य मानने की आवश्यकता नहीं है।

चूँकि विशेष प्रकारकी आनुपूर्वी और विशेष प्रकार के स्वरादि से युक्त[1] वर्ण ही पद है और पदों का समुदाय ही वाक्य है, एवं विशेष प्रकार के वाक्यों का समूह ही वेद है। अतः वर्ण में अनित्यत्व की सिद्धि हो जाने से पदों में नित्यत्व स्वयं निवृत्त हो जाता है। पदों में नित्यत्व के प्रतिषेध से पदसमूहात्मक वेदों में नित्यत्व की सिद्धि का अवसर सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

पू० प० परतन्त्रपुरुषपराधीनतया ··· ··· ··· ···

वेदों की नित्यता आकाशादि की नित्यता की तरह अनुत्पत्तिशीलता एवं अविनाशिता रूप हम (मीमांसक) लोग भी नहीं कहते। किन्तु वेदों के 'अनवरतप्रवाह' को ही हम लोग वेदों की नित्यता कहते हैं। किसी सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक वेदों का निर्माण नहीं हुआ। अब भी जिनके मुख से वेदों का उच्चारण हुआ है, वह अपने पूर्ववर्त्ती पुरुषों के

दूसरी शक्ति को ही 'संगति' कहते हैं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार जैसे कि मीमांसकों के मत में नित्य शब्द की वाच्यत्व रूप शक्ति के केवल जाति में रहने पर भी घटादि व्यक्तियों में विश्रान्ति होती है, उसी प्रकार शब्द को अनित्य मानने पर भी शब्दत्व के नित्य होने के कारण घटादि पदों की वाचकत्व शक्ति की घटादि अर्थों विश्रान्ति हो सकती है।

1. मूल प्रसंग है वेदों के नित्यत्व का। वेदों में अनित्यत्व की सिद्धि के लिये ही वर्णों के अनित्यत्व का प्रस्ताव नैयायिकों ने किया था। उसी प्रसङ्ग का उपसंहार 'यदा च' यहाँ से लेकर 'तत्समूहस्य वेदस्य' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से किया गया है।

सर्गप्रलयसम्भवात् ॥ १ ॥

अहोरात्रिस्याहोरात्रपूर्वकत्वनियमात् ।

द्वारा वेदों के उच्चारण को सुनकर ही। अत एव वेदों के सभी उच्चारण अपने पूर्ववर्ती उच्चारण करनेवाले पुरुष के अधीन हैं। सुतराम् वेदों के सभी उच्चारण 'परतन्त्रपुरुषाधीन' हैं। किन्तु 'परतन्त्रपुरुषों' के द्वारा भी वेदों का यह प्रचार सभी समयों में था और रहेगा। वेदों की इस प्रकार की सार्वदिक सत्ता ही वेदों का 'प्रवाहाविच्छेद' रूप 'नित्यता' है। वेदों में इस प्रकार की नित्यता की सिद्धि से भी 'वेदकर्त्ता स्वतन्त्र सर्वज्ञ पुरुष' की कल्पना का अवसर नहीं रह जाता। सुतराम् वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती।

सि० प० सर्गप्रलय ··· ··· ··· ···

वेदों की उक्त प्रवाहाविच्छेद रूप नित्यता भी संभव नहीं है।[1] क्योंकि सृष्टि एवं प्रलय का होना निश्चित है, इसलिये प्रलयकाल में वेदों के उच्चारण करनेवाले पुरुषों का भी अत्यन्त विनाश हो जाता है। अतः आगे की सृष्टि में पहिले के वैदिकों द्वारा वेदों का प्रचार संभव नहीं होगा। सुतराम् प्रलय के बाद जो सृष्टि होगी, उस में वेदों के प्रचार की धारा विच्छिन्न हो जायगी। जिससे वेदों में उक्त प्रवाहाविच्छेद रूप नित्यता का भी उपपादन संभव नहीं होगा। इसलिये अगर वेदों को प्रमाण मानना है तो 'सर्वज्ञ ईश्वर' को स्वीकार किये बिना कोई दूसरी गति नहीं है ॥ १ ॥

पू० प० अहोरात्रस्य[2]··· ··· ··· ···

चूंकि 'प्रलय' की संभावना नहीं है, अतः प्रलय के आधार पर कही गयी उक्त बातें ठीक नहीं हैं। प्रलय को स्वीकार न करने की ये पाँच युक्तियां हैं—

(१) आजकल के अहोरात्र (दिनरात) के प्रसङ्ग यह देखा जाता है कि ए· अहोरात्र के पूर्व भी अहोरात्र रहता है। इस दृष्टान्त के बल से यह सिद्ध किया जा सकता है कि कथित प्रलय के बाद का पहिला अहोरात्र भी चूंकि अहोरात्र ही है, अतः उसके पहिले भी अहोरात्र अवश्य था। इस प्रकार अहोरात्र की अविच्छिन्न धारा माननी होगी। सूर्यादि ग्रहों की गतियों से ही अहोरात्र का व्यवहार होता है। अगर सभी समयों में सूर्यादि ग्रहों की सत्ता

---

१. वेदों की इस प्रवाहाविच्छेद रूप नित्यता का खंडन आचार्य ने कारिका के 'सर्गप्रलयसंभवात्' इस दूसरे चरण से आदि में ही सूचित किया है। कारिका के उसी अंश की व्याख्या रूप यह सन्दर्भ है। इसको सूचित करने के लिये ही कथित सिद्धान्त सन्दर्भ के 'कारिका' के उक्त दूसरे चरण का अविकल अनुवाद किया गया है।

२. इससे निष्पन्न अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है:—

विप्रतिपन्नमहोरात्रमव्यवहिताहोरात्रपूर्वकम्, अहोरात्रत्वात् अद्यतनाहोरात्रवत्।

कर्मणां विषमविपाकसमयतया युगपद्वृत्तिनिरोधानुपपत्तेर्वर्णादिव्यवस्थानुपपत्तेः।

सिद्ध हो जाय तो किसी काल को प्रलय कहना संभव नहीं होगा। क्योंकि आप (नैयायिक) लोग उस काल को ही प्रलय कहते हैं, जिसमें कोई उत्पत्तिशील द्रव्य न रहे। जब सभी समयों में अन्ततः सूर्यादि ग्रह रूप द्रव्य हैं ही तो फिर किसी काल को प्रलय कहना कैसे संभव है ?

(२) कर्मणां विषमविपाकतया··· ··· ··· ···

प्रलय के बाद पुनः सृष्टि को माननेवालों की दृष्टि से प्रलय काल में जीवात्मा की सत्ता और उनमें आगे की सृष्टि में भोग को उत्पन्न करने वाले अदृष्टों की सत्ता ये दो बातें माननी ही होगी। इसके अलावा उस (प्रलय) समय तक उन सभी अदृष्टों को अपने कार्य में अक्षम भी मानना होगा। (जिसे अदृष्ट का कुण्ठन कहते हैं)। अदृष्ट में कार्य को उत्पन्न करने की यह अक्षमता ही अदृष्ट की 'वृत्ति' अर्थात् कार्योत्पादनप्रवृत्ति का 'रोध' या 'निरोध' है। किन्तु यह संभव नहीं जान पड़ता कि सभी जीवों के सभी अदृष्ट एक ही समय अपना काम करना छोड़ बैठें। क्योंकि प्रत्येक अदृष्ट अपने नियमित समय में ही फल को उत्पन्न करेंगे। कभी भी 'समसमय' में फल को उत्पन्न नहीं कर सकते। सुतराम् अदृष्टों का 'विपाक' अर्थात् फलोन्मुखता 'विषम' अर्थात् विभिन्न समयों में ही होगी। अतः ऐसा कोई समय संभव नहीं है, जिस में सभी जीवों के सभी अदृष्टों की कार्य करने की शक्ति कुण्ठित हो जाय। सुतराम् उस समय भी किसी जीव का कोई अदृष्ट भोगोन्मुख हो सकता है, जिसे आप 'प्रलय' कहते हैं। ऐसा होने पर उस समय उस भोग के सम्पादन के लिये उपयुक्त शरीर, इन्द्रिय एवं विषयों की भी सत्ता माननी होगी। जिस समय इतनी वस्तुयें विद्यमान हों, उस को 'प्रलय' कैसे कहा जा सकता है ? अतः ऐसा कोई समय नहीं है, जिस में कोई भी जन्य द्रव्य न रहे। सुतराम् जन्य द्रव्यों का अनाश्रय रूप प्रलय नाम का कोई काल नहीं है।[1]

(३) वर्णादिव्यवस्था··· ··· ··· ···

प्रलय को स्वीकार करने में तीसरी बाधा है 'वर्णव्यवस्था' की अनुपपत्ति। क्योंकि ब्राह्मणजाति के माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहा जाता है। प्रलयकाल में सभी वर्णों के मनुष्यों का विनाश हो जायगा, अतः आगे की सृष्टि में वर्णव्यवस्था का कोई नियामक नहीं रह जायगा। किन्तु वर्णव्यवस्था का सर्वथा लोप तो नैयायिक गण भी नहीं मानते। अतः प्रलय को स्वीकार करना संभव नहीं है।[2]

---

1. इस सन्दर्भ के उपपादन से अभीष्ट अनुमान का प्रयोग इस प्राकर है:—
विवादाध्यासितानि कर्माणि न युगपन्निरुद्धवृत्तीनि, विषमविपाकसमयत्वात् इदानीं भुक्तभुज्यमानभोक्ष्यमाणकर्मवत्।

२. विप्रतिपन्नाः ब्राह्मणाः ब्राह्मणसन्तानजन्मानः ब्राह्मणत्वात् आधुनिकब्राह्मणवत्' अनुमान का यही स्वरूप उक्त सन्दर्भ से अभिप्रेत है।

समयानुपलब्धौ शाब्दव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, घटादिसम्प्रदायभङ्गप्रसङ्गाच्च कथमेवमिति चेत् ? उच्यते—

वर्षादिवद्भवोपाधिवृत्तिरोधः सुषुप्तिवत् ।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा मायावत् समयादयः ॥ २ ॥

समयानुपलब्धौ··· ··· ··· ···

अगर प्रलय को स्वीकार करेंगे तो शब्दों से होनेवाले बोध एवं तन्मूलक अनयनादि व्यवहार ये दोनों ही अनुपपन्न हो जांयगे, क्योंकि शाब्दबोध के लिये शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। शक्तिग्रह वृद्धों के व्यवहार से होता है। जिस पुरुष को घट पद की शक्ति का ज्ञान घटादि में रहता है, वह यदि 'घटमानय' इत्यादि आज्ञासूचक वाक्यों का व्यवहार करता है, तो उसके सुननेवाले भृत्य या शिष्य जिन्हें घट में घटपद की शक्ति गृहीत है—घट को ले आते हैं। वहाँ अगर कोई ऐसा तृतीय व्यक्ति खड़ा रहता है जिसको घट में घटपद की शक्ति का ज्ञान नहीं है—वह पुरुष प्रत्यक्ष दृष्ट उस कम्बुग्रीवादिमान् अर्थ में घटपद की शक्ति को समझ लेता है। प्रलय के बाद जो सृष्टि होगी, उसमें कोई ऐसा पुरुष नहीं रहेगा, जिस को घट में घटपद की शक्ति पहिले से गृहीत हो। तो फिर किसके व्यवहार से कौन शक्ति को समझेगा ? अतः प्रलय को स्वीकार करना संभव नहीं है।[1]

५. घटादिसम्प्रदाय··· ··· ··· ···

अगर प्रलय को स्वीकार करेंगे तो घटादि का व्यवहार विछिन्न हो जायेगा। सम्प्रति कुम्हार का बेटा अपने पिता का घट बनाना देखकर घड़ा बनाने लगता। हैप्रलयके बाद जो सृष्टि होगी, उसमें पहिले से घट निर्माण कार्य में पटु कोई पुरुष रहेगा नहीं, फिर उस सृष्टि के लोग किससे घड़ा बनाने का काम सीखेंगे ? इस प्रकार सभी कार्यों की शृंखला ही टूट जायगी। अतः सभी जन्यद्रव्यों के नाश का आश्रय रूप कोई काल स्वीकार नहीं किया जा सकता[2] जिसे प्रलय कहा जाय।

सि० प०··· ··· ··· ···वर्षादिवद्

प्रलय की इस अनुपत्ति के प्रसङ्गमें हमलोग कहते कि :—

सूर्य जिस दिन मिथुन राशि को छोड़ कर कर्क राशि में आते हैं, उस दिन से वर्षा ऋतु का आरम्भ होता है। एवं जब तक सिंह राशि में रहते हैं, तब तक का समय वर्षा ऋतु कहलाता है। वर्षा ऋतु के इन दिनों में सब से पहिला दिन (जिस दिन सूर्य मिथुन राशि को

---

१. विप्रतिपन्नाः शाब्दव्यवहाराः वृद्धव्यवहारपूर्वकाः शाब्दव्यवहारत्वात् अद्यतन शाब्द-व्यवहारवत्।

२. विप्रतिपन्नानि घटादिनिर्माणानि तथाभूतदर्शकज्ञानपूर्वकाणि घटादिनिर्माणत्वादद्यतन-घटादिनिर्माणवत्।

छोड़ कर कर्क राशि में आते हैं) वर्षान्हतुदिनपूर्वक नहीं है। क्योंकि उसके पूर्व के दिन वर्षा ऋतु के नहीं हैं। यद्यपि वर्षा ऋतु के दूसरे दिन से लेकर और सभी दिन (जब तक सूर्य सिंह राशि को छोड़ नहीं देते) वर्षान्हतुदिन पूर्वक हैं, क्योंकि इन सभी दिनों के अव्यवहितपूर्व के दिन अवश्य ही वर्षा ऋतु के होते हैं। वस्तुगति की इस स्थिति पर गर कोई यह अनुमान करे कि 'वर्षा ऋतु के सभी दिन वर्षा ऋतु के होने के कारण अवश्य ही वर्षादिनपूर्वक हैं' तो इस अनुमान का हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होगा। क्योंकि यह हेतु 'वर्षा ऋतु के प्रथमदिनभिन्नत्व' रूप उपाधि से युक्त है। वर्षा ऋतु पूर्व के जितने अभी दिन हैं वे सभी अवश्य ही 'वर्षाप्रथमदिन से भिन्न हैं' एवं वर्षादिनत्व रूप हेतु वर्षा के प्रथम दिन में भी है, किन्तु उसमें वर्षाप्रथमदिनभिन्नत्व रूप कथित उपाधि नहीं है, इस प्रकार वर्षादिनपूर्वकत्व रूप उपाधि साध्य का व्यापक है। एवं वर्षादिनत्व रूप हेतु का अव्यापक भी है। अतः उसके उपाधि होने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार 'अहोरात्रमहोरात्रपूर्वकम्, अहोरात्रत्वाद् अद्यतनाहोरात्रवत्, इस अनुमान का 'अहोरात्रत्व' हेतु उपाधि से युक्त होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि सृष्टि का सबसे पहिला अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक नहीं है। सृष्टि के दूसरे अहोरात्र से लेकर प्रलय के पूर्व के सभी अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक हैं। कथित पहिला अहोरात्र सृष्टि का उत्पत्तिकाल है। आगे के सभी अहोरात्र सृष्टि के स्थिति काल हैं। उत्पत्तिकाल का उक्त पहिला अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक नहीं है। एवं स्थिति काल के उक्त सभी अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक हैं। इस वस्तुगति के अनुसार 'अहोरात्रमहोरात्रपूर्वकम्' इस अनुमान के हेतु में 'भव' अर्थात् स्थितिकालत्व स्वरूप 'भव' उपाधि है। क्योंकि कथित अहोरात्रपूर्वकत्व रूप साध्य स्थितिकाल के सभी अहोरात्रों में है, उन सभी अहोरात्रों में स्थितिकालत्व रूप उपाधि भी है, अतः स्थितिकालत्व उपाधि साध्य का व्यापक भी है। एवं उक्त अनुमान का 'अहोरात्रत्व' हेतु सृष्टि के प्रथम अहोरात्र में भी है, उसमें प्रकृत स्थितिकालत्व रूप उपाधि नहीं है। इस प्रकार प्रकृत स्थितिकालत्व रूप 'भव' में साधन का अव्यापकत्व भी है। इस उपाधि के कारण अहोरात्रत्व हेतु से सभी अहोरात्रों में अहोरात्रपूर्वकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

(२) वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत् ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार विभिन्न समयों में फल देने वाले कुछ जीवों के अदृष्टों की 'वृत्ति' अर्थात् कार्य करने की क्षमता सुषुप्ति समय रूप एक ही काल में प्रतिहद्ध हो जाती है, उसी प्रकार प्रलय

तत्पूर्वंकत्वमात्रे सिद्धसाधनात्, अनन्तरतत्पूर्वंकत्वे अप्रयोजकत्वात्, वर्षादिदिनपूर्वंकतद्दिननियमभंगवदुपपत्तेः राश्यादिविशेषसंसर्गरूपकालोपाधिप्रयुक्तं हि

रूप एक ही काल में सभी जीवों के सभी अदृष्टों की कार्यक्षमता भी अवरुद्ध हो सकती है। अतः इस कथन में भी कुछ सार नहीं है कि "विभिन्न समयों में फल देने वाले विभिन्न जीवों की वृत्तियों का निरोध चूँकि किसी एक समय संभव नहीं है, अतः प्रलय की संभावना नहीं है।"

(३) उद्भिद्वृश्चिक् ··· ··· ··· ···

(जो चौराई का शाक) उद्भिद् पहिले चावल के कणों से उत्पन्न होता है, बाद में उसकी परम्परा उक्त शाक रूप उद्भिद् के बीजों से ही चलती है। अथवा विच्छू की पहिली उत्पत्ति गोबर से होती है, और पीछे उसकी परम्परा विच्छुओं से ही चलती है। उसी प्रकार यह मानने में कोई बाधा नही है कि आदि में ब्राह्मणत्वादि जाति के व्यक्तियों की उत्पत्ति उनके लिये नियमिति विशेष प्रकार के भूतवर्ग से ही होती है, उसके बाद ब्राह्मणत्वादि जातियों के मातापिताओं से ही उनकी उत्पत्ति होती है। अतः प्रलय को स्वीकार करने से वर्णव्यवस्था की अनुपपत्ति भी नहीं है।

(४)मायावत् ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार 'मायावी' (कठपुतलियों को नचाने वाला) के सूत्र में बद्ध कठपुतलियाँ मायावी के कहने पर पटादि वस्तुओं को ले आती हैं, और उस क्रीड़ा को देखनेवाले अव्युत्पन्न बालक मायावी के द्वारा कथित शब्द की शक्ति को कठपुतलियों के द्वारा आनीत वस्तुओं में ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार सृष्टि की आदि में ईश्वर स्वरूप प्रयोज्यवृद्ध (समझने वाला पुरुष) एवं प्रयोजक वृद्ध (समझानेवाला पुरुष) दोनों शरीरों को धारण कर शक्तिग्रहण का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। अतः प्रलय को स्वीकार करने पर 'समय' अर्थात् शब्दों के संङ्केत से होनेवाले व्यवहारों की भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

(इसी प्रकार सृष्टि की आदि में सभी प्रकार की शक्तियों से परिपूर्ण परमेश्वर कुलालादि के शरीरों को धारण कर लोगों को घटादि निर्माण की शिक्षा देते हैं। उसके बाद उस शिक्षित व्यक्ति से घटादि निर्माण में समर्थ व्यक्तियों की परम्परा चलती है। अतः प्रलय को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० तत्पूर्वंकत्वमात्रे ? ··· ··· ··· को दोषः ?

[1](मीमांसकों को) (१) प्रत्येक अहोरात्र से पूर्व कभी न कभी किसी अहोरात्र की सत्ता का साधन इष्ट है ? (२) या यह सिद्ध करना है कि प्रत्येक अहोरात्र से अव्यवहित पूर्व में कभी न कभी अहोरात्र अवश्य रहता है ?)

---

१. 'तत्वपूर्वंकत्वमात्रे' यहाँ से लेकर 'अनवस्थितत्वात्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से आचार्य ने श्लोक के पहिले चरण की व्याख्या की है।

तत्, तदभाव एव व्यावृत्तेः । तथेहापि सर्गानुवृत्तिनिमित्तब्रह्माण्डस्थितिरूपकालोपाधिनिबन्धनत्वात्तस्य, तदभाव एव व्यावृत्तो को दोषः ? ।

अगर सभी अहोरात्रों से पूर्व जिस किसी अहोरात्र की सत्ता को सिद्ध करेंगें तो सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि हम (नैयायिक) लोग भी इस सृष्टि के प्रथम अहोरात्र से पहिले उस से पहिले की सृष्टि के अहोरात्र की सत्ता को स्वीकार ही करते हैं। अगर सभी अहोरात्रों से अव्यवहितपूर्व में अहोरात्र की सत्ता को सिद्ध करना चाहेंगे तो प्रकृत अनुमान का 'अहोरात्रत्व' हेतु 'अप्रयोजक' होगा। अर्थात् कोई भी अहोरात्र केवल अहोरात्र होने के नाते ही अव्यवहित अहोरात्रपूर्वक नहीं होता। 'उस में अहोरात्रत्व है' केवल इस लिये उसे अव्यवहित अहोरात्र पूर्वक नहीं कहा जा सकता। सुतराम् इस प्रसङ्ग के यह कहने का अवकाश रह जाता है कि सृष्टि के प्रथम अहोरात्र में अहोरात्रत्व रूप हेतु भले ही रहे, किन्तु इस से यह नहीं कहा जा सकता उस अहोरात्र से अव्यवहित पूर्व काल में भी अहोरात्र है ही। अर्थात् अहोरात्र में अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्व रूप साध्य है ही। जिस प्रकार वर्षा ऋतु के दूसरे दिन से लेकर शरद ऋतु के प्रथम दिन पर्यन्त के सभी दिन अव्यवहितवर्षादिनपूर्वक हैं (अर्थात् इन सभी दिनों के अव्यवहित पूर्व के दिन वर्षा ऋतु के अवश्य हैं) किन्तु वर्षा ऋतु का ही पहिला दिन 'अव्यवहितवर्षादिनपूर्वक' नहीं है (अर्थात् उस दिन से अव्यवहित पूर्व का दिन वर्षा ऋतु का नहीं है, किन्तु ग्रीष्म ऋतु का है)। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वर्षा ऋतु का कोई भी दिन इस लिये वर्षाऋतुदिनपूर्वक है, चूंकि वह वर्षा ऋतु का है, क्यों कि वर्षा ऋतु का पहिला दिन स्वयं वर्षा ऋतु का होते हुये भी वर्षाऋतुदिनाव्यवहितपूर्वक नहीं है। इस वस्तुगति के अनुसार वर्षाव्यवहितदिनपूर्वत्व का प्रयोजक वर्षादिनत्व को नहीं माना जा सकता। वर्षादिनाव्यवहितपूर्वक वही दिन होगा, जिस के अव्यवहितपूर्व दिन में सूर्य रूप ग्रह कर्क या सिंह इन दोनों राशियों में से किसी एक में रहेंगे वर्षा ऋतु के पहिले दिन के अव्यवहितपूर्व दिन में सूर्य मिथुन राशि में रहते हैं, सिंह या कर्क में नहीं। अतः वर्षा ऋतु का पहिला दिन वर्षा ऋतु का होते हुये भी वर्षा ऋतु दिनाव्यवहितपूर्वक नहीं है। शरद के पहिले दिन से अव्यवहित पूर्वदिन में सूर्य चूँकि सिंहराशि में ही रहते हैं अतः, शरद ऋतु का पहिला दिन वर्षा ऋतु का न होते हुये भी वर्षादिनाव्यवहितपूर्वक अवश्य है। अतः वर्षादिनत्व को वर्षाव्यवहितदिनपूर्वकत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार अहोरात्राव्यवहितपूर्वकत्व का प्रयोजक अहोरात्रत्व नहीं है, किन्तु ब्राह्माण्ड का स्थितिकाल रूप 'भव' ही उसका प्रयोजक है। सृष्टि का पहिला दिन ब्रह्माण्ड का उत्पत्तिकाल है, स्थितिकाल नहीं। अत एव वह अहोरात्राव्यवहित पूर्वक नहीं है।

न च तदनुत्पन्नमनश्वरं वा, अवयवित्वात्। वृत्तिनिरोधस्यापि सुषुप्त्यवस्थावदुपपत्तेः। न ह्यनियतविपाकसमयानि कर्माणीति न तदानीं कृत्स्नान्येव भोगविमुखानि। न ह्यचेतयतः कश्चिद्भोगो नाम, विरोधात्।

कस्तर्हि तदानीं शरीरस्योपयोगः ?। तं प्रति न कश्चित्। तर्हि किमर्थमनु-

---

न च तदनुत्पन्नम्[1] ··· ··· ···

ब्रह्माण्ड चूँकि अवयवी है, अतः इसकी उत्पत्ति और विनाश इन दोनों में से किसी का भी खण्डन नहीं किया जा सकता। अतः अवयवी रूप ब्रह्माण्ड नित्य भी नहीं हो सकता।

वृत्तिरोधस्यापि ··· ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जीवों के शीघ्र फल देने वाले और विलम्ब से फल देने वाले सभी प्रकार के अदृष्ट एक ही समय फल देने से विमुख हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रलय रूप एक ही विशेष काल में वे सभी अदृष्ट फल देने से विमुख हो जाते हैं, जो विभिन्न समयों में फल दे सकते हैं। जिस प्रकार सुषुप्तिकाल में यह नहीं कहा जा सकता कि सोनेवाले पुरुष के सभी अदृष्ट चूँकि विभिन्न समयों में ही फल देने की क्षमता रखते हैं, अतः किसी एक ही समय सभी अदृष्ट फल देने से विमुख नहीं हो सकते। उसी प्रकार प्रलयकाल में भी यह कहना संभव नहीं है कि सभी जीवों के विभिन्न समयों में फल देने वाले सभी अदृष्ट प्रलय रूप एक काल में फल देने में विमुख नहीं हो सकते।

न हि अचेतयतः··· ··· ··· ···

सुख और दुख इन दोनों में से किसी एक के साक्षात्कार को ही 'भोग' कहते हैं। एवं ज्ञान को ही चैतन्य भी कहते हैं। सुषुप्ति है अचैतन्यावस्था, अर्थात् ज्ञानशून्यावस्था, उसमें ज्ञान से अभिन्न उक्त साक्षात्कार रूप भोग की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? तब प्रश्न रहा कि सुषुप्ति समय में जब भोग नहीं हो सकता, तब भोग के आयतन रूप शरीर का उस समय क्या उपयोग ? इसका यह उत्तर हैं कि सोते हुये पुरुष के लिये उस समय कोई उपयोग नहीं। फिर प्रश्न होता है कि तब फिर सुषुप्ति काल में शरीर की अनुवृत्ति क्यों रहती है ? इसका यह उत्तर है कि उत्तर काल में भोग संपादन के लिये ही सुषुप्ति काल में शरीर की अनुवृत्ति बनी रहती है। फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि सुषुप्तिकाल में प्राणवायु की अनुवृत्ति किस लिये रहती है ? वह तो कभी भी भोग का सहायक नहीं होती। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि प्राणवायु भी भोग का सहायक है। क्यों कि प्राणवायु के संचार से जीवों के बाल्ययौवनादि अवस्थाओं का निर्णय होता है।

---

१. किन्तु, ब्रह्माण्ड को अगर नित्य मान लिया जाय' तथापि प्रलय की उपपत्ति नहीं की जा सकती। अतः 'न च' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा ब्रह्माण्ड में अनित्यत्व का साधन किया गया है।

वर्त्तते ? । उत्तरभोगार्थम्, चक्षुरादिवत् । प्राणितिं किमर्थम् ? । श्वासप्रश्वाससन्ताने-नाऽऽयुषोऽवस्थाभेदार्थम्, तेन भोगविशेषसिद्धेः ।

एकस्यैव तत् कथञ्चिदुपपद्यते, न तु विश्वस्येति चेत् ? अनन्ततया, अनियत-विपाकसमयतया, उपमर्द्योपमर्दकस्वभावतया च कर्मणां विश्वस्यैकस्य वा को विशेषो येन तन्न भवेत् ?

भवति च सर्वस्यैव सुष्वापः क्रमेण, न तु युगपदिति चेन्न ।

बाल्ययौवनादि विशेष प्रकार की अवस्थायें भी विशेष प्रकार के भोगों के नियामक हैं। ऐसे बहुत से भोग हैं जो विशेष प्रकार की अवस्थाओं की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार प्राण भी अपने व्यापार के द्वारा भोग का संपादक है। इसलिये सुषुप्ति काल के बाद उन अवस्थाओं में होने वाले विशेष प्रकार के भोगों के संपादन के लिए सुषुप्ति अवस्था में भी प्राण का व्यापार रहता है। अतः सुषुप्ति काल के प्राणव्यापार को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

पू० प० एकस्यैव ··· ··· ···

एक काल में एक व्यक्ति को या कुछ व्यक्तियों को सुषुप्ति हो सकती है। एक ही समय संपूर्ण विश्व को सुषुप्ति भी संभव नहीं है। किसी एक समय किसी एक व्यक्ति के सभी अदृष्टों की कार्यक्षमता कदाचित् अवरुद्ध हो भी सकती है, किन्तु किसी एक समय में विश्व के सभी जीवों के सभी अदृष्टों की कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति अवरुद्ध नहीं हो सकती। अतः सुषुप्ति के दृष्टान्त से विश्व के सभी जीवों के अदृष्टों की वृत्तियों के निरोध का आश्रयीभूत काल स्वरूप 'प्रलय' का समर्थन नहीं किया जा सकता।

सि० प० अनन्ततया··· ··· ··· ···येन तन्न भवेत्

एक ही समय सभी अदृष्टों की कार्यान्विति को इसलिये असंभव कहा गया है कि वे अनन्त हैं, एवं (विषम विपाक समय के हैं) वे विभिन्न समयों में फल देने की सामर्थ्य रखते हैं, एवं परस्पर विरोधी स्वभाव भी रखते हैं। इस स्थिति में एक जीव के सभी अदृष्ट उक्त तीनों धर्मों से युक्त होते हुये भी अगर एक समय में सर्वथा वृत्तिरुद्ध होकर उस जीव के सुषुप्ति का संपादन कर सकते हैं, तो फिर सभी जीवों के सभी अदृष्ट एक ही समय वृत्तिरुद्ध होकर 'प्रलय' का संपादन क्यों नहीं कर सकते ? प्रायः सभी जीव सोते हैं, अतः एक ही समय सभी जीवों के अदृष्टों की वृत्ति का रोध भी असंभव नहीं है।

पू० प० भवति च सर्वस्यैव··· ··· ··· ···

यह ठीक है कि सभी जीवों के लिये सुषुप्ति अवस्था आती है। किन्तु एक ही समय सभी जीवों की सुषुप्ति अवस्था भी तो नहीं आती है। अतः ऐसा कोई भी 'एक सुषुप्तिसमय'

कारणक्रमायत्तत्वात् कार्यक्रमस्य। न च स्वहेतुबलायातैः कारणैः **क्रमेणैव** भवितव्यम्, अनियतत्वादेव, सर्वग्रासवत्, ग्रहाणां ह्यन्यदा समागमानियमेऽपि **तथा** कदाचित्स्यात्। यथा कालाद्यनियमेऽपि सर्वखण्डलोपरागः स्यात्। त्रिदोषसन्निपातद्वा, यथा हि वातपित्तश्लेष्मणां चयप्रकोपप्रशमक्रमाऽनियमेऽपि एकदा सन्निपातः स्यात्तदा देहसंहारः, तथा कालानलपवनमहार्णवानां सन्निपाते ब्रह्माण्डदेहप्रलयावस्थायां युगपदेव भोगरहिताश्चेतनाः स्युरिति को विरोधः?

नहीं है, जिसमें सभी जीवों के अदृष्टों की कार्यक्षमता अवरुद्ध हो जाती हो। (अर्थात् एक जीव या कुछ जीवों के अदृष्टों की वृत्तियाँ एक ही समय निरुद्ध हो सकती हैं। फिर भी यह बात प्रमाणसापेक्ष ही रह जाती है कि 'एक ही समय सभी जीवों के सभी अदृष्टों की कार्यक्षमता अवरुद्ध हो जाती है। सुतराम् 'सुषुप्ति' उपयुक्त दृष्टान्त नहीं है)।

सि० प० कारणक्रमायत्तत्वात् ··· ··· ··· ···

इसका यह उत्तर है कि कुछ कार्य तो एक ही समय उत्पन्न होते हैं, जैसे कि गाय के दोनों सींग। कुछ कार्य क्रमशः उत्पन्न होते हैं जैसे कि घटपटादि। कि वा कुछ घटपटादि कार्य भी युगपत (एक ही समय) उत्पन्न होते हैं। इसका यह निष्कर्ष हुआ कि जिन कार्यों के कारणसमूह (सामग्री) युगपद् एकत्र होते हैं, उन कार्यों की उत्पत्ति युगपत होती है, एवं जिन कार्यों के कारणसमूह क्रमशः एकत्र होते हैं, उन कार्यों की उत्पत्ति क्रमशः होती है। इस वस्तुगति के अनुसार कुछ जीवों के सुषुप्ति रूप अनेक कार्य एक ही समय होते है, एवं कुछ जीवों के सुषुप्ति रूप कार्य क्रमशः उत्पन्न होते हैं। अर्थात् सुषुप्ति के क्रमिकत्व का प्रयोजक है, उसकी सामग्री का (क्रमिकत्व) क्रमशः एकत्र होना। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अनेक कार्य एक समय में (युगपत्) उत्पन्न हो न हों। अतः सभी जीवों के सभी अदृष्टों की वृत्तियों के निरोध की सामग्री अगर एक ही समय संवलित हो सके तो सभी जीवों के सभी अदृष्टों की प्रवृत्तियों का निरोध एक ही समय हो सकता है। इस प्रसङ्ग में (१) सर्वग्रास और (२) त्रिदोषसंनिपात ये दो दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। (१) जिस प्रकार किसी समय ग्रहों के विशेष प्रकार के संनिधान से 'सर्वग्रास' ग्रहण होता है, एवं उक्त संनिधान में कुछ व्यत्यय होने से 'खण्डग्रास' ग्रहण होता है। (२) अथवा जिस प्रकार प्रकोपयुक्त कफ, पित्त और वायु के एक ही समय संवलित होने से देह का संहार रूप मृत्यु संघटित होता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड रूप शरीर का कालानल ही प्रकुपित पित्त है, झंझावात है प्रकुपितवायु, एवं महार्णव है प्रकुपितश्लेष्मा, इन सबों के एक काल में संवलित

तथापि विदेहाः कर्मिण इति दुर्घटमिति चेत् ? किमत्र दुर्घटम् ? भोगनिरोधवच्छरीरेन्द्रियविषयनिमित्तनिरोधादेव तदुपपत्तेः ।

वृश्चिकतण्डुलीयकादिवद्वर्णादिव्यवस्थाऽप्युपपद्यते । यथा हि वृश्चिकपूर्वकत्वेऽपि वृश्चिकस्य गोमयादाद्यः, तण्डुलीयकपूर्वकत्वेपि तण्डुलीयकस्य तण्डुलकणादाद्यः, वह्निपूर्वकत्वेऽपि वह्नेररणेराद्यः, एवं क्षीरदधिघृततैलकदलीकाण्डादयः ।

तथा मानुषपशुगोब्राह्मणपूर्वकत्वेऽपि तेषां प्राथमिकास्तत्तत्कर्मोपनिबद्धभूतभेदहेतुका एव । स एव हेतुः सर्वत्रानुगत इति सर्वेषां तत्सान्तानिकानां समानजातीयत्वमिति किमसंगतम् ? ।

होने से ब्रह्माण्ड स्वरूप देह का नाश रूप प्रलय हो सकता है । उस प्रलय रूप विशेष प्रकार की अवस्था में विशेष कारण वश अगर सभी जीवों की सभी वृत्तियों का निरोध एक ही समय हो जाय, तो इस में कौन सी असङ्गति है ? भोग्य एवं भोग के साधनों के न रहने पर जीवों में अदृष्ट के रहते हुए भी भोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

पू० प० तथापि······ ···विदेहाः कर्मिणः············[1]

फिर भी यह उचित प्रतीत नहीं होता कि शरीरादि तो न रहें, किन्तु आत्मा में कर्म (अदृष्ट) की सत्ता बनी रहे ।

किमत्र················

सभी बातें कार्यकारणभाव के ऊपर निर्भर करतीं हैं । तदनुसार जिस प्रकार अदृष्ट के रहते हुए भी भोग के भोग्यादि अन्य कारणों के न रहने से भोग की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार अदृष्ट के रहने पर भी शरीर, इन्द्रिय एवं विषय इन सभी के कारणों के विनष्ट हो जाने पर भी शरीरादि के नाश की उपपत्ति हो सकती है ।

वृश्चिकतण्डुलीयकादिवत् ··· ··· ··· ···

अर्थात् जिस प्रकार बिच्छू की उत्पत्ति सर्वप्रथम गोबर से होती है, बाद में फिर बिच्छू

---

1. यह ठीक नहीं मालूम होता, जीवों के शरीरादि के विनष्ट हो जाने पर भी उत्तर काल में भोग के लिये अदृष्ट रहते ही हैं—क्योंकि शरीरादि से युक्त जीव ही जब कर्म कर सकता है तब उस कर्म से उत्पन्न अदृष्ट का आश्रय भी शरीरादि से युक्त जीव ही हो सकता है । तस्मात् जीव 'विदेह' है, अर्थात् शरीर इन्द्रिय प्रभृति से शून्य है, अथ च उनमें अदृष्ट है, ये दोनों बातें एक साथ नहीं मानी जा सकती । इसी असंगति का परिहार 'तथापि-विदेहाः किमसमञ्जसम्' इत्यादि सन्दर्भ से आचार्य ने किया है । उक्त सन्दर्भ से श्लोक के दूसरे चरण की व्याख्या प्रारम्भ होती है ।

गतं तर्हि गोपूर्वकोऽयं गोत्वादित्यादिना। न गतम्, योनिजेष्वेव व्यवस्थापनात्। मानसास्त्वन्यथाऽपीति। गोमयवृश्चिकादिवदिदानीमपि किं न स्यादिति चेन्न।

से ही बिच्छुओं की उत्पत्ति होने लगती है। अथवा चौराई शाक की उत्पत्ति पहिले चावल के कणों से होती है, बाद में चौराई के बीज से ही चौराई शाक की उत्पत्ति होती है। कि वा अभी वह्नि से ही वह्नि की उत्पत्ति देखी जाती है, किन्तु आदि में अरणि के मन्थन से ही वह्नि की उत्पत्ति हुई थी। इसी प्रकार दूध, दही, घृत एवं कदलीकाण्ड प्रभृति में भी जानना चाहिए। इसी प्रकार अभी के (सृष्टि के उत्तर काल में) ब्राह्मण यद्यपि ब्राह्मण माता पिता से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु 'प्राथमिक' अर्थात् सृष्टि की आदि में ब्राह्मणादि की उत्पत्ति ब्राह्मणादि से न होकर ब्राह्मणादि शरीरों के सम्पादक विशेष प्रकार के पृथिव्यादि भूतवर्गों से ही हुई थी। जिस प्रकार सदृश कपालों से उत्पन्न सभी द्रव्य घटजातीय ही होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणादि शरीर के सम्पादक विशेष प्रकार के अदृष्टों से नियमित पृथिव्यादि एक जाति के द्रव्यों से जिन शरीरों की उत्पत्ति होगी, वे सभी ब्राह्मण जातीय ही होंगे, इसमें कोई भी असङ्गति नहीं है। तस्मात् सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मणत्वादि जाति के शरीरों की अनुपपत्ति से अर्थात् वर्णव्यवस्था की अनुपपत्ति से प्रलय की अनुपपत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

पू० प० गतं तर्हि ··· ··· ··· ···

गोत्व हेतु से गोपूर्वकत्व का अनुमान सार्वजनीन है। अगर सृष्टि के आदि की तरह किसी भी गोत्व में गोपूर्वकत्व न रहे तो गोत्व हेतु में गोपूर्वकत्व की व्याप्ति भङ्ग हो जाती है। फलतः गोत्व हेतु से गोपूर्वकत्व का सर्वसिद्ध अनुमान न हो सकेगा।

पि० प० न गतम् ··· ··· ··· ··· ···

सभी जीव योनिज एवं मानस भेद से दो प्रकार के हैं। इन में योनिज गवादि के प्रसङ्ग में ही गोपूर्वकत्व का नियम है। मानस गवादि 'अन्यथापि' विना गोपूर्वक भी हो सकते हैं। अर्थात् गोपूर्वकत्व के साधन के लिये जिस 'गोत्व' को हेतु रूप में उपस्थित किया जाता है, वह योनिज गौओं में रहने वाला गोत्व ही है। एवं तन्मूलक ही उक्त अनुमान है।

पू० प० गोमयवृश्चिकादिवत् ··· ··· ··· ·········

(यह प्रश्न रह जाता है कि कथित 'गोमयवृश्चिक' न्याय से ब्राह्मणादि जाति के शरीरों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि)

गतं तर्हि गोपूर्वकोऽयं गोत्वादित्यादिना। न गतम्, योनिजेष्वेव व्यवस्थापनात्। मानसास्त्वन्यथाऽपीति। गोमयवृश्चिकादिवदिदानीमपि किं न स्यादिति चेन्न।

से ही बिच्छुओं की उत्पत्ति होने लगती है। अथवा चौराई शाक की उत्पत्ति पहिले चावल के कणों से होती है, बाद में चौराई के बीज से ही चौराई शाक की उत्पत्ति होती है। कि वा अभी वह्नि से ही वह्नि की उत्पत्ति देखी जाती है, किन्तु आदि में अरणि के मन्थन से ही वह्नि की उत्पत्ति हुई थी। इसी प्रकार दूध, दही, घृत एवं कदलीकाण्ड प्रभृति में भी जानना चाहिए। इसी प्रकार अभी के (सृष्टि के उत्तर काल में) ब्राह्मण यद्यपि ब्राह्मण माता पिता से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु 'प्राथमिक' अर्थात् सृष्टि की आदि में ब्राह्मणादि की उत्पत्ति ब्राह्मणादि से न होकर ब्राह्मणादि शरीरों के सम्पादक विशेष प्रकार के पृथिव्यादि भूतवर्गों से ही हुई थी। जिस प्रकार सदृश कपालों से उत्पन्न सभी द्रव्य घटजातीय ही होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणादि शरीर के सम्पादक विशेष प्रकार के अदृष्टों से नियमित पृथिव्यादि एक जाति के द्रव्यों से जिन शरीरों की उत्पत्ति होगी, वे सभी ब्राह्मण जातीय ही होंगे, इसमें कोई भी असङ्गति नहीं है। तस्मात् सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मणत्वादि जाति के शरीरों की अनुपपत्ति से अर्थात् वर्णव्यवस्था की अनुपपत्ति से प्रलय की अनुपपत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

पू० प० गतं तर्हि ··· ··· ··· ···

गोत्व हेतु से गोपूर्वकत्व का अनुमान सार्वजनीन है। अगर सृष्टि के आदि की तरह किसी भी गोत्व में गोपूर्वकत्व न रहे तो गोत्व हेतु में गोपूर्वकत्व की व्याप्ति भङ्ग हो जाती है। फलतः गोत्व हेतु से गोपूर्वकत्व का सर्वसिद्ध अनुमान न हो सकेगा।

सि० प० न गतम् ··· ··· ··· ··· ···

सभी जीव योनिज एवं मानस भेद से दो प्रकार के हैं। इन में योनिज गवादि के प्रसङ्ग में ही गोपूर्वकत्व का नियम है। मानस गवादि 'अन्यथापि' विना गोपूर्वक भी हो सकते हैं। अर्थात् गोपूर्वकत्व के साधन के लिये जिस 'गोत्व' को हेतु रूप में उपस्थित किया जाता है, वह योनिज गोओं में रहने वाला गोत्व ही है। एवं तन्मूलक ही उक्त अनुमान है।

पू० प० गोमयवृश्चिकादिवत् ··· ··· ··· ·········

(यह प्रश्न रह जाता है कि कथित 'गोमयवृश्चिक' न्याय से ब्राह्मणादि जाति के शरीरों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि)

कालविशेषनियतत्वात् कार्यविशेषाणाम् । न हि वर्षासु गोमयाच्छालूक इति हेमन्ते किं न स्यात् ?

समयोऽप्येकेनैव मायाविनेव व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावावस्थितनानाकायाधिष्ठानाद् व्यवहारत एव सुकरः । यथा हि मायावी सूत्रसञ्चाराधिष्ठितं दारुपुत्रकमिदमानयेति प्रयुङ्क्ते । स च दारुपुत्रकस्तथा करोति । तदा चेतनव्यवहारादिवत्तद्दर्शी बालो व्युत्पाद्यते, तथेहापि स्यात् । क्रियाव्युत्पत्तिरपि तत एव कुलालकुविन्दादीनाम् ।

सर्गादावेव किं प्रमाणमिति चेत् ?

सि० प० कालविशेष नियत्वात् ··· ··· ··· ··· ···

कुछ विशेष प्रकार के कार्यों का यह स्वभाव होता है कि वे एक विशेष समय में ही उत्पन्न हों । यह अभियोग नहीं किया जा सकता कि वर्षाऋतु में गोबर से शालूक (कुकुरमुत्ता) की उत्पत्ति होती है, तो हेमन्त ऋतु में उसकी उत्पत्ति गोबर से क्यों न हो ? अतः यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदिकालिक ब्राह्मणादि शरीरों का यह स्वभाव है कि वे विना ब्राह्मणादि शरीर के ही उत्पन्न हों । एवं अभी के ब्राह्मणादि शरीरों का यही स्वभाव है कि वे ब्राह्मणादि शरीरपूर्वक ही हों ।

समयोऽप्येकेनैव ··· ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार 'मायावी' (कठपुतली को नचानेवाले) के सूत्र में बद्ध कठपुतियाँ उस मायावी के कहने पर पटादि वस्तुओं के ले आती है, एवं उस क्रीड़ा को देखने वाला अव्युत्पन्न बालक मायावी के द्वारा कथित शब्द के 'समय' (अर्थात् संकेत) को कठपुतलियों के द्वारा लायी गई वस्तुओं में समझ लेता है । उसी प्रकार यह कल्पना सहज है कि सृष्टि की आदि में एक ही ईश्वर प्रयोज्यवृद्ध (समझनेवाला पुरुष) एवं प्रयोजकवृद्ध (समझानेवाला पुरुष) दोनों शरीरों को धारण कर 'समयग्रहण' (शक्तिज्ञान) के मार्ग को प्रशस्त कर देते हैं ।

क्रियाव्युत्पत्तिरपि ··· ··· ··· ··· ···

इसी प्रकार सृष्टि की आदि में सभी प्रकार की शक्तियों से परिपूर्ण परमेश्वर कुलालादि शरीरों को धारण कर लोगों को घटादि निर्माण की शिक्षा देते हैं । इसके बाद उन शिक्षित व्यक्तियों से घटादि निर्माण में समर्थ व्यक्तियों की परम्परा चलती है, अतः प्रलय को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ।

पू० प सर्गादावेव ··· ··· ··· ··· ···

(बाधक प्रमाणों के खण्डन भर से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, इसके लिये साधक प्रमाण भी चाहिये । अतः सृष्टि और प्रलय की सिद्धि के लिये प्रमाणों का दिखाना आवश्यक है, इसीलिये 'सर्गादौ' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रश्न किया गया है कि) सृष्टि और प्रलय की सत्ता में कौन-सा प्रमाण है ?

विश्वसन्तानोऽयं दृश्यसन्तानशून्यैः समवायिभिरारब्धः, सन्तानत्वादारण्येय-सन्तानवत् । **वर्तमानब्रह्माण्डपरमाणवः** पूर्वमुत्पादितसजातीयसन्तानान्तराः **नित्यत्वे सति तदारम्भकत्वात्, प्रदीपपरमाणुवदित्यादि ।**

अवयवानामावापोद्वापादुत्पत्तिविनाशौ च स्याताम्, सन्तानाऽविच्छेदश्चेति **को विरोध इति चेन्न ।**

सि० प० विश्वसन्तानोऽयम् ··· ··· वर्त्तमानब्रह्माण्डपरमाणवः ··· ··· ···

संसार में विद्यमान जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी परस्पर किसी-न-किसी **प्रकार के सम्बन्ध से युक्त हैं । अभी के (सृष्टि के** उत्तर के समय) विश्व में घटादि को उत्पन्न **करनेवाले परमाणु भी हैं,** एवं **दृश्यघटकपालादि** के 'सन्तान' अर्थात् समूह भी हैं । इस **प्रकार सृष्टि के उत्तरकाल में घटारम्भक सभी परमाणु** कपालादि दृश्य पदार्थों से युक्त हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के उत्तरकाल में जिन घटादि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, उनका **कारण दृश्यघटकपालादि सन्तान से युक्त परमाणु हैं ।** एवं सृष्टि के उत्तरकाल में जिनकी **उत्पत्ति** दृश्यसन्तान से युक्त परमाणुओं से होती है, उस जाति की वस्तु कभी दृश्यतसन्तान से **रहित परमाणुओं से भी होती है । जैसे प्राथमिक** वह्नि की उत्पत्ति अरणि काष्ठ में संयुक्त **वह्निके परमाणुओं से ही होती है, उस समय उसे** स्थूलवाह्नि का साहचर्य नहीं मिलता है । **इसी** प्रकार घटादि के उत्पादक **परमाणु** समूह जिस समय दृश्यसन्तान से रहित होकर घटादि **को** उत्पन्न करते हैं, वही काल 'सृष्टि का आदिकाल' है ।

वर्त्तमानब्रह्माण्डपरमाणवः ··· ··· ··· ··· ···

वर्त्तमान ब्रह्माण्ड के उत्पादक जितने भी परमाणु हैं, वे सभी अवश्य ही इस ब्रह्माण्ड के सजातीय दूसरे ब्रह्माण्ड के भी उत्पादक हैं । क्योंकि परमाणु नित्य हैं, और उनमें ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने की शक्ति है । जैसे की प्रदीप के उत्पादक परमाणु प्रत्येक क्षण में अलग-अलग प्रदीपों की सृष्टि करते हैं । यह पहिले ही लिखा जा चुका है कि उत्पत्ति शील होने के **कारण ब्रह्माण्ड अनित्य हैं ।**

पू० प० अवयवानाम् ··· ··· ··· ···

अतीत ब्रह्माण्ड के विनाश एवं वर्त्तमान ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति इन दोनों के **बीच ऐसा** कोई भी समय नहीं है, जहां उत्पत्तिशील (कार्य) द्रव्यों की उत्पत्ति और विनाश की **परम्परा** न रहे । अतः जैसे कि वर्तमान काल में अवयवों के संयोग और वियोग से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और विनाश को परम्परा प्रचलित देखी जाती है, इसी प्रकार यह उत्पत्तिविनाश की धारा चालू रहती है । किसी भी समय इसका विराम नहीं होता । इसको मान लेने से

एवं हि घटादिसन्तानाऽविच्छेदोऽपि स्यात्। विपर्ययस्तु दृश्यते। कर्त्रादि-भोगविशेषसम्पादनप्रयुक्तोऽसाविति चेन्न। द्व्यणुकेषु तदभावात्।

घटादि कार्यसमूहों के प्रवाह की सर्वानुभवसिद्ध अविच्छिन्नता भी उपपन्न होती है। अतः उक्त अनुमान से प्रलय की सिद्धि नहीं हो सकती।

सि० प० न, एवं हि ··· ··· ··· ···

कथित युक्ति के अनुसार जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के प्रवाह की अविच्छिन्नता सिद्ध होगी, उसी प्रकार घटादि कार्यों के प्रवाह की अविच्छिन्नता भी सिद्ध होगी। किन्तु ऐसी अनेक वस्तुओं का नाम लिया जा सकता है जो पहिले बनते थे, किन्तु उनके बनने की परम्परा सर्वथा लुप्त हो चुकी है। अतः जो परम्परायें उत्पत्तिशील और विनाशशील हैं, उनका भी कभी न कभी अत्यन्त विनाश अवश्य होगा। ब्रह्माण्ड भी उत्पत्तिशील और विनाशशील है, अतः उसका भी अत्यन्त विनाश कभी अवश्य होगा। इससे यह अनुमान फलित होता है कि 'ब्रह्माण्डसन्ततिः, अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवत्।

पू० प० कर्त्रादि ··· ··· ··· ···

उक्त अनुमान का हेतु 'भोगविशेषप्रयुक्तत्व' रूप उपाधि से युक्त है। अर्थात् वस्तुओंके विनाश का प्रयोजक 'सन्ततित्व' नहीं है, किन्तु विशेष प्रकार के भोग का संपादन ही उसका प्रयोजक है। प्रत्येक विनाश से किसी को सुख मिलता है, तो किसी को दुख। जिस समय घट जाति के सभी व्यक्तियों के विनाश से होने वाले सुख और दुःख के प्रयोजक अदृष्ट कार्योन्मुख हो जाते हैं, उस समय घटसंप्रदाय का विच्छेद हो जाता है। अतः घटादि समूहों के विनाश का प्रयोजक उनका 'सन्ततित्व' नहीं है। किन्तु 'विशेष प्रकार के भोगो' का संपादन ही उसका प्रयोजक है। अतः उक्त अनुमान का हेतु 'भोगविशेषप्रयुक्तत्व' रूप उपाधि से युक्त होने के कारण दुष्ट है।

सि० प० द्व्यणुकेषु ··· ··· ··· ···

कथित 'भोगविशेषप्रयुक्तत्व' स्वरूप धर्म प्रकृत साध्य का व्यापक न होने से उपाधि नहीं हो सकता। क्योंकि जिस वस्तु की सत्ता सुख का कारण होती है, उसी वस्तु की असत्ता दुःख के उत्पादन के द्वारा भोग की संपादिका होती है। द्व्यणुक भोग्य नहीं है, अतः सुःख का उत्पादक भी नहीं है। फलतः उसके नाश से दुःख की उत्पत्ति एवं दुःख के साक्षात्कार रूप भोग की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। सुतराम् द्व्यणुक का अत्यन्त विनाश तो होता है, किन्तु वह विशेष प्रकार के भोग का संपादक नहीं है। अतः द्व्यणुक के विनाश में व्यापकत्व भङ्ग हो जाने से प्रकृत उपाधि सम्भव नहीं है।

तथा च तदवयवानामपगमाभावेऽनादित्वप्रसंगे द्व्यणुकत्वव्याघातः। तस्मात् यत्कार्यं यन्निबन्धनस्थिति तदपगमे तन्निवृत्तिः। यत् यद्धेतुकं तदुपगमे तस्योत्पत्तिः। न च कार्यस्य स्थितिनिबन्धनं नित्यमेव, नित्यस्थितिप्रसंगात्। न च नित्य एव हेतुः, अकादाचित्कत्वप्रसंगात्। तदतिनिस्तरंगमेतत्।

ईदृश्याञ्च वस्तुस्थितौ भोगोऽपि कर्मभिरेवमेव वस्तुस्वभावानतिक्रमेण सम्पादनीय इति द्व्यणुकवत् पिपीलिकाण्डादेः ब्रह्माण्डपर्यन्तस्यापि विश्वस्येयमेव गतिरिति प्रतिबन्धसिद्धिः।

तथा च तदवयवानाम् ··· ··· ··· ··· ···

अगर सभी विनाशों को विशेष प्रकार के भोग का प्रयोजक मानें तो द्व्यणुक का कभी नाश ही नहीं हो सकेगा। क्योंकि द्व्यणुक के विनाश से कोई भी भोग संपन्न नहीं होता है। अगर 'द्व्यणुक' नाम के द्रव्य का विनाश नहीं होगा तो फिर उसकी उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकेगी। क्योंकि अविनाशस्वभाव के भावपदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार द्व्यणुक नाम का द्रव्य जब अनुत्पत्तिशील एवं अविनाशशील होगा तो फिर वह 'सावयव' नहीं हो सकता। इस प्रकार 'उस' द्रव्य का 'द्व्यणुक' नाम ही व्याहत हो जायगा, क्योंकि दो (परम) अणुओं से उत्पन्न होने के कारण ही उस को 'द्व्यणुक' कहा जाता है।

तस्मात् यत्कार्यम् ··· ··· ···

अतः जिस कार्य की सत्ता के मूल कारण के हट जाने पर उस कार्य का विनाश हो जाता है। एवं वही कारण जब दूसरे देश में और सहकारी कारणों के साथ जा मिलता है, तो फिर उस देश में उससे कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्यसत्ता का यह प्रयोजक (असमवायिकारण) कारण नित्य नहीं हो सकता। अगर ऐसा मानेंगे तो उस कार्य की सर्वदा स्थिति माननी पड़ेगी। अतः 'तत्' अर्थात् 'तस्मात्' 'एतत्' अर्थात् सृष्टि के साधक और प्रलय के साधक दोनों अनुमान 'निस्तरङ्ग' अर्थात् 'निर्दोष' है।

ईदृश्यां च ··· ··· ··· ···

कार्यों की स्थिति चूँकि अनित्यकारणमूलक है, इस वस्तुगति के स्वभाव का अतिक्रमण कार्य के द्वारा भोग के उत्पादन में भी नहीं होगा। इसलिये द्व्यणुक के ही समान पिपिलिका से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त के सभी कार्यों के प्रसङ्ग में 'यही गति' होगी। अर्थात् सन्तानत्व

तथाच ब्रह्माण्डे परमाणुसाद्भवितरि परमाणुषु च स्वतन्त्रेषु पृथगासीनेषु तदन्तःपातिनः प्राणिगणाः क वर्त्तन्ताम् ?। कुपितकपिकपोलान्तर्गतौदुम्बरमशकसमूहवत्, दवदहनदह्यमानदारूदरविघूर्णमानघुणसंघातवत्। प्रलयपवनोल्लासनीयोर्वानलनिपातिपोतसांयात्रिकसार्थवद्वेति ॥ २ ॥

प्रयुक्त नाशप्रतियोगित्ववाली गति ही होगी। सुतराम् जिन पदार्थों में सन्तानत्व है, उन सभी पदार्थों में अत्यन्त विनाश का प्रतियोगित्व रूप साध्य भी अवश्य ही है। अतः कथित अनुमान के हेतुओं में 'प्रतिबन्ध' की अर्थात् व्याप्ति की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

ब्रह्माण्डे ··· ··· ··· ···

(१) जब ब्रह्माण्ड 'परमाणुसात' हो जायगा अर्थात् ब्रह्माण्ड का जब आपरमाण्वन्त विनाश हो जायगा और जब सभी परमाणु 'स्वतन्त्र' अर्थात् परस्पर असम्बद्ध हो जायेंगे। तो वे कार्य के उत्पादन में अक्षम हो जायेंगे, उस समय ये 'प्राणिगण' या 'गिरिसागरादि' कहाँ रहेंगे ? अतः यही मानना होगा कि आश्रय के अभाव में वे भी विनष्ट हो जायेंगे। अर्थात् अवयवों में ही अवयवी की सत्ता रहती है। अवयवी परम्परा का विनाश जब द्वयणुक के विनाश तक पहुँच जायगा, उस समय अन्य किसी अवयवी के अवयव की संभावना ही नहीं रहेगी। इस से ये अनुमान निष्पन्न होते हैं कि (१) प्राणियों का या गिरिसागरादि का भी अत्यन्त विनाश अवश्य होता है, क्योंकि दूसरे महाद्रव्योंके विनाश से उनके आश्रय विनष्ट हो चुके रहते हैं। जैसे कि (क्षुधा) से क्रुद्ध वानर के मुँह में पड़े हुये गूलर के बीच रहनेवाले कीड़ों का नाश गूलर के विनाश से हो जाता है। इस से अनुमान का यह वाक्य निष्पन्न होता है कि प्राणिगणाः गिरिसागरादयो वा विनश्यन्ति द्रव्यान्तरेण सह विहन्यमानाधारत्वात् कुपितकपोलान्तर्गतोदुम्बरमशकसमूहवत्"

(२) ('दवदहनदह्यमान' इत्यादि दृष्टान्तवाक्य से सूचित दूसरे अनुमानवाक्य का अभिप्राय है कि) दावाग्नि से जलते हुये वृक्ष के कोटर में घूमता हुआ 'घुन' कीड़ों का समूह जिस प्रकार महादहन से वृक्ष के विनष्ट होनेपर विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रालेय अग्नि से प्राणियों का एवं गिरिसागरादि का विनाश अवश्य होता है। (अनुमान वाक्य इस प्रकार है कि "प्राणिगणाः गिरिसागरादयो वा विनश्यन्ति महादहनदह्यमानाश्रयत्वात् दवदहनदह्यमानदारूदरविघूर्णमानघुणसङ्घातवत्)।

(३) प्रलयपवनोल्लासनीय' इत्यादि दृष्टान्तवाक्य से अभिप्रेत अनुमानवाक्य का अभिप्राय है कि जिस प्रकार प्रलयकालिक वायु से प्रज्वलित बड़वानल में गिरे हुये नाव के

---

१. मान लिया कि ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है, किन्तु इस लिये गिरि सागरादि या जीवों का विनाश क्यों कर होगा ? इसी प्रश्न का समाधान 'ब्रह्माण्ड' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है।

अपि च—

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥३॥

पूर्वं हि मानस्यः प्रजाः समभवन्, ततोऽपत्यैकप्रयोजनमैथुनसम्भवाः, ततः कामावर्जनीयसन्निधिजन्मानः, इदानीं देशकालाद्यव्यवस्थया पशुधर्मादेव भूयिष्ठाः। पूर्वं चरुप्रभृतिषु संस्काराः समाधायिषत, ततः क्षेत्रप्रभृतिषु, ततो गर्भादितः, इदानीं तु जातेषु लौकिकव्यवहारमाश्रित्य। पूर्वं सहस्रशाखो वेदोऽध्यगायि, ततो व्यस्तः, ततः षडंग एकः, इदानीं तु क्वचिदेका शाखेति।

यात्री नाव के साथ ही विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के विनष्ट होने पर प्राणिगण एवं गिरिसागरादि भी विनष्ट हो जाते हैं। (अनुमान इस आकार का है कि प्राणिगणा गिरिसागरादयो वा विनश्यन्ति महापवनक्षुभितसमुद्रविलीयमानाश्रयत्वात् प्रलयपवनोल्लासनीयोर्वानलनिपातिपोतसांयात्रिकसार्थवत्) ॥ २ ॥

('जन्मसंस्कारविद्यादेः' इत्यादिकारिका के द्वारा यह उपपादन किया गया है कि 'वेदों के क्रमिक ह्रास के देखने से भी सभी वेदों के अत्यन्त विनाश का अनुमान किया जा सकता है अर्थात्) जन्म, संस्कार, शक्ति, स्वाध्याय, कर्म इन सबों के क्रमिक ह्रास के देखने से भी वेदों के अत्यन्त ह्रास (विनाश) का अनुमान करना चाहिये।

(१) पूर्वं हि ··· ··· ··· ··· भूयिष्ठाः

पहिले केवल संकल्प से ही पुत्रादि के जन्म होते थे। बाद में सन्तान की कामना से उत्पन्न मैथुन से सन्तान उत्पन्न होने लगे। फिर कामवासना से अनिवार्य स्त्री एवं पुरुष का संयोग ही सन्तान के जन्म का हेतु हो गया। अभी देश और काल की व्यवस्था के भी हट जाने के कारण केवल पशुधर्म से ही अधिकतर सन्तान उत्पन्न होते हैं। (जन्मह्रास)

(२) पूर्वं चरुप्रभृतिषु ··· ··· ··· ··· व्यवहारमाश्रित्य

पहिले 'चरु' प्रभृति में ही (माता के भोजन में ही) संस्कार होता था। (चरु में संस्कार के वैशिष्ट्य से परशुराम विश्वामित्रादि के जन्म प्रसिद्ध हैं) आगे चलकर सन्तान की क्षेत्र स्त्री में ही (गर्भाधान) संस्कार किया जाने लगा। बाद में गर्भ ही (सीमन्तोन्नयनादि संस्कार से युक्त) संस्कृत होने लगे। अब तो सन्तान के उत्पन्न हो जाने पर लौकिक व्यवहार के अनुसार कुछ संस्कारों का संपादन कर लिया जाता है। (संस्कार का ह्रास)

(३) पूर्वं ही सहस्रशाखः ··· ··· ··· ···

पूर्व में सहस्रशाखा के वेदों का अध्ययन करने वाले आचार्य थे। बाद में उन में से कुछ शाखाओं का ही अध्ययन होने लगा। फिर षडङ्गों से युक्त एक शाखा का ही केवल अध्ययन रह गया। अब तो एक शाखा मात्र का कहीं-कहीं अध्ययन रह गया है। (अध्ययन ह्रास)

पूर्वं ऋतवृत्तयो ब्राह्मणाः प्राद्योतिषत, ततोऽमृतवृत्तयः, सम्प्रति प्रमृत-सत्यानृतकुसीदपाशुपाल्यश्ववृत्तयो भूयांसः । पूर्वं दुःखेन ब्राह्मणैरतिथयोऽलभ्यन्त, ततः क्षत्रियातिथयोऽपि संवृत्ताः, ततो वैश्यावेशिनोऽपि, सम्प्रति शूद्रान्नभोजिनोऽपि । पूर्वममृतभुजः, ततो विघसभुजः, ततोऽन्नभुजः, सम्प्रत्यघभुज एव । पूर्वं चतुष्पाद्धर्म आसीत्, ततस्तनूयमाने तपसि त्रिपात्, ततो म्लायति ज्ञाने द्विपात्, सम्प्रति जीर्यति यज्ञे दानैकपात् । सोऽपि पादो दुरागतादिविपादिकाशतदुःस्थोऽश्रद्धामलकलङ्कितः कामक्रोधादिकण्टकशतजर्जरः प्रत्यहमपचीयमानवीर्यतया इतस्ततः स्खलन्निवोपलभ्यते ।

---

(४) पूर्वं ऋतवृत्तयः ··· ··· ··· ···

पहिले ब्राह्मणगण 'ऋतवृत्ति' से अर्थात् खेतों में गिरे हुये अन्न के बीज को बीन कर (उञ्छवृत्ति से) जीते थे । बाद में जीविका के लिये उन्होंने 'अमृतवृत्ति' अर्थात् विना याचना के प्राप्त धन का सहारा लिया । अभी तो 'प्रमृत' अर्थात् याचना से प्राप्त धन, 'सत्यानृत' अर्थात् वाणिज्य, 'कुसीद' अर्थात् व्याज में प्राप्त धन एवं पशुपालन और 'श्ववृत्ति' रूप सेवा से भी जीवन चलाते हैं ।

(५) पूर्वं दुःखेन ··· ··· ··· ···

पहिले ब्राह्मणों को भी विरले ही (ब्राह्मण) अतिथि मिलते थे । बाद में ब्राह्मण लोग क्षत्रियों का भी अतिथ्य ग्रहण करने लगे । तदनन्तर वैश्यों के घरों में भी भोजन करने लगे । अब तो शूद्रों का अन्न भी खाते हैं ।

(६) पूर्वंमभृतभुजः ··· ··· ··· ···

पहिले 'अमृत' अर्थात् यज्ञ से बचा हुआ अन्न ही खाते थे । पीछे 'विघस' अर्थात् अतिथियों से बचा हुआ अन्न भी खाने लगे । इसके बाद 'अन्न' अर्थात् भृत्यों को खिलाने के बाद बचा हुआ अन्न भी खाने लगे । अब तो ये 'अघ' अर्थात् केवल अपने भोजन के लिये पकाये अन्न से भी जीवन चला रहे हैं[1] ।

पूर्वं चतुष्पात् ··· ··· ···

पहिले धर्म को तपस्या, ज्ञान, यज्ञ, एवं दान ये चार पांव थे । इन में पहिले तपस्या क्षीण हो गयी, बाद में ज्ञान भी मलिन हो गया, यज्ञ भी जीर्णशीर्ण हो गया । अब केवल 'दान' रूप एक पएर रह गया है । वह भी दूषित उपाय से प्राप्त धन रूप विपादिकाओं (बेवाए) से युक्त है । अश्रद्धा रूप कीचड़ में सना हुआ है । कामक्रोधादि अनेक काँटों से वह विधा हुआ है । इन सबों से प्रतिक्षण उस की शक्ति क्षीण से अतिक्षीण होने के कारण वह (दान रूप चौथा पांव भी) इधर उधर डोल रहा है ।

---

१. 'जन्मसंस्कारविद्यादेः' इस वाक्य में जो 'आदि' शब्द है, उसी से 'विद्या' रूप अध्ययन के बाद 'वृत्ति' ह्रास का भी विवरण दिया गया है ।

इदानीमिव सर्वत्र दृष्टान्नाधिकमिष्यत इति चेन्न। स्मृत्यनुष्ठानानुमितानां **शाखानामुच्छेददर्शनात्। स्वातन्त्र्येण** स्मृतीनामाचारस्य च प्रामाण्यानभ्युपगमात्। **मन्वादीनामतीन्द्रियार्थदर्शने** प्रमाणाभावात्। **आचारात्स्मृतिः**

पू० प० इदानीमिव ··· ··· ··· ···

वेद की जितनी शाखायें अभी उपलब्ध हैं, वास्तव में उतनी ही शाखायें हैं। उनसे अधिक शाखाओं की सत्ता नहीं मानते। अतः वेदों में 'क्रमशः ह्रसमानत्व' हेतु नहीं है। इसलिये यह हेतु स्वरूपासिद्ध होने के कारण वेदों के अत्यन्त उच्छेद का साधन नहीं कर सकता।

सि० प० न, स्मृत्यनुष्ठानानुमितानाम् ··· ··· ··· ··· प्रामाण्यानभ्युपगमात्

मन्वादि स्मृतियाँ केवल इसी लिये प्रमाण हैं कि वे वेदों में कथित अनुष्ठानों का निर्देश करतीं हैं। 'आचार' भी कर्त्तव्य का निर्णायक इसी लिये है कि वह वेदविहित अनुष्ठानों का निर्देश करता है। स्मृतियों में 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' प्रभृति वाक्यों के द्वारा ऐसे से बहुत से अनुष्ठान निर्दिष्ट हैं, जिनके विधायक वाक्य अभी वेदों में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार के कुछ अनुष्ठान आचार की परम्परा से भी प्राप्त हैं। मीमांसकों का भी यह सिद्धान्त है कि वेदविहित अनुष्ठानों के विधायक होने के कारण ही स्मृति और आचार प्रमाण हैं (द्रष्टव्य शाबरभाष्य एवं तन्त्रवार्तिक अ–१ पा० ३ पृ० १५९ से १६८ पर्यन्त आनन्दाश्रम संस्करण) अतः सभी आस्तिकों को यह मानना ही होगा कि जिन अनुष्ठानों का विधान स्मृतियों में उपलब्ध है, किन्तु वेदों में उनके विधान नहीं मिलते। एवं आचार से प्राप्त जिन अनुष्ठानों का विधान न वेदों में मिलता है, न स्मृतियों में उन सभी अनुष्ठानों के विधायक वाक्य वेदों में थे। किन्तु वेद की जिन शाखाओं में वे वाक्य थे, वे शाखायें विनष्ट हो चुकी हैं।

मन्वादीनाम् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी की ओर से कहा जा सकता है कि अदृष्टों को उत्पन्न करनेवाले जिन अनुष्ठानों के विधान स्मृतियों में उपलब्ध हैं, उन अदृष्टों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही मनु प्रभृति स्मृतिकारों को था। मनु प्रभृति के द्वारा रचित स्मृतिग्रन्थ आप्तपुरुष के द्वारा रचित होने के कारण ही प्रमाण हैं। वेदमूलक होने के कारण वे प्रमाण नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है) क्योंकि मन्वादि स्मृतिकारों को अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः आप्तों से रचित होने के कारण स्मृतियों को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

पू० प० आचारात्स्मृतिः ··· ··· ··· ···

मनु प्रभृति स्मृतिकारों ने शिष्टों के आचरणों को देखा था। आचरणों के इस दर्शन से ही उन लोगों ने स्मृतियों की रचना की। बाद में उन स्मृतियों के अवलम्बन से ही आचारों

स्मृतेश्चाचार इत्यनादिताभ्युपगमे अन्धपरंपराप्रसंगात्। आसंसारमनाम्नातस्य च वेदत्वव्याघातेनाऽनुमानायोगात्। उत्पत्तितोऽभिव्यक्तितोऽभिप्रायतो वाऽनवच्छिन्न-वर्णमात्रस्य निरर्थकत्वात्।

की परम्परा चल पड़ी। अतः स्मृति से या सदाचार से वेद शाखाओं के उच्छेद की कल्पना व्यर्थ है।

सि० प० अन्धपरम्परा ··· ··· ··· ···

आचार से स्मृति का अनुमान एवं स्मृति के विधान से आचारों को प्रमाणमूलक होने का अनुमान करेंगे तो फिर 'अन्धपरम्परा' का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (अर्थात् किसी अन्ध पुरुष के द्वारा उच्चारित 'नीलो घटः' इस वाक्य से होनेवाले घट के नील होने के सभी व्यवहार जिस प्रकार अप्रामाणिक हो जाते हैं, उसी प्रकार स्मृति और आचार दोनों ही अप्रामाणिक हो जायँगे)।

सि० प० आसंसारमनाम्नातस्य ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में प्राभाकरों का कहना है कि वेदों में विहित हुये बिना जब धर्म का अनुष्ठान संभव ही नहीं है, एवं कुछ अनुष्ठानों के विधायक वाक्य उपलब्ध वेदों में नहीं पाये जाते, ऐसी स्थिति में वेद के ऐसे विधायक वाक्यों का अनुमान करना ही होगा, जिन वेदवाक्यों को किसी ने कभी प्रत्यक्ष नहीं सुना है। एवं संप्रदायविलोप के कारण आज भी उन वेदवाक्यों के प्रत्यक्ष नहीं होते, बराबर अनुमान ही होता है। अतः जिन में उक्त विधायक वाक्यों का उल्लेख था, वे शाखायें 'नित्यानुमेय' हैं। कुछ अनुष्ठानों के विधायक वाक्यों की अनुपलब्धि से उन शाखाओं के उच्छेद की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राभाकरों का वेद की अनुलब्ध शाखाओं का यह 'नित्यानुमेयत्व' पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि) ऐसे वर्णों के समूह को ही 'वेद' कहा जाता है, जो गुरु से द्विजशिष्यों के द्वारा अधीयमान हों, एवं विशेष प्रकार की आनुपूर्वी एवं स्वरादि से युक्त हों। जिस आनुपूर्वी से युक्त शब्दों का कभी किसी ने गुरु मुख से सुन कर उच्चारण ही नहीं किया, उन शब्दों में 'वेद' का उक्त लक्षण ही संघटित नहीं होता, अतः अष्टकादि आचारों के विधायक नित्यानुमेय 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि वाक्य 'वेद' नहीं कहे जा सकते।

उत्पत्तितोऽभिव्यक्तितः ··· ··· ··· ···

विशेष प्रकार की 'आनुपूर्वी से युक्त वही शब्दराशि 'वेद' कहलाता है जो धर्म और अधर्म का 'वेदक' हो। 'वेद' के इस दूसरे लक्षण के अनुसार भी 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि वाक्यों को 'वेद' नहीं कहा जा सकता। शब्दों की 'आनुपूर्वी' तीन कारणों से संभव है। (१) 'उत्पत्ति' से (नैयायिकों के मत से किसी विशेष अर्थ को समझाने की

यदि च शिष्टाचारत्वादिदं हितसाधनं कर्तव्यं वेत्यनुमितं किं वेदानुमानेन ? तदर्थस्यानुमानत एव सिद्धेः। न च धर्मवेदनत्वादिदमेवानुमानम्, अनुमेयो वेदः, प्रत्यक्षसिद्धत्वात् अशब्दत्वाच्च।

इच्छा से आप्तपुरुष द्वारा उच्चारण से) (२) 'अभिव्यक्ति' से (मीमांसकों मत से कथित इच्छामूलक कण्ठताल्वादि व्यापार जनित 'अभिव्यक्ति' से) (३) (उभयमत साधारण) अभिप्राय से। इस तीनों से भिन्न आनुपूर्वी संपादन का कोई चौथा प्रकार नहीं हो सकता। जो शब्द विश्व में कभी किसी के द्वारा न उच्चारित (आम्नात) नहीं है, ऐसा शब्द न 'उत्पन्न' हो सकता है, न अभिव्यक्त ही हो सकता है। एवं न किसी के 'अभिप्राय' का विषय ही हो सकता है। इस प्रकार का 'अनुत्पन्न' 'अनभिव्यक्त' एवं 'अनभिप्रेत' शब्द निरर्थक है। इस प्रकार के शब्द धर्म और अधर्म के 'वेदक' न होने के कारण 'वेद' नहीं हो सकते।

सि० प० यदि च शिष्टाचारत्वात् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में प्राभाकर कहते हैं कि अष्टकादि अनुष्ठानों में वेद के द्वारा इष्टत्व की बुद्धि या कर्त्तव्यत्व की प्रतीति भले ही संभव न हो। किन्तु शिष्टाचार होने के नाते उनमें शिष्टाचारत्व हेतु से इष्टत्व का या कर्त्तव्यत्व का अनुमान तो हो सकता है। ऐसा संभव होने पर मन्वादि स्मृतिकारों की उन विधायक वाक्यों की रचना वेद की कल्पना के द्वारा ही मानी जा सकती है। इस का यह उत्तर है कि) जो भी विधायकवाक्य वेदों में उपलब्ध हैं, उन से भी ज्योतिष्टोमादि के अनुष्ठानों में इष्टत्व की अथवा कर्त्तव्यत्व की बुद्धि ही उत्पन्न होती है। यह बुद्धि अगर शिष्टाचारत्व हेतुक अनुमान से ही संपादित होगी, तो फिर वेदों के अनुमान का कौन सा प्रयोजन रह जायगा ? क्योंकि अनुमित वेद से उत्पन्न होनेवाला उक्त इष्टत्व विषयक बुद्धि रूप कार्य तो शिष्टाचारत्व हेतुक अनुमान से ही हो जायगा।

सि० प० न च धर्मवदेनत्वात् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में प्राभाकर कह सकते हैं कि धर्म के 'वेदक' को ही जब वेद कहते हैं, तो फिर शिष्टाचार चूँकि धर्म का 'वेदक' है, अतः अष्टकादि आचारों में इष्टत्वानुमान का हेतु होने से शिष्टाचारत्व रूप अनुमान प्रमाण भी 'वेद' ही है। शिष्टाचार रूप धर्मवेदक को ही हम लोग 'नित्यानुमेय वेद' कहते हैं। किन्तु प्राभाकरों का यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि) (१) शिष्टाचार को अगर धर्म का 'वेदक' होने के नाते 'वेद' मान भी लें, तथापि वह 'नित्यानुमेय' नहीं हो सकता, क्योंकि शिष्टाचार प्रत्यक्षसिद्ध है। जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष से भी हो सकता है, वह 'नित्यानुमेय' कैसे होगा ? अतः शिष्टाचार 'नित्यानुमेयवेद' नहीं हो सकता। (२) दूसरी बात यह है कि केवल धर्म का 'वेदक' होने से ही कोई 'वेद' नहीं कहला सकता। क्योंकि 'वेद' को 'शब्द' रूप होना भी आवश्यक है। 'शिष्टाचार' धर्म का 'वेदक' होने पर भी चूँकि 'शब्द' स्वरूप नहीं है, अतः उसको 'वेद' नहीं कहा जा सकता।

अथ शिष्टाचरत्त्वात्प्रमाणमूलोऽयमिति चेत् ? ततः **सिद्धसाधनम्, प्रत्यक्षमूल-त्वाभ्युपगमात्।** तदसम्भवेऽप्यनुमानसम्भवात्। **नित्यमज्ञायमानत्वात्तदप्रत्यायकं कथमनुमानम्** ? कथं च मूलमिति चेत् ?

(५.) अथ शिष्टाचारत्वात् ··· ··· ··· ···

प्राभाकरों का कहना है कि शिष्टाचारत्व हेतु से हम इष्टत्व या कर्त्तव्यत्व का अनुमान नहीं करते, किन्तु प्रमाणसामान्यमूलकत्व का ही अनुमान करते हैं (अर्थात् अष्टकादि चूँकि शिष्टों से आचरित है, अतः उनका कोई प्रमाण अवश्य ही होगा)। इस प्रकार अष्टकादि आचारों के साधक सामान्य अनुमान की सिद्धि हो जाने पर पक्षधर्मता बलात् उक्त 'प्रमाणसामान्यमूलकत्व' रूप साध्यसामान्य का पर्यवसान 'वेदप्रमाणमूलकत्व' रूप विशेष में होगा। इस प्रकार अष्टकादि आचारों के विधायक वाक्यों से युक्त वेदशाखाओं का अनुमान किया जा सकता है।

सि० प० ततः सिद्धसाधनम् ··· ··· ··· ···

नैयायिक लोग अष्टकादि आचारों को ईश्वरप्रत्यक्ष मूलक मानते हैं, अतः अष्टकादि आचार चूँकि ईश्वर के प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः उन आचारों का अनुमान सिद्धसाधन से दूषित है। मीमांसकों के मत में यद्यपि कथित रीति से सिद्धसाधन दोष नहीं हो सकता, फिर भी कथित प्रमाणसामान्यमूलकत्व का पर्यवसान वेदप्रमाणमूलकत्व रूप विशेष में नहीं हो सकता। क्योंकि कथित प्रमाणसामान्यमूलकत्व के अनुमान का भी स्वारस्य उन आचारों में कर्त्तव्यत्व एवं इष्टत्व के साधन में ही है, सो जब शिष्टाचारत्व हेतु से साक्षात ही संभव है, तो फिर शिष्टाचारत्व हेतु से प्रमाणसामान्यमूलकत्व का अनुमान और उसके बाद पक्षधर्मता के बल पर उसका वेदमूलकत्व में पर्यवसान, ऐसी कल्पना व्यर्थ है।

पू० प० नित्यमज्ञायमानत्वात् ··· ··· ··· ···

मनु प्रभृति स्मृतिकारों को भी अष्टकादि आचारों के ज्ञापक किसी विशेष हेतु का ज्ञान नहीं था। जिस प्रकार अभी हम लोग शिष्टों के अष्टकादि आचरणों को देखकर समझते हैं कि 'बिना कर्त्तव्यत्व ज्ञान के शिष्टों के ये आचरण नहीं हो सकते।' एवं कर्त्तव्यत्व का यह ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है। फिर भी इसका कोई प्रमाण अवश्य होगा। मन्वादि स्मृतिकारों को भी प्रमाणमूलकत्व का यह सामान्य ज्ञान ही था। उन लोगों को भी विशेष हेतुओं का ज्ञान नहीं था। जो स्वयं विशेष रूप से अज्ञात ही रहा हो, वह किसी अन्य को विशेष रूप से कैसे समझा सकता है ? अथवा विशेष प्रकार का ज्ञान अनुष्ठाताओं के कर्त्तव्यत्व विषयक ज्ञान का मूल कैसे हो सकता है ? अतः उक्त प्रमाणसामान्य का अर्थ ही है वेदमूलकत्व। इस लिये उक्त अनुमान में सिद्ध साधन दोष नहीं है।

वेदः किमज्ञायमानः प्रत्यायकोऽप्रत्यायक एव वा मूलम्, येन जडतम ? तमाद्रियसे ? अनुमितत्वातज्ञायमान एवेति चेत् ? लिङ्गमप्येवमेवास्तु । अनुमेयप्रतीतेः प्राक्तनलिङ्गप्रतीतिरपेक्षिता कारणत्वात्, न तु पश्चात्तनीति चेत् ? शब्दप्रतीतिरप्येवमेव। आचारस्वरूपेण शब्दमूलत्वमनुमीयते, तेन तु शब्देन कर्त्तव्यता प्रतीयत इति चेन्न आचारस्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन मूलान्तरानपेक्षणात् ।

सि० प० वेदः किम् ··· ··· ··· ···

शब्द भी तो विशेष रूप से ज्ञात होकर ही (शब्द) बोध का कारण है। अतः कथित रीति से सामान्य रूप में वेदमूलकत्व के सिद्ध होने पर भी सामान्य रूप से ज्ञात उस वेद के द्वारा अष्टकादि आचारों में इष्टत्व या कर्त्तव्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्यानुमेय वेदशाखा रूप शब्द का विशेषज्ञान तो संभव नहीं है। अतः हे जडतम ? वेद रूप शब्द क्या विना विशेष रूप से ज्ञात होकर ही बोध का कारण है ? इसी लिये क्या वेद का इतना आदर करते हो ?

पू० प० अनुमितत्वात् ··· ··· ··· ···

वेद जब अनुमान प्रमाण से ज्ञात है, तो फिर उसे अज्ञात कैसे कहा जा सकता है ?

सि० प० लिङ्गम् ··· ··· ··· ···

इस प्रकार साधारण रूप से शिष्टाचारत्व हेतु भी तो ज्ञात ही है ।

पू० प० अनुमेयप्रतीतेः स्वरूप ··· ··· ··· ···

दोनों में अन्तर है, चूँकि हेतु की प्रतीति साध्यप्रतीति का कारण है, अतः हेतुज्ञान की आवश्यकता पहिले होती है। प्रकृत में अष्टकादि आचार रूप पक्ष में इष्टत्व या कर्त्तव्यत्व का साधक शिष्टाचारत्व हेतु भी यदि अनुमेय हो, एवं उसका ज्ञान हितसाधनत्व या कर्त्तव्यत्वबुद्धिसापेक्ष हो तो फिर उससे अष्टकादि आचारों में इष्टत्व या कर्त्तव्यत्व की सिद्धि कैसे की जा सकती है ?

सि० प० शब्दप्रतीतिरपि ··· ··· ··· ···

दोनों कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वेद रूप शब्द के अनुमान को छोड़कर अन्य प्रमाणों से भी यदि अष्टकादि आचारों में कर्त्तव्यत्व की सिद्धि हो सकती है, तो फिर तद्विधायक वेद का अनुमान ही व्यर्थ है।

पू० प० आचारस्वरूपेण ··· ··· ··· ···

वाजपेयादि दृष्टान्तों से शिष्टों के विशेष प्रकार के आचार स्वरूप हेतु से अष्टकादि आचारों में शब्दमूलकत्व का अनुमान करते हैं (अष्टकाद्याचाराः, शब्दमूलाः, शिष्टाचारत्वात्,

तस्मात्कर्त्तव्यतायां प्रत्यक्षाभावदप्रमिततया च शब्दानुमानानवकाशात्, प्रत्यक्षश्रुतेरसम्भवाच्छिष्टाचारत्वेनैव कर्त्तव्यातामनुमाय तया मूलशब्दानुमानम्। तथा च किं तेन ? तदर्थस्य प्रागेव सिद्धेः। तथाप्यागममूलत्वेनैव तस्य व्याप्तेरिति चेत्, अत एव तर्हि तस्य प्रत्यक्षानुमानमूलत्वमनुमेयम्।

वाजपेयाद्याचारवत्)। इससे अनुमित 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि शब्दों के द्वारा अष्टकादि आचारों में कर्त्तव्यत्व की प्रतीति होती है। किन्तु 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि आकारों के वाक्य वेदों में उपलब्ध नहीं होते। अतः उन्हें 'नित्यानुमेय' कहते हैं।

सि० प० तस्मात् ··· ··· ··· ··· प्रागेव सिद्धेः··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में पूछना है कि प्रकृत वेदानुमान (१) क्या आचारों की स्वरूपसिद्धि के लिये करते हो ? या (२) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध आचारों में कर्त्तव्यत्व की सिद्धि के लिये करते हो ? इनमें प्रथम पक्ष का खण्डन 'आचारस्वरूपस्य' इत्यादि से इस अभिप्राय से किया गया है कि) (१) अष्टकादि आचारों का स्वरूप तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, इसके लिये वेदादि दूसरे मूलों का अन्वेषण व्यर्थ है। (२) दूसरा पक्ष इस लिये युक्त नहीं है कि जबतक शिष्टाचारत्व हेतु से अष्टकादि की कर्त्तव्यता का ज्ञान नहीं हो जायगा, तब तक उससे वेदों का अनुमान नहीं हो सकता। किन्तु इस कर्त्तव्यत्व का ज्ञान हो जाने पर वेदानुमान की कोई सार्थकता ही नहीं रह जायगी।

पू० प० तथापि··· ··· ··· ···

शिष्टों के द्वारा अनुष्ठित यज्ञादि अनुष्ठानों का वेदमूलक होना प्रसिद्ध है। उसी के बल से शिष्टों के द्वारा आचरित अष्टकादि के अनुष्ठानों में भी वेदमूलकत्व का अनुमान करेंगे। (फलतः शिष्टाचारत्व हेतु में आगममूलकत्व की व्याप्ति में कोई बाधा नहीं है)। अतः इसी व्याप्ति के बल से शिष्टाचारत्व हेतु से कर्त्तव्यत्व का अनुमान करेंगे। इस अनुमित कर्त्तव्यत्व रूप हेतु के बल से ही ज्योतिष्टोमादि के दृष्टान्तों के साहाय्य से अष्टकादि आचारों में वेदमूलकत्व के अनुमान में कोई बाधा नहीं रहेगी।

सि० प० अत एव ··· ··· ··· ···

(यह ठीक है कि वस्तु की सिद्धि प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखती है। सामग्री का संबलन होने से अनपेक्षित एवं अनभीष्ट वस्तु की भी सिद्धि हो जाती है। ऐसा मान लेने पर हम (नैयायिकों) लोगों की अभीष्ट सिद्ध हो जाती है। क्योंकि) शब्द का प्रामाण्य प्रत्यक्ष या अनुमान के अधीन है। (अतः ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं है कि हर एक शब्द चूँकि प्रत्यक्ष या अनुमान मूलक होने के नाते ही प्रमाण है। अतः उक्त वेदार्थों का भी प्रत्यक्ष देखनेवाला या अनुमान करनेवाला पुरुष अवश्य ही है। उसी 'पुरुष' को हम लोग 'परमेश्वर' कहते हैं)।

आदिमतस्तत्त्वं स्यादयं त्वनादिरिति चेत्? आचारोऽपि तर्हि प्रथमतस्तथा स्यात्। अयं त्वनादिर्विनाप्यागमं भविष्यति। आचारकर्त्तव्यताऽनुमानयोरेवमनादित्वमस्तु, किं नश्छिन्नमिति चेत्? प्रथमं तावन्नित्यानुमेयो वेद इति। द्वितीयश्च-देशनैव धर्मे प्रमाणमिति।

अथायमाशयः—वैदिका अप्याचारा राजसूयाश्वमेधादयः समुच्छिद्यमाना दृश्यन्ते, यत इदानीं नानुष्ठीयन्ते।

न चैते प्रागपि नानुष्ठिता एव, तदर्थस्य वेदराशेरप्रामाण्यप्रसङ्गात्

पू० प० आदिमतः ... ...

सादि जो हमलोगों के वाक्य, उन्हीं का प्रामाण्य प्रत्यक्ष या अनुमान की अपेक्षा रखता है। वेद तो अनादि है, उनका प्रामाण्य प्रत्यक्ष या अनुमान के अधीन नहीं है। (अतः उक्त रीति से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती)।

सि० प० आचारोऽपि तर्हि ... ...

इसी प्रकार आचार के प्रसङ्ग में भी कहा जा सकता है कि ज्योतिष्टोमादि जिन आचारों का अनुष्ठान उनके अनुष्ठाताओं ने उन्हें पहिले वेदों में देखकर ही किया, वे सभी अनुष्ठान भले ही वेदमूलक रहे हों। किन्तु शिष्टों ने अष्टकादि जिन आचारों का अनुष्ठान अपने से पूर्व के शिष्टों के अनुष्ठानों को देखकर ही करते आये हैं, उन में कर्त्तव्यत्व या इष्टत्व की सिद्धि अनुमान से ही होगी।

पू० प० आचारकर्त्तव्यतानुमानयोः ... ...

इन अष्टकादि आचारों को अगर अनुमान मूलक मान ही लें तो इसमें क्या हानि है?

सि० प० प्रथमं तावत् ... ...

पहिली हानि आप (प्राभाकरों) की यह होगी 'नित्यानुमेय' वेदों की सत्ता लुप्त जायगी। क्योंकि अप्रत्यक्षवेदमूलक अष्टकादि आचारों में कर्त्तव्यत्व या इष्टत्व की सिद्धि के लिये ही तो नित्यानुमेय वेदशाखाओं की कल्पना करते हैं, सो जब प्रत्यक्ष या अनुमान से ही उपपन्न हो जायगी तो फिर नित्यानुमेय वेदशाखाओं की कल्पना अवश्य ही व्यर्थ हो जायगी।

दूसरी हानि यह होगी कि आप (मीमांसक) धर्म के लिये जो केवल वेदों के विधायक वाक्य रूप 'देशना' (चोदना) को ही प्रमाण मानते हैं, वह व्याहत हो जायगा।

पू० प० अथायमाशयः ... ...

जिन अनुष्ठानों के विधायक वाक्य अभी वेदों में उपलब्ध हैं, उन में से भी राजसूय, अश्वमेधादि कुछ अनुष्ठानों का उच्छेद देखा जाता है। यह कहना संभव नहीं है कि 'राजसूय प्रभृति जिन यज्ञों का अनुष्ठान अभी नहीं होता है, उन सबों का पहिले भी कभी अनुष्ठान नहीं होता था'। क्योंकि ऐसा मानने पर समुद्रतरण के उपदेशवाक्य के समान उनके विधायक वाक्यों में 'अननुष्ठान' लक्षण (स्वरूप) अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। इस 'आपत्ति' को

समुद्रतरणोपदेशवत् । न चैवमेवास्तु, दर्शाद्युपदेशेन तुल्ययोगक्षेमत्वात् । एवं पुनः
स कश्चित्कालो भविता यत्रैते अनुष्ठास्यन्ते, तथान्येऽप्याचारा समुच्छेत्स्यन्ते, अनुष्ठा-
स्यन्ते चेति न विच्छेदः । ततस्तद्वदागममूलतेति चेत् ? एवं तर्हि प्रवाहादौ लिङ्गाभावे
कर्त्तव्यत्वागमयोरननुमानादसत्यां प्रत्यक्षश्रुतावाचारसंकथापि कथमिति सर्वविप्लवः ।
तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतिरेवमूलमाचारस्य, सा चेदिदानीं नास्तीति शाखोच्छेदः ।

इष्ट करना भी संभव नहीं है, क्योंकि अभी जिन दर्शपौर्णमासादि का अनुष्ठान होता है, उनके
विधायक वाक्यों में और राजसूयादि के अनुष्ठानों के विधायक वाक्यों में कोई अन्तर नहीं है।
अतः उनमें एक को प्रमाण और दूसरे को अप्रमाण नहीं माना जा सकता ।

एवं ऐसा भी समय कभी आ सकता है, जिसमें राजसूय प्रभृति फिर अनुष्ठित हों ।
अतः जितने भी अष्टकादि आचार हैं, उन सबों का उच्छेद, एवं उच्छेद के बाद कालक्रम से
पुनः अनुष्ठान अवश्य ही होगा । इसलिये कोई भी आचार 'अनादि' नहीं है । यह स्थिर हो
जाने पर अष्टकादि आचारों को भी आचारपरम्परामूलक नहीं माना जा सकता । अगत्या
अष्टकादि आचारों का मूल भी वेद रूप आगम प्रमाण को ही मानना होगा । चूँकि उक्त
आगम प्रमाणों का किसी को प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, सदा सर्वदा उक्त प्रकार के आगम वाक्यों
का अनुमान ही होता आया है । अतः उन वाक्यों को 'नित्यानुमेय' कहते हैं । केवल अनुमान
प्रमाण से सिद्ध होना ही 'नित्यानुमेयत्व' है (अष्टकाद्याचाराः वेदमूलाः उच्छेदानन्तरभावि-
प्रवाहितत्वात् राजसूयाश्वमेधादिवत्) इस प्रकार उच्छेद के बाद बार-बार अनुष्ठान की
सम्भावना रहने के कारण किसी भी आचार के अत्यन्त उच्छेद की सम्भावना भी दूर हो
जाती है ।

सि० प० एवं तर्हि … … … …

प्रलयकाल में (प्रलय की सिद्धि की जा चुकी है) स्मृतिग्रन्थों का एवं अनुष्ठानों का
सर्वथा लोप हो जायगा, उस समय कथित 'प्रवाह' बिलकुल ही टूट जायगा । अतः
'विच्छेदानन्तरप्रवाहत्व' स्वरूप हेतु ही 'असिद्ध' है । इसलिये इस हेतु से अष्टकादि आचारों में
वेदमूलकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता । वेदों में अष्टकादि आचारों के विधायकवाक्य
उपलब्ध नहीं है । अतः अष्टकादि आचारों की बातें ही उठ जायँगी । इस प्रकार अष्टकादि
आचारों के अनुष्ठानों की सभी बातें ही छोड़ देनी पड़ेगी । इसलिये यह मानना होगा कि
प्रत्यक्षश्रुति ही अष्टकादि आचारों की मूल हैं, कथित 'नित्यानुमेय' श्रुतियाँ नहीं । प्रयत्न
करने पर भी जब अष्टकादि आचारों के विधायक वाक्य वेदों में उपलब्ध नहीं हों, तो
फिर इसी सिद्धान्त को दृढ़ मान लेना होगा कि वेद के जिन शाखाओं में अष्टकादि आचारों
के विधायक वाक्य थे, उन सबों का सर्वथा उच्छेद (विनाश) ही हो गया । (सुनते हैं

अधुनाप्यस्ति सान्यत्रेतिचेत् ? अत्र कथं नास्ति ? किमुपाध्यायवंशानामन्यत्र
गमनात् ? तेषामेवोच्छेदाद्वा ? आहोस्वित् स्वाध्यायविच्छेदात् ? न प्रथमद्वितीयौ,
सर्वेषामन्यत्र गमने, उच्छेदे वा नियमेन भारतवर्षे शिष्टाचारस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात् ।
तस्याध्येतृसमानकर्त्तृकत्वात् । अन्यत आगतैराचारप्रवर्त्तने अध्ययनप्रवर्त्तनमपि
स्यात् । न तृतीयः, आध्यात्मिकशक्तिसंपन्नानामन्तेवासिनामविच्छेदे तस्यासंभवात् ।

कि व्यासादि सहस्र शाखाओं के अध्येता थे । अभी उतनी शाखाओं का अध्ययन नहीं होता
है । इस प्रकार वर्त्तमान काल में अवशिष्ट शाखाओं का अध्ययन न होना ही उनका
'उच्छेद' है) ।

पू० प० अधुनाप्यस्ति ... ...

भारतवर्ष में यद्यपि उन शाखाओं की अध्ययन परम्परा टूट गयी है, किन्तु 'अन्यत्र'
भारतवर्ष से अन्यत्र उन शाखाओं का अध्ययन अभी भी जारी रहने की सम्भावना है । अतः
उन शाखाओं के सर्वथा उच्छेद की कल्पना नहीं की जा सकती ।

सि० प० अत्र कथं नास्ति ... ...

अगर भारतवर्ष से भिन्न देशों में उन शाखाओं का अध्ययन या प्रचलन अभी है
तो फिर भारतवर्ष में ही उनका अध्ययन जारी क्यों नहीं है ? (अन्यत्र उक्त शाखाओं का
अध्ययन जारी रहने में और भारतवर्ष में अध्ययन की परम्परा टूटने के ये तीन ही कारण हो
सकते हैं) । (१) वेद के जिन शाखाओं में अष्टकादि आचारों के विधान थे, उन शाखाओं
का अध्ययन करनेवाला वंश ही भारतवर्ष से बाहर चला गया । या (२) भारतवर्ष में जो
उन शाखाओं के अध्यापक थे, उन सबों का विनाश हो गया । अथवा (३) उन अध्यापकों
के रहने पर भी उनका 'स्वाध्याय' छूट गया ।

इनमें प्रथम और दूसरा हेतु इसलिये ठीक नहीं है कि उन शाखाओं का अध्यापकवर्ग
अगर अन्य देशों में चला गया अथवा उन लोगों का विनाश हो गया, तो फिर उन शाखाओं
में निर्दिष्ट अष्टकादि आचारों का अनुष्ठान भी भारतवर्ष से नियमतः विलुप्त हो जाता ।
क्योंकि जो शिष्टाचार जिस शाखा में निर्दिष्ट रहता है, उस शाखा के अध्येता और अध्यापक
ही उस शिष्टाचार का प्रधान रूप से अनुष्ठान करते हैं । अगर अन्य देशों से आये हुये शिष्टों
के द्वारा उन आचारों की प्रवृत्ति को स्वीकार करें तो फिर यह स्वीकार करने में भी कोई
बाधा नहीं है कि उन व्यक्तियों के द्वारा उन शाखाओं का अध्ययन एवं अध्यापन भी
संभव थे ।

तीसरा हेतु भी ठीक नहीं जंचता, क्योंकि अन्य अनेक कठिन शाखाओं के अध्ययन की
शक्ति से सम्पन्न अन्तवासियों की परम्परा के निरवच्छिन्न रहते हुये केवल उन शाखाओं के
अनध्ययन की कल्पना उचित नहीं है ।

तस्मादायुरारोग्य-बल-वीर्य-श्रद्धा-शम-दम-ग्रहण-धारणादिशक्तेरहरहमपचीयमानत्वात् स्वाध्यायानुष्ठाने क्षीयमाणे कथञ्चिदनुवर्त्तते। विश्वपरिग्रहाच्च न सहसा सर्वोच्छेद इति युक्तमुत्पश्यामः।

गतानुगतिको लोक इत्यप्रामाणिक एवाचारः, न तु शाखोच्छेदः, अनेकशाखागतेतिकर्त्तव्यतापूरणीयत्वात्। एकस्मिन्नपि कर्मण्यनाश्वासप्रसङ्गादिति चेत्?

एवं हि महाजनपरिग्रहस्योपप्लवसंभवे वेदा अपि गतानुगतिकतयैव लोकैः परिगृह्यन्त इति न वेदाः प्रमाणं स्युः। तथा च वृश्चिकभिया पलायमानस्य आशीविषमुखे निपातः।

तस्मात् प्रतिदिन लोगों की आयु, आरोग्य, बल, वीर्य, श्रद्धा, शम, दम, ग्रहण और धारण की शक्ति क्रमशः क्षीण हो रही है। स्वाध्याय और अनुष्ठान ये सभी आयु एवं आरोग्यादि की अपेक्षा रखते हैं। अतः उन सबों के क्षयक्रम से स्वाध्याय और अनुष्ठान भी क्षीण हो रहे हैं'। विश्व का बहुत बड़े जन समुदाय में इन का प्रचार है, अतः एक ही बार सभी अनुष्ठानों का और सभी शाखाओं का उच्छेद नहीं हो जाता।

पू० प० गतानुगतिको लोकः ··· ··· ··· ··· अनाश्वासप्रसङ्गात्।

अष्टाकादि आचारों का मूलप्रमाण वेद नहीं हैं। जनसाधारण 'गतानुगतिक' होता है (तत्त्व चिन्तक नहीं)। किसी को कोई अनुष्ठान करते देखा, फिर बिना उसके मूल प्रमाण की चिन्ता के ही उसका अनुष्ठान करने लगे। अगर सभी अनुष्ठानों का मूल वेद को ही माना जाय तो फिर किसी क्रिया के प्रति यथावत् अनुष्ठित होने का विश्वास करना ही संभव नहीं होगा। क्योंकि जिस शाखा में जिस अनुष्ठान का विधान रहता है, उनकी बहुत-सी 'इतिकर्तव्यतायें' अन्यशाखों में कथित रहतीं है। यह नियम नहीं हैं कि जिस शाखा में जिस अनुष्ठान का विधान हो, उनकी सभी इतिकर्त्तव्यताओं का उल्लेख उसी शाखा में रहे। (देखिये ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य अ० ३ पा० ३ अधि० ३५ सू० ५५-५६) ऐसी स्थिति में अगर किसी शाखा के अत्यन्त उच्छेद की कल्पना कर लेंगे, तो यह शङ्का सभी भागों की 'इतिकर्त्तव्यताओं' के प्रसङ्ग में होगी कि 'इस भाग की कोई इतिकर्त्तव्यता उच्छिन्न शाखाओंमें तो नहीं थी, अतः किसी भी भाग के यथावदनुष्ठित होने का विश्वास ही उठ जायगा। अतः शाखोच्छेद की बात ठीक नहीं है।

सि० प० एवं हि··· ··· ··· ···निपातः

अगर महाजनों से परिगृहीत आचारों को प्रामाणिक न मान कर गतानुगतिक मानें तो फिर वेदों के प्रसङ्ग में ही यह बात उपस्थित होगी कि लोग चूंकि गतानुगतिक होते हैं, अतः 'महाजनों' ने वेदों का परिग्रह किया। इसलिये महाजन परिगृहित होने के कारण वेद को प्रमाण नहीं माना जा सकता। मीमांसकों के लिये 'महाजनपरिगृहीतत्व' वेदप्रामाण्य का एक प्रधान स्तम्भ है। वे अगर उच्छिन्न शाखा की कल्पना से

एनमेव च कालक्रमभाविनमनाश्वासमाशङ्कमानैर्महर्षिभिः प्रतिविहितमतो नोक्तदोषोऽपि। न चायमुच्छेदो ज्ञानक्रमेण, येन श्लाघ्यः स्यात्। अपि तु प्रमाद-मद-मानालस्य-नास्तिक्यपरिपाकक्रमेण। ततश्चोच्छेदानन्तरं पुनः प्रवाहः, तदनन्तरश्च पुनरुच्छेद इति सारस्वतमिव स्रोतः।

एक भी क्रिया में 'अनाश्वास' रूप विच्छू के डर से भाग कर वे महाजनों से परिगृहीत अष्टकादि आचारों को अप्रमाणिक मानेंगे तो सम्पूर्ण वेदों के प्रामाण्य के परित्याग रूप व्याघ्र के मुँह में वे जा गिरेंगे।

अतः यह मानना होगा कि शिष्ट जनों से अष्टकादि जितने भी आचार अनुष्ठित हो रहे हैं, एवं उनके विधायकवाक्य वर्तमान वेदशाखाओं में नहीं मिलते, उन सभी वाक्यों से युक्त वेदशाखायें अवश्य थीं। जो विलुप्त हो जाने के कारण उपलब्ध नहीं हो रही है।

एनमेव च ··· ··· ··· ···

तब रही उच्छिन्न शाखा की कल्पना से 'इतिकर्त्तव्यताओं' के प्रसङ्ग में 'अनाश्वास' की बात, उसका यह समाधान है कि कालक्रम से होनेवाली वेदह्रास की इस संभावना को देख कर ही महर्षियों ने कथित 'अननुष्ठान' स्वरूप. अप्रामण्य दोष को मिटाने के लिये 'कल्प-सूत्रादि' ग्रन्थों की रचना कर उसका प्रतीकार कर दिया है। उन में उन इतिकर्त्तव्यताओं के ऊल्लेख से ही उक्त 'अनाश्वास' दोष मिट जायेगा। क्यों कि उन ग्रन्थों के द्वारा उन 'इतिकर्त्तव्यताओं' का निर्णय हो जाता है।

न चायमुच्छेदः ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि अष्टकादि आचार अगर वेदमूलक होते, तो फिर वेदों के अन्य शाखाओं की तरह, वे शाखायें भी परिगृहीत होने के कारण अन्यशाखाओं की तरह विद्यमान रहतीं, सो नहीं हैं। अतः समुद्रतरण के उपदेश की तरह वे शाखायें ही अप्रमाणिक थीं। इसी लिये शिष्टों ने उन्हें त्याग दिया। अतः तन्मूलक अष्टकादि आचारों की सत्ता स्वीकार करने पर भी उन्हें प्रामाणिक नहीं मानेंगे। इसलिये उन शाखाओं का अगर उच्छेद हो गया तो इससे कोई हानि नहीं है) किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अगर शिष्टजन अप्रामाणिक समझ कर उन शाखाओं को छोड़ देते तो यह बात आप के सुभीते के लिये हो सकती थी। किन्तु उनमें अप्रमाण्य ज्ञान होने के कारण तो शिष्टों ने उनका त्याग नहीं किया। उनका त्याग तो प्रमाद, मद, मान, आलस्य एवं नास्तिक्य प्रभृति दुर्गुणों की वृद्धि के कारण किया गया है, अतः उन शाखाओं का त्याग न प्रशंसनीय है, एवं न वे आचार अप्रमाणिक हैं।

ततश्च··· ··· ··· ···

अतः जिस प्रकार अष्टकादि आचारों के विधायकवाक्यों से युक्त वेद की शाखाओं का विनाश हुआ, उसी प्रकार संपूर्ण वेद का ही विनाश हो जायगा (वेदाः उच्छेत्स्यन्ति वेदत्वात्

अन्यथा कृतहानप्रसङ्गात्। तथा च भाविप्रवाहवद्भूवन्नप्ययमुच्छेदपूर्वक इत्यनुमीयते। स्मरति च भगवान् व्यासो गीतासु भगवद्वचनम्—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

आचारानुमितवेदवत्)। अतः सरस्वती नदी की प्रवाह के समान उच्छेद के बाद प्रवाह, प्रवाह के बाद पुनः उच्छेद को धारा चलती रहती है। (अगर वर्त्तमान वेदशाखाओं का उच्छेद मानने पर भी इस उच्छेद के बाद पुनः प्रवाह रूप सृष्टि और पुनः उच्छेद की धारा को अगर स्वीकार न करें तो, इस उच्छेद से पहिले को सृष्टि के शरीर से किये गये कर्मों का भोग्य दूसरे शरीर से संभव न होने के कारण उक्त कृतकर्म विफल हो जाँयगे। क्योंकि इस प्रवाह के शरीर से किये गये कर्म का भोग तो इस शरीर से संभव नहीं है, आगे पुनः प्रवाह रूप सृष्टि होगी नहीं, तो फिर उस कर्म की क्या सार्थकता होगी? क्योंकि इस प्रवाह के शरीर के द्वारा अनुष्ठित वाजपेयादि अनुष्ठानों का फल इस प्रवाह के शरीर के द्वारा भोगा नहीं जा सकता। एवं आगे जब वह प्रवाह रुक ही जायगा तो फिर दूसरे शरीर की संभावना ही नहीं रह जाती है, फिर उक्त 'कर्म' की सार्थकता ही क्या रह जायगी?

तथा भाविप्रवाहवत्··· ··· ··· ···

एवं वर्त्तमान प्रवाह (सृष्टि) से पहिले भी प्रवाह का विच्छेद हो चुका रहता है। अर्थात् जिस प्रकार भावी प्रवाह से पहिले प्रवाह का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार वर्त्तमान प्रवाह से पहिले भी दूसरे प्रवाह का उच्छेद अवश्य रहता है (क्यों कि यह प्रवाह भी प्रवाह ही है) (अयम् वर्त्तमानप्रवाहः उच्छेदपूर्वकः प्रवाहत्वात् भाविप्रवाहवत्)

'सृष्टि और प्रलय की धारा अनादि और अनन्त है' इस प्रसंग में, श्री भगवान् के इन बचनों को श्री महर्षि व्यासदेव ने भी गीता में स्मरण किया है।

(१) जब-जब यागादि धर्मों का ह्रास होता हैं, एवं हिंसादि अधर्मों का उदय होता है, तभी हम पुनःपुनः बार-बार धर्म की स्थपना के लिये और अधर्म के विनाश के लिये अवतार लेता हूँ।

(२) सज्जनों की रक्षा के लिये एवं पापियों के विनाश के लिये 'युग-युग' में मैं विशेष शरीर को धारण करता हूँ।

(इस दोनों श्लोंको के 'यदा यदा' और 'युगे युगे' इन दोनों वीप्साओं (द्विरुक्तिओं) से सृष्टियो और प्रलयों की धारा का अनादित्व और अनन्तत्व अभिव्यक्त होता है)

कः पुनरयं महाजनपरिग्रहः ? हेतुदर्शनशून्यैर्ग्रहणधारणार्थानुष्ठानादिः, स ह्यत्र न स्यादृते निमित्तम् । न ह्यस्यालस्यादिर्निमित्तम्, दुःखमयकर्मप्रधानत्वात् । नाप्यन्यत्र सिद्धप्रामाण्येऽभ्युपायेऽनधिकारेणास्मिन्नन्यगतिकतयाऽनुप्रवेशः, परैः पूज्यानामप्यत्रावेशात् । नापि भक्ष्यपेयाद्यद्वैतानुरागः, तद्विभागव्यवस्थापरत्वात् ।

पू० प० कः पुनरयम् ··· ··· ··· ···

(जिस 'महाजनपरिग्रह' को वेद के प्रामाण्य का ज्ञापक कहा गया) वह महाजन-परिग्रह' क्या वस्तु है ?

(३) ··· ··· ··· हेतुदर्शनशून्यैः ··· ··· ··· ···

सांसारिक किसी प्रयोजन के अभिप्राय के बिना वेदों का अध्ययन, धारण, और वेदों में विहित क्रियाओं का शिष्टों के द्वारा अनुष्ठान ही वेदों का 'महाजनपरिग्रह' है ।

(वेदों के महाजनपरिगृहीतत्व के ये आठ बाधक हैं (१) आलस्य (२) अनन्यगतिकत्व (६)भक्ष्यपेयाद्यद्वैतानुराग (४) कुतुर्काभ्यास (५) पाषण्ड-संसर्ग (६) अध्ययता की अभिसन्धि (७) जीविका और (८) कुहकवंचना । अगर इन हेतुओं में से किसी के द्वारा वेदों का उक्त परिग्रह सिद्ध हो जाय तो वेदों के 'परिग्रह' को महाजनपरिग्रह नहीं कहा जा सकता ।

(१) बौद्धादि प्रतिपक्षी कहते हैं कि वेदों का कथित परिग्रह केवल आलसी लोग करते हैं । जिन्हें अन्य कोई सांसारिक कार्य ठीक से नहो सभल पाता, वे ही लोग वेदादि के अध्ययन में समयक्षेप करते हैं । इस आक्षेप के विरुद्ध आचार्य कहते हैं कि वेद के उक्त परिग्रह को 'आलस्य' मूलक नहीं कहा जा सकता । क्यों कि 'परिग्रह' के अन्तर्गत वे सभी अनुष्ठान भी हैं, जो अन्यन्त दु:साध्य हैं । अत: वेदों के जिस परिग्रह में दु:खबहुलता हो उसे आलस्य मूलक नहीं कहा जा सकता ।

नाप्यन्यत्र सिद्धप्रामाण्ये ··· ··· ··· अत्राप्रवेशात् ··· ··· ···

(२) (बौद्धों का कहना है कि बौद्ध शास्त्र के परिग्रह के अनधिकारी पुरुषों के द्वारा वेदों का परिग्रह इस संदेह से किया जाता है कि अगर वेद प्रमाण होंगे तो उन के परिग्रह से मेरा अभीष्ट सिद्ध हो जायगा । अगर अप्रमाण भी होंगे तथापि, उसके परिग्रह से कोई हानि नहीं होगी । इसके उत्तर में आचार्य का कहना है कि) बौद्धधर्मावलम्बी जनता के परमपूज्य 'भिक्षुओं' के लिये भी जब वेदों का परिग्रह निषिद्ध है, तो फिर यह कहना हास्यास्पद है कि 'बौद्धपक्ष से विचलित पुरुष ही वेदों का परिग्रह करते हैं' ।

नापि भक्ष्यपेयादि ··· ··· ··· ···

(३) बौद्धों का आक्षेप है कि बौद्धशास्त्र में भक्ष्याभक्ष्य के बहुत से विधि-निषेध हैं । अत: जो यथेच्छ भोजन और यथेच्छ पानके अभिलाषी है, उन्हें बौद्धागम के परिग्रह से

नापि कुतर्काभ्यासाहितव्यामोहः, आकुमारं प्रवृत्तेः। नापि सम्भद्विप्रलम्भ-पाषण्डसंसर्गः, पित्रादिक्रमेण प्रवर्त्तनात्। नापि योगाभ्यासाभिमानेनाव्यग्रताभिसन्धिः, प्राथमिकस्य कर्मकाण्डे सुतरां व्यग्रत्वात्। नापि जीविका, प्रागुक्तेन न्यायेन

असुविधा होती है। अतः वे 'भक्ष्यपेयद्वैत' के भक्ष्याभक्ष्य के बन्धन से छूट कर 'भक्ष्यपेयाद्वैत' की कामना से अर्थात् 'सभी पदार्थ भक्ष्य है, सभी वस्तु पेय हैं' कोई पदार्थ अभक्ष्य और अपेय नहीं है' इस 'अद्वैत' कामना से लोग वेदों का परिग्रह करते हैं। आचार्य का कहना है कि यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेदों में (एवं तदनुयायिनी स्मृतियों में) अत्यधिक भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय के 'द्वैत' है। अतः वेदों के परिग्रह' को कथित 'अद्वैतानुराग' मूलक भी नहीं कहा जा सकता।

वेदों का परिग्रह कुतर्क के अभ्यास से भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अभ्यास' के लिये अधिक 'वय' की अपेक्षा होती है। किन्तु केवल 'वयस्क' लोग ही वेदों का परिग्रह नहीं करते। बच्चे से लेकर बूढ़े तक वेदों के 'परिग्रह' करनेवालों में देखे जाते हैं।

कुछ ठगनेवाले पाषण्डों के संसर्ग से भी वेदों का परिग्रह नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदों का परिग्रह पितृपितामह से परिगृहीत मार्ग को छोड़ कर अभिनव मार्ग का कोई ग्रहण करे तो उसके प्रसङ्ग में यह शङ्का की जा सकती है कि 'कदाचित इसने किसी पाषण्डी के भुलावे पड़कर इस अभिनव मार्ग का ग्रहण किया है।

नापि योगाभ्यासानुमानेन ··· ··· ··· ··· ···

यह कहना भी संभव नहीं है कि 'वेदों में चूँकि योग का विधान है, अतः योगाभ्यास के व्याज से सांसारिक व्यग्रताओं से दूर रहनेवालों से ही वेद परिगृहीत हैं, क्योंकि ऐसा वे ही कह सकते हैं जिन्होंने वेदों का अवलोकन नहीं किया हैं। वेदों में प्रथमतः कर्मकाण्डों का ही विधान है। बाद में ब्रह्मकाण्ड का प्रतिपादन है, जिसमें योगाभ्यास की भी चर्चा है। अतः वेदपरिग्रहीताओं को पहिले कर्मकाण्ड के पीछे ही व्यग्र रहना पड़ता है।

नापि जीविका ··· ··· ··· ··· ···

पौरोहित्य के व्यवसाय से जीविका निर्वाह करने के लिये भी वेदों का परिग्रह नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'वेदों का परिग्रह जीविकादि दृष्ट फल के नहीं किया जाता (दृष्ट-लाभफला वापि' इस श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य)।

'कुहक' अर्थात् ठगनेवालों की 'वञ्चना' से वशीभूत होकर (अर्थात् वेदों आदित्य स्तम्भनादि रूप अद्भुत कार्यों के उपाय लिखे हुये हैं, अतः वेदों का परिग्रह करना चाहिए इस विप्रलम्भ से वशीभूत होकर भी) वेदों का परिग्रह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि वेदों में इस प्रकार उक्तियाँ हैं ही नहीं। (अतः वेद 'महाजनपरिगृहीत' होने के कारण अवश्य ही प्रमाण है।)

दृष्टफलाभावात् । नापि कुहकवञ्चना, प्रकृते तदसंभवात् ।

संभवन्ति चैते हेतवो बौद्धाद्यागमपरिग्रहे । तथा हि भूयस्तत्र कर्मलाघवमित्यलसाः । इतः पतितानामप्यनुप्रवेश इत्यनन्यगतिकाः । भक्ष्यापेयाद्यनियम इति रागिणः । स्वेच्छया परिग्रह इति कुतर्काभ्यासिनः । पित्रादिक्रमाभावात् प्रवृत्तिरिति पाषण्डसंसर्गिणः । 'उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते' इत्यादि श्रवणादव्यग्रताभिमानिनः । सप्तघटिकाभोजनादिसिद्धेर्जीविकेत्ययोग्याः । आदित्यस्तम्भनं

(वेदों का महाजनों के द्वारा परिगृहीत होने में जितने भी आलस्यादि हेतु दिखलाये वे, सब वेदों के परिग्रहमें तो है ही नहीं, प्रत्युत बौद्धादि के आगमों के परिग्रह में ही वे हेतु अवश्य संभावित हैं । क्योंकि:—

बौद्धादि आगमों का परिग्रह इस आलस्य के वशीभूत होकर किया जाता है कि (वेदागम की अपेक्षा से) बौद्धादि आगमों में करने के लिये थोड़े से कर्मों का विधान है ।

बौद्धादि आगमों का परिग्रह वे ही लोग करते हैं जिनके लिये अनाचारादि के कारण वैदिकमार्ग में फिर लौटने की गति नहीं रह जाती ।

कुछ भोजन के अनुरागी वेदागमों में भक्ष्य पेय के सम्बन्ध में अति विधिनिषेध के कारण भीत होकर बौद्धादि आगमों का परिग्रह करते हैं ।

कुतर्क करने में अभ्यस्त कुछ लोग गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन कर अपनी इच्छा को महत्त्व प्रदान करने के लिये बौद्धादि आगमों का परिग्रह करते हैं ।

कुछ लोग पाखण्डियों के संपर्क में आकर वेदमार्ग को छोड़ पितृपितामह क्रम से अप्राप्त भी बौद्धादि आगमों का अवलम्बन करते हैं ।

शरीर[1] अत्यन्त मलिन है और आत्मा मलों से सर्वथा रहित है । (इस प्रकार की शास्त्र की उक्तियों से शरीर और आत्मा के अन्तर को समझ कर यह नहीं जान पड़ता कि किस की शुद्धता का शास्त्रों के विधान हैं ?) अतः वेदादि शास्त्रों से विहित शुचि आचारों के पालन के लिये व्यग्र होना उचित नहीं है । इस प्रकार की दृष्टिवाले कुछ 'अव्यग्रताभिमानी' लोग भी बौद्धादि आगमों का परिग्रह करते हैं ।

वेद एवं तदनुयायि मार्गों को छोड़ देने से दिनभर भोजन करने में कोई बाधा नहीं होगी । इस प्रकार की दृष्टिवाले कुछ 'अयोग्य' लोग ही अर्थात् वेदादि विधानों के पालन में अयोग्य कुछ पुरुष ही बौद्धादि शास्त्रों का परिग्रह करते हैं । कुछ ठग लोग कुछ समय तक सूर्य

1. अत्यन्तमलिनः कायो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥

पाषाणपाटनं शाखाभङ्गो भूतावेशः प्रतिमाजल्पनं धातुवाद इत्यादिधन्वनात्कुहकविञ्चताः। ततस्तान् परिगृह्णन्तीति सम्भाव्यते। अतो न ते महाजनपरिगृहीता इति विभागः।

स्यादेतत्। यद्येवं सर्वकर्मणां वृत्तिनिरोधे न किञ्चिदुत्पद्यते, न किञ्चिद्विनश्यतीति स्तिमिताकाशकल्पे जगति कुतो विशेषात् पुनः सर्गः ?।

प्रकृतिपरिणतेरिति साख्यानां शोभते। ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्रे युज्यते।

को एक ही स्थान पर रोक कर दिखाते हैं, हाथ से पत्थर को तोड़ते हैं, दूसरों के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं, पाषाणप्रतिमा से शब्दोच्चारण कराते हैं। 'धातुवाद' अर्थात् लोह को सुवर्ण एवं सुवर्ण को लोह बना कर दिखाते हैं। ठगों के इन आश्चर्यजनक कार्यों से प्रभावित कुछ 'कुहकवञ्चित' लोग भी बौद्धादि आगमों का परिग्रह करते है। अतः बौद्धादि के आगम वेदादि आगमों के समान महाजन परिगृहीत नहीं हैं।

पू० प० स्यादेतत्... ... ...पुनः सर्गः

('सर्गप्रलयसंभवात्' इस उक्ति का इस प्रकार समर्थन के बाद कोई उदासीन मित्रभाव से पूछते हैं कि) प्रलय काल में सभी जीवों के सभी अदृष्टों की कार्य करने की क्षमता जब रुक जाती है, उसके बाद न किसी का नाश हो सकता है, न किसी की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार संसार की स्थिति जब स्तब्ध आकाश की तरह रहती है, उस समय कौन-सा 'विशेष' उपस्थित होता है, जिससे पुनः सृष्टि होने लगती है ?

सि० प० प्रकृतिपरिणतेः ... ... अनुधावति

इस प्रसङ्ग में सांख्यदर्शन के आचार्यों का मत है कि प्रलय के बाद प्रकृति ही महदादि रूप से परिणत होकर पुनः सृष्टि करती है।[1]

प्रलय के बाद ब्रह्म के परिणाम स्वरूप 'विशेष' से पुनः सृष्टि होती है। यह 'भास्करागोत्रानुयायी वेदान्तियों का मत है, जो किसी हदतक ठीक है।[2]

---

१. इस पक्ष में 'सांख्यानां शोभते, इस वाक्य के द्वारा आचार्य ने अपनी असहमति व्यक्त की है। आचार्य की इस असहमति को व्यक्त करते हुये वरदराज मिश्र ने लिखा है कि 'मातुलदुहितेव दाक्षिणात्यानाम् न तु प्रामाणिकानाम्' अर्थात् जिस प्रकार मातुलसुता के साथ परिणय दाक्षिणात्यों को ही शोभा देता है, किसी दूसरे प्रान्तवासियों को नहीं। उसी प्रकार प्रकृति से उक्त प्रकार से सृष्टि की उक्ति सांख्य के आचार्यों को ही शोभा देती है, किसी प्रामाणिक संप्रदाय को नहीं।

२. भास्कराचार्य के इस मत के प्रसङ्ग में आचार्य ने जो आदर प्रकट किया है, उसको व्यक्त करते हुए बोधिनीकार ने लिखा है कि 'भास्करगोत्रे एव युज्यते—कुलवधूरिव-श्रोत्रियगोत्रे'। अर्थात् जिस प्रकार श्रोत्रिय वंश में केवल कुलीना वधू ही शोभा

वासनापरिपाकादिति सौगतमतमनुधावति। कालविशेषादिति चोपाधिविशेषाभावादयुक्तम्।

असतां चोपलक्षणानां न विशेषकत्वम्; सर्वदा तुल्यरूपत्वात्। न च ज्ञानद्वारा,

---

बौद्ध लोगों का कहना है कि प्रलय के बाद पुनः सृष्टि वासना के परिपाक से होती है। (अर्थात् विज्ञानों का समूह ही संसार है। इस समूह के आगे-आगे के विज्ञानों का पूर्व पूर्ववर्ती विज्ञानों के विषयों का विषय होना ही 'वासना' है। इस वासना का 'परिपाक' अर्थात् तत्स्वरूप सहकारि कारण का लाभ रूप 'विशेष' से ही प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होती है।[1]

कालविशेषादिति ··· ··· ··· ···

'काल विशेष' से ही प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होती है (यह नैयायिकों का मत भी) ठीक नहीं है, क्योंकि जो संयोगविभागादि कालों के भेदव्यवहार के नियामक हैं, उनमें से उस समय कोई नहीं रहता। अतः प्रलय के अन्तिम क्षण में और उससे पूर्व के क्षणों में अन्तर का नियामक न रहने से प्रलय काल में भी सृष्टि की आपत्ति होगी।

असतां च ··· ··· ··· ···

अगर प्रलय काल में अविद्यमान संयोगविभागादि क्षणों का भेदक (व्यावर्तक) मानें और इससे प्रलय के अन्तिम क्षण को प्रलय काल के और क्षणों से अन्तर करें तो भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि संयोगविभागादि की अविद्यमानता तो प्रलय के अन्तिम क्षण से लेकर उसके पूर्व के प्रलयावधिक सभी क्षणों में है ही। फिर प्रलयकाल में भी सृष्टि की आपत्ति होगी।

न च ज्ञान द्वारा ··· ··· ···

(नैयायिक लोग कह सकते हैं कि) प्रलय के सभीक्षणों में या किसी भी क्षण में यद्यपि संयोग विभागादि नहीं रहते, फिर भी उनका ज्ञान प्रलय के किसी क्षण विशेष में रहता है, एवं कुछ क्षणों में नहीं। अतः संयोग विभागादि अपने ज्ञान रूप व्यापार के द्वारा प्रलय के क्षणों में परस्पर व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न कर सकता है। अतः प्रलय के अन्तिम क्षण में उक्त संयोगादि का ज्ञान है। जिससे तदव्यवहित उत्तरक्षण में सृष्टि होती है। अन्यक्षणों में उक्त ज्ञान नहीं है, अतः प्रलय काल में सृष्टि नहीं होती है।

पाती है, उसी प्रकार उक्त प्रकार की सदुक्ति केवल भास्कर मतानुयायियों के पास ही शोभा देती है।

1. बौद्ध मत में आचार्य की असहमति को 'अनुधावति' पद से व्यक्त करते हुये बोधिनीकार ने लिखा है कि 'सौगतमतमनुधावति—वेशवनितेव धनवन्तम्' अर्थात् जिस प्रकार, वेश्यायें केवल धनिकों की तरफ दौड़ती हैं, उसी प्रकार उक्त 'वासना परिपाक' वाला पक्ष बौद्धों की ही तरफ दौड़ता है।

अनित्यस्य तस्य तदानीमभावात् । नित्यस्य च विषयतः स्वरूपतश्च अविशेषादिति चेन्न । शरीरसंक्षोभश्रमजनितनिद्राणां प्राणिनामायुः परिपाकमसम्पादनैकप्रयोज-

---

अनित्यस्य तस्य ... ...

(किन्तु नैयायिकों का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त ज्ञान अगर अस्मदादि का अनित्यज्ञान हो, तो फिर उसकी सत्ता प्रलय काल में संभव नहीं है, क्यों कि प्रलयकाल में और सभी भाव पदार्थों की तरह सभी ज्ञानों का भी नाश हो जाता है ।

नित्यस्य ... ...

अगर उक्त 'ज्ञान' से नित्यज्ञान अभिप्रेत हो तो फिर प्रलयकाल में भी सृष्टि की आपत्ति होगी, क्यों कि ईश्वरीयज्ञान रूप नित्यज्ञान का स्वरूप या विषय का सम्बन्ध सभी क्षणों में बराबर है ।

सि० प० न, शरीरसंक्षोभश्रमजनितनिद्राणाम् ... ...

(नैयायिकों का सिद्धान्त है कि 'अदृष्ट' विशेष से ही प्रलय काल के बाद सृष्टि होती है। उक्त काल विशेषावच्छिन्न सृष्टि करने की ईश्वर की इच्छा उसकी सहकारिणी है) ।

जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में एक ही समय पर (युगपत) अदृष्ट की सभी वृत्तियां निरुद्ध रहती हैं । फिर भी सुषुप्ति के समय श्वास और प्रश्वास चलते हैं, उसके बिना पुरुष की आयु का यह निर्धारण नहीं हो सकता है कि कितनी आयु का भोग हो चुका है और कितना अवशिष्ट है । इसी से प्रलय का जो ब्राह्ममान से सौ वर्ष की आयु कही गयी है उस आयुःकाल का भी निर्धारण संभव होता है । क्योंकि उसी प्रकार ईश्वर के निःश्वास स्वरूप परमाणुओं की क्रियाओं से 'कदाचित्' अर्थात् प्रलय के अव्यवहित उत्तरकाल में ही सृष्टि होती है, उससे पहिले नहीं । (अर्थात् ईश्वरीयनिःश्वास शब्द से शास्त्रों में प्रसिद्ध परमाणुओं की क्रियाओं में से अन्तिम क्रिया ही उक्त 'काल विशेष' की उपाधि है । अतः प्रलय के अन्तिम क्षण तक सृष्टि नहीं होती है) ।

(संयोग दो प्रकार के हैं, एक आरम्भक संयोग, जिससे घट की उत्पत्ति होती है, वह आरम्भक संयोग है । कपालों में पृष्ठावच्छेदेन जो संयोग है वह अनारम्भक संयोग है, क्योंकि इस से घट का आरम्भ नहीं होता है) । प्रलय काल में परमाणुओं में आरम्भक संयोगों के न रहने पर भी अनारम्भक संयोग रूप प्रचय अवश्य रहता है । इस प्रचय की उत्पादिका क्रिया भी प्रलय काल में भी परमाणुओं में अवश्य रहती । इन क्रियाओं को ही उपनिषदादि में 'ईश्वर का निश्वास' कहा गया है । अतः प्रलय काल के घटक क्षणों में परस्पर भेद की प्रयोजिका उक्त क्रियायें हो सकती हैं ।

नश्वाससन्तानाऽनुवृत्तिवन्महाभूतसंप्लवसंक्षोभलब्धसंस्काराणां परमाणूनां मन्दतर-तमादिभावेन कालावच्छेदैकप्रयोजनस्य प्रचयाख्यसंयोगपर्यन्तस्य कर्मसंतानस्येश्वर-निश्वसितस्याऽनुवृत्तेः। कियानसाविस्यत्राऽविरोधादागमप्रसिद्धिमनतिक्रम्य तावन्तमेव कालमित्यनुमन्यते।

ब्रह्माण्डान्तरव्यवहारो वा कालोपाधिः। तदवच्छिन्ने काले पुनः सर्गः। यथा खल्वलाबुलतायां विततानि फलानि, तथा परमेश्वरशक्तावनुस्यूतानि सहस्रशोऽण्डानीति श्रूयते। एवं विच्छेदसम्भवे कस्य केन परिग्रहो यतः प्रामाण्यं

(प्रलय काल की उक्त क्रियाये किस से उत्पन्न होती है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) पृथिव्यादि महाभूतों के 'संप्लव' अर्थात् विनाश के लिए उनमें 'संक्षोभ' से ही परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। इन क्रियाओं से परमाणुओं में जो 'वेग' नाम का संस्कार उत्पन्न होता है, उसकी अनुवृत्ति प्रलय काल में भी रहती है, अतः परमाणुओं में प्रलय काल में भी क्रियाओं की उत्पत्ति होती रहती है।

(प्रलय काल में परमाणुओं में क्रियाओं की उत्पत्ति किस प्रयोजन से होती है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) ब्रह्माण्ड की प्रलयावस्था कितने समय तक रहती है? इसका निर्णय क्षणादि निर्णय के बिना संभव नहीं है। क्षणादि का व्यवहार क्रिया रूप उपाधि के बिना संभव नहीं है। अतः विवश होकर प्रलय काल में भी परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति माननी पड़ती है।

कियानसौ ··· ··· ··· ···

'प्रलय' का वह समय कितना है? (इस प्रश्न का उत्तर यह है कि) पुराणादि में जो ब्राह्ममान से सौ वर्षों का समय कहा गया है, उसी को स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि इसको स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं है।

(२) ब्रह्माण्डान्तर ··· ··· ··· ··· इति श्रूयते

वेदादि शास्त्रों से श्रुत है कि जिस प्रकार लौकी की बेल में अनेक लौकियाँ लटकी रहती हैं, उसी प्रकार परेश्वर की शक्ति में अनेकानेक ब्रह्माण्ड अनुस्यूत रहते हैं। अतः जिस समय एक ब्रह्माण्ड का नाश रूप प्रलय होता है, उसी समय कुछ अन्य ब्रह्माण्डों का सृजन भी होता रहता है। सुतराम् सृज्यमान ब्रह्माण्ड में क्षणादि व्यवहार के प्रयोजक कर्म ही अपर ब्रह्माण्ड के प्रलय काल का एवं तदन्तर काल में सृष्टि का नियामक हो सकता है।

एवं विच्छेदसम्भवे ··· ··· ··· ···

(१) यदि ईश्वर को नहीं मानेंगें तो कथित रीति से सिद्ध प्रलय काल में वेदादि का एवं सभी पुरुषों का नाश हो जायगा। फिर किसका परिग्रह किसके द्वारा होगा? जिस से

स्यात्। ज्ञापकश्चायमर्थो न कारकः। ततः कारकाभावान्निवर्तमानं कार्यं ज्ञापकाभिमतः कथङ्कारमास्थापयेत्।

स्यादेतत्। सन्तु कपिलादय एव साक्षात्कृतधर्माणः कर्मयोगसिद्धास्त एव संसाराङ्गारेषु पच्यमानान् प्राणिनः पश्यन्तः परमकारुणिकाः प्रियहितोपदेशे-नाऽनुग्रहिष्यन्ति, कृतं परमेश्वरेणाऽनपेक्षितकीटादिसंख्यापरिज्ञानवतेति चेन्न। तदन्यस्मिन्ननाश्वासात्।

अग्रिम सृष्टि में वेद की धारा बनी रहेगी ? किस शिष्टमहाजन के परिग्रह से अग्रिम सृष्टि में वेद प्रमाण होगा ? अतः 'महाजन परिग्रह' हेतु से वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।

(२) ('महाजनपरिग्रह' से वेदों में प्रमाण्य का साधन न होने में दूसरी युक्ति यह है कि) महाजन के द्वारा वेदों का परिग्रह वेदों में प्रामाण्य का उत्पादक हेतु नहीं है, किन्तु शब्द में प्रामाण्य का उत्पादक जो वक्ता का यथार्थज्ञान रूप उत्पादक हेतु है, उससे उत्पन्न प्रामाण्य का ज्ञापक हेतु है। मीमांसक लोग ईश्वर को नहीं मानते। प्रलय काल में अन्य सभी पुरुषों का विनाश हो जाता है। इस स्थिति में जब वेद रूप शब्द में प्रामाण्य का कोई उत्पादक ही नहीं है, तब फिर प्रलयकाल के बाद की सृष्टि में वेदप्रामाण्य का स्थापन किस प्रकार किया जा सकेगा ? अतः वेदों में प्रामाण्य की उत्पत्ति और स्थापना के लिये अविनाशी पुरुष की कल्पना आवश्यक है।

स्यादेतत् सन्तु कपिलादयः ··· ··· ··· ··· परिज्ञानवता

('तदन्यास्मन्ननाश्वासात्' प्रथम श्लोक के इस अन्तिम चरण की व्याख्या के लिये उक्त सन्दर्भ से पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है कि) प्रलय के बाद की सृष्टि में वेदों के उपदेश के लिये, या शब्दों के सङ्केतग्रह के लिये, अथवा ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था के लिये अनगिनत कीड़े मकोड़ों के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ परमेश्वर की कामना व्यर्थ है। ये काम तो प्राणियों को संसार की आग में जलते हुए देखकर दयाशील कपिलादि महर्षि भी कर सकते हैं। वे लोग नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से एवं चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग के द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की है। अतः उनको अतीन्द्रिय धर्म अधर्म एवं उनके साधनों का भी साक्षात्कारात्मक ज्ञान है। सर्वज्ञत्व के लिये अवश्यक असंख्य कीड़े मकोड़ों के ज्ञान की तो प्रकृत में आवश्यकता है नहीं। अतः उन लोगों से भी वेदादि उपदेशों के कार्य हो सकते हैं। इसलिये कपिलादि अगर सर्वज्ञ नहीं भी हैं, तथापि कोई क्षति नहीं है। अतः कथित उपदेशादि कार्यों के लिए अनुपयोगी अनगिनत कीड़े मकोड़ों के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना अनावश्यक है।

इसी आक्षेप का समाधान प्रथम श्लोक के इस चौथे चरण से दिया गया है। 'तदन्यस्मिन्ननाश्वासात्'।

तथा ह्यतीन्द्रियार्थदर्शनोपायो भावनेत्यभ्युपगमेऽपि नाऽसौ सत्यमेव साक्षात्कारमुत्पादयति, यतः समाश्वसिमः। प्रमाणान्तरसंवादादिति चेन्न। अहिंसादिहितसाधनमित्यत्र तदभावात्। आगमोऽस्तीति चेन्न।

(प्र०) तथा हि ··· ··· ··· ···

(**कपिलादि ऋषि अतीन्द्रिय** अर्थों के द्रष्टा नहीं हो सकते। क्योंकि उनके **अतीन्द्रियार्थ-दर्शन के प्रसङ्ग में कारण का प्रश्न उठने** पर केवल यही उत्तर दिया जा सकता है) कि 'भावना' के प्रकर्ष से वे अतीन्द्रिय अर्थों को भी देख सकते थे। (भावना के प्रकर्ष से अतीन्द्रिय अर्थों का भी साक्षात्कार संभव है। जैसे कि षड्जादि स्वरों की विशिष्ट भावना से उनका साक्षात्कार होता है)।

(सि०) नासौ ··· ··· ··· ···

(यद्यपि यह ठीक है कि भावना के प्रकर्ष से अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु) यह निश्चित नहीं है कि भावना के प्रकर्ष से सर्वदा यथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न हो (क्योंकि कामिनी की भावना के प्रकर्ष से तृणपुञ्जादि में स्त्री का साक्षात्कार होता है) अतः भावना प्रकर्ष से उत्पन्न कपिलादि के धर्माधर्म ज्ञान के प्रति पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता।

पू० प० प्रमाणान्तरसंवादात्··· ··· ··· ···

भावना के प्रकर्ष से जिस विषय का जिस प्रकार का ज्ञान एक व्यक्ति को होता है, उसी विषय का उसी प्रकार का ज्ञान अगर दूसरे प्रमाणों से भी दूसरे को होता है (यही प्रमाणान्तर संवाद है) तो भावना प्रकर्ष जनित पहिले ज्ञान को प्रमाण मानना ही होगा।

सि० प०··· ··· ··· ··· न, अहिंसादि ··· ··· ···

(यद्यपि घटादि दृष्ट विषयों के भावना प्रकर्षजनित ज्ञानों में यह प्रमाणान्तरसंवाद संभव है, किन्तु अदृष्ट धर्मादि विषयक भावना प्रकर्षजनित ज्ञानों में यह प्रमाणान्तरसंवाद संभव नहीं है। जैसे कि 'अहिंसा हितसाधनम्' इस प्रकार का जो अहिंसा में हितसाधनत्व का ज्ञान कपिलादि मुनियों को था वह केवल भावनाप्रकर्ष से ही उत्पन्न हो सकता था। किसी दूसरे प्रमाण से उस ज्ञान की उत्पत्ति संभव ही नहीं है। भावना प्रकर्षजनित ज्ञानों में अप्रामाण्य का सन्देह रहता है। कपिलादि के ज्ञानों में भी यह अप्रामाण्य का सन्देह पूर्ण संभव है। अतः भावना प्रकर्षजनित ज्ञानो में प्रमाणान्तर के संवाद से प्रामाण्य की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

आगमोऽस्ति··· ··· ··· ···

भावना के प्रकर्ष से उत्पन्न ज्ञान में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण का समर्थन भले ही सुलभ न हो किन्तु 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि आगम प्रमाणों का समर्थन तो मिल ही

भावनामात्रमूलत्वेन तस्याप्यनाश्वासविषयत्वात् । एकदेशसंवादेनापि प्रवृत्तिरिति चेन्न । स्वप्नाख्यानवदन्यथापि सम्भवात् । न चानुपलब्धे भावनाऽपि । चोरसर्पादयो ह्युपलब्धा एव भीरुभिर्भाव्यन्ते । न च कर्मयोगयोर्हितसाधनत्वं कुतश्चिदुपलब्धम् ।

सकता है । इसी समर्थन या सम्वाद से भावना प्रकर्षजनित ज्ञानों में प्रामाण्य की उपपत्ति होगी ।

सि० न, भावनामात्रमूलत्वेन··· ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि वेद रूप उपदेशवाक्य का मूल भी तो भावना का प्रकर्ष ही है । अतः भावना प्रकर्षजनित ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले वेदरूप उपदेश वाक्य में ही कैसे विश्वास किया जा सकता है ? यदि वेदागम को ईश्वर निर्मित मानकर कपिलादि को उनका उपदेष्टा मान लिया जाय; तो इसमें हमलोगों (नैयायिकों) को कोई विवाद नहीं है ।

पू० प० एकदेशसम्वादेन··· ··· ··· ···

वेदों के 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादि वाक्य का प्रामाण्य दूसरे प्रमाणों से भी समर्थित हो सकता है । अतः वेद के एक देश के प्रामाण्य से सम्पूर्ण वेद में प्रामाण्य के निश्चय से लोग यागादि कार्यों में प्रवृत्त होंगे ।

सि० प० स्वप्नाख्यानवत्··· ··· ··· ···

किसी वस्तु के किसी अंश के प्रामाण्य से उस सम्पूर्ण वस्तु को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । क्योंकि प्रामाणरहित किसी वस्तु के किसी एक अंश में कभी-कभी प्रामाण्य देखा जाता है । जैसे कि स्वप्न में देखा गया देवदत्तादि का आगमन कभी-कभी सत्य भी होता है । अतः 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादि कुछ वैदिक वाक्यों के प्रमाणान्तरसंवाद से सम्पूर्ण वेद में प्रामाण्य स्थापित नहीं हो सकता ।

(यह तो हुई वेदों में ज्योतिष्टोमादिजनित धर्मविषयक भावना को प्रकर्ष जन्य स्वीकार कर के खण्डन की बातें । दूसरी बात यह भी है कि) ।

न चानुपलब्धे··· ··· ··· ···

कथित भावनायें कभी धर्मादि विषयणी हो ही नहीं सकतीं । क्योंकि अन्य प्रमाण के द्वारा ज्ञात अर्थ की ही 'भावना' भी होती है । सर्वथा अनुपलब्ध अर्थ की भावना भी नहीं होती है । जैसे कि डरपोक पुरुषों को चोर या सर्प की ही भावना होती है व्याघ्रादि की नहीं ।

न च कर्मयोगयो··· ··· ··· ···

(पहिले कह आये हैं कि कपिलादि 'कर्मयोगसिद्ध' हैं इस सिद्धि के बल से ही वे धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय अर्थों को समझकर वेदादि का उपदेश किया था । इस प्रसङ्ग में नैयायिकों का कहना है कि) कपिलादि ऋषि जो ज्योतिष्टोमादि कर्मों के अनुष्ठान में अथवा योग के अनुष्ठान में प्रवृत्त हुए उनकी इन प्रवृत्तियों के लिए उपयुक्त इष्टसाधनत्व

न चैतयोः स्वरूपेणोपलम्भः क्वचिदुपयुज्यते, भावनासाध्यो वा।

न चास्मिन्नन्वयव्यतिरेको सम्भवतः, देहान्तरभोग्यत्वात्, फलस्याऽप्रतीततया तदनुष्ठाने तदभावाच्च।

ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से हुई ? वेदों को छोड़कर कोई दूसरा साधन नहीं है, जिससे 'कर्म' अथवा 'योग' के हितसाधनत्व को समझ सकूँ। वेद तो अभी विवाद में ही पड़ा है। अतः "कपिलादि कर्मयोगसिद्ध थे, इसी लिये उन्हों ने वेदों का उपदेश किया" यह बात भी वेदों को ईश्वरमूलक मानने से ही उपपन्न हो सकती है।

न चैतयोः ··· ··· ··· ···भावनासाध्यो वा

(इस प्रसङ्ग में सांख्य के अनुयायी दो बातें कह सकते हैं (१) कर्म और योग इन दोनों में हितसाधनत्व की बुद्धि भले ही न हो किन्तु ये दोनों केवल अपने (स्वरूप) ज्ञान के द्वारा ही कथित प्रवृत्तियों को उत्पन्न करेंगे। एवं (२) कथित भावना से उनमें हितसाधनत्व का ज्ञान भी मानेंगे। किन्तु ये दोनों ही बातें इस लिए अयुक्त है कि) (१) वस्तुओं के स्वरूप ज्ञान से वस्तुओं में प्रवृत्ति नहीं होती है; अगर ऐसा मानें तो विषपानादि में भी लोगों की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। (२) एवं भावना चूँकि स्वयं प्रमाण नहीं है, अतः उससे होने वाले हितसाधनत्वविषयकज्ञान में प्रामाण्य सन्दिग्ध रहेगा। फलतः ऐसे हितसाधनत्व के ज्ञानसे प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती जिसका प्रामाण्य सन्दिग्ध हो।

न चास्मिन् ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में सांख्याचार्यगण कह सकते हैं कि 'हितसाधनत्व' वास्तव में 'कारणत्व' रूप है। स्वभावतः कारणत्व का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक से होगा। किन्तु उनका यह समाधान इसलिये अयुक्त है कि) प्रकृत में कर्म और योग दोनों में हितसाधनत्व ज्ञान के उपयोगी अन्वय और व्यतिरेक संभव नहीं है। क्योंकि कर्मादि से उत्पन्न स्वर्गादि फलों का उपभोग होगा दूसरे देह की प्राप्ति के बाद, किन्तु कर्म का अनुष्ठान होगा इसी शरीर से, फिर इन दोनों का अन्वय और व्यतिरेक कैसे गृहीत होगा ?

फलस्याप्रतीतया··· ··· ··· ···

(सांख्यानुयायी कह सकते हैं कि 'अन्वय और व्यतिरेक क्यों गृहीत नहीं होगा ? क्योंकि कर्म या योग में प्रवृत होने के बाद कर्म और योग की सत्ता रूप अन्वय संभव है। इस अन्वय के अधीन फल के अन्वय ज्ञान से एवं इसी प्रकार से व्यतिरेक ज्ञान से कर्म और योग में हित के कारणत्व की प्रतीति हो सकती है। किन्तु यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि) कर्म और योग में जब हितसाधनत्व का ज्ञान होगा, उसके बाद उनमें प्रवृत्ति होगी। एवं

न च कर्त्तृभोक्तृरूपोभयदेहप्रतिसन्धानादेव तदुपपद्यते; तदभावात्, न ह्येतस्य पूर्वकर्मणः फलमिदमनुभवामीति कश्चित् प्रतिसन्धत्ते। केचित् तथा भविष्यन्तीति सम्भावनामात्रेऽप्यनाश्वासात् । एवम्भूतैककल्पनयैवोपपत्तौ भूयः-

---

प्रवृत्ति के बाद फलों की उत्पत्ति होगी। फल की उत्पत्ति के बाद ही कथित अन्वय और व्यतिरेक का ग्रहण संभव होगा। किन्तु पहिले जब कर्मादि में हित साधनत्व का ज्ञान ही नहीं है तो फिर कर्मादि का अनुष्ठान ही कैसे होगा ? एवं प्रवृत्ति न होने से फलों की उपपत्ति ही किस प्रकार होगी ? उत्पन्न हुए बिना फलों का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? फल के प्रत्यक्ष के बिना फल के साथ अन्वय और व्यतिरेक कैसे गृहीत होगा ? इस प्रकार कर्मादि में हितसाधनत्व के ज्ञान से कर्मादि में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के बाद कर्मादि में हितसाधनत्व का ज्ञान यह अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है।

पू० प० न च कर्तृभोक्तृरूप··· ··· ··· ···

एक ही शरीर से उक्त अन्वय और व्यतिरेक भले ही गृहीत न हो सके। किन्तु उक्त भोग के लिये दूसरे शरीर की प्राप्ति होने पर यह प्रतिसन्धान हो सकता है कि 'योऽहं विहित निषिद्धकर्मणी कृतवान् सोऽहमिदानीं तत्फलमनुभवामि (अर्थात् जो मैंने विहित या निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान किया था, वही मैं उनके फल का अनुभव करता हूँ)। इस प्रतिसन्धान अथवा प्रत्यभिज्ञा के द्वारा उक्त अन्वय और व्यतिरेक का ग्रहण हो सकता है।

सि० प० तदभावात्··· ··· ··· ···प्रतिसन्धत्ते

इस आकार की प्रत्यभिज्ञा किसी भी व्यक्ति को नहीं होती कि 'पहिले जन्म में मैं ने जो अमुक कर्म किया था, उसका यह फल भोग रहा हूँ'।

पू० प० केचित्तथा ··· ··· ···

हम लोगों के समान साधरण व्यक्ति को उस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भले ही संभव न हो। किन्तु इस प्रकार के विशिष्ट पुरुष हो सकते हैं, जिन्हें उक्त प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होगी।

सि० प० संभावना मात्रेऽपि ··· ··· ···

केवल इस प्रकार की संभावना से ही वेदों के उपदेश के प्रति आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता। क्योंकि इसमें कोई विशेष युक्ति नहीं है कि जनसाधारण को जो प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, उस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा किसी विशिष्टपुरुष को हो सकती है।

विनिगमनायां प्रमाणाभावात्। प्रतिपन्निशीथनिद्राणप्रातःप्रतिबुद्धसमस्तोपाध्यायवदन्योन्यसंवादात् कपिलादिषु समाश्वासइति चेन्न।

एकजन्मप्रतिसन्धानवत् जन्मान्तरप्रतिसन्धाने प्रमाणाभावात्।

पू० प० ··· ··· ··· विनिगमनायाम् ··· ··· ···

सृष्टि की आदि में कपिलादि ऋषिगण बीते हुये कल्प के वेदों को स्मरण कर उपदेश करते हैं। प्रलय में वेदों के विनिष्ट हो जाने पर भी इस कल्प में उनका स्मरण हो सकता है। क्योंकि विषय केवल प्रत्यक्षज्ञान का ही कारण है। स्मृति अनुमान प्रभृति परोक्ष ज्ञानों के लिए विषय की सत्ता अपेक्षित नहीं है। अतः विनष्ट शब्द राशि रूप वेदों के स्मरण में कोई अनुपपत्ति नहीं है। तब रही यह बात कि उक्त स्मृति के प्रति आश्वास कैसे हो कि 'यह अविकल विषयक' है ही ? क्यों कि यह नियम नहीं है कि स्मृतियाँ अपने कारणीभूत अनुभव के अविकल विषय की ही हों। ऐसी स्थिति में कपिलादि ऋषियों के द्वारा स्मृत शब्द-राशि को वेद ही कैसे माना जाय ?

अन्योन्य सम्वादात् ··· ··· ···

इसका यह समाधान है कि महर्षि कपिलादि उक्तरीति से ही विगत कल्प के वेदों को स्मरण कर उपदेश करते हैं किन्तु सभी अपने स्मृत वेदों को जब एक दूसरे से मिला लेते हैं, तो उस शब्द को वेद मान लिया जाता है (एक ऋषि के द्वारा स्मृत शब्द को परस्पर दूसरे ऋषियों के द्वारा वेद स्वीकार करना ही प्रकृति में 'अन्योन्यसम्वाद; है)। इस अन्योन्य सम्वाद से यह समझना सुलभ है कि वेदों की यह स्मृति अपने कारणीभूत पूर्वानुभव के अविकल विषय की ही है। क्योंकि यह नियम भी तो नहीं है कि कोई भी स्मृति अपने कारणीभूत पूर्वानुभव के अविकल विषय हो ही नहीं।

प्रतिपन्निशीथ ··· ··· ··· ··· चेत् ··· ··· ···

क्योंकि प्रतिपद् तिथि की अनाध्याय की रात में सोये हुए अध्यापकों को उस दिन उस समय अध्ययन न रहने पर भी उसके दूसरे दिन द्वितीया तिथि को पुनः उसी वेद का अविकल स्मरण होता है। परस्पर के संवाद से यह भी सिद्ध है कि उन लोगों की वे स्मृतियाँ पूर्वानुभव के अविकल विषय की ही हैं। इन्हीं स्मृतियों के सहारे वे उपदेश भी करते हैं। अतः कपिलादि ऋषियों में इस प्रकार का विश्वास किया जा सकता है कि पहिली सृष्टि के वेदों को अविकल स्मृतियों में लाकर इस सृष्टि की आदि में उपदेश करते हैं। अतः इन लोगों में अनाश्वास के कारण ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है।

सि० प० न, एकजन्मप्रतिसन्धानवत् ··· ··· ···

जिस प्रकार एक जन्म की एक जाग्रत अवस्था में अतीत विषयों का स्मरण उसी जन्म

तथापि च अधिकारिविशेषेण ब्राह्मणत्वाद्यप्रतिसन्धानेऽनुष्ठानरूपस्याऽऽश्वासस्याभावाद्। न हि पूर्वजन्मनि मातापित्रोर्ब्राह्मण्यात्तदुत्तरत्र ब्राह्मण्यमिति नियमो येन सर्गादौ वर्णादिधर्मव्यवस्था स्यात्। ईश्वरवददृष्टविशेषोपनिबद्धभूतविशेषानुपलम्भात्। अतीन्द्रियार्थदर्शित्वे वाऽनाश्वासस्योक्तत्वात्।

एतेन ब्रह्माण्डान्तरसञ्चारिवर्णव्यवस्थया सम्प्रदायप्रवर्तनमपास्तम्।

की दूसरी जाग्रदवस्था में होती है, उस प्रकार प्रलय के पूर्व अधीत वेदों का स्मरण प्रलय के बाद की सृष्टि में नहीं हो सकती। अतः इस रीति से भी परमेश्वर की कल्पना के बिना कपिलादि ऋषियों के द्वारा वेद सम्प्रदाय की पुन प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

तथापि च ··· ··· ··· अनाश्वास्योक्तत्वात् ··· ··· ···

यदि जिस किसी प्रकार उक्त संवाद के द्वारा 'समाश्वास' को मान भी लें, तथापि सृष्टि की आदि में वेदों के द्वारा विहित क्रियाओं का अनुष्ठान संभव नहीं होगा। क्योंकि वसन्ते ब्राह्मणो ऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित आधानादि क्रियाओं के अनुष्ठान के लिये ब्राह्मणत्वादि जातियों का निर्णय आवश्यक है। किन्तु सृष्टि की आदि काल के कपिलादि ऋषियों में ब्राह्मणत्वादि जातियों का अनुसन्धान संभव नहीं है। यदि यह नियम रहता कि जो व्यक्ति एक जन्म में ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न हो वह बराबर ब्राह्मण माता पिता से ही उत्पन्न होता रहे तो कदाचित् जातिस्मर कपिलादि ऋषियों को सृष्टि की आदि के व्यक्तियों में ब्राह्मणत्वादि का अनुसन्धान संभव भी होता, किन्तु पहिले कह आये हैं कि जिस प्रकार परमेश्वर को विशेष प्रकार के अदृष्ट से प्रेरित उन परमाणुओं का ज्ञान संभव है, जिनसे ब्राह्मणत्वादि जातियों से शरीरों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार से उक्त परमाणुओं का ज्ञान कपिलादि ऋषियों को संभव नहीं है। अतः वेदों का उपदेश कदाचित् कपिलादि ऋषियों के द्वारा सृष्टि की आदि में संभव भी हो, तथापि वेदार्थों के अनुष्ठान के अधिकारी पुरुषों की निर्णायिका ब्राह्मणत्वादि जातियों का ज्ञान सृष्टि की आदि में कपिलादि ऋषियों को संभव नहीं है, इसके लिए परमेश्वर की कल्पना आवश्यक है।

पू० प० एतेन ··· ··· ··· ···

कपिलादि ऋषि मुनियों की बात छोड़ भी दी जाय। तथापि यह कहा जा सकता है जिस समय एक ब्रह्माण्ड प्रलीन (प्रलयावस्थ) रहता है, उसी समय दूसरे ब्रह्माण्ड की स्थिति रहती है। उस 'स्थित ब्रह्माण्ड' की जो ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था उसी से इस सृष्टि के प्रारम्भ में भी ब्राह्मणत्वादि जातियों के निर्णय से वेदों के द्वारा विहित कर्मानुष्ठानों की उत्पत्ति होगी। इसके लिए परमेश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

सञ्चारशक्तेरभावात्। वर्षान्तरसञ्चरणमेव हि दुष्करम्, कुतो लोकान्तरसञ्चारः, कुतस्तराञ्च ब्रह्माण्डान्तरगमनम्। अणिमादिसम्पत्तेरेवमपि स्यादिति चेन्न। तत्रापि प्रमाणाभावात्। सम्भावनामात्रेण समाश्वासानुपपत्तेः, आद्यमहाजनपरिग्रहान्यथानुपपत्तिरेवाऽत्र प्रमाणमिति चेत्।

सि० प० सञ्चारशक्तेरभावात्… … … …

'व्यवस्था' कोई मूर्त पदार्थ नहीं है, अतः उसमें 'सञ्चारशक्ति' अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान में चलने की शक्ति नहीं मानी जा सकती। अतः एक ब्रह्माण्ड की 'व्यवस्था' दूसरे ब्रह्माण्ड में नहीं आ सकती।

वर्षान्तरसञ्चरणमेव हि… … … …

तब रही यह बात कि स्थित ब्रह्माण्ड के ब्राह्मणादि इस ब्रह्माण्ड में आकर ब्राह्मणादि व्यवस्थाओं के चलावेंगे—इस प्रसङ्ग में कहना है कि एक ब्रह्माण्ड के व्यक्ति को दूसरे ब्रह्माण्ड में आने की क्षमता ही नहीं है। जिस समय एक सृष्टि की एक द्वीप (वर्ष) से दूसरे द्वीपों में भी जाना संभव नहीं था, उस समय के लिये यह कैसे विश्वास किया जाय कि एक ब्रह्माण्ड से दूसरे ब्रह्माण्ड में आकर कोई वहाँ वर्ण व्यवस्था का संचालन किया ?

पू० प० अणिमादिसम्पत्तेः… … … …

दूसरे ब्रह्माण्ड के जिन व्यक्तियों की चर्चा की गयी है, वे सभी अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यों से युक्त थे। अतः उन लोगों के लिये दूसरे ब्रह्माण्डों में जाना असंभव नहीं था।

सि० प० तत्रापि… … … …

दूसरे ब्रह्माण्ड के उन व्यवस्थापकों में अणिमादि ऐश्वर्य था ही—इसमें कोई प्रमाण नहीं है। तब रही संभावना की बात अर्थात् उन लोगों अणिमादि ऐश्वर्य की सत्ता प्रमाण से निश्चित भले ही न रहे—किन्तु उन लोगों में अणिमादि ऐश्वर्यों की संभावना तो है ही। इसका यह उत्तर है कि केवल संभावना के ऊपर निर्भर रहना उचित नहीं है।

पू० प० आद्यमहाजन… … … …

दूसरे ब्रह्माण्ड के उन व्यवस्थापकों में अणिमादि ऐश्वर्यों की सत्ता अवश्य थी। इसके लिए यह प्रमाण है कि अणिमादि सम्पत्तियों के बिना उन लोगों का इस ब्रह्माण्ड में आना संभव नहीं था। एवं बिना उन लोगों को इस ब्रह्माण्ड में आये इस ब्रह्माण्ड के आद्य महाजनों के द्वारा वेदों का परिग्रह संभव नहीं था। किन्तु इस ब्रह्माण्ड में वेद महाजनों के द्वारा परिगृहीत हैं। अतः यह कल्पना करना उचित है कि उन व्यवस्थापकों में अणिमादि शक्तियाँ अवश्य थीं।

---

१. इस सन्दर्भ के 'एतेन' पद का अर्थ है 'व्यवस्थायाःसञ्चारशक्त्यभावरूपदोषेण' जिसका अन्वय अग्रिम 'निरस्तम्' पद के साथ है।

कल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। विदेहनिर्माणशक्तेरणिमादिविभूतेश्चावश्याऽभ्युपगन्तव्यत्वात्। अस्त्वेक एवेति चेत्; न तर्हीश्वरमन्तरेणान्यत्र सामाश्वास इति।

सि० प० एवम्भूतैककल्पनयैव··· ··· ··· ···

उक्त सभी कल्पनायें ठीक हैं। केवल इस प्रसङ्ग में इतना ही कहना है कि अनेक व्यवस्थापकों में अलौकिक शक्तियों को स्वीकार करने में अनेक व्यवस्थापकों की कल्पना करनी पड़ती है। इससे 'गौरव' मात्र लाभ होता है। उक्त अणिमादि ऐश्वर्यों से युक्त एक ही 'पुरुष' (व्यवस्थापक) की कल्पना कर लेने से सभी कल्पों की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है।

(किन्तु इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि सार्वदिक एक व्यवस्थापक की कल्पना के व्याज से ईश्वर की सिद्धि के इस प्रयास में एक बाधा यह है कि इस पक्ष में बिना देह के ही निर्माण शक्ति की कल्पना एवं अणिमादि ऐश्वर्य की कल्पना ये दोनों करनी पड़ती हैं। किन्तु ये कल्पनायें असङ्गत हैं। अत: हमलोगों के सदेह अनेक व्यवस्थापकों की कल्पना की असङ्गति के बदले में सिद्धान्तियों को बिना शरीर के पुरुष में निर्माणशक्ति की कल्पना और अणिमादि शक्तियों की कल्पना ये दो असङ्गत कल्पनायें करनी पड़ती हैं। अतः हम दोनों बराबर हो जाते हैं, इस आक्षेप का यह समाधान है कि।

सि० प० विदेहनिर्माणशक्तेः··· ··· ··· ···

व्यवस्थापक एक मानें अथवा अनेक दोनों ही स्थितियों में इनमें अणिमादि ऐश्वर्यों की तरह निर्माणशक्ति भी मानना ही होगा। क्योंकि जिस प्रकार सृष्टि की आदि में वेदों का उपदेश और वर्णव्यवस्था ये दोनों अनुपपन्न हैं, इसी प्रकार अचेतन परमाणु स्वरूप उपकरणों से सृष्टि भी अनुपपन्न है। अत: सृष्टि का भी व्यवस्थापक चाहिये। अनेक व्यवस्थापकों की कल्पना में दोष दिखाया जा चुका है। अतः जो भी व्यवस्थापक स्वीकार करेंगे, उन में अणिमादि ऐश्वर्यों की तरह बिना षाट्कौषिक शरीर के ही निर्माण करने की शक्ति भी माननी ही होगी।

पू० प० अस्तु··· ··· ··· ···

(सिद्धान्तियों के कथनानुसार कपिलादि ऋषियों में से किसी) एक को ही व्यवस्थापक स्वीकार कर लिया जाय?

सि० प० न, तर्हि··· ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि उस प्रकार का 'एक व्यवस्थापक' केवल ईश्वर ही हो सकते हैं। किसी दूसरे 'एक व्यवस्थापक' के ऊपर विश्वास नहीं किया जा सकता।

कारङ्कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात्संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥४॥

॥ इति गद्यपद्यात्मके न्यायकुसुमाञ्जलौ द्वितीयस्तबकः ॥

कारङ्कारम्— ... ...

(यः शिवः **अलौकिकाद्भुतमयं** जगत् मायावशात् कारं कारं संहरन् हारं हारं **कुर्वन्** इन्द्रजालमिव क्रीडति । तं भवं शिवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं विश्वासैकभुवं अन्तेष्वपि नमन् भूयासम्) ।

(अखिल कल्याणस्वरूप जो) शिव अदृष्टरूप माया के द्वारा इस अलौकिक (अचिन्त्य-रचनास्वरूप) अद्भुत संसार के निर्माण और संहार की अनन्त धारा के द्वारा इन्द्रजाल के समान क्रीड़ा करते हैं । संसार (भव) के कारणीभूत उन देव की शरण में मैं अन्त में भी जाऊँ । जिस देव की इच्छा शक्ति कभी प्रतिहित नहीं होती एवं सदा जागरूक रहती है । एवं इन सभी वैशिष्ट्यों के कारण जो एकमात्र विश्वास के स्थल हैं ।[1]

---

1. प्रथम स्तबक में अदृष्ट की सिद्धि के बाद अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में परमेश्वर की सिद्धि की गयी है । इस दूसरे स्तबक में पहिली बात यह कही गयी है कि 'गुण' प्रमा-ज्ञान का कारण है । शाब्द प्रमा का कारणीभूत गुण है वक्ता में रहनेवाला यथार्थ ज्ञान । वेद भी शब्द रूप है, अतः वेद से उत्पन्न होने वाला वेदार्थ विषयक ज्ञान भी शाब्दबोध ही है । अतः वेदों का कोई वक्ता पुरुष अवश्य चाहिये, जिसमें रहनेवाले प्रमाज्ञान से वेदार्थ विषयक शाब्द बोध प्रमा हो सके । वेदों का यह वक्ता परमेश्वर को छोड़कर और कोई नहीं हो सकता । अतः वेद के कर्त्ता रूप में भी ईश्वर की सिद्धि अनिवार्य है ।

मीमांसकों ने उक्त बातों का खण्डन इस युक्ति से किया है कि प्रथमतः गुण प्रमा का कारण ही नहीं है । केवल दोषों का अभाव ही प्रमाज्ञान का कारण है । चक्षुरादिजन्य ज्ञानों अथवा लौकिक वाक्यजन्य प्रमाज्ञानों के लिए कदाचित् कथित 'गुण' को कारण मान भी लें तथापि नित्य एवं दोषों से सर्वथा रहित वेदों से होनेवाले प्रमाज्ञानों में 'गुण' की अपेक्षा कदापि नहीं है । अतः वेदकर्त्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती ।

मीमांसकों के इस आक्षेप का आधार वेदों की नित्यता एवं उसकी मूल शब्द की नित्यता ही है। अतः आचार्य ने बड़े ऊहापोह के साथ शब्दों की कूटस्थ नित्यता और प्रवाह नित्यता दोनों का खण्डन किया है। इस प्रवाहनित्यता के लिए ही मीमांसकों ने संसार को अनादि और अनन्त मानकर प्रलय का ही खण्डन कर डाला है। इसी लिए इस स्तवक में आचार्य ने सृष्टि और प्रलय दोनों को प्रमाण से सिद्ध किया है। आचार्य का अभिप्राय है कि सभी सृष्टियाँ किसी प्रलय के बाद ही हुआ करती हैं। एवं सभी प्रलयों के बाद भी सृष्टियाँ होती ही। अतः सृष्टि और प्रलय की यह धारा चलती है। अतः प्रत्येक प्रलय में जब सभी वस्तुओं के साथ उन सभी वेदों का भी विनाश हो जायगा, जिनमें जीव के ऐहिक और पारलौकिक कर्मों के विधायक वाक्य भरे पड़े हैं। उसके बाद की सृष्टि की आदि में करुणामय परमेश्वर वेदों के उपदेश के द्वारा अथवा कुलाल कर्मकारादि के शरीरों को धारण करके लोकयात्रा के निर्वाह के अनुकूल उपदेश करते हैं। अतः ईश्वर के बिना दूसरी गति नहीं है। इन सभी बातों की सूचना 'कारङ्कारम्' इत्यादि वीप्सा घटित वाक्य युक्त पूर्वार्द्ध से दी गयी है।

सांख्य के अनुयायी लोग ईश्वर की सत्ता का अपलाप एक दूसरे ढङ्ग से करते हैं कि सृष्टि की आदि में कथित वेदादि के उपदेश की उपपत्ति के लिए कर्मयोग-सिद्ध कपिलादि महर्षि ही पर्याप्त हैं। एतदर्थ ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है। नैयायिक लोग इसका खण्डन इस प्रकार करते हैं कि इतने बड़े काम को सुचारु रूप से संपादन का विश्वास ईश्वर से भिन्न और किसी भी व्यक्ति पर नहीं किया जा सकता। इसी युक्ति की सूचना उत्तरार्द्ध के 'विश्वासैकभुवम्' इस वाक्य से दिया गया है। इस पद्य के अन्य सभी विशेषण केवल ईश्वर की स्तुति के लिये दिये गये हैं।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

न्यायकुसुमाञ्जलौ

तृतीयः स्तबकः

—:※:—

नन्वेतदपि कथम् ?। तत्र बाधकसम्भवात्। तथा हि यदि स्यादुपलभ्येत। अयोग्यत्वात् सन्नपि नोपलभ्यत इति चेत्; एवं तर्हि शशशृङ्गमप्ययोग्यत्वान्नोपलभ्यत इति स्यात्।

(इस तीसरे स्तबक में 'तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्' यह तीसरी विप्रतिपत्ति निराकृत हुई है।)

पू० प० नन्वेतदपि ··· ··· ···

नित्य एवं निर्दोष वेदों के द्वारा अथवा कर्मयोगसिद्ध कपिलादि ऋषियों के द्वारा सृष्टि की आदि में धर्मसम्प्रदाय का प्रचलन भले ही संभव न हो, तथापि इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि धर्मसम्प्रदाय का उक्त प्रचलन ईश्वर के ही द्वारा हुआ था। क्योंकि ईश्वर की सत्ता के बाधक प्रमाण विद्यमान हैं।

तथा हि···यदि स्यात्···तुल्यम् ? ·······

ईश्वर अगर रहते तो उनकी 'उपलब्धि' अर्थात् प्रत्यक्ष अवश्य होता, किन्तु किसी को भी ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः ईश्वर नहीं हैं।

सि० प० अयोग्यत्वात् ··· ··· ··· ···

योग्य (घटादि) वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष होता है, अयोग्य (परमाणुप्रभृति) वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः केवल प्रत्यक्ष न होने से ही किसी वस्तु के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता। क्योंकि सत्ता के रहते हुये भी अयोग्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि 'ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता, है, अतः वे नहीं है।

पू० प० एवन्तर्हि···········

इस प्रकार तो शशशृङ्गादि सर्वथा अविद्यमान वस्तुओं की भी सत्ता माननी होगी। क्योंकि 'शशशृङ्गादि वस्तुओं को नहीं देखते हैं' केवल इसी लिए उनकी सत्ता अस्वीकृत होती है। किन्तु जब कुछ विद्यमान वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष संभव नहीं है, तो फिर यह नहीं जा

नैतदेवं, शृङ्गस्य योग्यतयैव व्याप्तत्वादिति चेत् ; चेतनस्यापि योग्योपाधिमत्तयैव व्याप्तत्वात् । तद्बाधे सोऽपि बाधित एवेति तुल्यम् ।

सकता कि 'चूँकि शशशृङ्गादि पदार्थों को नहीं देखते हैं, अतः वे नहीं हैं। सुतराम् अप्रत्यक्षवस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती। अतः अप्रत्यक्ष परमेश्वर की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती।

सि० प० नैतदेवम् ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जितने भी शृङ्ग हैं, वे सभी प्रत्यक्ष के योग्य ही हैं। अतः शश को भी यदि शृङ्ग होता तो वह भी प्रत्यक्ष के योग्य ही होता। एवं यह भी नियम है कि योग्य द्रव्यों का प्रत्यक्ष अवश्य होता है। किन्तु शश के शृङ्ग का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि शश के शृङ्ग की सत्ता रहती तो उसमें शृङ्गत्व का व्यापकीभूत धर्म (अर्थात् शृङ्गत्व के साथ अवश्य रहनेवाला प्रत्यक्ष) योग्यत्व भी अवश्य ही रहता, एवं योग्य शशशृङ्ग का प्रत्यक्ष होना अनिवार्य हो जाता। सुतराम् शशशृङ्ग इस लिये अप्रत्यक्ष नहीं है कि वह प्रत्यक्ष के योग्य नहीं, उसका अप्रत्यक्ष इस लिये स्वीकार करना पड़ता है कि उसकी सत्ता ही नहीं है[1]।

पू० प० चेतनस्यापि ... ...

जिस प्रकार यह व्याप्ति है कि शृंग प्रत्यक्ष योग्य ही हों, उसी प्रकार यह भी व्याप्ति है कि सभी चेतनों की योग्य (शरीररूप) उपाधियाँ अवश्य हों। क्योंकि बिना शरीर के चेतन (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती है। परमेश्वर रूप चेतन की कोई भी उपाधि (शरीर) उपलब्ध नहीं है। अतः (व्यापकाभावात् व्याप्याभावः इस न्याय के अनुसार) व्यापकीभूत शरीर रूप योग्य उपाधि के अभाव से उसके उपधेय एवं व्याप्य परमेश्वर के अभाव की सिद्धि होगी। अतः अप्रत्यक्ष रूप बाधक से परमेश्वर का बाध भले ही सम्भव न हो किन्तु कथित 'अनुपलब्धि रूप बाधक से परमेश्वर की सिद्धि अवश्य बाधित होगी। (यह तो हुई प्रत्यक्षबाध की बात)।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि योग्य और अयोग्य भेद से वस्तुओं के दो प्रकार हैं। यहाँ 'योग्य' शब्द से 'प्रत्यक्षयोग्य' रूप अर्थ अभिप्रेत है। अयोग्य वस्तुओं की सत्ता रहने पर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। जिन वस्तुओं में प्रत्यक्ष की योग्यता है, उन्हीं वस्तुओं के प्रत्यक्ष न होने से उनके अभाव का निर्णय होता है। परमेश्वर प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं, अतः अप्रत्यक्ष से उनकी सत्ता में कोई बाधा नहीं आती।

व्यापकस्वार्थाद्यनुपलम्भेनाप्यनुमीयते नास्तीति। को हि प्रयोजनमन्तरेण किञ्चित्कुर्यादिति।

उच्यते—

योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्दिः कुतस्तराम् ।
क्वायोग्यं बाध्यते श्रृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥ १ ॥

पू० प० व्यापकस्वार्थादि ... ...

(दूसरी बात है अनुमानबाध की, वह इस प्रकार है कि) किसी प्रयोजन से वशीभूत होकर ही कोई किसी भी कार्य को करता है। मूर्ख भी बिना प्रयोजन के कुछ नहीं करता। कामना से युक्त पुरुषों को ही 'प्रयोजन' हो सकता है, कामना से सर्वथा रहित पुरुषों को नहीं। जो कोई परमेश्वर की कल्पना करते हैं, वे उनको सभी कामनाओं से रहित मानते हैं। अतः इस प्रकार के परमेश्वर से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि चूँकि परमेश्वर के किसी प्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती है, अतः परमेश्वर किसी भी कार्य के कर्ता नहीं है (परमेश्वरो न कर्ता स्वेष्टसाधनता-ज्ञानाभावात्)।

सि० प० उच्यते ... ... योग्यादृष्टि ... ...

(इन दोनों बाधों में प्रत्यक्षबाध के उद्धार के प्रसङ्ग में) हम सिद्धान्ती कहते हैं कि योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये—अयोग्ये परमात्मनि योग्यादृष्टिः कुतः ? अर्थात् परमात्मा चूँकि प्रत्यक्ष के 'अयोग्य हैं अत. उनको 'अदृष्टि' (अनुपलब्धि) योग्यानुपलब्धि नहीं हो सकती।

(इस प्रसंग में पूर्वपक्षवादी ने प्रतिबन्दि उपस्थित किया था कि यदि सर्वथा अनुपलब्ध पदार्थ की भी सत्ता मान ली जाय तो सर्वथा अनुपलब्ध शशश्रृंगादि पदार्थों की सत्ता भी माननी होगी। इसी प्रतिबन्दि का उद्धार श्लोक के दूसरे और तीसरे चरण से किया गया है। इन दोनों चरणों का आशय है कि) शशश्रृंग योग्य है ? अथवा अयोग्य ? अगर वह 'योग्य' ही है 'अयोग्य' नहीं, तब तो कथित प्रतिबन्दि लागू ही नहीं होता है। क्योंकि इस अभिप्राय से प्रतिबन्दि उपस्थित किया गया है कि जिस प्रकार 'अयोग्य श्रृंग' की अनुपलब्धि के कारण उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती, उसी प्रकार अयोग्य परमात्मा की भी अनुपलब्धि है, अतः उसकी भी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। किन्तु शशश्रृंग को जब 'योग्य' ही मान लेते हैं, तो यह बात ही कहाँ उठती है ? (यही बात 'प्रतिबन्दिः कुतस्तराम्' इस चरण से कही गयी है।

स्वात्मैव तावत् योग्यानुपलब्ध्या प्रतिषेद्धुं न शक्यते, कुतस्त्वयोग्यः परमात्मा ? तथाहि—सुषुप्त्यवस्थायामात्मानमनुपलभमानो नास्तीत्यवधारयेत् ।

यदि शशश्रृंग अयोग्य है, तब तो उक्त प्रतिवन्दि और भी ठीक नहीं बैठती, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि योग्यानुपलब्धि से ही अभाव का ग्रहण होता है। योग्यानुपलब्धि से योग्य वस्तु के ही अभाव की सिद्धि होगी, अयोग्य वस्तु के अभाव की नहीं। किन्तु शशश्रृंग तो अयोग्य है अतः उसकी अनुपलब्धि भी अयोग्यानुपलब्धि ही होगी, योग्यानुपलब्धि नहीं। अतः शशश्रृंग का अभाव भी किसी अनुपलब्धि से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिये उक्त प्रतिवन्दि प्रकृत में लागू नहीं होता है, (इस प्रकार प्रत्यक्षबाध प्रकृत में सम्भव नहीं) है।

('क्वानुमानमनाश्रयम्' इस अन्तिम चरण के द्वारा अनुमान बाध का निराकरण इस रीति से किया जाता है। अनुमानबाध देने वालों का कहना है कि) कर्त्तृत्व जहाँ भी रहेगा वहाँ स्वार्थादि अवश्य रहेंगे। अतः कर्त्तृत्व के व्यापकीभूत स्वार्थादि का जहाँ अभाव रहेगा वहाँ कर्त्तृत्व का अभाव भी रहेगा ही। इस रीति से ईश्वर में कर्त्तृत्व के अभाव की सिद्धि रूप अनुमानबाध के प्रसंग में सिद्धान्तियों का कहना है कि अनुमान से पूर्व पक्षतावच्छेदक से युक्त पक्ष का ज्ञान आवश्यक है। जिस अनुमान में ऐसा सम्भव नहीं होता है, उस अनुमान का हेतु 'आश्रयासिद्ध' नाम का हेत्वाभास हो जाता है। हेत्वाभास से किसी की सिद्धि नहीं हो सकती। तदनुसार प्रकृत ईश्वर रूप पक्ष में जो कर्त्तृत्वाभाव का अनुमान होगा, उसके लिये ईश्वरत्व रूप पक्षतावच्छेदक विशिष्ट ईश्वर का ज्ञान पहिले अवश्य चाहिये। किन्तु ईश्वर न मानने वालों को यह ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अगर धर्मितावच्छेदकविशिष्ट धर्मि के उक्त ज्ञान का सम्पादन वे किसी प्रमाण से करेंगे तो धर्मिग्राहक उसी प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो जायगी। अतः प्रकृत में अनुमानबाध भी नहीं है।

सि० प० स्वात्मैव तावत् ... ...

(श्लोक के प्रथमचरण की व्याख्या) अहं सुखी, अहं दुःखी इत्यादि आकारों से ही अपनी आत्मा का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में चूँकि सुखादि की उपलब्धि नहीं होती है, अतः अपनी आत्मा की भी उपलब्धि नहीं होती है। क्योंकि आत्मा का प्रत्यक्ष उनके सुखादि गुणों के साथ ही होता है। केवल आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु इससे सुषुप्ति काल में अपनी आत्मा का अभाव निर्णीत नहीं हो जाता। जब प्रत्यक्ष योग्य अपनी आत्मा का ही अभाव उसकी अनुपलब्धि से सुषुप्तिकाल में निश्चित नहीं होता है तो फिर प्रत्यक्ष के सर्वथा अयोग्य परमात्मा की अनुपलब्धि मात्र से उनके

कस्यापराधेन पुनर्योग्योऽप्यात्मा तदानीं नोपलभ्यते ?। सामग्रीवैगुण्यात्। ज्ञानादिक्षणिकगुणोपधानो ह्यात्मा गृह्यत इत्यस्य स्वभावः।

ज्ञानमेव कुतो न जायते ? इति चिन्त्यते। पश्चाद्वा कथमुत्पत्स्यत इति चेत्; मनसोऽनिन्द्रियप्रत्यासन्नतया अजननात्, तत्प्रत्यासत्तौ च पश्चाज्जननात्।

अभाव की सिद्धि कैसे होगी ? अगर ऐसी बात हो तो फिर सुषुप्तिकाल में अपनी आत्मा का भी अभाव मानना होगा। तस्मात् प्रत्यक्ष के अयोग्य परमात्मा की अनुपलब्धि से ईश्वर या परमात्मा का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

पू० प० कस्यापराधेन ... ...

अपनी आत्मा जब प्रत्यक्ष के योग्य है, तो फिर सुषुप्ति काल में उसकी उपलब्धि किसके 'अपराध' से नहीं हो पाती ?

सि० प० सामग्रीवैगुण्यात् ... ...

जिन सभी कारणों से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में या सुषुप्तिक्षण में उनके न रहने से ही सुषुप्ति काल में आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है।

सि० प० ज्ञानादि ... ...

पहिले कह आये हैं कि ज्ञान सुखादि क्षणिक विशेष गुणों के साथ ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। केवल आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः केवल 'अहम्' इस आकार का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अहं जानामि, अहं सुखी इत्यादि आकार के ही आत्मा के प्रत्यक्ष होते हैं। सुतराम् ज्ञान सुखादि भी आत्मा के प्रत्यक्ष के कारण हैं। सुषुप्ति काल में अथवा सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में ये ज्ञानादि कारण नहीं रहते, अतः सुषुप्ति काल में आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। जाग्रत अवस्था में ज्ञानादि रूप इन कारणों का सम्वलन सम्भव होता है, अतः जाग्रत अवस्था में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।

पू० प० ज्ञानमेव ... ...

जाग्रत और सुषुप्ति दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा की सत्ता समानरूप से रहती है, फिर इसका क्या हेतु है कि जाग्रत अवस्था में ज्ञानादि की उत्पत्ति होती है, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में नहीं ?

सि० प० मनसोऽनिन्द्रियप्रत्यासन्नतया ... ...

मन अणु परिमाण का है, एवं सुषुप्ति के समय वह शरीर के 'पुरितति' नाम के उस प्रदेश में चला जाता है, जो इन्द्रिय प्रदेश नहीं है। आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का अर्थों के साथ सम्बन्ध होने पर ही ज्ञानों की उत्पत्ति होती है।

मनोवैभववादिनमिदमसम्मतम् । तथाहि-मनो विभु, (१) सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् (२) सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात्, (३) नित्यत्वे सत्यनारम्भकद्रव्यत्वात्, (४) ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादित्यादेरिति चेन्न ।

यद्यपि आत्मा विभु है और मन अणु परिमाण का है एवं नित्य है—अतः मन जहाँ भी कहीं रहेगा आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध बना ही रहेगा । किन्तु सुषुप्ति अवस्था में मन चूँकि पुरितति नाम के अनिन्द्रिय प्रदेश में रहता है, अतः वह किसी इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध नहीं हो पाता, अतः सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं हो पाती । 'पश्चात्' सुषुप्ति के बाद जाग्रत् अवस्था में मन पुरितति रूप अनिन्द्रिय प्रदेश से हटकर शरीर के इन्द्रिय प्रदेश में आ जाता है, अतः जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के साथ उसके सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं रह जाती, अतः जाग्रत अवस्था में ज्ञानादि की उत्पत्ति होती है ।

मनो वैभववादिनाम् ... ...

किन्तु जो समुदाय मन को विभु मानते हैं, उनके मत के अनुसार उक्त समाधान उचित नहीं है, क्योंकि मन भी यदि आत्मा के ही समान विभु हो तो फिर चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ उसका भी सम्बन्ध कभी विच्छिन्न नहीं होगा । अतः जाग्रत अवस्था के ही समान सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञानादि के उत्पादन की सामग्री के एकत्र होने में कोई बाधा नहीं होगी । इस लिये जाग्रत अवस्था के ही समान सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञानादि की उत्पत्ति माननी होगी ।

तथाहि ... ... संयोगाधारत्वादिति चेत् ... ...

मन में विभुत्व को सिद्ध करनेवाले निम्न लिखित ये चार हेतु हैं (१) सर्वदा स्पर्शशून्यद्रव्यत्व (२) सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्व (३) नित्यत्वे सत्यनारम्भकद्रव्यत्व और (४) ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्व ।

प्रथम हेतु से अनुमान का आकार—मनो विभु [1]सर्वदा स्पर्शशून्यद्रव्यत्वात् आकाशादिवत्: अर्थात् जिस प्रकार आकाशादि द्रव्य होते हुए भी सर्वदा स्पर्श रूप गुण से

१. कथित हेतु में 'सर्वदास्पर्शशून्यत्व' रूप अंश नहीं देंगे तो परमाणुओं में व्यभिचार होगा, क्योंकि उनमें विभुत्व नहीं है, किन्तु वे भी द्रव्य हैं । सर्वदास्पर्शशून्यत्व को हेतु में विशेषण देने से यह व्यभिचार छूट जाता है, क्योंकि परमाणु स्पर्श सहित द्रव्य हैं स्पर्श रहित द्रव्य नहीं । यदि केवल सर्वदा स्पर्शशून्यत्व मात्र को हेतु बनावें उसमें से 'द्रव्यत्व' वाले अंश को हटा लें तो गुणादि पदार्थों में व्यभिचार होगा, क्योंकि गुणादि पदार्थों में विभुत्व रूप साध्य नहीं है किन्तु 'सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' रूप हेतु है । 'द्रव्यत्व' पद देने से उक्त व्यभिचार छूट जाता है, क्योंकि गुणादि में द्रव्यत्व

शून्य रहते हैं, उसी प्रकार के द्रव्य होते हुये भी उसमें कभी स्पर्श रूप गुण नहीं रहता, अतः मन भी आकाशादि के समान ही विभु है ।

(२) मन में विभुत्व के साधक दूसरे अनुमान का आकार है "मनो विभु सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालादिवत्" अर्थात् काल दिक् और मन ये तीन ही द्रव्य ऐसे हैं, जिनमें कभी भी 'विशेषगुण' नहीं रहते । इनमें काल और दिक् ये दो द्रव्य तो विभु हों किन्तु उनमें से एक मन रूप द्रव्य विभु न हो—अणु हो इस प्रकार की 'अर्द्धजरती' स्वीकार नहीं की जा सकती ।

(३) मन में विभुत्व के साधक तीसरे अनुमान का 'मनो विभु नित्यत्वे सति अनारम्भकद्रव्यत्वात् आकाशादिवत्' ऐसा आकार है । इस अनुमान का स्वारस्य है कि आरम्भक और अनारम्भक भेद से द्रव्य के दो भेद हैं । कपालादि द्रव्य आरम्भक हैं, क्योंकि वे घटादि द्रव्यों का 'आरम्भ' अर्थात् उत्पादन करते हैं । अनारम्भक द्रव्य हैं आकाशादि एवं अन्त्यावयवी घटादि । द्रव्य के नित्य और अनित्य ये दो भेद भी हैं । नित्य हैं पृथिव्यादि के परमाणु और आकाश काल, दिक्, आत्मा और मन । एवं अनित्य हैं द्वयणुक से लेकर गिरिनगरादि सभी अवयवी द्रव्य । इनमें परमाणु नित्य होकर भी आरम्भक हैं । क्योंकि उनसे द्वयणुक की उत्पत्ति होती है । घटादि अनित्य द्रव्य (अन्त्यावयवी होने के कारण) अनारम्भक हैं, क्योंकि उनसे किसी दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है । आकाशादि जितने भी नित्य एवं अनारम्भक द्रव्य हैं वे सभी विभु ही हैं । मन भी नित्य होने के साथ अनारम्भक द्रव्य है, अतः वह भी आकाशादि द्रव्यों की तरह विभु ही है ।

(४) मन में विभुत्व साधक चौथा अनुमान 'मनो विभु ज्ञानासमवायिकारण-संयोगाधारत्वात्' इस आकार का है । इसका स्वारस्य है कि आत्मा और मन का संयोग ज्ञानादि का असमवायिकारण है । इस संयोग के आत्मा और मन रूप दोनों आश्रयों में से आत्मा रूप एक आश्रय विभु है । अतः मन रूप दूसरा आश्रय भी विभु ही होगा ।

नहीं है । 'सर्वदा' पद न देने से 'उत्पत्ति कालिक घटादि' द्रव्यों से व्यभिचार होगा, क्योंकि उनमें विभुत्व रूप साध्य नहीं है, अथ च द्रव्यत्व और स्पर्शशून्यत्व दोनों ही है, क्योंकि नैयायिक उत्पत्तिकाल में द्रव्यों में गुण की सत्ता नहीं मानते । 'सर्वदा' पद देने से उक्त व्यभिचार छूट जाता है, क्योंकि घटादि में उत्पत्ति से भिन्न कालों में स्पर्श की सत्ता रहती है ।

सर्वेषामापाततः स्वरूपासिद्धत्वात्। तथाहि—यदि रूपाद्युपलब्धीनां क्रियात्वेन करणतया मनोऽनुमितिर्न तदा द्रव्यत्वसिद्धिः, अद्रव्यस्यापि करणत्वात्। अथाऽऽसामेव साक्षात्कारितयेन्द्रियत्वेन तदनुमातव्यम्।

सि० प० न, सर्वेषाम् ... ...

ये सभी अनुमान मन को द्रव्य पदार्थ मानकर प्रयुक्त हुए हैं[1]। अगर मन का द्रव्य होना सिद्ध न हो तो द्रव्यत्वघटित ये सभी हेतु अन्ततः स्वरूपासिद्ध अवश्य होंगे, क्योंकि इनका मन रूप पक्ष में रहना संभव नहीं होगा। इनमें आदि के तीन हेतु तो स्पष्ट रूप से द्रव्यत्व घटित हैं, अन्तिम हेतु में भी 'संयोगाधारत्व' वाला जो अन्तिम अंश है, वह भी द्रव्यत्व के ही समान है, क्योंकि संयोग का आधार केवल द्रव्य ही होता है। अतः 'आपाततः' अर्थात् मन में द्रव्यत्व की सिद्धि के पूर्व मन रूप पक्ष में निश्चित न होने के कारण कथित सभी हेतु 'स्वरूपासिद्धि' दोष से ग्रसित हैं।

तथा हि ... ...

(निम्नलिखित रीतियों में से भी किसी रीति से मन में द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती) मन में द्रव्यत्व की सिद्धि का एक प्रकार यह है कि रूपादि के प्रत्यक्ष भी (ज्ञा धात्वर्थ होने के नाते) एक 'क्रिया' हैं, अतः उस का भी कोई 'करण' अवश्य होगा। क्योंकि जितनी भी छेदनादि क्रियायें हैं, उनका कोई 'करण' अवश्य है। ज्ञानों का वह 'करण' ही मन है।

किन्तु इस रीति से सिद्ध किये गये मन को द्रव्य होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि द्रव्य से भिन्न लिङ्ग ज्ञान, अदृष्ट, प्रयत्न, संयोग प्रभृति अनेक गुण पदार्थ भी 'करण' होते हैं। अतः केवल 'करण' होने से ही मन द्रव्य नहीं हो सकता।

अगर कथित स्वरूपासिद्धि दोष से बचने के लिये उक्त हेतुओं में 'द्रव्यत्व' का निवेश नहीं करेंगे तो रूपादि गुणों में द्रव्यत्व से अघटित वे सभी हेतु व्यभिचरित होंगे, अतः द्रव्यत्व विशेषण के न देने से उनके द्वारा मन में विभुत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

पू० प० अथासामेव... ... ...

सभी प्रत्यक्षों का कोई न कोई इन्द्रिय अवश्य ही करण होता है। 'अहं सुखी' इत्यादि आकार के सुख के अनुभव भी प्रत्यक्ष स्वरूप ही हैं। अतः अवश्य ही इन प्रत्यक्षों का भी कोई इन्द्रिय करण होगा। इस प्रकार की इन्द्रियां घ्राणादि नहीं हो सकतीं। क्योंकि (घ्राणादि जनित तत्तत्प्रत्यक्षमूलक सुखानुभवों में तत्तत् इन्द्रियों में करणता सम्भव होने पर भी) सभी इन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्षों से उत्पन्न सुख के अनुभव की कारणता किसी

---

१. इस सिद्धान्त सन्दर्भ के द्वारा मन में विभुत्व के साधक उक्त अनुमानों के हेतुओं में दोषों का उद्भावन कर मन में अणुत्व की सिद्धि का पथ प्रशस्त किया गया है।

तथापि व्यापकस्य निरुपाधेर्नेन्द्रियत्वमित्युपाधिर्वक्तव्यः। तत्र यदि कर्णशष्कुलीवन्नियतशरीरावयवस्योपाधित्वम्, तदा तावन्मात्रे वृत्तिलाभः। तद्दोषे च वृत्तिरोधः श्रोत्रवत् प्रसज्येत।

ततः शरीरमात्रमुपाधिरवसेयः। तथा च तदवच्छेदेन वृत्तिलाभे 'शिरसि मे वेदना, पादे मे सुखम्' इत्याद्यव्याप्यवृत्तित्वप्रतीतिविरोधः।

एक इन्द्रिय में सम्भव नहीं है। जब कारणता की यह दशा है तो फिर करणता की तो कोई बात ही नहीं। अतः घ्राणादि इन्द्रियों से भिन्न कोई इन्द्रिय अवश्य ही सुखानुभवों का करण होगा। उस इन्द्रिय का ही नाम 'मन' है। इस अनुमान के द्वारा मन में इन्द्रियत्व के साथ-साथ अवश्य रहनेवाला द्रव्यत्व भी मन में अवश्य सिद्ध हो जायगा। क्योंकि मन को अणु माननेवालों को 'इन्द्रियाँ द्रव्य ही हों' इस नियम में कोई विवाद नहीं है। अतः मन में विभुत्व के साधक कथित किसी भी हेतु में द्रव्यत्व से घटित होने के कारण स्वरूपासिद्धि दोष नहीं है।

सि० प० तथापि व्यापकस्य··· ··· ··· ···

सुखादि प्रत्यक्षों के करण के रूप में जिस मन की सिद्धि होगी,[1] उस मन को यदि विभु मानेंगे तो उसका कोई उपाधि मानना होगा, जिस उपाधि से उपहित होकर वह इन्द्रिय कहलायगा। क्योंकि विभु पदार्थ में बिना किसी उपाधि के इन्द्रियत्व नहीं आ सकता। जैसे विभु आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय को कर्णशष्कुल्यवच्छेदेनैव इन्द्रियत्व है। अतः शरीर का कर्णशष्कुली रूप अवयव ही उसकी उपाधि होती है। यदि कर्णशष्कुली के दृष्टान्त से शरीर के ही किसी अवयव को मन में इन्द्रियत्व का प्रयोजक उपाधि स्वीकार कर लें, तो मन शरीर के उसी उपाधि रूप अंश में सुखादि की उपलब्धि रूप अपने कार्य का सम्पादन करेगा। एवं उस शरीर के उस अवयव रूप उपाधि में कोई दोष उत्पन्न होने पर उक्त सुखादि की उपलब्धि रूप अपने कार्य का उत्पादन बन्द कर देगा। जैसे कि कर्णशष्कुली रूप उपाधि में किसी दोष के उत्पन्न होने पर श्रवणेन्द्रिय अपना 'शब्द सुनना' बन्द कर देता है। अतः शरीर के किसी अवयव को मन रूप इन्द्रिय का उपाधि न मानकर पूरे शरीर को ही उसकी उपाधि माननी होगी। किन्तु ऐसा मानने पर 'शिरसि में वेदना, पादे में सुखम्' इत्यादि प्रतीतियों के द्वारा आत्मा के विशेष गुणों में अव्याप्यवृत्तित्व या प्रादेशिकता की जो प्रतीति होती है, वह न हो सकेगी। क्योंकि असमवायिकारणों का यह स्वभाव है कि वे समवायिकारण के जिस अंश में स्वयं रहेंगे, समवायिकारण के उसी अंश में कार्य को उत्पन्न करेंगे। पट का असमवायिकारण

---

1. 'तथापि व्यापकस्य' इस सिद्धान्त सन्दर्भ के द्वारा आचार्य ने मन के अस्तित्व साधक उक्त अनुमान को मन में इन्द्रियत्व का साधक मानकर मन के विभुत्व साधक हेतुओं को स्वरूपासिद्धि दोष से निर्मुक्त समझकर उनो वैभववादियों को मन में अणुत्व साधन के पथ पर कौशल से ले आने का प्रयास किया गया है।

असमवायिकारणानुरोधेन विभुकार्याणां प्रादेशिकत्वनियमात्। शरीरतदवयवादि-परमाणुपर्यन्तोपाधिकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गो नियमानुपपत्तिश्चेति। ततोऽन्यदेवैकं

तन्तुओं का विलक्षण संयोग तन्तुओं के जिन अंशों में रहता है, उन्हीं अंशों में पट की उत्पत्ति देखी जाती है, अन्य अंशों में नहीं। यदि पूरे शरीर को मन में इन्द्रियत्व का प्रयोजक उपाधि मानें तो फिर सम्पूर्ण शरीरावच्छिन्न मन और आत्मा का संयोग ही सुखादि के प्रत्यक्षों का असमवायिकारण होगा। असमवायिकारणीभूत उक्त संयोग का आश्रय संपूर्ण शरीर होगा, उसका कोई एक अवयव नहीं। अतः सुख की उत्पत्ति सम्पूर्ण शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही होगी, किसी अवयवावच्छिन्न आत्मा में नहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर को उपाधि स्वीकार करने से 'पादे में सुखम्, शिरसि में वेदना' इत्यादि आकार की जो अव्याप्य-वृत्तित्वमूलक अथवा प्रादेशिकत्व मूलक सुख के प्रत्यक्ष होते हैं, वे अनुपपन्न हो जायंगे।

पू० प० शरीरं तदवयवादि··· ··· ··· ···

शरीर रूप अवयवी और उसके हस्त पादादि अवयव ये सभी मन के इन्द्रियत्व के प्रयोजक उपाधि हैं। अतः हस्तापादादि अवच्छेदेन सुखादि की विभिन्न प्रतीतियां और पूर्णशरीरावच्छेदेन (निदाघ तप्त पुरुष को स्नान करने के बाद) सुख की प्रतीति दोनों ही होती हैं। अतः मन को विभु मान लेने पर भी सुखादि के अव्याप्यवृत्तित्व में कोई बाधा नहीं आती है।

सि० प० कल्पनागौरवप्रसङ्गः··· ··· ··· ···

(१) मन को विभु मानें और उसमें इन्द्रियत्व के लिये पूरे शरीर और उसके अनन्त अवयवों को उसकी उपाधि मानें, इसकी अपेक्षा मन को अणु ही मान लें इसी में लाघव है, फलतः पूरे शरीर और उनके अवयवों को उपाधि स्वीकार करानेवाली मन के विभुत्व की कल्पना गौरवास्पद है। अतः वह त्याज्य है।

(२) नियमानुपपत्तिः··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह है कि जिस समय 'शिरसि मे सुखम्, पादे में वेदना' इत्यादि प्रतीतियाँ होतीं है, उस समय शिरोवच्छेदेनैव आत्मा में सुख है और पादावच्छेदेनैव आत्मा में दुःख है—यह 'नियम' स्वीकार करना ही होगा। किन्तु जब कि सभी अवयव समान रूप से मन के इन्द्रियत्व के प्रयोजक उपाधि हैं तो फिर उक्त नियम की उपपत्ति का कोई प्रयोजक नहीं रह जाता। अतः इस पक्ष में उक्त 'नियम' की 'अनुपपत्ति' भी रहेगी।

सि० प० ततोऽन्यदेवैकम्··· ··· ··· ···

जिस लिये कि पाद प्रभृति शरीर के किसी अवयव को मन का उपाधि मानने से सुखादि के उक्त नियतत्व की प्रतीति विरुद्ध हो जाती है। एवं सम्पूर्ण शरीर को ही उपाधि

सूक्ष्ममुपाधित्वेनातीन्द्रियं कल्पनीयम्। तथा च तस्यैवेन्द्रियत्वे स्वाभाविकेऽधिक-कल्पनायां प्रमाणाभावाद्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः। अथ ज्ञानक्रमेणेन्द्रियसहकारितया तदनुमानं ततः सुतरां प्रागुक्तदोषः।

मानने से सुखादि में अव्याप्यवृत्तित्व अथवा प्रादेशिकत्व का व्यवहार अनुपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार शरीर और उसके अवयव दोनों को मन की उपाधि मानने से कल्पनागौरव और उक्त नियमानुपपत्ति दोनों दोष होते हैं, ('ततः' तस्माद् कारणात्) शरीर और उनके अवयव इन सबों से भिन्न सूक्ष्म एवं शीघ्र चलनेवाले किसी अतिन्द्रिय पदार्थ को ही मन की उपाधि मान लेने में सुविधा है। ऐसा मान लेने पर अतीन्द्रिय एवं आशुसञ्चारी उस उपाधि को ही 'मन' स्वीकार कर लेने से उक्त सभी कार्य अच्छे प्रकार से उपपन्न हो जायगे। उस से अतिरिक्त 'मन' नाम के किसी उपधेय की कल्पना अनावश्यक होगी।

तस्मात् मन को सिद्ध करनेवाली सुखादि की जो उपलब्धियाँ हैं, उनकी अनुपपत्ति से ही मन में अणुत्व की भी सिद्धि होगी। मन में अणुत्व की इस सिद्धि से मन में विभुत्व के साधक अनुमान का 'धर्मी' जो मन, उसके साधक प्रमाण से ही मन में विभुत्व भी बाधित हो जायगा। क्योंकि पहिले कह आये हैं कि मन के जितने भी साधक प्रमाण हैं, वे ही मन में अणुत्व के भी साधक हैं (इसी अभिप्राय से 'धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः' इतने पर्यन्त का ग्रन्थ लिखा गया है)।

पू० प० अथ ज्ञानक्रमेण··· ··· ··· ···

कथित धर्मिग्राहक प्रमाणबाध रूप दोष तभी हो सकता है, जब कि मन की सिद्धि सुखादि के साक्षात्कार के जनक इन्द्रिय रूप में हो। परन्तु मन की सिद्धि का तो इससे भिन्न प्रकार भी है। यह मानी हुई बात है कि एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती है। अगर चक्षुरादि इन्द्रियों का (मन नाम का) कोई सहायक स्वीकार नहीं करेंगे तो चक्षुरादि अनेक इन्द्रियों से अनेक ज्ञान एक ही समय एक ही आत्मा में होने लगेंगे। क्योंकि विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है, एवं आत्मा के साथ भी इन्द्रियों का सम्बन्ध भी अवश्य है। अतः इन्द्रियों का कोई ऐसा सहायक स्वीकार करना होगा, जिसके सम्बन्ध के चलते एक ही समय एक इन्द्रिय से एक ही ज्ञान की उत्पत्ति हो सके। एवं जिसके सम्बन्ध के न रहने से दूसरे इन्द्रियों से उस समय ज्ञान की उत्पत्ति संभव न हो। अतः स्वतन्त्र इन्द्रिय के रूप में (इन्द्रियत्वेन) मन की सिद्धि भले ही अनावश्यक हो, चक्षुरादि इन्द्रियों के सहायक के रूप में मन की सिद्धि मानने से मन में कथित वैभव के साधक अनुमान धर्मिग्राहक प्रमाण से बाधित नहीं हो सकता।

सि० प० ततः सुतराम् ··· ··· ···प्रागुक्तदोषः

मन को यदि विभु मानेंगे तो वह क्रमशः ज्ञानोत्पत्ति का सहायक नहीं हो सकेगा। क्योंकि विभु होने के कारण वह सभी इन्द्रियों के साथ सभी समय सम्बद्ध ही रहेगा। तो फिर किसके न रहने से एक क्षण में दूसरे ज्ञानों की उत्पत्ति निवारित होगी?

इसी प्रकार मन को अगर मध्यम परिणाम का भी मानते हैं तो भी ज्ञान की क्रमशः उत्पत्ति का सम्पादन नहीं हो सकता। क्योंकि मध्यम परिणाम का द्रव्य एक ही समय अनेक

यदि च मनसोवैभवेऽप्यदृष्टवशात् क्रम उपपाद्येत तदा मनसोऽसिद्धेराश्रयासिद्धिरेव वैभवहेतूनामिति ।

अथ यत्रादृष्टस्य दृष्टकारणोपहारेणोपयोगः, तत्र तत्पूर्णतायां कार्यमुत्पद्यत एव,

---

विषयों के साथ सम्बद्ध हो सकता है। जैसे कि एक ही वृक्ष में एक ही समय अनेक फलों का सम्बन्ध हो सकता है। अतः मध्यम परिणाम का एक ही मन चक्षु एवं तद्भिन्न घ्राणादि अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध हो सकता है। इस लिये यह नियम भी नहीं किया जा सकता कि मध्यम परिमाण वाला मन एक समय एक ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है।

सुतराम् ज्ञान के क्रमशः उत्पत्ति की उपपत्ति केवल मन को अणु मानने से ही हो सकती है। चूँकि क्रमशः ज्ञान की उत्पत्ति से अणु परिणाम के मन की सिद्धि होती है अतः मन के साधक इस प्रमाण से ही मन का विभुत्व भी बाधित हो जाता है। (इस धर्मि-ग्राहक प्रमाण के द्वारा बाध को ही 'प्रागुक्तदोष' शब्द से कहा गया है।) ।

पू० प० यदि च मनसः ··· ··· ···

यह सत्य है कि मन विभु के होने के कारण सभी इन्द्रियों के साथ एक ही समय सम्बद्ध रहता है। किन्तु अदृष्ट के साहाय्य से एक समय एक ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः कल्पित अदृष्ट से ही ज्ञानों के यौगपद्य का वारण और ज्ञानों के क्रमिकत्व की उपपत्ति दोनों ही हो सकेगी। इसके लिए मन को अणु स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० :—तदा मनसः ··· ··· ···

...ानों के यौगपद्य के लिए ही अथवा ज्ञानों के क्रमिकत्व की उपपत्ति के लिए ही ... की जाती है। इन दोनों की उपपत्ति यदि केवल अदृष्ट से ही मान लिया ...ार करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। मन की असिद्धि ...क सभी अनुमानों के हेतु आश्रयासिद्धि दोष से ग्रसित हो ... पक्ष में विभुत्व की सिद्धि की आशा भी छोड़ देनी

... पर भी 'मन' ... प्रकारों

सि० प० ततोऽन्यदेवकम्

जिस लिये कि पाद प्रभृति शरीर के किस... सुखादि के उक्त नियतत्व की प्रतीति विरुद्ध हो जाती है। एवं सम्पूर्ण...

अन्यथा अन्त्यतन्तुसंयोगेभ्योऽपि कदाचित् पटो न जायेत, जातोऽपि वा कदाचिन्निर्गुणः स्यात्। बलवता कुलालेन दृढदण्डनुन्नमपि चक्रं न भ्राम्येत। यत्र तु दृष्टानुपहारेणादृष्टव्यापारस्तत्र तद्वैगुण्यात् कार्यानुदयः, यथा परमाणुकर्मणः। तदिहापि यदि विषयेन्द्रियात्मनां समवधानमेव ज्ञानहेतुः, तदा तत्सद्भावे सदैव-कार्यं स्यात्। न ह्येतदतिरिक्तमप्यदृष्टस्योपरहरणीयमस्ति, न च सदैव ज्ञानोदयः; ततोऽतिरिक्तमपेक्षितव्यम्। तच्च यद्यपि सर्वाण्येवेन्द्रियाणि व्याप्नोति, तथापि करणधर्मत्वेन क्रियाक्रमः सङ्गच्छते, अकल्पिते तु तस्मिन्नायं न्यायः, प्रतिपत्तुर-करणत्वाच्चक्षुरादीनामनेकत्वादिति चेत्।

की जाती। क्योंकि ऐसे स्थलों में अदृष्ट का इतना ही कर्त्तव्य होता है कि वह सभी दृष्ट कारणों को एकत्र कर दे। फलतः ऐसे स्थलों में दृष्टकारणों का विघटन ही अदृष्ट का वैगुण्य होगा। 'अन्यथा' अर्थात् अदृष्ट के उक्त प्रथम प्रकार के उपयोग स्थल में भी कार्य की उत्पत्ति का प्रतिरोध अदृष्ट के वैगुण्य से संपादन करें तो फिर (१) तन्तु के अन्तिम संयोग पर्यन्त सामग्री सम्बलन के बाद भी कदाचित् (अदृष्ट के वैगुण्य से) कार्य की उत्पत्ति रुक जाएगी। अथवा (२) पट की उत्पत्ति के बाद पट सहित सभी कारणों का सम्बलन रहने पर भी उस पट में रूपादि की उत्पत्ति रुक जायेगी। जिससे उस पट को निर्गुण मानना होगा। अथवा (३) कुम्हार अपने चक्र (चाक) को जब पूरे वेग से घुमा देगा, उसके बाद भी चक्र में घूमने की (भ्रमि) क्रिया कदाचित् (अदृष्ट के वैगुण्य से) उत्पन्न नहीं होगी।

किन्तु जहाँ अदृष्ट का उपयोग कार्य के उत्पादन में साक्षात् होता है, वहाँ दृष्टकारणों के सम्बलन के बाद भी कार्य का प्रतिरोध होता है, जैसे कि परमाणु में क्रिया रूप कार्य की उत्पत्ति कदाचित् रुक जाती है।

प्रकृत में यदि 'मन' को स्वीकार नहीं करेंगे, तो फिर ज्ञान के उत्पादक विषय, इन्द्रिय और आत्मा ये तीन ही रह जायेंगे। अदृष्ट भी इन तीनों को ही एकत्र कर कृतकार्य हो जायेगा। ज्ञान के उत्पादन में उसका और कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में विषय की सत्ता जब तक बनी रहेगी, तब तक ज्ञान की उत्पत्ति अनवरत होती ही रहेगी। क्योंकि विषय की स्थिति पर्यन्त बराबर सामग्री संबलित ही रहेगी। सुतराम् अदृष्ट के वैगुण्य से कार्य के प्रतिरोध का प्रत्युदाहरण 'ज्ञानसातत्य' नहीं है। इस लिए इस ज्ञान सातत्य को रोकने के लिए ज्ञान की उत्पादिका सामग्री में आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों से भिन्न किसी अन्य वस्तु को भी रखना होगा। वही अन्य वस्तु है 'मन'। मन यद्यपि विभु होने के कारण इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध रहने से ज्ञानों के यौगपद्य को रोकने में असमर्थ

नन्वेवमपि युगपत् ज्ञानानि माऽभूवन् । युगपज्ज्ञानं तु केन वार्यते ? भवत्येव समूहालम्बनमेकं ज्ञानमिति चेन्न । एकेन्द्रिय ग्राह्येष्विव नानेन्द्रियग्राह्येष्वपि प्रसङ्गात् । तेष्वपि भवत्येवेति चेन्न ।

सा जान पड़ता है। किन्तु 'विभु' होने पर भी मन करण तो है ही। करणों का यह स्वभाव है कि वे क्रमशः ही एक कार्य को उत्पन्न करें। एक ही समय अनेक कार्यों को नहीं। यदि मन की कल्पना नहीं करेंगे तो कथित युक्ति के अनुसार ज्ञानों के यौगपद्य का वारण नहीं होगा। क्योंकि ज्ञान की सामग्री में मन को छोड़ कर ज्ञाता पुरुष (आत्मा) इन्द्रिय और विषय ये ही तीन है। क्रमिकत्व का नियामक चूंकि करण ही हो सकता है, कारण नहीं। अतः इनमें से आत्मा क्रमिकत्व का नियामक नहीं हो सकता, क्यों कि वह कारण है, करण नहीं। इन्द्रियाँ यद्यपि करण हैं, किन्तु वे अनेक है, एवं अपने विषय के ज्ञान के उत्पादन में समर्थ हैं, अतः पांचों इन्द्रियों से एक ही समय पाँच ज्ञानों उत्पत्ति को नहीं रोकी जा सकती। अतः एक 'सर्वार्थ' विषयक मन रूप इन्द्रिय की कल्पना आवश्यक है। जिसके सम्बन्ध के बल से एक समय एक इन्द्रिय से एक ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है। (कहने का तात्पर्य है कि) ज्ञान के यौगपद्य से बचने के लिये केवल 'मन' की कल्पना ही आवश्यक है, मन के अणुत्व की कल्पना आवश्यक नहीं है। मन को विभु मान लेने पर भी ज्ञानों के यौगपद्य का निवारण और ज्ञानों के क्रमिकत्व की उपपत्ति हो सकती है।

सि० प० नन्वेवमपि ··· ··· ··· ···

मन को विभु मान लेने पर कथित रीति के अनुसार एक ही समय अनेक ज्ञानों की आपत्ति भले ही न हो, किन्तु एक ही समय अनेक विषयों के एक ज्ञान की आपत्ति तो होगी।

पू० प० भवत्येव ··· ··· ··· ···

एक धर्मिक नाना अविरुद्ध विषयक 'भूतलं घटवत् पटवच्च' इत्यादि आकारों के समूहालम्बन ज्ञानों को सभी स्वीकार करते ही है। अतः उक्त आपत्ति इष्ट है।

सि० प० एकेन्द्रियग्राह्येष्विव ··· ··· ··· ···

जिस समूहालम्बन के प्रसङ्ग में सर्व्वसम्मति दिखलायी गयी है, वह एक ही इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले अनेक विषयों के एकज्ञान के प्रसङ्ग में है। मैंने तो नाना इन्द्रियों से एक ही समय नाना विषयों के एक ज्ञान की आपत्ति दी है। अर्थात् मन को यदि विभु मानेंगे तो वह एक ही समय चक्षु, घ्राण, रसना प्रभृति अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध रहेगा। अतः एक ही वस्तु में रहने वाले रूप, रस एवं गन्ध के एक ही ज्ञान का आपत्ति एक ही क्षण में होगी।

पू० प० तेष्वपि ··· ··· ··· ···

दीर्घशष्कुली (बड़ी रोटी) भक्षणादि स्थलों में एक ही समय रोटी के रूप, रस, स्पर्श और गन्ध का ज्ञान होता ही है। अतः उक्त आपत्ति भी इष्ट ही है।

व्यासङ्गकाले ज्ञानक्रमेण विवादविषये क्रमानुमानात्। बुभुत्साविशेषेण व्यासङ्गे क्रियाक्रम इति चेन्नैवम्। न ह्येष बुभुत्साया महिमा यदबुभुत्सिते विषये ज्ञानसामग्र्यां सत्यामपि न ज्ञानम्, अपि तु न तत्र संस्कारातिशयाधायकः प्रत्ययः स्यात्। यदि त्वबुभुत्सिते विषये समग्रीमेव सा निरुन्ध्यात्, घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं नैव

सि० प० न, व्यासङ्गकाले··· ··· ··· ···

आत्मा, इन्द्रिय एवं मन इन सबों का समवधान रहने पर भी एक काल में किसी एक ही विषय का ज्ञान होता है, उपस्थित सभी विषयों का नहीं (अनेक विषय, अनेक इन्द्रियाँ एवं आत्मा इन सबों का समवधान रहने पर भी एक काल में एक ज्ञानोत्पत्ति की अवस्था ही 'व्यासङ्गकाल' है)। इससे ज्ञानों के क्रमशः उत्पन्न होने का अनुमान होता है। जिन दीर्घशष्कुली भक्षणादि स्थलों में अनेक इन्द्रियों से एक ही समय अनेक विषयक ज्ञान का प्रतिभास होता भी है, वे उक्त क्रमानुमान के अनुसार भ्रान्ति ठहरते हैं। उन सभी स्थलों में भी क्रमशः ही ज्ञान उत्पन्न होते हैं। किन्तु अत्यन्त शीघ्रता से एक के बाद दूसरे ज्ञानों की उत्पत्ति होती है, अतः उनके क्रम का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

पू० प० बुभुत्साविशेषेण ··· ··· ··· ···

उक्त 'व्यासङ्ग' के समय जिस विषय को समझने की विशेष इच्छा रहती है, उसको समझ लेने के बाद अन्य अनपेक्षित वस्तुओं का ज्ञान होता है। अतः 'व्यासङ्ग' के समय ज्ञानों के क्रमशः उत्पत्ति का नियामक बुभुत्सा (समझने की इच्छा) है, इसके लिये मन को अणु मानने की आवश्यकता नहीं।

सि० प० नैवम् ··· ··· ··· ···

बुभुत्सा में यह सामर्थ्य नहीं है कि अनपेक्षित वस्तु के ज्ञान की सामग्री के रहते हुए भी वह अनपेक्षित विषय के ज्ञान को रोक सके। बुभुत्सा से इतना ही होगा कि बुभुत्सित विषयक जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह अपेक्षात्मक होगा (उपेक्षात्मक नहीं)। जिसके बल से उस ज्ञान से शीघ्रता से स्मृति को उत्पन्न करनेवाला संकार भर विलक्षण होगा। जिससे बुभुत्सित विषयक की स्मृति शीघ्र होगी। अबुभुत्सित विषय का जो ज्ञान होगा, वह 'उपेक्षात्मक' होगा। चूँकि उपेक्षात्मक ज्ञान से संस्कार उत्पन्न नहीं होगा, अतः उससे स्मृति नहीं होगी। एक विषय की बुभुत्सा में इतनी ही सामर्थ्य है कि अबुभुत्सित विषयों के संस्कार रूप अतिशय को उत्पन्न नहीं होने दे। यदि एक विषय की बुभुत्सा को अन्य विषयक ज्ञान का प्रतिबन्धक भी मानें तो फिर घट को जानने की इच्छा से उन्मीलित चक्षु से उसी देश में रहने वाले पट का भी जो प्रत्यक्ष होता है, वह न हो सकेगा। अत. यही कहना होगा कि बुभुत्सा मन को अबुभुत्सित विषयों से हटाकर बुभुत्सित विषय के ग्राहक इन्द्रिय साथ सम्बद्ध कर देता है। अतः उक्त स्थिति में बुभुत्सित विषय का ज्ञान पहिले, एवं अबुभुत्सित विषय का ज्ञानबाद में होता

दर्शयेत्। तस्मात् बुभुत्सापीन्द्रियान्तरादावृष्य बुभुत्सितार्थग्राहिणीन्द्रिये मनो निवेशयन्ती युगपज्ज्ञानानुत्पत्तावुपयुज्यते, न तु स्वरूपतः। विभुनोऽपि मनसो व्यापारक्रमात् क्रम इति चेन्न। तस्य संयोगातिरिक्तस्य कर्मरूपत्वे वैभवविरोधात्। गुणरूपत्वे नित्यस्य क्रमाऽनुपपत्तेः। अनित्यस्य च नित्यैकगुणस्याऽविभुद्रव्यसंयोगा-समवायिकारणकत्वेन तदन्तरेणाऽनुपपत्तेः। तदपि कल्पयिष्यत इति चेत्; तदेव तर्हि मनःस्थाने निवेश्यतां लाघवाय। तस्मादण्वेव मन इति।

है। इसी रीति से बुभुत्सा ज्ञानों के क्रमशः उत्पत्ति का नियामक एवं ज्ञानों के यौगपद्य का निवारक है। स्वरूपतः बुभुत्सा ज्ञानयौगपद्य का निवारक या ज्ञानों के क्रमशः उत्पत्ति का प्रयोजक नहीं है। मन को यदि विभु मानते हैं तो मन को एक इन्द्रिय से हटाना सम्भव नहीं होगा। अतः मन को विभु मानने पर बुभुत्सा के द्वारा ज्ञानों के क्रमशः उत्पत्ति का नियमन और ज्ञानों के यौगपद्य का निवारण नहीं हो सकता। इसके लिये भी मन को अणु मानना ही आवश्यक है।

पू० प० विभुनोऽपि ··· ··· —

मन यद्यपि विभु है, किन्तु वह स्वतः ज्ञानों का उत्पादक नहीं, किन्तु व्यापार के द्वारा ही ज्ञानों का उत्पादक है। यह व्यापार क्रमशः उत्पन्न होता है, अतः मन को सर्वदा सभी स्थानों में विद्यमान रहने पर वह ज्ञानों को क्रमशः ही उत्पन्न करता है। सुतराम् मन को विभु मानने पर भी ज्ञानों का क्रमशः उत्पन्न होना उपपन्न हो सकता है।

सि० प०—तस्य ··· ··· ···अण्वेव मनः ··· ··· ···

ज्ञानों का क्रमशः उत्पन्न होने के लिए मन के जिस 'व्यापार' की चर्चा की गयी है, उस 'व्यापार' को गुणरूप मानेंगे? अथवा क्रिया रूप? क्रिया रूप व्यापार मानेंगे तो मन के विभुत्व का विरोध होगा, क्योंकि क्रिया मूर्त्तद्रव्यों का ही धर्म है विभुद्रव्यों का नहीं। अतः उक्त 'व्यापार' को 'गुण' रूप ही मानना होगा। गुण रूप व्यापार के प्रसङ्ग में भी यह प्रश्न होगा कि वह व्यापार रूप वह गुण नित्य है? अथवा अनित्य? यदि नित्य मानेंगे तो ज्ञानों को क्रमिकत्व की उपपत्ति उस व्यापार के द्वारा न हो सकेगा। यदि अनित्य मानेंगे तो उसका पर्यवसान मन के अणुत्व में ही होगा। केवल विभु द्रव्यों में रहनेवाले जो अनित्य गुण हैं उनका असमवायिकारण अविभु द्रव्यों के संयोगादि ही होते हैं। जैसे आकाश रूप अविभु द्रव्य के शब्द रूप अनित्य गुण का असमवायिकारण भेरी और दण्ड का संयोग होता है। यदि

तथा च तस्मिन्ननिन्द्रियप्रत्यासन्ने निरुपधानत्वादात्मनः सुषुप्त्यवस्थायामनुपलम्भः।

मन को विभु मानेंगे तो ज्ञानों की क्रमशः उत्पत्ति के लिए एक ऐसे मूर्त द्रव्य की कल्पना भी करनी होगी, जो मन के व्यापार रूप उक्त असमवायिकारणीभूत अनित्य संयोग का आश्रय हो। इसके विना ज्ञानों की उत्पत्ति क्रमशः न हो सकेगी।

पू० प० तदपि ··· ··· —

किसी अविभु द्रव्य की भी कल्पना कर लेंगे ?

सि० प० तर्हि ··· ··· ···

तो फिर उस अविभुद्रव्य के स्थान पर मन की ही कल्पना कर लीजिये।[1]

सि० प०[2] ··· ··· — तथा च तस्मिन् ··· ··· — ···

सुषुप्ति के समय मन पुरीतति नाम के अनिन्द्रिय प्रदेश में चला जाता है, अतः उस समय ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। ज्ञान ही आत्मा का ग्राहक उपाधि है। क्योंकि ज्ञान के साथ ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अतः सुषुप्ति के समय आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि ज्ञानों की क्रमशः उत्पत्ति के लिए ही मन की कल्पना करते हैं। यदि इस कल्पित मन को विभु मानते हैं तो मन का प्रधान प्रयोजन ज्ञानों के क्रमिकत्व के सम्पादन के लिए एक मूर्त द्रव्य की भी कल्पना करनी पड़ती है। यदि मन को ही अणु मान लेते हैं, तो मन से भिन्न किसी अमूर्त द्रव्य की कल्पना न करने पर भी ज्ञानों का क्रमिकत्व उपपन्न हो जाता है। अतः मन को अणु मानना ही उचित है।

इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से मन के अविभु होने का उपपादन किया गया। किन्तु द्रव्य अणु और विभु इन दो ही प्रकार के तो नहीं हैं, जिससे कि मन में अविभुत्व की सिद्धि से मन में अणुत्व की सिद्धि परिशेषानुमान से हो जायगी। द्रव्य का एक तीसरा भी भेद है, जो अवयवियों में रहता है, वह है मध्यमपरिमाण। वह मध्यमपरिमाण वाला द्रव्य अविभु होने पर भी अणु नहीं है। अत: मन को परमाणु रूप सिद्ध करने के लिए यह भी आवश्यक है कि मन में अवयवित्व का निराकरण किया जाय। आचार्य की इसी न्यूनता के परिहार के लिये वर्द्धमान ने 'तस्मात् अयत्नेव मनः' इस उपसंहार ग्रन्थ के अवतरण में मन में अवयवित्व का निराकरण किया है। विस्तृति से विरत हुये उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया। अनुसन्धित्सु विद्वान् वर्द्धमान के उक्त सन्दर्भ का अवश्य अवलोकन करें।

२. मध्य में मन में अणुत्व के साधन का यह प्रकरण प्रासङ्गिक था। प्रकृत में बात यह है कि 'अपनी आत्मा का भी उसके ज्ञानादि गुणों के साथ ही प्रत्यक्ष होता है, केवल अपनी आत्मा का भी ग्रहण नहीं होता है। अत एव सुषुप्ति अवस्था में

एतदेव मनसः शीलमिति कुतो निर्णीतमिति चेत्; अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। न केवलं तस्य, किन्तु सर्वेषामेवेन्द्रियाणाम्। न हि विशेषगुणमनपेक्ष्य चक्षुराद्यपि द्रव्ये प्रवर्तते। स्वापावस्थायां कथं ज्ञानमिति चेत्; तत्तत्संस्कारोद्बोधे

पू० प० ··· ··· ··· ··· एतदेव··· ··· ··· ···

मन की यह सामर्थ्य ही कैसे निश्चित की कि वह ज्ञान से युक्त आत्मा का ही ग्रहण करे।

सि० प० अन्वय ··· ··· ··· द्रव्ये प्रवर्तते

अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों से ही समझते हैं कि मन ज्ञान से युक्त आत्मा का ही ग्रहण करता है, क्योंकि आत्मा की प्रतीति 'अहं जानामि' इत्यादि आकार की ही होती है, केवल 'अहम्' इस आकार की आत्मा की प्रतीति नहीं होती है। यह स्वभाव केवल मन रूप इन्द्रिय का ही नहीं है। किन्तु चक्षुरादि इन्द्रियों का भी यह स्वभाव अन्वय और व्यतिरेक से निष्पन्न है कि वे इन्द्रियों के द्वारा विशेष गुण के साथ ही द्रव्य का ग्रहण करें, केवल द्रव्य का नहीं। इसी कारण आकाश के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि वह आकाश के विशेषगुण शब्द को ग्रहण करने मे असमर्थ है।

पू० प० स्वापावस्थायाम् ··· ··· ··· ···

सभी जानते हैं कि स्वप्नावस्था में अनेक प्रकार में अद्भुत एवं अलौकिक विषयों का प्रत्यक्ष होता है। ये सभी ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होंगे ? क्योंकि स्वप्नावस्था में भी मन इन्द्रिय प्रदेश में नहीं रहता है। अतः सुषुप्ति अवस्था के समान ही स्वप्नावस्था में भी ज्ञानादि विशेष गुणों का एवं ज्ञानादि विशेषगुणों से युक्त आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। किन्तु स्वप्नावस्था में उन दोनों प्रत्यक्षों को तो सभी स्वीकार करते हैं।

सि० प० तत्तत् संस्कारोद्बोधे ··· ··· ··· ···

स्वप्नावस्था में इन्द्रियों का व्यापार न रहने पर भी पूर्वानुभव के द्वारा निष्पन्न उद्बुद्ध संस्कार जनित स्मृति के साहाय्य से मन स्वप्न स्वरूप विभ्रमों का उत्पादन कर सकता है।

ज्ञानादि के न रहने से अपनी आत्मा का ग्रहण नहीं होता। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? एवं सुषुप्ति अवस्था के बीतने पर पुनः जाग्रत अवस्था में ज्ञानादि की उत्पत्ति क्यों होती है ? इन्हीं बातों की चर्चा 'ज्ञानमेव कुतो न जायते' इत्यादि सन्दर्भ से आरम्भ की गयी थी। इसी प्रसङ्ग में मन के अणुत्व की चर्चा आयी थी। अब आचार्य 'तथा च तस्मिन्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अपने पहिले विषय का उपसंहार करते हैं।

विषयस्मरणेन स्वप्नविभ्रमाणामुत्पत्तेः। उद्बोध एव कथमिति चेत्, मन्दतर-तमादिन्यायेन बाह्यानामेव शब्दादीनामुपलम्भात्, अन्ततः शरीरस्यैवोष्मादेः प्रतिपत्तेः। यदा च मनः त्वचमपि परिहृत्य पुरीतति वर्तते, तदा सुषुप्तिः।

पू० उद्बोध एव ··· ··· ··· ···

किन्तु संस्कार का उद्बोधन ही कैसे होता है ? क्योंकि इन्द्रिय जनित ज्ञान ही उद्बोधक है। अर्थात् स्वप्नविभ्रम में इन्द्रिय के व्यापार का साक्षात् उपयोग भले ही न हो किन्तु उद्बोधक ज्ञान सम्पादक के जरिये इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा रहेगी ही। अतः इस रीति से इन्द्रियों के व्यापार के बिना स्वप्न की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सि० प० मन्दतर ··· ··· ··· —

स्वप्न के समय शब्दादि विषयों की अस्फुट प्रतीतियों की अनुवृत्ति रहती है। (अर्थात् स्वप्न के समय मन अनिन्द्रिय प्रदेश में नहीं जाता। अतः इन्द्रियों के साथ उसका कुछ व्यापार बना रहता है)। वह व्यापार मन्द या मन्दतर होता है, अतः उनसे होने वाली प्रतीति स्फुट नहीं होती।

[1]अन्ततः ··· ··· ··· यदा च ··· — ··· —

स्वप्नावस्था में अन्य विषयों का सांनिध्य भले ही संभव न हो, तथापि अपने शरीर की उष्णता का सांनिध्य तो संभव है। मन के साथ संयुक्त त्वचा के द्वारा जो उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष होगा, वही स्वप्नावस्था में होनेवाली स्मृतियों के उत्पादक संस्कारों का उद्बोधक होगा। सुतराम् स्वप्नावस्था में यदि चक्षुरादि अन्य इन्द्रियों के प्रदेश में मन की सत्ता न भी मानें, तथापि केवल त्वगिन्द्रिय के प्रदेश में मन की सत्ता को स्वीकार कर स्वप्नविभ्रम की उपपत्ति हो सकती है। यदि स्वप्न के समय भी मन की सत्ता निरिन्द्रिय प्रदेश में ही मानेंगे तो स्वप्न और सुषुप्ति इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इन दोनों में भेद इतना ही है कि मन जब इन्द्रियों वाले त्वगिन्द्रिय सहित सभी प्रदेशों को छोड़कर 'पुरीतति' नाम के सर्वथा इन्द्रिय शून्य प्रदेश में चला जाता है तो 'सुषुप्त्यवस्था' कहलाती है। एवं जिस समय इन्द्रियवाले प्रदेशों में रहने पर भी ऐसे व्यापारों से रहित हो जाता है, जिनसे स्फुटज्ञान की उत्पत्ति हो सके—तो वह स्वप्नावस्था कहलाती है। अथवा अन्य प्रदेशों को छोड़ने पर भी मन जब केवल त्वगिन्द्रिय के प्रदेश में रह जाता है तो 'स्वप्नावस्था' कहलाती है।

---

1. इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न हो सकता है कि इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में विषय के सांनिध्य की अपेक्षा होती है। स्वप्न के समय शब्दादि विषयों का सांनिध्य तो रहता नहीं। फिर उक्त मन्द या मन्दतर इन्द्रिय व्यापार के द्वारा किस का ग्रहण होगा ? इस प्रश्न का समाधान 'अन्ततः' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है।

स्यादेतत्। परात्मा तु कथं परस्याऽयोग्यः ?। न हि साक्षात्कारिज्ञान-विषयतामेवायं न प्राप्नोति, स्वयमप्यदर्शनप्रसङ्गात्। नापि ग्रहीतुरेवायमपराधः,

---

प० पू० स्यादेतत् परात्मा तु ... ...

तो फिर दूसरे की जाग्रत अवस्था की आत्मा का प्रत्यक्ष दूसरे पुरुष को होना चाहिये। तब फिर यह कहना सङ्गत नहीं है कि "पर" अर्थात् दूसरे की आत्मा प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है" क्योंकि ऐसी स्थिति वह 'परात्मा' स्वयं अपने द्वारा भी गृहीत नहीं हो सकती। यदि परात्मा' स्वयं अपने लिये प्रत्यक्ष के योग्य हैं, तो दूसरों के लिये प्रत्यक्षायोग्य क्यों है ?[1]।

नापि गृहीतुः ... ...

(कदाचित् यह कहें कि) ग्रहण करनेवाली 'परात्मा' में कोई ऐसा वैगुण्य है, जिससे अपना ग्रहण तो वह करती है किन्तु दूसरे की आत्मा (परात्मा) का ग्रहण नहीं कर सकती। किन्तु यह कहना भी ठोक नहीं है क्योंकि—

तस्यापि हि ... ...

आत्मा में जो समवायिकारणत्व रूप धर्म है, वही उसकी ग्रहण करने की योग्यता (स्वरूप) है। अन्य कोई भी वैगुण्य ग्रहणकर्त्तृत्व का विरोधी है ही नहीं। अतः वैगुण्य से उक्त प्रसङ्ग का निवारण नहीं किया जा सकता।

---

१. प्रकृत बात यह है कि परमात्मा चूँकि प्रत्यक्ष के 'योग्य' नहीं हैं, इस लिये उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। अतः उनकी अनुपलब्धि चूँकि योग्यानुपलब्धि नहीं है, अतः इससे परमात्मा के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रसङ्ग में दृष्टान्त रूप से कहा गया है कि 'अपनी आत्मा तो प्रत्यक्ष के योग्य है' फिर फिर भी सुषुप्ति के समय उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है, उनकी इस 'अप्रत्यक्ष' रूप अनुपलब्धि से अपनी आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता है। जब प्रत्यक्ष के योग्य अपनी आत्मा की अनुपलब्धि से अपनी आत्मा का अभाव भी सिद्ध नहीं होता, तो फिर प्रत्यक्ष के सर्वथा अयोग्य परमात्मा की अनुपलब्धि से परमात्मा की असत्ता की सिद्धि कैसे हो सकती है ? अभी प्रसङ्गतः यह बात उठती है कि चूँकि ज्ञानादि से युक्त आत्मा का ग्रहण करना ही मन का स्वभाव है, अतः सुषुप्ति के समय आत्मा का ग्रहण नहीं होता। सुतराम् ज्ञान ही आत्मा के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। किन्तु ऐसी स्थिति में जाग्रदवस्था की दूसरे की आत्मा का प्रत्यक्ष दूसरे पुरुष को होना चाहिये। यही बात स्यादेतत् 'इत्यादि' से उठायी गयी है।

तस्यापि हि ज्ञानसमवायिकारणतयैव तद्योग्यता। नापि करणस्य, साधारणत्वात्। न ह्यासंसारमेकमेव मनः एकमेवात्मानं गृह्णातीत्यत्र नियामकमस्ति। स्वभाव इति चेत्; तर्हि मुक्तौ निःस्वभावत्वप्रसङ्गः, तदेकार्थताया अपायादिति। न। भोजकादृष्टोपग्रहस्य नियामकत्वात्।

नापि करणस्य ··· ··· ··· साधारणत्वात्

(इस प्रसङ्ग में कोई कह सकते हैं कि मन रूप जो करण है, उसी में कोई ऐसा वैगुण्य है, जिस से परात्मा का प्रत्यक्ष किसी दूसरी परात्मा को नहीं होता) किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि करण 'साधारण' ही होते हैं। कुठार जिस प्रकार खदिर का छेदक है, उसी प्रकार पलाश का भी। मन भी 'करण' है, अतः 'स्व' रूप अपनी आत्मा के प्रत्यक्ष एवं परात्म प्रत्यक्ष इन दोनों प्रत्यक्षों की करणता रूप साधारण्य मन में भी है।

इस नियम का भी कोई हेतु नहीं है कि एक मन से एक ही आत्मा का ग्रहण हो। अतः इस नियम से भी उक्त आपत्ति का समाधान नहीं हो सकता।

स्वभाव इति चेत् ··· ··· ···

'स्वभाव' ही उक्त नियम का प्रयोजक होगा। स्वभाव के ऊपर कोई अभियोग नहीं किया जा सकता। अतः 'स्वभाव' के अनुसार यह नियम किया जा सकता है कि 'एक मन एक ही आत्मा का ग्रहण करे' अतः 'परात्मा' का ग्रहण नहीं होता है।

तर्हि मुक्तौ ··· ··· ···

किसी भी वस्तु का वही धर्म स्वभाव कहला सकता है जो उस 'स्व' वस्तु के 'भाव' अर्थात् सत्ता पर्यन्त बराबर बना रहे। अतः कोई भी अपने स्वभाव को छोड़ कर एक क्षण भी नहीं रह सकता। 'वस्तु' अगर रहेगी तो अपने स्वभाव के साथ ही, नहीं तो फिर जड़-मूल से विनष्ट हो जायगी। इस वस्तु स्थिति के अनुसार एक मन में यदि 'एक आत्मा के प्रत्यक्ष की करणता' मान ली जाय तो आत्मा के मुक्त होने के समय मन को 'एकात्मप्रत्यक्षकरणत्व' रूप उक्त स्वभाव से मुक्त मानना होगा। क्योंकि मोक्ष के समय आत्मा में कोई ज्ञान नहीं रहता। अतः 'स्व' रूप आत्मा का ज्ञान भी नहीं रहेगा। फिर उक्त 'करणत्व' को मन का स्वभाव कैसे माना जाय ? क्योंकि मन उक्त करणता को छोड़कर भी अपनी सत्ता को बनाये रखता है, तो फिर वह उसका स्वभाव नहीं हो सकता।

सि० प० न, भोजकादृष्टोपग्रहस्य ··· ··· ···

'एक मन से एक ही आत्मा का ग्रहण हो' इस नियम के बल से ही एक आत्मा के प्रत्यक्ष की आपत्ति दूसरी आत्मा में नहीं होती है। भोक्ता (ज्ञाता) के विशेष प्रकार के अदृष्ट का सम्बन्ध ही उक्त 'नियम' का प्रयोजक है। अत एव जिस आत्मा के अदृष्ट से आकृष्ट जो मन, जो शरीर एवं जो इन्द्रिय ज्ञानादि कार्यों का संपादन करते हैं, वह मन, वह शरीर

यद्धि मनो यच्छरीरं यानीन्द्रियाणि यस्यादृष्टेनाऽऽकृष्टानि तानि तस्यैवेति नियमः। तदुक्तं प्राक्—'प्रत्यात्मानियमाद्भुक्ते' रिति।

एतेन परबुद्ध्यादयो व्याख्याताः।

तदेवं योग्यानुपलब्धिः परात्मादौ नास्ति। तदितरा तु न बाधिकेति तवापि सम्मतम्। अतः किमधिकृत्य प्रतिबन्धिः? न हि शशशृङ्गमयोग्यानुपलब्ध्या कश्चिन्निषेधति। न च प्रकृते योग्यानुपलब्धिं कश्चिन्मन्यते।

और वह इन्द्रिय उसी आत्मा की होती है। इन सबों से नियम पूर्वक उसी आत्मा में ज्ञानादि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इस नियम का उपपादन 'प्रत्यात्मनियमाद्भुक्ते.' इस वाक्य से युक्त कारिका (स्त० १ श्लोक ४) में किया जा चुका है। इस युक्ति के अनुसार ही एक पुरुष की बुद्धि का प्रत्यक्ष दूसरे पुरुष को नहीं होता है।

तदेवम्[1] ··· ··· ···

इस प्रकार यह स्थिर हो गया कि परमात्मा की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है।

तदितरा तु ··· ··· ···

आप (मीमांसक और सांख्यशास्त्रानुयायियों) की भी यही सम्मति है कि 'योग्यानुपलब्धि' ही वस्तु की सत्ता का बाधक है। अयोग्यानुपलब्धि वस्तु की सत्ता का बाधक नहीं है। अत एव अदृष्ट, देवता, स्वर्ग प्रभृति की सत्ता के ऊपर कोई आघात नहीं होता है। अतः परमात्मा की अनुपलब्धि जब योग्यानुपलब्धि नहीं है, तब 'प्रतिबन्दि' का कोई भी अवसर नहीं है। (इसी की युक्ति एवं 'कायोग्यं बाध्यते शृङ्गम्' इस तृतीय चरण की व्याख्या) 'न हि शशशृङ्गम्' इत्यादि से की गयी है।

न हि शशशृङ्गम् ··· ··· ··· ···

शशशृङ्ग की अनुपलब्धि अयोग्यानुपलब्धि है, अतः इस से कोई भी शशशृङ्गाभाव की सिद्धि नहीं करता। एवं कोई भी शशशृङ्ग की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि नहीं मानता। अतः यह प्रतिबन्दि देना उचित नहीं है कि 'यदि अनुपलब्ध वस्तु की सत्ता मानेंगे तो शशशृङ्ग की सत्ता भी माननी होगी'।

---

1. 'तदेवम्' इत्यादि से 'योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये' इस प्रथम चरण की व्याख्या का उपसंहार किया गया है। एवं 'तदितरा तु' इत्यादि से 'प्रतिबन्धिः 'कुप्तस्तराम्' इस दूसरे चरण की व्याख्या प्रारम्भ हुई है।

अथायमाशयः—अयोग्यशशशृङ्गादावनुपलब्धिर्न बाधिका स्यादिति । ततः किं ? । तत् सिद्धयेदिति चेत्; एवमस्तु यदि प्रमाणमस्ति ।

पू० प० अथायम्[1] ··· ··· ···

यदि प्रत्यक्ष के अयोग्य परमात्मा की अनुपलब्धि परमात्मा की सत्ता का बाधक न हो तो फिर शशशृङ्ग की अनुपलब्धि भी प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृङ्ग की सत्ता का बाधक नहीं हो सकता[2] ।

सि० प० तत्किम् ··· ··· ···

यदि शशशृङ्ग की अनुपलब्धि शशशृङ्ग की सत्ता की बाधिका नहीं होगी, तो क्या हो जायगा ?

पू० प० तत् ··· ··· ···

जिस प्रकार बाधक के न रहने मात्र से आप ईश्वर कि सिद्धि करते हैं, उसी प्रकार शशशृङ्ग की भी सिद्धि हो जायगी । क्योंकि शशशृङ्ग की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि न होने के कारण उसकी बाधिका नहीं होगी ।

सि० प० एवमस्तु ··· ··· ···

यदि शशशृङ्ग की सिद्धि के उपयुक्त प्रमाण है, तो शशशृङ्ग की सिद्धि हो जाय । हम लोग ईश्वर की सिद्धि केवल बाधक प्रमाण के न रहने से तो मानते नहीं हैं । इसके लिये तो साधक प्रमाणों का ही अवलम्बन करते हैं ।

---

१. प्रकृत में अनुपलब्धि के द्वारा परमात्मा की सत्ता को विपन्न करने वाले हैं मीमांसक और सांख्य के अनुयायीगण, चार्वाक नहीं । चार्वाकसम्मत अनुपलब्धि से परमात्मा के खण्डन का उद्धार आगे कारिका ६ से किया गया है । अत एव 'तवापि सम्मतम्' यह वाक्य सिद्धवत् लिखा गया है । अर्थात् धर्म और अधर्म रूप अतीन्द्रिय पदार्थों को माननेवाले मीमांसकों और सांख्य के अनुयायीओं को योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का साधक विवश होकर मानना होगा । केवल अनुपलब्धि को अभाव का साधक मानने से धर्म और अधर्म की सत्ता उठ जायगी जो उन लोगों को भी इष्ट नहीं है । प्रकृत में यह कहना उचित नहीं है कि परमात्मा की अनुपलब्धि चूँकि अयोग्यानुपलब्धि है । अतः प्रतिवन्दि का कोई अवसर नहीं है ।

२. इस सन्दर्भ का तात्पर्य है कि (१) परमेश्वर की अनुपलब्धि को अयोग्य की अनुपलब्धि ठहरा देने से केवल इतना ही होगा कि ईश्वर सिद्धि का बाधक खण्डित हो जायगा, किन्तु केवल इतने भर से ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी । उसके लिये तो साधक प्रमाण की ही आवश्यकता होगी । (२) यदि शश का शृङ्ग अयोग्य हो तो उसकी अनुपलब्धि अयोग्य की अनुपलब्धि होने के कारण शशशृङ्ग का बाधक नहीं हो सकता ।

पशुत्वादिकमिति चेत्; परसाधने प्रतिवन्दिस्तर्हि, न तत्साधने। तत्रैव भविष्यतीति चेत्; तत्किं तत्र प्रतिबन्दिरेव दूषणम्, अथ कथञ्चित्तुल्यन्यायतया योग्या एव परात्मबुद्धयादयस्ते च बाधिता एवेत्यपहृतविषयत्वम्? न प्रथमः, अव्याप्तेः।

पू० प० पशुत्वादिकम् ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार गो प्रभृति पशु होने के नाते श्रृङ्ग से युक्त हैं, उसी प्रकार शश भी चूंकि पशु है, अतः श्रृङ्गवान् है (शश श्रृङ्गवान् पशुत्वात् गवादिवत्) पशुत्व हेतुक यह अनुमान ही शश में श्रृङ्ग का साधक होगा।

सि० प० परसाधने ··· ··· ··· ···

आप (पूर्व पक्षवादी) ने अनुपलब्धि रूप ईश्वर का बाधक दिखाकर पहिले यह कहा था कि 'ईश्वर की अनुपलब्धि रूप बाधक के रहते हुये भी यदि ईश्वर की सिद्धि बाधित न हो, तो शशश्रृङ्ग भी बाधित नहीं होगा। यदि शशश्रृङ्ग की अनुपलब्धि से शशश्रृङ्ग बाधित हो तो फिर ईश्वर की अनुपलब्धि से ईश्वर भी बाधित होगे ही (यही है ईश्वर के बाध का प्रयोजक प्रतिबन्दि)। अभी 'परसाधन' में प्रतिबन्धि देते हैं (अर्थात् अभी यह कहते हैं कि यदि कार्य्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि हो, तो पशुत्व हेतु से शश में श्रृङ्ग की सिद्धि क्यों नहीं। यह तो 'अर्थान्तर' नाम का निग्रहस्थान है।

पू० प० तत्रैव ··· ··· ···

उक्त रिति से 'परसाधन' में प्रतिबन्धि उपस्थित होने पर भी ईश्वर की सिद्धि प्रतिरुद्ध होगी ही।

सि० प० तत्किम् ··· ··· ···

(१) "यदि कार्यत्व हेतु से जगत कर्त्ता के परमेश्वर की सिद्धि उनकी उपलब्धि न रहने पर भी हो, तो फिर पशुत्व हेतु से भी उस शशशृङ्ग की सिद्धि होनी चाहिए जो सर्वथा अनुपलब्ध है? इस प्रकार की प्रतिबन्धि स्वयं दोष है?

अथ कथञ्चित् ··· ··· ···

(२) अथवा उक्त प्रतिबन्दि के द्वारा ईश्वर के साधक अनुमान में जिस किसी प्रकार बाध दोष का उद्भावन करना अभिप्रेत है? (अर्थात् जिस प्रकार शशरूप पक्ष में पशुत्व हेतु से शृङ्ग का अनुमान शशशृङ्ग की अनुपलब्धि से बाधित होता है, उसी प्रकार क्षित्यादि पक्ष में कार्यत्व हेतु से सकर्त्तृत्व का ईश्वर साधक अनुमान ईश्वर की अनुपलब्धि से बाधित होगा' इस रीति से उक्त प्रतिबन्दि का उद्भावन अभिप्रेत है?)

न प्रथमः ··· ··· ···तत्प्रतिबध्येत ·· ··· ···

(१) क्षित्यादि पक्षक कार्यत्व हेतुक सकर्त्तृकत्व का अनुमान स्वीकार करने पर पशुत्व हेतु से शश से शृङ्ग की सिद्धि की आपत्ति तभी हो सकती है, जब कि पशुत्व में जो शशशृङ्ग

न हि पशुत्वादेः शशशृङ्गसाधकत्वेन कार्यत्वादेः कर्तृमत्त्वादिसाधकत्वं व्याप्तम्, येन तस्मिन्नसति तत्प्रतिषिद्ध्येत। न द्वितीयः, मिथोऽनुपलभ्यमानत्वस्य वादिप्रतिवादिस्वीकारात्। तथापि पशुत्वादौ को दोष इति चेत्? न जानिमस्तावत्तद्विचारावसरे चिन्तयिष्यामः।

की साधकता हो, उसमें कार्यत्व के साथ रहने वाले सकर्तृकत्व की व्याप्ति हो। क्योंकि तब यह कहा जा सकता था कि व्यापकीभूत पशुत्व में जो शृङ्ग की साधकता है, उसके अभाव से कार्यत्व के साथ रहने वाले सकर्तृकत्व के अभाव की सिद्धि होगी, क्योंकि यह दूसरा अभाव पहिले अभाव का व्याप्य है। किन्तु कथित व्याप्ति ही सिद्ध नहीं है, अतः प्रथम प्रकार के अनुसार उक्त प्रतिबन्दि दूषण नहीं हो सकता।

न द्वितीयः ··· ··· ···

(योग्यत्व से रहित) केवल 'अनुपलभ्यमानत्व' को अभाव का निश्चायक न वादी (मीमांसकादि) ही मानते हैं, न प्रतिवादी (नैयायिकादि) ही। क्योंकि 'परात्मा' का अर्थात् अपने से भिन्न दूसरी आत्मा का प्रत्यक्ष दूसरी आत्मा को नहीं होता। किन्तु वादी को भी प्रतिवादी की आत्मा का 'निश्चय' तो है ही। इसी प्रकार प्रतिवादी को भी वादी की आत्मा का निश्चय है। अतः केवल अनुपलब्धि रूप (अप्रत्यक्ष) से परमेश्वर का अनुमान बाधित नहीं हो सकता। इस लिये प्रतिवादी के द्वारा इस दूसरी रीति से भी परमेश्वर की सत्ता विघटित नहीं की जा सकती।

पू० प० तथापि ··· ··· ···

ईश्वर के अनुमान में इससे कोई बाधा भले ही न हो, तथापि शश में शृङ्ग के साधन के लिए प्रयुक्त पशुत्व हेतु में कौन सा दोष है? (अर्थात् यदि इस अनुमान में किसी दोष का उद्भावन नैयायिक करेंगे, तो हम भी उसी दोष का उद्भावन ईश्वर साधक अनुमान के लिये भी करेंगे)।

सि० प० न जानीमः ··· ··· ···

कथित पशुत्व हेतु में कौन सा दोष है, यह मैं अभी नहीं जानता। जब उसके लिये उपयुक्त अवसर आवेगा तब विचार कर लिया जायगा। (अर्थात् अभी हम ईश्वर के बाधक प्रमाणों का खण्डन कर रहे हैं। ईश्वर के साधक प्रमाणों का उपपादन तो पाँचवें स्तबक में करेंगे। अतः ईश्वर के साधक प्रमाण में रहने वाले दोषों की संभावना के निरास का अवसर तभी होगा। अतः अभी इसकी चर्चा अनावश्यक है)।

स्यादेतत्। यत्प्रमाणगम्यं हि यत्, तदभाव एव तस्याभावमावेदयति। यथा रूपादिप्रतिपत्तेरभावश्चक्षुरादेरभावम्। कायवाग्व्यापारैकप्रमाणकश्च परात्मा, तदभाव एव तस्याऽभावे प्रमाणमङ्कुरादिषु। तन्न। तदेकप्रमाणकत्वासिद्धेः। अन्यथा सुषुप्तोऽपि न स्यात्।

पू० प०[1] स्यादेततत् यत्प्रमाणगम्यम् ··· ··· ···

'परात्मा' की सत्ता केवल उसके भोगायतन स्वरूप शरीर के वचनादि व्यवहार के द्वारा अनुमित होती है। ईश्वर भी 'परात्मा' ही हैं। अतः उसकी भी सत्ता कथित वचनादि के व्यहार से ही अनुमित हो सकती है। एवं जिस प्रमाण के द्वारा जिस कार्य की सिद्धि होती है, उस कार्य के न होने से (अभाव से) उस प्रमाण के अभाव की सिद्धि होती है, चक्षु स्वरूप प्रमाण से रूपज्ञान स्वरूप कार्य उत्पन्न होता है, अतः रूप के प्रत्यक्ष के न होने से चक्षु का अभाव निश्चित होता है। यह सभी मानते हैं कि ईश्वर को शरीर नहीं है, अतः तन्मूलक वाग् व्यवहार भी नहीं हैं, किन्तु इस 'वाग् व्यवहार' रूप कार्य के अभाव की सिद्धि ईश्वर सत्ता के अभाव के बिना नहीं हो सकती। अतः ईश्वर की सत्ता का अभाव स्वीकार करना ही होगा। यह मान लेने पर क्षित्यादि में ईश्वरकर्तृकत्व बाधित हो जायगा। तस्मात् क्षित्यादि में सकर्तृकत्व का अनुमान देवदत्तादि से भिन्न विलक्षण 'परात्मा' के अभाव रूप उस लिंग के ग्राहक अनुमान से बाधित है, जिसके अभाव रूप लिङ्ग से कथित (ईश्वरीय) काय-वाग् व्यवहार के अभाव की सिद्धि होती है।

सि० प० न, तदेकप्रमाणकत्वासिद्धेः ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि जो पदार्थ केवल एक ही प्रमाण से जाना जा सकता है, उसी पदार्थ का अभाव अपने ज्ञापक प्रमाण के अभाव का साधक हो सकता है। किन्तु 'परात्मा' केवल कायवाग् व्यवहार हेतुक अनुमान से ही सिद्ध होने वाली वस्तु नहीं है। 'परात्मा' की सिद्धि अन्य प्रमाणों से भी हो सकती है। परात्मा की सिद्धि यदि उक्त अनुमान प्रमाण से ही होती, तो उसकी सुषुप्तावस्था ही नहीं आती (अर्थात् सुषुप्तावस्था में कायवाग् व्यवहार के न रहने पर भी परात्मा का बाध नहीं होता है) अतः कायवाग् व्यवहार रूप प्रमाण से अन्य प्रमाण के द्वारा सिद्ध होने के कारण 'परात्मा' फलतः प्रकृत में परमात्मा अनुमान के द्वारा भी बाधित नहीं हैं।

१. ईश्वरानुमान में प्रत्यक्ष बाध के उपपादन और उद्धार के निरूपण के बाद 'स्यादेतत् यत्प्रमाण गम्यम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा ईश्वरानुमान में अनुमानबाध का उपपादन प्रारम्भ किया गया है।

श्वाससन्तानोऽपि तत्र प्रमाणमिति चेन्न। निरुद्धपवनोऽपि न स्यात्। कायसंस्थानविशेषोऽपि तत्र प्रमाणमिति चेन्न। विषमूर्च्छितोऽपि न स्यात्। शरीरोष्मापि तत्र प्रमाणमिति चेन्न।

पू० प० श्वासन्तानोऽपि ··· — ···

परात्मा का ज्ञापक केवल कायावाग् व्यवहार ही नहीं है, किन्तु 'श्वासप्रश्वास' भी है। सुषुप्त अवस्था में कायवाग् व्यवहार के न रहने पर भी श्वासप्रश्वास रूप ज्ञापक रहता है, अतः सुषुप्तावस्था में परात्मा का बाध नहीं होता।

सि० प०—न, निरुद्धपवनोऽपि ··· ··· ···

यदि कायवाग् व्यवहार एवं श्वासप्रश्वास इन दोनों को परस्पर असम्बद्ध होकर स्वतन्त्र रूप से परात्मा का ज्ञापक मानें तो सुषुप्तावस्था में परात्मा के अभाव की आपत्ति यद्यपि नहीं होगी, तथापि 'निरुद्धपवन' अर्थात् कुम्भक प्राणायाम की अवस्था में परात्मा के अभाव की आपत्ति होगी, क्योंकि उस समय कायवाग्व्यवहार और श्वासप्रश्वास इन दोनों में से एक भी नहीं रहता।

पू० प० :—कायसंस्थानविशेषोऽपि··· ··· ···

कायवाग् व्यवहार और श्वासप्रश्वास इन दोनों से अतिरिक्त काय का विशेष प्रकार का 'संस्थान' भी परात्मा का ज्ञापक प्रमाण है। अत एव जीवित शरीर और मृत शरीर इन दोनों में वैजात्य का अनुभव होता है। कुम्भक प्राणायाम की अवस्थावाले पुरुष के शरीर का संस्थान जीवित पुरुष के शरीर का सा संस्थान रहता है, अतः, कुम्भक प्राणायाम के समय कायव्यापार और श्वासप्रश्वास इन दोनों के न रहने पर भी परात्मा के अभाव की आपत्ति नहीं है।

सि० प० न, विषमूर्च्छितोऽपि ··· ··· — ···

कायव्यापार, श्वासप्रश्वास और संस्थानविशेष ये तीन ही परात्मा के ज्ञापक प्रमाण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी बात हो तो विष से कोई मूर्च्छित नहीं होगा। विशेष प्रकार के विषपान से मृत्यु न होने पर भी मूर्च्छा होती है, उस समय कायव्यापारादि तीनों व्यापारों में से कोई भी नहीं रहता। फिर भी विष से मूर्च्छित पुरुष की आत्मा (स्वरूप परात्मा) का ज्ञान होता है।

पू० प० शरीरोष्मापि ··· ··· ··· ···

उन तीन हेतुओं से अतिरिक्त शरीर की उष्णता रूप चौथा ज्ञापक भी परात्मा का है। विष से मूच्छित पुरुष का शरीर भी जीवन पर्यन्त उष्ण रहता है। अतः विषमूच्छित पुरुष की आत्मा का (परात्मा का) ज्ञान शरीर की उष्णता से होता है।

जलावसिक्तविषमूच्छितोऽपि न स्यात्। तस्मात् यद्यत्कार्यमुपलभ्यते तत्तदनुगुणश्चेतनस्तत्र तत्र सिद्धयति।

सि० प० जलावसिक्त ··· ··· ··· ···

तथापि परात्मा के ज्ञापक प्रमाणों की इयत्ता निर्द्धारित नहीं हुई, क्योंकि विषमूच्छित पुरुष की मूर्च्छा को हटाने के लिये उनके शरीर को जब जल से भिङो दिया जाता है, तब उस पुरुष का शरीर उष्ण नहीं प्रतीत होता। अतः जल से सिञ्चित उस पुरुष की आत्मा का अनुमान उक्त चार हेतुओं में से किसी से भी नहीं हो सकता। सुतराम् यह सत्य है कि जिस प्रमेय की सिद्धि किसी एक ही प्रमाण से सम्भव हो, उस प्रमेय के अभाव से उसके साधक प्रमाण के अभाव की सिद्धि होती है। जिस प्रमेय की सिद्धि अनेक प्रमाणों से हो सकती हो, उनकी इयत्ता अगर निश्चित हो तो कदाचित् उस प्रमेय की असत्ता से प्रमाणाभाव की सिद्धि हो भी सकती है। किन्तु जिस प्रमेय के ज्ञापक प्रमाणों की इयत्ता अवधारित नहीं हो सकती, उस प्रमेय के ज्ञापक अनुपलब्ध प्रमाण की सम्भावना से प्रमाण का समान्याभाव संशयास्पद हो रहता है।

तस्मात् कायादि के व्यापारों की अनुपलब्धि से ईश्वर रूप परात्मा का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। अतः ईश्वर की सिद्धि में अनुमान बाध का कोई भी अवकाश नहीं है।

सि० प० तस्मात् यद्यत् ··· ··· ··· सिद्धयति ··· ··· ···

'तस्मात्' जिस प्रकार के कार्यों की उपलब्धि होती है, उसी के अनुकूल चेतन कर्त्ता की कल्पना भी की जाती है। तदनुसार ही घट कार्य के लिये दण्डचक्रादिज्ञान एवं उनके व्यापारों से युक्त कुलाल की कल्पना और पट कार्य के लिए तुरी बेमादि उपकरणों के उपयोग से अभिज्ञ एवं उनको व्यापृत करने में समर्थ जुलाहे की कल्पना की जाती है। कायादि के व्यापार कथित घटपटादि कार्यों में समर्थ कुलाल-जुलाहा प्रभृति परात्माओं के ही ज्ञापक हैं, अतः घटादि कार्यों के न रहने से कदाचित् घटादि कर्त्ता रूप उक्त परात्माओं का बाध संभव भी हो, किन्तु क्षित्यंकुरादि कार्यों के अनुकूल जिस ईश्वर रूप 'परात्मा' की कल्पना की जाती है, उनमें क्षित्यादि कार्यों के सम्पादन के लिये कायादि के व्यापार का कोई भी उपयोग नहीं है। अतः परात्मा के ज्ञापक कायव्यापारादि रूप विशेष प्रमाणों के न रहने पर भी उनके साधक सामान्य प्रमाण तो है ही।

इस प्रकार 'परात्मा' एक ही प्रमाण से सिद्ध होने वाले पदार्थों में से नहीं हैं। यह भी उपपादन कर चुके हैं कि उक्त अनुमानबाध एकमात्र प्रमाणगम्य पदार्थों के लिये ही है। अतः अनेक प्रमाणगम्य ईश्वर रूप परात्मा में अनुमान बाध का कोई अवसर ही नहीं है।

न च कार्यमात्रस्य कश्चिद्व्यावृत्तिरिति। न च त्वदभ्युपगतेनैव प्रमाणेन भवितव्यं नान्येनेति नियमोऽस्ति। न च प्रमेयस्य प्रमाणेन व्याप्तिः।

सि० प० न च कार्यमात्रस्य ··· ··· ··· ···

[1]जिस प्रकार घटादि कार्यों का कर्तृत्व कुलालादि में मान लेने से उसके लिये ईश्वर का मानना आवश्यक नहीं होता, उसी प्रकार क्षित्यंकुरादि कार्यों का भी कर्तृत्व यदि किसी दृष्ट व्यक्ति में सम्भव होता, तो परमेश्वर की कल्पना को अनावश्यक कहा जा सकता था। अतः क्षित्यादि कार्यों के कर्त्ता के रूप में जो ईश्वर की सिद्धि पञ्चमस्तबक में की गयी है, वह ठीक है।

सि० प० न च त्वदभ्युपगतेनैव ··· ··· ··· ···

(आप भले ही न मानें किन्तु मैं सभी परात्माओं को कायव्यापारों के द्वारा ही ज्ञेय मानता हूँ। अतः मैं तो कह ही सकता हूँ कि कायव्यापार के न रहने पर परमेश्वर रूप परात्मा के अनुमान में अनुमानबाध होगा। किन्तु पूर्वपक्षवादी का यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि) यह कोई नियम नहीं है कि आप (मीमांसक) जिस वस्तु का ज्ञापक जितने प्रमाणों को मानें उस वस्तु के ज्ञापक केवल उतने ही प्रमाण हों। अतः आप सभी परात्माओं को एक ही कायव्यापार रूप प्रमाण का विषय मानते हैं, उसी प्रसङ्ग में युक्ति के द्वारा यदि परात्माओं के ज्ञापक अन्य प्रमाणों की भी सत्ता सिद्ध हो जाय, तो केवल आप के नियम से ही सभी परात्माओं को एक प्रमाणगम्य नहीं माना जा सकता। 'अन्यथा सुषुप्तोऽपि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा परात्मा के ज्ञापक अनेक प्रमाणों का उल्लेख किया जा चुका है।

सि० प० न च प्रमेयस्य ··· ··· ··· ···

(पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि कायादि के व्यापार से भिन्न और भी परात्मा के ज्ञापक प्रमाण हों, तथापि कायादि के व्यापार में परात्मा की ग्राहकता में कोई विवाद नहीं है, अतः कायादि के व्यापार के न रहने से परात्मा के अभाव की सिद्धि के द्वारा ईश्वर की सत्ता तो बाधित होगी ही। किन्तु यह कहना भी ठीक) नहीं है, क्योंकि प्रमाण के साथ प्रमेय की व्याप्ति नहीं है।

---

1. उपर्युक्त उपपादन से इतना ही सिद्ध होता है कि ईश्वर की सिद्धि में कोई बाधक नहीं है। किन्तु केवल इतने से ही ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती। इसी आक्षेप के समाधान के लिये 'न च कार्यमात्रस्य' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है। इसमें प्रयुक्त 'मात्र' शब्द का अर्थ है 'सम्पूर्ण' जैसे कि मनुष्यमात्रस्यायं धर्मः इत्यादि स्थलों में होता है।

सा हि कार्त्स्न्येन वा स्यात्, एकदेशेन वा स्यात् ?। न प्रथमः, प्रत्यक्षाद्यन्यतमासद्भावेऽपि तत्प्रमेयावस्थितेः। न द्वितीयः।

सि० प० सा हि··· ··· ··· ···

(क्योंकि) जिस की व्याप्ति जिस वस्तु में रहती है, व्यापकीभूत उस वस्तु के अभाव से (व्याप्ति से युक्त फलतः) व्याप्य वस्तु का अभाव सिद्ध होता है। (जैसे कि वह्नि के अभाव से धूम का अभाव निर्णीत होता है) तदनुसार प्रमाण के अभाव से प्रमेय का अभाव तभी सिद्ध हो सकता है, जब कि प्रमेय की व्याप्ति प्रमाण में रहे। अतः जो समुदाय प्रमाण के अभाव से प्रमेयाभाव की सिद्धि चाहते हैं, उन्हें प्रमेय में प्रमाण की व्याप्ति माननी ही होगी। अर्थात् उन्हें यह कहना होगा कि जहाँ जहाँ प्रमेय है, उन सभी स्थानों में प्रमाण अवश्य है।

इस व्याप्ति के (१) कार्त्स्न्य पक्ष और (२) एकदेश पक्ष ये दो विकल्प हो सकते हैं। कार्त्स्न्य पक्ष के अनुसार यह कहना पड़ेगा कि (१) जिस प्रमेय के ज्ञापक जितने भी प्रमाण हैं वे सभी प्रमेय के सभी अधिकरणों में अवश्य रहते हैं। एक देश वाले द्वितीय पक्ष के अनुसार कहना होगा कि (२) जिन स्थानों में प्रमेय रहता है, उन स्थानों में उसके ज्ञापक प्रमाणों में से कोई अवश्य रहता है।

न प्रथम··· ··· ··· ···

(इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष के खण्डनांश का यह अभिप्राय है कि) प्रमेय दो प्रकार के हैं (१) कुछ प्रमेय तो केवल एक ही प्रमाण से समझे जा सकते हैं जैसे कि स्वर्ग, अपूर्व देवता प्रभृति, क्योंकि श्रुति प्रमाण को छोड़ और कोई प्रमाण उनका ज्ञापक नहीं है। (२) दूसरे प्रकार के प्रमेय हैं वह्नि प्रभृति, क्योंकि पहिले पर्वत में वह्नि की प्रतीति प्रतिज्ञा वाक्य रूप शब्द प्रमाण से होती है। उसी वह्नि का इसके बाद धूम ज्ञान से अनुमान होता है। तदनन्तर समीप जाने पर उसी की प्रतीति प्रत्यक्ष से भी होती है। अतः वह्नि प्रभृति प्रमेय अनेक प्रमाण गम्य हैं। वह्नि के ज्ञापक कथित शब्दादि प्रमाणों में से किसी एक की सत्ता के न रहने पर भी वह्नि रूप प्रमेय की सत्ता में कोई बाधा नहीं आती है। अतः जो प्रमेय अनेक प्रमाणों के द्वारा ज्ञात हो सकता है, उस की सत्ता किसी एक प्रमाण की असत्ता से मिट नहीं सकती।

न द्वितीयः··· ··· ··· ···

कथित पक्षों में से अगर द्वितीय पक्ष को स्वीकार करेंगे तो इसके भी अवान्तर दो विकल्प हो सकते हैं। (१) यदि किसी नियमित व्यक्ति में किसी प्रमेय के ज्ञापक सभी प्रमाणों

पुरुषनियमेन सर्वप्रमाणव्यावृत्तावपि प्रमेयावस्थितेः। अनियमेनासिद्धेः। न हि सर्वस्य सर्वदा सर्वथाऽत्र प्रमाणं नास्तीति निश्चयः शक्य इति। कथं तर्हि चक्षुरादेरभावो निश्चेयः ?। व्यापकानुपलब्धेः।

का अभाव रहे तो उस प्रमेय के अभाव की सिद्धि होगी ? अथवा (२) प्रमाणाभाव के द्वारा उसी प्रमेय का अभाव सिद्ध हो सकता है, जिसके ज्ञापक सभी प्रमाणों का अभाव सभी ज्ञाताओं में रहे ?

(२) पुरुषनियमेन··· ··· ··· ···

इन दोनों अवान्तर विकल्पों में से प्रथम विकल्प इस लिये ठीक नहीं है कि किसी एक नियमित पुरुष में किसी प्रमेय के ज्ञापक सभी प्रमाणों की सत्ता के न रहने पर भी उस प्रमेय की सत्ता नहीं उठ जाती (अर्थात् उस प्रमेय का विनाश नहीं हो जाता ।)

सि० प० अनियमेन··· ··· ··· ···

(कथित अवान्तर विकल्प का द्वितीय पक्ष इस लिये असङ्गत है कि संसार में पुरुष अनन्त हैं, प्रमाणों में से कुछ प्रमाण अतीन्द्रिय भी हैं । ज्ञाता भी सर्वदा सावधान नहीं रहते । इस स्थिति में यह कैसे समझ सकते हैं कि किस प्रमेय के सभी प्रमाणों का (जिनमें कुछ प्रमाण अतीन्द्रिय भी हो सकते हैं अभाव है । अतः सभी प्रमाणों के अभाव का ज्ञान ही 'शक्य' नहीं है ।

पू० प० कथन्तर्हि··· ··· ··· ···

किन्तु यह तो मानना ही होगा कि रूपज्ञान के अभाव से चक्षु का अभाव निर्णीत होता है । रूप का ज्ञान भी तो चक्षु का ज्ञापक प्रमाण ही है। तब तो यह भी स्वीकार करना ही होगा रूपज्ञान के अभाव से जो चक्षु के अभाव की सिद्धि होती है, वह वास्तव में प्रमाण के अभाव मूलक प्रमेय के अभाव की सिद्धि ही है । उसका क्या उपाय करेंगे ?

सि० प० व्यापकानुपलब्धेः··· ··· ··· ···

रूप विषयक ज्ञान के अभाव से जो चक्षु के अभाव की सिद्धि होती है, उसका यह हेतु नही है कि रूप विषयक ज्ञान चक्षु का ज्ञापक प्रमाण है। उसका कारण है चक्षु का रूपज्ञान का व्यापक होना । क्योंकि जिस व्यक्ति को चक्षु है, उस व्यक्ति को रूप का ज्ञान भी अवश्य ही होता है । 'व्यापक वस्तु का अभाव व्याप्य वस्तु के अभाव का ज्ञापक होता है' इस नियम के अनुसार व्यापकीभूत रूप विषयक ज्ञान के अभाव से व्याप्य स्वरूप चक्षु का अभाव निर्णीत होता है । अतः प्रमाण के अभाव से प्रमेय के अभाव की सिद्धि का चक्षु वाला प्रकृत दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है ।

(किन्तु चक्षु है कारण, और रूप विषयक ज्ञान है उसका कार्य । कारण ही कार्य का व्यापक होता है, कार्य कारण का व्यापक नहीं हो सकता । क्योंकि कार्य जिन स्थानों में रहेगा, उन सभी स्थानों में कारण अवश्य रहेगा । किन्तु कारण जिन सभी स्थानों रहता है, उनमें कहीं कहीं प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाने पर कार्य नहीं भी होता है । अतः रूप विषयक ज्ञान स्वरूप कार्य चक्षु (रूप कारण) का व्यापक नहीं हो सकता । अतः 'व्यापका-

चरमसामग्री निवेशिनो हि कार्यमेव व्यापकम्। तन्निवृत्तौ तथाभूतस्यापि निवृत्तिः। योग्यमात्रस्य कदाचित्कार्यम्, तन्निवृत्तौ तथाभूतस्याऽपि निवृत्तिः। अन्यथा तत्रापि सन्देहः।

भाव से व्याप्याभाव की सिद्धि' की रीति से रूप विषयक ज्ञान का अभाव चक्षु के अभाव का ज्ञापक नहीं है। इस आक्षेप के दो समाधान निम्नलिखित हैं—)

सि० प० = (१) चरमसामग्री··· ··· ··· ···

(१) यह सत्य है कि कारण के रहने पर भी प्रतिबन्धक वश कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध हो जाती है, अतः प्रत्येक कारण कार्य का व्यापक नहीं है। किन्तु 'सामग्री' अर्थात् सभी कारणों के रहने से कार्य अवश्य ही उत्पन्न होता है। इस 'सामग्री' के अन्तर्गत प्रतिबन्धक का अभाव भी है, क्योंकि वह भी एक कारण है। अतः जहाँ सामग्री रहेगी, वहाँ प्रतिबन्धक का अभाव भी अवश्य रहेगा। अतः जहाँ सामग्री का संवलन हो जायगा वहाँ किसी प्रतिबन्धक से कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध नहीं हो सकती। अतः कार्य सामग्री का व्यापक अवश्य है। समूह रूप सामग्री की व्यापकता जब कार्य में है, तो फिर सामग्री के अन्तर्गत प्रत्येक कारण की व्यापकता भी कार्य में अवश्य ही है। अर्थात् रूप का ज्ञान केवल स्वतन्त्र रूप से चक्षु का व्यापक भले ही न हो किन्तु सामग्री में अन्तर्भूतत्व रूप से (रूप विषयक ज्ञान जनक समग्रयन्तर्गतत्व रूप से) रूप विषयक ज्ञान चक्षु का व्यापक अवश्य है। अतः 'तन्निवृत्ति' अर्थात् कार्य की निवृत्ति से "तथाभूतस्यापि निवृत्तिः" सामग्री के अन्तर्गत कारण की निवृत्ति भी अवश्य होगी।

सि० प० (२) योग्यमात्रस्य··· ··· ··· ···

(कार्य में कारण की व्यापकता की जो कथित अनुपपत्ति दी गयी है, उसका दूसरा समाधान यह है कि निमित्तकारण, एवं 'कदाचित्' समवायिकारण के प्रसङ्ग में भी यह भले ही कहा जा सकता हो कि इन कारणों में कार्य की व्यापकता नहीं है किन्तु) 'योग्य' अर्थात् कार्य के उत्पादन में अवश्यक्षम 'असमवायिकारण' की व्यापकता अवश्य ही कार्यों में है। अतः कार्य की निवृत्ति से अन्य कारणों की निवृत्ति भले ही न ज्ञात हो सके, किन्तु असमवायिकारण की निवृत्ति का बोध कार्य की निवृत्ति से अवश्य होगा। क्योंकि असमवायिकारण कार्य का व्यापक है। 'अन्यथा'[1] अर्थात् जिस कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती, उस कारण की व्यापकता यदि कार्य में नहीं होगी तो फिर 'तत्रापि सन्देहः' अर्थात् उस कारण में कार्य के उत्पादन की क्षमता का भी सन्देह अवश्य होगा।

---

१. इस सन्दर्भ को समझने के लिये कारणों का दो विभाग करना होगा। (१) कुछ ऐसे कारण होते हैं, जो कार्यों की उत्पत्ति के बाद उनसे उदासीन हो जाते हैं, जैसे कि घट के दण्डादि एवं पट के तुरीवेमादि। (२) कुछ कारण ऐसे होते हैं, जिनकी

प्रकृतेऽपि व्यापकानुपलब्ध्या तत्प्रतिषेधोऽस्तु ।

पू० प० प्रकृतेऽपि ··· ··· ··· ···

प्रकृत में भी ईश्वर का प्रतिषेध 'व्यापकानुपलब्धि' से ही हो।[1] (अर्थात् नैयायिकगण जगत के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि करते हैं। किन्तु कर्ताओं का यह स्वभाव है कि वे किसी स्वार्थ अथवा प्रयोजन के वशीभूत होकर ही किसी कार्य का सम्पादन करते है। तदनुसार यह व्याप्ति सिद्ध होती है जहाँ २ कर्तृत्व है, उन सभी स्थानों में स्वार्थ अथवा प्रयोजन

सत्ता कार्य की सत्ता तक बनी ही रहती है, जैसे कि घट के कपाल एवं कपालों का संयोग प्रभृति। फलतः समवायिकारण और असमवायिकारण ये दोनों कथित दूसरे प्रकार के कारण हैं। इन में भी असमवायिकारण जहाँ रहेगा, वहाँ कार्य अवश्य ही रहेगा। अतः असमवायिकारण की व्यापकता कार्यों में अनिवार्य है। किन्तु समवायिकारण के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, क्योंकि कार्य से असम्बद्ध भी समवायिकारण की सत्ता रहती है। पट के अनुत्पादक भी तन्तु हैं। अतः समवायिकारणों की व्यापकता कार्य में ले जाने के लिये इतना अधिक कहना होगा कि कार्य अपने साथ सम्बद्ध समवायिकारण का व्यापक है। अपने अन्तर्गत तन्तुओं को छोड़ कर पट रूप कार्य कहीं नहीं रहता। इसी विशेष को समझाने के लिये प्रकृत सन्दर्भ में 'कदाचित्' पद है।

'अन्यथा' पद की उक्त व्याख्या वर्द्धमान के अनुसार की गयी है। इनके मत से 'अन्यथा' घटित सन्दर्भ 'योग्यमात्रस्य' इत्यादि सन्दर्भ का समर्थक है। बोधिनी टीकाकार श्री वरदराज मिश्र ने इस 'अन्यथा' पद की तीन व्याख्यायें की हैं। पहिली व्याख्या में 'अन्यथा' पद की 'यदि विधाद्वयमपि चक्षुरादौ नास्ति तदा' इस प्रकार की व्याख्या की है। अर्थात् दो ही प्रकार से कार्य कारण का व्यापक हो कर अपने अभाव (कार्याभाव) के द्वारा कारणाभाव की सिद्धि के प्रयोजक हो सकते हैं, इन में से यदि किसी भी प्रकार से रूपविषयकज्ञान के अभाव से चक्षु के अभाव की सिद्धि सम्भव न हो तो फिर रूपविषयकज्ञान के अभाव के रहने पर भी चक्षु का 'सन्देह' ही समझना चाहिये। इस पक्ष में 'अन्यथा' पद का अन्वय चरमसामग्री-[illegible]शनः' इत्यादि सन्दर्भ एवं 'योग्यमात्रस्य' इत्यादि सन्दर्भ दोनों के साथ समझना चाहिये। 'अन्यथा' पद की शेष दो व्याख्याओं को कुसुमाञ्जलि की बोधिनी टीका में देखना चाहिये।

1. 'प्रकृतेऽपि' इस सन्दर्भ से प्रकृत श्लोक के 'कानुमानमनाश्रयम्' इस चौथे चरण की व्याख्या की गयी है।

न, आश्रयासिद्धत्वात्। न हीश्वरस्तज्ज्ञानं वा कचित् सिद्धम्। आभास-प्रतिपन्नमिति चेत्।

भी अवश्य है। इस प्रकार कर्तृत्व का व्यापक है 'स्वार्थ'। किन्तु ईश्वर को सभी वस्तुयें प्राप्त है, अतः उन में स्वार्थ नहीं रह सकता। सुतराम व्यापकीभूत स्वार्थ का व्याप्य कर्तृत्व भी ईश्वर में नहीं है। 'व्यापकाभाव से व्याप्याभाव का अनुमान' इस रीति से ईश्वर में कर्तृत्व सामान्य के अभाव का अनुमान होगा। इस अनुमान के रहते जगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि की आशा ही छोड़ देनी होगी। (यही है ईश्वरानुभान में अनुमानबाध)।

सि० प० न, आश्रयासिद्धत्वात् ... ...

उक्त अनुमान बाध कथित ईश्वरानुमान में नहीं है। क्योंकि ईश्वर रूप पक्ष में स्वार्थाभाव हेतु से जो कर्तृत्वाभाव का अनुमान आप करेंगे, उसके लिये ईश्वरत्व रूप पक्षतावच्छेदक से युक्त ईश्वर रूप पक्ष का ज्ञान आवश्यक होगा। क्योंकि पक्षतावच्छेदक रूप से पक्ष का ज्ञान अनुमान से पहिले आवश्यक है। आप जिस किसी प्रमाण से ईश्वरत्व विशिष्ट ईश्वर रूप पक्ष का ज्ञान संपादन करेंगे, उसी (धर्मिग्राहकमान) से ईश्वर की सिद्धि हो जायगी। यदि आप कहेंगे कि 'ईश्वर का साधक कोई प्रमाण नहीं है। तो फिर ईश्वर पक्षक कर्तृत्वाभाव साध्यक उक्त अनुमान ही नहीं होगा। अतः उक्त रीति से ईश्वर के साधक अनुमानों का बाधक उक्त अनुनान बाध भी नहीं हो सकता।

पू० प० आभासप्रतिपन्नम् ... ...

प्रामाणाभास के द्वारा ज्ञात परमेश्वर में ही कर्तृत्वाभास की सिद्धि करेंगे, अतः ईश्वरानुमान में कथित अनुमानबाध दोष की कोई अनुपपत्ति नहीं।[1]

---

1. मीमांसक वेदान्ती प्रभृति का सिद्धान्त है कि सर्वथा अविद्यमान गगनकुसुमादि का ज्ञान भी शब्द प्रमाण से होता है। इसी का समर्थक श्लोकवार्त्तिक (अ० १—पा० १ सू० २ श्लोक० ६) का यह श्लोकार्द्ध है।

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।

अतः 'ईश्वर' शब्द रूप प्रमाण के द्वारा प्रतिपन्न ईश्वर में ही नास्तित्व का अनुमान होगा। इसलिये बाध का प्रयोजक अनुमान आश्रयासिद्ध नहीं है। मूल सन्दर्भ का केवल 'आभास' शब्द यहाँ अत्यन्त असत् गगनकुसुमादि के बोधक 'शब्दप्रमाणाभास' के लिये प्रयुक्त हुआ है। अत्यन्त असत् वस्तु का उक्त प्रमाणा-भासजनित ज्ञान ही 'असत्ख्याति' शब्द से प्रसिद्ध है।

न, तस्याश्रयत्वानुपपत्तेः, प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेश्च ।

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता ।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥ २ ॥

सि० प० न, तस्य ... ...

उक्त कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि तथाकथित प्रामाणाभास के द्वारा प्रतिपन्न असत् पदार्थ न किसी का आश्रय हो सकता है, न किसी अभाव का प्रतियोगी ही हो सकता है।[1]

सि० प० व्यावर्त्याभाववत्तैव ... ...

किसी भी व्यावर्त्य अर्थात् प्रतियोगी के अभाव की अधिकरणता रूप 'विशेष्यता' किसी प्रामाणिक वस्तु में ही रह सकती है। एवं अभावाभावत्व रूपा प्रतियोगिता भी किसी प्रामाणिक पदार्थ में ही रह सकती है। (अर्थात् अभाव का अधिकरण और अभाव का प्रतियोगी दोनों ही कोई प्रमाणसिद्ध पदार्थ ही हो सकता है, असत् ख्याति से उपनीत गगन-कुसुमादि नहीं)।[2]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि निम्नलिखित दोनों ही अनुमानों से प्रकृत में ईश्वर का निषेध किया जा सकता है (१) ईश्वर पक्षक कर्तृत्वाभाव साध्यक 'ईश्वरः कर्तृत्वाभाववान्' एवं (२) ईश्वर के अभाव को पक्ष कर उसमें 'अस्तित्व' साध्यक 'ईश्वराभावोऽस्ति'। पहिले अनुमान में ईश्वर को कर्तृत्वाभाव का आश्रय होना चाहिये। एवं दूसरे में ईश्वर को स्वाभाव का प्रतियोगी होना चाहिये। किन्तु 'आभासप्रतिपन्न' वस्तु न किसी का आश्रय हो सकता है, न किसी का प्रतियोगी। यही दोनों बातें 'आश्रयानुपपत्तेः' एवं 'प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेः' इन दोनों हेतु वाक्यों से कही गयी हैं। जिसका 'प्रतिषेध' किया जाय फलतः जिसका अभाव हो वही 'प्रतिषेध्य' अर्थात् 'प्रतियोगी' है।

२. इस श्लोक का अभिप्राय है कि परमार्थिक वस्तु ही किसी का विशेष्य हो सकता है, अपारमार्थिक गगन कुसुमादि नहीं। ईश्वर में जिस कर्तृत्वाभाववत्ता की चर्चा की गयी है, वह कर्तृत्वाभाव की विशेष्यता से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। 'व्यावर्त्य' शब्द का अर्थ है 'प्रतियोगी'। तदभाववत्ता रूप विशेष्यता 'भाविकी' है अर्थात् प्रामाणिक वस्तु में ही रहने वाली है। अतः ईश्वर को पक्ष बना कर उसमें कर्तृत्वाभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती। श्लोक के उत्तरार्द्ध से ईश्वराभाव का साधक वह अनुमान निरस्त किया गया है, जिस में ईश्वराभाव पक्ष है और अस्तित्व साध्य है। 'ईश्वराभावः अस्ति' इस आकार का उक्त दूसरा अनुमान होगा। इस अनुमान के लिये ईश्वर को अभाव का प्रतियोगी होना आवश्यक है। किन्तु आभास से प्रतिपन्न वस्तु किसी अभाव का प्रतियोगी भी नहीं हो सकता। इन्हीं दोनों युक्तियों का उपपादन इस श्लोक में किया गया है। श्लोक का अन्वय इस प्रकार

न चैतदाभासप्रतिपन्नस्यास्तीति कुतस्तस्य निषेधाधिकरणत्वं निषेध्यता वेति। कथं तर्हि शशशृङ्गस्य निषेधः ?। न कथञ्चित्। स ह्यभावप्रत्यय एव। न चायमपारमार्थिकप्रतियोगिकः परमार्थाभावो नाम। न चापारमार्थिकविषयं प्रमाणं नामेति ॥ २ ॥

सि० प० न चैतत् ··· ··· ··· ···

'व्यावर्त्याभाववत्ता' रूप विशेष्यता एवं अभावाभावत्व रूपा प्रतियोगिता ये दोनों ही चूंकि प्रमाण से सिद्ध अर्थों में ही रह सकती हैं, अतः आभास प्रतिपन्न या असत्ख्यात्युपनीत ईश्वर में ये दोनों नहीं रह सकतीं। अतः उक्त दोनों अनुमानबाध असङ्गत हैं।

पू० प० कथं तर्हि ··· ··· ··· ···

किन्तु 'शशशृङ्गं नास्ति' इस वाक्य का प्रयोग तो सर्वसिद्ध है। इस वाक्य से दो ही बोध हो सकते हैं (१) शशशृङ्ग विशेष्यक एवं अस्तित्वाभाव प्रकारक 'शशशृङ्गः अस्तित्वाभाववान्' इस आकार का और (२) शशशृङ्गाभाव विशेष्यक अस्तित्व प्रकारक 'शशशृङ्गाभावोऽस्ति' इस आकार का। किन्तु श्लोक में कथित दोनों नियमों के अनुसार कथित दोनों बोधों में से एक भी उपपन्न नहीं हो सकता। क्योंकि अलीक शशशृङ्ग न अभाव का प्रतियोगी हो सकता है, न विशेष्य ही हो सकता है। किन्तु 'शशशृङ्ग नास्ति' इस वाक्य से उक्त दोनों बोधों में से कोई अवश्य होता है। अतः उक्त दोनों ही नियम असङ्गत हैं। एवं तन्मूलक अनुमानबाध का उद्धार भी युक्त नहीं है।

सि० प० न कथञ्चित् ··· ··· ··· ···

उक्त वाक्य के द्वारा शशशृङ्ग का निषेध किया ही नहीं जाता। उस वाक्य से जिस 'अभाव' की प्रतीति होती है, वह वास्तव में ही 'अभाव प्रत्यय' है अर्थात् पारमार्थिक अभाव की ही प्रतीति है। उक्त वाक्य से जिस अभाव का बोध होता है, उसका प्रतियोगी भी कोई अलीक वस्तु नहीं है। पारमार्थिक अभाव के प्रतियोगी को भी पारमार्थिक ही होना चाहिये। किन्तु शशशृङ्गाभाव के प्रतियोगी को पारमार्थिक होने का कोई प्रमाण नहीं है। अतः उक्त वाक्य के द्वारा शश रूप अधिकरण में शृङ्ग का ही निषेध किया जाता है। शश प्रामाणिक है, एवं गवादि में रहने वाला शृङ्ग भी प्रामाणिक ही है। अतः उक्त वाक्य के द्वारा शशशृङ्ग का निषेध समझ कर जो प्रतिबन्दि दिया गया है, वह सङ्गत नहीं है ॥ २ ॥

प्रकृत में पूर्वपक्षवादी मीमांसक भी स्वर्ग, अपूर्व, देवता प्रभृति बहुत से अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे यदि केवल (योग्यत्वाघटित अनुपलब्धि

जानना चाहिये—'हि' यतः विशेष्यता भाविकी पारमार्थिकी (एव) भवति, अतः विशेष्यता रूपा व्यावर्त्याभाववत्तापि भाविकी एव भवितुमर्हति। एवं प्रतियोगिता यतः अभावविरहात्मत्वम्' अभावाभावत्वरूपाएव, अतः प्रतियोगितापि 'वस्तुनः' वस्तुतो विद्यमानस्यैव भवितुमर्हति।

अपि च—

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता ।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति साऽनुपलम्भने ॥३॥

को अभाव का निर्णायक मानेंगे तो उक्त स्वर्गादि पदार्थों की सत्ता भी उठ जायगी। अतः उन लोगों को भी प्रामाणिक वस्तुओं के अभाव का निर्णय 'योग्यानुपलब्धि' से ही मानना होगा। 'योग्यानुपलब्धि' शब्द का अर्थ है 'योग्य' वस्तुओं की 'अनुपलब्धि'। वस्तुओं की यह 'योग्यता' वस्तुओं के प्रत्यक्ष के सभी कारणों का एकत्र होना (प्रत्यक्षसामग्री सम्बलन) ही है। किन्तु घट प्रत्यक्ष के जितने कारण हैं, उन में 'घट' स्वयं भी है। क्योंकि विषय भी प्रत्यक्ष का कारण है। किन्तु घट की सत्ता की स्थिति में घट की अनुपलब्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार किसी भी अनुपलब्धि के विषय में योग्यता का संपादन सम्भव ही नहीं होगा। अतः योग्यता घटक सामग्री को 'स्वेतर' अर्थात् विषयों से इतर कारणों का समूह रूप ही मानना होगा। अर्थात् विषय से भिन्न प्रतियोगि प्रत्यक्ष के जितने भी कारण हैं, उनका सम्बलन ही नुपलब्धि की योग्यता है।

इसी प्रकार विषय और इन्द्रिय का संनिकर्ष भी प्रत्यक्ष का एक कारण है। घटाभाव का प्रतियोगी घट जिस समय नहीं रहेगा, उस समय उक्त सन्निकर्ष भी नहीं रह सकता। अतः योग्यता घटक उक्त सामग्री में 'प्रतियोगिव्याप्येतरत्व' भी देना होगा। फलतः प्रतियोगी और तद्व्याप्य (सन्निकर्ष) इन दोनों से भिन्न प्रत्यक्ष के जितने भी कारण हैं, उनका संबलन ही अनुपलब्धि की योग्यता है।

जिस प्रत्यक्ष के विषय की वास्तविक सत्ता है, उस विषय की अनुपलब्धि की योग्यता का उक्त लक्षण भले ही ठीक हो किन्तु भ्रम स्थल में—शंख में पीतिमा के प्रत्यक्ष में विषय अथवा तद्व्याप्य विषय का संसर्ग कारण नहीं है। अतः असद्विषयक अनुपलब्धि की योग्यता को पित्तादि दोषों से युक्त पीतिमा प्रभृति असद्विषयों के जितने भी भासक है—उन सबों का संबलन रूप ही मानना होगा। शशशृङ्गाभाव का प्रत्यक्ष शशशृङ्ग की जिस अनुपलब्धि से होगा—उसमें अपेक्षित शशशृङ्ग की योग्यता दोषघटित उक्त सामग्री रूप ही होगी।

इसी स्थिति में श्लोक के द्वारा यह कहा गया है कि,

दुष्टोपलम्भसामग्री ··· ··· ··· ···

जिस समय शशशृङ्ग की उपलब्धि को उत्पन्न करने वाली उक्त दोष घटित सामग्री रहेगी, उस समय तो शशशृङ्ग की उपलब्धि ही होगी, अनुपलब्धि नहीं। जिस समय शशशृङ्ग की अनुपलब्धि रहेगी, उस समय शशशृङ्ग में वह दोष घटित सामग्री रूप योग्यता ही नहीं रहेगी। अतः किसी भी स्थिति में 'शशशृङ्ग नास्ति' इस आकार की प्रतीति का विषय 'शशशृङ्गाभाव' नहीं हो सकता।

केन च शशशृङ्गं प्रतिषिद्धयते। सर्वथाऽनुपलब्धस्य योग्यत्वाऽसिद्धेः। तदितरसामग्रीसाकल्यं हि तत्। ननूक्तभाभासोपलब्धं हि तत्। अत एवाऽशक्यनिषेधमित्युक्तम्। अनुपलम्भकाले अभासोपलम्भसामग्र्या अभावात्तत्काले चानुपलम्भाभावादिति। कस्तर्हि शशशृङ्गं नास्तीत्यस्यार्थः?। शशे अधिकरणे विषाणाभावोऽस्तीति ॥ ३ ॥

स्यादेतत्। यद्यपीश्वरो नावगतो, यद्यपि च नाभाससिद्धेन प्रमाणव्यवहारः शक्यसम्पादनः। तथाप्यात्मानः सिद्धास्तेषां सार्वज्ञ्यं निषिद्धयते, क्षित्यादिकर्तृत्वञ्चेति।

केन च ··· ··· ··· ···

शशशृङ्ग का निषेध किस प्रमाण से करेंगे ? अर्थात् किसी भी प्रमाण से शशशृङ्ग का निषेध संभव नही है। क्योंकि सर्वथा अनुपलब्ध वस्तु में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं रह सकती। क्योंकि उक्त 'योग्यता' विषय और तद्घाप्य इन्द्रियसम्बन्ध को छोड़कर प्रत्यक्ष के और सभी कारणों का सम्बलन रूप ही है।

पू० प० ननूक्तम् ··· ··· ··· ···

शशशृङ्ग तो उपलब्धि के सर्वथा अयोग्य नहीं है। क्योंकि कथित दोष घटित सामग्री से उसकी उपलब्धि हो सकती है।

सि० प० अत एव ··· ··· ··· ···

अगर आप कह आये हैं कि 'दोष घटित सामग्री से शशशृङ्ग की उपलब्धि होगी' तो मैं भी कह ही आया हूँ कि प्रमाणाभास के द्वारा उपलब्ध वस्तु का निषेध भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिस समय शशशृङ्ग को अनुपलब्धि रहेगी, उस समय दोषघटित सामग्री रूपा योग्यता ही उसमें नहीं रहेगी। एवं जिस समय शशशृङ्ग में उक्त योग्यता रहेगी, उस समय उक्त सामग्री से शशशृङ्ग की उपलब्धि ही उत्पन्न हो जायगी, अतः अनुपलब्धि ही नहीं रहेगी।

पू० प० कस्तर्हि ? ··· ··· — ···

फिर 'शशशृङ्गं नास्ति' इस वाक्य का क्या अर्थ ?

उ० शशे० ··· ··· ··· ···

उस वाक्य का यही अर्थ है कि शश रूप अधिकरण में शृङ्ग नहीं है ॥ ३ ॥

पू० प० स्यादेतत्, यद्यपीश्वरः ··· ··· ··· ···

यह स्वीकार कर लिया कि (पक्षीभूत) ईश्वर का ज्ञान संभव नहीं है (जिसमें कर्तृत्वाभाव का अनुमान हो सके)। यह भी मान लेते हैं प्रमाणाभास के द्वारा ज्ञात वस्तुओं से प्रमाण प्रमेय व्यवहार का संपादन सम्भव नहीं है। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि आत्मायें तो सिद्ध हैं, उन्हीं में सर्वज्ञता का निषेध करेंगे। जिस से आत्माओं में

तथाहि–मदितरे न सर्वज्ञाश्चेतनत्वादहमिव। न च ते क्षित्यादिकर्तारः पुरुषत्वादहमिव। एवं वस्तुत्वादेरपीति। तदेतदपि प्रागेव परिहृतम्।

क्षित्यङ्कुरादि कार्यों का कर्त्तृत्व भी निषिद्ध हो जायगा। फलतः ईश्वर की सिद्धि में इस रीति से अनुमान बाध होगा।

तथा हि ··· ··· ··· —

(१) अनुमान वाक्यों का स्वारस्य है कि जिस प्रकार मैं स्वयं आत्मा होते हुये भी सर्वज्ञ नहीं हूँ, उसी प्रकार मुझ से भिन्न जितनी आत्मायें हैं, उनमें से कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। (२) जिस प्रकार मैं पुरुष (जीव) होते हुये भी क्षित्यादि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार और भी सभी आत्मायें चूंकि जीव हैं, अतः उनमें से भी कोई क्षित्यादि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता।

एवम् ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

इस प्रकार वस्तुत्वादि हेतुओं से भी असर्वज्ञत्व एवं क्षित्यादि कार्यों के कर्त्तृत्व का अभाव सिद्ध किया जा सकता है।[1]

सि० प० तदेतदपि ··· ··· ··· ···

यह पक्ष भी निम्नलिखित विकल्पों से खण्डित हो जाता है (क्योंकि मीमांसकों से पूछना चाहिये) कि (१) आत्मत्व रूप से वादी और प्रतिवादी दोनों के द्वारा सिद्ध जीवों में ही सर्वज्ञत्व का निषेध करते हो? (२) अथवा विप्रतिपन्न परमात्मा को ही पक्ष मान कर उनमें सर्वज्ञत्व का निषेध करते हो? किम्वा (३) सामान्यतः आत्मत्व रूप से सिद्ध आत्माओं को ही पक्ष मान कर उनमें सर्वज्ञत्व का निषेध करते हो? अथवा (४) आत्मत्व जाति को ही पक्ष मान कर उसमें सर्वज्ञवृत्तित्व का निषेध करते हो?,

---

१. कहने का तात्पर्य है कि सर्वज्ञत्व एवं क्षित्यादि कर्त्तृत्व ये दोनों केवल ईश्वर में ही सम्भावित है। किन्तु ईश्वर को पक्ष बनाकर उनमें सर्वज्ञत्वादि का निर्णय सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में जितनी भी निर्णीत वस्तुयें हैं, उन सभी को पक्ष बनाकर उनमें रहनेवाले वस्तुत्वादि जिस किसी धर्म को हेतु बना कर उन सभी वस्तुओं में असर्वज्ञत्व एवं क्षित्यादि कर्त्तृत्वाभाव इन दोनों की सिद्धि की जा सकती है। इस प्रकार सभी आत्माओं में भी उनके वस्तु होने के नाते असर्वज्ञत्व एवं क्षित्यादि कर्त्तृत्वाभाव इन दोनों की सिद्धि होगी। इस रीति से जब सभी आत्माओं से सर्वज्ञत्व और क्षित्यादि कर्त्तृत्व दोनों हट जायगे, तो सर्वज्ञ एवं क्षित्यादि कर्त्ता रूप परमात्मा का स्वतः खण्डन हो जायगा।

तथा हि—

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा॥४॥

(इस श्लोक के चार चरणों में से क्रमशः प्रत्येक से कथित पक्षों में से प्रत्येक का क्रमशः खण्डन किया गया है)।

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे ··· ··· ··· ···

(१) 'प्रसिद्ध अंश' अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों के ही अभिमत 'जीव' रूप आत्मा को पक्ष बना कर यदि उनमें असर्वज्ञत्व अथवा क्षित्यादि के कर्त्तृत्व के अभाव की सिद्धि करें, तो इस अनुमान में 'इष्टसिद्धि' अर्थात् सिद्धसाधन दोष होगा। क्योंकि नैयायिक भी जीवों को असर्वज्ञ एवं क्षित्यादि का अकर्त्ता मानते ही हैं।

(२) यदि 'अगोचर' अर्थात् मीमांसकादि के मतों में सर्वथा अगम्य परमात्मा को पक्ष मानकर उनमें असर्वज्ञत्व एवं क्षित्यादि के अकर्त्तृकत्व की सिद्धि करो, तो इस अनुमान में 'हेत्वसिद्धि' दोष होगा। अर्थात् पक्षधर्मता का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। क्योंकि पक्षतावच्छेदक से युक्त पक्ष में पहिले से हेतु का निश्चय अनुमिति के लिये अपेक्षित है। किन्तु प्रकृत में परामात्मा रूप 'पक्ष' ही जब अप्रसिद्ध हैं, तो फिर कहाँ पर हेतु का निश्चय होगा ?

(३) आत्मत्व रूप से प्रसिद्ध आत्मपक्षक अनुमान के प्रसङ्ग में पूछना है कि आत्मत्व रूप से नैयायिकों में प्रसिद्ध जो क्षित्यादि के कर्त्ता एवं सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वही पक्ष हैं ? अथवा उनसे भिन्न कथित जीवगण ही पक्ष है ? इन दोनों अनुमानों में कथित 'सिद्धसाधन' एवं 'हेत्वसिद्धि' क्रमशः दोनों दोष है।

'सर्वज्ञ' एवं सभी कार्यों के कर्त्ता केवल 'परमेश्वर' ही हैं। मीमांसकगण उनकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। अतः मीमांसकों के मत से 'सर्वज्ञत्व' एवं 'सर्वकार्यकर्त्तृत्व' ये दोनों धर्म कहीं भी न रहने के कारण गगनकुसुमादि के समान अलीक हैं। अतः ये दोनों धर्म किसी अभाव के प्रतियोगी नहीं हो सकते। प्रतियोगी को ही 'निषेध्य' कहते हैं—अतः सर्वज्ञत्व और सर्वकार्यकर्त्तृत्व का निषेध नहीं हो सकता। सुतराम् उक्त अनुमान में 'साध्या-प्रसिद्धि' दोष होगा। साध्य में साध्यतावच्छेदक रूप विशेषण का न रहना ही 'साध्या-प्रसिद्धि' है।[1] देखिये पृ० २८९ का मूल पं० ६।

1. किन्तु इस तीसरे चरण की गद्यटीका में आचार्य ने 'तथा च' इत्यादि-सन्दर्भ के 'आश्रया-सिद्धिरिद्धि' के द्वारा आश्रयासिद्धि दोष का उपपादन किया है। इस 'आश्रयासिद्धि' दोष की व्याख्या करते हुए वर्द्धमान ने लिखा है कि जिस विषय की जिज्ञासा हो, उस विषय रूप धर्म से युक्त धर्मी ही अनुमान का 'पक्ष' हैं। 'पर्वतो वह्निमान' इस अनुमान का 'पक्ष' वह्नि रूप धर्म से युक्त पर्वत ही है (केवल पर्वत नहीं)। प्रकृत में सर्वज्ञत्वादि धर्मों के अप्रसिद्ध होने के कारण तद्घटित असर्वज्ञत्वादि

प्रमाणप्रतीतानां चेतनानां पक्षीकरणे सिद्धसाधनम्। ततोऽन्येषामसिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वम्। आत्मत्वमात्रेण सोऽपि सिद्ध इति चेत्; कोऽस्यार्थः? किमात्मत्वेनोपलक्षिता सैव वस्तुगत्या सर्वज्ञविश्वकर्तृव्यक्तिः? अथ तदन्या? आत्मत्वमेव वा पक्षः?। सर्वत्र पूर्वदोषानतिवृत्तेः। अथायमाशयः—आत्मत्वं न सर्वज्ञसर्वकर्तृ-व्यक्तिसमवेतं, जातित्वात्, गोत्ववदिति। तदसत्, निषेध्यासिद्धेर्निषेधस्याशक्यत्वात्। तथा चाऽप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्याश्रयासिद्धिरिति स एव दोषः ॥ ४ ॥

(ईश्वरपक्षक असर्वज्ञत्व और जगत्कर्तृत्वाभाव के साधक अनुमानों में प्रधान दोष है, ईश्वर रूपी पक्ष का किसी दूसरे प्रमाण से ज्ञात होने की असम्भावना)। इस प्रसङ्ग में मीमांसक नैयायिकों से कह सकते हैं कि 'द्यावा भूमी जनयन् देव एकः' इत्यादि श्रुति प्रमाण से सिद्ध परमेश्वर में ही असर्वज्ञत्वादि का अनुमान करेंगे। उक्त श्रुति को नैयायिक भी ईश्वर का ज्ञापक मानते हैं। अतः उन अनुमानों में कथित 'आश्रयासिद्धि' दोष नहीं है। यही बात 'स्वदुपागतागम' इत्यादि सन्दर्भ से उपपादित हुई है)।

किसी साध्य के विशेषण नहीं हो सकते। इस प्रकार 'आत्मत्व' एक ऐसा 'पक्ष' है, जिसका विशेषण अप्रसिद्ध है। पक्षतावच्छेदक रूप विशेषण से युक्त पक्ष हीं अनुमान में मुख्य विशेष्य रूप से भासित होता है। यह विशेष प्रकार का 'पक्ष' ही प्रकृत में 'आश्रय' शब्द से अभिप्रेत है। केवल 'पक्ष' या केवल 'आश्रय' के प्रसिद्ध रहने पर भी अप्रसिद्ध विशेषण रूप से वह 'विशिष्टपक्ष' अप्रसिद्ध हो जाता है। जैसे कि केवल पुष्प प्रसिद्ध है, किन्तु आकाश में पुष्पितत्व रूप से आकाशपुष्प अप्रसिद्ध है। प्रकृत में पक्ष है 'आत्मत्व' और साध्य है 'सर्वज्ञपुरुषवृत्तित्वाभाव यह 'विशेषण' चूंकि अप्रसिद्ध है, अतः इस विशेषण से युक्त आत्मत्व रूप पक्ष भी अप्रसिद्ध ही है, पक्ष की इस 'अप्रसिद्धि' को ही आचार्य ने 'आश्रयासिद्धि' शब्द से कहीं है।

किन्तु नवीन नैयायिकगण 'पक्ष' के 'जिज्ञासितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, इस स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। अतः वर्द्धमान की उक्त व्याख्या नवीन नैयायिकों के अनुसार उचित नहीं है। इसी को दृष्टि में रखकर 'प्रकाश' की 'मकरन्द' नाम की टीका में रुचिदत्त ने लिखा है कि 'प्राचीनमतेनेदम्'।

त्वदुपगतागमलोकप्रसिद्धस्यैवेश्वरस्याऽसर्वज्ञत्वमकर्तृत्वञ्च साध्यते इति चेत् ? न,

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥५॥

निगदव्याख्यातमेतत् ।

चर्वाकस्त्वाह, किं योग्यताविशेषाग्रहेण ?। यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, विपरीतमस्ति । न चेश्वरादयस्तथा । ततो न सन्तीत्येतदेव ज्यायः ।

पू० प० त्वदुपागतागम ··· ··· ··· ···

आप (नैयायिकों) के द्वारा स्वीकृत आगम प्रमाण से ही ईश्वर रूप पक्ष की सिद्धि स्वीकार करेंगे ?

सि० प० न, आगमादेः ··· ··· ··· ···

यह स्वीकार करना भी आप के लिये सम्भव नहीं होगा क्योंकि—

यदि आप (मीमांसक) 'द्यावा भूमी' इत्यादि वेदवाक्यों को प्रमाण मानेंगे तो तुल्य न्याय से 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि वेदवाक्यों को भी प्रमाण मानना होगा, जिससे सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता माननी होगी । इसी से ईश्वर में असर्वज्ञत्व का अनुमान बाधित हो जायगा । यदि 'सर्वज्ञत्व के ज्ञापक उक्त वेद वाक्यों को अप्रमाण मानेंगे तो 'द्यावा भूमी' इत्यादि वाक्यों को भी अप्रमाण मानना होगा, जिससे पूर्व कथित 'आश्रयासिद्धि' दोष ज्यों का त्यों रह जायगा ।

सि० प० निगद ··· ··· ··· ···

पाठ रूप 'निगद' ही इस श्लोक की 'व्याख्या' है । (अर्थात् इस श्लोक के पाठमात्र से अर्थबोध हो जाता है । अतः इसको समझाने के लिए अतिरिक्त कुछ भी लिखने का प्रयोजन नही है) ॥ ५ ॥

पू० प० [1]चार्वाकस्तु ··· ··· ··· ···

चार्वाकों का कहना है कि जिन वस्तुओं को हम देखते हैं, उतनी ही वस्तुयें हैं । जिन वस्तुओं को हम नहीं देखते, वे नहीं हैं । अतः घटादि पदार्थ हैं, स्वर्ग अपूर्व देवता प्रभृति पदार्थ नहीं हैं । क्योंकि केवल अनुपलब्धि ही अभाव का ग्राहक प्रमाण है । योग्यानुपलब्धि को अभाव का ग्राहक मानने की आवश्यकता नहीं । अर्थात् अभाव की ग्राहिका जो अनुपलब्धि है, उसमें 'योग्यत्व' विशेषण देने की आवश्यकता नहीं । सुतराम् ईश्वर की उपलब्धि नहीं होती है, अतः ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है ।

---

1. बीते हुये सन्दर्भों से ईश्वरानुमान में मीमांसक और सांख्य के अनुयायियों के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार किया गया है । अब नास्तिक शिरोमणि चार्वाक के द्वारा उद्भावित दोषों का उद्धार करने के लिए उन दोषों का उपपादन किया जाता है ।

एवमनुमानादिविलोप इति चेत्; नेदमनिष्टम् । तथा च लोकव्यवहारोच्छेद इति चेन्न । सम्भावनामात्रेण तत्सिद्धेः । संवादेन च प्रामाण्याभिमानादिति ।

सि० प० एवमनुमानादि ··· ··· ··· ···

इस प्रकार तो अनुमानादि प्रमाणों की सत्ता भी उठ जायगी (क्योंकि अनुपलब्धि से जिस वस्तु का अभाव सिद्ध हो जायगा, उस वस्तु को न अनुमान प्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे, न शब्दादि प्रमाण ही) ।

पू० प० नेदम् ··· ··· ··· ···

अनुमानादि प्रमाणों का विलोप कोई अनिष्टापत्ति नहीं है । अर्थात् प्रत्यक्ष से अतिरिक्त किसी प्रमाण की सत्ता हम स्वीकार ही नहीं करते, अतः उन का विलोप हम लोगों को इष्ट ही है ।

सि० प० तथा च लोकव्यवहार ··· ··· ··· ···

(यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानें एवं अनुमानादि को प्रमाण न मानें तो) 'लोकव्यवहार' की उत्पत्ति नहीं होगी (क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात न होने पर भी धूम हेतु के द्वारा वह्नि का अनुमान कर लोग गोष्ठादि से वह्नि के लाने में निःशङ्क होकर प्रवृत्त होते हैं, और सफल भी होते हैं, इस प्रकार की प्रवृत्तियों की उपपत्ति किस प्रकार होगी ?) केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने से लोकव्यवहार का उच्छेद ही जायगा । क्योंकि वह्नि को न देखने पर भी धूम से वह्नि का अनुमान कर लोग गोष्ठादि से वह्नि के आनयनादि में निःसन्दिग्ध होकर प्रवृत्ति होते हैं (इस प्रवृत्ति रूप लोकव्यवहार की उपपत्ति किस प्रकार होगी ?) अतः प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि को भी प्रमाण मानना होगा ।

पू० प० न, सम्भावना ··· ··· ···

उक्त लोकव्यवहार, तो केवल संभावना से ही होते हैं । उनमें अनुमानादि प्रमाणों से वस्तुसिद्धि की कोई अपेक्षा नहीं है । संभावना मात्र से उत्पन्न उक्त प्रवृत्तियाँ अनेक बार सफल हो चुकीं है, अतः उनसे अनुमानादि में प्रामाण्य का केवल अभिमान उत्पन्न होता है । वास्तव में प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि कोई भी प्रमाण नहीं हैं ।

अत्रोच्यते—

दृष्ट्यदृष्ट्योः क्व सन्देहो भावाभावविनिश्चयात् ।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥६॥

सम्भावना हि सन्देह एव । तस्माच्च व्यवहारस्तस्मिन् सति स्यात् । स एव तु कुतः ? । दर्शनदशायां भावनिश्चयात्, अदर्शनदशायामभावावधारणात् । तथा च गृहात् बहिर्गतश्चार्वाको वराको न निवर्तेत, प्रत्युत पुत्रदारधनाद्यभावावधारणात् सोरस्ताडं शोकविकलो विक्रोशेत् ।

सि० प० अत्रोच्यते ··· ··· ···दृष्ट्यदृष्ट्योर्न ··· ··· ···

(दृष्टि) अर्थात भाव कोटि का निश्चायक प्रमाण के रहते 'भाव' कोटि का निश्चय ही उत्पन्न होगा । 'अदृष्टि' अर्थात् 'भाव' की अनुपलब्धि से 'अभाव' का ही निश्चय होगा । इस स्थिति में 'सम्भावना' स्वरूप सन्देह का अवकाश ही कहाँ है ?

एवं प्रत्यक्ष के उत्पादक चक्षु का भी प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता है । अतः चक्षु की भी अनुपलब्धि माननी होगी । क्योंकि सभी अनुपलब्धियाँ जब अभाव का निश्चय कर सकतीं है, तब फिर चक्षु की उक्त अनुपलब्धि से चक्षु के अभाव का भी निश्चय स्वीकार करना होगा । जिससे चार्वाक का एक मात्र अवलम्बन प्रत्यक्ष का अस्तित्व भी विपन्न हो जायगा । क्योंकि वह भी 'अदृष्टि' अर्थात् केवल अनुपलब्धि से बाधित है । अतः केवल अनुपलब्धि अभाव की ग्राहिका नहीं है, किन्तु योग्यानुपलब्धि ही अभाव की ग्राहिका है ।

सि० प० सम्भावना हि ··· ··· ··· ···

लोकव्यवहार के लिए उपयोगी जिस 'सम्भावना' की चर्चा की गयी है, वह 'सन्देह' स्वरूप ही है । सन्देह से व्यवहार की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब कि वह स्वयं अस्तित्व में आवे । किन्तु संशय की सत्ता ही तो असंभावित है । क्योंकि संशय के भाव कोटि का साधक प्रमाण के रहते 'भाव' का निश्चय ही हो जायगा । यदि भाव का 'अदर्शन' अर्थात् निश्चयाभाव रूप अनुपलब्धि रहेगी, तो अभाव का ही निश्चय हो जायगा ।

यदि चार्वाक केवल अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय मानें तो फिर जब कभी वे घर से बाहर निकलें, तो लौट कर घर आने के बदले उन्हें सिर पीट कर रोना चाहिए । क्योंकि उस समय उनको घर में स्थित पुत्र कन्यादि की उपलब्धि नहीं रहती है । अतः घर से बाहर रहने पर घर में पुत्रादि के अभाव का निश्चय उनको अवश्य होगा । (अतः केवल अनुपलब्धि अभाव का ग्राहक नहीं है, किन्तु योग्यानुपलब्धि ही अभाव का ग्राहक है) ।

स्मरणानुभवान्नैवमिति चेत् ? न, प्रतियोगिस्मरण एवाऽभावपरिच्छेदात्, परावृत्तोऽपि कथं पुनरासादयिष्यति । सत्त्वादिति चेत् ; अनुपलम्भकालेऽपि तर्हि सन्तीति न तावन्मात्रेणाभावावधारणम् । तदैवोत्पन्ना इति चेन्न । अनुपलम्भेन हेतूनां बाधात् ।

पू० प० स्मरणानुभवात् ··· ··· ···

घर से बाहर जाने पर यद्यपि पुत्र कन्यादि का प्रत्यक्ष रूप अनुभव नहीं रहता है, किन्तु उनका स्मरण रूप ज्ञान (अनुभव) तो रहता है । इस स्मरण रूप उपलब्धि से पुत्र कन्यादि की सत्ता को समझ कर ही मैं घर लौटता हूँ ।

सि० प० न, प्रतियोगिस्मरणे ··· ··· ···

स्मरणात्मक ज्ञान से उसके विषय रूप वस्तु की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि वस्तुओं के विनष्ट हो जाने पर भी उन विषयों की स्मृतियाँ होतीं रहतीं हैं । इतना ही नहीं वस्तुओं के अभावज्ञान के पहिले प्रतियोगी का स्मरण निश्चित रूप से आवश्यक होता है । अतः पुत्रादि के स्मरण से पुत्रादि के अभाव का निश्चय प्रतिरुद्ध न होकर और भी शीघ्र उत्पन्न होगा । अतः पुत्रादि के स्मरण से घर लौट आने पर उनकी प्राप्ति पूर्ण सम्भावित नहीं हैं ।

पू० प० सत्त्वात् ··· ··· ···

उस समय पुत्रादि की सत्ता रहती है, अतः घर आने पर उनकी प्राप्ति हो सकती है । (इसी लिए घर लौटता हूँ) ।

सि० प० अनुपलम्भकालेऽपि ··· ··· ···

तो फिर यही कहिये कि जिस समय जिस वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है, उस समय भी उस वस्तु की सत्ता रह सकती है । अतः केवल अनुपलब्धि से किसी वस्तु के अभाव का निर्णय नहीं किया जा सकता ।

पू० प० तदैव ··· ··· ···

जिस समय घर से बाहर रहते हैं, उस समय पुत्रादि की उपलब्धि नहीं रहती है, अतः उस समय घर में पुत्रादि की सत्ता नहीं रहती है । घर लौट आने पर जिन पुत्रादि की उपलब्धि होती है, वे पूर्वकाल में उपलब्ध पुत्रादि से भिन्न दूसरे ही पुत्रादि हैं । जिनकी उत्पत्ति उसी समय होती है ।

सि० प० न, अनुपलम्भेन ··· ··· ···

इन दूसरे पुत्रादि के उत्पादक कारण कौन-कौन हैं ? पुनः घर लौट आने पर पुत्रादि की उपलब्धि तो होती है, किन्तु उनके उत्पादक कारणों की उपलब्धि नहीं होती है । अनुपलब्धि मात्र को आप अभाव का ग्राहक मानते है । अतः कथित कारणों की अनुपलब्धि

अबाधे वा स एव दोषः । अत एव प्रत्यक्षमपि न स्यात्, तद्धेतूनां चक्षुरादीनामनुपलम्भबाधितत्वात् । उपलभ्यन्त एव गोलकादय इति चेन्न। तदुपलब्धेः पूर्वं तेषामनुपलम्भात् । न च यौगपद्यनियमः । कार्यकारणभावादिति ।

से उनका अभाव स्वीकार करना होगा । किन्तु कारणों के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है । अतः यह कहना ठीक नहीं है कि 'घर आने पर दूसरे पुत्रादि की उपलब्धि होती है ।' यदि अनुपलब्धि के रहते हुये भी पुत्रादि के कारणों की सत्ता को स्वीकार करेंगे तो इससे हम लोगों का यह अभिप्रेत ही सिद्ध होगा कि 'अनुपलब्ध वस्तुओं की भी सत्ता रहती है । सुतराम् केवल अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय नहीं हो सकता ।

(श्लोक के उत्तरार्ध की व्याख्या)

अत एव ··· ··· ···

जिस लिये कि चार्वाक सम्प्रदाय के लोग योग्यत्व रूप विशेषण से सर्वथा रहित केवल अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक मानते हैं, अतः उनका एक मात्र अवलम्ब प्रत्यक्ष प्रमाण भी विपन्न हो जायगा। क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रधान कारण चक्षु अतीन्द्रिय है। अतः अनुपलब्धि से उसका भी अभाव मानना होगा । जिससे चक्षु से उत्पन्न प्रत्यक्ष भी दुर्लभ हो जायगा ।

पू० प० उपलभ्यत एव ··· ··· ···

(नासिका के दोनों भागों में) गोल-गोल जिन अवयवियों की उपलब्धि होती है , उन से अतिरिक्त चक्षु नाम की कोई इन्द्रिय नहीं है। ये गोलक ही प्रत्यक्ष के कारण हैं। ये गोलक तो प्रत्यक्ष से बाधित नहीं है । अतः प्रत्यक्ष के 'दुलर्भत्व' की आपत्ति नहीं है ।

सि० प० न, तदुपलब्धेः ··· ··· ···

जब कि उपलब्धि ही वस्तु की सत्ता का नियामक है, तो फिर गोलक की सत्ता भी गोलक के प्रत्यक्ष के अधीन मानना होगा । किन्तु 'प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण हैं; इस नियम के अनुसार प्रत्यक्ष रूप कार्य से पहिले विषय का रहना आवश्यक है। इस स्थिति में गोलक की सत्ता को स्वीकार करना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि गोलक की प्रत्यक्ष रूप उपलब्धि ही सम्भव नहीं है। अथ च सभी अनुपलब्धियों से चूँकि अभाव का ग्रहण होता है, अतः गोलक की इस अनुपलब्धि से भी गोलक के अभाव की सिद्धि होगी, जिससे गोलक का प्रत्यक्ष ही प्रतिरुद्ध हो जायगा ।

यदि यह कहें कि "जिस समय गोलक की उपलब्धि होती है, उसी समय गोलक का रहना आवश्यक है, उस से पहिले नहीं" किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारण को कार्य की उत्पत्ति से पहिले रहना आवश्यक है। तदनुसार गोलक विषयक प्रत्यक्ष

एतेन (१) न परमाणवः सन्ति, अनुपलब्धेः। (२) न ते नित्या निरवयवा वा, पार्थिवत्वात् घटादिवत्। (३) न पाथसीयपरमाणुरूपादयो नित्याः, रूपादित्वात्,

के कारणीभूत गोलक को भी पहिले रहना आवश्यक है। एवं कार्य को भी कारण के बाद ही रहना उचित है। अतः गोलक रूप विषय और गोलक विषयक प्रत्यक्ष ये दोनों यदि एक ही समय में रहेंगे, तो दोनों में कार्यकारणभाव ही संभव नहीं होगा।

एतेन ... ...

इस प्रकार अतीन्द्रिय परमेश्वर एवं उनमें रहनेवाले सर्वज्ञत्वादि धर्मों के खण्डन के लिये प्रदर्शित अनुमानों में जिन आश्रयासिद्धि प्रभृति दोषों का उद्भावन किया गया है, वे सभी दोष अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति के खण्डन के लिये प्रयुक्त निम्नलिखित अनुमानों में भी समझना चाहिये।

(१) यदि कोई यह कहे कि 'परमाणुओं की सत्ता नहीं है, क्योंकि वे उपलब्ध नहीं होते' इस व्यक्ति को वही दोष दिखाना चाहिए जो ईश्वराभाव की सिद्धि में दिखला आये हैं। अर्थात् केवल अनुपलब्धि अभाव की साधिका नहीं है, किन्तु योग्यानुपलब्धि ही अभाव की साधिका है। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, अतः उनकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है। सुतराम् इस अयोग्यानुपलब्धि से परमाणुओं की सत्ता में किसी प्रकार की क्षति नहीं है।

(२) यदि कोई घटादि के दृष्टान्त से पार्थिवत्वादि हेतुओं के द्वारा परमाणु में नित्यत्व और निरवयवत्व का खण्डन करें अर्थात् यह कहें कि जिस प्रकार पार्थिव घटादि नित्य एवं निरवयव नहीं हैं, उसी प्रकार उनके आरम्भक परमाणु भी नित्य एवं निरवयव नहीं हैं, क्योंकि वे भी पार्थिव हैं। इस प्रकार के अनुमानों में उसी प्रकार 'धर्मिग्राहकमानबाध' का उद्भावन करना चाहिये, जिस प्रकार ईश्वर में सर्वज्ञत्व एवं सर्वकार्यकर्त्तृत्व के निषेध के अनुमानों में दिखलाया गया है। अर्थात् 'परमाणवो न नित्याः, नापि निरवयवाः पार्थिवत्वात् घटादिवत्' इस प्रकार के अनुमानों के प्रयोग करनेवालों से पूछना चाहिए कि परमाणु सिद्ध है? अथवा नहीं? अगर 'नहीं' तो उक्त अनुमान का हेतु आश्रयासिद्ध है। अगर 'हाँ' तो फिर जिस प्रमाण से परमाणु की सिद्धि होगी, उसी प्रमाण से परमाणुओं में नित्यत्व एवं निरवयत्व की भी सिद्धि होगी। अतः उक्त निषेधानुमान के 'धर्मी' परमाणु का 'ग्राहक' साधक जो प्रमाण है, उसी प्रमाण से परमाणुओं में अनित्यत्व और सावयवत्व भी बाधित हो जायगे। तस्मात 'धर्मिग्राहकमान' से बाधित होने के कारण उक्त प्रकार के अनुमान नहीं हो सकते।

(३) यदि कोई ऐसा अनुमव करे कि 'जिस प्रकार वर्त्तमान काल के जलगत रूपादि नित्य नहीं हैं, उसी प्रकार जलीय परमाणु के रूपादि भी अनित्य ही हैं, क्योंकि वे भी जल

दृश्यमानरूपादिवत्। (४) न रूपत्वपार्थिवत्वादि नित्याऽकार्यातीन्द्रियसमवायि, जातित्वात्, शृङ्गत्ववत्। (५) नेन्द्रियाणि सन्ति, योग्यानुपलब्धेः। (६) अयोग्यानि च शशशृङ्गप्रतिबन्धिनिरसनीयानीत्येवं स्वर्गापूर्वदेवतानिराकरणं नास्तिकानां निरसनीयम्। मीमांसकश्च तोषयितव्यो भीषयितव्यश्चेति।

में रहनेवाले रूपादि है" तो इस अनुमान में उसी प्रकार 'आश्रयासिद्धि' दोष का उद्भावन करना चाहिये, जिस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान में सर्वविषयकत्वाभाव के साधन के द्वारा ईश्वर में सर्वज्ञत्व के निषेधक अनुमान में किया गया है।

(४) "जिस प्रकार शृङ्गत्व जाति नित्य, अकार्य एवं अतीन्द्रिय वस्तुओं में नहीं रहती, उसी प्रकार पार्थिवत्वादि जातियाँ भी चूँकि जाति हैं, अतः नित्य, अकार्य एवं अनित्य वस्तुओं में नहीं रहती हैं" यदि कोई इस आकार का अनुमान उपस्थित करे तो आत्मत्व जाति को पक्ष बना कर उसमें सर्वज्ञपुरुषवृत्तित्वाभाव एवं सर्वकार्यकर्तृ पुरुषवृत्तित्वाभाव के साधन के लिये प्रयुक्त अनुमानों में जिस प्रकार 'आश्रयासिद्धि' दोष का उद्भावन किया गया है, उसी प्रकार प्रकृत अनुमान में भी आश्रयासिद्धि दोष का उद्भावन करना चाहिये।

(५) यदि कोई यह कहे कि "इन्द्रियाँ नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष की योग्यता के रहने पर भी उनकी उपलब्धि नहीं होती है" तो इस अनुमान में उसी प्रकार 'हेत्वसिद्धि' दोष का उद्भावन करना चाहिये, जिस प्रकार ईश्वर की योग्यानुपलब्धि के द्वारा ईश्वर की सत्ता के निराकरण के अनुमान में की गयी है। क्योंकि इन्द्रियों के असत्त्व साधक 'इन्द्रियाणि न सन्ति योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेः' इस अनुमान के हेतु में भी 'योग्यत्वे सति' यह हेतुतावच्छेदक (हेतुविशेषण) रूप अंश नहीं है। हेतु में हेतुविशेषण का न रहना ही 'हेत्वसिद्धि' दोष है।

(६) यदि कोई यह आक्षेप करे कि 'यदि प्रत्यक्ष के अयोग्य इन्द्रियों की सत्ता को भी स्वीकार करें तो प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृङ्ग की सत्ता भी माननी होगी' तो इस प्रसङ्ग में पहिले परमेश्वर की सत्ता के प्रसङ्ग में जिस प्रकार शशशृङ्ग रूप प्रतिबन्दि का निराकरण किया गया है, उसी प्रकार प्रकृत में भी करना चाहिये। इसी प्रकार नास्तिकों के द्वारा स्वर्ग, अपूर्व, देवता प्रभृति पर किये गये असत्त्वाक्षेपों का खण्डन करना चाहिये। किन्तु अतीन्द्रिय वस्तुओं की सत्ता के इस साधन से मीमांसकों की तुष्टि एवं भय दोनों का संपादन करना चाहिये (क्योंकि स्वर्ग, अपूर्व, देवता प्रभृति अतीन्द्रिय पदार्थों के साधन से वे सन्तुष्ट होंगे, किन्तु ईश्वर रूप अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि से वे भयभीत होंगे।

यद्येवमनुपलम्भेनादृश्यप्रतिषेधो नेष्यते, अनुपलभ्योपाधिप्रतिषेधोऽपि तर्हि नेष्टव्यः। तथा च कथं तथा भूतार्थसिद्धिरपि। अनुमानबीजप्रतिबन्धासिद्धेः। तदभावे शब्दादेरप्यभावः, प्रामाण्यासिद्धेः। सोऽयमुभयतः पाशा रज्जुः।

पू० प० यद्येवम् ··· ··· ··· ···

(७) चार्वाक का आक्षेप है कि यदि केवल अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक न मानेंगे—योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक मानेंगे तो अनुमान की सत्ता ही विपन्न हो जायगी। अर्थात् मेरे पक्ष में जिस अनुमान की अनुपपत्ति दिखलायी गयी है—उसके लिये भी सभी अनुपलब्धियों को अभाव का ग्राहक मानना आवश्यक है। क्योंकि अनुमान की मूल है व्याप्ति। इस व्याप्ति के लिये उपाधियों के अभाव का निश्चय आवश्यक है। उपाधि के संशय मात्र से भी व्याप्ति का भङ्ग हो जाना अनिवार्य है। यदि सभी अनुपलब्धियों को अभाव का ग्राहक न मानें (केवल योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक मानें तो सभी हेतुओं में यह शङ्का बराबर बनी रहेगी कि 'यह हेतु किसी उपाधि से युक्त न हो'। जिन उपाधियों का प्रत्यक्ष संभव है, उनके न देखने भर से ही उनके अभाव का निर्णय यद्यपि हो जायगा, किन्तु जो उपाधि प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं, उनके रहने की शङ्का तो बनी ही रहेगी। उसका निवारण कौन करेगा ?

क्योंकि उनके न देखने भर से तो उक्त शङ्का का निवारण होगा नहीं ? क्योंकि उनके रहने पर भी अयोग्य होने के कारण उन्हें देखा नहीं जा सकता है। यदि अयोग्यानुपलब्धि को भी अभाव का ग्राहक मान लेते हैं, तो प्रकृत में अयोग्य उपाधि के अभाव का निर्णय सुलभ हो जाता है। इस प्रकार अनुमान की सत्ता के लिये भी अयोग्यानुपलब्धि को अभाव का ग्राहक मानना आवश्यक है। ऐसा न मानने पर अनुमान को प्रमाण मानना संभव नहीं होगा। अनुमान का प्रामाण्य खण्डित होने पर शब्दादि का प्रामाण्य स्वतः खण्डित होगा। क्योंकि शब्दादि का प्रामाण्य अनुमान प्रमाण के अधीन है। इस प्रकार सभी अनुपलब्धियों को अभाव का ग्राहक न मानने से एवं केवल योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक मानने से—दोनों ही स्थितियों में अनुमान प्रमाण की अनुपपत्ति होगी। अतः अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। (कहने का तात्पर्य है कि योग्यानुपलब्धि और अयोग्यानुपलब्धि दोनों को अभाव का ग्राहक न मानने से अतीन्द्रिय उपाधि की शङ्का से अनुमान प्रमाण का ही उच्छेद हो जायगा। जिससे अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर सिद्धि की आशा छोड़ देनी होगी। यदि सभी अनुपलब्धियों को अभाव का ग्राहक मानेंगे तो अनुपलब्धि से ही ईश्वर की सत्ता बाधित हो जायगी। फलतः किसी प्रकार भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकेगी)।

अत्र कश्चिदाह । मा भूदुपाधिविधूननम्, चतुः पञ्चरूपसम्पत्तिमात्रेणैव प्रतिबन्धनिर्वाहात् । तस्याश्च सपक्षाऽसपक्षदर्शनमात्रप्रमाणकत्वात् । यत्र तु तद्भङ्गः, तत्र प्रमाणभङ्गोऽप्यावश्यकः । न ह्यस्ति सम्भवो दर्शनादर्शनयोरविप्लवे हेतुरुपप्लवते इति । अप्रयोजकोऽपि तर्हि हेतुः स्यादिति चेत्; भूयोदर्शनाऽविप्लवे कोऽयमप्रयोजको नाम ?

सि० प० अत्र कश्चित् ··· ··· ··· ···

इस प्रसङ्ग में कोई (न्यायैकदेशी) यह समाधान करते हैं कि व्याप्ति के लिये हेतु में उपाधि का न रहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि किसी (केवलान्वयि) हेतु में (१) पक्षसत्त्व (२) सपक्षसत्त्व (३) अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व इन चार धर्मों के रहने से ही व्याप्ति की सत्ता निर्विघ्न हो जायगी । एवं किसी (केवलव्यतिरेकी) हेतु में उन चार धर्मों में से सपक्षसत्त्व के स्थान पर विपक्षासत्त्व को रख कर चार धर्मों से ही व्याप्ति की सत्ता निरबाध हो जायगी । किसी (अन्वयव्यतिरेकी) हेतु में सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन दोनों धर्मों सहित पक्षसत्त्वादि पाँचो धर्म व्याप्ति सत्ता के प्रयोजक होंगे । इन सबों के लिये उपाधि विधूनन की तो कहीं आवश्यकता नहीं जान पड़ती । व्याप्ति के लिये मूलतः इतना ही आवश्यक जान पड़ता है कि हेतु सपक्ष में रहे और विपक्ष में न रहे । फलतः सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये दोनों धर्म ही व्याप्ति सत्त्व के प्रयोजक हैं । जिस हेतु में ये दोनों धर्म नहीं रहेंगे, उस हेतु में व्याप्ति का अभाव जान लेना होगा । यह कदापि सम्भव नहीं है कि हेतु में इन दोनों धर्मों की सत्ता में कोई विघटन न रहे और हेतु में साध्य को ज्ञापक करने की क्षमता में कोई विघटन हो । अतः उपाधि विधूनन के असम्भव होने के कारण जो अनुमान प्रमाण का उच्छेद दिखलाया गया है, वह ठीक नहीं है ।

पू० प० अप्रयोजकोऽपि ··· ··· ··· ···

यदि सपक्ष में हेतु का दर्शन और विपक्ष में हेतु का अदर्शन ये दोनों ही हेतु में साध्य के ज्ञापन की सामर्थ्य के नियामक हों तो फिर 'अप्रयोजक' हेतु से भी प्रमा अनुमिति माननी होगी[1] ।

सि० प० भूयोदर्शन ··· ··· ··· ···

साध्य के साथ हेतु को बार बार एक आश्रय में देखने (भूयोदर्शन) में कोई विघटन न रहने पर भी हेतु में यह 'अप्रयोजकत्व' नाम की कौन सी वस्तु है ?

---

१. अर्थात मित्रा नाम की किसी स्त्री के भावी पुत्र अथवा विदेशस्थ अदृष्ट पुत्र में श्यामत्व के साधक मित्रातनयत्व हेतु को भी प्रकृत साध्य का साधक मानना होगा ।

न तावत् साध्यं प्रत्यकार्यमकारणं वा, सामान्यतो दृष्टानुमानस्वीकारात् । नाऽपि सामग्र्यां कारणैकदेशः, पूर्ववदभ्युपगमात् । नापि व्यभिचारी ।

पू० प० ··· ··· ··· ···न तावत् ··· ··· ··· ···

(१) वही हेतु 'अप्रयोजक' है जो साध्य से उत्पन्न न हो । (२) अथवा वही हेतु 'अप्रयोजक' है जिस हेतु से साध्य उत्पन्न न हो ।

सि० प० ··· ··· ··· ··· सामान्यतोदृष्ट ··· ··· ···

किन्तु अप्रयोजकत्व के ये दोनों ही लक्षण ठीक नहीं हैं, क्योंकि महर्षि ने सामान्यतो दृष्ट अनुमान को भी स्वीकार किया है ।[1]

पू० प० नापि ··· ··· ··· ···

(३) (कारणों का समूह रूप 'सामग्री' ही कार्य का ज्ञापक हेतु है, तदन्तर्गत कोई एक ही कारण नहीं । इस मत में कार्य रूप वस्तु का ही अनुमान होता है, एवं कथित 'सामग्री' ही केवल हेतु है । इस स्थिति में सामग्री के अन्तर्गत किसी एक कारण से यदि कोई कार्य का अनुमान करने के लिए प्रस्तुत होगा तो 'सामग्र्येकदेश' रूप एक कारण 'अप्रयोजक' होगा । अतः) 'सामग्र्येकदेशत्व' ही 'अप्रयोजकत्व' है ।

सि० प० पूर्ववत् ··· ··· ··· ···

सामग्री के अन्तर्गत किसी एक कारण विशेष लिङ्गक अनुमान भी सूत्रकार को अभिप्रेत है, जिसको उन्होंने 'पूर्ववत्' शब्द से व्यक्त किया है । (क्योंकि अन्तिम तन्तु संयोगादि कुछ ऐसे भी कारण हैं जो स्वतन्त्र रूप से भी साध्य के ज्ञापन की क्षमता रखते हैं) अतः सामग्री के अन्तर्गत किसी एक कारण में भी जब साध्य के ज्ञापन की क्षमता है तो 'सामग्र्यन्तर्गतत्व' को 'अप्रयोजकत्व' का लक्षण नहीं माना जा सकता ।

पू० प० नापि व्यभिचारी ··· ··· ··· ···

(४) व्यभिचार से युक्त हेतु ही 'अप्रयोजक' है । अर्थात् जो हेतु साध्य से रहित आश्रयों में (विपक्षों में) विद्यमान रहे, वह हेतु साध्यानुमिति का 'प्रयोजक' नहीं हो सकता, अतः व्यभिचारी हेतु ही 'अप्रयोजक' है ।

---

१. अर्थात् यह नियम नहीं है अनुमान कार्यलिङ्गक और कारणलिङ्गक दो ही प्रकार का हो, क्योंकि रूपादि से रसादि का भी अनुमान होता है । अतः साध्याकारणत्व अथवा साध्याकार्यत्व अप्रयोजकत्व नहीं है ।

तदनुपलम्भात्। व्यभिचारोपलम्भे वा स एव दोषः। न च शङ्कितव्यभिचारः, निर्बीजशङ्कायाः सर्वत्र सुलभत्वात्। नाऽपि व्याप्यान्तरसहवृत्तिः। एकत्राऽपि साध्येऽनेकसाधनोपगमात्।

सि० प० तदनुपलम्भात् ··· ··· ··· ···

किन्तु 'अप्रयोजकत्व' का उक्त लक्षण भी ठीक नहीं है (क्योंकि 'स श्यामः मित्रातनयत्वात्' इस अनुमान का 'मित्रातनयत्व' हेतु ही 'अप्रयोजक' का प्रसिद्ध उदाहरण है, किन्तु उसमें तो) साध्य का व्यभिचार उपलब्ध नहीं है, क्योंकि मित्रा के जितने भी पुत्र उपलब्ध हैं, वे सभी देखने में श्याम वर्ण के ही हैं। यदि कदाचित् व्यभिचार उपलब्ध भी हो तो फिर उस व्यभिचार रूप दोष के कारण ही वह हेतु दुष्ट हो जायगा। 'अप्रयोजक' कहकर उसे दुष्ट करार देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

पू० प० न च शङ्कित ··· ··· ··· ···

जिस हेतु में व्यभिचार की शङ्का हो वही हेतु 'अप्रयोजक' है। एवं जिस हेतु में व्यभिचार निश्चित रहे, वह हेतु है व्यभिचारी।

सि० प० निर्बीजशङ्काया ··· ··· ··· ···

बिना कारण के व्यभिचार की शङ्का तो सभी हेतुओं में की जा सकती है, जिससे सभी हेतु अप्रयोजक हो जायेंगे। अतः अप्रयोजक का यह लक्षण भी ठीक नहीं है।

पू० प० व्याप्यान्तर ··· ··· ··· ···

जिस साध्य की सिद्धि के लिये एक हेतु (व्याप्य) के प्रयोग की स्थिति में उसी साध्य के ज्ञापन में समर्थ दूसरा (व्याप्य) हेतु भी विद्यमान रहे, तो वह पहिला हेतु 'अप्रयोजक' है।[1] (अर्थात् जब प्रकृत साध्य की सिद्धि के लिये एक हेतु है ही, तो फिर उसी साध्य की सिद्धि के लिये दूसरा हेतु 'अप्रयोजक' है)।

सि० प० एकत्रापि ··· ··· ··· ···

किन्तु 'अप्रयोजक' का यह लक्षण तभी ठीक हो सकता है, जब कि नियमतः एक साध्य का ज्ञापक एक ही हेतु रहे। किन्तु सूत्रकार ने आत्मा के ज्ञापक इच्छा द्वेषादि अनेक हेतुओं का उल्लेख किया है। एवं इस में कोई युक्ति नहीं है कि जिस साध्य की व्याप्ति अनेक हेतुओं में है, उन में से एक ही साधक हैं, एवं अन्य सभी हेतु साध्य सिद्धि के प्रयोजक नहीं (अप्रयोजक) हैं।

---

१. 'व्याप्य' शब्द का अर्थ है व्याप्ति से युक्त हेतु। 'अन्तर' शब्द का अर्थ है 'तद्भिन्न तत्सजातीय' तदनुसार 'व्याप्यान्तरसहवृत्ति' शब्द से व्याप्तियुक्त वह हेतु अभिप्रेत है, जिसके साध्य की सिद्धि के लिये व्याप्तियुक्त दूसरा हेतु विद्यमान रहे।

नाप्यल्पविषयः, धूमादेस्तथाभावेऽपि हेतुत्वात् । ननु धूमो वह्निमात्रे अप्रयोजक एव, तन्निवृत्तावपि तदनिवृत्तेः । आर्द्रेन्धनवन्तं वह्निविशेषं प्रति तु प्रयोजकः, तन्निवृत्तौ तस्यैव निवृत्तेरित्येतदप्ययुक्तम् । सामान्याप्रयोजकतायां विशेष-साधकत्वायोगात्तदसिद्धौ तस्यासिद्धिनियमात् । सिद्धौ वा सामान्यविशेषभावानुपपत्तेः ।

पू० प० अल्पविषय ··· ··· ··· ···

साध्य जितने अधिकरणों में रहे उस से 'अल्प विषय' में थोड़े अधिकरणों में रहने वाला हेतु ही 'अप्रयोजक' है । (इस मत के अनुसार साध्य का समनियत अर्थात् साध्य के समान अधिकरणों में रहने वाला हेतु ही साध्य का ज्ञापक है)

सि० प० ··· ··· ··· ···

किन्तु 'अप्रयोजकत्व' का यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह्नि रूप साध्य से न्यून अधिकरण में रहने वाला धूम हेतु वह्नि का साधक है ही ।

पू० प० ननु धूमो वह्निमात्रे··· ··· ··· ···

धूम वह्नि सामान्य का ज्ञापक हेतु नहीं है, क्योंकि ज्ञापक हेतु को जिस प्रकार साध्य के सभी अधिकरणों में रहना आवश्यक है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि जहाँ जिस समय हेतु (प्रयोजक) निवृत्ति हो जाय, उस समय उस अधिकरण में साध्य की भी निवृत्ति अवश्य हो जाय । किन्तु धूम की निवृत्ति हो जाने पर भी वह्नि सामान्य की निवृत्ति नहीं होती है । एवं धूम की निवृत्ति होने पर भी आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि की निवृत्ति होती है । अतः यह मानना होगा कि धूम वह्निसामान्य का ज्ञापक हेतु नहीं है, किन्तु आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि विशेष का ही ज्ञापक है । आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि जिन सभी स्थानों में है, उन सभी स्थानों में धूम भी अवश्य ही है । अतः धूम आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि का 'अल्पविषय' नहीं है. सुतराम् धूम में 'अप्रयोजकत्व' लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ।

सि० प० इत्येदमप्ययुक्तम्··· ··· ··· ···

सभी विशेष नियमतः सामान्य पूर्वक होते हैं । कोई भी द्रव्य पहिले द्रव्य होगा, उसके बाद जल अथवा पृथिवी होगा । इस नियम के अनुसार जो हेतु सामान्य का साधक नहीं होगा, वह विशेष का साधक हो ही नहीं सकता । अतः धूम पहिले वह्नि सामान्य का ज्ञापक हो लेगा, बाद में आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि विशेष का ज्ञापक होगा । सुतराम यदि धूम वह्नि सामान्य का ज्ञापक नहीं है तो वह्नि विशेष का ज्ञापक भी नहीं है । यदि धूम से वह्नि सामान्य की सिद्धि न होने पर भी उससे आर्द्रेन्धन से युक्त वह्नि का साधन हो तो फिर आर्द्रेन्धन प्रभव वह्नित्व रूप धर्म वह्नि सामान्य का विशेष धर्म ही नहीं कहलायगा । अतः 'अल्पविषयत्व' भी 'अप्रयोजकत्व' का लक्षण नहीं है ।

नापि क्लृप्तसामर्थ्येऽन्यस्मिन् कल्पनीयसामर्थ्योऽप्रयोजकः, नाशे कार्यत्व-सावयवत्वयोरपि हेतुभावादिति । तदेतदपेशलम् । कथं हि विशेषाभावात् कश्चिद्व्यभिचरति कश्चिन्न नेति शक्यमवगन्तुम् । ततो निर्णायकाभावे सति साहित्यदर्शनमेव शङ्काबीजमिति कासौ निर्बीजा ? एवं सत्यतिप्रसक्तिरपि चार्वाक-नन्दिनी नोपालम्भाय ।

नापि क्लृप्तसामर्थ्ये··· ··· ··· ···

(कुछ लोगों का कहना है कि) एक हेतु में जिस साध्य की सिद्धि की सामर्थ्य स्वीकृत है, उसी साध्य की सिद्धि के लिये यदि किसी दूसरे हेतु में भी सामर्थ्य की कल्पना करें तो यह दूसरा हेतु प्रकृत साध्य के साधन के लिये 'अप्रयोजक' होगा ।

किन्तु 'अप्रयोजक' हेतु का यह लक्षण भी अतिव्याप्ति दोष के कारण ठीक नहीं है । क्योंकि गुणादि नाश के प्रति भावकार्यत्व में प्रयोजकता स्वीकृत है । किन्तु तथापि द्रव्यनाश के प्रति भावकार्यत्व के व्याप्य सावयवत्व में भी प्रयोजकता स्वीकार की जाती है । अतः द्रव्यनाश के साधक सावयवत्व में अतिव्याप्त होने के कारण 'अप्रयोजकत्व' का यह लक्षण भी ठीक नहीं है ।

पू० प० तदेतदपेशलम्— ··· ··· ···

(इस सन्दर्भ के द्वारा न्यायैकदेशी पूर्वपक्षवादी खण्डन करते हैं कि) यदि व्याप्ति के लिये 'उपाधिविधूनन' की अपेक्षा न हो तो कैसे समझा जायगा कि किस हेतु में साध्य की व्याप्ति है ? एवं किस हेतु में साध्य का व्यभिचार है ? अतः कोई ऐसा 'विशेष' स्वीकार करना होगा, जिससे उक्त व्याप्ति (अव्यभिचार) और व्यभिचार का निर्णय हो सके । वह 'उपाधिविधूनन' ही उक्त 'विशेष' है । अतः 'व्यभिचार' ही 'अप्रयोजकत्व' है । व्यभिचारित्व को अप्रयोजकत्व का लक्षण मानने में जो 'निर्बीजशङ्का की सर्वत्र सुलभता' का दोष दिखाया गया था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कथित व्यभिचार शङ्का का बीज विद्यमान है । वह बीज है विपक्ष में हेतु की असत्ता के निर्णायक के न रहने पर साध्य के साथ एक आश्रय में देखा जाना । अतः व्यभिचार शंका को 'निर्बीज' नहीं कहा जा सकता । अतः नैयायिक देशी' के पक्ष में जो अप्रयोजक हेतु में सद्धेतुत्व की आपत्ति दी गयी है, सो सर्वथा अयुक्त है ।

एवं व्यभिचार शंका के 'बीज' की उपपत्ति हो जाने से चार्वाक की अत्यन्त आह्लाद-कारिणी '॥शङ्कया भ व्यं नियामकमपश्यताम्' इस उक्ति से जिस दोष का उपपादन किया गया है, वह भी खण्डित हो जाता है । अब तो जहाँ जिस स्थल में व्यभिचारशङ्का का उक्त बीज रहेगा वहीं केवल व्यभिचार शंका होगी, सर्वत्र नहीं ।

नाप्यल्पविषयः, धूमादेस्तथाभावेऽपि हेतुत्वात् । ननु धूमो वह्निमात्रे अप्रयोजक एव, तन्निवृत्तावपि तदनिवृत्तेः । आर्द्रेन्धनवन्तं वह्निविशेषं प्रति तु प्रयोजकः, तन्निवृत्तौ तस्यैव निवृत्तेरित्येतदप्ययुक्तम् । सामान्याप्रयोजकतायां विशेषसाधकत्वायोगात्तदसिद्धौ तस्यासिद्धिनियमात् । सिद्धौ वा सामान्यविशेषभावानुपपत्तेः ।

पू० प० अल्पविषय ··· ··· ··· ···

साध्य जितने अधिकरणों में रहे उस से 'अल्प विषय' में थोड़े अधिकरणों में रहने वाला हेतु ही 'अप्रयोजक' है । (इस मत के अनुसार साध्य का समनियत अर्थात् साध्य के समान अधिकरणों में रहने वाला हेतु ही साध्य का ज्ञापक है)

सि० प० ··· ··· ··· ···

किन्तु 'अप्रयोजकत्व' का यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह्नि रूप साध्य से न्यून अधिकरण में रहने वाला धूम हेतु वह्नि का साधक है ही ।

पू० प० ननु धूमो वह्निमात्रे··· ··· ··· ···

धूम वह्नि सामान्य का ज्ञापक हेतु नहीं है, क्योंकि ज्ञापक हेतु को जिस प्रकार साध्य के सभी अधिकरणों में रहना आवश्यक है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि जहाँ जिस समय हेतु (प्रयोजक) निवृत्ति हो जाय, उस समय उस अधिकरण में साध्य की भी निवृत्ति अवश्य हो जाय । किन्तु धूम की निवृत्ति हो जाने पर भी वह्नि सामान्य की निवृत्ति नहीं होती है । एवं धूम की निवृत्ति होने पर भी आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि की निवृत्ति होती है । अतः यह मानना होगा कि धूम वह्निसामान्य का ज्ञापक हेतु नहीं है, किन्तु आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि विशेष का ही ज्ञापक है । आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि जिन सभी स्थानों में है, उन सभी स्थानों में धूम भी अवश्य ही है । अतः धूम आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि का 'अल्पविषय' नहीं है, सुतराम् धूम में 'अप्रयोजत्व' लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ।

सि० प० इत्येदमप्ययुक्तम्··· ··· ··· ···

सभी विशेष नियमतः सामान्य पूर्वक होते हैं । कोई भी द्रव्य पहिले द्रव्य होगा, उसके बाद जल अथवा पृथिवी होगा । इस नियम के अनुसार जो हेतु सामान्य का साधक नहीं होगा, वह विशेष का साधक हो ही नहीं सकता । अतः धूम पहिले वह्नि सामान्य का ज्ञापक हो लेगा, बाद में आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि विशेष का ज्ञापक होगा । सुतराम यदि धूम वह्नि सामान्य का ज्ञापक नहीं है तो वह्नि विशेष का ज्ञापक भी नहीं है । यदि धूम से वह्नि सामान्य की सिद्धि न होने पर भी उससे आर्द्रेन्धन से युक्त वह्नि का साधन हो तो फिर आर्द्रेन्धन प्रभव वह्नित्व रूप धर्म वह्नि सामान्य का विशेष धर्म ही नहीं कहलायगा । अतः 'अल्पविषयत्व' भी 'अप्रयोजकत्व' का लक्षण नहीं है ।

नापि क्लृप्तसामर्थ्येऽन्यस्मिन् कल्पनीयसामर्थ्योऽप्रयोजकः, नाशे कार्यत्व-सावयवत्वयोरपि हेतुभावादिति । तदेतदपेशलम् । कथं हि विशेषाभावात् कश्चिद्व्यभिचरति कश्चिन्न नेति शक्यमवगन्तुम् । ततो निर्णायकाभावे सति साहित्यदर्शनमेव शङ्काबीजमिति कासौ निर्बीजा ? एवं सत्यतिप्रसक्तिरपि चार्वाक-नन्दिनी नोपालम्भाय ।

नापि क्लृप्तसामर्थ्ये··· ··· ··· ···

(कुछ लोगों का कहना है कि) एक हेतु में जिस साध्य की सिद्धि की सामर्थ्य स्वीकृत है, उसी साध्य की सिद्धि के लिये यदि किसी दूसरे हेतु में भी सामर्थ्य की कल्पना करें तो यह दूसरा हेतु प्रकृत साध्य के साधन के लिये 'अप्रयोजक' होगा ।

किन्तु 'अप्रयोजक' हेतु का यह लक्षण भी अतिव्याप्ति दोष के कारण ठीक नहीं है । क्योंकि गुणादि नाश के प्रति भावकार्यत्व में प्रयोजकता स्वीकृत है । किन्तु तथापि द्रव्यनाश के प्रति भावकार्यत्व के व्याप्य सावयवत्व में भी प्रयोजकता स्वीकार की जाती है । अतः द्रव्यनाश के साधक सावयवत्व में अतिव्याप्त होने के कारण 'अप्रयोजकत्व' का यह लक्षण भी ठीक नहीं है ।

पू० प० तदेतदपेशलम्··· ··· ··· ···

(इस सन्दर्भ के द्वारा न्यायैकदेशी पूर्वपक्षवादी खण्डन करते हैं कि) यदि व्याप्ति के लिये 'उपाधिविधूनन' की अपेक्षा न हो तो कैसे समझा जायगा कि किस हेतु में साध्य की व्याप्ति है ? एवं किस हेतु में साध्य का व्यभिचार है ? अतः कोई ऐसा 'विशेष' स्वीकार करना होगा, जिससे उक्त व्याप्ति (अव्यभिचार) और व्यभिचार का निर्णय हो सके । वह 'उपाधिविधूनन' ही उक्त 'विशेष' है । अतः 'व्यभिचार' ही 'अप्रयोजकत्व' है । व्यभिचारित्व को अप्रयोजकत्व का लक्षण मानने में जो 'निर्बीजशङ्का की सर्वत्र सुलभता' का दोष दिखाया गया था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कथित व्यभिचार शङ्का का बीज विद्यमान है । वह बीज है विपक्ष में हेतु की असत्ता के निर्णायक के न रहने पर साध्य के साथ एक आश्रय में देखा जाना । अतः व्यभिचार शंका को 'निर्बीज' नहीं कहा जा सकता । अतः नैयायिक देशी' के पक्ष में जो अप्रयोजक हेतु में सद्धेतुत्व की आपत्ति दी गयी है, सो सर्वथा अयुक्त है ।

एवं व्यभिचार शंका के 'बीज' की उपपत्ति हो जाने से चार्वाक की अत्यन्त आह्लाद-कारिणी '[illegible]शङ्कया भ[illegible]व्यं नियाम[illegible]श्यताम्' इस उक्ति से जिस दोष का उपपादन किया गया है, वह भी खण्डित हो जाता है । अब तो जहाँ जिस स्थल में व्यभिचारशङ्का का उक्त बीज रहेगा वहीं केवल व्यभिचार शंका होगी, सर्वत्र नहीं ।

स्वभावादेव कश्चित् किञ्चिद्व्यभिचरति, कश्चिच्च नेति स्वभाव एव विशेष इति चेत्; केन चिह्नेन पुनरसौ निर्णेय इति निपुणेन विभावनीयम्। भूयोदर्शनस्य शतशः प्रवृत्तस्यापि भङ्गदर्शनात्। यत्र भङ्गो न दृश्यते तत्र तथेति चेत्; आपाततो न दृश्यते इति सर्वत्र कालक्रमेणापि न द्रक्ष्यत इति को नियन्तेति। तस्मादुपाधितद्विरहावेव व्यभिचाराऽव्यभिचारनिबन्धनम्, तदवधारणञ्चाशक्यमिति।

पू० प० स्वभावादेव… … … …

जिस प्रकार कोई विशेष वस्तु ही किसी दूसरी वस्तु विशेष का कारण अथवा कार्य होता है। सभी वस्तुएँ सभी वस्तुओं का न कार्य ही होता है न कारण ही। इसके लिये 'स्वभाव' को छोड़ कर और किसी को प्रयोजक नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि 'स्वभाव' से ही कोई किसी का व्याप्य अथवा व्यापक होता है। इसके लिए 'उपाधिविधूनन' को प्रयोजक मानना आवश्यक नहीं है। अतः 'स्वभाव' ही व्याप्ति का नियामक है 'उपाधिविधूनन' नहीं।

सि० प० केन चिह्नेन… … … …

(उक्त स्वभाववादी से यह पूछिये कि) आप अच्छी तरह विचार कर कहिये कि किस चिह्न' से आप यह निश्चय करेंगे कि कौन किसके व्यापक स्वभाव का है? अथवा कौन किसके व्याप्य स्वभाव का है? अर्थात् किसका स्वभाव किससे व्यापक होना है? अथवा किसका स्वभाव किससे व्याप्य होना है? जिस हेतु और जिस साध्य को सौ स्थानों में साथ-साथ देखा जाता है, उन्हीं दोनों को कहीं अलग-अलग एक दूसरे को छोड़ कर भी देखा जाता है। अतः किसी भी दो वस्तुओं को एकत्र स्थिति में (सामानाधिकरण्य में) 'नियतत्व' का विश्वास नहीं किया जा सकता। एवं अनियत सामानाधिकरण्य को व्याप्ति का प्रयोजक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सि० प० यत्र भङ्गो न दृश्यते… … … …

जिन दो वस्तुओं का सामानाधिकरण्य कहीं भङ्ग होता नहीं दीखता, उन्हीं दोनों वस्तुओं में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव स्वीकार करेंगे। फलतः 'नियतसामानाधिकरण्य' को ही उक्त स्वभाव का नियामक स्वीकार करेंगे।

पू० प० आपाततः… … … …

जिन दो वस्तुओं में अभी साधारण रूप से सामानाधिकरण्य देखा जाता है, उन्हीं दो वस्तुओं में आगे कभी-किसी समय उसका भङ्ग नहीं देखेंगे, इसका क्या विश्वास? अतः यही मानना होगा कि उपाधि ही व्यभिचार का प्रयोजक है, और उपाधि का न रहना ही अव्यभिचार रूप व्याप्ति का नियामक है। इस प्रकार व्याप्ति उपाधि के अभाव का प्रयोज्य है।

ननु यः सर्वैः प्रमाणैः सर्वदाऽस्मदादिभिर्वृत्तया नोपलभ्यते नासौ तद्वान् । यथा बकः श्यामिकया, नोपलभ्यते च वह्नौ धूम उपाधिमत्तयेति शक्यमिति चेन्न । अस्याप्यनुमानतया तदपेक्षायामनवस्थानात् ।

पहिले कह आए हैं कि 'यदि केवल अनुपलब्धि को अभाव का निश्चायक न मानेंगे तो उपाधि के अभाव का निश्चय असंभव है ।" फलतः सिद्धान्ती का निस्तार किसी भी स्थिति में नहीं है ।

सि० प० "ननु यः सर्वैः ... ...

उपाधि के अभाव का निश्चय हो सकता है । क्योंकि किसी को भी जहाँ जिस वस्तु की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है, उस वस्तु का अभाव वहाँ अवश्य रहता है । जैसे कि बक में श्याम रूप की उपलब्धि किसी को भी किसी भी प्रमाण से नहीं होती है, अतः बक में श्याम रूप का अभाव अवश्य रहता है । वह्नि का धूम हेतु उपाधि से युक्त होकर कभी किसी के भी द्वारा किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं है । अतः यह कहा जा सकता है कि वह्नि के ज्ञापक धूम हेतु में उपाधि नहीं हैं । अतः यह कहना ठीक नहीं हैं कि उपाधि के अभाव का निश्चय संभव ही नहीं है ।

पू० प० न, अस्यापि अनुमानतया ... ...

उक्त रीति से उपाधि के अभाव का निर्णय वस्तुतः अनुमान (अनुमिति) ही है । क्योंकि उक्त सन्दर्भ से इस अनुमान की सूचना दी गयी है "धूमः उपाध्यभाववान् सर्वैः प्रमाणैः सर्वदा अस्माभिः उपाधिमत्तया अज्ञायमानत्वात्, बकनिष्ठश्यामाभाववत्, किन्तु अनुमान का प्रामाण्य ही तो अभी विवादास्पद है । अतः अभी उपाधि के अभाव का निश्चय अनुमान प्रमाण के द्वारा उपस्थित नहीं किया जा सकता । क्योंकि अनुमान के लिये उपाध्याभाव का निश्चय अपेक्षित है, एवं उपाध्यभाव के निश्चय के लिए अनुमान अपेक्षित है । इस प्रकार कथित रीति में अन्योन्याश्रय दोष होगा । अथवा उक्त पक्ष में अनवस्था दोष भी होगा, क्योंकि धूम हेतुक वह्नि के अनुमान में जिस उपाध्यभाव की आवश्यकता है, उस के निर्णय के लिये अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है । एवं उपाध्यभाव विषयक इस अनुमान के लिये जिस व्याप्ति की आवश्यकता होगी, उसके संपादन के लिए दूसरे उपाध्यभाव का निर्णय अपेक्षित होगा, इस के लिए एक अलग अनुमान की आवश्यकता होगी ।

सर्वादृष्टेश्च ... ...

दूसरी बात यह है कि उपाध्यभाव के निश्चय के लिये जिस 'सर्वदा अनुपलभ्यमानत्व' हेतु को उपस्थित किया गया है, वह 'सन्दिग्धासिद्ध' हेत्वाभास है । क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष को छोड़कर कोई यह नहीं कह सकता कि 'अमुक वस्तु को कभी किसी ने भी नहीं देखा है" अतः 'सर्वादृष्टि' अर्थात् धूमादि हेतुओं का उपाधिमत्तया 'अदर्शन' सन्दिग्ध है । तब रही बात

सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः, सर्वदेत्यसिद्धेः। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियम इत्यन्ये। तत्र तादात्म्यं विपक्षे बाधकाद्भवति। तदुत्पत्तिश्च पौर्वापर्येण प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्। न ह्येवं सति शङ्कापिशाच्यवकाशमासादयति, आशङ्क्यमानकारणाभावस्यापि पिशाचादेरेतल्लक्षणाविरोधेनैव तत्त्वनिर्वाहादिति।

अपनी 'अदृष्टि' की ? उस के प्रसङ्ग में यह कहना है कि वह 'व्यभिचरित' है। अर्थात् यह कहना संभव नहीं है कि 'मैं जिस आश्रय में जिस वस्तु को नहीं देखता हूँ, वह वस्तु उस आश्रय में है ही नहीं'। अतः किसी भी वस्तु का 'सर्वदा अनुपलभ्यमानत्व' हेतु सन्दिग्ध है, अतः यह 'सन्दिग्धासिद्ध' है।

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् ··· ··· ··· ···

कुछ लोग (बौद्धगण) (१) 'तादात्म्य' और (२) उत्पत्ति अर्थात् कार्यकारणभाव इन दोनों को 'नियम' अर्थात् व्याप्ति का प्रयोजक मानते हैं। इन में (१) 'तादात्म्य' में व्याप्ति की प्रयोजकता 'विपक्षबाधक' से होती है।[1] (२) प्रत्यक्ष' अर्थात् अन्वय, 'अनुपलम्भ' अर्थात् व्यतिरेक इन दोनों से ही कार्यत्व एवं कारणत्व में 'नियम' अर्थात् व्याप्ति की प्रयोजकता आती है।[2] इस प्रकार व्याप्ति के नियामक के स्थिर हो जाने पर व्यभिचार शङ्का रूप 'पिशाचिनी' को अनुमान रूप कार्य को विनष्ट करने का कोई अवसर नहीं रह जाता।

[3]आशङ्क्यमानकारणाभावस्यापि ··· ··· ··· ···

कारणत्व अथवा कार्यत्व के ग्राहक अन्वय और व्यतिरेक, ये ही दोनों हैं। ये यदि धूम एवं पिशाचादि में हैं, तो पिशाचादि भी धूम के कारण है हीं, अथवा धूम पिशाचादि के भी कार्य अवश्य है। यदि धूम और पिशाचादि में अन्वय और व्यतिरेक नहीं है, तो फिर कौन सी अनुपपत्ति है ?

---

१. इसका उदाहरण शिंशपा में वृक्षत्व का साधक शिंशपा हेतु है (वृक्षः शिंशपायाः)। वृक्षत्व रूप साध्य से रहित घटादि हैं 'विपक्ष', वे कभी भी 'शिंशपा' नहीं हो सकते। घटादि रूप विपक्षों में शिंशपा' रूप हेतु की असत्त्व रूप बाधक से शिंशपा रूप हेतु में वृक्षत्व की व्याप्ति व्यवस्थित होती है।

२. अर्थात् कारण के ज्ञापक कार्य रूप हेतु में एवं कार्य के ज्ञापक कारण रूप हेतु में जो 'व्याप्ति' है, उसका प्रयोजक है, कार्य और कारण का अन्वयव्यतिरेक।

३. इस प्रसङ्ग में यह कहने का अवकाश है कि धूम हेतु में जिस प्रकार अतीन्द्रिय उपाधि की शङ्का की बात की गयी है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय पिशाचादि में धूमादि के

न । एवमप्युभयगामिनोऽव्यभिचारनिबन्धनस्यैकस्याऽविवेचनात्, प्रत्येकं चाव्यापकत्वात् । कुतश्च कार्यात्मानौ कारणात्मानश्च न व्यभिचरत इति ?

पू० प० न, एवपप्युभयगामिनः ··· ··· ··· ···

('तादात्म्य' और 'उत्पत्ति') क्या ये दोनों मिलकर व्याप्ति के ग्राहक हैं ? अथवा परस्पर निरपेक्ष दोनों में से प्रत्येक व्याप्ति का ग्राहक है ? इन में पहिला पक्ष इसलिये अयुक्त है कि सम्मिलित दोनों को व्याप्ति का ग्राहक मानने में कोई प्रमाण नहीं है । यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करेंगे तो उन दोनों का संग्राहक (अनुगमक) किसी एक धर्म को मानना होगा । किन्तु वैसा कोई धर्म उपलब्ध नहीं है ।

कुतश्च ··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह है कि कारण कार्यों के बिना न रहे, या कारणों के रहने पर कार्य अवश्य रहें, इसका नियामक कौन है ? ऐसा भी कहा जा सकता है कि कारणों के रहने पर भी कार्य नहीं है । अथवा कार्य के रहते हुए भी कारण नहीं रहेंगे । अतः 'उत्पत्ति' को व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना जा सकता ।[1]

कारणत्व की शङ्का भी तो की जा सकती है । तदनुसार यह भी कहा जा सकता है कि यह कोई नियम नहीं है कि धूम वह्नि का ही कार्य हो, धूम अतीन्द्रिय पिशाचादि से भी उत्पन्न हो सकता है । एवं यह नियम भी नहीं किया जा सकता कि वह्नि ही धूम का कारण है, अतीन्द्रिय पिशाचादि भी वह्नि का कारण हो सकता है । अतः उपाधि शङ्का के द्वारा अनुमान की अनुपपत्ति भले ही न हो, कथित् अतीन्द्रिय कारणत्व अथवा अतीन्द्रिय कार्यत्व की शङ्का से तो अनुमान की अनुपपत्ति हो ही सकती है । इसी अनुपपत्ति का बौद्धाभिमत समाधान उक्त सन्दर्भ से किया गया है ।

१. 'तादात्म्य' की व्याप्ति ग्राहकता के खण्डन को स्पष्ट करते हुये वर्द्धमान ने लिखा है कि 'तादात्म्य' के व्याप्तिग्राहकत्व का मूल है 'विपक्षबाधकतर्क' । तर्क के लिये भी व्याप्ति की अपेक्षा होती है । तर्क में जिस व्याप्ति की अपेक्षा होगी, उसके लिये दूसरे तर्क की अपेक्षा होगी तो 'अनवस्था' हो जायगी । तर्क के प्रयोजक व्याप्ति में यदि (विपक्षबाधक) तर्क की अपेक्षा को स्वीकार नहीं करेंगे, तो तर्क में व्याप्ति ग्रहण की कारणता व्यभिचार दुष्ट हो जायगी । अतः 'तादात्म्य' को भी व्याप्ति का नियामक नहीं माना जा सकता । तस्मात् अनुमान प्रमाण नहीं है ।

अत्रोच्यते—

शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्काऽवधिर्मतः ॥ ७ ॥

सि० शङ्काचेत् ··· ··· ··· ···

यदि 'शङ्का' (अर्थात् अतीन्द्रिय उपाधियों की कथित 'शङ्का' अथवा व्यभिचार की 'शङ्का') है, तो फिर 'अनुमा' अर्थात् 'अनुमान' भी अवश्य है (अर्थात् अनुमान को प्रमाण मानना ही होगा) । यदि पूर्वोक्त शङ्कायें नहीं हैं, तब तो अनुमान प्रमाण सु'तराम्' है ही (अर्थात् अनुमान की सत्ता को विघटित करनेवाली शङ्कायें यदि नहीं हैं, तो फिर अनुमान को प्रमाण मानने में बाधा ही क्या है ?)

तर्कः शङ्कावधिः ··· ··· ··· ···

तर्क के द्वारा ही उपाधियों की उक्त शङ्का अथवा व्यभिचार विषयक शङ्काओं का निरास होगा ।

व्याघातावधिराशङ्का ··· ··· ··· ···

शङ्काओं की उक्त परम्परा तभी तक चल सकती है, जब तक कि प्रवृत्त्यादि की अनुपपत्तियाँ उपस्थित न हों ।[1]

---

१. चार्वाकों ने अनुमान के प्रामाण्य के प्रसङ्ग में प्रतिवाद किया था कि (१) उपाधि युक्त हेतु साध्य का व्यभिचारी होता है । अतः जिस हेतु में उपाधि न रहे वही हेतु साध्य का व्याप्य होगा । व्याप्य हेतु ही साध्य का ज्ञापक होता है, व्यभिचारी हेतु नहीं । इस स्थिति में जबतक हेतु में उपाधि का अभाव निश्चित न हो तब तक उस से अनुमिति की आशा नहीं की जा सकती । किन्तु उपाध्यभाव के निश्चय की ही कोई सम्भावना नहीं दीखती है । क्योंकि यह कैसे समझा जाय कि अमुक हेतु में उपाधि है या नहीं । 'उपाधि को केवल नहीं देखने भर से उसके अभाव का निर्णय नैयायिक स्वीकार नहीं करते । वे तो न देखने योग्य वस्तुओं की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं । हमलोगों की तरह केवल अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक नहीं मानते, वे तो योग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक मानते हैं । अतः अतीन्द्रिय उपाधियों की शङ्का सभी हेतुओं में रहेगी ही । इस प्रकार व्याप्ति का निश्चय ही संकटग्रस्त है । (२) स्थूल रूप से देखने पर भी व्याप्ति का निश्चय अनुपपन्न मालूम होता है । क्योंकि देश और काल दोनों ही अनन्त हैं, अतः इस सम्भावना का प्रतिरोधक कोई नहीं दीखता कि किसी भी देश में किसी भी काल में धूम बिना वह्नि के नहीं रह सकता । जब कि सभी देशों एवं सभी कालों का प्रत्यक्ष किसी को हो ही नहीं सकता, तब उन अप्रत्यक्ष देशों और अप्रत्यक्ष कालों में व्यभिचार की शङ्का अवश्य बनी रहेगी ।

कालान्तरे कदाचिद्व्यभिचरिष्यतीति कालं भाविनमाकलय्य शङ्क्येत। तदाकलनञ्च नानुमानमवधीर्य कस्यचित्। मुहूर्तयामाऽहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादयो हि भाविनो भवन्मूहूर्ताद्यनुमेया एव। अनवगतेषु स्मरणस्याप्यनाशङ्कनीयत्वात्। अनाकलने वा, कमाश्रित्य व्यभिचारः शङ्क्येत ?। तथा च सुतरामनुमानस्वीकारः। एवञ्च देशान्तरेऽपि वक्तव्यम्।

---

[1]कालान्तरे ··· ··· ··· ···

'सभी हेतु किसी काल अथवा किसी देश में व्यभिचरित न हों' इस प्रकार की 'आशङ्का' भावी काल एवं भावी देश के अवलम्बन से ही हो सकती है। किन्तु इसके लिये भावी काल अथवा भावी देश का 'आकलन' अर्थात् निश्चय आवश्यक है। यह आकलन रूप निश्चय अनुमान प्रमाण को छोड़कर और किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं है। क्योंकि मुहूर्त, प्रहर, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन सम्वत्सरादि भावी काल केवल अनुमेय ही हो सकते हैं।[२]

अनवगतेषु ··· ··· ··· ··· ···

(यद्यपि स्मृतियों के लिये प्रमाण की साक्षात् आवश्यकता नहीं होती है तथापि उनमें भी परम्परया प्रमाण की अपेक्षा होती है। क्योंकि स्मृति पूर्वानुभव से उत्पन्न होती है। किसी भी विषय का प्रथम संस्कार पूर्वानुभव से ही होगा। अतः 'अनवगत' अर्थात् सर्वथा अननुभूत विषय का संस्कार भी नहीं हो सकता। अतः भावी देश एवं काल का जब किसी को कभी अनुभव ही नहीं होता, तो फिर उनकी स्मृति भी नहीं हो सकती। अतः भावी देश काल की स्मृति के सहारे भी कथित व्यभिचार संशय की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

अतः अनुमान का प्रामाण्य सम्भव नहीं है, एवं तन्मूलक ईश्वर सिद्धि की भी कोई सम्भावना नहीं है। चार्वाक के इन्हीं बातों का समाधान इस श्लोक के द्वारा आचार्य ने किया है।

१. 'कालान्तरे' यहाँ से लेकर 'वक्तव्यम्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से कारिका के पूर्वार्द्ध की व्याख्या की गयी है।

२. उक्त सन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि चार्वाक जिस भावी काल एवं देश को लेकर हेतुओं में व्यभिचार संशय का उद्भावन करते हैं, वे भावी कालादि भी तो प्रत्यक्षवेद्य नहीं हैं, अतः वे भावी कालादि के द्वारा व्यभिचार संशय का उद्भावन नहीं कर सकते। क्योंकि वे केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। अतः अप्रत्यक्ष भावी कालादि तो उनके मत से गगन कुसुमादि के समान अलीक हैं। अगर भावी देशकालादि के द्वारा व्यभिचार शंका का उद्भावन उन्हें करना है, तो उनकी सत्ता के लिये अनुमान प्रमाण को भी उन्हें मानना होगा। अतः यदि उक्त व्यभिचार शंका है, तो अनुमान प्रमाण भी अवश्य है।

स्वीकृतमनुमानम्, सुहृद्भावेन पृच्छामः कथमाशङ्का निवर्तनीया इति चेत् ?

न, यावदाशङ्कं तर्कप्रवृत्तेः । तेन हि वर्तमानेनोपाधिकोटौ तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते । विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यलिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति, अधिष्ठिताच्च करणात् क्रियापरिनिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम्? ।

पू० प० स्वीकृतम् ··· ··· ··· ···

उक्त संशयों की उपपत्ति के लिये विवश होकर हम अनुमान को प्रमाण मान लेते हैं । तथापि तत्त्वबुभुत्सा से प्रेरित होकर 'मित्रभाव' से पूछते हैं कि उक्त व्यभिचार शङ्काओं की निवृत्ति किस प्रकार हो !

सि० यावदाशङ्कम् ··· ··· ··· ··· किमनुपपन्नम्

जब तक उक्त व्यभिचार शङ्का अथवा उपाधि शङ्का चलेगी, तब तक तर्क भी उनको विनष्ट करने के लिये चलता रहेगा । तर्क अपनी विद्यमानता के द्वारा अपने अनिष्टापत्ति स्वरूप के द्वारा पक्ष विशेष्यक साध्याभाव प्रकारक निश्चय की इच्छा को विनष्ट करता है । तर्क के द्वारा जब उक्त इच्छा रूप 'विपक्षेच्छा' का विनाश प्रमाता पुरुष में हो जाता है, तब उस प्रमाता पुरुष को जिस प्रकार की व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित रहता है, वह निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है, इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है ।[1]

---

१. पाठक्रम के अनुसार तृतीयचरण की व्याख्या पहिले प्राप्त होने पर भी आर्थक्रम के अनुसार चतुर्थचरण की ही व्याख्या पहिले की गयी है । इस सन्दर्भ का आशय है कि शंका की अवधि तर्क पर्यन्त ही है । अर्थात् तर्क से ही उक्त व्यभिचार शंका एवं उपाधिशंका दोनों का निरास होगा । सभी हेतुओं में व्यभिचार की शंका नहीं होती है । जिन हेतुओं में व्यभिचार की शंका होती है, उनकी निवृत्ति तर्क से होती है । उसके बाद व्याप्ति निश्चय निर्बाध होकर अनुमिति का संपादन करता है ।

'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा' इस आकार का संशय होने पर 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्' इस आकार के तर्क से उक्त व्यभिचार शंका की निवृत्ति होती है । वह्नि के रहने पर धूम उत्पन्न होता है । धूम के अन्य कारणों रहते हुये भी वह्नि के न रहने पर धूम की उत्पत्ति नहीं होती है । इस प्रकार के अन्वय और व्यतिरेक से यह निःसंशय समझा जाता है कि वह्नि धूम का कारण है, और धूम वह्नि से उत्पन्न होता है । किन्तु धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी हो अर्थात् वह्नि से रहित स्थानों में भी रहे, तो धूम को वह्नि से उत्पन्न नहीं कहा जा सकता । क्योंकि कारण से रहित आश्रय में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि यह

ननु तर्कोऽप्यविनाभावमपेक्ष्य प्रवर्तते, ततोऽनवस्थया भवितव्यम्।

पू० न नु तर्कोऽपि ··· ··· ···

तर्क की प्रवृत्ति भी 'अविनाभाव' अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा रखती है। अतः तर्क के सहारे यदि व्याप्ति निश्चय का सम्पादन करें तो अनवस्था होगी।[1]

कहना संभव हो कि जिस स्थान में वह्नि नहीं है, उस स्थान में भी धूम है' तो फिर यह कहना संभव नहीं होगा कि धूम वह्नि से उत्पन्न कार्य हैं। सुतराम् धूम में जो प्रामाणिक वह्निजन्यत्व है, उसका त्याग एवं अप्रामाणिक वह्निजन्यत्वाभाव का स्वीकार रूप अनिष्टापत्ति स्वरूप ही उक्त तर्क है।

'तेन हि वर्तमानेन' इत्यादि सन्दर्भ को समझने के लिये यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार अनुभव के अनुरोध से व्याप्य संशय से व्यापक संशय क्रम के अनुसार धूम संशय से वह्नि का संशय मानना पड़ता है, उसी प्रकार अनुभव के अनुरोध से ही पर्वत में धूम के देखने के बाद धूम में यदि वह्नि के व्यभिचार का संशय होगा, तो इस व्यभिचार के संशय से पर्वत में वह्नि का भी संशय अवश्य ही होगा। इससे यह सामान्य नियम निष्पन्न होता है कि जिस पक्ष में दृष्ट जिस हेतु में जि . साध्य का संशय होगा। उस संशय से पक्ष में साध्याभाव के निश्चय की इच्छा उत्पन्न होगी। जिस पक्ष में साध्याभाव का निश्चय रहेगा, उस पक्ष में रहने वाले हेतु में उस साध्य की व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता। इस प्रकार पक्ष में साध्याभाव का निश्चय भी पक्ष में विद्यमान हेतु में साध्यव्याप्ति का विरोधी है। इस रीति से पक्ष में साध्याभाव के निश्चय की इच्छा भी पक्षवृत्ति हेतु में साध्यव्याप्ति की विरोधिनी है। क्योंकि जो जिसका प्रतिबन्धक होता है, उसका कारण भी उसका प्रतिबन्धक होता है।

जिस समय तर्क विद्यमान रहता है, उस समय व्यभिचार संशय हो ही नहीं पाता। जिससे साध्याभावनिश्चयेच्छा रूप जिज्ञासा स्वतः रुक जाती है। अतः तर्क के बाद हेतु विशेष्यक व्याप्तिज्ञान में कोई बाधा नहीं रह जाती। इस प्रकार तर्क के सहारे व्यभिचार शंका की निवृत्ति होती है, एवं तदन्तर निर्विघ्न व्याप्तिज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं रह जाती।

1. यह सन्दर्भ 'व्याघातावधिराशंका' श्लोक के इस तीसरे चरण की व्याख्या रूप है। इस सन्दर्भ के द्वारा उक्त तृतीय चरण के द्वारा समाधेय पूर्वपक्ष का उत्थापन किया गया है। पूर्वपक्ष को अच्छी तरह समझने के लिए 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्तदा वह्निजन्यो न स्यात्' इस तर्क को दृष्टान्त रूप से लेना होगा।

न शङ्कायाः व्याघातावधित्वात् । तदेव ह्याशङ्क्यते, यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रिया व्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा । न हि हेतुफलभावो न भविष्यतीति शङ्कितुमपि शक्यते । तथा सति शङ्कैव न स्यात्, सर्वं मिथ्या भविष्यतीत्यादिवत् ।

सि० प० न, शङ्कायाः ··· ··· ··· ··· भविष्यतीत्यादिवत्

यह नियम नहीं है कि सभी हेतुओं में व्यभिचार शङ्का अवश्य हो। जिन हेतुओं में व्यभिचार की शङ्का होगी, उनकी निवृत्ति तर्क से होगी। यदि सभी जगह व्यभिचार की शङ्का अवश्य हो, तो शङ्का करने वाले की अपनी ही प्रवृत्तियाँ अनुपपन्न हो जायँगी। यदि धूम में वह्निजन्यत्व का सन्देह मान लें तो धूमार्थी पुरुष की वह्नि के ले आने की निष्कम्प प्रवृत्ति अनुपपन्न हो जायगी। किन्तु उक्त शङ्का करने वाले पुरुष को भी जब धूम का प्रयोजन होता है, तो आग लाने के लिये ही दौड़ते हैं, पानी लाने के लिये नहीं। अतः धूम में यदि वह्निजन्यत्व का संशय मानेंगे तो उक्त निष्कम्प प्रवृत्ति की अनुपपत्ति रूप 'व्याघात' उपस्थित होगा।

इसी प्रकार दूसरे को समझाने के लिये लोग शब्द का प्रयोग यह समझ कर करते हैं कि उस दूसरे व्यक्ति में अभीष्ट बोध को उत्पन्न करने की शक्ति उन शब्दों में है। यदि उन शब्दों में भी उक्त बोध की कारणता को सन्दिग्ध मानलें, तो दूसरों की प्रतीति के लिये शब्द प्रयोग की प्रवृत्ति भी अनुपपन्न हो जायगी।

इस तर्क से धूम में वह्निव्यभिचारित्व के द्वारा वह्निजन्यत्वाभाव की आपत्ति दी गयी है। 'आपत्ति' आहार्यज्ञान स्वरूप है। इस आहार्यज्ञान का विषय वह्निजन्यत्वाभाव है 'आपाद्य'। जिसकी आपत्ति दी जाय वही है 'आपाद्य'। धूम में वह्निव्यभिचारित्व के आरोप का विषय वह्निव्यभिचारित्व है 'आपादक'। अर्थात् आपत्ति का प्रयोजक। किन्तु यह आपत्ति तभी दी जा सकती है, जब कि यह स्वीकार करना संभव हो कि जिन सभी स्थानों में वह्निव्याभिचारित्व है, उन सभी स्थानों में वह्निजन्यत्व भी नहीं है। वह्निव्याभिचारित्व और वह्निजन्यत्वाभाव इन दोनों का यह नियत सामानाधिकरण्य व्याप्ति को छोड़ कर और कुछ नहीं है। यदि आपाद्य में आपादक की यह व्याप्ति स्वीकार न की जाय तो यह कहा जा सकता है कि धूम वह्निव्यभिचारी होने पर भी वह्निजन्य हो सकता है, अतः वह्निव्यभिचारी होने के कारण धूम को वह्निजन्य होने में कोई बाधा नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त अनिष्टापत्ति रूप तर्क भी न हो सकेगा। अतः तर्क भी व्याप्ति सापेक्ष है। इसलिए कथित तर्क में अपेक्षित व्याप्ति का विरोधी यह व्यभिचार संशय भी भावी देशकाल के सहारे उद्भूत हो सकता है कि 'वह्निजन्यत्वाभावो वह्निव्याभिचारित्वव्याभिचारी न वा'। इसकी निवृत्ति के लिए यदि दूसरे तर्क का सहारा लेंगे तो अनवस्था होगी। इसी अनवस्था दोष के परिहार के लिए आचार्य ने 'व्याघातावधिराशङ्का' यह तीसरा चरण लिखा है।

तथापि अतीन्द्रियोपाधिनिषेधे किं प्रमाणमित्युच्यतामिति चेत्; न वै कश्चिदतीन्द्रियोपाधिः प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यस्याभावे प्रमाणमन्वेषणीयम्। केवलं साहचर्ये निबन्धनान्तरमात्रं शङ्क्यते।

एवं तृप्ति के लिये लोग भोजन में प्रवृत्त होते हैं। यदि भोजन में तृप्ति की कारणता सन्दिग्ध रहे तो भोजन में प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होगी। अत: यही 'लोकमर्यादा' है कि शङ्का की धारा उतनी ही दूर तक जानी चाहिये, जहाँ से कि प्रवृत्तियों की उक्त अनुपपत्ति रूप व्याघात दोष उपस्थित न हो।

यदि सभी कारणों में अपने-अपने कार्यों की कारणता सन्दिग्ध ही रहे तो यह 'सन्देह' अथवा 'शङ्का' भी अनुपपन्न हो जायगी। क्योंकि शङ्का भी तो बिना कारण के नहीं होती। अतः 'हेतुफलभाव' अर्थात् 'कार्यकारणभाव' की धारा निरवधि नहीं चल सकती।

सभी विषयों में व्यभिचार की शङ्का तो उसी प्रकार अनुपपन्न है, जैसे कि 'सर्वं मिथ्या कार्यकारणभावभङ्गात्' इस प्रकार के अनुमानों के प्रयोग अनुपपन्न हैं। अर्थात् कार्यकारणभावभङ्ग को मिथ्यत्व का ज्ञापक कारण मान कर उक्त न्याय प्रयोग भी करते हैं, एवं सभी वस्तुओं को मिथ्या भी मानते हैं। यदि कोई किसी का कारण ही नहीं है, तो उक्त 'कार्यकारणभावभङ्ग' रूप हेतु भी मिथ्यात्व सिद्धि का कारण नहीं है। अतः प्रवृत्तियों के इन व्याघातों से व्यभिचारादि शङ्काओं की धारायें अवरुद्ध हो जाती हैं। अतः तर्क को व्यभिचार शङ्का का निवर्त्तक मानने में अनवस्था दोष नहीं है।

पू० प० तथापि अतीन्द्रियोपाधिनिषेधे ··· ··· ··· ···

व्यभिचार शङ्का की निवृत्ति यदि उक्त प्रकार से मान भी लें, तथापि अतीन्द्रिय उपाधि की शङ्का की जो चर्चा की गयी है, उसके निषेध में कौन-सा प्रमाण है?

सि० प० न वै कश्चित् ··· ··· ··· ···

कोई भी प्रमाण नहीं है। अर्थात् पहिले कह आये हैं कि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थों का ही निषेध भी होता है। अतीन्द्रिय उपाधि की सत्ता में जब कोई प्रमाण नहीं है, तो फिर उसका निषेधक भी कोई प्रमाण नहीं है। जैसे कि गगनकुसुमादि का निषेधक कोई प्रमाण नहीं है।

केवलम् ··· ··· ··· ···

उपाधिशङ्का के प्रसङ्ग में केवल इतना ही अन्वेषणीय है कि हेतु में साध्य का जो सामानाधिकरण्य दृष्ट है, उसके मूल साध्य और हेतु ये दोनों स्वयं हैं? अथवा उसके मूल में

ततः शङ्कैव फलतः स्वरूपतश्च निवर्तनीया। तत्र फलमस्याविपक्षस्यापि जिज्ञासा तर्कादाहत्य निवर्तते। ततोऽनुमानप्रवृत्तौ शङ्कास्वरूपमपीति सर्वं सुस्थम्।

कोई दूसरा है ?[1] यही शङ्का 'उपाधिशङ्का' शब्द से व्यवहृत होती है।

सि० प० ततः शङ्कैव ··· ··· ··· सर्वं सुस्थम्

केवल भूयोदर्शन से न व्याप्ति गृहीत होती है, न सभी हेतुओं में व्याप्ति की शङ्का ही होती है। किन्तु जिस प्रकार धूम में वह्नि का केवल स्वमूलक सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, उसी प्रकार स्फटिकत्व में रक्तिमा का अथवा वह्नि में धूम का अन्यमूलक सामानाधिकरण्य भी ज्ञात होता है (क्योंकि स्फटित्व में रक्तिमा के सामानाधिकरण्य की जो प्रतीति होती है, उसके मूल में स्फटिकत्व एवं रक्तिमा इन दोनों से 'अन्य' जवाकुसुम भी मूल है। एवं वह्नि में जो धूम का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, उसके मूल में भी वह्नित्व एवं धूमत्व से 'अन्य' धूम का आर्द्रेन्धनप्रभवत्व भी 'मूल' है)।

इस से कुछ हेतुओं में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'इन में जो साध्य का सामानाधिकरण्य देखा जाता है, इसका मूल (निबन्ध) कोई 'अन्य' तो नहीं है ? हेतु में इस शङ्का के 'संसर्ग' से हेतु में धूम से युक्त पर्वत क्या अग्नि से रहित हो सकता है ? इस आकार की 'विपक्षसंसर्ग की जिज्ञासा' उदित होती है। इस जिज्ञासा से धूम में वह्नि निरूपित व्याप्ति का निश्चय प्रतिरुद्ध हो जाता है। अतः कारणीभूत 'निबन्धान्तरशङ्का', एवं इस 'निबन्धान्तरशङ्का' से उत्पन्न (फलीभूत) 'विपक्षजिज्ञासा' (अर्थात् पक्ष स्वरूप पर्वत को ही 'विपक्ष' समझने की इच्छा) इन दोनों का विनाश ही अपेक्षित है, इनमें से कथित 'फलीभूत-जिज्ञासा' का विनाश हो सीधे तर्क से होता है। इसके बाद व्याप्ति निश्चय में किसी बाधा के न रहने से अनुमिति निर्विघ्न उत्पन्न हो जाती है। इस अनुमिति से कारणीभूत कथित 'निबन्धान्तरशङ्का' का विनाश स्वतः हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत में कही गयी सभी बातें युक्त हैं।

---

१. स्फटिकत्व के साथ रक्तिमा का जो सामानाधिकरण्य देखा जाता है, उसका मूल स्फटिकत्व और रक्तिमा इन दोनों से भिन्न जवाकुसुम की रक्तिमा भी है। अथवा वह्नि में जो धूम का सामानाधिकरण्य है, उसका मूल उन दोनों से भिन्न आर्द्रेन्धन-प्रभवत्व भी है। किन्तु धूम में जो वह्नि का सामानाधिकरण्य देखा जाता है, उसके मूल में तो धूम और वह्नि इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा नहीं है।

न चैतदनागमम्, न्यायाङ्गतया तर्कं व्युत्पादयतः सूत्रकारस्याभिमतत्वात्। अन्यथा तद्व्युत्पादनवैयर्थ्यात्। तदयं संक्षेपः—यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः। स च द्विविधः शङ्कितोपाधिर्निश्चितोपाधिश्च। यत्रेदमुच्यते—

यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम्॥

तत्रोपाधिस्तु, साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकः।

न चैतदनागमम् ··· ··· ··· ···

अनुमिति के प्रति तर्क को कारण मानना न्यायशास्त्र रूप आगम के विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि न्यायदर्शन के आदि प्रवर्त्तक गौतम ऋषि ने तत्वज्ञान के उपयोगी जिन सोलह पदार्थों का उल्लेख किया है, उनमें 'तर्क' भी है। इस तर्क का उल्लेख उन्होंने न्याय स्वरूप 'अवयव' पदार्थ के बाद ही किया है। इससे यह स्पष्ट है कि 'न्याय' के अङ्ग रूप में ही उन्होंने तर्क का उल्लेख किया है। 'न्याय' अनुमिति का कारण है। अतः न्याय का अङ्ग तर्क अनुमिति का भी अङ्ग है। इस प्रकार का अभिप्राय तर्क के उल्लेख से सूत्रकार का समझा जा सकता है। 'अन्यथा' तर्क को यदि अनुमिति के कारण न्याय का अङ्ग न मानें तो सूत्रकार के उन सोलह पदार्थों में तर्क का परिगणन एवं तर्क के लक्षण सूत्रादि का प्रणयन सभी व्यर्थ हो जायेंगे। अतः 'तर्क' भी न्यायशास्त्र रूप 'आगम' प्रमाण मूलक ही है, निरी कल्पना रूप अमूलक नहीं है।

तदयम् ··· ··· ··· ··· विशेषतः भूयोदर्शनाविप्लवे कोऽयमप्रयोजको नाम ?

(विस्तार पूर्वक कहे गये इन सभी बातों का) संक्षेप में सार मर्म रूप उत्तर यह है कि जिस हेतु में व्याप्ति विरोधिनी व्यभिचारशङ्का को निवृत्त करने के के लिये 'अनुकूलतर्क' विद्यमान रहे, वही हेतु अनुमिति का 'प्रयोजक' हेतु है। जिस हेतु में व्याप्ति का सहायक उक्त अनुकूल तर्क न रहे, वह हेतु अनुमिति का 'अप्रयोजक' हेतु है। यह 'अप्रयोजक' हेतु (१) शङ्कितोपाधिक और (२) निश्चितोपाधिक भेद से दो प्रकार का है। इनमें से शांकितोपाधिक हेतु ही अप्रयोजक है, जिसके प्रसङ्ग में 'यावच्चाव्यतिरेकित्वम्' इत्यादि से कहा गया है कि (जिसमें साध्य का अभाव निश्चित रहे, वही विपक्ष है) (विपक्ष) में जिस हेतु के रहने की शंका सौ अंशों में से एक अंश में भी रहेगी, उस हेतु में साध्य के ज्ञापन की सामर्थ्य कहाँ से आवेगी ?

तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्तीत्युपाधिरसावुच्यत इति। तदिदमाहुः—

'अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशाऽवधारणा' ॥ इति ॥

तदनेन विपक्षदण्डभूतेन तर्केण सनाथे भूयोदर्शने, कार्यं वा, कारणं वा, ततोऽन्यद्वा, समवायि वा, संयोगि वा, अन्यथा वा, भावोऽभावो वा, सविशेषणं निर्विशेषणं वा लिङ्गमिति निःशङ्कमवधारणीयम्। अन्यथा तदाभास इति रहस्यम्।

तद्धर्मभूता हि ... ...

'उपाधि' का सामान्य लक्षण (रूढ्यर्थ) यह है कि 'जो साध्य के सभी अधिकरणों में रहे, एवं हेतु के सभी अधिकरणों में न रहे वही 'उपाधि' है। 'उपाधि' के (उप-समीपवर्तिनि, आदधाति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः) इस यौगिक अर्थ के अनुसार जिस प्रकार जवाकुसुम अपने समीप के स्फटिक में रक्तिमा को आहित करने के कारण 'उपाधि' कहलाता है, उसी प्रकार धूम की सिद्धि के लिये प्रयुक्त वह्नि हेतु में भी आर्द्रेन्धनसंयोग स्ववृति धूमज्ञापकत्व स्वरूप धर्म का आधान इसलिये करता है कि धूम आर्द्रेन्धन संयोग से उत्पन्न होने के कारण उसका समीपवर्त्ती है। अतः धूम साधन के लिये उपन्यस्त वह्नि हेतु में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है। यह आर्द्रेन्धन संयोग में उपाधि शब्द का रूढ्यर्थ 'साध्यव्यापकत्व के साथ साथ साधनाव्यापकत्व' भी है ही, क्योंकि जहाँ भी धूम है, वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग अवश्य है, किन्तु वह्नि जिन सभी स्थानों में है, उनमें से अयोगोलक में वह्नि के रहने पर भी आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है।

'अप्रयोजकहेतु' का यही लक्षण 'अन्ये परप्रयुक्तानाम्' इत्यादि से श्लोकवार्त्तिक (१४-७-१५) में भी कहा गया है। जिसका यह अर्थ है कि "अन्य अर्थात् निरुपाधि हेतु से भिन्न सोपाधिक हेतु, जिस लिये कि 'परप्रयुक्त' अर्थात् हेतु और साध्य से भिन्न 'उपाधि' के द्वारा व्याप्ति का उपजीवक है, अतः सोपाधिक हेतु में व्यापकीभूत साध्य का नियत सामानाधिकरण्य अथवा भूयोदर्शन के रहने पर भी उस हेतु से 'व्यापकांश' की अर्थात् साध्य की 'अवधारणा' अर्थात् अनुमिति इष्ट नहीं है।

तदनेन ... ...

इस प्रकार सद्धेतु और हेत्वाभास के प्रसङ्ग में यह निर्वचन समझना चाहिये कि जिस हेतु का साध्य के साथ एक आश्रय में साथ साथ बार बार देखना (भूयोदर्शन) कथित 'विपक्षबाधक' तर्क रूप बल से युक्त हो, वही हेतु साध्य का ज्ञापक 'सद्धेतु' है। इस प्रकार का हेतु साध्य का कार्य हो, अथवा साध्य का कारण हो, या दोनों में कार्यकारणभाव ही न

तादात्म्यतदुत्पत्त्योरप्येतदेव बीजम् । यदि कार्यात्मानौ कारणात्मानश्चा-तिपतेतां, तदा तयोस्तत्त्वं व्याहन्येत । अत एव सामग्रीनिवेशिनश्चरमकारणादपि कार्यमनुमिमते सौगता अपि । तस्माद्विपक्षबाधकमेव प्रतिबन्धलक्षणम् ।

रहे—कोई अन्तर नहीं आता । एवं उक्त प्रकार का हेतु पक्ष में संयोग सम्बन्ध से रहे, अथवा समवाय सम्बन्ध से रहे कि वा इन दोनों सम्बन्ध से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से ही रहे—सद्धेतुत्व में कोई बाधा नहीं होती है । इसी प्रकार उक्त हेतु भाव रूप हो, अथवा अभाव रूप, पक्ष का विशेषण रहे अथवा पक्ष का विशेषण न रहे—अर्थात् जो हेतु जैसा भी रहे यदि विपक्षबाधकतर्क रूप बल से युक्त भूयोदर्शन का वह विषय है, तो वह प्रकृत 'हेतु' अर्थात् सद्धेतु है । जिस हेतु में उक्त बलशाली भूयोदर्शन स्वरूप उक्त विशेष नहीं है, वह 'हेतु' नहीं किन्तु 'हेत्वाभास' है ।

तादात्म्यतदुत्पयोः ··· ··· ··· ···

बौद्धों ने जो तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति इन दोनों को व्याप्ति का प्रयोजक मानते हैं, उसके मूल में भी 'विपक्षबाधकतर्क' का यही बल निहित है । क्योंकि तादात्म्य मूलक व्याप्ति का उदाहरण है, वृक्ष और शिशपा की व्याप्ति । यहाँ भी यह व्यभिचार शङ्का हो ही सकती है कि 'यद्यपि साधारणतः यही देखा जाता है कि जो शिशपा है, वह वृक्ष भी अवश्य है' किन्तु यहाँ भी इस शङ्का का अवकाश है हि कि 'कदाचित् कहीं किसी व्यक्ति को ऐसी शिशपा का भी प्रत्यक्ष हो सकता है, जो वृक्ष न रहे । 'तदुत्पत्ति' मूलक व्याप्ति का उदाहरण है, धूम एवं वह्नि की व्याप्ति । इसमें व्यभिचार शङ्का का उपपादन कर आये हैं ।

यदि कार्यात्मानौ ··· ··· ··· ···

(उक्त शङ्काओं के निराकरण के प्रसङ्ग में यह भी कहा जा सकता है कि) (१) यदि कार्य अपने कारण को छोड़कर भी रहे, तो उनमें कार्यकारणभाव ही व्याहत हो जायगा । (२) एवं 'आत्मा' अर्थात् स्व स्वरूप कोई वस्तु अपनी 'आत्मा' अर्थात् अपने तादात्म्य से युक्त किसी वस्तु को छोड़ कर भी रहे, तो वे दोनों परस्पर तादात्म्य से ही वञ्चित हो जायंगे । ये दोनों ही तर्क को छोड़कर और कुछ नहीं हैं ।

अत एव ··· ··· ··· ···

'अत एव' जिस लिये कि तर्क रूप बल से युक्त भूयोदर्शन को ही व्याप्ति का प्रयोजक मानते हैं, अतः कारण समूह रूप 'सामग्री' के अन्तर्गत अन्तिम एक कारण रूप लिङ्ग से भी

तथाहि—शाकाद्याहारपरिणतिविरहिणि मित्रातनये न किञ्चिदनिष्टमिति नासौ तस्य व्यापिका, व्यापिका तु श्यामिकायाः, कारणत्वावधारणात् । कारणञ्च तत् तस्य, तदतिपत्य भवति चेति व्याहतम् । एवमन्यत्राप्यूहनीयमिति ।

कार्य की अनुमिति बौद्धगण भी स्वीकार करते हैं[1] । अतः विपक्षबाधक तर्क ही व्याप्ति का 'लक्षण' अर्थात् निश्चायक है ।

तथा हि ··· ··· ··· ···

मित्रा के जिस पुत्र में श्यामत्व का साधन इष्ट है, उससे भिन्न मित्रा के उस पुत्र में जो उनके शाकाहार का परिणाम नहीं है, उसमें श्यामत्व के स्वीकार न करने पर भी किसी अनिष्टापत्ति की संभावना नहीं है, अतः 'शाकाहारपरिणति' (शाकाद्याहारजन्यत्व) रूप उपाधि मित्रातनयत्व रूप साध्य का व्यापक है । क्योंकि शाकाद्याहारपरिणति में श्यामत्व की कारणता निश्चित है । कोई भी वस्तु (शाकाद्याहार जन्यत्व) किसी का कारण भी हो एवं वे दोनों परस्पर एक दूसरे को छोड़कर भी रहें—ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । इसी प्रकार और सभी स्थलों में ऊह करना चाहिये ।[2]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि केवल किसी एक कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । एवं सभी कारणों के रहने पर अर्थात् सामग्री के रहने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है । अतः कोई एक कारण कार्य का ज्ञापक लिंग नहीं है, किन्तु सामग्री स्वरूप कारणसमूह ही कार्य का ज्ञापक लिंग है । किन्तु 'चरमकारण' अर्थात् असमवायिकारण के रहने पर कार्य अवश्य होता है, अतः जहाँ सभी कारण अर्थात् सामग्री ज्ञात नहीं भी रहते हैं, वहीं सामग्री के अन्तर्गत चरम कारण रूप एक भी कारण से कार्य की अनुमिति बौद्धगण भी मानते हैं । अत एव मृदङ्ग में आघात के देखने से बधिरों को भी शब्द का अनुमान होता है ।

२. जहाँ विपक्षबाधकतर्क नहीं रहता है, उस अप्रयोजक हेतु में व्याप्ति का निर्णय भी नहीं होता है । जैसे कि 'स श्यामः मित्रातनयत्वात्' इस अनुमान के मित्रातनयत्व हेतु में व्याप्ति का निर्णय नहीं हो पाता है । क्योंकि उक्त स्थल में 'शाकपाकजत्व' उपाधि है । वैद्यशास्त्र के अनुसार जिस वर्ण से युक्त द्रव्य का आहार गर्भिणी करती है, उसी वर्ण से युक्त सन्तान भी उत्पन्न होता है । मित्रा के पुत्रों में जो श्यामता है, उसका भी कारण गर्भावस्था में मित्रा का श्यामवर्ण के शाकादि द्रव्यों का आहार करना ही है । अतः यह कहा जा सकता है कि जिस गर्भ के समय मित्राने

क पुनरप्रयोजकोऽन्तर्भवति ? । न । कचिदित्येके । तथा हि सिद्धसाधनं न बाधितविषम्, विषयापहाराभावात् ।

पू० प० क पुनः ··· ··· ··· ···

('अप्रयोजक') यदि 'हेतु' नहीं है तो हेत्वाभास होगा । किन्तु हेत्वाभास तो परिगणित हैं, उनमें 'अप्रयोजक' का नाम नहीं है । फलतः यह भी उन्हीं पाँच हेत्वाभासों में से कोई होगा उनमें से) 'अप्रयोजक' को किस हेत्वाभास में अन्तर्भूत मानते हैं ?

आवान्तर पू० प० न कचित् ··· ··· ··· ···

अप्रयोजक हेतु का अन्तर्भाव सव्यभिचारादि पाँच हेत्वाभासों में से किसी में भी संभव नहीं है । अतः जिस प्रकार 'सिद्धसाधन' सव्यभिचारादि किसी हेत्वाभास में अन्तर्भूत न होने पर भी 'हेतुदोष' होने के कारण एक स्वतन्त्र ही हेत्वाभास है, उसी प्रकार 'अप्रयोजक' हेतु भी अतिरिक्त हेत्वाभास ही है ।

यथा हि ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार सिद्धसाधन दोष से युक्त हेतु 'बाधित' हेत्वाभास के अन्तर्गत नहीं आता है, क्योंकि उस हेतु से शाध्य साध्य की सत्ता पक्ष में रहती है (पक्ष से साध्य का अपहार अर्थात् दूरीकरण नहीं होता) इसलिये सिद्धसाधन रूप हेतु का बाध दोष के अन्तर्गत

श्यामवर्णं के शाकादि द्रव्यों का आहार न किया होगा, उस गर्भ का उनका सन्तान गौरवर्णं का भी हो सकता है । अतः शाकापाकजत्व से शून्य जो मित्रा का उक्त विशेष पुत्र है, उसमें श्यामत्व नहीं है । मित्रा के उस पुत्र में शाकपाकजत्व के न मानने पर भी किसी 'आपत्ति' रूप 'अनिष्ट' की संभावना नहीं है । अतः यहाँ विपक्षबाधकतर्क नहीं है । इस प्रकार शाकपाकजत्व रूप उपाधि मित्रातनयत्व रूप हेतु का अव्यापक है । एवं उक्त उपाधि श्यामत्व का व्यापक भी है, क्योंकि शाकपाकजत्व श्यामत्व का कारण है । कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता । किसी वस्तु को किसी वस्तु का कारण भी कहें, एवं उसके बिना उसका रहना भी स्वीकार करें—ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं । फलतः शाकपाकजत्व रूप उपाधि में श्यामत्व रूप साध्य की व्यापकता को स्वीकार न करने पर यह विपक्षबाधकतर्क उपस्थित होगा कि 'श्यामत्वं यदि शाकपाकजत्वव्यभिचारी स्यात्तदा तज्जन्यो न स्यात्' इस तर्क से श्यामत्व एवं शाकपाकजत्यत्व की व्याप्ति के निर्णीत होने पर अर्थतः शाकपाकजत्व में श्यामत्व की व्यापकता सिद्ध हो जाती है । अतः शाकपाकजत्व श्यामत्व रूप साध्य का व्यापक और मित्रातनयत्व रूप हेतु का अव्यापक होने से 'उपाधि' लक्षण से आक्रान्त है । सुतराम् उपाधि से युक्त होने के कारण उक्त हेतु 'अप्रयोजक' है ।

नापि निर्णये सति पक्षत्वातिपातादपक्षधर्मः, कालातीतविलोपप्रसङ्गात् । न चानैकान्तिकादिः, व्यभिचाराद्यभावात्,

नहीं आता है, उसी प्रकार यह 'अप्रयोजक' हेतु रूप दोष भी बाध रूप हेत्वाभास के अन्तर्गत नहीं आता है, क्योंकि पक्ष से साध्य का अपहरण नहीं होता। पक्ष में साध्य के रहने पर भी हेतु अप्रयोजक हो सकता है। (बाधित हेतु के लिये यह आवश्यक है कि उसका ज्ञाप्य साध्य पक्ष में न रहे)।

नापि निर्णये ··· ··· ··· ···

(किसी सम्प्रदाय का कहना है कि सिद्धसाधन हेत्वाभास नहीं है, किन्तु 'अपक्षधर्म' है। क्योंकि उससे ज्ञाप्य साध्य पक्ष में निश्चत रहता है। जिससे साध्य सन्देह रूप 'पक्षता' विघटित होकर अनुमिति के उत्पादन को रोक देती है। अतः जिस प्रकार 'सिद्धसाधन' बाधादि हेत्वाभासों में अन्तर्भूत न होने पर भी 'पक्षता' रूप कारण विघटक होने से ही हेत्वाभास कहलाता है, क्योंकि उससे अनुमिति का प्रतिरोध होता है, उसी प्रकार 'अप्रयोजक' हेतु बाधादि हेत्वाभासों में अन्तर्भूत न होने पर भी अनुमित्युत्पत्ति का विरोधी होने के कारण हेत्वाभास कहला सकता है।

कालातीत ··· ··· ··· ···

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है (क्योंकि 'पक्षता' का विघटक हेतु हेत्वाभास नहीं हो सकता) क्योंकि ऐसा मानने पर 'कालातीत' हेत्वाभास न कहला सकेगा[1]।

न चैकान्तादि ··· ··· ··· ···

'सिद्धसाधन' स्थल का हेतु साध्य से रहित आश्रय में नहीं रहता, अतः सिद्धसाधन को 'अनैकान्तिक' अर्थात् सव्यभिचार हेत्वाभास के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकत।[2]

---

१. जहाँ पक्ष में साध्याभाव निश्चित रहता है वहीं कालातीत अथवा बाध दोष होता है। जैसे कि पक्ष में साध्य का निश्चय पक्ष में सन्देह रूप पक्षता का विरोधी है, वैसे ही पक्ष में साध्याभाव का निश्चय भी उक्त सन्देह (रूप पक्षता) का विरोधी है। अतः बाधस्थल में भी साध्य सन्देह रूप पक्षता का विघटन अवश्य होता है। इसलिये कालातीत स्थल में पक्षता के विघटन से ही अनुमिति की उत्पत्ति रुक जायगी, फिर कालातीत को हेत्वाभास मानने का क्या प्रयोजन ? अतः यह कहना ठीक नहीं है कि 'सिद्धसाधन' चूँकि 'अपक्षधर्म' है अर्थात् 'पक्षता' का विघटक है, अतः हेत्वाभास नहीं है।

२. 'न चैकान्तादिः' के 'आदि' पद से सिद्धसाधन का विरुद्ध एवं सत्प्रतिपक्ष प्रभृति में अनन्तर्भाव सूचित किया गया है। सिद्धसाधन चूँकि साध्याभाव का व्याप्य नहीं

तथाऽयमपि। सूत्रं तूपलक्षणपरमिति।

तदसत्। विभागस्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदफलत्वात्। क तर्हि द्वयोरन्तर्निवेशः?। असिद्ध एव।

तथा ··· ··· ··· ···

(जिस प्रकार सिद्धसाधन सव्यभिचारादि पाँच हेत्वाभासों में से किसी में अन्तर्भूत न होने पर भी 'अपक्षधर्म' अर्थात् पक्षता का विघटक होने से हेत्वाभास है, क्योंकि अनुमिति की उत्पत्ति का वह विरोधी है) उसी प्रकार 'अप्रयोजक' भी अतिरिक्त हेत्वाभास ही है, क्योंकि वह भी (व्याप्ति निश्चय विघटक होने के नाते अनुमिति की उत्पत्ति का विरोधी है)।

सूत्रकार ने हेत्वाभासों के जो पाँच नाम गिनाये हैं, उस का अभिप्राय हेत्वाभासों की संख्या का निद्धारण नहीं है। अतः उन की हेत्वाभास की पञ्चत्वोक्ति उपलक्षण मात्र है। अतः सूत्रकार की उक्त सूत्र के द्वारा कथित पाँच हेत्वाभासों से अतिरिक्त किन्तु युक्तिसिद्ध हेत्वाभासों का खण्डन नहीं किया जा सकता।

सि० प० तदसत् ··· ··· ··· ···

(कथित रीति से सिद्धसाधन अथवा अप्रयोजक हेतु को अतिरिक हेत्वाभास मानना) उचित नहीं है, क्योंकि 'सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीता हेत्वाभासाः (न्यायसू अ०-१ आ०-२ सू० ४) इस सूत्र के द्वारा महर्षि गोतम ने हेत्वाभास का 'विभाग' किया है। 'विभाग' का मुख्य उद्देश्य न्यूनाधिक संख्या का व्यवच्छेद ही है। तदनुसार उक्त सूत्र का यह अर्थ भी है कि 'हेत्वाभास' पाँच ही प्रकार के हैं, इन से न्यून अथवा अधिक नहीं'। ऐसी स्थिति में सिद्धसाधन को अथवा अप्रयोजक को अतिरिक्त हेत्वाभास मानने पर उक्त 'अवधारण' अवश्य ही विरुद्ध होगा। अतः उक्त दोनों दोषों को कथित पाँच हेत्वाभासों में से ही किसी में अन्तर्भूत करना उचित है।

पू० प० क तर्हि ··· ··· ··· ···

तो फिर सिद्धसाधन और अप्रयोजक इन दोनों का कथित पाँच हेत्वाभासों में से किस में अन्तर्भाव होगा?

सि० प० 'असिद्ध' एव

अर्थात् इन दोनों का अन्तर्भाव 'असिद्ध' नाम के हेत्वाभास में ही होगा।

होता, अतः विरुद्ध में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। एवं सिद्धसाधक हेतु से जिस साध्य की अनुमिति अभिप्रेत रहती है, उस साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु उपस्थित नहीं रहता, अतः सिद्ध साधक हेतु का सत्प्रतिपक्ष में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

व्याप्तस्य हि पक्षधर्मताप्रतीतिः सिद्धिः । तदभावोऽसिद्धिः । इयञ्च व्याप्तिपक्षधर्मतास्वरूपाणामन्यतमा प्रतीत्या भवन्ती यथासङ्ख्यमन्यथासिद्धिराश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिरित्याख्यायते । मध्यमाऽप्याश्रयस्वरूपाप्रतीत्या, तद्विशेषणपक्षत्वाप्रतीत्या वेति द्वयी । तत्र चरमा सिद्धसाधनमिति व्यपदिश्यते । व्याप्तिस्थितौ पक्षत्वस्याहत्य विघटनात् । न त्वेवं बाधे. व्याप्तेरेव प्रथमं विघटनादिति विशेषः

सि० प० 'व्याप्तस्य हि—''' ··· ··· ···

'व्याप्त' अर्थात् व्याप्ति से युक्त हेतु में पक्षधर्मता (पक्ष में रहने) की प्रतीति ही प्रकृत में 'सिद्धि' शब्द से अभिप्रेत है । इस 'सिद्धि' का अभाव ही 'असिद्धि' दोष है । एवं इस 'असिद्धि' दोष से युक्त हेतु ही 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास है । यह 'असिद्धि' तीन प्रकार से सम्भव है (१) व्याप्ति की प्रतीति के विघटन से (२) पक्षधर्मता की प्रतीति के विघटन से (३) एवं (४) 'स्व-रूप' अर्थात् पक्षतावच्छेदकधर्म की प्रतीति के विघटन से । इन में से प्रथम विघटन प्रयुक्त 'असिद्धि' को (१) अन्यथासिद्धि (व्याप्यत्वासिद्धि) दूसरे विघटन प्रयुक्त असिद्धि को (२) आश्रयासिद्धि एवं तृतीय विघटन प्रयुक्त 'असिद्धि' को (३) स्वरूपासिद्धि कहते हे । इन में से बीचवाली 'आश्रयासिद्धि' दो प्रकार से होती है (१) आश्रय की सर्वथा अप्रतीति से (जैसे कि 'गगनारविन्दं सुरभि' इत्यादि स्थलों में होता है) । एवं (२) पक्ष से विशेषणीभूत 'पक्षत्व' अथवा 'पक्षता' के विघटन से—इन दोनों में 'चरमा' अर्थात् अन्तिम जो पक्षत्वाप्रतीति मूलक 'आश्रयासिद्धि' है, वही 'सिद्धसाधन' दोष कहलाती है । (अर्थात् सिद्धसाधन दोष यद्यपि 'पक्षता' विघटन के द्वारा अनुमिति को रोकता है, तथापि कथित रीति के अनुसार वह 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास ही है, स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं । एवं अप्रयोजक का अन्तर्भाव 'अन्यथासिद्ध' में ही समझना चाहिए) ।

व्याप्तिस्थितौ ··· ··· ··· ···

(साध्यसन्देह रूप पक्षता के विघटन से यदि 'आश्रयासिद्धि' दोष होता है, तो 'कालातीत' का भी इसी असिद्धि में ही अन्तर्भाव हो जाना चाहिए । 'कालातीत' नाम का अतिरिक्त हेत्वाभास मानने की आवश्यकता नहीं ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि) जिस 'असिद्धि' में सिद्धसाधन दोष का अन्तर्भाव किया गया है, वह साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु में हो रहता है । कालातीत हेत्वाभास पहिले हेतु में साध्य की व्याप्ति को ही रोकता

यत्त्वप्रयोजकः सन्दिग्धानैकान्तिक इत्यनैकान्तिकेऽन्तर्भाव्यते, तदसत्। व्याप्त्यसिद्ध्या हि निमित्तेन व्यभिचारः शङ्कनीयोऽन्यथा वा ?। प्रथमे असिद्धिरेव दूषणमुपजीव्यत्वात्, नाऽनैकान्तिकमुपजीवकत्वात्। अन्यथाशङ्का त्वदूषणमेव, निर्णीते तदनवकाशादिति ॥७॥

उपमानं तु बाधकमनाशङ्कनीयमेव, विषयानतिरेकादिति केचित्।

है। अतः प्रकृत असिद्धि और कालातीत दोनों में अन्तर है। इस लिये कालातीत का असिद्धि में अन्तर्भाव की आपत्ति नहीं दी जा सकती।[1] ('अप्रयोजक' हेतु नियमतः उपाधि से युक्त होने के नाते व्याप्ति का विघटक है, अतः उसका अन्तर्भाव प्रथमा असिद्धि रूप 'अन्यथासिद्धि' 'अर्थात् व्याप्यत्वासिद्धि में समझना चाहिए)।

पू० प० यत्त्वप्रयोजकः... ... ...

कुछ लोग अप्रयोजक हेतु का अन्तर्भाव सन्दिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास में करते हैं।

तदसत् ... ...

किन्तु यह ठीक नहीं है, जिस लिये कि—उपाधि से हेतु में व्याप्ति का विघटन होता है, इसी लिये हेतु में व्यभिचार की शङ्का होती है। व्याप्ति का विघटन ही 'व्याप्ति की असिद्धि' हैं। व्याप्ति की असिद्धि को ही 'अन्यथासिद्धि' दोष कहा जाता है। ऐसी स्थिति में अप्रयोजक को व्याप्त्यसिद्धि प्रयुक्त 'सन्दिग्धानैकान्तिक' में अन्तर्भूत करने की अपेक्षा सन्दिग्धानैकान्तिक का मूल जो व्याप्त्यसिद्धि रूप 'अन्यथासिद्धि' है, उसी में अन्तर्भूत करना उचित है। यदि उपाधि व्याप्त्यसिद्धि प्रयुक्त व्यभिचारशङ्का का प्रयोजक नहीं है अर्थात् उपाधि के रहने पर भी व्याप्ति की सिद्धि रहती ही है, तब तो व्यभिचार कोई दोष ही नहीं है। क्योंकि व्याप्ति का विघटक होने से ही 'व्यभिचार' दोष कहलाता है। व्यभिचार के रहने पर यदि व्याप्ति रहेगी ही तो फिर व्यभिचारशङ्का का रहना और न रहना दोनों बराबर है। अतः अप्रयोजक दोष सन्दिग्धानैकान्तिक नहीं, किन्तु 'अन्यथासिद्ध' ही है ॥७॥

पू० प० उपमानन्तु ... ... विषयानतिरेकात्।

(चूँकि अनुमानबाध ईश्वरानुमान में कथित युक्ति से खण्डित हो चुका है, अतः) उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वरानुमान में बाध की शङ्का स्वतः खण्डित हो जाती है; क्योंकि अनुमान का विषय एवं उपमान का विषय दोनों समान हैं, फलतः उपमान का अन्तर्भाव

---

1. वर्द्धमान ने आचार्य की इस उक्ति की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'ह्रदो वह्निमान धूमात्' इत्यादि स्थलों के हेतुओं में साध्य की व्याप्ति रहते हुये भी कालातीत दोष होता है। अर्थात् यह नियम नहीं किया जा सकता कि बाध से व्याप्ति का विघटन अवश्य होता है।

तथाहि—न तावदस्य विषयः सादृश्यव्यपदेश्यं पदार्थान्तरमेव सम्भावनीयम् ।

अनुमान में ही समझ लेना चाहिए। उपमान नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण है ही नहीं। अतः उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वरसिद्धि में किसी बाध के उपस्थित होने की सम्भावना नहीं है।[1]

(किन्तु यह बात तभी ठीक हो सकती है यदि उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में उपपन्न हो अर्थात् अनुमान और उपमान से एक ही रीति से एक ही प्रकार के ज्ञान का सम्पादन हो। क्योंकि तभी यह कहा जा सकता है कि उपमान प्रमाण से जितने भी कार्य संपादित हो सकते हैं, उन सभी कार्यों का सम्पादन यदि अवश्य स्वीकर्त्तव्य अनुमान प्रमाण से ही हो जाय तो फिर उपमान नाम का कोई अतिरिक्त प्रमाण मानना व्यर्थ है। इसके लिये पहिले यह निर्णय करना आवश्यक है कि उपमान के द्वारा उसको प्रमाण माननेवालों को किस विषय का प्रमाज्ञान अभिप्रेत है ? इस प्रसङ्ग में प्रभाकर संप्रदाय के मीमांसकों का कहना है कि उपमान प्रमाण का प्रमेय 'सादृश्य' पद के द्वारा प्रसिद्ध है। यह 'सादृश्य' द्रव्यादि सात पदार्थों से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ ही है। अनुमान की प्रवृत्ति इन सात पदार्थों में ही हो सकती है, अत 'सादृश्य' के प्रमाज्ञान के लिये अनुमान से भिन्न एक 'उपमान' नाम का प्रमाण मानना आवश्यक है[2]।

इस प्रसङ्ग में वैशेषिक गण कहते हैं कि 'सादृश्य' द्रव्यादि सात पदार्थों के ही अन्तर्गत है। द्रव्यादि सात पदार्थों से अतिरिक्त सादृश्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतः इसका भी प्रमाज्ञान अनुमान प्रमाण से हो सकता है। इस के लिये उपमान नाम का एक स्वतन्त्र प्रमाण का मानना आवश्यक नहीं है। 'सादृश्य' निम्नलिखित इन युक्तियों से स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है :—क्योंकि—

---

१. इस स्तबक के आदि से ७ श्लोकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में सम्भावित प्रत्यक्षबाध एवं अनुमानबाध का निराकरण हुआ है। अब उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वरसिद्धि में बाध की सम्भावना का निरास प्रारब्ध होता है। उपमान को ईश्वरसिद्धि में बाधक मानने वालों का कहना है कि (१) उपमान प्रमाण ही वस्तुओं का साधक है, क्योंकि सभी पदार्थ किसी न किसी प्रकार किसी रूप में किसी वस्तु के समान है, जो किसी के भी समान नहीं है वह 'वस्तु' ही नहीं है, जैसे कि गगनकुसुमादि। (२) सभी शब्द किसी सादृश्य के बोधक हैं। 'ईश्वर' शब्द किसी भी सादृश्य का वाचक नहीं है, अतः ईश्वर शब्द का कोई अर्थ नहीं है।

२. इस मत का समर्थन प्रकरणपञ्चिका के पृ० ११० से ११२ पृ० में देखना चाहिए। चौखम्भा सं०।

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥ ८ ॥

न हि भावाभावाभ्यामन्यः प्रकारः संभावनीयः, परस्परविधिनिषेधरूपत्वात्। न भाव इति निषेधमात्रेणैवाभावविधिः। ततस्तं विहाय कथं स्ववचनेनैव पुनः सहृदयो निषेधेन्नाभाव इति। एवं नाभाव इति निषेध भावविधिः। ततस्तं विहाय स्ववाचैवानुन्मत्तः कथं पुनर्निषेधेन्न भाव इति। अत एवम्भूतानामेकताऽप्यशक्यप्रतिपत्तिः, प्रतिषेधविध्योरेकत्रासंभवात्। तस्माद्भावावेव तत्त्वम्।

भावत्वेऽपि गुणवन्निर्गुणं वेति द्वयमेव पूर्ववत्। पूर्वं द्रव्यमेव। उत्तरञ्च श्रितमनाश्रितं वेति द्वयमेव, पूर्ववत्।

परस्परविरोधे हि ··· ··· ··· ···

सादृश्य या तो (१) भाव पदार्थ होगा अथवा (२) अभाव पदार्थ। या फिर (३) इन दोनों से भिन्न होगा। किम्वा (४) भाव स्वरूप भी होगा, एवं अभाव स्वरूप भी। इन मे तीसरा पक्ष इस लिये अयुक्त है कि भाव एवं अभाव ये दोनों चूंकि परस्पर विरुद्ध है, अतः सादृश्य या तो भाव रूप ही होगा, अथवा अभावस्वरूप (क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो कोटियों से भिन्न कोई तीसरी कोटि सम्भव ही नहीं है)।

नैकतापि ··· ··· ··· ···

जिस 'भाव' शब्द एवं 'अभाव' शब्द का विरोध उच्चारण मात्र से प्रगट है, कोई एक ही पदार्थ इन दोनों से अभिन्न नहीं हो सकता। अर्थात् सादृश्य भाव और अभाव एतदुभयात्मक नहीं हो सकता। फलतः सादृश्य भाव और अभाव इन दोनों में से कोई एक ही हो सकता है।

न हि भावाभावाभ्याम् ··· ··· ··· ···

'भाव' है 'अभाव' का निषेध अर्थात् अभावाभावस्वरूप। एवं 'भाव' का निषेध ही 'अभाव' है। इस वस्तु स्थिति के अनुसार 'भाव' और अभाव ये दोनों जब परस्पर विरुद्ध हैं, तो संसार के सभी पदार्थ कथित भाव और अभाव–इन दोनों में से कोई एक ही होंगे। उन में से किसी भी पदार्थ का कोई तीसरा प्रकार नहीं हो सकता। परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं के सम्बन्ध में सर्वत्र यही 'न्याय' विद्यमान हैं। अतः सादृश्य भी कथित 'भाव' और 'अभाव' इन दोनों में से कोई एक ही है।

भावत्वेऽपि··· ··· ··· ···

(सादृश्य द्रव्यादि छ भाव पदार्थों में से ही कोई है) क्योंकि जितने भी 'भाव' पदार्थ है वे 'गुण से युक्त' एवं 'गुण से रहित' इन्हीं दोनों प्रकारों में से किसी एक प्रकार के हैं। कोई भी तीसरा प्रकार गुणसहितत्व एवं गुणरहितत्व इन दोनों के परस्पर विरोध के

तत्रोत्तरं समवाय एव, अनवस्थाभयात् । आश्रितन्तु सामान्यवन्निःसामान्यञ्चेति पूर्ववत् द्वयमेव । तत्र प्रथममपि स्पन्दोऽस्पन्द इति द्वयमेव । एतच्च यथासंख्यं कर्मगुण इति व्यपदिश्यते । निःसामान्यं निर्गुणमाश्रितन्त्वेकाश्रितमनेकाश्रितं वेति प्रागिव द्वयमेव । एतदपि यथासंख्यं विशेषः सामान्यञ्चेत्यभिधीयते ।

कारण संभव नहीं है । क्योंकि पहिले कह आये हैं कि सभी पदार्थ परस्पर विरोधी दो प्रकारों में से किसी एक ही प्रकार के हो सकते हैं । (इस सन्दर्भ के सभी 'पूर्ववत्' शब्द इसी अभिप्राय से लिखे गये हैं) इन में गुण से युक्त केवल द्रव्य पदार्थ ही है । शेष 'निर्गुण' अर्थात् गुण से रहित भाव पदार्थ' भी 'आश्रित' एवं 'अनाश्रित' दो प्रकार के हैं । क्योंकि आश्रितत्व एवं 'अनाश्रितत्व' ये दोनों चूंकि परस्पर विरुद्ध हैं, अतः कोई भी पदार्थ या तो आश्रित ही होगा, अथवा अनाश्रित ही, कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है । (इस की युक्ति पहिले कह आये हैं) इनमें 'उत्तर' अर्थात् अनाश्रितभाव केवल 'समवाय' है; क्योंकि ऐसा न मानने पर 'अनवस्था' होगी[1] । एवं 'आश्रित' भाव भी दो ही प्रकार के हैं (१) जाति से युक्त एवं (२) जाति से रहित । कथित युक्ति के अनुसार आश्रित भावों का कोई तीसरा प्रकार नहीं हो सकता । इनमें से 'प्रथम' अर्थात् सामान्य से युक्त जो निर्गुण आश्रित हैं वे (१) 'स्पन्द' (क्रिया) एवं (२) 'अस्पन्द' (क्रिया से भिन्न) इन दो प्रकारों में से किसी एक ही प्रकार के हैं । क्योंकि पूवकथित युक्ति के अनुसार कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है । इन में पथम है कर्म, एवं दूसरा हैं 'गुण' । इसी प्रकार सामान्य से शून्य निर्गुण जितने भी 'आश्रित' है वे (१) एकाश्रित एवं (२) अनेकाश्रित भेद से दो ही भागों में बंटे हुए हैं । पूर्वकथित युक्ति के अनुसार इनका भी कोई तीसरा भेद संभव

---

१. जहाँ जो पदार्थ आश्रित रहता है वहाँ आश्रित एवं आश्रय इन दोनों से भिन्न 'सम्बन्ध' स्वरूप एक तृतीय वस्तु उन दोनों के मध्य में अवश्य रहती है । जैसे कि भूतल और घट इन दोनों से भिन्न संयोग नाम का एक सम्बन्ध है, जो दोनों के बीच है । यदि समवाय को द्रव्यादि में आश्रित मानेंगे तो द्रव्यादि एवं समवाय इन दोनों के बीच किसी तीसरे सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक होगी । जिस युक्ति से समवाय को आश्रित मानेंगे, उसी युक्ति से उस कल्पित सम्बन्ध को भी आश्रित ही मानना होगा । इस प्रकार अनन्त सम्बन्धों की अविश्रान्त कल्पना चलेगी, जो 'अनवस्था' में परिणत होगी । अतः 'स्वरूप' समवाय सम्बन्ध से ही समवाय द्रव्यादि पदार्थों में है । उक्त स्वरूप द्रव्यादि पदर्थों में है । उक्त स्वरूप में द्रव्यादि आश्रयों का भेद रहने पर भी आश्रित समवाय का भेद नहीं है अतः स्वरूप सम्बन्ध आश्रितत्व का नियामक नहीं है । सुतराम् समवाय अनाश्रित है ।

तदेतत्सादृश्यमेतास्वेकां विधामासादयन्नातिरिच्यते। अनासादयन्न पदार्थीभूय स्थातुमुत्सहते। एतेन शक्तिसंख्यादयो व्याख्याताः। ततोऽभावेन सह सप्तैव पदार्था इति नियमः। अतो नोपमानविषयोऽर्थान्तरमिति।

स्यादेतत्। भवतु सामान्यमेव सादृश्यं, तदेव तस्य विषयः स्यात्। तत्सदृशोऽयमिति हि प्रत्ययो नेन्द्रियजन्यः, तदापातमात्रेणाऽनुत्पत्तेरिति चेन्न।

नहीं है। क्योंकि एकाश्रितत्व एवं अनेकाश्रितत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इनमें अनेकाश्रित हैं सामान्य, एवं एकाश्रित हैं विशेष। क्योंकि प्रत्येक जाति अनेक व्यक्तियों में अवश्य रहती है, एवं प्रत्येक परमाण्वादि गत 'विशेष' उन परमाण्वादि रूप किसी एक ही व्यक्ति में रहता है, अनेक व्यक्तियों में नहीं।

जितने भी 'भावपदार्थ' हैं वे जब इन इन्हीं प्रकारों में से किसी के अन्तर्गत हैं, तो फिर 'सादृश्य' रूप भावपदार्थ भी इन्हीं में से किसी प्रकार का होगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'सादृश्य' रूप भाव पदार्थ की सत्ता ही दुर्लभ हो जायगी। क्योंकि 'भावत्व' धर्म कथित गुणवत्त्वादि धर्मों में से ही किसी का व्याप्य है। जहाँ व्यापक नहीं रहता, वहाँ व्याप्य भी नहीं रहता। अतः सादृश्य में यदि गुणवत्त्वादि धर्मान्यतमत्व धर्म नहीं रहेगा, तो भावत्व भी नहीं रहेगा। अर्थात् सादृश्य भाव ही नहीं रह जायगा। सुतराम् सादृश्य में भावत्व के साथ अवश्य रहने वाले गुणवत्त्वादि धर्मान्यतमत्व भी अवश्य है। इस धर्म से युक्त पदार्थ द्रव्यादि छ पदार्थों में से ही कोई हो सकता है। तस्मात् सादृश्य द्रव्यादि छ पदार्थों में से ही कोई एक है, इनसे भिन्न नहीं। इसी प्रकार शक्ति संख्यादि जिन वस्तुओं को मीमांसक जिस युक्ति से अतिरिक्त पदार्थ मानकर 'पदार्थ सात ही हैं' वैशेषिक के इस अवधारण का खण्डन करते हैं, उसका मण्डन करना चाहिये। तस्मात् अनुमान प्रमाण के द्वारा जिन पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, उनसे भिन्न कोई ऐसा प्रमेय (विषय) नहीं है, जिसके लिये उपमान को अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक हो। अतः उपमान नाम का कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये ईश्वर की सिद्धि में उसके द्वारा बाध की चर्चा ही अनावश्यक है।

पू० प० स्यादेतत्··· ··· ··· ···अनुत्पत्तेः

(कुमारिल भट्ट का कहना है कि सादृश्य द्रव्यादि छ प्रकार के भावों के ही अन्तर्गत है, अतिरिक्त पदार्थ नहीं है (देखिये श्लो० वा० आकृतिवाद श्लो० ७६ पृ० ५६५ चौ० स० एवं शास्त्र दीपिका पृ० २८६ सुदर्शनाचार्य सं०) 'सादृश्य' जाति रूप है। यह जाति स्वरूप सादृश्य की प्रतीति का आकार है 'तत्सदृशोऽयम्'। यह प्रतीति इन्द्रिय से नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रिय से विषय की प्रतीति में विषय के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष हो जाने पर विलम्ब नहीं होता। इन्द्रिय को विषय के साथ सन्निकर्ष के बाद और किसी की अपेक्षा नहीं

पूर्वपिण्डानुसन्धानुरूपसहकारिवैधुर्येणानुत्पत्तेः, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानवदिति। नन्वेतत्सदृशः स इति नेन्द्रियजन्यम्, तेन तस्यासम्बन्धात् ।

रहती। किन्तु उक्त प्रतीति के विषय 'अयम्' पदार्थ के साथ इन्द्रिय संयोग के बाद तुरत ही उक्त प्रतीति नहीं होती है। उस प्रतीति के विषय 'तत' पदार्थ के साथ साधर्म्य की चिन्ता भी आवश्यक होती है। अतः 'सादृश्य' की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती।

सि० प० न, पूर्वपिण्डानुसन्धान··· ··· ··· ···

उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'तत्सदृशोऽयम्' इस प्रतीति में 'अयम्' पद का अर्थ 'गवय' मुख्य विशेष्य रूप से भासित होता है। एवं विशेषण रूप से जिस 'सादृश्य' का उसमें भान होता है, उसमें भी निरूपितत्व सम्बन्ध से 'गो' पदार्थ विशेषण है, जो परोक्ष है। "विशिष्ट बुद्धि के प्रति विशेषण का ज्ञान कारण है" इस नियम से 'तत्सदृशोऽयम्' इस विशिष्ट बुद्धि के उत्पादन में उक्त 'सादृश्यज्ञान' एवं गो का कथित परोक्ष ज्ञान ये दोनों ही (विशेषण ज्ञान विधया) कारण होंगे। परोक्ष गो में इन्द्रिय संनिकर्ष की संभावना ही नहीं है। जैसे कि गवय रूप पिण्ड में चक्षु का संनिकर्ष होते ही पिण्ड का उसमें रहनेवाले रूपादि के साथ भी स्वसयुक्तसमवाय प्रभृति सम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृत 'तत्' पद के अर्थ 'गो' के प्रत्यक्ष के प्रयोजक किसी सम्बन्ध की संभावना नहीं है। अतः उक्त प्रतीति के लिये 'तत्' पद के अर्थ गो प्रभृति का स्मृति रूप अनुसन्धानात्मक ज्ञान ही मानना होगा। अतः प्रकृत में यही क्रम मानना होगा कि सबसे पहिले 'अयम्' पद के अर्थ गवय में चक्षु का संयोग होता है, फिर 'तत्' पद के अर्थ परोक्ष गो का स्मरण होता है, इसके बाद 'तत्सदृशोऽयम्' यह बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी लिये गवय के साथ चक्षु का संयोग होते ही उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में 'तत्सदृशोऽयम्' यह बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। जैसे कि 'सोऽयम् देवदत्त.' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान देवदत्त के साथ चक्षु संयोग के होते ही नहीं हो जाता। उसमें 'तत्' शब्द के अनुसन्धान के लिये एक क्षण का विलम्ब अवश्य होता है। अतः जिस प्रकार 'सोऽयम् देवदत्त.' इस प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष से भिन्न किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है, 'स्मृति सहकृत प्रत्यक्ष से ही उसकी उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृत में 'तत्सदृशोऽयम्' इत्यादि स्थलों में भी समझना चाहिये। अतः सादृश्य की प्रतीति के लिये उपमान के स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

पू० प० नन्वेतत् सदृशः सः··· ··· ··· ···

'तत्सदृशोऽयम्' इस स्थल में यद्यपि उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सादृश्य बुद्धि हो सकती है, तथापि 'एतत्सदृशः सः' इस आकार की बुद्धि की उपपत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से उक्त रीति से नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के मुख्य विशेष्य में इन्द्रिय का

न चेदं स्मरणम्, तत्पिण्डानुभवेऽपि विशिष्टस्याऽननुभवात्। न चैतदपि, 'अयं स' इति विपरीतप्रत्यभिज्ञानवदुपपादनीयम्।

साक्षात् सन्निकर्ष आवश्यक होता है। पूर्व स्थल में मुख्य विशेष्य है 'अयम्' पदार्थ, उसमें चक्षु का संयोग रूप संनिकर्ष सम्भव है। किन्तु "एतत्सदृशः सः" इस प्रकार के स्थलों में 'तत्' पदार्थ रूप मुख्य विशेष्य में इन्द्रिय का साक्षात्सम्बन्ध सम्भव नहीं है। क्योंकि संनिकर्ष सन्निहित एवं वर्त्तमान वस्तु में ही हो सकता है। 'तत्' पद के सभी अर्थ असंनिहित तो रहते ही हैं, अवर्त्तमान भी हो सकते हैं। अतः 'तत्' पद के अर्थों में असंनिहित्व प्रयुक्त तो अवश्य ही, कदाचित् अवर्त्तमानत्व प्रयुक्त भी चक्षु का संनिकर्ष संभव नहीं है। तस्मात् परोक्ष गो विशेष्यक एवं प्रत्यक्ष गवय निरूपित सादृश्य प्रकारक 'एतत्सदृशः सः' इस आकार का ज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष प्रमाण से संभव नहीं है, अतः उपमान नाम का एक स्वतन्त्र प्रमाण का मानना आवश्यक है।

न चेदम्··· ··· ··· ···

(इस पक्ष में कहा जा सकता है कि) 'तत्सदृशः सः' इस आकार का ज्ञान स्मृति रूप ही है, अनुभव रूप नहीं। प्रमा तो यथार्थानुभव रूप है, अतः उसी का करण प्रमाण हो सकता है। तत्सदृशः' इस आकार का ज्ञान चूँकि अनुभव रूप नहीं है, अतः उसकी उत्पत्ति के लिए प्रमा के करण (प्रमाण) की आवश्यकता ही नहीं है। यद्यपि कथित स्मृति से पूर्व 'तत्' पदार्थ का अनुभव अवश्य है, किन्तु सादृश्यविशिष्ट तत् पदार्थ का अनुभव नहीं है। क्योंकि विषय का पूर्वानुभव जिस रूप का रहता है, स्मृति भी उसी रूप से या उस से न्यून रूप से होने का ही नियम है। अतः पूर्वानुभव में गृहीत रूपों से अतिरिक्त किसी भी रूप से विषय की स्मृति नहीं हो सकती। तस्मात् 'तत्सदृशोऽयम्' इस आकार का पूर्वानुभव चूँकि नहीं है, अतः 'तत्सदृशोऽयम्' इस आकार की स्मृति नहीं हो सकती। इसलिये उक्त ज्ञान को स्मृति रूप नहीं माना जा सकता।

न चैतदपि··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में वैशेषिकगण कह सकते हैं कि) जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञा के समान 'तत्सदृशोऽयम्' इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा स्वरूप होने का उपपादन कर चुके है, उसी प्रकार 'एतत्सदृशः सः' इस ज्ञान को भी प्रत्यभिज्ञा स्वरूप मानकर इसकी उत्पत्ति स्मृति सहकृत प्रत्यक्ष से ही हो सकती है। इसके लिये भी 'उपमान' नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

तत्तेदन्तोपस्थापनक्रमविपर्ययेऽपि विशेष्यस्येन्द्रियेण सन्निकर्षाविरोधात्। तस्य सन्निहितवर्तमानगोचरत्वात्। प्रकृते तु तदभावात् तत्पिण्डस्मरणसहायमेतत्पिण्डवर्तिसादृश्यज्ञानमेव तथाविधं ज्ञानमुत्पादयदुपमानं प्रमाणमिति।

एतदपि नास्ति:—

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृते न किम्? ॥९॥

तत्तेदन्ता··· ··· ··· ···

(किन्तु वैशेषिकों का उक्त उत्तर) युक्त नहीं है। क्योंकि 'इदम्' पद के अर्थ का असाधारण धर्म है 'इन्दन्ता' एवं 'तत्' पद के अर्थ का असाधारण धर्म है 'तत्ता'। 'सोयम्' इस वाक्य में 'तत्ता' विशिष्ट का पहिले उपादान किया गया है, बाद में 'इदन्ता' विशिष्ट का। 'अयं सः' इस स्थल में ठीक इसके विपरीत 'इन्दता' विशिष्ट का पहिले और 'तत्ता' विशिष्ट का पीछे उपादान हुआ है। इस वैपरीत्य के रहते हुए भी 'अयं सः' इस स्थल में भी 'इदन्त्व' से युक्त पदार्थ ही विशेष्य है। क्योंकि 'तत्ता' से युक्त पदार्थ चूँकि परोक्ष है, अतः उसमें इन्द्रिय का संनिकर्ष हो ही नहीं सकता। जिस संनिकर्ष से प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होती है, वह संनिकर्ष वर्त्तमान एवं संनिहित विषय के साथ ही होता है। किन्तु 'सः' इस पद का अर्थ ही इस प्रतीति का मुख्य विशेष्य है, जो 'तत्ता' से युक्त होने के कारण परोक्ष है। इसके साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष संभव ही नहीं है। अतः 'एतत्सदृश सः' इस ज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती। तस्मात् 'एतत्ता' से युक्त गवय रूप 'एतत्' पदार्थ के सादृश्य का जो बोध 'तत्' शब्द के अर्थ परोक्ष गो में 'एतत्सदृशः सः इस आकार का होता है, उसी के लिये 'उपमान' नाम का स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ता है। अतः अनुमान से अतिरिक्त उपमान नाम का अतिरिक्त प्रमाण अवश्य है।

सि० प० एतदपि नास्ति··· ··· ··· ···साधर्म्यमिव···न किम्।

उपमान प्रमाण मानने की यह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो 'साधर्म्य' अर्थात् सादृश्य के बोधक उपमान प्रमाण के ही समान 'वैधर्म्य' अर्थात् वैसादृश्य का बोधक भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा। यदि वैसादृश्य का बोध अर्थापत्ति प्रमाण से मानेंगे तो तुल्य युक्ति से सादृश्य का बोध भी अर्थापत्ति प्रमाण से ही क्यों नहीं मान लेते?

यदा हि 'एतद्विसदृशोऽसौ' इति प्रत्येति, तत्रापि तुल्यमेतत्। न हि तत्प्रत्यक्षम्, असन्निकृष्टविषयत्वात्। न स्मरणम्, विशिष्टस्याननुभवात्। नोपमानम्, असादृश्यविषयत्वात्। नन्वेतद्धर्माभावविशिष्टत्वमेव तस्य वैधर्म्यम्, तच्चाभावगम्यमेवेष्यते। न च प्रकृतेऽपि तथाऽस्तु, सादृश्यस्य भावरूपत्वादिति चेन्न। इतो व्यावृत्तधर्मविशिष्टताया अपि वैधर्म्यरूपत्वात्। तस्य च भावरूपत्वात्।

यदा हि··· ··· ··· ···(श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या)

जिस प्रकार 'एतत्सदृशः सः' इस आकार की सादृश्य की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'एतद्विसदृशः सः' इस आकार की वैसादृश्य की भी प्रतीति होती है। इस वैसादृश्य विषयक प्रतीति की उपपत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रतीति का मुख्य विशेष्य भी 'तत्ता' से युक्त 'सः' पद का अर्थ ही है, अतः असंनिहित और अवर्त्तमान होने के कारण इन्द्रिय संनिकर्ष के योग्य नहीं है। एवं उक्त प्रतीति स्मृति रूप भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'एतद्वैसादृश्य' से युक्त पदार्थ का अनुभव पहिले नहीं है, यद्यपि 'तत्ता' से युक्त 'सः' पद के अर्थ का पूर्वानुभव है। प्रस्तुत 'उपमान' प्रमाण से भी वैसादृश्य का उक्त अनुभव नहीं हो सकता। क्योंकि उपमान प्रमाण सादृश्य का ही ज्ञापक है, वैसादृश्य का नहीं। तस्मात् 'एतत्सदृशः सः' इस प्रतीति के लिये यदि उपमान नाम का अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक हो, तो फिर 'एतद्विसदृशः सः' इस स्वारसिक प्रतीति के लिये भी उपमान से भिन्न किसी प्रमाण की आवश्यकता माननी होगी।

पू० प० नन्वेतद्धर्माभाव··· ··· ··· ···भावरूपत्वादितिचेत्

एतद्विसदृशः सः' इस प्रतीति का विषय है एतद् पदार्थ में रहनेवाले धर्म के अभाव से युक्त वस्तु। अर्थात् उक्त धर्माभाव प्रकारक उक्त तद् विशेष्यक प्रतीति ही उक्त वैसादृश्य की प्रतीति है। अभाव की प्रतीति के लिये अनुपलब्धि (अभाव) नाम का प्रमाण स्वीकृत ही है। अतः 'अभाव' नाम के प्रमाण से ही उक्त वैसादृश्य की प्रतीति उत्पन्न हो जायगी। इसके लिये अलग प्रमाण की कल्पना आवश्यक नहीं है। सुतराम् इस प्रतिबन्दि से उपमान के स्वतन्त्रप्रामाण्य का खण्डन नहीं होता। सादृश्य की प्रतीति अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें केवल अभाव के ज्ञापन की ही सामर्थ्य है। सादृश्य भावपदार्थ है। तस्मात् सादृश्य रूप भावपदार्थ के ज्ञापन के लिये उपमान को प्रमाण मानना आवश्यक है। एवं वैसादृश्य के ज्ञापन के लिये अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सि० प० न, इतः··· ··· ··· ···भावरूत्वात्।

उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह निश्चित नहीं है कि 'वैधर्म्य' अथवा 'वैसादृश्य' अभाव रूप ही हो। 'एतद्विसदृशः सः' इस प्रतीति से जिस प्रकार तद् पदार्थ में एतत पदार्थ

स्यादेतत्। तद्धर्मा इह न सन्तीत्यवगते, अर्थादापद्यते इहाऽविद्यमानास्तत्र सन्तीति। न हि तद्विधर्मत्वमेतस्योपपद्यते। यद्येतद्विधर्माऽसौ न भवतीति चेत्; एवं तर्हि प्रकृतमप्यर्थापत्तिरेव ।

में रहनेवाले धर्म का अभाव ज्ञात होता है, उसी प्रकार तत् पदार्थ में ही एतत्पदार्थ में अविद्यमान धर्म की सत्ता भी प्रतीत होती है। अतः जिसप्रकार 'वैधर्म्य' एतद्वृत्तिधर्माभाव रूप है, उसी प्रकार एतत्पदार्थ में अविद्यमान 'धर्म' रूप भी है। यह 'धर्म' भाव पदार्थ है। अतः केवल अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण से 'वैधर्म्य' की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिये उक्त प्रतिबन्दि ठीक है।

सि० प० तद्धर्मा··· ··· ··· ···न भवतीति चेत्

उक्त स्थल में अनुपलब्धि प्रमाण से जब यह ज्ञात हो जायगा कि एतत् पद के अर्थ में रहनेवाले धर्म तत् पद के अर्थ में नहीं हैं, तो इससे यह 'अर्थतः' उपपन्न हो जायगा कि एतत् पदार्थ में न रहनेवाला धर्म तत् पदार्थ में हैं। जब तक किसी वस्तु में वैधर्म्य के अवधि भूत पदार्थ में रहनेवाले धर्म का अभाव नहीं रहेगा, तब तक उस वस्तु में उक्त अवधिभूत पदार्थ में न रहनेवाले धर्म की सत्ता की प्रतीति उपपन्न नहीं हो सकती। अतः वैधर्म्य भाव रूप हो अथवा अभाव रूप, उसका ज्ञान परस्परानुपपत्ति से ही होता है। अतः वैधर्म्य का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से ही होगा। इसके लिये किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। (यही बात श्लोक के तीसरे चरण से कही गयी है।)

सि० प० एवं तर्हि··· ··· ··· ···

इस प्रकार तो सादृश्य का ज्ञान भी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से ही सकता है। इसके लिये उपमान प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात 'गवय' में पहिले देखे हुए गो के सादृश्य विषयक ज्ञान का ही अभिलाप 'तत्सदृशोऽयम्' इस वाक्य के द्वारा होता है। किन्तु भाट्टगण सादृश्य को जाति पदार्थ मानते हैं। अतः गवय का ज्ञान जिस प्रत्यक्ष प्रमाण से होगा, उसी से उसमें रहनेवाली सादृश्य स्वरूप जाति का भी भान होगा। फलतः उक्त जाति रूप सादृश्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होगा।

यह अनुभव से सिद्ध है कि जिस एक वस्तु में दूसरे वस्तु का सादृश्य रहेगा, उस दूसरे वस्तु में भी उक्त एक वस्तु का सादृश्य अवश्य रहेगा। यह तो संभव नहीं है कि गवय में गो का सादृश्य रहे, किन्तु गो में गवय का सादृश्य न रहे। अतः यह मानना ही होगा कि गवय में यदि गो का सादृश्य है तो फिर गो में भी गवय का सादृश्य अवश्य है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यदि गो में गवय का सादृश्य नहीं है, तो गवय में भी गो का सादृश्य

न हि तत्सादृश्यविशिष्टत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धमपि तस्यैतत्सादृश्यविशिष्टत्वं विनोपपद्यते ।

एतेन दृष्टासन्निकृष्टप्रत्यभिज्ञानं व्याख्यातम् । तत्रापि तद्धर्मशालित्वं तस्य स्मरणाभिव्यक्तमनुपपद्यमानं तदिदन्तास्पदस्यैकतां व्यवस्थापयति । तस्मान्नोपमानमधिकमिति ।

नहीं है । इस प्रकार यदि गवय में गो का सादृश्य है ही नहीं, तो फिर उस सादृश्य का ज्ञान इन्द्रिय से कैसे होगा ? अतः गो में रहनेवाले गवय के सादृश्य के बिना गवय में रहने वाले गो का सादृश्य अनुपपन्न है । इस अनुपपत्ति से यह सिद्ध होता है कि गवय में रहनेवाले गो साश्दृय का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता । 'अनुपपत्ति का ज्ञान' ही 'अर्थापत्ति' है । अतः सादृश्य का ज्ञान भी अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है । जब प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होनेवाले गवय निष्ठ गोसादृश्य के ज्ञान की दशा अर्थापत्ति के बिना ऐसी है, तो फिर गो निष्ठ गवय सादृश्य को अनुपपत्तिज्ञान (अर्थापत्ति) के बिना क्या दशा होगी ? जिसके प्रत्यक्ष की कोई संभावना ही नहीं है । तस्मात् यह कहा जा सकता है कि उक्त अनुपपत्तित्व ज्ञान के बिना गोनिष्ठ गवयसादृश्य का ज्ञान संभव नहीं है, अतः उक्त सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति अर्थापत्ति प्रमाण से ही होगी । इसके लिये 'उपमान' को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

एतेन··· ··· ··· ···दृष्टासंनिकृष्ट

किसी सम्प्रदाय का कहना है कि पहिले देखे हुए एवं मध्य में न देखे गये, किन्तु वर्तमान काल में चक्षु से संनिकृष्ट देवदत्त में जो 'यः मथुरायां पूर्वं दृष्टः स एव अधुना उज्जयिन्यां दृश्यते" इस आकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, उसी के करण रूप में उपमान प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है ।

अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा साधर्म्य एवं वैधर्म्य के बोध की उपपत्ति के कथन से इस पक्ष का भी समाधान हो जाता है । क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ही उक्त प्रत्यभिज्ञा की भी उपपत्ति होगी । इसमें यह युक्ति है कि पूर्वप्रतीत एवं अधुना दृष्ट देवदत्त में एकत्व की उपपत्ति के बिना उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं हो सकती । एकत्व की यह उपपत्ति तबतक संभव नहीं है, जब तक कि पूर्व, अपर और मध्य तीनों ही कालों में एक ही देवदत्त का रहना स्वीकृत न हो । अर्थात् जिस वस्तु को पहिले देखा था, एवं अभी देख रहा हूँ, उस वस्तु का यदि मध्यकाल में विनाश हो गया रहता तो अभी उसका देखना संभव न होता । अतः 'जिस वस्तु को मैंने पहिले देखा था, उसी वस्तु को मैं अभी देख रहा हूँ' इस

एवं प्राप्ते अभिधीयते—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥१०॥

'यथा गौस्तथा गवय' इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य गोसदृशं पिण्डमनुभवतः स्मरतश्च वाक्यार्थमयमसौ गवयशब्दवाच्य इति भवति मतिः ।

प्रत्याभिज्ञान के विषय उक्त एकत्व का प्रयोजक उसका मध्यकाल में रहना ही है। इस मध्यकाल वृत्तित्व की उपपत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक कि 'तदास्पद' अर्थात् तत्पदवाच्य फलतः परोक्ष (पूर्वदृष्ट) देवदत्त एवं 'इदमास्पद' इदम् शब्द वाच्य फलतः प्रत्यक्ष देवदत्त का एकत्व अथवा अभेद उपपन्न न हो। तस्मात् उक्त अभेद प्रमा की उत्पत्ति मध्यकालवृत्तित्व की अनुपपत्ति विषयक ज्ञान रूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही होगी, इसके लिये भी उपमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० एवम् ··· ··· ··· ··· प्राप्ते ··· ··· ··· ···

(कथित रीति से वैशेषकों के द्वारा उपमान के पृथक्प्रामाण्य का खण्डन प्राप्त होने पर मैं (सिद्धान्ती) 'सम्बन्धस्य परिच्छेदः' इत्यादि श्लोक से) कहता हूँ कि

'संज्ञा' अर्थात् गवयादि नाम, एवं 'संज्ञी' अर्थात् गवयादि अर्थ इन दोनों में जो 'संकेत' अथवा 'शक्ति' नाम का सम्बन्ध है, उसके 'परिच्छेद' अर्थात् प्रमाज्ञान को ही उपमान प्रमाण का फल समझना चाहिये। क्योंकि उक्त 'परिच्छेद' रूप प्रमाज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्षादि अन्य किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है।[1]

सि० प० यथा गो ··· ··· ··· ···

जहां किसी ने किसी आप्त (प्रामाणिक) पुरुष के द्वारा 'गोसदृशो गवयः' यह वाक्य सुन रक्खा है। बाद में बन में जाने पर 'गोसदृश' एक पिण्ड का उसे प्रत्यक्ष हुआ। उसके बाद उसी व्यक्ति को 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्यार्थ का स्मरण हुआ। इसके बाद उस पुरुष को 'असौ गवयपदवाच्यः' (यही पिण्ड गवय शब्द का अर्थ है) इस आकार का

---

1. ८ वीं और ९ वीं कारिकाओं से वैशेषिकों की इस दृष्टि से ईश्वरसिद्धि की बाधकता खण्डित हुई है कि उपमान नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण ही नहीं है। किन्तु नैयायिक तो उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अतः वैशेषिकों की युक्ति से वे उपमान में ईश्वरसिद्धि की बाधकता का खण्डन नहीं कर सकते। एवं उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का स्थापना भी उन्हें आवश्यक है। अतः १०वीं कारिका से १२वीं कारिका पर्यन्त के सन्दर्भ से आचार्य ने उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का समर्थन एवं उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में बाध का खण्डन इन दोनों का संपादन किया है। इसी दृष्टि से 'एवम्' इत्यादि अवतरण लिखा गया है। 'यथा गौः' इत्यादि गद्यसन्दर्भ के द्वारा श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या की गयी है।

सेयं न तावत् वाक्यमात्रफलम्, अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात्। नापि प्रत्यक्षफलम्, अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात्। नापि समाहारफलम्, वाक्यप्रत्यक्षयोभिन्नकालत्वात्।

बोध होता है। इसी 'असौ गवयपदवाच्यः' इस आकार की शक्तिज्ञान रूप प्रमा का करण 'उपमान' प्रमाण है।

चूँकि यह शक्तिज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है, अतः इसके लिये एक अतिरिक्त प्रमाण का मानना अनिवार्य है। इस अतिरिक्त प्रमाण का ही नाम 'उपमान' है।

सेयं न तावद् ··· ··· ··· ···

उक्त प्रमाज्ञान की उत्पत्ति 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्य रूप शब्द प्रमाण से ही नहीं हो सकती। क्योंकि जो पुरुष केवल उस वाक्य को ही सुना है, प्रत्यक्ष के द्वारा 'गोसदृश' पिण्ड को नहीं देखा है, उसको उक्त शक्तिज्ञान नहीं होता है। यदि उक्त शक्तिज्ञान की उत्पत्ति केवल उक्त अतिदेशवाक्य जनित बोध से मानें तो, फिर जो पुरुष गवय को नहीं देखा है, किन्तु 'गोसदृशो गवयः' यह वाक्य सुन चुका है, उसको भी उस शक्ति का ज्ञान होना चाहिये, किन्तु सो इष्ट नहीं है। अतः केवल शब्द प्रमाण से उक्त शक्तिज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

नापि प्रत्यक्ष ··· ··· ··· ··· प्रसङ्गात्

(कदाचित् यह कहें कि चूँकि गवय का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है, अतः गवय में रहनेवाले शक्ति का प्रत्यक्ष भी चक्षु से ही होगा। फलतः शक्ति का उक्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जायगा, इसके लिये उपमान नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं है)। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करेंगे, तो जो पुरुष 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य को कभी नहीं सुना है, किन्तु अरण्य में जाने पर गोसदृश उस पिण्ड को देखा भर है, उस पुरुष में भी शक्ति का बोध मानना होगा। अतः शक्ति का उक्त ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं माना जा सकता।

नापि ··· ··· ··· ··· समाहार ··· ··· ··· ··· भिन्नकालत्वात्

(इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि केवल शब्द प्रमाण से अथवा केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से गवयपद की शक्ति का ज्ञान भले ही न हो, किन्तु शब्द प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों मिलकर तो उक्त शक्तिप्रमा का संपादन कर सकते हैं। ऐसा स्वीकार कर लेने पर केवल 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य को सुननेवाले पुरुष में अथवा केवल आँखों से गवयपिण्ड को देखनेवाले पुरुष में उक्त शक्ति प्रमा की आपत्ति नहीं होगी। अतः उक्त शक्तिज्ञान के लिये अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है)।

वाक्यतदर्थयोः स्मृतिद्वारोपनीतावपि गवयपिण्डसम्बन्धेनापीन्द्रियेण तद्गतसादृश्यानुपलम्भे समयपरिच्छेदासिद्धेः।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ मिलकर किसी कार्य को उत्पन्न करेंगे, उस कार्य से अव्यवहितपूर्वक्षण में उन दोनों कारणों का सम्मिलन आवश्यक है। किन्तु 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य का श्रवण रूप कारण शक्तिप्रमा से बहुत पहिले में रहता है। एवं गवय के साथ चक्षु का संनिकर्ष रूप कारण उससे बहुत पश्चात् काल में उत्पन्न होता है। अतः विभिन्नकालिक ये दोनों पदार्थ मिलकर 'शक्तिपरिच्छेद' का संपादन नहीं कर सकते। इसलिये इस प्रकार से भी उपमान के स्वतन्त्रप्रामाण्य का खण्डन नहीं किया जा सकता।

पू० प० वाक्यतदर्थयो ··· ··· ··· ···

जिस समय गवय में चक्षु का संनिकर्ष है, उस समय 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य का श्रवण रूप अनुभव अथवा उक्त वाक्यार्थबोध रूप अनुभव भले ही न रहे, किन्तु उक्त वाक्य की अथवा वाक्यार्थ की स्मृति तो रह सकती है। अतः इस स्मृति के द्वारा प्रत्यक्ष एवं शब्द का समाहार हो सकता है। इसलिये समाहार को असंभव मान कर जो उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का मण्डन किया गया है, वह उचित नहीं है।

सि० प० गवयपिण्डसम्बन्धेन ··· ··· ··· ···

समाधान का उक्त प्रयास भी ठीक नहीं है, क्योंकि गवयरूप पिण्ड में इन्द्रियसम्बन्ध के रहने पर भी जबतक सादृश्य का ज्ञान नहीं होता, तबतक 'समयपरिच्छेद' अर्थात् 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इस आकार का शक्तिज्ञान नहीं उत्पन्न होता। ऐसा कोई निर्णय नहीं है कि गवय प्रत्यक्ष के हो जाने पर गोसादृश्य का ज्ञान हो ही जायगा, क्योंकि भट्टमतानुयायियों की तरह आप (वैशेषिकगण) 'सादृश्य' को जाति नहीं मानते। जिससे यह कहा जा सके कि गवय का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है, उसमें रहनेवाली जाति स्वरूप सादृश्य का भी प्रत्यक्ष उसी से होगा। उक्त 'समयपरिच्छेद' अथवा शक्तिप्रमा चाहे जिस किसी प्रमाण से हो, किन्तु वह 'प्रमाण' सादृश्यज्ञान रूप व्यापार के द्वारा ही उसका उत्पादन करेगा। किन्तु सादृश्यज्ञान रूप व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण, उक्त समय परिच्छेद का जनक नहीं है, क्योंकि यह निश्चित है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यापार केवल इन्द्रिय संनिकर्ष' ही होता है।

फलसमाहारे तु तदन्तर्भावे अनुमानादेरपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः।

अतः समयपरिच्छेद रूप प्रमा का करण (प्रमाण) प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार उक्त समय परिच्छेद का प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न न होना निश्चित है, तो फिर वह प्रत्यक्ष घटित किसी समाहार का फल हो ही नहीं सकता। 'गोसदृशो गवयः' इस आकार के शाब्दबोध से जो संस्कार के द्वारा स्मृति उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं हो सकती, क्योंकि व्यापार को व्यापारी से—करण से उत्पन्न होना चाहिये।[1]

पू० प० फलसमाहारे तु ··· ··· ··· ···

(प्रत्यक्ष प्रमाण एवं शब्द प्रमाण इन दोनों के समाहार से उपमान प्रमाण का निरास भले ही संभव न हो किन्तु) 'फलसमाहार' के द्वारा उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का खण्डन किया जा सकता है (उसकी यह रीति है कि ये दो बातें अवश्य स्वीकरणीय है कि—'समय परिच्छेद' रूप प्रमा सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न होती है, एवं सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यापार न होने पर भी उस से उत्पन्न होता है। एवं यह भी सर्वसिद्ध है कि 'गोसदृशो गवय.' इस अतिदेश वाक्य के अर्थ भी उक्त समयपरिच्छेद के लिये आवश्यक है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि प्रत्यक्ष के 'फल' सादृश्यज्ञान, एवं वाक्य रूप शब्द प्रमाण के 'फल' वाक्यार्थस्मृति इन दोनों फलों के समाहार अर्थात् सम्मिलन से ही उक्त समयपरिच्छेद की उत्पत्ति होती है। जिस प्रमाण के फल के द्वारा जो प्रमिति उत्पन्न होती है, वही प्रमाण उस प्रमिति का करण होता है। जैसे कि वाक्यार्थस्मरण से उत्पन्न शाब्दबोध रूप प्रमिति का करण शब्द प्रमाण होता है, एवं इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष

१. अभिप्राय यह है कि व्यापार से युक्त असाधारण कारण ही 'करण' है। प्रमा का यह 'करण' ही प्रमाण है। 'समयपरिच्छेद' स्वरूप प्रमा की उत्पत्ति यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से मानेंगे, तो इस प्रत्यक्ष के व्यापार का अन्वेषण करना होगा। इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, विषयों के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष ही उसका व्यापार है। किन्तु इस व्यापार के रहते हुये भी सादृश्यज्ञान के विना 'समयपरिच्छेद' रूप प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः सादृश्यज्ञान को ही उन प्रमा का रूप फल का व्यापार मानना होगा। यह सादृश्यज्ञान इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होने पर भी प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि यह निर्णीत है कि इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यापार हो सकता है। अतः सादृश्यज्ञान रूप व्यापार से उत्पन्न 'समयपरिच्छेद' प्रत्यक्षप्रमाण का फल नहीं हो सकता।

तत् किं तत्फलस्य तत्प्रमाणबहिर्भाव एव, अन्तर्भावे वा कियती सीमा ?।

से उत्पन्न प्रत्यक्षप्रमिति का करण प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, उसी प्रकार उक्त समयपरिच्छेद रूप प्रमा शब्द एवं प्रत्यक्ष इन दोनों प्रमाणों के फलों से निष्पन्न होती है, इसलिये शब्द एवं प्रत्यक्ष ये दोनों ही उक्त 'समयपरिच्छेद' रूप प्रमा के करण हैं। अतः उपमान नाम के किसी अतिरिक्त प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है।

अनुमानदेरपि ··· ··· ··· ··· प्रसङ्गः

इस प्रकार तो अनुमान और शब्द का भी स्वतन्त्र प्रामाण्य विपन्न हो जायगा। क्योंकि अनुमिति का व्यापार रूप कारण है लिङ्गपरामर्श। प्रायः उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण का भी उपयोग अवश्य होता है। अतः कथित फलसमाहारन्याय से अनुमिति का करण भी प्रत्यक्ष होगा। जिससे अनुमान नाम के स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं रह जायगी। इसी प्रकार शाब्दबोध का कारण है पदज्ञान। यह पदज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न होता है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण ही शाब्दी प्रमा (शाब्दबोध स्वरूप प्रमा) का भी करण होगा। इसके लिये शब्द नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता भङ्ग हो जायगी। तस्मात् यह नियम नहीं किया जा सकता कि जिस प्रमिति के उत्पादन में जिस-जिस प्रमाण के फलों का उपयोग हो, वे सभी प्रमाण उस प्रमिति के करण अवश्य हों। इसलिये 'समयपरिच्छेद' रूप प्रमिति में प्रत्यक्ष एवं शब्द इन दोनों प्रमाणों का उपयोग रहने पर भी 'समयपरिच्छेद' प्रत्यक्ष प्रमिति एवं शाब्द प्रमिति दोनों नहीं कहला सकती। जैसे कि अनुमिति में प्रत्यक्षादि चारो प्रमाणों का उपयोग होने पर भी वह 'अनुमिति' ही कहलाती है- प्रत्यक्षादि नहीं। अथवा शब्द प्रमाण से शाब्द-प्रमिति के उत्पादन में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों का उपयोग होने पर भी शब्द प्रमाण जनित प्रमिति शाब्दबोध ही कहलाती है, अनुमिति अथवा प्रत्यक्ष नहीं। इसी प्रकार प्रकृत 'समय-परिच्छेद' रूप उक्त प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष एवं शब्द इन दोनों प्रमाणों की अपेक्षा रहने पर भी वह उक्त दोनों प्रमाणों का समाहृत फल नहीं कहला सकती।

तत्किम् ··· ··· ··· ··· साहित्यम्

(इस पर वैशेषिकगण कह सकते हैं कि यदि ऐसा ही हो तो सविकल्पकज्ञानस्वरूप प्रमा प्रत्यक्ष प्रमिति नहीं कहलायगी। क्यों कि इन्द्रिय से तो पहिले निर्विकल्पकप्रत्यक्ष ही होता है। उसके बाद सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। यदि इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष से उत्पन्न

तत्तदसाधारणेन्द्रियादिसाहित्यम् ।

निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा उत्पादित सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमिति कहला सकती है, तो फिर कथित 'समयपरिच्छेद' प्रत्यक्ष प्रमिति एवं शाब्दप्रमिति क्यों नहीं कहला सकती ? अथवा उसके करण शब्द एवं प्रत्यक्ष दोनों ही क्यों नहीं हो सकते, अगर हैं तो उसकी 'सीमा' कहाँ है ? (अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का कितना अथवा कैसा उपयोग रहने पर प्रमिति प्रत्यक्ष कहलायगी ? अथवा प्रत्यक्ष का उपयोग रहने पर भी किस स्थिति में प्रतीति प्रत्यक्ष नहीं कहलाकर अनुमिति अथवा शाब्दबोध कहलायगी ? भिन्न-भिन्न प्रकार के किन उपयोगों से प्रत्यक्ष, शब्द प्रभृति भिन्न-भिन्न प्रमाणों का व्यवहार होगा ?)

सि० प० तत्तदसाधारण ... ...

जिस प्रमिति के अव्यवहित पूर्वक्षण में इन्द्रियादि में से जिसके असाधारण व्यापार की अवश्य ही अपेक्षा होती है, वही (इन्द्रियादि ही) उस प्रमिति का करण है, वही उस प्रमिति का जनक प्रमाण है। उस प्रमाण से ही प्रमितियों में भी प्रत्यक्ष अनुमित्यादि के व्यवहार नियमित रूप से उपपन्न होते है ।[1]

---

१. कार्यों का एक 'साधारण' कारण होता है एवं दूसरा 'असाधारण'। जिस प्रमिति के उत्पादन में जिस प्रमाण का असाधारणकारण रूप से उपयोग हो वह 'प्रमिति उसी प्रमाण के कार्य रूप से प्रसिद्ध होगी। एवं उस प्रमिति का वही प्रमाण होगा। साधारण कारणों में यह नियम नहीं है कि वे कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में अवश्य रहें। ऐसा भी होता है कि साधारण कारण अपने व्यापार का सम्पादन कर पहिले ही निवृत्त हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमा सभी प्रमितियों का साधारण कारण है। सभी प्रमाओं की उत्पत्ति में इन्द्रियों का किसी न किसी प्रकार अवश्य उपयोग होता है। किन्तु जिस प्रकार उसका असाधारण उपयोग प्रत्यक्षप्रमिति के लिये अपेक्षित है, उस प्रकार अनुमिति अथवा शाब्द प्रमिति में उसका उपयोग अपेक्षित नहीं है। इसी लिये प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होने पर भी शाब्दप्रमिति अथवा अनुमितिप्रमिति 'प्रत्यक्षप्रमिति' नहीं कहलाती। किं वा शब्द प्रमाण का अथवा अनुमानप्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं होता।

अस्ति तर्हि सादृश्यादिज्ञानकाले विस्फारितस्य चक्षुषो व्यापारः ?

न । उपलब्धगोसादृश्यविशिष्टगवयपिण्डस्य वाक्यतदर्थस्मृतितः कालान्तरेऽप्यनुसन्धानबलात् समयपरिच्छेदोपपत्तेः ॥ १० ॥

ननु च वाक्यादेवाऽनेन समयः परिच्छिन्नः 'गोसदृशस्य गवयशब्दः संज्ञेति', केवलमिदानीं प्रत्यभिजानात्ययमसाविति । प्रयोगाद्वानुमितः, यो यत्राऽसति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः प्रयुज्यते स तस्य वाचको यथा गोशब्द एव गोः, प्रयुज्यते चायं गोसदृश इति किमुपमानेनेति ? ।

पू० प० अस्तु तर्हि ··· ··· ··· ···

यदि कथित व्यवस्था के अनुसार ही प्रमाण प्रमिति की व्यवस्था हो, तो फिर उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में अनिवार्य है, क्योंकि गवयनिष्ठ गोसादृश्य के ज्ञान के अव्यवहित पूर्व क्षण में 'विस्फारित' चक्षु के व्यापार की अवश्य अपेक्षा होती है ।

सि० प० न, उपलब्ध ··· ··· ··· ··· उपपत्तेः ।

उपमान प्रमाण का फल है 'अयं गवयपदवाच्यः' इस आकार की 'प्रमिति' अथवा 'समयपरिच्छेद' । यह 'समयपरिच्छेद' चक्षुव्यापार के रहने पर भी होता है । किन्तु जिस स्थल में पहिले ही गो सादृश्य से युक्त रूप से गवय का प्रत्यक्ष हो चुका है, उससे बहुत समय बाद भी यदि उस प्रमाता में गवय की अनुरूप स्मृति रहती है तो 'कालान्तर' में भी अर्थात् जिस समय चक्षु का व्यापार नहीं भी रहता है, उस समय भी उक्त अनुसन्धान (स्मृति) के द्वारा उक्त 'समयपरिच्छेद' रूप उपमिति होती है । अतः उपमिति में प्रत्यक्ष का असाधारण उपयोग नहीं है । इस लिये उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता ॥ १० ॥

पू० प० ननु च वाक्यादेव ··· ··· ··· ···

(उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में भले ही न हो किन्तु) 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य रूप शब्द प्रमाण से 'समय' अर्थात् गोसदृश में गवय पद की शक्ति 'परिच्छिन्न' अर्थात् निश्चित (प्रमित) हो जायगी । उस निश्चय का आकार होगा 'गवयशब्दः गो सदृशस्य संज्ञा' । इस प्रकार शब्द प्रमाण से ही उपमान प्रमाण का कार्य उक्त समयपरिच्छेद उपपन्न हो जायगा । अरण्य में जाने पर केवल 'अयमसौ' (अर्थात् गोसदृश जिस धर्मी को मैं ने गवयशब्दवाच्यत्व रूप से समझा था सो 'यही' है) इस प्रकार की केवल प्रत्यभिज्ञा ही होती है ।

यो यत्र ··· ··· ··· ···किमुपमानेन

अथवा 'प्रयोग' से अर्थात् अनुमान के प्रयोग से 'समय' का अर्थात् शक्ति का उक्त परिच्छेद हो सकता है । अर्थात् अनुमान प्रमाण से ही जो समयपरिच्छेद रूप अनुमिति होती है, उसी को 'नैयायिकादि 'उपमिति' नाम की एक स्वतन्त्र प्रमिति मान कर, उसके लिये एक उपमान

न।

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः ।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयाऽपि वा ॥११॥

नाम का अतिरिक्त प्रमाण ही मान लेते हैं। अनुमान प्रयोग का स्वारस्य यह है कि वृद्धगण जिस बोध की इच्छा से जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, यदि उस शब्द में उस अर्थ को समझाने को लक्षणा प्रभृति कोई 'वृत्ति' नहीं है, तो फिर समझना चाहिये कि उस शब्द में उस अर्थ को समझाने की 'अभिधा' वृत्ति या 'शक्ति' नाम की 'वृत्ति' ही है। अतः वह शब्द उस अर्थ का वाचक है। एवं वह अर्थ उस शब्द का वाच्य 'अर्थ' है। क्योंकि 'अभिधा' वृत्ति ही वाच्यत्व और वाचकत्व की नियामिका है।

प्रकृत में 'गोसदृश' अर्थ को समझाने के लिये वृद्धगण 'गवय' शब्द का प्रयोग करते हैं। गवय पद में गो सदृश को समझानेवाली लक्षणा प्रभृति कोई अन्य वृत्तियां नहीं हैं। अतः यह समझना चाहिये कि गवय पद गोसदृश का वाचक है। इस प्रकार उक्त समयपरिच्छेद का कार्य जब अनुमान प्रमाण से ही हो जायगा, तो फिर उपमान नाम के स्वतन्त्र प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है?

सि० प० न, सादृश्यस्यानिमित्तत्वात् ... ...

गोसादृश्य गवय पद का 'निमित्त' अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त' नहीं है। गवयत्व ही गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त है। क्योंकि बराबर बन में ही रहने वाले लोग सादृश्य को न जानते हुये भी गवय शब्द का प्रयोग करते हैं। जब तक प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान नहीं हो जाता, जब तक शक्ति का ज्ञान संभव ही नहीं है। 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य से उस गोसादृश्य को ही प्रतीति होती है, जो गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है। गवय पद के प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व का बोध उस वाक्य से नहीं होता है। अतः उक्त वाक्य रूप शब्द प्रमाण से 'समयपरिच्छेद' नहीं हो सकता।

एवं शक्ति (समय) ज्ञान के बिना पद में वाचकत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। इस 'समयपरिच्छेद की उपपत्ति अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकती। क्योंकि समय का परिच्छेद जिस अनुमान से वैशेषिकगण करना चाहते हैं, उसका 'गवयशब्दो गवयस्य वाचकः असति वृत्त्यन्तरेऽभियुक्तैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात् गवि गोशब्दवत्' यह आकार है। हेतु वाक्य में जो 'असति वृत्यन्तरे, पद है, उस से होनेवाला विशिष्टबोध 'शक्ति' ज्ञान के बिना असम्भव है। जब यह ज्ञात हो जायगा कि गवय पद की अभिधावृत्ति (शक्ति) ज्ञान से ही गवय रूप अर्थ का बोध होता है, उसके बाद ही यह समझा जा सकता है कि गवय पद से गवयरूप अर्थ को समझाने की लक्षणा प्रभृति वृत्तियाँ नहीं है। 'वृत्यन्तराभाव'

न हि गवयशब्दस्य सादृश्यं प्रवृत्तिनिमित्तम्, अप्रतीतगूनाम्*व्यवहारप्रसङ्गात् ।
न चोभयमपि निमत्तम्, स्वयं प्रतीतसमयसंक्रान्तये अतिदेशवाक्यप्रयोगानुपपत्तेः ।

रूप हेतु के विशेषण (हेतुतावच्छेदक) ज्ञान के न रहने से उस विशेषण से युक्त हेतु से उक्त अनुमिति नहीं हो सकती ।[1]

न हि ··· ··· ··· ···

गोसादृश्य गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है । क्योंकि प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूप धर्म का ज्ञान भी शब्द से उत्पन्न अर्थ के व्यवहार का कारण है । यदि गोसादृश्य को गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त मानेंगे तो गवय शब्द के प्रयोग करनेवाले पुरुष के लिए गोसादृश्य का ज्ञान आवश्यक होगा । गोसादृश्य का ज्ञान गोविषयकज्ञान के बिना सम्भव नहीं हैं । अतः बराबर बन में ही रहनेवाले जिस पुरुष ने कभी गाय नहीं देखी हैं, उसके द्वारा होनेवाला गवयपद का व्यवहार अनुपन्न हो जायगा । किन्तु बन में रहनेवाला भी गवयपद का व्यवहार करता है, अतः गो सादृश्य गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है ।

पू० प० न चोभयमपि ··· ··· ··· ···

कदाचित् यह कहें कि 'गोसादृश्य एवं गवयत्व ये दोनों ही विकल्प से गवयपद के प्रवृत्तिनिमित्त हैं । नागरिक पुरुष गवय पद का प्रयोग गोसादृश्य रूप प्रवृत्तिनिमित्त के द्वारा करते हैं । अरण्यस्थ पुरुष गवयत्व रूप प्रवृत्तिनिमित्त के द्वारा गवय पद का प्रयोग करते है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि गोसादृश्य गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त है ही नहीं ।

सि० प० स्वयमपि ··· ··· ··· ···

जिस समय नगरवासी पुरुष अरण्य के उस प्रदेश में जा पहुँचता है, एवं वहाँ के निवासियों के मुख से 'गवय' पद से युक्त वाक्य को सुनता है, तो स्वभावतः वह नागरिक उस आरण्यक पुरुष से जिज्ञासा प्रकट करता है कि 'गवय पद का कौन सा अर्थ है ?' इस के उत्तर में वह बनस्थ व्यक्ति उस 'गो' के बाधक शब्द से युक्त 'गोसदृशो गवयः'

---

1. 'न हि गवयशब्दस्य' यहाँ से लेकर १२ वें श्लोक एवं उसकी गद्यव्याख्या के 'मानान्तरमनुसरणीयम्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ प्रकृत श्लोक से उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव प्रतिपादक अंश की ही व्याख्या स्वरूप है । इस श्लोक के 'नानुमयापि वा' इस अंश से जो उपमान के अनुमान में अन्तर्भाव की बात कही गयी है । उसी की व्याख्या 'अस्त्वनुमानम्' आगे के इस गद्यसन्दर्भ से की गयी है ।

* 'अप्रतीतगूनाम्' न प्रतीतो गौर्यस्य असौ अप्रतीतगुः तेषाम् ।

गवयत्वे ह्ययं व्युत्पन्नो वृद्धव्यवहारान्न सादृश्ये। कथमेतन्निर्धारणीयमिति चेत्; वस्तुगतिस्तावदियम् । तदापाततः सन्देहेऽपि न फलसिद्धिः गन्धवत्त्वमिव पृथिवीत्वस्य, गोसादृश्यं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्योपलक्षणमिदमेव वा निमित्तमित्यनिर्धारणात् ।

इस वाक्य का प्रयोग करता है, जिस गो शब्द के अर्थ का ज्ञान नागरिक पुरुष को पहिले से ही रहता है। ऐसे स्थलों में 'व्यवहार' के द्वारा शक्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः स्वयं बनस्थ पुरुष में गवय पद की शक्ति का जिस प्रकार का ज्ञान है, उसी आकार के शक्तिज्ञान उत्पादन का नागरिक पुरुष के लिये उक्त 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य का प्रयोग वह करता है। किन्तु वनस्थपुरुष को गवय पद के शक्ति का ज्ञान तो वृद्धव्यवहार के द्वारा गवयत्व रूप प्रवृत्तिनिमित्त रूप से ही है, गोसादृश्य रूप से नहीं। फिर अरण्यस्थ पुरुष दूसरे को समझाने के लिये 'गोसदृशो गवयः' इस आकार के वाक्य का प्रयोग कैसे करेगा ? अतः गोसादृश्य गवयपद का प्रवृत्तनिमित्त नहीं है।

पू० प० कथमेतत् ··· ··· ··· ···

यह कैसे निर्णय करेंगे कि गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व ही है, गोसादृश्य नहीं ? (अर्थात् इस के लिए विशेष युक्ति की आवश्यकता है।

सि० प० वस्तुगति ··· ··· ··· ···

यह तो 'वस्तुस्थिति' है। अर्थात् गवयत्व ही प्रवृत्तिनिमित्त है गोसादृश्य नहीं, यह तो जल के शैत्य की तरह वस्तुस्थिति के अनुसार निर्विवाद है[1] ।

सि० प० तदापातत ··· ··· ··· ···

यद्यपि कथित युक्ति के द्वारा यह स्थिर है कि गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व ही है, गो सादृश्य नहीं। तथापि 'आपाततः' इस निर्द्धारण को न मानकर यह सन्देह ही मानें कि 'गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त गवयत्व है ? अथवा गोसादृश्य ? तथापि वैशेषिकों के 'फल' की उपमान का शब्द में अन्तर्भाव रूप अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि अतिदेश वाक्य से उक्त समय परिच्छेद तभी हो सकता है, जब यह निश्चित रहे कि 'गोसादृश्य ही गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त है। उक्त अनिर्धारण से यह सन्देह तो उपस्थित हो ही जायगा कि 'गोसादृश्य ही गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, गवयत्व उसका उपलक्षण है' अथवा गवयत्व

---

१. सिद्धान्तियों का अभिप्राय है कि गवयत्व है जाति, अतः वह लघु है। गोसादृश्य है उपाधि, अतः गुरु है। यदि किसी लघु रूप धर्म को प्रवृत्तिनिमित्त मानकर कार्य का निर्वाह हो सके, तो किसी गुरु धर्म को प्रवृत्तिनिमित्त मानना अन्याय्य है। इस युक्ति के सर्वस्वीकृत होने के कारण ही आचार्य ने इसको 'वस्तुगति' की संज्ञा दी है।

स्यादेतत् । पूर्वं निमित्तानुपलब्धेर्न फलसिद्धिः, इदानीं तु तस्मिन्नुपलब्धे तदेव वाक्यं स्मृतिसमारूढं फलिष्यति, अध्ययनसमयगृहीत इव वेदराशिरङ्गोपाङ्गपर्यवदातस्य कालान्तरे। न च वाच्यं वाक्येन स्वार्थस्य प्रागेव बोधितत्वात् प्रागेव पर्यवसितमिति । गोसादृश्यस्योपलक्षणनिमित्तत्वयोरन्यतरत्र तात्पर्ये सन्देहात् । इदानीं तु गवयत्वेऽवगते तर्कपुरस्कारात् सादृश्यस्योपलक्षणतायां व्यवस्थितायाम्, 'गङ्गायां घोष' इतिवदन्वयप्रतिपत्तिरिति चेत् ?

ही प्रवृत्तनिमित्त है, गो सादृश्य ही उपलक्षण है। जैसे कि 'गन्धवती पृथिवी' इस वाक्य के प्रयोग के बाद यह सन्देह उपस्थित होता है कि गन्धवत्त्व पृथिवीपद का प्रवृत्तिनिमित्त है अथवा पृथिवित्व रूप प्रवृत्ति निमित्त का उपलक्षण है ?

पू० प स्यादेतत् पूर्वम्··· ··· ··· ···कालान्तरे

यद्यपि यह सत्य है कि जबतक गवय का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक 'गो सदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के अर्थ का ज्ञान होने पर भी 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इस आकार का शक्तिज्ञान अथवा 'समयपरिच्छेद' नहीं उत्पन्न होता। किन्तु 'इदानीम्' अर्थात् गवय के प्रत्यक्ष की स्थिति में वही अतिदेशवाक्य स्मृत होकर उक्त शक्तिज्ञान रूप फल का संपादन कर सकता है। जिस प्रकार वेदों के अध्ययन के समय उनसे जिन वस्तुओं का अथवा जिन 'इतिकर्त्तव्यता' प्रभृति अङ्गों का ज्ञान नहीं हो पाता, उन सब विषयों का ज्ञान भी वेदाङ्गों के अध्ययन से स्मृत वेदों से ही होता है।

न च वाच्यम्··· ··· — ···पर्यवसितमिति

(वैशेषिकों के उक्त अभिप्राय का निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि) 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थङ्गमयति' इस न्याय से 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद जो प्रथम बोध उत्पन्न होता है, उसी से वह वाक्य कृतकार्य हो जाता है। गवयविषयक प्रत्यक्ष के बाद फिर उसी वाक्य से समय परिच्छेद रूप कार्य नहीं हो सकता।

गोसादृश्यस्य··· ··· ··· ···

(वैशेषिकगण इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि जहाँ श्रोता को वक्ता का तात्पर्य निश्चित रहता है, वहीं 'सकृदुच्चरितः शब्दः' इत्यादि न्याय उपयुक्त होता है। जहाँ वक्ता के तात्पर्य का सन्देह रहता है, वहाँ यह न्याय लागू नहीं होता। क्योंकि तात्पर्य सन्देह के स्थल में शब्द सुनने के बाद यदि आपाततः कोई प्रतीति हो भी जायगी, तथापि तात्पर्य के

न,

श्रुताव्ययादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सगतिः ॥१२॥

निर्णायक षड्विध लिङ्ग अथवा तर्कादि के सहारे जब तात्पर्य का निर्णय हो जायगा, उसके बाद वही वाक्य पुनः स्मृत होकर उसी विषय के निश्चयात्मक बोध को उत्पन्न करेगा, जो निश्चित तात्पर्य का भी विषय है।

प्रकृत में 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के श्रवण के बाद श्रोता को यह सन्देह होता है कि 'इस वाक्य में प्रयुक्त गवय पद गवयत्व को 'निमित्त' बनाकर प्रयुक्त हुआ है ? अथवा गो सादृश्य को 'निमित्त' बनाकर ? (अर्थात् इस वाक्य से गोसादृश्यविशिष्ट गवय का बोध वक्ता को इष्ट है ? अथवा गोसादृश्योपलक्षित गवयत्वविशिष्ट गवय का बोध ?) इसके बाद जब गवय का प्रत्यक्ष होता है, तब तर्क उपस्थित होता है कि यदि उक्त वाक्य में प्रयुक्त गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गो सादृश्य होता तो जिस अरण्यस्थ व्यक्ति ने कभी गाय देखी ही नहीं, एवं उसे यह भी ज्ञात है कि 'इसका नाम गवय है' वह कभी भी इस अर्थ को समझाने के लिये 'गवय' शब्द का प्रयोग न करता। अतः गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व ही है, गोसादृश्य नहीं। गोसादृश्य उक्त गवयत्व का उपलक्षण है। तस्मात् 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य से चूँकि अन्य किसी प्रकार का बोध संभव नहीं है, अतः 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इस आकार का शक्तिग्रह अथवा समयपरिच्छेद ही होता है। जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य से लक्षणावृत्ति के द्वारा अगत्या गङ्गातीर के घोष का ही बोध मानना पड़ता है। फलतः 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्य में प्रयुक्त 'गवय' पद 'गवयपदवाच्यत्व' रूप अर्थ में लाक्षणिक है। तस्मात् अतिदेश वाक्य रूप शब्द प्रमाण से ही उक्त समयपरिच्छेद अथवा शक्तिज्ञान की उपपत्ति हो जायगी, इसके लिये 'उपमान' नाम के अतिरिक्त प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० श्रुतान्वयात्……………सङ्गतिः (श्लोक)

उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'गो सदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद उसमें प्रयुक्त पदों से अभिधा वृत्ति के द्वारा जिन अर्थों की उपस्थिति होती है, उन सबको यथा योग्य परस्पर अन्वित होने में कोई बाधा नहीं है। अतः उक्त वाक्य के पदों से अभिधा वृत्ति के द्वारा अर्थों की उपस्थिति के बाद, उन उपस्थितियों से बोध के लिये अन्य किसी की आकांक्षा नहीं रह जाती। अतः अतिदेशवाक्य किसी 'अन्य' की अर्थात् शाब्द बोध के उत्पादन में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवगत गवयत्वादि की अपेक्षा नहीं रखते हैं। जहाँ सुने हुए पदों से अभिधावृत्ति के द्वारा अर्थों में परस्पर अन्वय का 'वैधुर्य' अर्थात् अभाव रहता है, उन्हीं स्थलों में 'आक्षेप' अर्थात् लक्षणा प्रभृति वृत्तियों के द्वारा उपस्थित अर्थ के साथ अन्वय करना पड़ता है।

'गोसदृशो गवयशब्दवाच्यः' इति सामानाधिकरण्यमात्रेणान्वयोपपत्तौ विशेष-सन्देहेऽपि वाक्यस्य पर्यवसितत्वेन मानान्तरोपनीतानपेक्षणात्, रक्तारक्तसन्देहेऽपि 'घटो भवति' इति वाक्यवत्, अन्यथा वाक्यभेददोषात्।

सि० प० गो सदृशः··· ··· ··· ···

जब तक गवय का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता तब तक 'कोऽसौ गोसदृशः' इस प्रश्न से 'विशेष' विषयक संशय के रहने पर भी 'यो गवयसदृशः स गवयपदवाच्यः' इस प्रकार का सामान्य अन्वयबोध हो सकता है। इसके लिये प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से उत्पन्न विशेष निर्णय की अपेक्षा नहीं होती है। जैसे कि 'घट रक्त है? अथवा अरक्त?' इन दोनों में से किसी एक पक्ष के निर्णय के न रहने पर भी 'घटो भवति' इस वाक्य से अन्वयबोध की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं आती है। अतः (गवय के प्रत्यक्ष के समय तक यदि यह निर्णय नहीं भी होता है कि 'गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व ही है, गोसादृश्य उसका उपलक्षण मात्र है' तथापि 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के सुनने पर 'यो गोसदृशः स गवयपदवाच्यः' इस प्रकार के बोध के होने में कोई बाधा नहीं होती है। अर्थात् गवय के प्रत्यक्ष के बाद जो अतिदेशवाक्य के स्मरण से 'अयं गवयपदवाच्यः' इस आकार का शक्ति-ज्ञान (समयपरिच्छेद) होता है—जिसको हमलोग उपमिति कहते हैं—'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य से उत्पन्न अन्वयबोध रूप नहीं है। किन्तु उपमान प्रमाण से उत्पन्न होने के कारण 'उपमिति' रूप है।

अन्यथा··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में वैशेषिकगण कह सकते हैं कि अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद 'यो गोसदृशः स गवयपदवाच्यः' इसी आकार अन्वयबोध भले ही मान लें, किन्तु गवय के प्रत्यक्ष के बाद स्मृतिसमारूढ़ उसी अतिदेशवाक्य से उक्त प्रत्यक्ष के साहाय्य से 'अयं गवयपदवाच्यः' इसी आकार के अन्वयबोध को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। एक ही वाक्य के लिये विभिन्न सहकारियों के साहाय्य से अनेक प्रकार के बोधों का उत्पादन 'गतोऽस्तमर्कः इत्यादि वाक्यों से सभी मानते हैं। अतः यह कोई बात नहीं है कि प्रत्यक्ष से पूर्व केवल अतिदेशवाक्य से उक्त सामान्य अन्वयबोध होता है, केवल इसी लिये गवय के प्रत्यक्ष के बाद उसी वाक्य से 'समयपरिच्छेद' रूप अन्वयबोध न हो। किन्तु वैशेषिकों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वाक्य से अनेक प्रकार के बोध नहीं हो सकते) 'अन्यथा' अर्थात् यदि एक वाक्य से एक ही अन्वयबोध को स्वीकार न करें, अथवा एक ही वाक्य से अनेक अन्वय बोधों को स्वीकार करें तो 'वाक्यभेद' दोष होगा। अतः एक अतिदेशवाक्य से एक ही प्रकार का अन्वयबोध हो सकता है।

न च गङ्गायाँ घोष: इतिवत् पदार्था एवान्वयाऽयोग्या:, येन प्रमाणान्तरोपनीतेनान्वय: स्यात् । प्रतीतवाक्यार्थबलायातोऽप्ययर्थो यदि वाक्यस्यैव, दिवाभोजननिषेधवाक्यस्यापि रात्रिभोजनमर्थ: स्यात् । तस्माद्यथा गयवशब्द: कस्यचित् वाचक: शिष्टप्रयोगादिति सामान्यतो निश्चितेऽपि विशेषे मानान्तरापेक्षा, तथा 'गोसदृशस्य गवयशब्दो वाचक इति वाक्यान्निश्चितेऽपि सामान्ये विशेषवाचकत्वेऽस्य मानान्तरमनुसरणीयमिति ।

न च गङ्गायाम् ··· ··· ··· ···

'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में गङ्गा पद के अभिधेय अर्थ प्रवाह में घोष पद के अर्थ का अन्वय संभव नहीं है, अतः दूसरे प्रमाण के द्वारा उपस्थित गङ्गातीर रूप अर्थ में घोष का अन्वय मानना पड़ता है । प्रकृत में सामान्य रूप से उपस्थित 'गोसदृश' पदार्थ में गवयपदवाच्यत्व का अन्वय अनुपपन्न नहीं है, अतः प्रत्यक्ष रूप दूसरे प्रमाण से उपस्थित इदन्त्वविशिष्ट गवय में गवयपदवाच्यत्व का अन्वय स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । यद्यपि इसको स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि गोसादृश्य विशिष्ट में गवयपदवाच्यत्व के गृहीत हो जाने पर जब उस व्यक्ति को गवय का दर्शन होता है, तब भी 'अयं गवयपदवाच्यः' इस आकार का समयपरिच्छेद होता है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उक्त सममपरिच्छेद उस अतिदेश वाक्य का ही फल है । क्योंकि इस समयपरिच्छेद की उत्पत्ति तो गवयप्रत्यक्ष के बाद होती है । यदि किसी दूसरे प्रमाण से पर्यवसन्न अर्थ को भी प्रकृत प्रमाणजन्य ही मान लें तो फिर 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य से उत्पन्न शाब्दबोध के बाद जो अर्थापत्ति प्रमाण से अथवा केवलव्यतिरेकी अनुमान से 'रात्रिभोजन' का निश्चय होता है, उस को भी उक्त वाक्य का ही अर्थ मानना होगा ।

तस्मात् जिस प्रकार आप के मत में 'गवय शब्द किसी अर्थ का वाचक अवश्य है, क्योंकि शिष्टों के द्वारा उसका प्रयोग होता है, जैसे कि गो शब्द प्रभृति' इस अनुमान के द्वारा सामान्य रूप से किसी वस्तु में गवयपद की शक्ति गृहीत होने पर भी व्यक्तिविशेष में शक्तिज्ञान के लिये गवयपिण्ड में चक्षुः संनिकर्ष रूप दूसरे प्रमाण को अपेक्षा होती है, उसी प्रकार उक्त अतिदेशवाक्य से गो सादृश्य से युक्त अर्थ में गवयपदवाच्यत्व का ज्ञान साधारण रूप से होने पर भी व्यक्तिविशेष में शक्तिज्ञान के लिये दूसरे प्रमाण की अपेक्षा होगी । वह दूसरा प्रमाण ही 'उपमान' है । अतः 'समयपरिच्छेद' अतिदेश वाक्य से उत्पन्न अन्वयबोध रूप नहीं है । किन्तु उक्त उपमान प्रमाण से उत्पन्न उपमिति रूप है ।

अस्त्वनुमानम्। तथा हि–गवयशब्दो गवयस्य वाचकः असति वृत्यन्तरेऽभियुक्तैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, गवि गोशब्दवदिति चेन्न। असिद्धेः। न ह्यसति वृत्यन्तरे तद्विषयतया प्रयोगः सङ्गतिमविज्ञाय ज्ञातुं शक्यते।

पू० प० १ अस्त्वनुमानम् ··· ··· ··· ··· इति चेत्

(वैशेषिकों का यह भी कहना है कि यदि उक्त शक्तिग्रह अथवा समयपरिच्छेद शब्द प्रमाण के द्वारा सम्भव न हो तो फिर अनुमान प्रमाण से ही उसकी उपपत्ति होगी। उसकी रीति यह है कि—)

तथा हि ··· ··· ··· ···

गो सदृश उक्त पिण्ड को समझाने के लिये आप्तगण 'गवय' पद का प्रयोग करते हैं। यह निश्चित है कि गवय पद में गवय रूप पिण्ड को समझाने के लिये अभिधा से भिन्न (लक्षणा प्रभृति) अन्य वृत्तियाँ नहीं हैं। अतः समझते हैं कि गवय शब्द गवय रूप अर्थ का वाचक है। (अर्थात् अभिधा वृत्ति के द्वारा ही गवय पद से गवय रूप अर्थ का बोध होता है)। जैसे कि गो शब्द गो रूप अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण उसका वाचक होता है। इस प्रकार 'अयं गवयपदवाच्यः' इस आकार के समयपरिच्छेद में इस अनुमान का पर्यवसान होगा।

सि० प० न, असिद्धेः ··· ··· ··· ···

प्रकृत अनुमान का आकार है 'गवय शब्दो गवयस्य वाचकः, असति वृत्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात् गवि गोशब्दवत्'। इस वाक्य के 'असति' इत्यादि पञ्चम्यन्तवाक्य हेतु का बोधक है। इस हेतु का विशेषण है 'असति वृत्यन्तरे' अर्थात् किसी दूसरी वृत्ति का अभाव (वृत्यन्तराभाव)। यही हेतुतावच्छेदक है। हेतुतावच्छेदक स्वरूप विशेषण से युक्त हेतु का ज्ञान अनुमिति के लिये आवश्यक है। किन्तु 'गवय पद में गवय रूप अर्थ को समझानेवाली लक्षणा प्रभृति कोई अन्य वृत्तियां नहीं हैं" यह कैसे समझेंगे ? क्यों कि 'अन्तर' शब्द तद्भिन्न तत्सजातीय अर्थ का बोधक है। अतः अभिधा पद के बोधक 'वृत्ति' पद से युक्त 'वृत्यन्तर' पद का अर्थ होगा 'अभिधावृत्ति से भिन्न वृत्ति'। भेद को समझने के लिये उसके प्रतियोगी को भी समझना आवश्यक है। अतः 'अभिधावृत्ति के भेद को समझने के लिये 'अभिधावृत्ति' को समझना आवश्यक है। अतः जब तक गवय पद की अभिधावृत्ति को न समझा जायगा तब तक "गवय पद में गवय रूप पिण्डको समझाने की अभिधा से भिन्न कोई वृत्ति नहीं है" यह नहीं समझा जा सकता। अतः प्रकृत में हेतुतावच्छेदक विशिष्ट हेतु का ज्ञान सम्भव न होने से उक्त अनुमिति नहीं हो सकती।

---

१. "अनुमयापि वा, समयो दुर्ग्रहः" श्लोक के इस अंश की व्याख्या 'अस्त्वनुमानम्' इत्यादि गद्यसन्दर्भ से की गयी है।

सामानाधिकरण्यादिति चेन्न । पिण्डमात्रे सिद्धसाधनात्, निमित्ते चासिद्धेः, 'सादृश्यस्यानिमित्तत्वात्' इत्युक्तम् ।

पू० प० समानाधिकरण्यात् ··· ··· ··· ···

अभिधावृत्ति के जिस ज्ञान की आवश्यकता की चर्चा की गयी है, वह गवय सामानाधिकरण्य रूप से 'गोसदृशो गवयः' इत्यादि प्रयोग से ही होगा, क्योंकि इसी से गवयपद की अभिधा गवय रूप अर्थ में गृहीत हो सकती है। अतः गवयपद की अभिधा के अज्ञान से जो अनुमान की अनुपपत्ति दिखलायी गयी है, वह ठीक नहीं है।

सि० प० पिण्डमात्रे ··· ··· ··· ···

इस प्रसङ्ग में वैशेषिकों से पूछना चाहिये कि कथित 'सामानाधिकरण्य' शब्द से यदि गवय रूप पिण्ड का सामानाधिकरण्य विवक्षित है? तो इससे गवय पद में केवल 'पिण्ड' की वाचकता की सिद्धि होगी। किन्तु उपमान प्रमाण के द्वारा तो गवय पद में गवयत्व जाति विशिष्ट गवय की वाचकता की सिद्धि अभीष्ट है। यह कार्य यदि अनुमान प्रमाण से नहीं हो सका, तो फिर अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव की चर्चा ही व्यर्थ है। अर्थात् उक्त सामानाधिकरण्य की प्रतीति मूलक अनुमान से केवल यदि पिण्ड की वाचकता गवय पद में सिद्ध की गयी तो फिर सिद्ध वस्तु की ही पुनः सिद्धि की गयी। गवय पद में गवयत्व जाति विशिष्ट की वाचकता जो पहिले से असिद्ध है, वह सिद्ध नहीं हो सकी।

निमित्ते च ··· ··· ··· ··· इत्युक्तम्

यदि उक्त 'सामानाधिकरण्य' पद से गवय पद के 'निमित्त' अर्थात् 'प्रवृत्तनिमित्त', स्वरूप गवयत्व जाति विशिष्ट का सामानाधिकरण्य विवक्षित है, तो इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि गवयत्व जाति में गवय पद की प्रवृत्तनिमित्तता अभी सिद्ध नहीं है। क्योंकि जब तक गवयत्व विशिष्ट गवय में गवय पद की वाच्यता की सिद्धि नहीं होगी, तबतक 'गवयत्व' में गवय पद की प्रवृत्तनिमित्तता की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि 'वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वम्' ऐसा 'प्रवृत्तिनिमित्त' का लक्षण है, जिसमें 'वाच्यता' अन्तर्भूत है। गवयत्व विशिष्ट गवय में जब तक गवय पद की शक्ति गृहीत नहीं होगी, तब तक प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूप गवयत्व में गवय पद की वाच्यता नहीं आ सकती।

सादृश्यस्य ··· ··· ··· ···

पहिले कह आये हैं कि गोसादृश्य गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।[1]

---

१. (कदाचित कोई विस्मरणशील वैशेषिक यह कहें कि 'गोसादृश्य' ही गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, तदवच्छेदेन तो गवय पद का वाच्यत्व गृहीत है। उनको स्मरण दिलाने के लिये ही 'गो सादृश्यस्य' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है।

ननु व्याप्तिपरमिदं वाक्यं स्यात्। "यो गोसदृशः स गवयपदार्थः" इति। तथा च वाक्यादवगतप्रतिबन्धोऽनुमिनुयात् "अयमसौ गवयो गोसदृशत्वादतिदेशवाक्यावगतपिण्डवदिति" न, विपर्ययात्। न हि गोसदृशं बुद्धावारोप्याऽनेन पृष्टः स किं शब्दवाच्य इति, किन्तु सामान्यतो गवयपदार्थमवगम्य स कीदृगिति। तथा च यद्योगप्राथम्याभ्यां तस्यैव व्याप्यत्वम्, ततः किं तेन ? प्रकृतानुपयोगात्।

पू० प० ननु व्याप्तिपरम् ... ...

जो पुरुष गवय पद के अर्थ को कभी आंखों से नहीं देखा है, किन्तु 'गवय' पद को केवल सुन रखा है। वह जब स्वभावतः किसी विज्ञ व्यक्ति से पूछता है कि 'गवय' पद का कौन सा अर्थ है ? वह पुरुष 'विज्ञ' होने पर भी हठात् इसका उत्तर नहीं दे पाता। अत एव गवय पद वाच्यत्व की अनुमिति के उत्पादक कारणों के समूह (सामग्री) में जो 'व्याप्ति' निविष्ट है, केवल उस का ही प्रदर्शन 'गो सदृशो गवयः' इस वाक्य से कर देता है। इस वाक्य से प्रश्न कर्ता को 'यः गो सदृशः स गवय पद वाच्यः' इस आकार का व्याप्तिनिश्चय होता है, अर्थात् जो गो के सादृश्य से युक्त है, वही गवय पद का वाच्य अर्थ है। इस वाक्य के द्वारा उत्पन्न 'प्रतिबन्ध' अर्थात् व्याप्ति निश्चय के बाद वह जिज्ञासु पुरुष वन में जाने पर गवय पिण्ड को देखता है, तो उसको यह अनुमिति सुलभ हो जाती है कि 'उस गवय पद का वाच्य अर्थ यही है, क्योंकि यह गो के समान है, जैसे कि गवय का पिण्ड गो के समान है" तस्मात् गोसादृश्य विशिष्ट में गवयपदवाच्यत्व की व्याप्ति से 'अयं गवयपदवाच्यः' इस आकार को समयपरिच्छेदरूप अनुमिति होती है। इस के लिए उपमान नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० न, विपर्ययात् ... ... प्रकृतानुपयोगात्।

अर्थात् जिज्ञासु यदि यह प्रश्न करते कि 'गो सदृशः किं शब्द वाच्यः' तो उक्त विज्ञ पुरुष का गो सदृश पिण्ड को उद्देश कर 'गवयशब्दवाच्यः' यह उत्तर देना सङ्गत होता, किन्तु जिज्ञासु के प्रश्न का आकार है 'कीदृग्गवयः ?" इसका उपयुक्त उत्तर तो यही हो सकता है कि "गवयपदवाच्यः गोसदृशः' यथा गो शब्दस्य वाच्यः सास्नादिमान्" किन्तु 'उदाहरण' रूप इस वाक्य से गवयपदवाच्यत्व में ही गोसदृशत्व की व्याप्ति ज्ञात होती है। क्योंकि उदाहरण वाक्य में जो पहिले प्रयुक्त रहता है एवं 'यत्' शब्द का अन्वय जिसके साथ होता है, वही 'व्याप्य' माना जाता है। (जैसे कि 'यः धूमवान् स वह्निमान्' इस स्थल में 'यत्' पद का अन्वय धूम के ही साथ है, जो प्रथमोपात्त भी है, अतः उसी में वह्नि की व्याप्ति या व्याप्यता समझी जाती है, वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं ज्ञात होती है)। अतः 'यो गोसदृशः स गवयपदवाच्यः' इस उदाहरण वाक्य के द्वारा गृहीत व्याप्ति से प्रकृत अनुमिति की सिद्धि नहीं हो सकती।

अथ किंलक्षणकोऽसाविति प्रश्नार्थः, तदा व्यतिरेकपरं स्यात्, लक्षणस्य तथाभावात्। तथा च 'गोसदृशो गवयः'' इत्यस्यार्थो यो गवय इति न व्यवह्रियते नाऽसौ गोसदृश इति। एवञ्च प्रयोक्तव्यम्, अयमसौ गवय इति व्यवहर्तव्यः. गोसदृशत्वात्। यस्तु न तथा, नासौ गोसदृशो यथा हस्ती।

पू० प० अथ किं लक्षणम् ··· ··· ··· ··· यथा हस्ती··· ···

सामान्यतः गवयशब्दवाच्यत्व रूप से ज्ञात किसी विशेष वस्तु के प्रसङ्ग में 'जिज्ञासु' प्रश्न करते हैं कि 'असौ गवय शब्दवाच्यः किं लक्षणकः ? (अर्थात् गवय शब्द के अभिधेय उस अर्थ का स्वरूप क्या है ?) इस प्रश्न का भी उत्तर 'गोसदृशः' यह हो सकता है। लक्षण रूप हेतु के द्वारा लक्ष्य रूप पक्ष में इतरभेद का केवलव्यतिरेकी अनुमान ही हो सकता है। जिस उदाहरण वाक्य से व्यतिरेक व्याप्ति सूचित होती है, उसमें व्यापक (साध्य) का ही उपादान पहिले होता है, एवं 'यत' शब्द का अन्वय भी उसी के साथ होता है।[1]

---

१. जैसे कि गन्धत्व रूप लक्षण के द्वारा पृथिवी में इतरभेद की अनुमिति होती है। अनुमिति का आकार 'पृथिवी इतरभेदवती गन्धवत्त्वात्' इस प्रकार है। यह 'पृथिवी-तरभेद रूप साध्य केवल पृथिवी में ही है, जो कि प्रकृत में पक्ष है। एवं 'गन्धवत्त्व रूप हेतु भी केवल पृथिवी में ही है। अतः पक्ष से भिन्न किसी भी आश्रय में दोनों साथ-साथ नहीं है। अतः ऐसे स्थलों में न कोई अन्वयदृष्टान्त मिलेगा, न अन्वय व्याप्ति ही उपपन्न होगी। अतः व्यतिरेक दृष्टान्त एवं व्यतिरेक व्याप्ति का ही यहां अवलम्बन करना होगा। साध्य का अभाव एवं हेतु का अभाव, इन दोनों का नियमित रूप से एक आश्रय में रहना ही व्यतिरेक व्याप्ति का प्रयोजक है। प्रकृत में पृथिवीतरभेद रूप साध्य का अभाव जलादि आठ द्रव्यों एवं गुण, कर्म, सामान्य विशेष, एवं समवाय इन पाँच भावों में है (अभाव में तो इतरभेद की सम्भावना ही नहीं है) इन तेरह वस्तुओं में गन्ध का अभाव भी है। अतः कथित जलादि तेरह पदार्थ ही प्रकृत में व्यतिरेक दृष्टान्त है। तदनुसार प्रकृति में उदाहरण वाक्य का स्वरूप यत् न इतरभेदवत् तन्न गन्धवत् यथा जलादिकम्' इस स्वरूप का होगा, प्रकृत में यह कहना है कि यदि 'गोसदृशत्व' गवय का लक्षण है, तो फिर 'गो सदृशो गवयः, इस वाक्य से उक्त व्यतिरेक दृष्टान्त ही सूचित होगा, जिससे प्रकृत में भी व्यतिरेक व्याप्ति ही सूचित होगी। तदनुसार प्रकृत में व्यतिरेक दृष्टान्तवाक्य का यह स्वरूप होगा—''यो गवय इति न व्यवह्रियते नासौ गोसदृशः। एवं इस व्यतिरेकमूलक व्याप्ति के दृष्टान्त से यह केवलव्यतिरेकी अनुमान निष्पन्न

न च हस्त्यादीनां विपक्षत्वे प्रमाणमस्ति, सर्वाप्रयोगस्य दुरवधारणत्वात् । कतिपयाव्यवहारस्य चानैकान्तिकत्वात् ।

सि० प० न च हस्त्यादीनाम्··· ··· ··· ···

साध्य का अभाव जहाँ निश्चित रहता है, वही 'विपक्ष' है । 'विपक्ष' ही व्यतिरेक दृष्टान्त होता है । किन्तु हाथी प्रकृत अनुमान का 'विपक्ष है' यह कैसे समझें ? क्योंकि उस में गवयपदवाच्यत्व रूप साध्य का अभाव निश्चित नहीं है । यदि हाथी में गवयपदवाच्यत्व का अभाव (हाथी के लिये गवयपद के अप्रयोग से) मानलें, तो प्रश्न होगा कि किस के अप्रयोग के निश्चय से ? (१) संसार में जितने भी मनुष्य है, उन सभी मनुष्यों के अप्रयोग के निश्चय से अथवा (२) कुछ लोगों के अप्रयोग के निश्चय से ?

सर्वाप्रयोगस्य··· ··· ··· ···

(यदि सभी लोगों के अप्रयोग से उक्त निश्चय मानें तो वह इस लिये असंभव होगा कि) संसार के सभी पुरुषों का यदि निश्चय (अवधारण) नहीं है, तो फिर हाथी में गवय पद के 'सर्वाप्रयोग' का अवधारण नहीं हो सकता । क्योंकि 'सर्वाप्रयोग' को समझने के लिये उसमें विशेषणीभूत 'सर्व' को समझना आवश्यक है । किन्तु अस्मदादि असर्वज्ञजनों के लिए उक्त 'सर्व' का ज्ञान संभव नहीं है ।

कतिपयाव्यवहारस्य··· ··· ··· ···

(यदि कुछ लोगों के अप्रयोग से हाथी में गवयपदवाच्यत्व के अभाव का निश्चय मानें तो सो भी संभव नहीं होगा, क्योंकि) कोई भी पद किसी भी अर्थ को समझाने के लिये

होगा कि "गवयः गवयपदव्यवहारविषयेतरभेदवान् गोसदृशत्वात्, यत् नोक्तेतरभेदवत् न तत् गोसदृशम् यथा हस्त्यादिकम् । स्वगत असाधारण धर्म एवं स्वेतरभेद ये दोनों फलतः एक ही वस्तु है । जैसे कि पृथिवीतरभेद पृथिवीत्व स्वरूप है । तदनुसार 'गवयपदव्यवहारविषयेतरभेद' का पर्यवसान 'गवयपदव्यवहारविषयत्व' में ही होगा । यही 'गवयपदव्यवहारविषयत्व' गवयपदवाच्यत्व है । इसके अनुसार उक्त वाक्य का यह स्वरूप निष्पन्न होगा, 'अयं गवयपदव्यवहारविषयः गोसदृशत्वात्, यो न गवयपदव्यवहारविषयः, नासौ गोसदृशः यथा हस्ती' । इस प्रकार 'गो सदृशो गवयः' यह अतिदेशवाक्य उक्त व्यतिरेकी अनुमान का सूचक होते हुए गवय पद के शक्तिपरिच्छेद का भी सूचक है । अतः उपमान नाम का कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है ।

ननु लिङ्गमात्रे प्रश्नो भविष्यति ? कीदृक् किं लिङ्गमिति ? न, न ह्यनेन लिङ्गमविज्ञाय गवयशब्दस्य वाचकत्वं कस्यचिद्वाच्यत्वं वाऽवगतं, येन तदर्थं प्रश्नः स्यात् ।

कुछ लोगों के द्वारा प्रयुक्त नहीं होता, केवल इतने से ही उस अर्थ में तत्पदवाच्यता का अभाव निर्णीत नहीं हो सकता । इस लिये हाथी में गवयपदवाच्य के अभाव का निश्चय इस हेतु से नहीं किया जा सकता कि संसार के कुछ लोग हाथी को समझाने के लिये गवय पद का व्यवहार नहीं करते । अतः केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा भी 'समयपरिच्छेद' की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

पू० प० ननु लिङ्गमात्रे··· ··· ··· ···

'स किं शब्दवाच्यः' इस वाक्य को व्यतिरेक लिङ्ग विषयक प्रश्नार्थकता भले ही संभव न हो, किन्तु इस वाक्य को अन्वय व्यतिरेक साधारण लिङ्ग सामान्य के विषय में प्रश्न का बोधक तो माना ही जा सकता है । जिसका यह आकार होगा कि 'गवय रूप अर्थ में गवय पद की वाच्यता का साधक कौन सा हेतु है ?' अथवा 'उस ज्ञापक में हेतुता किस रूप से है ?' इन प्रश्नों का भी उत्तर 'गोसदृशः' इस वाक्य से देना असङ्गत नहीं होगा । इस प्रकार साधारण रूप से लिङ्गज्ञान के बाद व्याप्ति का ऊह कर अनुमान के द्वारा 'समय का परिच्छेद' उपपन्न हो सकता है ।

सि० प० न, नह्यनेन··· ··· ··· ···

'समय परिच्छेद' के अथवा 'शक्तिज्ञान' के दो स्वरूप हैं, एक पद विशेष्यक दूसरा अर्थ विशेष्यक । 'इदम् पदममुमर्थं बोधयतु' अथवा 'इदम् पदम् अस्यार्थस्य वाचकम्' इन दोनों आकार के शक्तिज्ञान पदविशेष्यक हैं । 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' अथवा 'अयमर्थः एतत्पदवाच्यः' इन आकारों के शक्ति ज्ञान अर्थ विशेष्यक हैं । यदि किसी दूसरे उपाय से गवय पद में किसी अर्थ की वाचकता (अर्थात् पदविशेष्यक शक्तिज्ञान की विषयता) अथवा किसी अर्थ में गवय पद की वाच्यता (अर्थविशेष्यक शक्तिज्ञान की विषयता) अगर ज्ञात रहती तो यह प्रश्न उचित होता कि 'गवय पद में जो गवय रूप अर्थ की वाचकता है, उसका ज्ञापक कौन है ?' अथवा 'वह ज्ञापक हेतु किस प्रकार का है ?' । अथवा यह प्रश्न उचित होता कि 'गवय रूप अर्थ में गवय पदवाच्यता का ज्ञापक हेतु कौन है ? अथवा 'वह किस प्रकार का है ?' क्योंकि गवयपदवाच्यत्व अथवा गवयरूप अर्थ के वाचकत्व का ही तो अनुमान कर रहे हैं, वह हेतुज्ञान के बिना संभव नहीं है । अतः 'गोसदृशः' यह वाक्य हेतु सामान्य-विषयक प्रश्न का उत्तर भी नहीं हो सकता ।

प्रवृत्तिनिमित्तविशेषलिङ्गे प्रश्नः, येन निमित्तेन गवयशब्दः प्रवर्त्तते तस्य किं लिङ्गमिति चेत् ? न, न हि तदवश्यमनुमेयमेवेत्यनेन निश्चितम्, यत इदं स्यात् । ज्ञानोपायमात्रप्रश्ने तद्विशेषेणोत्तरमिति चेन्न । अविशेषा-दिन्द्रियसन्निकर्षमप्युत्तरयेत्, पर्यायान्तरं वा । यथा गवयमहं कथं जानीयामिति

पू० प० प्रवृत्तिनिमित्तविशेषलिङ्गे ··· ··· ··· ···

उक्त प्रश्न गवय पद के प्रवृत्तिनिमित्त विशेष (अर्थात् गवयत्व) के ज्ञापक लिङ्ग के प्रसङ्ग में इस आकार का है कि 'जिस धर्म को निमित्त बनाकर गवय शब्द अर्थ को समझाने के लिये प्रवृत्त होता है, उसका ज्ञापक लिङ्ग कौन है ?' इसी प्रश्न के उत्तर में गवय पद के प्रवृत्तिनिमित्त के उपलक्षण एवं गोसादृश्य के बोधक 'गोसदृशः' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है ।

सि० प० न, न हि··· ··· ··· ···

'अनुमिति रूप ज्ञान में ही ज्ञापक हेतु की आवश्यकता होती है । अतः यदि यह नियम हो कि प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान अनुमिति रूप ही हो, अथवा उसी का उपयोग हो तो फिर ज्ञापक लिङ्ग के प्रसङ्ग में उक्त प्रश्न उपयुक्त हो सकता है । किन्तु ऐसा नियम तो है नहीं । अतः 'गोसदृशः' इस वाक्य को उक्त प्रश्न का उत्तर स्वरूप भी नहीं माना जा सकता ।

पू० प० ज्ञानोपायमात्रप्रश्ने··· ··· ··· ···

प्रवृत्तिनिमित्त के ज्ञापकलिङ्ग के प्रसङ्ग में प्रश्न भले ही संभव न हो किन्तु 'प्रवृत्ति निमित्त का ज्ञान किस से होगा ! इस सामान्यज्ञान के लिये तो प्रश्न किया ही जा सकता है । एवं उस सामान्य प्रश्न का उत्तर प्रवृत्तिनिमित्त के अनुमितिरूप ज्ञान विशेष के उपाय-स्वरूप गोसादृश्य रूप लिङ्ग के ज्ञापक 'गोसदृशः' इस वाक्य का प्रयोग समुचित उत्तर हो सकता है । क्योंकि विशेषोक्ति के द्वारा ही सामान्य प्रश्न का उत्तर दिया जाता है ।

न, अविशेषात् ··· ··· ··· ···

यह सत्य है कि सामान्य विषयक प्रश्न का विशेषोक्ति के द्वारा उत्तर दिया जा सकता है । किन्तु गवय पद के प्रवृत्तिनिमित्त के ज्ञान के सामान्य विषयक प्रश्न का विशेष उत्तर जिस प्रकार अनुमिति है, उसी प्रकार तद्विषयक प्रत्यक्ष अथवा तद्विषयक शाब्द बोध भी तो हैं, अतः तद्विषयक प्रत्यक्ष का इन्द्रिय संनिकर्ष रूप उपाय, अथवा शाब्दबोध के पर्याय शब्द के उच्चारण रूप उपाय का प्रतिपादन भी उक्त प्रश्न का उत्तर हो सकता है ।

जैसे कि कोई यदि यह प्रश्न करे कि 'मुझे गवय का ज्ञान किस प्रकार होगा ?' तो

प्रश्ने, 'वनं गतो द्रक्ष्यसीति,' यथा वा 'कः पिकः,' इत्यत्र कोकिल इति। तस्मान्निमित्तभेदप्रश्न एवायं 'गवयो गवयपदवाच्यः कीदृक् केन निमित्तेन' इति युक्तमुत्पश्यामः। यस्य च निमित्तविशेषस्य साक्षादुपदर्शयितुमशक्यत्वात् पृष्टस्तदुपलक्षणं किञ्चिदाचष्टे। तच्चोपमानसामग्रीसमुत्थापनमेव, तस्य च प्रमाणस्य सतस्तर्कः सहायतामापद्यते। सादृश्यस्यैव निमित्ततायां कल्पनागौरवम्। निमित्तान्तरकल्पने च क्लृप्तकल्प्यविरोध इति तदेव निमित्तमवगच्छतीति। लक्षणन्त्वस्याऽनवतसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमुपमानम्। वाक्यार्थश्च क्वचित् साधर्म्यम्, क्वचिद्वैधर्म्यमतो नाव्यापकम्। तस्मान्नियतविषयत्वादेव, न तेन बाधो न त्वनतिरेकादितिस्थितिः॥ १२॥

इसका यह उत्तर भी हो सकता है कि 'जङ्गल जाओ, खुद अपनी आँखों से देखोगे ?'। अथवा कोई यदि यह प्रश्न करे कि 'पिक' कौन सी वस्तु है ? तो 'पिक' शब्द के पर्याय 'कोकिल' शब्द के प्रयोग से भी उसको 'पिक' शब्द का अर्थ समझाया जा सकता है। अतः गवय पद के 'निमित्तभेद' अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त के प्रसङ्ग में ही यह प्रश्न है कि 'गवय पद का अभिधेय कैसा होता है ? एवं किस धर्म को निमित्त बनाकर वह अपने अर्थ का ज्ञापन करता है ? किन्तु जिस पुरुष ने गवय को कभी नहीं देखा है, उसको सीधे ही गवय शब्द के द्वारा यह नहीं समझाया जा सकता कि 'गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व है'। अतः गवयत्व के ज्ञापक एवं उपलक्षण के प्रतिपादन के लिये 'गोसदृशः' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है। इस वाक्य से प्रतिपादित होनेवाले सादृश्य का ज्ञान ही 'उपमान' प्रमाण है।

प्रश्न रहा कि गोसादृश्य ही गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त क्यों नहीं है ? गवयत्व ही प्रवृत्ति-निमित्त क्यों है ? यदि सादृश्य ही प्रवृत्तिनिमित्त है, तो फिर समयपरिच्छेद शाब्दबोध रूप ही है ? इन दो पक्षों में से एक के निर्णय में यह तर्क सहायक होता है कि गवयत्व जाति रूप है, अतः अखण्ड है। सुतराम् सखण्ड गोसादृश्य से लघु है। जिसने गाय कभी नहीं देखी है, ऐसे आरण्यक पुरुष के द्वारा प्रयुक्त गवय पद से गवयत्व में उसकी प्रवृत्तनिमित्तता स्वीकृत है। इस प्रकार पूर्व स्वीकृत एवं लघु गवयत्व को गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त न मानकर यदि गुरुभूत गोसादृश्य को गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त मानेंगे तो कल्पनागौरव दोष होगा। यदि गवयत्व और गोसादृश्य इन दोनों से भिन्न ही किसी को गवय पद का प्रवृत्ति-मानें तो "क्लृप्त धर्म से ही निर्वाह संभव होने पर अक्लृप्त दूसरे धर्म में प्रवृत्ति-निमित्तत्व की कल्पना अनुचित है" इस न्याय का विरोध होगा। अतः 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्य से प्रश्नकर्त्ता गवयत्व को ही गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त समझता है।

जिस संज्ञा शब्द की शक्ति ज्ञात नहीं है, उस शब्द से युक्त वाक्य के अर्थ की उस संज्ञा शब्द के अर्थ में प्रत्यभिज्ञा ही उपमान प्रमाण का 'लक्षण' है।

उस वाक्य का यह अर्थ कहीं साधर्म्य होगा कहीं वैधर्म्य, अतः (वैधर्म्य बोधक

शब्दोऽपि न बाधकमाननुमानतिरेकादिति वैशेषिकादयः। तथा हि—यद्यप्येते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः

वाक्य स्थल में) अव्याप्ति दोष नहीं है। इस प्रकार अनुमान एवं उपमान के लक्षण भी भिन्न हैं, अतः वे दोनों लक्षणभिन्नता के कारण भी भिन्न हैं।

तस्मात् उपमान प्रमाण चूंकि (साधर्म्य एवं वैधर्म्य रूप) नियमित विषयों में ही प्रवृत्त होता है, अतः ईश्वरानुमान का बाधक नहीं हो सकता। (वैशेषिकगण जो) अनुमान से अभिन्न होने के कारण उपमान को ईश्वरानुमान का बाधक न होने की बात कहते हैं, सो संभव नहीं है। क्योंकि उपमान अनुमान से अभिन्न नहीं है ॥ १२ ॥

शब्देऽऽपि... ... ...

वैशेषिकगण यह भी कहते हैं कि शब्दप्रमाण भी अनुमान से अभिन्न होने कारण ही ईश्वरानुमान का बाधक नहीं है।

पू० प०[1] तथाहि ··· ··· ··· ···

(शब्द को अनुमान में अन्तर्भाव सूचक अनुमान ये हैं)

(१) 'ऐते पदार्थाः मिथः संसर्गवन्तः वाक्यत्वात्' अर्थात् 'घटवद्भूतलम्' इत्यादि वाक्यों से जो बोध होते हैं, वे अनुमिति रूप हैं। क्योंकि वाक्य में जितने भी पद रहते हैं, उन सभी के अर्थ परस्पर सम्बद्ध ही होते हैं सर्वथा असम्बद्ध अर्थ के बोधक पदों के समूह 'वाक्य' ही नहीं हैं। परस्पर सम्बद्ध अर्थों के बोधक पदों का समूह ही 'वाक्य' है। इसीलिये घटः, वह्निः, जलम् इत्यादि पदों का समूह वाक्य नहीं है। एवं 'घटवद्भूतलम्' इन पदों का यह समूह 'वाक्य' है। अतः पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध ही वाक्यत्व का प्रयोजक है। प्रयोज्य से प्रयोजक का अनुमान होता है। अतः वाक्यत्व से पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का अनुमान हो सकता है। शब्द को प्रमाण मानने वाले भी शब्द प्रमाण से इतना ही काम लेते हैं।

---

१. यहाँ 'तथाहि' से आरम्भ कर 'तदनुमानमिति' इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से शब्द में अनुमानाभेद साधक जिन अनुमानों का उल्लेख किया गया है, वे वैशेषिकों के ही किसी संप्रदाय का मत है, अतः वे ही इसके उपपादक हैं। 'तथापि' इत्यादि सन्दर्भ से इन में दोषों का उद्भावन वैशेषिकसिद्धान्तियों का ही है। अतः इस सन्दर्भ में वैशेषिकगण ही संप्रदाय भेद से पूर्वपक्षी एवं उत्तर पक्षी दोनों है। 'तथापि' इत्यादि से वैशेषिकों ने अपने निर्दिष्ट अनुमानों का प्रयोग किया है। आचार्य ने शब्द प्रमाण को अनुमान से भिन्न प्रमाण रूप से प्रतिपादन 'अत्रोच्यते' इत्यादि सन्दर्भ से किया है।

वाक्यत्वादिति व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चाऽनैकान्तिकम्, पदैः स्मारितत्वा दित्यपि तथा।

इसलिये शब्द वस्तुतः अनुमान ही है। अतः शब्द नाम का कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है। सुतराम ईश्वरानुमान में अनुमान से बाधित होने की आपत्ति के खण्डन से ही शब्द प्रमाण के द्वारा भी ईश्वरानुमान में बाध की आपत्ति खण्डित हो जाती है।

सि० प० व्यधिकरणम्

किन्तु उक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि उसका हेतु 'व्यधिकरण' है। अर्थात् पक्षतावच्छेद के अधिकरण पक्ष में हेतु नहीं है, क्योंकि गिरिः मुक्तः' इत्यादि पदों के अर्थों में भी पदार्थत्व है, किन्तु वाक्यत्व नही हैं, फलतः हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

पू० प० पदार्थत्वात्··· ··· ··· ···

(उक्त अनुमान में वाक्यत्व के स्थान पर 'पदार्थत्व' हेतु बना देने से ही उक्त स्वरूपासिद्धि दोष हट जाता है, क्योंकि पदार्थत्व सभी पदों के अर्थों में है—चाहे वे पद वाक्य रूप नही भी हों।) अर्थात् एते पदार्थाः मिथः संसर्गवन्तः पदार्थत्वात्' ऐसा अनुमान करेंगे। इसी अनुमान से सर्वत्र अन्वयबोध की उपपत्ति हो जायगी, अतः शब्द नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

उ० प० अनैकान्तिकम्— ··· ··· ···

उक्त अनुमान का 'पदार्थत्व' हेतु स्वरूपासिद्धि भले हो न हो, किन्तु 'अनैकान्तिक' अर्थात् व्यभिचरित होगा। क्योंकि 'गिरिः भुक्तः, अग्निमान् देवदत्तेन, इत्यादि निराकांक्ष पदों के अर्थों में परस्पर संसर्ग रूप साध्य नहीं है, किन्तु पदार्थत्व रूप हेतु है। अतः यह अनुमान भी नहीं हो सकता।

पू० प० पदैः स्मारितत्वात्··· ··· ··· ···

कोई कथित अनुमान में 'पदार्थत्वात्' इस हेतुवाक्य के स्थान पर 'पदैः स्मारितत्वात्' इस हेतु वाक्य का प्रयोग करना उचित समझते हैं।

सि० प० इत्यपि तथा'··· ··· ··· ···

यह भी हेतु 'तथैव' अर्थात् व्यभिचार दोष से ग्रसित ही है। क्योंकि जिस प्रकार निराकांक्ष गिरिः भुक्तः' इत्यादि पदों के अर्थों में उक्त संसर्गवत्त्व साध्य के न रहने पर भी पदार्थत्व रूप हेतु है, उसी प्रकार साध्यभाव से युक्त उन्हीं अर्थों में 'पदैः स्मारितत्व' रूप हेतु भी है। अतः यह हेतु भी अनैकान्तिक है ही।

यद्यपि चैतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गवन्ति, तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्याभावः । न ह्यत्र मत्वर्थः संयोगः समवायस्तादात्म्यं विशेषणविशेष्यभावो वा संभवति ।

पू० प० यद्यपि चैतानि··· ··· ··· ···

शाब्द बोध के लिये अपेक्षित सभी पदों को पक्ष बना कर उसमें स्मरण किये गये अर्थों के संसर्ग को साध्य करते हैं, और 'तत्स्मारकत्व' को हेतु बनाते हैं। इस प्रकार के अनुमानों से शब्द प्रमाण से होने वाले कार्यों का निर्वाह हो सकता है।[1]

उ० प० नह्यत्र मत्वर्थः··· ··· ··· ···

इस अनुमान में बाध दोष है, क्योंकि "स्मारितार्थसंसर्गवन्ति" इस साध्यबोधक वाक्य में जो 'मतुप्' प्रत्यय है, उसका अर्थ संयोग, समवाय, तादात्म्य, एवं विशेष्यविशेषणभाव

1. अनुमान प्रयोग करनेवालों का यह आशय है कि शब्द से अर्थ बोध इस प्रकार होता है कि पहले वाक्य में प्रयुक्त पदों से अलग-अलग अर्थों की स्मरण रूप उपस्थिति होती है। जिसको 'पदजन्यपदार्थोपस्थिति' कहते हैं। उसके बाद 'योग्यता' के बल से उन पदार्थों के परस्पर अभिमत संसर्ग की प्रतीति होती है, इस प्रतीति को ही 'अन्वयबोध' अथवा 'शाब्दबोध' कहा जाता है। किन्तु यह भी 'अनुमिति' रूप ही है। क्योंकि पहिले यह अनुसन्धान करना चाहिये कि पदों से अर्थों का स्मरण क्यों होता है? इस प्रश्न का सर्वसम्मत उत्तर यही है कि पदों में अर्थों के बोध को उत्पन्न करने की अभिधा 'शक्ति' नाम का एक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का प्रतियोगी है अर्थ, एवं अनुयोगी है शब्द। सम्बन्ध चूँकि द्विनिष्ठ ही होता है, अतः इस सम्बन्ध का 'सम्बन्धी' पद एवं अर्थ ये दोनों हो हैं। अतः 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' इस न्याय से जिस प्रकार हाथी के देखने से महावत का, अथवा महावत के देखने से हाथी का स्मरण होता है, उसी प्रकार पद और अर्थ दोनों चूँकि शक्ति रूप सम्बन्ध के सम्बन्धी हैं, अतः पद के ज्ञान से शक्ति रूप सम्बन्ध के ज्ञाता पुरुष को अर्थ का स्मरण होता है। इस प्रकार पद अपने अर्थ का स्मारक है। अतः अर्थस्मारकत्व रूप हेतु पक्ष स्वरूप पदों में है। पदजनित पदार्थ स्मृति की इस प्रकार की उपपत्ति से यह सिद्ध होता है कि पद और अर्थ इन दोनों में कोई सम्बन्ध अवश्य है। इससे यह व्याप्ति निष्पन्न होती है कि जो पद जिस अर्थ का स्मारक है, उस पद में उस अर्थ को समझाने की 'शक्ति' अवश्य है। इसी व्याप्तिमूलक अनुमान का प्रदर्शन 'यद्यपि चैतानि' इत्यादि सन्दर्भ से हुआ है। अर्थात् शब्द के द्वारा जिस रीति से उक्त प्रमिति की उत्पत्ति होती है, वह 'अनुमिति' रूप ही है। अतः शब्द नाम का कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।

ज्ञाप्यज्ञापकभावस्तु स्वातन्त्र्येणानुमानान्तर्भाववादिभिर्नेष्यते ।

न च लिङ्गतया ज्ञापकत्वं यल्लिङ्गस्य विषयस्तदेव तस्य, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । तदुपलम्भे हि व्याप्तिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदनुमानमिति ।

ये चार सम्बन्ध नहीं हो सकते । अतः प्रश्न होता है कि स्मारित अर्थ का कौन सा सम्बन्ध प्रकृत में साध्य है ? यदि (१) संयोग सम्बन्ध को साध्य मानें तो बाध स्पष्ट है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध द्रव्यों में ही होता है, अतः पद चूँकि शब्द रूप होने के कारण गुण है, अतः उसमें किसी का संयोग सम्बन्ध संभव ही नहीं है (२) 'समवाय' सम्बन्ध को साध्य मानने पर भी बाध दोष का उद्धार नहीं होगा, क्योंकि पद रूप पक्ष चूँकि शब्द होने के कारण गुण है, अतः समवाय सम्बन्ध से उसमें केवल जाति ही रह सकती है, 'स्मारितार्थससर्ग' चूँकि जाति नहीं है, अतः उसकी भी सत्ता पक्ष में संभव नहीं है । (३) 'तादात्म्य' सम्बन्ध के रहने की तो संभावना ही नहीं है, क्योंकि तादात्म्य अभिन्न वस्तुओं में ही होता है । अतः पद रूप पक्ष के साथ 'स्मारितार्थ' का तादात्म्य संभव नहीं है । (४) 'पद' एवं उक्त 'अर्थ' दोनों में 'विशेष्यविशेषणभाव संबन्ध भी संभव नहीं है, क्योंकि 'स्मारितार्थसंसर्ग' है परस्पर अन्वित पदार्थों का धर्म, अतः वह पदार्थ का ही विशेषण हो सकता है, पद रूप पक्ष का नहीं । अतः इस पक्ष में भी बाध स्पष्ट है ।

ज्ञाप्यज्ञापकभावस्तु ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि अन्य सम्बन्ध भले ही संभव न हो, किन्तु उक्त पदार्थ का संसर्ग तो पद का ज्ञाप्य है, एवं पद उसका ज्ञापक है । इस प्रकार 'पद' एवं 'स्मारितार्थ' इन दोनों में ज्ञाप्यज्ञापकभाव सम्बन्ध सम्भव है । अतः पद रूप पक्ष में इस सम्बन्ध के रहते बाध दोष की सम्भावना नहीं है । किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि) जो समुदाय शब्द को अनुमान विधया प्रमाण मानते हैं, उनके मत से उक्त संसर्ग में जो पदज्ञाप्यता है, वह 'अनुमितिविषयता' रूप ही है । अतः उक्त अनुमिति के बाद ही उक्त संसर्ग में ज्ञाप्यता अथवा पद में ज्ञापकता आवेगी, अनुमिति से पहिले नहीं । अतः अनुमिति से पहिले ज्ञाप्यज्ञापकभाव सम्बन्ध की सत्ता पद में उपपन्न नहीं हो सकती । इसलिये इस प्रकार से भी बाध दोष का निराकरण नहीं हो सकता ।

न च लिङ्गतया ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में वैशेषिकगण कह सकते हैं कि प्रकृत में जो 'तत्स्मारकत्व' हेतु दिया गया है, वह तबतक उपपन्न नहीं हो सकता जबतक कि पद को उक्त संसर्ग का ज्ञापक न मानें । क्योंकि पद में जो 'अर्थ' अथवा 'अर्थसंसर्ग' की स्मारकता है, उसका मूल 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' यह न्याय ही है । किन्तु पद में अर्थ की

तथाप्याकांक्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात् 'गामभ्याज' इति पदार्थवदिति स्यात् ।

स्मारकता तो सभी स्वीकार करते हैं । इसके लिए पद और अर्थ दोनों में ज्ञाप्यज्ञापकभाव सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है । इस से कथित बाध दोष का उद्धार हो जाता है । किन्तु यह समाधान भी उचित नहीं है, क्योंकि) पद में लिङ्गविधया जो अर्थ संसर्ग के ज्ञापकत्व का उपपादन किया गया है, यह 'तस्मारकत्वात्' इस हेतु वाक्य का विवरण मात्र है । फलतः अनुमिति से पहिले ही हेतु में साध्य की ज्ञापकता को स्वीकार करने के समान है । ऐसा करने पर 'अन्योन्याश्रयं' दोष होगा' क्योंकि जब पद में लिङ्गविधया किसी दूसरे प्रमाण से अर्थ संसर्ग की ज्ञापकता की उपलब्धि होगी (अर्थात् जब अनुमिति हो जायगी) तब पद में उक्त ज्ञापकता की उपलब्धि होगी । एवं जब पद में ज्ञापकता की उपलब्धि होगी, तब 'तस्मारकत्व' रूप हेतु में साध्य की व्याप्ति उपलब्ध होगी । अनुमिति की उत्पत्ति व्याप्ति निश्चय के बाद ही होगी । अतः इस प्रकार प्रकृत अनुमान में बाध दोष का उद्धार नहीं किया जा सकता । सुतराम् कथित अनुमानों से शब्द प्रमाण से होनेवाले कार्य का निर्वाह सम्भव नहीं है[1] ।

तथापि अकांक्षादिमद्भिः ··· ··· ··· ···

(सिद्धान्ती वैशेषिकों का कहना है कि उक्त अनुमानों से शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में भले ही सम्भव न हो, किन्तु निम्नलिखित दोनों अनुमानों से वह सम्भव है । प्रथम अनुमान का आकार है 'एते पदार्थाः तात्पर्यविषयस्मारितार्थसंसर्गवन्तः आकांक्षादि-मद्भिः पदैः स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवत् ।

इस अनुमान में पदों के अर्थ ही पक्ष हैं । एवं वक्ता के अभिप्रेत एवं पदों के द्वारा स्मारित अर्थों का परस्पर सम्बन्ध ही साध्य है । आकांक्षा योग्यता प्रभृति से युक्त पदों से उत्पन्न स्मृति की विषयता ही हेतु है ।

आशय यह है कि जो सम्प्रदाय शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, उन लोगों के मत से भी आकांक्षा योग्यता प्रभृति से युक्त पदों से ही शाब्दबोध होता है । अतः यही कहना होगा कि आकांक्षा-योग्यतादि से संवलित पदों से पदार्थों की उपस्थिति होने के बाद ही शाब्दबोध या अन्वयबोध होता है । इस से यह निष्कर्ष निकला कि अन्वयबोध उन्हीं पदार्थों के परस्परसंसर्ग का होता है, जिनकी उपस्थिति आकांक्षा-योग्यता प्रभृति से युक्त

---

१. इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से वैशेषिकैकदेशी के अनुमानों का सिद्धान्ती वैशेषिकों ने ही खण्डन किया है । अब 'तथापि आकांक्षादिमद्भिः' इत्यादि सन्दर्भ के सिद्धान्ती वैशेषिकों के अनुमान प्रदर्शित हुए हैं ।

न च विशेषासिद्धिर्दोषः, संसर्गस्य संसृज्यमानविशेषादेव विशिष्टत्वात् ।

पदों के द्वारा होती है। इस से यह व्याप्ति निष्पन्न होती है कि 'जिन पदार्थों की उपस्थिति (स्मृति) आकांक्षादि से युक्त पदों से होती है, वे पदार्थ अवश्य ही परस्पर उस संसर्ग से युक्त होते हैं, जिस संसर्ग में वक्ता का तात्पर्य है। अतः 'चैत्रः पचति' इस वाक्य से यह अनुमान हो सकता है कि "उक्त वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ अवश्य ही परस्पर अभिमत संसर्ग से युक्त हैं, क्योंकि उन पदार्थों की उपस्थिति आकांक्षादि से युक्त पदों के द्वारा होती होती है। जैसे कि 'गामभ्याज' इस वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ। इस प्रकार जब शब्द प्रमाण से होने वाले बोध का निर्वाह अनुमान प्रमाण से भी हो सकता है, तो फिर शब्द नाम के अतिरिक्त प्रमाण को स्वीकार करना अनावश्यक है।

पू० प० न च विशेषासिद्धि— ... ...

उक्त अनुमान के द्वारा आकांक्षादि से युक्त पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों में परस्पर जितने भी प्रकार के संबन्ध संभावित हैं, सामान्य रूप से उन सभी सम्बन्धों की सिद्धि होगी। किन्तु शब्द के प्रयोक्ता को तो किसी विशेष सम्बन्ध की सिद्धि ही अभिप्रेत रहती है, अबाधित सभी सम्बन्धों की नहीं। अतः यह कार्य तात्पर्य के बल से शाब्दबोध के द्वारा भी हो सकता है। अनुमान में तो उक्त विशेष प्रकार के सम्बन्धभान का नियामक कोई भी नहीं हैं। अतः शब्द प्रमाण से होने वाला यह 'विशेषसम्बन्ध की प्रतिपत्ति' रूप कार्य अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता।

सि० संसर्गस्य ... ...

(यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि) उक्त समान्य विषयक अनुमान का पर्यवसान भी विशेषानुमान में ही होता है। अतः जहाँ जिस वाक्य से जो बोध अभिप्रेत होगा, उस वाक्य में प्रयुक्त पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों को ही पक्ष बना कर उसमें उन पदार्थों के अबाधित संसर्गों में से जितने ही सम्बन्ध की सिद्धि अभिप्रेत होगी, केवल उतने ही सम्बन्ध को साध्य बनावेंगे। इस प्रकार सामान्यसिद्धि के बाद पक्षधर्मता के बल पर 'संसर्गविशेष' की सिद्धि होगी।[1]

---

1. जैसे कि 'चैत्रः पचति' इस वाक्य स्थल में चैत्र, सु, पच् तिप् इन चारों पदों के अर्थ पद हैं, एवं सुप् के अर्थ एकत्व का चैत्र पदार्थ में समवाय सम्बन्ध, तिबर्थ कृति का पच् धातु के अर्थ का अनुकूलत्व सम्बन्ध, तिबर्थ कृति का चैत्र में ही समवाय सम्बन्ध का बोध अभिप्रेत है। अतः उक्त पक्ष में उक्त हेतु से इन्हीं सम्बन्धों की सिद्धि होती है। जिसका आकार है 'समवायेन एकत्वविशिष्टश्चैत्रः समवायेन पाकानुकूलकृतिमान्' शाब्दबोध भी तो इसी आकार का होता है। अतः शब्द भी अनुमान ही है।

यद्वा, एतानि पदानि स्मारितार्थं संसर्गपूर्वकाणि आकांक्षादिमत्त्वे सति तत्स्मारकत्वात् गामभ्याजेति पदवत्। नचैवमर्थासिद्धिः, ज्ञानावच्छेदकतयैव तत्सिद्धेः।

यद्वा— — ··· ···

अथवा अनुमानवाक्य में प्रयुक्त होनेवाले पद को ही पक्ष करेंगे। पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों के परस्परसम्बन्धज्ञानपूर्वकत्व को ही साध्य बनावेंगे, एवं आकांक्षादिमत्व सहित पदार्थस्मारकत्व को ही हेतु मानेंगे, 'गामभ्याज' इत्यादि वाक्य के पदों को दृष्टान्त मानेंगे।

अनुमान के प्रयोक्ता का आशय है कि वक्ता को जब श्रोता में किसी बोध को उत्पन्न करने की इच्छा होती है, तभी वह शब्द का प्रयोग करता है। अतः वक्ता के लिये पहिले यह अनुसन्धान आवश्यक है कि 'श्रोता में किस प्रकार के बोध का उत्पादन करना है'। जब प्रयोक्ता को इस ज्ञान का पता चल जाता है, तब वह उपयुक्त शब्दों का अनुसन्धान कर, उनका प्रयोग करता है। श्रोता चूंकि पदों की सामर्थ्य को जानता रहता है, अतः उसे यह भान होता है कि 'वक्ता को इस प्रकार के ज्ञान का उत्पादन मेरी आत्मा में इष्ट है'। फलतः ये सभी पद वक्ता के उक्त ज्ञानपूर्वक हैं। क्योंकि ये सभी पद परस्पर सांकांक्ष होते हुए उक्त ज्ञान के विषयीभूत अर्थों के ही उपस्थापक (स्मारक) हैं। इस रीति से पदों में उक्त संसर्गज्ञानपूर्वकत्व की वक्ता की अनुमिति से श्रोता को वह ज्ञान स्वतः हो जाता है, जो वक्ता को अभीष्ट रहता है। क्योंकि विशेषण को जाने बिना विशिष्ट को जानना संभव ही नहीं है। अतः यह मान लेना होगा कि जिस (श्रोता) को उक्त 'संसर्गज्ञानपूर्वकत्व' का अनुमिति रूप विशिष्टज्ञान होता है, उसको उससे पूर्व ही उक्त 'संसर्ग' का ज्ञान भी अवश्य हो चुका रहता है। उक्त 'संसर्गज्ञान' को ही शब्द को प्रमाण मानने वाले 'अन्वयबोध' अथवा 'शाब्दबोध' कहते हैं। उक्त रीति से यह अन्वयबोध जब अनुमान प्रमाण से भी हो सकता है, तो फिर शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

पू० प० न चैवम्··· ··· ··· ···

किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि (१) इस अनुमान से केवल ज्ञान की ही सिद्धि हुई अर्थ की नहीं। एवं (२) यदि अर्थ की सिद्धि मान भी लें, तो संसर्गसामान्य रूप अर्थ की ही सिद्धि होगी 'अभिमत संसर्ग रूप विशेष अर्थ' की नहीं।

सि० प० ज्ञानावच्छेदकतया··· ··· ··· ···

(१) ज्ञान की सिद्धि से अर्थ की भी सिद्धि होगी, क्योंकि अर्थ ही ज्ञान का भेदक है। बिना विषय का (निर्विषयक) ज्ञान कभी नहीं होता। इस प्रकार विषय ज्ञान का 'अवच्छेदक' है अर्थात् ज्ञानों में परस्पर एक दूसरे का 'भेदक' है। अतः संसर्गविषयक ज्ञान के हो जाने पर 'ज्ञानावच्छेदकतया' विषय की भी सिद्धि स्वतः हो जायगी।

तस्य च संसृज्यमानोपहितस्यैवावच्छेदकत्वान्न विशेषाप्रतिलम्भ इति। अत्रोच्यते—

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निश्चयः ।
आकाङ्क्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना ।।१३।।

तस्य च··· ··· ··· ···

(२) विशेषसंसर्ग की अप्रतीति का प्रसङ्ग भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान में अवच्छेदक रूप से जिस संसर्ग का भान होता है, वह किसी वस्तु विशेष (प्रतियोगी) का किसी आश्रय (अनुयोगी) में रहनेवाला संसर्ग ही है संसर्ग सामान्य नहीं, क्योंकि यदि संसर्ग सामान्य को ज्ञान का भेदक मानेंगे तो वह ज्ञानों में परस्पर भेद रूप अपना कार्य नहीं कर सकेगा। अतः संसर्ग विशेष का 'अप्रतिलम्भ' अर्थात् विशेषसंसर्ग के ज्ञान की अनुपपत्ति भी प्रकृत में नहीं है।

अत्रोच्यते··· ··· ··· ···अनैकान्तः परिच्छेदे

इस प्रसङ्ग में हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि (कथित पदार्थ पक्षक प्रथम अनुमान के साध्यबोधक वाक्य में जो 'संसर्गवन्तः' पद है, वह यदि) 'परिच्छेद' रूप अर्थात् निश्चितसंसर्गवत्त्व रूप रहे, तो उसका साधक (आकांक्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात् यह हेतु अनैकान्तिक हो जायगा (क्योंकि अनाप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों में साध्य नहीं है, अथ च हेतु है)।

(यदि उक्त साध्यबोधक 'संसर्गवन्तः' इस पद के द्वारा पदार्थों में परस्पर संसर्ग की संभावना का साधन अभिप्रेत हो तो उस से) पदार्थों के संसर्गवत्त्व का निश्चय (रूप अन्वयबोध ही) न सकेगा।

(यदि पदपक्षक अनुमान का अवलम्बन करें तो प्रकृत हेतु में विशेषणीभूत आकांक्षा को ज्ञात होकर अनुमित रूप अन्वय बोध का कारण मानना होगा, किन्तु) आकांक्षा केवल अपनी सत्ता के द्वारा ही अन्वयबोध का हेतु है (ज्ञात होकर नहीं)।

(यदि इसके वारण के लिए केवल आसत्ति को कारण न मान कर) योग्या आसत्ति को शाब्दबोध का कारण मानें, तथापि समाधान संभव नहीं है, क्योंकि 'योग्यासत्ति' में साध्य की व्याप्ति ही नहीं है।[1]

---

1. इस श्लोक के द्वारा पदार्थपक्षक एवं पदपक्षक कथित दोनों ही अनुमानों में दोष दिखलाये गये हैं। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध से पदार्थ पक्षक अनुमान में एवं उत्तरार्द्ध से पद पक्षक अनुमान में दोष दिखलाये गये हैं। श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या के लिये प्रथम अनुमान वाक्य के प्रसङ्ग में इन विकल्पों का उत्थापन करना होगा कि

एते पदार्था मिथः संसर्गवन्त इति संसृष्टा एवेति नियमो वा साध्यः, सम्भावितसंसर्गा इति वा ? । न प्रथमः, अनाप्तोक्तपदकदम्बस्मारितैनैकान्तात् । आप्तोक्त्या विशेषणीयमिति चेन्न ।

एते पदार्थाः··· ··· ··· ···

'एते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः' इस साध्य बोधक वाक्य के अन्तर्गत पदों के अर्थ अवश्य ही परस्पर संसर्ग से युक्त है ? 'अथवा' पदों के अर्थों में परस्पर संसर्ग की संभावना है ? इन दोनों अर्थों में से पहिला अर्थ इसलिये ठीक नहीं है कि ऐसा स्वीकार करने पर 'आकांक्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात्' यह हेतु व्यभिचरित हो जायगा, क्योंकि अनाप्त (अप्रामाणिक) पुरुष के द्वारा उच्चरित पदों में आकांक्षादि का साहित्य रहने पर भी उनमें परस्पर संसर्ग निश्चित नहीं रहता, परस्पर संसर्ग की संभावना भले ही रहे। अतः अनाप्त व्यक्तियों से उच्चरित पदों में साध्य नहीं है, अथ च हेतु है। अतः इस पक्ष में व्यभिचार स्पष्ट है।

पू० प० आप्तोक्त्या ··· ··· ··· ···

इस व्यभिचार दोष को हटाने के लिये हेतु घटक पदसमूह में 'आप्तोक्तत्व' विशेषण लगावेंगे। अर्थात् 'आप्तोक्तैः आकांक्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात्" ऐसे हेतु वाक्य का प्रयोग करेंगे। यह हेतु भी अनाप्त पुरुष से उच्चरित पदों में चूँकि नहीं है, अतः उसमें साध्य के न रहने पर भी व्यभिचार दोष की संभावना नहीं है।

सि० प० न, वाक्यार्थप्रतीतेः ··· ··· ··· ···

किन्तु उक्त समाधान भी उचित नहीं है, क्योंकि उक्त हेतु में आप्तोक्तत्व विशेषण देने से भी व्यभिचार दोष के हटने की संभावना नहीं है। क्योंकि कौन सा वाक्य आप्त पुरुष से उच्चरित है—इसका निर्णय वाक्यार्थबोध के बाद जब उस बोध में प्रामाण्य का निश्चय होगा तभी हो सकता है। वाक्यार्थ बोध से पहिले वाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय हो ही नहीं

---

(१) पदार्थों में जो परस्पर संसर्ग का साधन करना चाहते हैं, उससे क्या पदार्थों में परस्पर संसर्ग की सत्ता के नियम की साधन करना चाहते हैं अर्थात् 'क्या ये पदार्थ अवश्य ही परस्पर संबन्ध से युक्त हैं' यह साधन करना चाहते हैं ? अथवा पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की संभावना को अर्थात् परस्पर सम्बन्ध की योग्यता को साधन करना चाहते हैं ? इन दोनों में से प्रथम विकल्प का खण्डन पूर्वार्द्ध प्रथम चरण से एवं उत्तरार्द्ध का उसके द्वितीय चरण से खण्डन किया गया है।

वाक्यार्थप्रतीतेः प्राक् तदसिद्धेः । न ह्यविप्रलम्भकत्वमात्रमिहाप्तशब्देन विवक्षितम्, तदुक्तेरपि पदार्थसंसर्गव्यभिचारात् । अपि तु तदनुभवप्रामाण्यमपि ।

सकता । वाक्यार्थ का बोध उक्त अनुमिति से ही स्वीकार करते हैं, अतः अनुमिति के बाद होनेवाले आप्तोक्तत्व निश्चय के विषयी भूत 'आप्तोक्तत्व' हेतु का विशेषण नहीं हो सकता। क्योंकि हेतुतावच्छेदक विशिष्ट हेतु का निश्चय अनुमिति का कारण है । आप्तोक्तत्व होगा हेतुतावच्छेदक, अतः तद्विशिष्ट हेतु का ज्ञान संभव न होने से अनुमिति नहीं होगी । अतः हेतु में आप्तोक्तत्व विशेषण नहीं दिया जा सकता ।

न ह्यविप्रलम्भकत्वमात्रम् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में वैशेषिकगण कह सकते हैं कि—'आप्तोक्तत्व' का प्रकृत में 'अविप्रलम्भकत्व' ही अर्थ है । अर्थात् जिसने कभी किसी को नहीं ठगा है, जिसकी बातें कभी मिथ्या प्रमाणित नहीं हुई है, उक्त व्यक्ति के वाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय वर्त्तमान वाक्य के बोध से पहिले भी हो सकता है । अतः यह कहना ठीक नहीं है कि "आप्तोक्तत्व का निश्चय जिस लिये कि वाक्यार्थ बोध से पहिले संभव नहीं है, अतः हेतु में आप्तोक्तत्व विशेषण नहीं दिया जा सकता" किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि जिस पुरुष को सभी 'अविप्रलम्भक' मानते हैं, उनकी बातें कभी भी मिथ्या न हों—ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता । क्योंकि भ्रान्तिवश वे भी मिथ्यावाक्य का प्रयोग कर सकते हैं । अतः प्रकृत में आप्तत्व का अर्थ अविप्रलम्भकत्व नहीं हो सकता । क्योंकि उक्त प्रकार के पुरुषों से प्रयुक्त पदों के अर्थों में भी कभी परस्पर सम्बन्ध का अभाव रह सकता है । अतः हेतु में आप्तोक्तत्व विशेषण के देने पर भी अविप्रलम्भक पुरुष के द्वारा उच्चरित भ्रान्तवाक्य के पदों में व्यभिचार रहेगा ही ।

अपि तु ··· ··· ··· ···

अतः उक्त व्यभिचार के वारण के लिये जो 'आप्तोक्तत्व' विशेषण दिया है, उसमें प्रयुक्त 'आप्त' शब्द का वाक्य प्रयोग के उपयुक्त प्रमाज्ञान से उक्त पुरुष ही अर्थ करना पड़ेगा । (वाक्य के प्रयोग से पहिले वक्ता में जो वाक्यार्थ विषयक बोध के समान बोध रहता है, उसको प्रमा रूप होना आप्तत्व के लिये आवश्यक है) । इस प्रकार के आप्तोक्तत्व विशेषण के देने से यद्यपि उक्त व्यभिचार का वारण हो जाता है, क्योंकि इस प्रकार के आप्तपुरुष के

न चैतच्छक्यमसर्वज्ञेन सर्वदा सर्वविषये सत्यज्ञानवानयमिति निश्चेतुम्, भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्। तत्र कचिदाप्तत्वमनाप्तस्याप्यस्तीति न तेनोपयोगः। ततोऽस्मिन्नर्थेऽयमभ्रान्त इति केनचिदुपायेन ग्राह्यम्। न चैतत् संसर्गविशेषमप्रतीत्य शक्यम्; बुद्धेरर्थभेदमन्तरेण निरूपयितुमशक्यत्वात्। पदार्थमात्रे चाऽभ्रान्तत्वसिद्धौ न किञ्चित्, अनाप्तसाधारण्यात्। एतेषां संसर्गेऽयमभ्रान्त इति शक्यमिति चेन्न। ऐतेषां संसर्गं इत्यस्या एव बुद्धेरसिद्धेः।

द्वारा उच्चरित वाक्य के पदों से उपस्थित अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का अभाव (रूप साध्याभाव) कभी नहीं रह सकता। किन्तु आप्तोक्तत्व विशेषण देना संभव ही नहीं है। क्योंकि अनुमिति से पहिले आप्तोक्तत्व से युक्त उक्त हेतु का ज्ञान ही संभव नहीं है। जिस पुरुष का कोई भी वाक्य आजतक मिथ्या प्रमाणित नहीं हुआ है, उनके प्रसङ्ग में भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि उनका कोई भी वचन आगे भी मिथ्या नहीं होगा। क्योंकि भ्रान्ति तो पुरुष का धर्म है, अतः कोई कितना भी नैष्ठिक क्यों न हो उसके वाक्य में अप्रामाण्य की संभावना बनी ही रहेगी। (यदि योगियों में कोई ऐसे पुरुष हों भी, तथापि उनमें भी कथित आप्तत्व का निश्चय सर्वज्ञ योगियों को ही हो सकता है, अस्मदादि को नहीं)। अतः उक्त रीति से शब्द मूलक अनुमिति जन साधारण को न हो सकेगी।

तत्र कचित् ··· ··· ··· ··· अनुपपत्तिरिति

दूसरी बात यह है कि जिस पुरुष को सभी ठग ही समझते हैं, या जिस को सभी अनाप्त ही मानते हैं, वह पुरुष भी कभी सत्य बोलता ही है। अतः वह भी किसी विषय में अवश्य ही आप्त है। इसलिए आप्त पद से ऐसा पुरुष अभिप्रेत होना चाहिए जो कभी किसी को नहीं ठगा है (सर्वथा अविप्रलम्भक) है। ऐसी स्थिति में आप्तोक्तत्वघटित उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा। क्योंकि कथित 'अनाप्त' पुरुष के द्वारा उच्चरित पदों से उपस्थित अर्थों में आप्तोक्तत्व विशेषण से युक्त हेतु नहीं है। किन्तु शाब्दबोध तो वहां भी इष्ट है। अतः प्रकृत हेतु में यदि 'आप्तोक्तत्व' विशेषण देना है, तो उस में प्रयुक्त 'आप्त' शब्द का यही अर्थ करना होगा कि "जिस वक्ता में स्वोच्चरितवाक्यार्थ का प्रमाज्ञान रहे, वही पुरुष उस विषय में 'आप्त' है"। वस्तुतः अनुमिति में इसी प्रकार के आप्तोक्तत्व उपयोग हो सकता है। अतः इस प्रकार के आप्तोक्तत्व का ज्ञान ही जिस किसी प्रकार आवश्यक होगा। किन्तु अनुमिति से पहिले यह ज्ञान सम्भव ही नहीं है। क्योंकि "अयं एतावत्पदार्थसंसर्गविशेषविषयकप्रमाज्ञानवान्" इस ज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान विधया उक्त पदार्थों का संसर्गज्ञान आवश्यक है। क्योंकि इस ज्ञान से ही आप्त और अनाप्त के भेद का निर्णय होगा। असाधारण विषय ही ज्ञानों में परस्पर भेद के नियामक हैं। प्रकृत में पदार्थों का परस्पर विशेष संसर्ग

अननुभूतचरे स्मरणायोगात्, तदनुभवस्य लिङ्गाधीनतया तस्य च विशेषणा-सिद्धत्वेनानुपपत्तेरिति ।

नापि द्वितीयः, योग्यतामात्रसिद्धावपि संसर्गानिश्चयात्, वाक्यस्य च तदेक-फलत्वात्, योग्यतामात्रस्य प्रागेव सिद्धेः। अन्यथा तदसिद्धावासन्नसाकाङ्क्षपद-स्मारितत्वादित्येव हेतुः स्यात् । तथा च 'अग्निना सिञ्चेदि' त्यादिना स्मारितैर-नैकान्तः, तथाविधानां सर्वथा संसर्गायोग्यत्वादिति ।

ही उक्त असाधारण विषय हैं। क्योंकि केवल पदार्थों में ही अभ्रान्तत्व के निर्णय से आप्त और अनाप्त में जो भेद है—उसको नहीं समझा जा सकता। क्योंकि केवल पदार्थो का ज्ञान तो अनाप्तपुरुषों को भी रहता ही है। अतः आप्तत्व के निश्चय के लिए पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान अनुमिति से पहिले सम्भव नहीं है।

अननुभूतचरे ··· ··· ··· ···

पदार्थों के संसर्ग का स्मरणात्मक ज्ञान भी अनुमिति से पहिले सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रोता को पदार्थों के उक्त संसर्ग का पहिले अनुभव नहीं है। पदार्थों के संसर्ग का अनुभव अनुमिति रूप ही होगा। अनुमिति की उत्पत्ति हेतुतावच्छेदक विशिष्ट हेतु ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। हेतु के विशेषण कोटि में कथित आप्तोक्तत्व भी है, जिसमें पदार्थों का उक्त संसर्ग ज्ञान भी अन्तर्निविष्ट है। अतः उक्त संसर्गज्ञान के बिना हेतुत्व का उक्त विशिष्टज्ञान ही सम्भव नहीं है। इस लिये प्रथम अनुमान के प्रथम विकल्प के विषय "एते पदार्थाः परस्परं संसृष्टा एव' इस 'नियम' विषयक अनुमिति वाला प्रथम पक्ष ठीक नहीं है।

नापि द्वितीयः ··· — ··· ···

'एते पदार्थाः परस्परं सम्भावितसंसर्गकाः' इस आकार की अनुमिति से भी शब्द प्रमाण से होनेवाले कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि इस अनुमान से एतद् पदार्थों के समूह में परस्पर संसर्ग की 'योग्यता' अर्थात् सम्भावना की ही सिद्धि होती है। यह तो अनुमिति से पहिले भी सिद्ध ही है। अतः इस अनुमान में सिद्धसाधन दोष है।

पदों के अर्थों में परस्पर संसर्ग की योग्यता तो इस अनुमिति से पूर्व ही सिद्ध है। क्योंकि हेतु वाक्य में प्रयुक्त 'आकांक्षादिमत्व' पद के 'आदि' शब्द से 'योग्यता' भी अभिप्रेत है। अगर ऐसा न हो—अर्थात् उक्त आदि पद से केवल 'आसत्ति' का ही ग्रहण अभिप्रेत हो—तो फिर हेतु का स्वरूप 'आसन्नाकांक्षपदस्मारितत्व' मात्र होगा। किन्तु यह हेतु 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त पदों से उपस्थित अर्थों में व्यभिचरित है। क्योंकि इन पदार्थों में परस्पर संसर्ग रूप साध्य नहीं है, किन्तु (योग्यता से अघटित) उक्त पदस्मारितत्व रूप हेतु है। अतः उक्त 'आदि' पद से 'योग्यता' का भी ग्रहण करना ही

द्वितीयेऽपि प्रयोगे हेतुराकाङ्क्षादिमत्त्वे सतीति। तत्र केयमाकाङ्क्षा नाम?

न तावद्विशेषणविशेष्यभावः, तस्य संसर्गस्वभावतया साध्यत्वात्। नाऽपि तद्योग्यता,

---

होगा। सुतराम् अनुमिति के लिए हेतुतावच्छेदकीभूत योग्यता के ज्ञान संपादक के रूप में पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान अनुमिति के पहिले ही आवश्यक होगा। जिस से प्रकृतानुमिति में सिद्धसाधन अनिवार्य होगा। अतः इस अनुमिति से शब्द प्रमाण का कार्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह भी है कि निश्चयात्मक ज्ञान ही शब्द प्रमाण का फल है। किन्तु प्रकृत अनुमान प्रमाण से तो सम्भावनात्मक ज्ञान ही होगा। अतः इस अनुमान से भी शब्द प्रमाण से होनेवाले कार्य का निर्वाह नहीं हो सकता।।

द्वितीयेऽपि 1 ··· ··· ··· ···

(इस न्यायप्रयोग को समझने के लिये पहिले यह विकल्प करना चाहिये कि) हेतुवाक्य में जिस 'आकांक्षा' पद का प्रयोग किया गया है, उस 'आकांक्षा' पद का क्या अर्थ है?

न तावत् ··· ··· साध्यत्वात्

(१) कोई कहते हैं कि पदों से उपस्थित अर्थों में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव ही 'आकांक्षा' है। किन्तु प्रकृत हेतुवाक्य में प्रयुक्त 'आकांक्षा' पद का यदि विशेष्यविशेषणभाव रूप अर्थ रहे, तो उक्त अनुमान ही अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि प्रकृत में विशेष्यविशेषणभाव वस्तुतः पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों में परस्पर सम्बन्ध रूप ही है। वही इस अनुमान की साध्यकोटि में भी है। इसलिये वह 'साध्य' है 'सिद्ध' नहीं। हेतु को अथवा हेतु के विशेषण को पहिले से 'सिद्ध' रहना चाहिये। तस्मात् जिस 'आकांक्षा' का अर्थ विशेष्यविशेषणभाव हो, उस से युक्त हेतु के द्वारा अनुमान नहीं हो सकता।

२. नापि तद्योग्यता ··· ··· ··· ···

(किसी का कहना है कि विशेष्यविशेषणभाव की योग्यता ही प्रकृत में 'आकांक्षा' है। यदि विशेष्यविशेषणभाव पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप है भी, तथापि 'तत्पूर्वकत्व' ही साध्य है।

---

1. 'द्वितीयेऽपि प्रयोगे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा श्लोक के दूसरे चरण की व्याख्या की गयी है। 'यद्वा एतानि पदानि' इत्यादि से कारिका के अवतरण सन्दर्भ में जो अनुमान-वाक्य लिखा गया है, वही यहाँ 'द्वितीयप्रयोग' शब्द से अभिप्रेत है। इस अनुमान के हेतु में 'आकांक्षादि' पद के उपादान प्रयुक्त ही दोष दिखलाया गया है। किन्तु प्रथम अनुमान के हेतु में भी 'आकांक्षादि' विशेषण है ही, अतः आकांक्षादि पद के उपादान से होनेवाले दोषों का सम्बन्ध प्रथम अनुमान में भी समझना चाहिये।

योग्यतयैव गतार्थत्वात् । नाप्यविनाभावः, नीलं सरोजमित्यादौ तदभावेऽपि वाक्यार्थप्रत्ययात् । तत्रापि विशेषाक्षिप्तसामान्ययोरविनाभावोऽस्तीति चेत् ? न,

---

अतः 'योग्यता' घटित आकांक्षा को यदि हेतु का विशेषण मान लें तो उक्त सिद्ध-साधन दोष का उद्धार हो सकता है।

योग्यतयैव ··· ··· ··· —

किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है क्योंकि इस दूसरे अनुमान के हेतुवाक्य में जो 'आकांक्षादि' पद है, उस में प्रयुक्त 'आदि' पद से भी 'योग्यता' को ही लेना होगा। उसी से विशेष्यविशेषणभाव की योग्यया रूप आकांक्षा भी गतार्थ हो जायगी। फिर हेतु में 'आकांक्षा' रूप विशेषण व्यर्थ हो जायगा। जिस अनुमान के हेतु का विशेषण व्यर्थ हो, उसे हेतु दुष्ट हेतु कहा जाता है। अतः प्रकृत में आकांक्षा को विशेष्यविशेषणभाव रूप भी नहीं कहा जा सकता।

३. कोई कहते हैं कि विशेष्य एवं विशेषण इन दोनों के 'अविनाभाव' अर्थात् व्याप्ति ही प्रकृत में 'आकांक्षा' पद का अर्थ है। इस से पक्ष में उक्त दोषों की सम्भावना नहीं है।

किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'नीलम् सरोजम्' इस वाक्य से नील का भान विशेषणविधया एवं सरोज का विशेष्यविधया भान सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु सभी 'सरोज' (कमल) तो 'नील' ही नहीं होते। कमल के फूल श्वेत एवं लाल भी होते हैं। अतः सरोज एवं नील इन दोनों में व्याप्ति नहीं हो सकती। किन्तु उक्त वाक्य से बोध तो होता है। यदि आकांक्षा को विशेष्य एवं विशेषण की व्याप्ति स्वरूप माने, एवं उस को प्रकृत अनुमान के हेतु में विशेषण मानें, तो वह हेतु 'नीलं सरोजम्' इस वाक्य के पदों में न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध हो जायगा। अतः आकांक्षा को विशेष्य एवं विशेषण का अविनाभाव रूप भी नहीं कहा जा सकता।

पू० प० तत्रापि ··· ··· ···

नील रूप एवं सरोज इन दोनों में अविनाभाव रूप सम्बन्ध भले ही संभव न हो। किन्तु द्रव्यसामान्य एवं गुणसामान्य इन दोनों में अविनाभाव है। विशेष सामान्य का उपलक्षक होता है, अतः नीलरूप विशेषगुण से गुणसामान्य एवं सरोज रूप द्रव्य विशेष से द्रव्य सामान्य ही प्रकृति में विवक्षित हैं। अतः नीलत्वेन सरोजत्वेन अविनाभाव सम्बन्ध भले ही सम्भव न हो, किन्तु गुणत्वेन एवं द्रव्यत्वेन अविनाभाव संबन्ध हो सकता है। इस प्रकार सामान्यमुखी व्याप्ति के द्वारा नीलरूप गुणविशेष एवं सरोजरूप द्रव्य विशेष में व्याप्ति का उपादान किया जा सकता है।

न, 'अहो विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषश्चरती' त्यादौ वाक्यभेदानुपपत्तिप्रसङ्गात्। नापि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, पटो भवतीत्यादौ शुक्लादिजिज्ञासायां 'रक्तः पटो भवती' त्यस्यैकदेशवत् सर्वदा वाक्यापर्यवसानप्रसङ्गात्।

सि० प० न, अहो विमलम् ··· ··· ···

'अहो विमलं जलम् नद्याः, कूले महिषश्चरति' इस स्थल में वाक्य भेद को सभी स्वीकार करते हैं। अर्थात् 'नद्याः' पर्यन्त एक वाक्य है, 'कूले' इत्यादि से दूसरा वाक्य है। आकांक्षा के उक्त व्याप्तिघटित लक्षण के अनुसार 'अहो' यहाँ से लेकर 'चरति' पर्यन्त एक वाक्य मानना होगा। क्योंकि 'एकवाक्यत्व' का लक्षण इस प्रकार है :—

जो शब्द समूह विभक्त होने पर साकांक्ष रहे, एवं 'अविभक्त रहने पर एक ही विशिष्ट अर्थ का बोधक हो, उन वाक्यों का अथवा पदों का समूह ही 'एकवाक्य' है। (देखिये मीमांसा सूत्र एवं शाबर भाष्य-अ० २ पा० १ अधिकरण १४ सू० ४६)। प्रकृत में 'नद्याः' एतदन्त के पद समूह को अलग कर 'कूले' इत्यादि को पृथक् कर देते हैं, तो विभक्त यह समूह परस्पर सांकांक्ष रहते हैं। क्योंकि नदी एवं कूल में व्याप्ति है। फलतः विभक्त रहने पर इन दोनों में साकांक्षत्व है। एवं 'चरति' पर्यन्त को यदि एक ही वाक्य मान लेते हैं, अर्थात् सभी पदों को अविभक्त समझ लेते हैं, तो 'विमलजलविशिष्टनदीकूले महिषश्चरतीति 'अहो' आश्चर्यम्'' इस प्रकार का विशिष्टबोध ही हो सकता है। अतः आकांक्षा को व्याप्ति रूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि इससे उक्त स्थल में सार्वजनीन 'वाक्यभेद' की अनुपपत्ति होगी।

पू० प० नापि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा ··· ··· ···

'प्रतिपत्ता' अर्थात् बोद्धा की 'जिज्ञासा' ही आकांक्षा है। प्रकृत में 'नद्याः' पर्यन्त के शब्दों के सुनने से बोद्धा की जिज्ञासा शान्त हो जाती है। एवं 'कूले' इत्यादि शब्दों से बोध होने पर कुछ जिज्ञास्य नहीं रहता। अतः उक्त दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष नहीं हैं। इस लिए साकांक्षत्व घटित एकवाक्यता भी उन में नहीं है। अतः हेतु में विशेषणीभूत आकांक्षा के निर्वचन न होने से जो आकांक्षा घटित हेतु से उत्पन्न होने वाली अनुमिति की अनुपपन्नता दिखलायी गयी है, वह ठीक नहीं है।

सि० प० पटो भवति ··· ··· ···

'पटो भवति' इस वाक्य के प्रयोग के बाद यदि कोई प्रश्न करता है कि 'सः पटः शुक्लो वा रक्तो वा' तो वही वक्ता 'रक्तः पटो भवति' इत्यादि रक्तादि पदों से युक्त वाक्यों के द्वारा ही उक्त आकांक्षा को निवृत्त करता है। अतः उक्त प्रश्न के अव्यवहित पूर्ववर्ती 'पटो भवति' यह वाक्य रक्त पद घटित 'रक्तः पटो भवति' इस वाक्य के बाद ही स्वार्थ में पर्यवसित होता है।

गुणक्रियाद्यशेषविशेषजिज्ञासायामपि पदस्मारितविशेषजिज्ञासा आकाङ्क्षा । पट इत्युक्ते किं रूपः कुत्र किं करोतीत्यादिरूपजिज्ञासा । तत्र भवतीत्युक्ते किं करोतीत्येषैव पदस्मारितविषया, न तु किं रूप इत्यादिरपि । यदा तु रक्त इत्युच्यते तदा किं रूप इत्येषापि स्मारितविषया स्यादिति न किञ्चिदनुपपन्नमिति चेत्;

एवं जहाँ 'पटो भवति' इस वाक्य को सुनने के बाद पट में रूप विषयक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है, वहाँ रक्त पद से रहित उक्त वाक्य अपने अर्थ के बोध में समर्थ होता है।

ऐसी स्थिति में यदि बोद्धा की जिज्ञासा को ही आकांक्षा पद का अर्थ मानेंगे तो द्वितीय 'पटो भवति' इस वाक्य के पदों में आकांक्षा नहीं रहेगी। अतः निराकांक्ष होने के कारण उस से कोई बोध नहीं हो सकेगा। इस लिये जिस प्रकार पहिले के 'रक्तः पटो भवति' इस वाक्य के अन्तर्गत 'पटो भवति' यह वाक्य रक्तादि पद घटित वाक्य के बिना अपने कार्य सम्पादन में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार 'पटो भवति' इस आकार के सभी वाक्य सर्वदा अपने कार्यसम्पादन में असमर्थ ही रहेंगे। अतः आकांक्षा 'प्रतिपत्ता की जिज्ञासा' स्वरूप भी नहीं है।

पू० प० गुणक्रियादि ··· ··· ···न किञ्चिदनुपपन्नमितिचेत् ··· ··· ···

इस प्रसङ्ग में वैशेषिकों का यह अन्तिम कथन है कि केवल प्रतिपत्ता की जिज्ञासा ही 'आकांक्षा' नहीं है, किन्तु पद के द्वारा स्मरण किये गये अर्थों की जो बोद्धा (प्रतिपत्ता) की जिज्ञासा, वही 'आकांक्षा' है। 'पटः' केवल इस पद के उच्चारण के बाद 'असौ किं गुणः ? 'असौ किं क्रियः' इत्यादि जिज्ञासायें स्वभावतः उदित हो सकती हैं। इसके बाद जब 'पटो भवति' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, तो समझते हैं कि श्रोता को प्रकृत पट में 'क्रिया' की ही आकांक्षा है, क्योंकि वक्ता ने 'भवनाक्रिया' से युक्त पट के उपपादन के द्वारा उक्त आकांक्षा को शान्त की है। अतः इस स्थल में 'भवति' पद से उसी 'क्रिया' की उपस्थिति हुई है, जिसकी जिज्ञासा श्रोता पुरुष को थी। अतः ऐसे स्थलों में चूँकि श्रोता की आकांक्षा क्रियाविषयिणी है, अतः केवल 'पटो भवति' इस वाक्य को स्वार्थ का अपर्यवसायी नहीं कहा जा सकता।

'रक्तः पटो भवति' इस स्थल में 'रक्त' पद से पट में रहने वाले गुण एवं 'भवति' पद से क्रिया, इन दोनों विषयों की जिज्ञासा सूचित होती है। अतः प्रकृत में यही कहना होगा कि 'रक्त' पद से गुणाकांक्षा के विषय एवं 'भवति' इस क्रिया पद से भवनक्रिया की आकांक्षा के विषय, इन दोनों की उपस्थिति होती है। अतः उक्त स्थल में गुणविषयक एवं क्रिया-विषयक दोनों आकांक्षायें उक्त दोनों पदों के द्वारा उपस्थित विषयक ही हैं। इन में गुणाकांक्षा

एवं तर्हि चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्, किमस्यां जातायामन्वयप्रत्ययोऽथ ज्ञातायामिति ।

तत्र प्रथमे नाऽनया व्यभिचारव्यावर्तनाय हेतुर्विशेषणीयः, मनःसंयोगादिवत् सत्तामात्रेणोपयोगात् ।

का निवर्त्तक है, 'रक्त' पद, एवं क्रिया की आकांक्षा का निवर्त्तक है 'भवति' पद। इन दोनों पदों में से किसी के भी न रहने पर आकांक्षा की पूर्ण निवृत्ति नहीं होगी। अतः वाक्य अपर्यवसन्न ही रह जायगा। इसलिये उक्त स्थल में दोनों पदों के उपादान के बिना वाक्य की अपर्यवसन्नता दूर नहीं की जा सकती।

सि० प० एवं तर्हि··· ··· ··· ···

(आकांक्षा का उक्त लक्षण यद्यपि निर्दुष्ट है, फिर भी आकांक्षादि घटित हेतु से जो अनुमान होगा, उससे शाब्द प्रमिति को गतार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमिति में 'हेतु' अथवा हेतु का विशेषण (हेतुतावच्छेदक) दोनों ज्ञात होकर ही कारण हैं, स्वरूपतः वे दोनों अनुमिति के कारण नहीं है। क्योंकि धूम अथवा धूमत्व के रहते हुए भी जबतक उनका ज्ञान नहीं होता, तब तक वह्नि की अनुमिति में उनका कोई उपयोग नहीं होता।

यदि शब्द जनित अनुमिति में आकांक्षा का उपयोग हेतु में विशेषण के रूप में (हेतुतावच्छेदक विधया) मानेंगे तो ज्ञात होकर ही आकांक्षा का उपयोग मानना होगा, 'स्वरूपतः' नहीं। अर्थात् उक्त जिज्ञासा रूप आकांक्षा के ज्ञान का शब्द जनित अनुमिति रूप बोध में उपयोग मानना होगा। फिर आँख मूंद कर अवधान पूर्वक आप ही विचार करिये कि शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध में उक्त जिज्ञासा रूप आकांक्षा का स्वरूपतः उपयोग होता है ? अथवा ज्ञात होकर ? अर्थात् शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध का कारण उक्त जिज्ञासा है, अथवा उक्त जिज्ञासा का ज्ञान कारण है ?

तत्र प्रथमे ··· ··· ··· ···

इन में यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो फिर यह पूछना है कि प्रकृत हेतु में 'आकांक्षा' रूप विशेषण क्यों लगाते हैं ? क्योंकि उसके न देने से हेतु व्यभिचरित तो होता नहीं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि व्यभिचार के वारण के लिये हेतु में आकांक्षा विशेषण देते हैं। क्योंकि जिस प्रकार मनः संयोगादि अनुमिति के स्वरूपसत् कारण हैं, उसी प्रकार 'आकांक्षा' भी शब्दजनित प्रमा का स्वतः कारण है, ज्ञात होकर नहीं। अतः हेतु में 'आकांक्षा' रूप विशेषण व्यभिचार का वारक नहीं है।[1]

---

१. इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि यद्यपि निराकांक्ष वाक्यों के घटक जो पद हैं, उनमें 'परस्परज्ञानपूर्वकत्व' रूप साध्य नहीं है, किन्तु आकांक्षा रूप विशेषण से रहित उक्त 'पदत्वे सति तत्स्मारकत्व' रूप जो हेतु है, उसमें आकांक्षा पद के न देने से

आसत्तियोग्यतामात्रेण विशिष्टस्तु निश्चितोऽपि न गमक; 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादौ व्यभिचारात्।

इसलिये प्रकृत हेतु में 'आकांक्षा' रूप विशेषण न दें तो आसत्तियोग्यताविशिष्टत्वे सति तत्स्मारकत्व रूप हेतु 'अयमेति' इत्यादि वाक्य के घटक पदों में व्यभिचरित हो जायगा। अतः आकांक्षा को स्वरूपतः कारण मान कर उक्त अनुमिति की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

आसत्तियोग्यतामात्रेण ··· ··· ··· ···

(यदि आकांक्षा रूप विशेषण से किसी व्यभिचार का वारण नहीं होता है, तो अप्रयोजनीय होने से उसको छोड़ देने में लाघव ही है। 'आसत्तियोग्यतादिमत्त्वे सति तत्स्मारकत्व' को ही हेतु बनावेंगे। आसत्ति एवं योग्यता ये दोनों ज्ञात हो कर ही शब्द जनित बोध के कारण हैं, स्वरूपतः नहीं। यदि आकांक्षा से अघटित इस हेतु से भी 'अन्वयबोध' की उपपत्ति हो जायगी, तथापि शब्द नाम के स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। वैशेषिकों के इस आपेक्ष का यह समाधान है कि) पदस्मारितत्व रूप हेतु में आसत्ति एवं योग्यता इन दोनों के निश्चत रहने पर भी उस हेतु से अनुमिति नहीं होती है। क्योंकि 'अयमेति राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्य में 'यह राजा के पुत्र आ रहे हैं, पुरुष को हटाओ' इसी आकार का बोध सभी मानते हैं। किन्तु जिस प्रकार उस वाक्य में उपर्युक्त बोध के उपयुक्त आसत्ति एव योग्यता है, उसी प्रकार 'यह पुत्र आ रहा है,

---

व्यभिचार हो सकता है, एवं 'आकांक्षा' पद के देने से इस व्यभिचार का वारण भी हो सकता है, क्योंकि उक्त निराकांक्ष वाक्यों के घटक पदों में यदि साध्य नहीं है, तो साकांक्षा रूप विशेषण सहित उक्त हेतु भी नहीं है। उक्त पदों में परस्पर आकांक्षा नहीं है। इस प्रकार व्यभिचार वारक के रूप में आकांक्षा विशेषण की सार्थकता हो सकती है।

फिर भी उक्त व्यभिचार का उद्भावन एवं उसका वारण ये दोनों ही निरर्थक हैं। क्योंकि व्यभिचार व्याप्ति के प्रतिरोध के द्वारा ही अनुमिति का प्रतिरोधक है। इस 'अन्वयबोध' रूप अनुमिति का 'आकांक्षा' स्वयं कारण है, अतः निराकांक्ष वाक्यों के घटक पदों से जिन अर्थों की उपस्थिति होगी, उनकी परस्परान्वयबोध रूप अनुमिति तो आकांक्षा रूप कारण के अभाव से ही रुक जायगी। हेतु में व्यभिचार रहे चाहे न रहे। जैसे कि अन्य सभी कारणों के रहते हुये भी इन्द्रिय के साथ मन का संयोग न रहने पर प्रत्यक्ष प्रतिरुद्ध हो जाता है। सुतराम् आकांक्षा यदि अन्वयबोध का स्वरूपसत् कारण रहे, तो हेतु में 'आकांक्षा' रूप विशेषण व्यर्थ है। एवं 'व्यर्थविशेषणक' हेतु से प्रमा अनुमिति नहीं हो सकती।

द्वितीयस्तु स्यादपि,

राजा के पुरुष को हटा लो' इस आकार के बोध को उत्पन्न करनेवाली आसत्ति एवं योग्यता भी उक्त वाक्य में है। क्योंकि जिस प्रकार उस वाक्य को 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस अखण्ड रूप में पढ़ा जाता है, उसी प्रकार 'अयमेति पुत्रो राज्ञः, पुरुषोऽपसार्यताम्' इस सखण्ड रूप में भी पढ़ा जा सकता है। अतः पक्षीभूत उस वाक्य के पदों से उपस्थित अर्थों में कथित द्वितीयबोधविषयसंसर्गपूर्वकत्व रूप साध्य नहीं है, किन्तु आसत्तियोग्यताविशिष्टपदस्मारितत्व रूप हेतु है। अतः व्यभिचार दोष के कारण 'आसत्ति-योग्यताविशिष्टपदस्मारितत्व' हेतु नहीं हो सकता।

द्वितीयस्तु ··· ·· ··· ··· स्यादपि

यदि आकांक्षा को अन्वयबोध के प्रति स्वरूपतः कारण न मान कर ज्ञात होकर ही कारण मानते हैं, तो हेतु में 'आकांक्षा' को विशेषण देने की सार्थकता व्यभिचार वारण के द्वारा हो सकती है, क्योंकि आकांक्षा के न रहने पर भी आकांक्षा का ज्ञान रह सकता है। जिस वाक्य के पद वस्तुतः निराकांक्ष ही हैं, किन्तु किसी ने उनको परस्पर साकांक्ष समझ रखा है, उन पदों के अर्थों में परस्परसंसर्गज्ञानपूर्वकत्व रूप साध्य नहीं है, किन्तु आकांक्षा से अघटित उक्त हेतु है, अतः व्यभिचार होगा। इस व्यभिचार के वारण के लिये हेतु में आकांक्षा रूप विशेषण का सार्थक्य हो सकता है। क्योंकि उक्त स्थल में अन्वयबोध रूप अनुमिति की अनुत्पत्ति केवल आकांक्षा के अभाव से संपादित नहीं हो सकती। यदि आकांक्षा में स्वरूपतः अन्वयबोध की कारणता मानते, तो उसके अभाव से अनुमित्यनुत्पाद का निर्वाह हो सकता था। किन्तु आकांक्षा तो कारण है नहीं, आकांक्षा का ज्ञान कारण है। वह तो प्रकृत स्थल में है ही, अतः आकांक्षाज्ञान को कारण माननेवाले द्वितीयपक्ष में व्यभिचार वारक के रूप में 'आकांक्षा' विशेषण का सार्थक्य हो सकता है।

किन्तु वह व्यभिचार एवं उसका निवारण दोनों ही निरर्थक हैं। क्योंकि व्यभिचार से व्याप्ति प्रतिरोध के द्वारा अनुमिति ही प्रतिरुद्ध होती है। किन्तु अन्वयबोध रूप इस अनुमिति का तो आकांक्षा स्वयं ही कारण है, अतः निराकांक्ष वाक्य के पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों का परस्परान्वयबोध रूप अनुमिति तो आकांक्षा रूप कारण के अभाव से ही प्रतिरुद्ध हो जायगी। व्यभिचार के न रहने पर भी यदि आकांक्षा रूप कारण न रहेगा, तो अन्वयबोध रूप अनुमिति नहीं हो सकती। जैसे कि और सभी कारणों के रहते हुये भी यदि इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं रहता है, तो प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। अतः आकांक्षा को यदि अन्वयबोध का स्वरूपसत् कारण मानें तो हेतु में 'आकांक्षा' रूप विशेषण व्यर्थ है। जिस हेतु का विशेषण व्यर्थ हो, उस हेतु से होनेवाली अनुमिति अवश्य ही दुष्ट होगी। इसलिये यदि हेतु में आकांक्षा रूप विशेषण न दें तो केवल 'आसत्ति-योग्यताविशिष्ट तत्स्मारकत्व' हेतु

यद्यनुमानान्तरवत्तत्सद्भावेऽपि तज्ज्ञानवैधुर्यादन्वयप्रत्ययो न जायते। न त्वेतदस्ति, आसत्तियोग्यतामात्रप्रतिसन्धानादेव साकाङ्क्षस्य सर्वत्र वाक्यार्थप्रत्ययात् निवृत्ताकाङ्क्षास्य च तदभावात्।

कथमेष निश्चयः, साकाङ्क्ष एव प्रत्येति, न तु ज्ञाताकाङ्क्ष इति चेद्; तावन्मात्रेणोपपत्तावनुपलभ्यमानज्ञानकल्पनाऽनुपपत्तेः। अन्यत्र तथादर्शनाच्च।

'अयमेति' इत्यादि वाक्य के पदों में व्यभिचरित होगा, अतः आकांक्षा को स्वरूपसत् अन्वय-बोध का कारण मानकर उक्त अन्वयबोध रूप अनुमिति की उपपत्ति नहीं हो सकती।

यद्यनुमानान्तरवत् ··· ··· ··· ···

किन्तु 'आकांक्षा' स्वरूपतः ही अन्वयबोध का कारण है। ज्ञात होकर आकांक्षा अन्वयबोध का कारण नहीं है। क्योंकि कारणता का ज्ञापक है, अन्वय एवं व्यतिरेक। जिस प्रकार अन्य 'अनुमान' अर्थात् अनुमितियाँ अनुमितिकरण के अभाव से प्रतिरुद्ध होता है, उसी प्रकार यदि अन्वयबोध रूप अनुमिति आकांक्षाज्ञान के अभाव से प्रतिरुद्ध होती ? तो अन्वयबोध-रूप अनुमिति की कारणता आकांक्षा ज्ञान में मानी जाती। किन्तु सर्वत्र यही देखा जाता है कि साकाक्षवाक्य के सुनने के बाद जब आसत्ति एवं योग्यता का 'प्रतिसन्धान' अर्थात् ज्ञान हो जाता है, तो अन्वयबोध की उत्पत्ति हो जाती है। एवं आकांक्षा के न रहने पर अन्वयबोध उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार अन्वयबोध का अन्वयव्यतिरेक आकांक्षा के साथ ही है, आकांक्षा ज्ञान के साथ नहीं। अतः आकांक्षा ही अन्वयबोध का कारण है, आकांक्षा का ज्ञान अन्वयबोध का कारण नहीं है, क्योंकि उसके साथ अन्वयबोध का अन्वयव्यतिरेक नहीं है।

पू० प० कथमेष ··· ··· ··· ···

किस युक्ति से यह निर्णय करते हैं कि अन्वयबोध की उत्पत्ति 'आकांक्षा' से ही होती है, आकांक्षा के ज्ञान से नहीं ?

सि० प० तावन्मात्रेण ··· ··· ··· ···

(१) प्रथम युक्ति तो लाघव रूप ही है, क्योंकि यदि केवल आकांक्षा से ही अन्वयबोध की उपपत्ति हो जाय, तो आकांक्षा के ज्ञान से शाब्दबोध की उत्पत्ति की कल्पना गौरवास्पद होगी। फलतः इसी युक्ति से आकांक्षाज्ञान में शाब्दबोध की कारणता का निषेध हो जाता है।

अन्यत्र तथा ··· ··· ··· ···

(२) दूसरी युक्ति यह है कि 'अन्यत्र' अर्थात् शाब्दबोध से भिन्न किसी विशेष प्रत्यक्ष की उत्पत्ति केवल आकांक्षा से (आकांक्षाज्ञान के बिना ही) होती है। (विशदार्थ यह है कि)

यदा हि दूरात् दृष्टसामान्यो जिज्ञासते कोऽयमिति, प्रत्यासीदंश्च स्थाणुरयमिति प्रत्येति, तदाऽस्य ज्ञातुमहमिच्छामीत्यनुव्यसायाभावेऽपि स्थाणुरयमित्यर्थप्रत्ययो भवति, तथेहाप्यविशेषात् विशेषोपस्थानकाले संसर्गावगतिरेव जायते, न तु जिज्ञासा-वगतिरिति। न च विशेषोपस्थानात्प्रागेव जिज्ञासावगतिः प्रकृतोपयोगिनी,

---

यदा हि... ... .

जिस समय पुरुष को दूरी के कारण स्थाणु का केवल उच्चैस्तरत्व (ऊँचाई) रूप सामान्य धर्म के साथ ही प्रत्यक्ष होता है, उसके स्थाणुत्व रूप विशेष धर्म के साथ नहीं। इसके बाद उस पुरुष को यह 'आकांक्षा' होती है कि "यह कौन सी वस्तु है?" इस इच्छा रूप आकांक्षा से प्रेरित होकर जब वह स्थाणु के समीप आता है, तो उस पुरुष को 'अयं स्थाणुः' इस आकार का प्रत्यक्ष ही होता है। 'अहं ज्ञातुमिच्छामि' इस आकार के (अनुव्यवसायात्मक) आकांक्षा का ज्ञान नहीं[1]।

अतः जिस प्रकार कथित प्रत्यक्ष स्थल में जिज्ञासा (आकांक्षा) के बाद स्थाणुत्व धर्म के साथ स्थाणु के प्रत्यक्ष की सामग्री का संबलन होने पर स्थाणु का प्रत्यक्ष ही होता है। उक्त जिज्ञासा (रूप आकांक्षा) का 'ज्ञातुमिच्छामि' इस आकार के ज्ञान का उदय नहीं होता, उसी प्रकार शाब्दबोध स्थल में भी शब्द से विशेष अर्थ की उपस्थिति के समय आकांक्षा के रहते पर भी उसके बाद शब्द जनित उपस्थित विशेष अर्थों का परस्पर संसर्गबोध रूप अन्वयबोध ही होगा, 'आकांक्षा' की 'अवगति' अर्थात् ज्ञान नहीं।

पू० प० न च विशेषोपस्थानात्... ... ...

उक्त प्रत्यक्ष स्थल में भी जिज्ञासा (आकांक्षा) के बाद जिज्ञासा के ज्ञान की उत्पादिका सामग्री भी है, एवं स्थाणु का विशेष रूप से प्रत्यक्ष की सामग्री भी है। ऐसी स्थिति में अगले क्षण में किसकी उत्पत्ति होगी? जिज्ञासाविषयक ज्ञान की? अथवा उक्त विशिष्ट प्रत्यक्ष की?

यदि स्थाणु का विशेष रूप से प्रत्यक्ष को पहिले स्वीकार करेंगे, तो उसके अन्य कारणों के एकत्र होते-होते आकांक्षा का ज्ञान ही न हो सकेगा, क्योंकि तब तक जिज्ञासा स्वयं विनष्ट हो जायगी। जिज्ञासा का 'अवगति' रूप ज्ञान तो प्रत्यक्षात्मक ही होगा। किन्तु विषय भी प्रत्यक्ष का कारण है। अतः जिज्ञासा के विनष्ट हो जाने पर उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा।

---

१. अर्थात् शाब्दबोध स्थल में भी उक्त प्रत्यक्ष रूप दृष्टान्त के बल से यह कल्पना करते हैं कि आकांक्षा के उदय होने के बाद आकांक्षा के ज्ञान से पहिले ही शाब्दबोध की उत्पत्ति हो जायगी। अतः आकांक्षा ही शाब्दबोध का कारण है, आकांक्षा का ज्ञान कारण नहीं है।

तावन्मात्रस्यानाकाङ्क्षत्वात्। न चैवम्भूतोऽप्ययमैकान्तिको हेतुः यदा 'ह्ययमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामि' ति वक्ता उच्चारयति, श्रोता च व्यासङ्गादिना

यदि उक्त स्थिति में 'जिज्ञासा' (आकांक्षा) की अवगति पहिले मानते हैं, एवं स्थाणु का विशिष्ट प्रत्यक्ष बाद में मानते हैं, तो स्थाणु के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं आती है। अतः जिज्ञासा की अवगति को ही पहिले स्वीकार करना उचित है। सुतराम् उक्त प्रत्यक्ष स्थल में भी जिज्ञासा ही कारण है, उसका ज्ञान नहीं।

इसी प्रकार शाब्दबोध स्थल में भी शब्द विशेष की उपस्थिति से पहिले ही आकांक्षा उत्पन्न होकर शाब्दबोध को उत्पन्न कर सकती है।

सि० प० तावन्मात्रस्य ... ...

ज्ञान की इच्छा ही आकांक्षा है। ज्ञान किसी विषय का ही होता है, बिना किसी विषय का नहीं। एवं ज्ञान जिज्ञासा का कारण है। फलतः जिज्ञासा जिस विषय की होगी, उस विषय का ज्ञान उस जिज्ञासा का कारण होगा। अब यह पूछना है कि किस विषय की जिज्ञासा अथवा आकांक्षा से किस विषय का शाब्दबोध उत्पन्न होगा ? क्योंकि किसी भी विषयक इच्छा से किसी अन्य विषयक शाब्दबोध की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः यही कहना होगा कि पदों से उपस्थित अर्थों के परस्पर संसर्ग विषयक ज्ञान ही उक्त जिज्ञासा का विषय है। (फलतः तद्विषयक आकांक्षा ही तद्विषयक अन्वयबोध का कारण है)। इस प्रकार पद जनित पदार्थ विशेष की उपस्थिति रूप ज्ञान उक्त जिज्ञासा रूप आकांक्षा का कारण है। सुतराम् पदार्थ विशेष की उपस्थिति से पहिले जब जिज्ञासा रूप आकांक्षा का ही संबलन नहीं हो सकता, तो फिर उक्त जिज्ञासा विषयक ज्ञान रूप 'जिज्ञासावगति' के संबलन की बात तो बहुत दूर की बात हो जाती है।

न चैवम्भूतोऽपि ... ...

(दूसरी बात यह है कि यदि आकांक्षा को ज्ञात होकर शाब्दबोध का कारण मान भी लें तथापि) आकांक्षा से घटित उक्त हेतु 'ऐकान्तिक' नहीं होगा अर्थात् व्याप्ति से युक्त नहीं होगा अर्थात् व्यभिचार से युक्त ही होगा।

यदा ह्ययमेति ... ...

क्योंकि जिस समय वक्ता ने 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस संपूर्ण वाक्य का उच्चारण किया, किन्तु सुननेवाला प्रमादवश 'राज्ञःपुरुषोऽपसार्यताम्' केवल इतना अंश ही सुना। सुने गये इस वाक्यांश के पदों में आकांक्षादिमत्त्व भी है, एवं तत्स्मारकपद समूहत्व भी है, अतः आकांक्षाघटित संपूर्ण हेतु की सत्ता है। किन्तु 'स्मारितार्थसंसर्गज्ञान-पूर्वकत्व' रूप साध्य वहाँ नहीं है। क्योंकि वक्ता ने इस बोध के अभिप्राय से उक्त वाक्य का उच्चारण किया है कि—

निमित्तेनाऽयमेति पुत्र इत्यश्रुत्वैव 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामि'ति शृणोति, तदाऽस्त्याकाङ्क्षादिमत्त्वे सति पदकदम्बकत्वं न च स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वमिति।

स्यादेतत्। यावत्समभिव्याहृतत्वेन विशेषिते हेतौ नायं दोषः, तथाविधस्य व्यभिचारोदाहरणासंस्पर्शात्। कुतस्तर्हि कतिपयपदश्राविणः संसर्गप्रत्ययः ?। अलिङ्ग एव लिङ्गत्वाध्यारोपात्। एतावानेवायं समभिव्याहार इति तत्र श्रोतुरभिमानः।

'राजा के पुत्र आ रहे हैं, अतः इस पुरुष को यहाँ से हटा दो'। अतः वक्ता जिस बोध के अनुसन्धान से वाक्य का प्रयोग किया है, राजा एवं उनके पुत्र के बीच जो 'निरूपितत्व, रूप सम्बन्ध है, वही उस बोध का विषय है। किन्तु श्रोता के द्वारा सुने गये अंश में तो 'पुत्र' पद नहीं है। अतः इस वाक्यांश में पुत्रानुयोगिकसंसर्गज्ञानपूर्वकत्व रह ही नहीं सकता। अतः आकांक्षा रूप विशेषण से युक्त उक्त हेतु भी व्यभिचार दोष से ग्रसित ही है। सुतराम् उससे अन्वयबोधात्मक अनुमिति की सिद्धि नहीं हो सकती।

पू० प० स्यादेतत्, यावत् ··· ··· ···

जो 'आकांक्षा' प्रकृत हेतु में विशेषण है, उसमें भी 'समभिव्याहृतयावत्पदनिरूपितत्व' विशेषण देंगे। अर्थात् जितने भी पदों में 'परस्पर समभिव्याहार' ज्ञात हो, उन सभी पदों की आकांक्षा को ही हेतु में विशेषण देंगे। ऐसा करने पर कहीं भी व्यभिचार नहीं होगा। क्योंकि 'अयमेति' इस स्थल में जितने भी परस्पर समभिव्याहृत पद हैं, उनमें 'पुत्र' पद भी है। तन्निरूपिता आकांक्षा 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्य के पदों में नहीं है। अतः 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' पुत्र पद से अघटित इस वाक्य के पद उक्त व्यभिचार के 'उदाहरण' अर्थात् लक्ष्य नहीं हो सकते।

सि० प० कुतस्तर्हि ··· ··· ···

(यदि उक्त पुत्र पद से आघटित उक्त वाक्य के पद अन्वयबोध के प्रयोजक ही नहीं हैं, तो फिर उस से श्रोता को अनुमिति स्वरूप शाब्दबोध ही क्यों कर होता है ?

अलिङ्ग एव ··· ··· ··· अभिमानः ··· ··· ···

(इस प्रश्न का यह समाधान है कि) उक्त वाक्य से श्रोता को जो पुत्रविषयक उक्त अन्वयबोध रूप अनुमिति होती है, उसका कारण है 'अलिङ्ग' में अर्थात् पुत्र पद से अघटित राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम् इस वाक्य के पद रूप 'अहेतु' में 'लिङ्गत्व' की अर्थात् हेतुत्व की भ्रान्ति। क्योंकि श्रोता को यह धारणा होती है कि 'वक्ता के द्वारा उच्चरित वाक्य में इतने ही पद प्रयुक्त हैं, जिनमें परस्पर समभिव्याहार' है ही। अतः उक्त स्थल में जिस अन्वयबोध रूप अनुमिति की उत्पत्ति होती है, उसमें पुत्र प्रतियोगिक संसर्ग विषय नहीं होता है[1] :

---

1. अर्थात् श्रोता को राज्ञः, पुरुषः, अपसार्यताम् इन्हीं तीन पदों में परस्पर समभिव्याहार का 'अभिमान' अर्थात् विपर्यय है। प्रकृत में लिङ्ग है अयम्, एति, राज्ञः, पुरुषः अप-

न । तत्सन्देहेऽपि श्रुतानुरूपसंसर्गावगमात् । भवति हि तत्र प्रत्ययः 'न जाने किमपरमनेनोक्तमेतावदेव श्रुतं यद्राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामिति' भ्रान्तिरसाविति चेत् ; न तावदसौ दुष्टेन्द्रियजा, परोक्षाकारत्वात् ? न लिङ्गाऽऽभासजा, लिङ्गाभिभिमानाभावेऽपि जायमानत्वात् ।

सि० १० न, तत्सन्देहेऽपि ··· ··· ···

तथापि उक्त हेतु व्यभिचरित है ही, क्योंकि जिन सभी पदों में समभिव्याहृतत्व नहीं भी रहता है, किन्तु समव्याहृतत्व का सन्देह भी रहता है वहाँ भी अन्वयबोध होता है । जैसे कि पूर्वोक्त स्थल में ही जहाँ श्रोता यह कहता है कि 'वक्ता के द्वारा उच्चरित सभी पद तो मैंने नहीं सुने' किन्तु 'राज्ञः पुरुषः अपसार्यताम्' ये तीन पद मैंने अवश्य सुने' एतादृश स्थल में भी श्रोता को पुत्रानुयोगिक सम्बन्ध विषयक अन्वय बोध होता है । अतः उक्त स्वरूप आकांक्षा को यदि ज्ञात होकर कारण मान कर आकांक्षा को हेतु में विशेषण दें, तथापि उक्त स्थल में व्यभिचार अनिवार्य है ।

पू० १ भ्रान्तिरसौ ··· ··· ···

उक्त स्थल में वक्ता का तात्पर्य जिन पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध में है, उनमें पुत्रानुयोगिक सम्बन्ध भी है । श्रोता को जिन सम्बन्धों का अन्वय बोध सुने गये पदों से होता है, उनमें से किसी में भी पुत्रानुयोगिकत्व नहीं है । श्रोता का अन्वयबोध चूँकि वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत सम्बन्ध से भिन्न विषय का है, अतः वह भ्रान्ति रूप है ।[1]

सि० १० न तावदसौ ··· ··· ···

उक्त भ्रमात्मक अन्वयबोध किससे उत्पन्न होता है ? सर्वत्र भ्रम की उत्पत्ति प्रमाणाभास से ही होती है । वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं । इस लिए उनके मत में प्रमाणाभास भी (१) दुष्ट इन्द्रिय एवं (२) हेत्वाभास ये दो ही प्रकार के होंगे । उक्त अन्वयबोध यदि भ्रम रूप होगा, तो उसको इन्हीं दोनों प्रमाणाभासों में से किसी से उत्पन्न

सार्यताम्' इतने पदों में रहने वाला समुदायत्व । राज्ञः, पुरुषः, अपसार्यताम् इन तीन पदों में ही रहने वाला समुदायत्व प्रकृत में हेतु नहीं है, किन्तु श्रोता को इसी अलिङ्ग में अर्थात् अहेतु में लिंगत्व का अभिमान होता है । जिससे उस को पुत्र प्रतियोगिक सम्बन्धाविषयक उक्त अन्वयबोध रूप अनुमिति होती है ।

१. अर्थात् उक्त वाक्य से यदि श्रोता को भ्रान्ति रूप शाब्दबोध होता भी है, तथापि वह शब्द 'प्रमाण' नहीं हो सकता । क्योंकि 'प्रमा' का कारण ही प्रमाण है । उक्त शब्द में प्रमा की करणता नहीं है, किन्तु भ्रम की करणता है ।

एतादृक्पदकदम्बप्रतिसंधानमेव तां जनयतीति चेत्; यद्येवमेतदेवादुष्टं सदभ्रान्तिं जनयत् केन वारणीयम् ? व्याप्तिप्रतिसन्धानं विनाऽपि तस्य संसर्ग-प्रत्यायने सामर्थ्याऽवधारणात्, चक्षुरादिवत् ।

नास्त्येव तत्र संसर्गप्रत्ययः, असंसर्गाग्रहमात्रेण तु तथाव्यवहार इति चेत्;

होगा। किन्तु अन्वयबोध चूँकि परोक्षाकारक है, अतः उसकी उत्पत्ति दुष्ट इन्द्रिय रूप प्रमाणमास से नहीं हो सकती। क्योंकि दुष्ट इन्द्रिय रुप प्रत्यक्षाभास से उत्पन्न ज्ञान भी अपरोक्षाकारक ही होता है।

एवं उक्त अन्वयबोध लिङ्गाभास से भी उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि लिङ्गाभास (हेत्वाभास) के द्वारा जो भ्रमात्मक अनुमिति होती है, उसके लिए यह आवश्यक है कि उस हेत्वाभास को बोद्धा 'हेतु' समझे (अर्थात् हेत्वाभास में हेतुत्व की भ्रान्ति रहे)। 'किन्तु राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्य से जो भ्रमात्मक अन्वयबोध होता है, उसमें इस प्रकार के किसी भ्रम की आवश्यकता नहीं होती है। अतः उक्त अन्वयबोध भ्रम रूप अनुमान के उत्पादक प्रमाणाभास से भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

पू० प० एतादृक् ··· ··· ···

भ्रान्ति रूप ज्ञान प्रमाणाभास से ही हो, एसी कोई राजाज्ञा नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है, कि 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस पद समूह के प्रतिसन्धान से ही श्रोता को उक्त भ्रमात्मक बोध होता है।

सि० प० यद्येवम् ··· ··· ···

यदि ऐसी बात है, तो फिर यह स्वीकार करना होगा कि शब्द में ऐसी सामर्थ्य है कि कि वह व्याप्ति प्रभृति के अनुसन्धान का साहाय्य न पाने पर भी अनुभूति को उत्पन्न करे। ऐसी स्थिति में शब्द यदि 'अदुष्ट' रहे अर्थात् उसमें आकांक्षादि रहे, तो उस अदुष्ट अर्थात दोष रहित शब्द से व्याप्ति प्रभृति के अनुसन्धान के बिना ही प्रमात्मक अनुभव को भी उत्पत्ति हो सकती है। जैसे कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ यदि दोष से युक्त रहतीं है, तो उनसे भ्रमात्मक अनुभव होता है। यदि उन में दोष नहीं रहते, तो उन्हीं इन्द्रियों से प्रमात्मक अनुभव उत्पन्न होता है (शब्दः प्रमाजनकः दोषसाहाय्ये सति भ्रमजनकत्वात् चक्षुरादिवत्) चूँकि प्रमा का करण होना ही प्रामाण्य है, अतः शब्द नाम का भी अतिरिक्त प्रमाण अवश्य है।

पू० प० नास्त्येव ··· ··· ··· ···

कथित 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस स्थल में यदि भ्रान्ति के अनुमानाभासादि कारणों में से कोई भी नहीं है, तो फिर वहाँ पदार्थों के परस्पर संसर्ग विषयक भ्रमात्मक बोध भी नहीं होता है। किन्तु 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' सुने गये इस वाक्यांश में जितने

तर्हि यावत्समभिव्याहारेणापि विशेषणेनाप्रतिकारः, तथाभूतस्यानाप्तवाक्यस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वाभावात् । असंसर्गाग्रहपूर्वकत्वमात्रे साध्ये न व्यभिचार इति चेत्; एवं तर्हि संसर्गो न सिद्ध्येत् ।

ही पद परस्पर समभिव्याहार से युक्त हैं, उनके अर्थों में परस्पर 'असंसर्ग' का ज्ञापक भी कोई नहीं है। अतः उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध के 'अज्ञान' से श्रोता में 'असंसर्गाग्रह' का व्यवहार होता है। सुतराम् व्याप्ति के प्रतिसन्धान के बिना शब्द में भ्रम के उत्पादन की भी सामर्थ्य नहीं है। अतः कथित रीति से भी शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का समर्थन नहीं किया जा सकता।

सि० प० तर्हि ··· ··· ··· ···

यदि ऐसी बात है तो फिर हेतु में 'यावत्पदसमभिव्याहृतत्व' विशेषण के देने पर भी अनाप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित 'घटमानय' इस वाक्य के पदों में व्यभिचार अवश्य होगा। (भले ही 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' सुने गये इस वाक्यांश के पदों में उक्त विशेषण से व्यभिचार का वारण हो जाय)। क्योंकि आप शब्द से पदार्थों का भ्रान्तिरूप संसर्गबोध को भी अस्वीकार करते हैं। अतः उक्त स्थल में उक्त संसर्गज्ञानपूर्वकत्व' रूप साध्य नहीं है, किन्तु कथित तत्स्मारकत्वरूप हेतु तो है ही।

पू० प० असंसर्गाग्रहपूर्वकत्व ··· ··· ··· ··

उक्त अनुमान में 'पदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्व' के स्थान में 'पदार्थों के परस्पर असंसर्ग के अग्रह' (अज्ञान) को ही साध्य भी करेंगे। अनाप्तपुरुषोच्चरित वाक्य के पदों में यह साध्य भी है ही, अतः व्यभिचार दोष नहीं है।

सि० प० एवं तर्हि ··· ··· ··· ···

उक्त रीति से शब्द के द्वारा यदि पदार्थों का असंसर्गाग्रह ही होगा, तो वह भी पदार्थों के परस्पर संसर्गरूप अन्वय का बोध नहीं होगा। किन्तु सो इष्ट नहीं है, क्योंकि 'घटमानय' इस वाक्य के द्वारा उत्पन्न बोध से आज्ञापालक श्रोता में जो घटानयन की प्रवृत्ति देखी जाती है, यह प्रवृत्ति अनुपपन्न हो जायगी। क्योंकि प्रवृत्ति जिस विषय की होती है, उसी विषय का ज्ञान उस प्रवृत्ति का कारण होता है, अतः घटानयन की प्रवृत्ति घटानयन विषयक ज्ञान से ही होगी। घटकर्मक आनयन ही 'घटानयन' है। फलतः घट में जो आनयन का कर्मत्व रूप सम्बन्ध है, एवं आनयन में घट का जो स्वनिष्ठकर्मतानिरूपितत्व रूप सम्बन्ध है, इन संसर्गों का ज्ञान रूप ही घटानयन का ज्ञान है। इस प्रकार पदार्थसंसर्ग का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण है। कथित असंसर्गाग्रह को प्रवृत्ति का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिन पदार्थों के परस्पर संसर्ग का ज्ञान नहीं है पदार्थों का असंसर्गज्ञान भी नहीं है, उस समय भी पदार्थों

आप्तवाक्येषु सेत्स्यतीति चेन्न । सर्वविषयाऽऽप्तत्वस्यासिद्धेः । यत्र कचिदाप्तत्वस्यानैकान्तिकत्वात् । प्रकृतविषये चाऽऽप्तत्वसिद्धौ संसर्ग विशेषस्य प्रागेव सिद्धयभ्युपगमादित्युक्तम् ।

के असंसर्ग का अग्रह तो है ही, उस समय भी प्रवृत्ति की आपत्ति होगी । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द से भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता ही नहीं, केवल अनाप्त पुरुषोच्चरित वाक्य से पदार्थों का असंसर्गाग्रह मात्र होता है ।

पू० प० आप्तवाक्येषु ··· ··· ··· ···

आप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित वाक्य से जो बोध होता है, उसी से प्रवृत्त्यादि कार्य होते हैं । इसलिए आप्तवाक्य से पदार्थों के परस्पर संसर्ग का अन्वय बोध होता है । अनाप्त-वाक्य से केवल पदार्थों का असंसर्गाग्रह ही होता है, अतः उससे प्रवृत्त्यादि कार्य नहीं होते । फलतः प्रकृत में दो अनुमान अलग अलग हैं । एक में पदार्थों का संसर्गग्रहपूर्वकत्व साध्य है, जिसका उपयोग आप्तोच्चरित वाक्य से होनेवाले अन्वयबोधात्मक अनुमान में होता है । दूसरे अनुमान का साध्य है 'असंसर्गाग्रहपूर्वकत्व', जिस का उपयोग अनाप्तवाक्य से अथवा निराकांक्षवाक्य से अथवा वक्ता के अनभिप्रेतार्थ विषयक बोध के जनक किन्तु आकांक्षा से युक्त 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न उक्त असंसर्गाग्रह में होता है । अतः प्रवृत्ति की कथित अनुपपत्ति रूप दोष नहीं है ।

सि० प० सर्वविषयाप्तत्वस्य ··· ··· ··· ···

वैशेषिकों के उक्त कथन के अनुसार जिस अन्वयबोध रूप अनुमिति से प्रवृत्त्यादि की उत्पत्ति होगी, उस के हेतु में 'आप्तोक्तत्व' विशेषण देना आवश्यक होगा । किन्तु यही जानना कठिन है कि 'आप्त' कौन है ? क्योंकि जिन्हे परम आप्त समझा जाता है, उनसे भी कभी भ्रान्तिवश ही सही, झूठ बोला ही जाता है । जिनको सभी 'अनाप्त' समझते हैं, वे भी कदाचित् सत्य बोलते ही है । अतः हेतु में जिस 'आप्तोक्तत्व' को विशेषण देंगें, तद्घटक आप्तत्व से सर्वविषयक आप्तत्व विवक्षित हो तो वह संभव नहीं होगा, क्योंकि सभी विषयों के लिए कोई भी 'आप्त' नहीं हैं । यदि कुछ विषयों में 'आप्तत्व' इष्ट हो, तो फिर उक्त हेतु

न च सर्वत्र जिज्ञासा निबन्धनं, अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थप्रत्ययात्।

अनाप्तोच्चरितवाक्य में व्यभिचरित होगा। अतः उक्त रीति से भी शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव की बात ठीक नहीं है।

यदि 'प्रकृत विषय' में आप्तत्व विवक्षित रहे अर्थात् जिस वक्ता को स्वोच्चरित शब्द से उत्पन्न प्रमाज्ञान के समान यथार्थ ज्ञान रहे, वही पुरुष उस विषय में आप्त है—इस प्रकार का आप्तत्व यदि विवक्षित रहे, तथापि अनुमिति की अनुपपत्ति रहेगी ही (उक्त व्यभिचार दोष का वारण भले ही हो जाय)। क्योंकि 'प्रकृत विषय में आप्तत्व' का अर्थ होगा, पदार्थों के परस्पर संसर्ग का ज्ञान। इस प्रकार के आप्तत्व को यदि हेतु में विशेषण देंगे, तो हेतु के विशेषण के रूप में (हेतुतावच्छेदकज्ञान विधया) पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान भी अनुमिति से पहिले ही आवश्यक होगा। इस प्रकार पदार्थों के परस्पर संसर्ग का ज्ञान यदि पहिले ही हो जायगा तो फिर अनुमान की प्रवृत्ति ही व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि उसी ज्ञान के संपादन के लिए तो अनुमिति की प्रवृत्ति हो रही है। हेतु में आप्तत्व विशेषण के देने से इस दोष का प्रतिपादन पहिले भी कर चुके हैं।

सि० प० [1]न च सर्वत्र ··· ··· ··· ···वाक्यार्थप्रत्ययात् ··· ··· ···

आकांक्षा यदि जिज्ञासा स्वरुप हो, तो उसमें ज्ञात होकर अनुमिति कारणत्व का समर्थन किया भी जा सकता है, किन्तु प्रकृत में 'आकांक्षा' जिज्ञासा स्वरूप हो ही नहीं सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर शाब्दबोध के प्रति जिज्ञासा को कारण मानना होगा, किन्तु जिस पुरुष में जिज्ञासा नहीं है, अथ च पदों की शक्ति का ज्ञान है, ऐसे 'अजिज्ञासु' पुरुष भी जब वाक्य को सुनता है, तो उसको भी शाब्द बोध अवश्य होता है। अतः जिज्ञासा (रुप आकांक्षा) शाब्दबोध का कारण नहीं हो सकती।

---

1. यहाँ प्रकृत सन्दर्भ का थोड़ा पूर्वापर अनुसन्धान आवश्यक है। शब्द प्रमाण से होनेवाले कार्य के संपादन के लिये दो अनुमानों का प्रयोग आदि में किया गया है। इन दोनों ही अनुमानों के हेतु में आकांक्षा विशेषण है। सिद्धान्ती ने पहिले इस युक्ति के द्वारा खण्डन किया है कि शब्द से उत्पन्न होने वाले बोध में आकांक्षा स्वरूपसत् (स्वयं ही) कारण है, ज्ञात होकर नहीं। यदि आकांक्षाघटित हेतु से अन्वयबोध मानेंगे, तो उस बोध में आकांक्षा का उपयोग ज्ञात होकर ही हो सकता है, स्वरूपतः नहीं। अतः स्वरूपतः आकांक्षा से उत्पन्न होने वाला अन्वयबोध अनुमिति रूप नहीं हो सकता। सिद्धान्ती ने प्रोक्ति आकांक्षा को ज्ञात होकर

आकाङ्क्षापदार्थस्तर्हि कः ?। जिज्ञासां प्रति योग्यता । सा च स्मारित-तदाक्षिप्तयोरविनाभावे सति श्रोतरि तदुत्पाद्यसंसर्गविगमप्रागभावः । न चैषोऽपि ज्ञानमपेक्षते, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् तदभावनिरूपणस्य च विषयनिरूप्यत्वादिति ।

'प्रमा' निश्चयात्मक ही होती है, अतः जो निश्चयात्मक ज्ञान के उत्पादन में समर्थ नहीं है, अथवा आप्तोक्तत्व के सन्देह से ग्रसित है, उस वाक्य से 'प्रमा' रूप ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, (क्योंकि वह निश्चयात्मक होता है) ।

पू० प० आकांक्षापदार्थस्तर्हि ··· ··· ··· ···

यदि आकांक्षा जिज्ञासा रूप नहीं है तो फिर 'आकांक्षा' पद का क्या अर्थ है ? अर्थात् आकांक्षा का क्या स्वरूप (लक्षण) है ?

सि० प० जिज्ञासाम् ··· — ··· —

जिज्ञासा की 'योग्यता' अर्थात् जिज्ञासा की उत्पत्ति की स्थिति अर्थात् संभावना ही 'आकांक्षा' पद का अर्थ है ।

जिज्ञासा की यह योग्यता पदों से वृत्तिज्ञान के द्वारा उपस्थित दो अर्थों में अथवा पदों से आक्षिप्त[1] दो अर्थों में परस्पर 'अविनाभाव' (व्याप्ति) सम्बन्ध के रहते हुये श्रोता

अनुमिति का संपादक मानकर भी 'न चैवम्भूतोऽपि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उक्त दोनों अनुमानों का खण्डन किया है । इसी सन्दर्भ में पुनः आकांक्षा को ज्ञात होकर अनुमिति कारणता के खण्डन के द्वारा पुनः दोनों अनुमानों का खण्डन करने उपक्रम किया गया है ।

१. 'तण्डुलम्पचति' इस वाक्य के दोनों ही पदों में से प्रत्येक से क्रमशः उपस्थित तण्डुल एवं पाक रूप दोनों ही अर्थों में परस्पर 'अविनाभाव' या व्याप्ति अवश्य है । क्योंकि उक्त पाक क्रिया में कर्मत्व सम्बन्ध से (स्वनिष्ठकर्मतानिरूपितत्व सम्बन्ध से) तण्डुलादि कर्म अवश्य हैं । क्योंकि कोई भी सकर्मक क्रिया बिना कर्म के नहीं होती । एवं कोई कर्म भी बिना कारक के नहीं रहता । अतः विलक्षण तेजः संयोग रूप पाक भी समवाय सम्बन्ध से उक्त वाक्य घटक 'तण्डुलम्' पद से उपस्थित तण्डुल रूप अर्थ में अवश्य है । इस प्रकार पदों के द्वारा उपस्थित दो अर्थों में व्याप्ति (अविनाभाव) रहती है ।

प्राभाकरास्तु, लोकवेदसाधारणव्युत्पत्तिबलेनाऽन्विताभिधानं प्रसाध्य वेदस्यापौरुषेयतया वक्तृज्ञानानुमानानवकाशात् संसर्गे शब्दस्यैव स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमास्थिषत। लोके त्वनुमानत एव वक्तृज्ञानोपसर्जनतया संसर्गस्य सिद्धेरन्विताभिधानबलायातेऽपि प्रतिपादकत्वे अनुवादकतामात्रं वाक्यस्येति निर्णीतवन्तः।

पुरुष में वाक्य से उत्पन्न होनेवाले शाब्दबोध या अन्वयबोध रूप 'अवगम' के प्रागभाव[२] की सत्ता स्वरूप है।

पू० प० प्राभाकारास्तु ··· ··· ··· ··· निर्णीतवन्तः

प्रभाकर संप्रदाय के मीमांसकों का कहना है कि वेद रूप शब्द राशि ही स्वतन्त्र प्रमाण है। एवं लौकिक शब्द से तदर्थ विषयक अनुमान ही होता है, अतः लौकिक शब्द स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

किन्तु 'नीलं सरोजम्' इत्यादि स्थलों में 'सरोज' पद से उपस्थित 'कमलादि' अनील भी होते हैं, एवं नील पद से उपस्थित 'नील रूप' सरोज से भिन्न पटादि में भी रहता है, अतः इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध संभव नहीं है। किन्तु उक्त स्थल में भी आकांक्षा रहती है, अतः 'तदाक्षिप्तयोः' पद रखा गया है। अर्थात् उक्त दोनों अर्थों में व्याप्ति के न रहने पर भी 'नील' पद से उपस्थित 'नीलरूप' विशेष गुण से गुणसामान्य का आक्षेप होता है, एवं सरोज पद से उपस्थित कमलपुष्प रूप द्रव्य विशेष से भी द्रव्य सामान्य का आक्षेप होता है। इस प्रकार 'आक्षिप्त' द्रव्य सामान्य एवं गुण सामान्य में जो व्याप्ति है, उसी के द्वारा 'नीलं सरोजम्' इत्यादि स्थलों में आकांक्षा का निर्वाह होता है।

२. वक्ता को पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान यद्यपि वाक्य के प्रयोग से पहिले ही रहता है, किन्तु श्रोता में उक्त शाब्दबोध का प्रागभाव शाब्दबोध से पहिले अवश्य रहता है। क्योंकि प्रागभाव भी कार्य का एक कारण है। अतः शाब्दबोध रूप कार्य का प्रागभाव भी शाब्दबोध का कारण है। प्रागभाव रूपा उक्त आकांक्षा से शाब्दबोध रूप कार्य के उत्पादन में उक्त प्रागभाव का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। यदि शाब्दबोध रूप कार्य की कारणता प्रागभाव के ज्ञान में स्वीकार करेंगे तो उस प्रागभाव के ज्ञान संपादन के लिये पदार्थों का ज्ञान आवश्यक होगा। क्योंकि प्रतियोगिज्ञान अभाव ज्ञान का कारण है। इस प्रकार प्रागभाव रूपा उक्त आकांक्षा को ज्ञात होकर शाब्दबोध का कारण मानने पर शाब्दबोध रूप 'स्व' को ही 'शाब्दबोध' रूप कार्य का कारण मानना होगा। अतः आकांक्षा ज्ञात होकर अन्वयबोध का कारण नहीं हो सकती। सुतराम् शब्दजनित अन्वयबोध अनुमिति नहीं है। शब्द अवश्य ही स्वतन्त्र प्रमाण है।

(उन लोगों का अभिप्राय है कि) शक्तिज्ञान शाब्दबोध का कारण है। शक्तिज्ञान का सर्वसम्मत प्रकार यह है कि 'गामानय' इत्यादि आज्ञा सूचक वाक्य के प्रयोग के बाद आज्ञा का पालन करनेवाला भृत्य अथवा शिष्यादि सास्नादि से युक्त गो रूप अर्थ को ला देता है। वहां यदि कोई ऐसा पुरुष रहता है, जिसे 'आनय' पद का अर्थ ज्ञात है, किन्तु 'गोपद' की शक्ति ज्ञात नहीं है, तो उस अज्ञ पुरुष से आनयन रूप क्रिया के कर्म स्वरूप सास्नादि से युक्त उक्त अर्थ में गोपद की शक्ति गृहीत हो जाती है। शक्तिज्ञान की उत्पत्ति की इस रीति से समझते हैं कि केवल गो रूप अर्थ में गोपद की शक्ति नहीं है, किन्तु गो रूप अर्थ से 'इतर' जो 'आनयनादि' रूप अर्थ, उस इतर अर्थ से अन्वित गो रूप अर्थ में ही गो पद की शक्ति है। इस प्रकार प्राभाकर मीमांसकों के मत में शक्तिज्ञान का अभिलापक शब्द है 'इतरान्वितो गोः गोपदशक्यः'। यही मत 'अन्विताभिधानवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। अर्थात् जिस 'वाद' में इतर में अन्वित अर्थ ही पद से 'अभिहित' होता हो वही है 'अन्विताभिधानवाद'।

'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः' इस न्याय से वेद में जो शब्द प्रयुक्त हैं, उनके शक्तिज्ञान में भी यही रीति जाननी चाहिये। किन्तु शक्तिज्ञान की इस रीति के अनुसार लौकिकवाक्य से जो अन्वयबोध अथवा शाब्दबोध होगा, वह अनुमिति रूप ही होगा। क्योंकि वक्ता का शब्दप्रयोग नियमतः 'स्व' में (वक्ता में) शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के समान ज्ञान के रहने पर ही होता है। अतः उक्त दोनों अनुमान लौकिक वाक्य स्थल के सर्वथा उपयुक्त हैं।

किन्तु वेद तो अपौरुषेय हैं। उनका तो कोई प्रथम उच्चारण करनेवाला 'वक्ता' नहीं है। अतः वैदिकवाक्यों से उत्पन्न होनेवाले पदार्थसंसर्गबोध या अन्वयबोध के लिये शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानना होगा।

लौकिक शब्दों से भी यद्यपि पदार्थों के संसर्ग का बोध (अन्वयबोध) अवश्य होता है। किन्तु लौकिक शब्द अन्वयबोध के उत्पादन में स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु लौकिक वाक्य से पहिले उक्त वाक्य में प्रयुक्त पदों में पदार्थ संसर्ग विषयक प्रमाजन्यत्व का अनुमान होता है। इस अनुमान के साध्य में 'पदार्थसंसर्गप्रमा' विशेषण है। इस प्रकार विशिष्ट साध्यज्ञान के उत्पादन में विशेषणज्ञान विषया अपेक्षित होने से (गौणतया) लौकिकवाक्य से अन्वयबोध रूप प्रमा की भी उत्पत्ति होती है।

यह भी सत्य है कि जिस प्रकार वैदिकवाक्यों से शाब्दबोध में 'अन्विताभिधान' वाली रीति के उपयोग से शब्दबोध होता है, उसी रीति से लौकिक वाक्यस्थलमें भी शाब्दबोध होता है। तथापि लौकिकशब्दों में स्वतन्त्रप्रामाण्य नहीं है, क्योंकि लौकिकशब्द अन्वयबोध रूप प्रमाज्ञान के उत्पादन में स्वतन्त्र नहीं है, उसको इस कार्य के लिये वक्तापुरुष में रहनेवाले प्रमाज्ञान की भी अपेक्षा होती है। अतः लौकिक शब्द से प्रमाज्ञान की उत्पत्ति तभी

तददितिस्थवीय:।

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये ।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥१४॥

यावती हि वेदे सामग्री तावत्येव लोकेऽपि भवन्ती कथमिव नार्थं गमयेत्। न ह्यपेक्षणीयान्तरममस्ति, लिङ्गे तु परिपूर्णेऽप्यवगते व्याप्तिस्मृतिरपेक्षणीयाऽस्तीति विलम्बेन किं निर्णेयम्?। अन्वयस्य प्रागेव प्रतीतेः।

होती है, जब कि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अर्थों को ही विषय करे। इसलिये लौकिक शब्द से होनेवाले प्रमाज्ञानों के स्वतन्त्र करण प्रत्यक्षादि प्रमाण ही हैं। लौकिकशब्द प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध अर्थों के अनुवादक मात्र हैं। अत: लौकिक शब्द अनुवादक होने के कारण प्रमाण ही नहीं है। क्योंकि प्रामाण्य के लिये प्रमाज्ञान के उत्पादन में स्वातन्त्र्य की भी आवश्यकता है। अत एव प्रमारूप स्मृति का करण होने पर भी संस्कार पूर्वानुभव से परतन्त्र होने के कारण प्रमाण नहीं होता। अतः लौकिकशब्द का अनुमान में अन्तर्भाव तो उचित है, किन्तु वैदिक शब्द स्वतन्त्र प्रमाण ही हैं।

सि० प० तददति ... ... अनुवादिता

किन्तु प्रभाकरों का उक्त विभाग भी स्थूलबुद्धि से प्रेरित होने के कारण ठीक नहीं है, क्योंकि:—

वैदिक वाक्यों में प्रयुक्त जिन पदों की शक्ति पहिले से निश्चित है, उन्हीं पदों का का प्रयोग लौकिक वाक्यों में भी होता है। इस प्रकार 'निर्णीतशक्ति" वाले पदों से युक्त लौकिक वाक्य से भी अनुमिति होने से पहिले शाब्दबोध ही हो जायगा। क्योंकि व्याप्ति सापेक्ष होने के कारण अनुमति पीछे होगी। वैदिकशब्द में पहिले से ही शाब्दबोध की स्वतन्त्रकरणता सिद्ध है। अत: प्रकृत में शब्द प्रमाण के द्वारा ज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने से 'लिङ्ग' ही अर्थात् अनुमान प्रमाण ही अनुवादक होगा, शब्दप्रमाण अनुवादक नहीं होगा।

सि० प० यावती हि ... ...

'वेद में' अर्थात् वैदिकवाक्य से उत्पन्न होनेवाले शाब्दबोध में 'यावती सामग्री' अर्थात् जितने कारणों के समूह की अपेक्षा होती है, लौकिकवाक्य से होनेवाले अन्वयबोध में भी उतने ही कारणों के समूह को अपेक्षा होती है। उससे अधिक कारणों के समूह की नहीं। 'आकांक्षादि' से युक्त वाक्यत्व को ही 'अन्वय' का अनुमापक कहा है। किन्तु हेतुज्ञान के बाद व्याप्ति स्मरण की भी अपेक्षा अनुमिति में होती है। हेतुवाक्य में विशेषणीभूत जो

लोके वक्तुराप्तत्वनिश्चयोऽपेक्षणीय इति चेन्न। तद्रहितस्यापि स्वार्थप्रत्यायने शब्दस्य शक्तेरवधारणात्, अन्यथा वेदेऽप्यर्थप्रत्ययो न स्यात्, तदभावात्। न च लोके अन्यान्येव पदानि, येन शक्तिवैचित्र्यं स्यात्।

'आकांक्षादि' पद है, उसमें प्रयुक्त 'आदि' पद से 'शक्तिज्ञान' भी अभिप्रेत है। इस प्रकार 'आकांक्षा' एवं 'शक्तिज्ञान' प्रभृति से युक्त केवल पदों के ज्ञान से ही जब अन्वयबोध की उत्पत्ति सम्भव है, तो फिर कौन सा पदार्थ ऐसा अवशिष्ट रहता है, जिसके लिये उसमें व्याप्ति की अपेक्षा स्वीकार कर अन्वयबोध को नियमतः अनुमिति रूप स्वीकार किया जाय। अतः वैदिक शब्द के सदृश लौकिक शब्द भी स्वतन्त्र ही प्रमाण है।

पू० प० लोके वक्तुः ··· ··· ···

लौकिक शब्द से उत्पन्न होने वाले प्रमाज्ञान की सामग्री एवं वैदिक शब्द से उत्पन्न होने वाले यथार्थ ज्ञान के कारण समूह, दोनों समान नहीं हैं, दोनों में अन्तर है, दोनों विभिन्न जाति के हैं। क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनसे उत्पन्न होने वाले बोध की सामग्री में आप्तोक्तत्व का निश्चय अन्तर्निहित नहीं है। किन्तु लौकिक शब्द से जो अन्वयबोध होता है, उसमें आप्तोक्तत्व का निश्चय भी कारण है, अतः उसकी सामग्री आप्तोक्तत्व के निश्चय से युक्त होगी। सुतराम् दोनों सामग्रियाँ समान नहीं हैं।

सि० प० न, तद्रहितस्यापि ··· ··· ···

जिस श्रोता को वाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय नहीं भी रहता है, उस श्रोता को भी शब्द से अन्वयबोध अवश्य होता है। इससे यह निष्पन्न होता है कि आप्तोक्तत्व के निश्चय का साहाय्य रहने पर भी अन्वयबोध को उत्पन्न करने की क्षमता शब्द में ही है। श्रोता में यदि शब्द धर्मिक आप्तोक्तत्व के निश्चय की अपेक्षा अन्वयबोध में नियमतः स्वीकार करें तो प्रभाकरों के मत से वे वाक्य के द्वारा अन्वयबोध नहीं होगा। क्योंकि उनके मत से वेदवाक्य धर्मिक आप्तोक्तत्व का निश्चय संभव नहीं है। 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः' इस न्याय के रहते हुये यह कहना संभव ही नहीं कि लौकिक शब्द एवं वैदिक शब्द भिन्न हैं, अतः वैदिक शब्दों में एक ऐसी विलक्षण शक्ति है कि जिसके रहते आप्तोक्तत्व निश्चय के साहाय्य के बिना भी उससे शाब्दबोध होता है"। इस लिए यही मानना होगा कि वैदिक शब्दों से होनेवाले अन्वयबोध में आप्तोक्तत्व की अपेक्षा नहीं है, तो फिर लौकिक शब्द से होने वाले अन्वयबोध में भी आप्तोक्तत्व के निश्चय की अपेक्षा नहीं है। अतः लौकिक शब्दों से उत्पन्न होने वाले अन्वयबोध एवं वैदिक शब्दों से उत्पन्न होने वाले बोध, इन दोनों के उत्पादन की रीति में कोई भी अन्तर नहीं है।

अनाप्तोक्तौ व्यभिचारदर्शनात् तुल्याऽपि सामग्री सन्देहेन शिथिलायत इति चेत् ?

न, चक्षुरादौ व्यभिचारदर्शनेन शङ्कायामपि सत्यां ज्ञानसामग्रीतस्तदुत्पत्तिदर्शनात्।

पू० प० अनाप्तोक्तौ ··· ··· ···

यद्यपि लौकिक शब्द से होने वाले अन्वयबोध एवं वैदिक शब्द से होने वाले अन्वयबोध, इन दोनों की उत्पादक सामग्रियों में कोई भी अन्तर आपाततः ज्ञात नहीं होता है, फिर भी इतना अन्तर अवश्य है कि अनाप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित लौकिकवाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है। इस व्यतिरेक व्यभिचार से निष्पन्न होता है कि वाक्य में आप्तोक्तत्व निश्चय के नहीं रहने पर अथवा आप्तोक्तत्व के सन्देह के रहने पर भी उस वाक्य से निश्चय रूप शाब्दबोध की उत्पत्ति नहीं होगी। जिस प्रकार किसी वृक्ष के ठूंठ (स्थाणु) में 'स्थाणुर्वा पुरुषः' इस प्रकार के सन्देह के रहने पर, उसमें चक्षुः संयोग के रहते हुये भी चक्षु रूप प्रत्यक्ष प्रमाण स्थाणुत्व या पुरुषत्व के निश्चय का उत्पादन नहीं कर सकता। उसी प्रकार जिस वाक्य में आप्तोक्तत्व का अथवा अनाप्तोक्तत्व का संशय रहेगा, वह वाक्य निश्चय का उत्पादक नहीं हो सकता। लौकिक वाक्य में इस सन्देह का अवकाश रहता है, किन्तु वैदिकवाक्य में इस संशय का अवकाश नहीं रहता, अतः लौकिक वाक्य घटित सामग्री प्रमा के उत्पादन में 'शिथिल' पड़ जाती है। इस रीति से लौकिक शब्द से जिस प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होगी, उसमें आप्तोक्तत्व के निश्चय की अपेक्षा अवश्य होगी। किन्तु वैदिकशब्द से जिस प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होगी, उसमें आप्तोक्तत्व निश्चय की आवश्यकता किसी भी प्रकार नहीं होगी। लौकिक शब्द से होने वाले अन्वयबोध एवं वैदिकशब्द से होने वाले अन्वय बोध, इन दोनों की उत्पादक सामग्रियों में सर्वथा साम्य नहीं है।

(जिस वाक्य में आप्तोक्तत्व सन्दिग्ध है, उस वाक्य में यद्यपि अपने अर्थों के बोध' को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है, किन्तु स्वार्थ के 'निश्चय' को उत्पन्न करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। इस प्रकार अन्वय के निश्चयात्मक बोध की सामग्री में उक्त बोध मे असमर्थ वाक्य का न रहना ही, उसकी 'शिथिलता' है)।

सि० प० न, चक्षुरादौ ··· ··· ··· ···

उक्त कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि चक्षु से प्रमा एवं अप्रमा दोनों ही प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार चक्षु में भी प्रमाज्ञान की कारणता सन्दिग्ध है। किन्तु इस प्रकार के सन्देह के रहते हुये भी चक्षु से निश्चयात्मक प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है। एवं 'अयं पुरुषो न वा' इस आकार के संशय के रहते पुरुषत्व का निश्चय नहीं होता। अतः यही

ज्ञायमानस्यायं विधिर्यत्सन्देहे सति निश्चायकम्, यथा लिङ्गम्, चक्षुरादि तु सत्तयेति चेत् ? न,

---

मानना पड़ेगा कि समानविषयक संशय ही समान विषयक निश्चय का विरोधी है, विभिन्नविषयक संशय विभिन्न विषयक निश्चय का विरोधी नहीं है। अतः वाक्य धार्मिक अ।सोक्तत्व विषयक संशय से वाक्य धार्मिक आप्तोक्तत्व का निश्चय ही प्रतिरुद्ध होगा, वाक्यार्थविषयक निश्चय प्रतिरुद्ध नहीं होगा। वाक्यार्थ विषयक निश्चय के लिये वाक्यार्थ विषयक ज्ञान सामान्य की सामग्री ही अपेक्षित है, विशेष इतना ही है कि उस सामग्री को वाक्यार्थ विषयक संशय की सामग्री का सामीप्य न रहे। केवल इतने से ही वाक्यार्थविषयक निश्चय हो जायगा।[1]

पू० प० ज्ञायमानस्य ··· ··· ··· ···

चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप निश्चय ज्ञान सामान्य की सामग्री से भले ही उत्पन्न हो, किन्तु इससे यह समर्थित नहीं होता है कि वाक्यार्थविषयक निश्चय रूप शाब्दबोध भी 'केवल ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि ज्ञान के 'करण' दो रीतियों से ज्ञान का उत्पादन करते हैं, एक स्वरूपतः दूसरा ज्ञात होकर। ज्ञात होकर लिङ्गादि करण ज्ञानों का उत्पादन करते है। चक्षुरादि अपनी सत्ता मात्र से ज्ञानों का उत्पादन करते है। जो 'करण' ज्ञात होकर ज्ञानों का उत्पादन करते हैं, उनमें लिङ्ग रूप 'करण' का यह स्वभाव है कि स्वज्ञाप्य साध्य के संशय के रहने पर ही वह उक्त ज्ञाप्य रूप साध्य के निश्चय रूप (अनुमिति) का उत्पादन करता है। अत एव साध्य सन्देह के रहने पर ही साध्य की अनुमिति होती है। अतः ज्ञात होकर ज्ञान के उत्पादक 'वाक्य' रूप करण भी अपने अर्थ विषयक संशय के रहने पर ही वाक्यार्थ विषयक निश्चय का उत्पादक हो सकता है। अतः प्रत्यक्षात्मक निश्चय रूप प्रमा केवल ज्ञान सामान्य के उत्पादक सामग्री से भले ही उत्पन्न हो, किन्तु परोक्षज्ञान रूप वाक्यार्थविषयक निश्चय तो संशय की सामग्री से युक्त ज्ञान सामग्री से ही उत्पन्न हो सकता है, केवल ज्ञानसामग्री से नहीं।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि निश्चयत्व नाम की ज्ञानत्व की व्याप्य कोई जाति नहीं है। संशयान्यज्ञानत्व ही निश्चयत्व है। अतः ज्ञान की उत्पादिका जो सामग्री है, उसीसे संशय और निश्चय दोनों ही प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। जिस समय उक्त ज्ञान सामग्री को संशय सामग्री का सामीप्य प्राप्त हो जाता है, तब उक्त ज्ञान सामग्री से संशयरूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जिस समय ज्ञान की सामान्यसामग्री को संशयसामग्री का सांनिध्य नहीं प्राप्त होता है, उस समय ज्ञान की उक्त सामान्य सामग्री से ही जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह संशय रूप न होने के कारण 'अर्थतः' निश्चय रूप ही होगा। अतः ज्ञान की सामान्यसामग्री ही निश्चयात्मक ज्ञान का उत्पादक है।

वाक्यस्य निश्चितत्वात् । फलप्रमाण्यसन्देहस्य च फलोत्तरकालीनत्वात् । आप्तोक्तत्वस्य चार्थप्रत्ययं प्रत्यनङ्गत्वात् ।

सि० प० न, वाक्यस्य ··· ··· ··· ···

यदि अनुमिति में साध्यसंशय को (पक्षता विधया) कारण मान भी लें, तथापि वाक्यार्थबोध के प्रति किसी संशय को कारण अवश्य मानें—ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। अतः यदि अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा किसी संशय में अन्वयबोध की कारणता गृहीत होगी, तभी वाक्यार्थ बोध के प्रति संशय को कारण माना जा सकता है। इसके लिये पहिले यह विचार करना होगा कि किस संशय को वाक्यार्थबोध का कारण माना जाय। (१) वाक्य के संशय को ? कि वा (२) वाक्यार्थ धार्मिक प्रामाण्य संशय को।

(१) इन दोनों में पहिला पक्ष इस लिये असङ्गत है कि सभी वाक्यार्थ बोधों के पहिले वाक्य का निश्चय अवश्य रहता है। अतः वाक्यार्थ बोध से पहिले वाक्य का संशय कभी रह ही नहीं सकता। सुतराम् वाक्यार्थबोध के साथ 'अन्वय' न रहने के कारण ही वाक्य के संशय को वाक्यार्थबोध का कारण नहीं माना जा सकता।

फलप्रामाण्यसंशय ··· ··· ··· ···

(२) फलीभूत वाक्यार्थज्ञान धर्मिक प्रामाण्यसंशय को भी फलीभूत वाक्यार्थ बोध का कारण नहीं माना जा सकता, जिसलिये कि वाक्यार्थबोध के पहिले उसका रहना भी संभव नहीं है। क्योंकि वाक्यार्थबोध में जो प्रामाण्य का संशय उत्पन्न होगा, उस संशय में धर्मिज्ञान विधया वाक्यार्थबोध स्वयं कारण है। अतः वाक्यार्थबोध से पहिले वाक्यार्थबोध धार्मिक प्रामाण्य संशय भी नहीं रह सकता। अतः 'अन्वय' के अभाव से ही उक्त प्रामाण्य संशय में भी वाक्यार्थ बोध की करणता नहीं मानी जा सकती।

आप्तोक्तत्वस्य ··· ··· ··· ···

(वस्तुतः 'लोके वक्तुः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा जो लौकिक वाक्य से उत्पन्न होनेवाले बोध में वक्तृ धार्मिक आप्तत्व प्रकारक निश्चय को कारण मानने का उत्थान किया गया है, वही असङ्गत है, क्योंकि) वाक्य धार्मिक आप्तोक्तत्व का निश्चय वाक्यार्थबोध का कारण है ही नहीं, क्योंकि अर्थबोध के साथ वक्तृ धार्मिक आप्तत्व निश्चय का जो अन्वय-व्यतिरेक है, उसी के द्वारा वाक्य धार्मिक आप्तोक्तत्व का निश्चय वाक्यार्थबोध का कारण हो सकता है। यदि वक्ता में आप्तोक्तत्व निश्चय में ही अन्वयबोध का अन्वयव्यतिरेक नहीं रहेगा, तो फिर वाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय वाक्यार्थबोध का कारण कैसे होगा ? क्योंकि प्राभाकरों के मत से वक्ता में आप्तत्व निश्चय के न रहने पर भी अथवा 'वेदवाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय न रहने पर भी वेद वाक्य से शाब्दबोध होता है।

लोकेऽपि चाप्तत्वानिश्चयेऽपि वाक्यार्थप्रतीतेः । भवति हि वेदानुकारेण पाठ्यमानेषु मन्वादिवाक्येषु अपौरुषेयत्वाभिमानिनो गौडमीमांसकस्यार्थनिश्चयः । न चासौ भ्रान्तिः, पौरुषेयत्वनिश्चयदशायामपि तथा निश्चयादिति ।

स्यादेतत् । नाऽऽप्तोक्तत्वमर्थप्रतीतेरङ्गमिति ब्रूमः । किन्त्वनाप्तोक्तत्वशङ्का-निरासः । स च क्वचिदपौरुषेयत्वनिश्चयात्, क्वचिदाप्तोक्तत्वावधारणादिति चेत्;

लोकेऽपि··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में प्राभाकर कह सकते हैं कि वेदों का कोई आदि कर्त्ता नहीं है, इसलिये वेदवाक्य से जो अन्वयबोध होगा, उसमें वक्ता के आप्तत्व का निश्चय अथवा वेदवाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय भले ही अपेक्षित न हो, किन्तु लौकिकवाक्य से जो अन्वयबोध होगा, उसके लिये वक्ता में आप्तत्व का निश्चय एवं वाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय अवश्य ही अपेक्षित है, क्योंकि वक्ता में अनाप्तत्व निश्चय के रहने पर अथवा वाक्य में अनाप्तोक्तत्व निश्चय के रहने पर लौकिक वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है । इस आक्षेप का यह समाधान है कि) वक्ता में आप्तत्व निश्चय के न रहने पर भी अथवा वाक्य में आप्तोक्तत्व निश्चय के न रहने पर भी लौकिक वाक्य से अन्वयबोध होता है ।

भवति हि ··· ··· ··· ··· ···

जैसे—'गौड़ मीमांसक' (पञ्जिकाकार शालिकनाथमिश्र) को मनु प्रभृति के उन लौकिक वाक्यों से भी शाब्दबोध होता है, जिन मन्वादि वाक्यों को किसी के द्वारा वेदानुरूप स्वर में पढ़ देने के कारण ही उन लोगों को अपौरुषेयत्व का 'अभिमान' होता है । (अर्थात् वैदिक स्वरों में पढ़े गये मनुस्मृति के वाक्यों को वेद समझकर वे अपौरुषेय ही समझते हैं, अतः उसके वक्ता में आप्तत्व का निश्चय अथवा उन वाक्यों में आप्तोक्तत्व का निश्चय उन्हें हो ही नहीं सकता) ।

न चासौ ··· ··· ··· ···

(इस पर कहा जा सकता है कि गौड़मीमांसक का मन्वादि वाक्यों से उत्पन्न उक्त अन्वयबोध भ्रान्ति रूप है । मैंने प्रमा रूप अन्वयबोध में ही आप्तत्वनिश्चय अथवा आप्तोक्तत्व निश्चय को कारण कहा है, अतः उक्त आपत्ति ठीक नहीं है, किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि मन्वादि के उन वाक्यों में पौरुषेयत्व के निश्चय (मन्वादि प्रणीतत्व विषयक निश्चय) के बाद भी उन मन्वादि वाक्यों से होनेवाले बोध उसी प्रकार के होते हैं ।

पू० प० स्यादेतत्, नाप्तोक्तत्वम् ··· ··· ··· ···

(यह नियम है कि जिसका संशय अथवा जिसके अभाव (व्यतिरेक) का निश्चय जिस (ज्ञान) का प्रतिबन्धक होगा, उस विषय का निश्चय उस प्रतिबध्य रूप ज्ञान का कारण होगा । जैसे कि अव्यभिचार (व्याप्ति) का संशय एवं व्याप्ति के व्यतिरेक (अर्थात् व्यभिचार) का निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्धक है, अतः अव्यभिचार रूप व्याप्ति

तत्किमपौरुषेयत्वस्याप्रतीतौ सन्देहे वा वेदवाक्याद्विदितपदार्थसङ्गतेरर्थप्रत्यय एव न भवेत्; भवन्नपि वा न श्रद्धेयः ?। प्रथमे सत्यादय एव प्रमाणम्।

का निश्चय अनुमिति का कारण है। तदनुसार ही आप्तोक्तत्व का निश्चय वाक्यार्थ बोध का कारण है। क्योंकि आप्तोक्तत्व के संशय और आप्तोक्तत्व के व्यतिरेक स्वरूप अनाप्तोक्तत्व के निश्चय के बाद अन्वयबोध नहीं होता है। यदि आग्रहवश आप्तोक्तत्व के निश्चय को वाक्यार्थ का कारण न भी मानें, तथापि अनाप्तोक्तत्व के संशय को वाक्यार्थ बोध का प्रतिबन्धक मानना ही होगा। किन्तु वेद तो अपौरुषेय है। अतः वेदों में अपौरुषेयत्व के निर्णय के रहने पर वेदों में न आप्तोक्तत्व की प्रतीति होगी, न अनाप्तोक्तत्व की ही प्रतीति होगी। अतः वेदों में अनाप्तोक्तत्व शङ्का का निवारण अपौरुषेयत्व के निर्णय से ही होगा, आप्तोक्तत्व के निश्चय से नहीं।

किन्तु लौकिक शब्द तो अपौरुषेय नहीं है। अतः उनमें अनाप्तोक्तत्व शङ्का का निरास आप्तोक्तत्व के निश्चय से ही हो सकता है। इस प्रकार लौकिक वाक्य से उत्पन्न होनेवाले अन्वयबोध में वाक्य धर्मिक आप्तोक्तत्व का निश्चय अवश्य ही आपेक्षित है।

पू० प० तत्किम्………

उपर्युक्त कथन से वेदों के प्रसङ्ग में ये दो बातें उपस्थित होती हैं—(१) वेदवाक्यों से उत्पन्न होनेवाले अन्वयबोध में वेदवाक्य धर्मिक अपौरुषेयत्व का निश्चय कारण है। एतदनुसार जिस पुरुष को वेदवाक्य में अपौरुषेयत्व का निश्चय नहीं है, उस पुरुष को वेदवाक्य में प्रयुक्त पदों के संङ्केतज्ञानादि के रहते हुये भी वेदवाक्य से अन्वयबोध नहीं होगा।

(२) अथवा जिस पुरुष को वेद में अपौरुषेयत्व का निश्चय नहीं है, उस पुरुष को वेदवाक्य के पदों की शक्ति ज्ञान प्रभृति कारणों के बल से यदि वेदार्थ विषयक शाब्दबोध होगा भी तो वह बोध 'अश्रद्धेय' होगा, अर्थात् अप्रामाण्य ज्ञान से ग्रसित (अप्रामाण्याज्ञाना-स्कन्दित) होगा।

प्रथमे ··· ··· ··· ···

उन दोनों में प्रथम पक्ष इस लिये ठीक नहीं है कि जिस व्यक्ति को वेद में अपौरुषेयत्व का निश्चय नहीं है, उस पुरुष को भी 'सत्यादि' पद घटित 'सत्यज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से अन्वयबोध होता है। अतः वेदवाक्य से होनेवाले अन्वयबोध में वेदवाक्य[1] धार्मिक अपौरुषेयत्व का निश्चय कारण नहीं है।

---

१. प्रकृत सन्दर्भ में जो 'सत्यादयः' एव प्रमाणम्, यह वाक्य है, उसका विवरण इस प्रकार जानना चाहिये :—वेदधार्मिकनिश्चयाभाववतोऽपि पुरुषस्य सत्यादिपद-घटितवेदवाक्यजन्यशाब्दबोध एव वेदार्थबोधम्प्रति वेदधार्मिकापौरुषेयत्व निश्चयस्या

न चासंसर्गाग्रहे तदानीं संसर्गव्यवहारः, बाधकस्यात्यन्तमभावात्, तथापि तत्कल्पनायामन्वयोच्छेदप्रसङ्गात् ।

द्वितीये त्वश्रद्धा प्रत्यक्षवन्निमित्तान्तरान्निवर्त्स्यतीति वेदे यदि, लोकेऽपि तथा स्यादविशेषात् । अन्यथा वेदस्याप्यनुवादकताप्रसङ्गः ।

पू० प० न चासंसर्गाग्रहे ··· ··· ··· ···

पदार्थों के परस्पर संसर्गों का बोध ही अन्वयबोध है । वेदवाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों का परस्पर संसर्ग का बोध वेदों में अपौरुषेयत्व के निश्चय से ही होता है । अतः उक्त निश्चय से रहित पुरुष को सत्यादि पद घटित सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वेद वाक्यों से—उन वाक्यों में प्रयुक्त पदों के अर्थों में परस्पर संसर्ग के अभाव (असंसर्ग) का अग्रह मात्र होता है । इस असंसर्गाग्रह में ही (उक्त स्थलों में) पदार्थों के संसर्गबोध का व्यवहार होता है । अतः 'सत्यादय······एव प्रमाणम्' इससे जो प्रमाण दिखलाया गया है, वह असंगत है ।

सि० प० बाधकस्यात्यन्तम् ··· ··· ···

जहाँ पदार्थों के संसर्गग्रह का कोई बाधक रहता है, एवं संसर्गाभाव की ग्राहिका सामग्री नहीं रहती है, अथवा पदार्थों की उपस्थिति रहती है, तो अगत्या 'असंसर्गाग्रह' की कल्पना करनी पड़ती है । प्रकृत में पदार्थों के संसर्गबोध का कोई बाधक नहीं है । यदि पदार्थों के संसर्ग विषयक बोध के बाधक के न रहने पर भी असंसर्गाग्रह ही माना जाय तो फिर सर्वत्र संसर्गबोध रूप अन्वयबोध का उच्छेद ही हो जायगा । क्योंकि तुल्यन्याय से सर्वत्र असंसर्गाग्रह ही मानना होगा ।

द्वितीये तु ··· ··· ··· ··· वेदस्याप्यनुवादकताप्रसङ्गः ।

कथित द्वितीयपक्ष इसलिये अयुक्त है कि जिस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान में अप्रामाण्यशङ्का का निवारण प्रामाण्य के ज्ञापक संवादिप्रवृत्तिजनकत्वादि लिङ्गक अनुमान से होता है, उसी प्रकार वेदापौरुषेयत्वनिश्चयशून्य पुरुष में वाक्यार्थ का जो अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दित बोध होगा, उस बोध धर्मिक अप्रामाण्यशङ्का की निवृत्ति भी प्रामाण्य के ज्ञापक किसी दूसरे प्रमाण से हो जायगी । अतः यदि उक्त पुरुष का वाक्यार्थबोध अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दित भी होगा, तो भी कोई क्षति नहीं है । सुतराम् वेदापौरुषेयत्व का निश्चय वेद जनित वाक्यार्थबोध का कारण नहीं है ।

करणत्वे 'प्रमाणम्' । अर्थात् जिस पुरुष को वेदधार्मिक अपौरुषेयत्व का निश्चय नहीं है, उस पुरुष को भी 'सत्यज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से अन्वयबोध का होना ही वेदापौरुषेयत्वनिश्चय में वेदवाक्यजन्यशाब्दबोध के अकारणत्व का ज्ञापक प्रमाण है ।

तदुच्यते

व्यस्तपुंदूषणाशंकैः स्मारितत्वात्पदैरमी ।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः ॥१५॥

यदा ह्यपौरुषेयत्वनिश्चयात् प्राक् वेदो न किञ्चिदभिधत्ते इति पक्षः, तदाऽऽप्तोक्तत्वनिश्चयोत्तरकालं लोकवत् वेदेऽप्यपौरुषेयत्वनिश्चयात् पश्चादनुमानावतारः। इयांस्तु विशेषो यदत्र[1] पदार्थानिव पक्षीकृत्य निरस्तपुंदोषाशंकैराकांक्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वादाप्तोक्तपदकदम्बकस्मारितपदार्थवत् संसर्ग एवाहृत्य साध्यो बुद्धिव्यवहितस्त्वितरत्रेति फलतो न कश्चिद्विशेष इति।

तदुच्यते ··· ··· ··· ··· व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः ··· ··· ··· ···

इसलिये मैं कहता हूँ कि यदि वेद धर्मिक अपौरुषेयत्व निश्चय के रहने पर ही वेदार्थ का बोध हो, तो वेद भी 'अनुवादक' (ज्ञातज्ञापक) होने के कारण अप्रमाण हो जायेंगे। क्योंकि इस स्थिति में यह अनुमान हो सकता है कि 'वेदवाक्य में प्रयुक्त इन पदों के द्वारा उपस्थित ये सभी अर्थ परस्पर संसर्ग से युक्त है, क्योंकि इन की उपस्थिति उन पदों से हुई है, जो भ्रमादिदोषों से युक्त पुरुष के द्वारा प्रणीत न होते हुए आकांक्षादि से भी युक्त हैं (तदेते पदार्थाः मिथः संसृष्टाः दोषवत्पुरुषाप्रणीताकांक्षादिमत्पदस्मारितत्वात्)।

सि० प० यदा हि ··· ··· ··· ···

यदि वेदों में अपौरुषेयत्व निश्चय के बाद ही उनसे अन्वयबोध हो तो फिर लौकिक शब्दों के समान ही वेदों में भी अनुवादकता अनिवार्य है। क्योंकि जिस प्रकार लौकिक शब्द से उस में आप्तोक्तत्वनिश्चय के होने तक कोई अन्वयबोध नहीं होता है, एवं आप्तोक्तत्व-निश्चय के बाद अनुमान के द्वारा अन्वयबोध होता है, उसी प्रकार की स्थिति वेदों में भी है, क्योंदि वेदों में अपौरुषेयत्वनिश्चय तक उनसे कोई अन्वयबोध नहीं होता है, एवं वेदों में अपौरुषेयत्वनिश्चय के हो जाने से उनसे अन्वयबोध होता है, तो फिर यह अन्वयबोध भी उक्तरीति से अनुमिति रूप ही है।

अन्तर केवल इतना ही है कि लौकिकवाक्य से जो अन्वयबोध रूप अनुमिति होती है, उस में पदार्थों का संसर्ग वक्ता की बुद्धि में विशेषण रूप से भासित होता है। अर्थात्

---

१. इस सन्दर्भ का 'अत्र' पद का अर्थ है "वैदिकशब्दजन्यानुमितौ। एवं 'इतरत्र' शब्द का अर्थ है 'लौकिकशब्दजन्यानुमितौ'। 'आहृत्य' शब्द का अर्थ है 'साक्षात्' एवं 'बुद्धिव्यवहितः' का अर्थ है वक्तृबुद्धि विशेषणतया अनुमितिविषयः' तदनुसार ही उक्त व्याख्या लिखी गई है।

तथा चान्विताभिधानेऽपि जघन्यत्वाद्वेदस्यानुवादकत्वप्रसङ्गः । न चैवं सति तत्र प्रमाणमस्ति । विशिष्टप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या हि शब्दस्य तत्र शक्तिः परिकल्पनीया । सा चानुमानेनैवोपन्नेति वृथा प्रयासः । तस्माल्लोके शब्दस्यानुवादकतेति विपरीतकल्पनेयमायुष्मताम् ।

इस अनुमान में पदार्थों का संसर्ग साध्य के विशेषण (साध्यतावच्छेदकविधया) रूप से भासित होता है । किन्तु वैदिकवाक्य से जो अन्वयबोध रूप अनुमिति होगी, उस में पदार्थों के संसर्ग का इस रूप में भान संभव नहीं है, क्योंकि उसका कोई आदिवक्ता पुरुष नहीं है । अतः इस अनुमिति में पदार्थ रूप पक्ष में पदार्थों का संसर्ग साक्षात् साध्य रूप में ही भासित होता है ।

इस प्रकार दोनों में स्वरूपतः समानता के न रहने पर भी 'लौकिकवत्' यह दृष्टान्त अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि—'फलतः' इन दोनों अनुमानों में कोई अन्तर नहीं है । क्योंकि—लौकिक शब्द के दृष्टान्त से वैदिक शब्दों में अनुवादकत्व की आपत्ति ही प्रकृतग्रन्थ का उद्देश्य है । इस उद्देश्य की पूर्ति पदार्थरूप पक्ष में पदार्थससर्ग रूप विधेय के साक्षात् बोध से भी हो सकती है, एवं परम्परया विशेषण रूप से भासित होने पर भी हो सकती है । दृष्टान्त में पक्ष का सर्वांश में सादृश्य न रहने पर भी अनुमिति में कोई बाधा नहीं आती है । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

तथा च — ... — ...

इस प्रकार वैदिक पदों के अर्थों में परस्पर संसर्ग का बोध अनुमान प्रमाण से मान लेने पर 'अन्विताभिधान' पक्ष में भी वेदों में अनुवादकता अनिवार्य होगी ।

न चेवम् सति ... ...

'एवं सति' इस प्रकार की स्थिति में 'अर्थात् पदार्थ संसर्ग रूप अन्वय के बोध की सम्भावना अनुमान प्रमाण से ही होने पर' 'अन्वयविशिष्ट अर्थ' में शब्द की अभिधावृत्ति की कल्पना निरर्थक है । क्योंकि अन्वय से युक्त अर्थ के बोध की अनुपपत्ति से ही उक्त 'अन्विताभिधानपक्ष' स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह कार्य जब अनुमान प्रमाण से ही हो जायगा, तो 'अन्वित' अर्थ में शब्द की अभिधावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है । तस्मात् आकांक्षादि घटित कारणों के समूह (सामग्री) के द्वारा शब्द प्रमाण से ही अन्वयबोध की उत्पत्ति ही पहिले सम्भव है । व्याप्ति स्मृति सापेक्ष होने के कारण अनुमिति की उत्पत्ति चूँकि देर से होगी, अतः 'लिङ्ग' अर्थात् अनुमान प्रमाण ही अनुवादक है । अतः प्राभाकरों का यह कहना निरर्थक है कि 'लौकिकशब्द' अनुवादक होने से प्रमाण नहीं हैं ।

किं चेदमन्विताभिधानं नाम ? । न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम्, अविवादात् । नापि स्वार्थाभिधायास्तत्र तात्पर्यम्, अविवादादेव । नापि सङ्गतिबलेन तत्प्रतिपादनम् वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात् ।

किञ्चेदम् ··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह है कि यह 'अन्विताभिधान' है क्या वस्तु ? (१) यदि 'अन्वितस्य अभिधानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्वित अर्थ का प्रतिपादन हो 'अन्विताभिधान' हो तो फिर सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि इस में किसी को भी (अन्विताभिधानवादियों के विरोधी अभिहितान्वयवादियों को भी) इस में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि वे लोग भी प्रत्येक पद की शक्ति को इतरान्वयबोध का कारण मानते ही हैं। फिर भी 'इतरान्वितअर्थ' में पद की 'अभिधा' वृत्ति नहीं मानते।

नापि स्वार्थाभिधायाः ··· ··· ···

(२) (कोई कहते हैं कि) पद की अभिधा वृत्ति तो केवल अर्थ में ही है, किन्तु उससे भी केवल अर्थ का बोध नहीं होता है। उस अभिधा वृत्ति से भी 'इतरान्वित अर्थ' का ही बोध होता है। अतः उस अभिधावृत्ति में इतरान्वित अर्थ के बोध की जनकता मानना आवश्यक है। इस 'इतरान्वितबोधजनकत्व' को ही 'अन्विताभिधान' कहते हैं।

किन्तु इस प्रकार के अन्विताभिधान को स्वीकार करने में अभिहितान्वयवादी नैयायिकों को भी कोई बाधा नहीं हैं। इस प्रकार का 'अन्विताभिधानवाद' इनको भी अभिप्रेत ही है। अतः इस पक्ष में भी सिद्धसाधन दोष समझना चाहिये।

नापि सङ्गतिबलेन ··· ··· ···

(३) कोई कहते हैं कि 'सङ्गति' के बल से अर्थात् अभिधा वृत्ति के बल से अन्वित अर्थ का प्रतिपादन ही 'अन्विताभिधान' है। पद से जो इतरान्वित अर्थ का बोध होता है, उसका व्यापार अभिधा वृत्ति ही है। अभिहितान्वयवादी नैयायिकादि वाक्यार्थ बोध में प्रत्येक पद की शक्ति को कारण तो मानते हैं, किन्तु इतरान्वितार्थनिरूपित शक्ति रूप व्यापार के द्वारा शक्ति को कारण नहीं मानते। अतः इस पक्ष में सिद्धसाधन दोष नहीं है।

किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ 'अपूर्व' है। अर्थात् वाक्यार्थ का बोध मुख्य शाब्दबोध से पहिले नहीं होता है। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस सिद्धान्त को सभी शब्दप्रामाण्यवादी स्वीकार करते हैं। यदि इतरान्वित स्वार्थ में पद की शक्ति मानेंगे तो मुख्य शाब्दबोध से पहिले उक्त शक्तिज्ञान के द्वारा इतरान्वितस्वार्थ की स्मृति रूप उपस्थिति अवश्य माननी होगी। क्योंकि पद के द्वारा वृत्तिज्ञानाधीन पदार्थ की उपस्थिति शाब्दबोध का कारण है। अतः इतरान्वितस्वार्थ की स्मृति इतरान्वितस्वार्थ के शाब्दबोध

नापि स्वार्थसङ्गतिबलेन, तस्य स्वार्थ एवोपक्षयात् । नापि सैव सङ्गतिरुभयप्रतिपादिका, प्रतीतिक्रमानुपपत्तेः । यौगपद्याभ्युपगमे तु योग्यत्वादिप्रतिसन्धान शून्यस्यापि पदार्थप्रत्ययवत् वाक्यार्थप्रत्ययप्रसङ्गात् ।

का कारण अवश्य होगा । इसलिये अग्रिम मुख्य शाब्दबोध के समय से पहिले ही इतरान्वित स्वार्थ रूप वाक्यार्थ ज्ञात हो जायेगा । अतः वाक्यार्थ 'अपूर्व' नहीं रहेगा । इसलिये यह पक्ष भी असङ्गत है ।

नापि सङ्गति बलेन ··· ··· ··· ···

(४) कोई कहते हैं कि पद की 'सङ्गति' अर्थात् शक्ति तो उसके अर्थ में ही है, किन्तु पद निष्ठ उस 'शक्ति' से ही वाक्यार्थ का भी 'अभिधान' अर्थात् प्रतिपादन होता है । पद निष्ठ शक्ति में 'अन्वित' के (अर्थात् वाक्यार्थ) बोध की यह कारणता ही 'अन्विताभिधानवाद' है ।

तस्य ··· ··· ··· ···

किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पद में जो अर्थ ज्ञापन की शक्ति है, उससे केवल 'अर्थ' की ही उपस्थिति हो सकती है, पदार्थ से अन्वित अर्थ की (वाक्यार्थ की) उपस्थिति उससे नहीं हो सकती है ।

नापि सैव ··· ··· ··· ···

(५) अन्विताभिधान की व्याख्या कोई इस प्रकार करते हैं कि पद की शक्ति तो केवल स्वार्थ में ही है, वही शक्ति पदार्थबोध एवं वाक्यार्थबोध दोनों की उत्पादिका है । इस पक्ष में पद से होनेवाली पदार्थोपस्थिति ही वाक्यार्थबोध का भी कारण है । वाक्यार्थबोध के लिये वाक्यार्थ की उपस्थिति आवश्यक नहीं है । अतः 'वाक्यार्थ' के 'अपूर्वत्व' में कोई बाधा नहीं है ।

किन्तु यह पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रश्न यह होगा कि पद की केवल पदार्थ निष्ठ शक्ति से पदार्थों के बोध एवं वाक्यार्थ का बोध ये दोनों क्रमशः उत्पन्न होंगे ? अथवा साथ ही उत्पन्न होंगे ? दोनों की उत्पत्ति क्रमशः तो हो नहीं सकती, क्योंकि उक्त शक्ति में जब दोनों बोधों की कारणता समानरूप से है, तो उनमें से कौन पहिले ? एवं कौन पीछे ? इसका नियमन कौन करेगा ? किन्तु शक्ति के द्वारा पहिले पदार्थों का ज्ञान, बाद में वाक्यार्थ का ज्ञान, इस क्रम को सभी स्वीकार करते हैं, इस प्रकार दोनों का युगपत् बोध मानने से यह क्रम अनुपपन्न हो जायगा ।

यदि सर्वानुभव का तिरस्कार कर हठपूर्वक दोनों बोधों की उत्पत्ति एक ही समय स्वीकार भी कर लें, तथापि निस्तार नहीं है, क्योंकि शक्तिज्ञान के द्वारा जो पदार्थों का बोध होता है, उसमें योग्यता आदि का अनुसन्धान अपेक्षित नहीं होता । किन्तु उसी शक्ति-

नापि सैव सङ्गतिः स्वार्थे निरपेक्षा, वाक्यार्थे तु परार्थप्रतिपादनाऽवान्तरव्यापारेति युक्तम्, तस्याः स्वयमकरणत्वात् । सङ्गतानि पदानि हि करणम्, न तु सङ्गतिः । तथापि तत्प्रतिपादनानुगुणसङ्गतिशालीनि पदानीति चेत्;

ज्ञान से जो वाक्यार्थ का बोध होता है, उसमें योग्यता आदि के अनुसन्धान की अपेक्षा होती है। ऐसी स्थिति में यदि पदार्थबोध के क्षण में वाक्यार्थ बोध मानेंगे तो जिस पुरुष को योग्यता प्रभृति का अनुसन्धान नहीं है, उसको वाक्यार्थ का भी बोध मानना होगा। यदि वाक्यार्थ बोध के क्षण में ही पदार्थों का भी बोध मानेंगे, तो जिस पुरुष को शक्ति ज्ञान तो है, किन्तु योग्यतादि का प्रतिसन्धान नहीं है, ऐसे पुरुष को जो पदार्थों का बोध होता है, वह न हो सकेगा। अतः यह पक्ष भी ठीक नहीं है।

६. सैव ··· ··· — ··· ··· स्वार्थे निरपेक्षा ··· ··· ···

कुछ लोग अन्विताभिधान की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि पद में जो अर्थ को समझाने की शक्ति है, वह स्वतन्त्र होकर अपने अर्थ के अनुभव का करण नहीं है, किन्तु पदार्थोपस्थिति के द्वारा ही वाक्यार्थबोध का (अन्वयबोध का) 'करण' है। अतः पद निष्ठा अभिधा वृत्ति के द्वारा पदार्थ की उपस्थिति ही उक्त अभिधावृत्ति रूप करण का व्यापार है। अन्वितार्थ प्रतिपत्ति रूप अन्वयबोध के प्रति पद निष्ठ शक्ति में उक्त करणता ही 'अन्विताभिधान शब्द का अर्थ है।

किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिधा रूप शक्ति स्वयं अन्वयबोध का करण नहीं है, किन्तु शक्ति से युक्त पद ही उक्त अन्वयबोध के करण हैं।

पू० प० तथापि ··· ··· ···

मान लिया कि पद ही अन्वय बोध के करण हैं, किन्तु अन्वयबोध के अनुकूल शक्ति से युक्त पद ही अन्वय बोध के करण है। केवल पद तो करण नहीं है। अतः करण के कुक्षि में 'शक्ति' भी प्रविष्ट है। शक्ति विशिष्ट पद रूप करण में यदि व्यापार का सम्बन्ध हैं, तो फिर विशेषणी भूत शक्ति में भी व्यापार का सम्बन्ध है ही। एवं विशिष्ट में यदि करणता है, तो विशेषण में भी करणता अवश्य है। व्यापार के साथ कारणता ही 'करणता' है। यदि शक्ति में उक्त रीति से व्यापार भी हैं, एवं करणता भी है, तो शक्ति भी करण अवश्य है। अतः अन्विताभिधान के उक्त लक्षण में शक्ति में करणता के न रहने से जो दोष दिया गया है, वह नहीं है। तस्मात् पद निष्ठ शक्ति, में जो वाक्यार्थ में 'अन्वितार्थ के प्रदिपादन की अनुकूलता (आनिगुण्य) है, वही है 'अन्विताभिधान।'

न तावद्वाक्यार्थप्रतिपादनानुगुणता संगतेस्तदाश्रयत्वेन, सामान्यमात्रगोचरत्वात्, तद्वन्मात्रगोचरत्वाद्वा। नाऽपि तदनुगुणव्यापारवत्त्वेन, अकरणत्वादित्युक्तम्। तदनुगुणकरणव्यापारोत्थापकत्वात्तदनुगुणत्वे न नो विवादः।

सि० प० न, तावत् ··· ··· ··· ···

किन्तु यह षष्ठ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें पद में रहने वाली शक्ति के अन्वितार्थ प्रतिपत्ति के जिस आनुकूल्य (आनुगुण्य) को 'अन्विताभिधान' कहा गया है, उस 'आनुगुण्य' या 'आनुकूल्य' का (अन्विताभिधान का) निम्नलिखित तीन लक्षणों में से ही कोई लक्षण हो सकता है। —

(१) पद निष्ठ शक्ति में अन्वित अर्थ के बोध की साक्षात् करणता ही 'अन्विताभिधान' है (२) अथवा पद निष्ठ शक्ति में अन्वितार्थ बोध के अनुकूल व्यावापार का रहना ही 'अन्विताभिधान' है। (३) वाक्यार्थ (अन्वितार्थ) प्रतिपत्ति के अनुकूल जो पदार्थ की उपस्थिति है, पद निष्ठ शक्ति में उसका कारणत्व ही 'अन्विताभिधान' है।

न तावत् ··· ··· ···

इन में (१) प्रथम पक्ष इस लिये अयुक्त है कि शक्ति अपने ज्ञान में भसित होने वाले बोध का ही कारण हो सकता है। इस प्रसङ्ग में नैयायिक और मीमांसकों में इतना ही अंतर है कि नैयायिक पद का अर्थ जात्याश्रय व्यक्ति को मानते हैं, एवं मीमांसक जाति को ही पद का अर्थ मानते हैं। इन दोनों में से कोई भी वाक्यार्थ में पद की शक्ति को स्वीकार नहीं करते। घटपद की शक्ति से घट का बोध ही होता है, पट का नहीं। अतः पद में रहने वाली शक्ति के ज्ञान का आकार है 'अयमर्थो एतद् पद वाच्यः'। अयं वाक्यार्थो एतत्पद पदवाच्यः' पद निष्ठ शक्ति ज्ञान का यह आकार नहीं है। इसलिये अन्वितार्थ (वाक्यार्थ) पद निष्ठ शक्ति का अपना विषय ही नहीं है; अतः पद निष्ठ शक्ति अन्वितार्थ प्रतिपत्ति का साक्षात्कारण नहीं हो सकता।

नापि तदनुगुण — ··· ··· ···

(२) उपपादन कर चुके हैं कि पद निष्ठ शक्ति वाक्यार्थ (अन्वितार्थ) बोध का कारण नहीं है, अतः पद निष्ठा अभिधा वृत्ति में वाक्यार्थ-प्रतिपत्ति के अनुकूल व्यापार का रहना संभव नहीं है, क्योंकि जो जिसका करण होता है, उसी में तदनुकूल व्यापार रहता है। अतः कथित द्वितीय विकल्प भीं ठीक नहीं है।

तदनुगुणकरण ··· ··· ··· ···

अर्थात् उक्त तृतीयपक्ष अभिहितान्वयवादी नैयायिकों को भी इष्ट ही है। क्योंकि हम लोग भी 'शक्ति' को (ज्ञात होकर) पदार्थों की उपस्थिति का कारण मानते ही हैं। फलतः इस प्रकार के अन्विताभिधान का साधन व्यर्थ है।

अन्वित एव शक्तिरिति चेत्; उक्तमत्र वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्, प्रतीतिक्रमानुपपत्तेश्चेति स्मृतक्रियान्विते कारके स्मृतकारकान्वितताया‌ञ्च क्रियायां संगतिरतो नोक्तदोषावकाशः। नाऽपि पर्यायतापत्तिः, प्रधान्येन नियमात्।

पू० प० अन्वित एव ··· ··· ··· ···

वृद्धव्यवहार ही शक्ति का मुख्य ज्ञापक (ग्राहक) है, वृद्ध व्यवहार से तो अन्वय-विशिष्ट (अन्वित) अर्थ ही गृहीत होता है। अतः इतरान्वित अर्थ में ही पद की शक्ति है, केवल अर्थ में नहीं।

सि० प० वाक्यार्थस्य ··· ··· ··· ···

पहिले ही कह चुके हैं कि अन्वित अर्थ में पद की शक्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इससे वाक्यार्थ की 'अपूर्वता' भङ्ग हो जायगी। एवं पदार्थ प्रतीति एवं वाक्यार्थ प्रतीति में जो आनुभविक क्रम है, वह अनुपपन्न हो जायगा।

पू० प० स्मृतिक्रियान्विते ··· ··· ··· ···

किसी कारण विशेष में किसी कारक विशेक का अन्वय रूप विशेष ही 'अपूर्व' है। इस अपूर्व रूप विशेष का बोध एवं पदार्थ का बोध इन दोनों का क्रमशः उत्पत्ति ही अनुभव से सिद्ध है, अतः कारक विशेष में अन्वित क्रिया विशेष में पद की शक्ति भले ही स्वीकृत न हो सके। क्योंकि ऐसा मानने पर ही कथित 'अपूर्वताभङ्ग' एवं दोनों बोधों के क्रमिकत्व की अनुपपत्ति ये दोनों दोष होते हैं। किन्तु कारक में क्रिया अवश्य ही अन्वित होती है, एवं कारक भी क्रिया में अवश्य अन्वित होता है' इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति से शक्ति का यह स्वरूप निष्पन्न होता है कि "घटपद क्रिया में अन्वित घट का ही वाचक है' एवं 'भवति पद भी किसी कारक में अन्वित क्रिया का ही वाचक है"। इस प्रकार के अन्विताभिधान को स्वीकार करने में कथित अपूर्वत्व की हानि, एवं कथित प्रतीतिक्रम की अनुपपत्ति रूप दोष, दोनों नहीं होते। अतः यही अन्विताभिधान की हम लोगों की परिभाषा है।

नापि पर्यायतापत्ति ··· ··· ··· ···

(१) (अन्विताभिधान के इस लक्षण में कुछ लोग क्रियापद एवं कारकपद इन दोनों में पर्यायता की आपत्ति देते हैं। उन लोगों का कहना है कि कारदपद जब क्रिया के अन्वय से युक्त कारक का वाचक है, तो फिर क्रिया का भी वाचक है ही, एवं क्रियापद जब कारक से अन्वित क्रिया का वाचक है, तब क्रियापद भी कारक का वाचक है ही। इस प्रकार कारकपद एवं क्रिया दोनों ही चूँकि एक अर्थ के वाचक हैं, अतः इन दोनों में पर्यायता (एकार्थता) की आपत्ति होगी। किन्तु सो उचित नहीं है। किन्तु यह दोष भी देना संगत नहीं है, क्योंकि।)

नापि पौनरुक्त्यम्, विशेषान्वये तात्पर्यात् । नापीतरेतराश्रयत्वम्,

प्राधान्येन ... ...

शक्ति में विशेष्य रूप से जिसका भान होता है, वही पद का 'प्रधान' वाच्य है। अत: शक्ति में जो विशेषण विधया भासित होता है, वह भी यद्यपि पद का वाच्य अवश्य है, किन्तु प्रधानवाच्य नहीं है, किन्तु गौणवाच्य है। जिन दो पदों के प्रधान वाच्य एक होते हैं, वे ही दोनों पद पर्याय अथवा एकार्थक होते हैं। पर्यायत्व का यही नियम है। प्रकृत में क्रियापद का प्रधान अर्थ है क्रिया एवं गौण अर्थ है कारक, इसी प्रकार कारक पद का प्रधान अर्थ है कारक, एवं गौण अर्थ है क्रिया। अतः दोनों पदों में एक के प्रधान के साथ दूसरे के गौण अर्थ के ऐक्य को लेकर दोनों में पर्यायत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

नापि पौनरुक्त्यम् ... ...

(२) अन्विताभिधान की उक्त परिभाषा को स्वीकार करने पर कोई पुनरुक्ति की आपत्ति इस प्रकार देते हैं कि—जब क्रियापद के उपादान से ही कारक का भी बोध होता है, एवं कारक पद से ही जब क्रिया का भी बोध होता है, तो फिर उन में से एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे पद का उच्चारण केवल पुनरुक्ति का ही प्रयोजक होगा।

विशेषान्वये ... ...

किन्तु 'पुनरुक्ति' की उक्त आपत्ति भी उचित नहीं है, क्योंकि केवल कारक पद अथवा केवल क्रिया पद का प्रयोग कोई नहीं करता। अतः क्रियासामान्य एवं कारकसामान्य इन दोनों का बोध केवल कारक पद के प्रयोग से अथवा केवल क्रियापद के प्रयोग से भले ही सम्भव हो, किन्तु क्रिया विशेष एवं कारक विशेष इन दोनों की प्रतीति किसी एक पद के प्रयोग से नहीं हो सकती। अतः इस विशेष प्रतीति के लिये दोनों पदों का प्रयोग आवश्यक है। तस्मात् प्रकृत में 'पुनरुक्ति' दोष नहीं है।

नापीतरेतरा ... ...

(३) अन्विताभिधान की उक्त परिभाषा को स्वीकार करने से कोई 'इतरेतराश्रयत्व' दोष का उद्भावन इस अभिप्राय से करते हैं कि—परस्परान्वित पदार्थ विषयक शाब्दबोध के प्रति क्रिया पद से कारक सामान्य की उपस्थिति, एवं कारक पद जन्य कारक की विशेषोपस्थिति दोनों ही कारण हैं। इसी प्रकार परस्परान्वित पदार्थ विषयक शाब्दबोध के प्रति कारक पद जनित कारक की विशेषोपस्थिति एवं कारक पद जनित क्रिया की सामान्यो-

स्वार्थस्मृतावनपेक्षणात्। नापि वाक्यभेदापत्तिः,

पस्थिति दोनों ही कारण हैं। इस प्रकार चूँकि एक उपस्थिति से सापेक्ष दूसरी उपस्थिति शाब्दबोध में कारण है, अतः 'अन्योन्याश्रय' दोष अनिवार्य है। क्योंकि क्रियापद जन्य क्रिया की विशेषोपस्थिति के साथ कारकपद जन्य क्रिया की जो विशेषण विधया (शक्यतावच्छेदक विधया) सामान्य उपस्थिति होती है, वह भी अपेक्षित होती है, एवं कारकपदजन्य कारक की विशेषोपस्थिति के साथ साथ कारक पद से जो क्रिया की उक्त सामान्योपस्थिति होती है, वह भी अपेक्षित होती है, इस प्रकार दोनों ही परस्पर सापेक्ष होकर ही शाब्दबोध का उत्पादन कर सकते हैं। अतः इस प्रकार के अन्विताभिधान में अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है।

स्वार्थस्मृतौ ... ...

किन्तु यह अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, क्योंकि अन्वयबोध (शाब्दबोध) में ही उक्त सामान्योपस्थिति एवं विशेषोपस्थिति दोनों की अपेक्षा होती है। किसी एक पद से स्वार्थरूप विशेष की उपस्थिति में इतर पदजन्य उक्त विशेष के सामान्य की उपस्थिति अपेक्षित नहीं है। अर्थात् क्रियापद से जो क्रिया विशेष की उपस्थिति होती है, उसमें कारक पद से क्रिया सामान्य की होने वाली उपस्थिति कारण नहीं है। एवं कारक पद से जो कारक विशेष की उपस्थिति उत्पन्न होती है, उसमें क्रिया पद से होनेवाली कारक सामान्य की उपस्थिति कारण नहीं है। दोनों ही सामान्योपस्थितियाँ एवं दोनों ही विशेषोपस्थितियाँ स्वतन्त्र रूप से परस्पर अन्वितार्थविषयक शाब्दबोध के साक्षात् ही कारण हैं। अतः अन्योन्याश्रय दोष की कोई संभावना नहीं है।

नापि वाक्यभेदापत्तिः ... ...

(४) अन्विताभिधान की इस परिभाषा के मानने से कोई 'वाक्यभेद' रूप दोष का उद्भावन इस प्रकार करते हैं कि 'घटमानय' इस वाक्य के केवल 'घटम्' इसी पद से आनयन क्रिया में अन्वित घट का बोध हो जायगा। एवं केवल 'आनय' पद से भी घट में अन्वित आनयन का भी बोध हो जायगा। विशेष्य एवं विशेषण के इस विनिमय से वे दोनों बोध फलतः समान-विषयक होने पर भी स्वरूपतः भिन्न दो बोध ही होंगे। अतः 'घटमानय' इस एक ही वाक्य से विभिन्न विशेष्य विशेषणों के विभिन्न दो बोध होंगे। यही प्रकृत में 'वाक्यभेद' है। सभी मीमांसक वाक्यभेद को गर्हित मानते हैं। अतः अन्विताभिधान की उक्त परिभाषा ठीक नहीं है।

परस्परपदार्थस्मृतिसन्निधौ तदितरानपेक्षणादिति चेत् ? न, अन्विते संगतिग्रह इति कोऽर्थः ? ।

यदि यत्र संगतिस्तद्वस्तुगत्या पदार्थान्वितम्, न किञ्चित् प्रकृतोपयोगि । न हि यत्र चक्षुषः सामर्थ्यमवगतं तद्वस्तुगत्या स्पर्शवदिति तद्वत्ताऽपि तस्य विषयः ।

परस्पर ··· ··· ···

अन्विताभिधान की उक्त परिभाषा के स्वीकार करने पर 'वाक्यभेद' की उक्त आक्षेप भी उचित नहीं है, क्योंकि 'वाक्यभेद' दोष उस स्थिति में होती है, जहां एक ही वाक्यार्थ के पर्यवसन्न होने के बाद पुनः उसी वाक्य से उससे भिन्न वाक्यार्थ विषयक शाब्दबोध होता हो, प्रकृत में विशेष्य-विशेषणभाव में व्यत्यास के रहने पर भी 'घटकर्मकानयन' रूप विषय में कोई अन्तर नहीं आता है । अतः 'वाक्यभेद' दोष प्रकृत में संभव नहीं है ।

यदि प्रकृत में वाक्यभेद दोष को स्वीकार करेंगे तो 'आनय' पद के समभिव्याहृत 'घटम्' इस पद से 'आनयन' में अन्वित घट का बोध, एवं 'घटम्' इस पद के समभिव्याहृत 'आनय' पद से घट में अन्वित आनयन का बोध—इस प्रकार दो बोधों की कल्पना करनी होगी । किन्तु 'संनिधि' भी शाब्दबोध का एक कारण है, तदनुसार प्रकृत में भी 'घटमानय' एवं 'आनय घटम्' इन दो संनिधियों की कल्पना करनी होगी, क्योंकि जहाँ वाक्यभेद माना जाता है, वहाँ विभिन्न संनिधियाँ भी माननी पड़ती है । जैसे कि 'अयमेति राज्ञः पुत्रोऽपसार्यताम्' इस स्थल में 'अयमेति पुत्रः' इतने पर्यन्त की संनिधि से एक बोध, एवं 'राज्ञः पुत्रोऽपसार्यताम्' इतने पर्यन्त की दूसरी संनिधि की कल्पना से दूसरे प्रकार का बोध होता है । एवं 'अयम्' से लेकर 'अपसार्यताम्' पर्यन्त एक ही संनिधि से एक तीसरे ही प्रकार का विशिष्टबोध होता है । उसी प्रकार प्रकृत में भी 'घटमानय' इस पद से विभिन्न दो बोधों की कल्पना करेंगे तो तदनुकूल विभिन्न दो संनिधियों की भी कल्पना करनी ही होगी । किन्तु 'घटम्' और 'आनय इन दो पदों के एक वाक्य से जो बोध होता है, उसमें किसी दूसरी संनिधि की अपेक्षा नहीं होती है । अत यहां 'वाक्यभेद' संभव नहीं है ।

सि० प० न, अन्विते ··· ··· ··· ··· तस्य विषयः

(अन्विताभिधान का खण्डन करते हुये आचार्य पूछते हैं कि) 'अन्विते सङ्गतिग्रहः' (अर्थात् अन्वित में ही पद की सङ्गति है') इस वाक्य का क्या अर्थ है ?

(१) यदि इसका यह अर्थ हो कि "जिस अर्थ में पद की शक्ति है, वह अर्थ कहीं अवश्य ही अन्वित है" तो इस प्रकार के 'अन्विताभिधान' का शाब्दबोध में कोई उपयोग नहीं है । क्योंकि शक्य अर्थ में इतरान्वितत्व धर्म का रहना इतरान्वितत्वविशिष्ट शक्यार्थबोध

अथान्विततयैव तत्र व्युत्पत्तिरित्यर्थः, तदसत्, प्रमाणाभावात्।

का प्रयोजक नहीं हो सकता। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि यह व्याप्ति रहे कि "जिस वस्तु में जिस विषय के ज्ञान के उत्पादन का सामर्थ्य है, उस ज्ञापक वस्तु में उस ज्ञेयवस्तु में जितने भी धर्म हैं, उन सभी धर्मों के ज्ञापन की भी सामर्थ्य है" (अतः पद में रहनेवाली शक्ति में यदि शक्यार्थ विषयक बोध के उत्पादन की सामर्थ्य है, तो फिर उस शक्य अर्थ में रहनेवाले इतरान्वितत्व रूप अर्थ के ज्ञापन की सामर्थ्य भी है) किन्तु ऐसी व्याप्ति संभव नहीं है, क्योंकि चक्षु में आम के ज्ञापन की शक्ति है' किन्तु आम में चूँकि विशेष स्पर्श रूप धर्म है, केवल इतने से चक्षु में उक्त स्पर्श के ज्ञापन की शक्ति नहीं मानी जा सकती। अतः 'अन्विताभिधान' शब्द का 'अन्विते सङ्गतिः' इस आकार का विवरण नहीं माना जा सकता।

अथ ··· ··· ··· ···

(२) यदि 'अन्विताभिधान' शब्द का यह अर्थ करें कि 'इतरान्वितत्वविशिष्ट अर्थ में ही पद की शक्ति है' तो यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कोई 'प्रमाण[1]' नहीं है।

---

१. आचार्य ने 'अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ में पद की शक्ति को अस्वीकार करते हुये कुछ युक्ति न देकर केवल इसमें 'प्रमाण' के अभाव का सिद्धवत् उल्लेख किया है। अतः वर्द्धमान ने अपनी प्रकाश व्याख्या में उक्त प्रमाणाभाव का बड़े ऊहापोह से विचार किया है। उनका कहना है कि सभी विशिष्टबोधों में विशेष्य नियमित रहता है, एवं विशेषण अनियमित रहते हैं। घट कभी आनयन क्रिया में अन्वित होता है, तो कभी जलाहरण क्रिया में। किन्तु घट पद से युक्त जितने भी वाक्य होंगे, उन सभी वाक्यों से होनेवाले बोधों में घट अवश्य ही भासित होगा। अतः लाघववश घट पद की शक्ति केवल घट रूप अर्थ में ही मानते हैं। अनन्त इतरान्वितत्व धर्म से युक्त घट में शक्ति को स्वीकार करना गौरवदोषाधायक है। घट पद की जो केवल घट में रहनेवाली शक्ति है, उसी से इतरान्वितत्व का भी बोध हो जायगा। जैसे कि जातिशक्तिवादी मीमांसकगण जाति में रहनेवाली जो पद की शक्ति है, उसी से व्यक्ति का भी भान स्वीकार करते हैं। जाति रूप अर्थ विषयकबोध को वही शक्ति ज्ञात होकर उत्पन्न करती है, वही शक्ति व्यक्ति विषयकबोध को स्वरूपतः उत्पन्न करती है। इसी प्रकार प्रकृत में भी घट रूप अपने अर्थ की बुद्धि को वही शक्ति ज्ञात होकर उत्पन्न करेगी, एवं घट में जो इतरान्वितत्व धर्म है, उसके बोध को वही शक्ति स्वरूपतः उत्पन्न करेगी। इससे यह निष्पन्न होता है कि जिस अर्थ के बोध को शक्ति ज्ञात होकर उत्पन्न करती है, वही 'शक्यार्थ' है। तदनुसार 'घट' रूप अर्थ ही घट पद का शक्यार्थ है। इतरान्वितत्व का बोध केवल शक्ति से ही होता है, अतः वह शक्यार्थ नहीं है।

अन्विितार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरिति चेन्न । अनन्विताभिधानेनाप्युपपत्तेः । आकाङ्क्षाऽनुपपत्तिरस्तु । न हि सामान्यतोऽन्वितानवगमेऽन्वयविशेषे जिज्ञासा स्यात् ।

पू० प० अन्वितार्थ ··· ··· ··· ···

पदों के जितने 'शक्य' अर्थ हैं, वे सभी पदों में रहने वाली अपनी अपनी ज्ञापिका शक्ति के बल से शाब्दबोध में भासित होंगे, किन्तु उन पदार्थों के परस्परान्वय (परस्पर-सम्बन्ध) का फलतः परस्परान्वयविशिष्ट अर्थों का बोध किस से होगा ? अतः यदि 'अन्वितत्व-विशिष्ट' अर्थ में पद की शक्ति नहीं स्वीकार करेंगे, तो अन्वितत्व विशिष्ट अर्थ का बोध अनुपपन्न हो जायगा । अन्वितत्व-विशिष्ट अर्थ' विषयक बोध की इस अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही यह सिद्ध होता है कि अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ में ही पद की शक्ति है ।

सि० प० न, अनन्विताभिधानेन ··· ··· ··· ···

'अनन्विताभिवाद' से भी अर्थात् केवल अर्थ में ही पद की शक्ति स्वीकार करने पर भी अन्वयविशिष्ट अर्थ की प्रतीति हो सकती है, यदि आकांक्षाज्ञानादि अन्य सभी सहकारियों का उसे साहाय्य प्राप्त हो । अतः अन्वितत्वविशिष्ट में शक्ति माने बिना अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ के बोध की अनुपपत्ति नहीं है ।

पू० प० आकांक्षानुपपत्ति ··· ··· ··· ···

(उक्त अर्थापत्ति से अन्विताभिधान का समर्थन भले ही सम्भव न हो, किन्तु दूसरी अर्थापत्ति के द्वारा अन्विताभिधान का समर्थन किया जा सकता है । उसकी रीति यह है कि) 'ओदनम्' इस पद के सुनने पर 'अन्वय' के प्रसङ्ग में यह सामान्य जिज्ञासा उदित होती है कि 'ओदनम्पचति' अथवा 'ओदनमानयति' । जिज्ञासा पूर्ण ज्ञात विषय की, अथवा सर्वथा अज्ञात विषय की नहीं होती, किन्तु कुछ अंशों में ज्ञात एवं कुछ अंशों में अज्ञात विषय को ही जानने की इच्छा (जिज्ञासा) होती है । आकांक्षा है जिज्ञासा रूप । अतः जिज्ञास्यविषयक या आकांक्ष्यविषयक सामान्यज्ञान आकांक्षा के लिये आवश्यक है । प्रकृत में आकांक्ष्य या जिज्ञास्य है 'अन्वितत्व' अतः उसका सामान्य ज्ञान प्रकृत में अपेक्षित है । इसके बिना अन्वितत्व विशिष्ट अर्थ में पद की शक्ति उपपन्न ही नहीं हो सकती, फलतः आकांक्षा ही अनुपपन्न है । इसलिये अन्वितत्व विशिष्ट अर्थ में पद की शक्ति मानना उचित है ।

न, दृष्टे फलविशेषे रसविशेषजिज्ञासावदाक्षेपतोऽप्युपपत्तेः, शब्दमहिमानमन्तरेण यतः कुतश्चिदपि स्मृतेषु पदार्थेषु अन्वयप्रतीतिः स्यात्। न चैवम्। ततः शब्दशक्तिरवश्यं कल्पनीयेति चेत्; कुतस्तर्हि कविकाव्यानि विलसन्ति? न हि संसर्गविशेषमप्रतीत्य वाक्यरचना नाम। न च स्वोत्प्रेक्षायां प्रत्यक्षमनुमानं शब्दस्तदाभासा वा संभवन्ति, अन्यत्र चिन्तावशेन पदार्थस्मरणेभ्यः।

सि० प० न, दृष्टे ··· ··· ··· ···

यह अकांक्षानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति भी प्रकृत में संभव नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार आम प्रभृति फलों को देखने पर उसमें दीखनेवाले रूप से रस सामान्य का अनुमान होता है, फिर इस अनुमान से ही विशेष प्रकार के रस की जिज्ञासा होती है। उसी प्रकार पद से केवल पदार्थ की उपस्थिति होने पर उसमें सामान्य रूप से इतरान्वितत्व का बोध भी अनुमान प्रमाण से ही होगा। इस अनुमान से ही विशेष रूप से अन्वय की जिज्ञासा उत्पन्न हो जायगी।

पू० प० शब्दमहिमानम् ··· — ··· ···

'जो आकांक्षा शब्द के द्वारा उठती है, उसकी पूर्ति भी शब्द से ही होना उचित है' इस नियम को शब्द को प्रमाण माननेवाले सभी लोग स्वीकार करते हैं। अतः 'पचति' पद से उपस्थित पाक में प्रत्यक्ष दृष्ट कलाय का अन्वय कोई भी नहीं मानता। उसकी निवृत्ति 'कलायम्' पद से उपस्थित कलाय के अन्वय से ही होती है। इसी प्रकार अनुमान के द्वारा जो इतरान्वितत्व सामान्य की उपस्थिति होगी, उसका उपयोग इतरान्वितविशिष्ट विषयक शाब्दबोध में नहीं हो सकता।

सि० प० कुतस्तर्हि ··· ··· ··· ···

वही पदार्थ शाब्दबोध का 'करण' है, जिसकी उपस्थिति पद की द्वारा हुई हो।

---

१. 'कुतस्तर्हि' इत्यादि सन्दर्भ से आचार्य ने भट्टमतावलम्बन कर प्राभाकर सम्मत अन्विताभिधानवाद का खण्डन किया है। 'कुतस्तर्हि' यहाँ से लेकर 'तस्मात् प्रकारान्तरेण' इतने तक का सन्दर्भ भट्टमत का उपपादक है। फलतः भाट्टों एवं प्रभाकरों के विवाद का सूचक है। आगे 'न चैवम् सति' से लेकर 'कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से आचार्य ने 'पदार्थकरणत्व' रूप भट्टमत का भी खण्डन किया है।

पद स्वयं शाब्दबोध रूप प्रमा का 'करण' नहीं है। शाब्दबोध के उत्पादन में पद का इतना ही उपयोग है कि वह पदार्थ को उपस्थित कर दे। अतः पद शाब्दबोध का कारण ही नहीं है, किन्तु अन्यथासिद्ध है। इसलिए पद में जब शाब्दबोध की 'कारणता' ही नहीं है, तो फिर 'करणता' तो दूर की बात है। अतः पदार्थ ही स्वोपस्थिति के द्वारा शाब्दबोध का 'करण' है, पद नहीं। पदार्थ की यह उपस्थिति जिस किसी से भी हो, इसमें कोई आग्रह नहीं। यदि यह आग्रह रखेंगे कि पदार्थ की उक्त उपस्थिति पद के द्वारा ही हो, तो फिर 'नवीनकाव्य' की रचना नहीं हो सकेगी। क्योंकि कवि की कल्पना मात्र से प्रसूत जो उत्प्रेक्षित अर्थ हैं, उनकी उपस्थिति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तो संभव ही नहीं है, प्रत्यक्षादि प्रमाणाभासों से भी उनकी उपस्थिति संभव नहीं हैं। वहाँ कवि की चिन्ता मात्र से उत्पन्न स्मृति से ही उन उत्प्रेक्षित पदार्थों की उपस्थिति माननी होगी।

(इसी प्रकार यदि कोई वेग से दौड़ते हुये घोड़े का श्वेत रूप की झलक ही देखता है, फिर उसकी हिनहिनाहट एवं उसके टाप को सुनता है, तो बाद में उस पुरुष को 'श्वेतोऽश्वो धावति' (सफेद घोड़ा दौड़ रहा है) इस आकार का शाब्दबोध होता है। इसलिए मानना होगा कि चक्षुरादि प्रमाणों से उपस्थित 'श्वेतिमा' प्रभृति का भी भान शाब्दबोध में होता है। एवं शब्द के द्वारा उपस्थित 'हेषा' (हिनहिनाहट) एवं 'खुरविक्षेप' (टाप) का भान शाब्दबोध में नहीं होता है। सुतराम् यह नियम नहीं है कि शब्द के द्वारा उपस्थित अर्थों का ही शाब्दबोध में भान हो, न यही नियम है कि शब्द के द्वारा उपस्थित अर्थों का भान शाब्दबोध में अवश्य हो, अतः इतरान्वितत्व की उपस्थिति यदि अनुमान से ही होगी, तथापि उसका शाब्दबोध में भान हो सकता है, इसके लिए इतरान्वितत्व में पद की शक्ति को स्वीकार करना अनावश्यक है।

'पचति' पद से उपस्थित पाक में प्रत्यक्ष के द्वारा उपस्थित कलाय के अन्वय के वारण लिए ही 'शाब्दी आकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' यह नियम माना गया है। प्रकृत में 'पचति' पद के द्वारा ही पाक क्रिया के कर्म की आकांक्षा जाग्रत होती है, उक्त नियम के अनुसार चूँकि 'कलायम्' इस कर्म पद के द्वारा उपस्थित कलाय से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है, अतः प्रत्यक्ष के द्वारा उपस्थित कलाय का अन्वयबोध में भान नहीं होता है।[1])

---

१. उक्त नियम वाक्य का यह अभिप्राय है कि शाब्दबोध में विषयीभूत जिस अर्थ की आकांक्षा शब्द के द्वारा उत्पन्न होती है, उस आकांक्षा की निवृत्ति शब्द जनित उपस्थिति से ही होती है। इस नियम वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि शाब्दबोध में उपयोगिनी जितनी भी आकांक्षायें हों, उन सबों की निवृत्ति शब्द जनित उपस्थिति से ही हो।

असंसर्गाग्रहोऽसाविति चेत्; मम तावत् संसर्गग्रह एवासौ । तवाऽपि सैव पदावली क्वचिदन्वये पर्यवस्यति, क्वचिदनन्वयाग्रहे इति कुतो विशेषात् ? आप्तानाप्तवक्तृकतयेति चेत् ; किं तथाविधेन वक्त्रा तत्र कश्चिद्विशेष

पू० प असंसार्गाग्रहः ··· ··· ···

पदार्थों के परस्पर संसर्ग का बोध ही अन्वयबोध अथवा शाब्दबोध है । अभिनव काव्य से अथवा श्वेतिमा के देखने से एवं ह्रेषा एवं खुर विक्षेपादि के श्रवण से जो श्वेत अश्व का बोध कहा जाता है, वह बोध वस्तुतः पदार्थों के संसर्ग का बोध है हो नहीं, फलतः अन्वयबोध ही नहीं हैं । वे पदार्थों के संसर्गों के अभावों का अज्ञान (असंसर्गाग्रह) मात्र हैं । अतः उक्त स्थलों में व्यभिचार नहीं है । सुतराम् इतरान्वितत्व में भी शब्द की शक्ति अवश्य है ।

पू० प० मम तावत् ··· ··· ···

'पदार्थ' को ही शाब्दबोध का 'करण' माननेवाले मेरे (भट्ट) मत में अभिनव काव्य से अथवा श्वेतिमा के दर्शनादि से जितने भी बोध उत्पन्न होते है, वे सभी पदार्थों के संसर्गबोध रूप-शाब्दबोध ही हैं, असंसर्गाग्रह नहीं । आप (प्रभाकरों) के मत से शब्दों के द्वारा कहीं तो पदार्थों के संसर्ग का बोध होता है, एवं कहीं पदार्थों का असंसर्गाग्रह होता है ।

इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि एक ही प्रकार की पदावली कभी संसर्गबोध का, एवं कभी असंसर्गाग्रह का उत्पादन करती है ? किन्तु इसका नियामक कौन है कि कब किस प्रकार के 'विशेष' वश एक ही प्रकार की सामग्री से संसर्ग बोध होगा ? एवं कब असंसर्गाग्रह होगा ?

पू० प० आप्तानाप्त ··· ··· ···

सामग्री में अन्तर्भूत 'पद' जब आप्त पुरुष के द्वारा उच्चारित होते हैं, तो उन पदों से युक्त सामग्री से पदार्थों का संसर्गबोध रूप शाब्दबोध होता है । एवं वे ही पद जब अनाप्त पुरुष के द्वारा उच्चारित होते हैं, तो उन्हीं पदों से युक्त सामग्री के द्वारा असंसर्गाग्रह उत्पन्न होता है । फलतः पद में रहने वाले आप्तोक्तत्व रूप 'विशेष' वश अन्वयबोध या संसर्गबोध होता है, एवं पदों में ही रहने वाले अनाप्तत्व रूप विशेष वश असंसर्गाग्रह होता है ।

सि० प० किं तथाविधेन ··· ··· ···

(१) क्या वक्ता अपने उच्चारण के द्वारा पदों में किसी 'विशेष' अतिशय (सामर्थ्य) को उत्पन्न करता है ? (२) अथवा पद अवच्छेदक विषया स्वयं ही 'विशेष' स्वरूप है ? अर्थात् पदों में वक्ता का उच्चारितत्व रूप सम्बन्ध ही 'विशेष' या अतिशय है ?

आहित: ? आहो वक्तैवावच्छेदकतया विशेष: ? । प्रथमे अभिहितान्वयवादिनामिव तवापि शक्तिकल्पनागौरवम् । द्वितीये तु वक्तुरिव पदानामप्यवच्छेदकतयैव विशेषकत्वमस्तु । एवं तर्हि पदानामप्यन्वयप्रतीतावस्त्युपयोगः ?

प्रथमे ... ...

यदि इनमें पहिला पक्ष स्वीकार करें तो 'अभिहितान्वयवादियों (भाट्टमीमांसकं) के मत में तुमने जो त्रिविध शक्ति की कल्पना रूप गौरव की आपत्ति दी है, वही त्रिविधशक्ति की कल्पना रूप आपत्ति तुह्मारे मत में भी आ पड़ेगी[1] अतः प्रथम विकल्प अयुक्त है ।

दूसरे पक्ष में यह कहना है कि हम (भाट्ट) लोग भी पद को पदार्थोपस्थिति में विशेषण होने से शाब्दबोध में उपयोगी मानते ही हैं । (अर्थात् जिस प्रकार पद में आप्तोक्तत्व रूप 'विशेष' को प्राभाकर स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार भाट्टमत में भी पदार्थोपस्थिति में ही 'पदजन्यत्व' रूप विशेष को स्वीकार कर लेने से ही निर्वाह हो सकता है इसके लिये अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ में शक्ति की कल्पना व्यर्थ है) ।

पू० प० एवं तर्हि ··· ··· ··· ···

यदि पदार्थ को ही शाब्दबोध का 'करण' मानते हुये भी पदार्थोस्थिति के सम्पादक होने के कारण पद का भी उपयोग शाब्दबोध में मानें तो भाट्टों के मत में भी अन्वयबोध में पद का उपयोग स्वीकार करना पड़ेगा ।

---

१. अभिहितान्वयवादिगण पद से केवल पदार्थोपस्थिति ही मानते हैं, पद से अन्वयबोध नहीं मानते । इस मत के अनुसार पदों से जिस समय पदार्थोपस्थिति होती है, उसी समय पदार्थों में अन्वयबोध की जनकता रहती है । तदनुसार (१) पदों में पदार्थोपस्थिति को उत्पन्न करने की शक्ति, (२) एवं पदों में ही पदार्थगत संसर्गबोध के अनुकूल शक्ति के आधान की शक्ति (३) पदार्थों में संसर्गबोध की शक्ति, इन तीन शक्तियों की कल्पना की आपत्ति प्राभाकर देते है, क्योंकि उनके मत से दो ही शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है (१) पदों में पदार्थस्मारिका शक्ति एवं (२) अन्विताभिधान की शक्ति । अब यदि प्राभाकर यह कहते है कि जिस समय पद आप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित होता है, उसी समय पदों में अन्वयबोध की शक्ति रहती है, तो उनको भी आप्तपुरुष में पदनिष्ठ अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ के अन्वयबोध जनिका शक्ति भी माननी होगी । फलतः प्राभाकर के मत में भी तीन शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी । फलतः दोनों पक्षों में त्रिविध शक्तियों की कल्पना समान है । अतः प्राभाकर उक्त गौरवदोष भाट्टों के ऊपर नहीं दे सकते ।

कः सन्देहः ? परं पदार्थाभिधानेन, न त्वन्यथा। अन्यथा गुरुमतविदामेव श्लोक आप्तपदप्रक्षेपेण पठनीयः—

"प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्योपगमादपि ।
आप्तानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्" इति ॥

सि० प० कः सन्देहः ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार आप (प्राभाकरों के) मत में पदार्थसंसर्ग के बोध के अथवा अन्वयबोध के उपयुक्त उच्चारण कर देना ही शाब्दबोध में आप्तों का उपयोग है, आप्त पुरुष का शाब्दबोध में और कोई उपयोग नहीं है। उसी प्रकार मेरे मत से पद भी शाब्दबोध में उपयोगी है, किन्तु उसका इतना ही उपयोग है कि वह पदार्थ को उपस्थित कर दे। किसी दूसरी रीति से पद शाब्दबोध में उपयोगी नहीं है (भाट्टगण पद में शाब्दबोध की कारणता तो मानते हैं, किन्तु 'करणता' को अस्वीकार करते हैं)। इस प्रकार अभिहितान्वय क्रम से ही पद शाब्दबोध में उपयोगी है। इसके लिये अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ में उसकी शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

'अन्यथा' यदि पदों को उच्चारण कर देने से भिन्न भी आप्त पुरुष का कोई उपयोग शाब्दबोध में आप (प्राभाकर) मानें तो गुरुमत के सबसे बड़े ज्ञाता (पञ्जिकाकार श्री शालिकनाथ मिश्र) के श्लोक के 'शब्दानाम्' के स्थान पर 'आप्तानाम्' ऐसा पाठ स्वीकार उस श्लोक को इस प्रकार पढ़ देना चाहिये।

प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्योपगमादपि ।
'आप्तानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम् ॥'[1]

---

1. कुमारिभट्ट 'अभिहितान्वय' वादी हैं, एवं वे पद की शक्ति केवल 'अर्थ' में ही मानते हैं 'अन्वितत्वविशिष्ट' अर्थ में नहीं। एवं पदार्थ को ही शाब्दबोध का करण मानते हैं, उनके इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का खण्डन प्रभाकर के सबसे बड़े समर्थक श्री शालिकनाथ मिश्र ने निम्नलिखित इस श्लोक से किया है—

प्राथ[1]म्यादभि[2]धातृत्वात्तात्पर्यो[3]पगमादपि ।
शब्दानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम् ॥

प्रकरणपञ्जिका प्र० परिच्छेद श्लोक ११

(१) प्राथम्यात् = पहिले पद की उपस्थिति होती है, बाद में पदार्थ की उपस्थिति होती है, अतः प्रथमोपस्थित पद को ही शाब्दबोध का 'करण' मानना उचित है, पश्चादुपस्थित पदार्थ को करण मानना अनुचित है।

तस्मात्प्रकारान्तरेण संसर्गप्रत्ययो भवतु मा वा, पदार्थानामाकाङ्क्षादिमत्त्वे सति अभिहितानामवश्यमन्वय इति कुतोऽतिप्रसङ्गः ?

तस्मात् ··· ··· ···

इसलिये हम लोगों का केवल यही कहना है कि संसर्गबोध अथवा अन्वयबोध जिस किसी प्रकार से हो, यदि उसके आकांक्षा प्रभृति अन्य सभी कारणों का समवधान रहे, तो पद की अभिधावृत्ति के द्वारा उपस्थित अर्थों का अन्वय कहीं अवश्य हो। इसके लिये अन्वितत्वविशिष्ट अर्थों में पद की अभिधा वृत्ति को स्वीकार करना (अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करना) आवश्यक नहीं है।

---

(२) अभिधातृत्वात् = पद में अभिधातृत्व (अभिधा) रूप शक्ति तो भट्ट भी मानते ही हैं। अर्थात् पद में पदार्थोपस्थिति की कारणता जब स्वीकृत ही है, तो उसी में शाब्दबोध की 'करणता' भी क्यों न मान ली जाय? पद को कारण मान कर फिर 'पदार्थ' को 'करण' मानें, इसमें गौरव है।

(३) तात्पर्योपगमात् = वाक्यार्थबोध की इच्छा से पद का उच्चारण सभी मानते हैं। इस लिये 'वक्ता की इच्छा' रूप 'तात्पर्य' के निष्पादक के रूप में पद का उच्चारण सभी स्वीकार करते हैं। शाब्दबोध में 'तात्पर्य' के उपयोग को भी सभी स्वीकार करते हैं, तो फिर तात्पर्य के सम्पादक पद को ही शाब्दबोध का 'करण' भी मान लेना उचित है।

अतः पद ही शाब्दबोध का 'करण' है। एवं पद में ही अन्वयबोध को उत्पन्न करने की 'शक्ति' भी है। सुतराम् अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ में ही पद की शक्ति है। केवल अर्थ में नहीं। एवं पद ही शाब्दबोध का 'करण' है, पदार्थ नहीं।

भाट्टों का कहना है कि यदि आप्तपुरुष का शाब्दबोध में पदोच्चारण से 'अन्यथा' अर्थात् 'अन्य' उपयोग भी रहे, तो उक्त श्लोक में कथित 'प्राथम्य' प्रभृति हेतु से 'आप्तपुरुष' में ही 'करणता' का साधन अधिक सुलभ होगा। क्योंकि (१) पद से पहिले उसके उच्चारण कर्त्ता आप्तपुरुष की उपस्थिति ही होती है, अतः उसी की उपस्थिति में 'प्राथम्य' है। इसलिये प्रथमोपस्थित आप्तपुरुष को ही करण मानना उचित है, पश्चादुपस्थित पद को नहीं। (२) एवं वाक्यार्थ के 'अभिधान' में भी आप्तपुरुष का उपयोग है ही, अतः अभिधातृत्व हेतु भी है। (३) तात्पर्य तो उच्चारणकर्त्ता आप्तपुरुष का है ही। अतः शाब्दबोध की करणता आप्तपुरुष में ही मानिये, पदों में नहीं। इसके लिये उक्त श्लोक के 'पदानाम्' इस शब्द के स्थान पर 'आप्तानाम्' इस पद को रखकर भी उक्त श्लोक को पढ़ा जा सकता है।

न चैवं सति पदार्था एव करणम्, तेषामनागतादिरूपतया कारकत्वानुपपत्तौ तद्विशेषस्य करणत्वस्यायोगात्। तत्संसर्गे प्रमाणान्तरासङ्कीर्णोदाहरणाभावाच्च।

पू० प० न चैवम् ··· ··· ···

[1]तो क्या इससे यही समझें कि "पदार्थ ही शाब्दबोध का करण है पद नहीं" भाट्टों का यह सिद्धान्त ही ठीक है ?

सि० प० तेषाम् ··· ··· ···

नहीं, (अर्थात् पदार्थों को शाब्दबोध का करण स्वीकार करने का भाट्टों का सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर) जहाँ अतीत अथवा भावी अर्थ को समझाने के लिए पद प्रयुक्त होते हैं, वहाँ शाब्दबोध न हो सकेगा। क्योंकि उक्त पदों से उपस्थित अर्थों की सत्ता शाब्दबोध से पहिले संभव नहीं है। अविद्यमान पदार्थ किसी का उत्पादक कारण नहीं हो सकता। अतः पदार्थ शाब्दबोध का कारण नहीं हो सकता। जब उसमें कारणत्व ही संभव नहीं, तो फिर उसको 'करण' होना तो दूर की बात है।

तत्संसर्गे ··· ··· ···

दूसरी बात यह भी है कि पद को करण मानने पर अभिनव काव्य जनित शाब्दबोध की अथवा 'श्वेतोऽश्वो धावति' इस प्रकार के शाब्दबोध की जो अनुपपत्ति दी गयी है, एवं इसके लिए पदार्थ को ही कारण मानने की अनिवार्यता बतलायी गयी है, वही अयुक्त है, क्योंकि जिन स्थलों के लिए पदार्थ को शाब्दबोध का करण मानना वे आवश्यक समझते है, उन स्थलों में अर्थात् अभिनवकाव्यजनितबोध में अथवा कथित 'श्वेतोऽश्वो धावति' इस आकार के बोध में अन्य प्रमाण भी अवश्य रहते हैं, जैसे कि अभिनव काव्य स्थल में उत्प्रेक्षा सहकृत मन रूप प्रत्यक्ष प्रमाण, 'एवं श्वेतोऽश्वो धावति' इस स्थल में 'खुरविक्षेपादिलिङ्ग' रूप अनुमान प्रमाण भी अवश्य रहते हैं। अतः उन सभी स्थलों में यथा योग्य उन्ही में से कोई 'करण' है। उन सभी स्थलों में भी 'पदार्थ' करण नहीं हैं। शब्दजनितबोध का कोई ऐसा उदाहरण नही है, जिसके लिये पदार्थ को ही करण मानना पड़े। जहाँ प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाकरणों की सम्भावना न रहे, सुतराम् पदार्थ शाब्दबोध का करण नहीं है।

---

1. कुतस्तर्हि' यहाँ से लेकर "कुतोऽतिप्रसङ्गः" इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से भट्ट मत के द्वारा प्रभाकर सम्मत अन्विताभिधान का खण्डन किया गया है। यहाँ भट्ट मत का मूल है 'पदार्थ' को ही शाब्द बोध का 'करण' मानना। किन्तु यह पक्ष नैयायिकों को स्वीकृत नहीं है। अतः 'न चैवं सति' यहाँ से लेकर 'प्रसक्तानुप्रसक्त्या' इतने पर्यन्त से आचार्य ने उक्त भट्ट मत का खण्डन कर अपने 'पदकरणत्व' पक्ष का समर्थन किया है। इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षवादी है भट्ट सम्प्रदाय के लोग, एवं सिद्धान्तवादी हैं 'नैयायिक'।

पदानां तु पूर्वभावनियमेन पदार्थस्मारणाऽवान्तरव्यापारवत्तया तदुपपत्तेः व्यापारस्याव्यवधायकत्वादिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥१५॥

(पदार्थ को करण न मानने के प्रसङ्ग में जो पहिली यह युक्ति दी गयी है कि शाब्द-बोध चूँकि अतीत एवं अनागत अर्थविषयक भी होता है, किन्तु वहाँ पदार्थ रूप करण की सत्ता संभावित नहीं है, अतः पद ही करण है पदार्थ नहीं। इस युक्ति के प्रसङ्ग में यह आक्षेप हो सकता है कि कुछ स्थलविशेषों में ही शाब्दबोध से पहिले पदार्थ की सत्ता असंभावित है, सभी शाब्दबोधों से पहिले पदार्थों की सत्ता असंभावित नहीं है, किन्तु) पद को करण मानने के पक्ष में तो यह आक्षेप सभी शाब्दबोधों में उपस्थित होगा कि पद शाब्द बोध से पूर्वक्षण में कदापि नहीं रह सकते, क्योंकि पद शब्द स्वरूप हैं, अतः क्षणिक हैं। शाब्दबोध से पूर्व में न रहने से पद में शब्दबोध की कारणता अथवा करणता संभव ही नहीं है।

इसी प्रसङ्ग में दूसरी बात यह कही गयी है कि कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में नियमतः रहने वाले ही कारण हैं। पद शाब्दबोध से कतिपय क्षण पूर्व ही रहता है, अव्यवहित पूर्वक्षण में नहीं। क्योंकि पदोच्चारण के बाद पदार्थोपस्थिति प्रभृति अन्य कारणों के समवधान के बाद ही शाब्दबोध होता है। अतः पद शाब्दबोध का कारण ही नहीं हो सकता, उसके करण होने की बात तो बहुत दूर की है। इनमें से प्रथम आक्षेप का समाधान यह है कि —)

पदानान्तु··· ··· ··· ···

(१) शाब्दबोध से अव्यवहित पूर्वक्षण में पद भले ही न रहे, किन्तु शब्दबोध से पहिले तो अवश्य रहता है। उसी से उसमें 'करणता' का निर्वाह हो जायगा। क्योंकि अपने व्यापार के उत्पादन के द्वारा ही 'करण' कार्य के उत्पादन में उपयोगी होता है। अतः आवश्यम्भावी व्यापार के व्यवधान से करणीभूत वस्तु में शब्दबोध का अव्यवहितपूर्वत्व खण्डित नहीं होता। (अत एव चिरविनष्ट अनुभव से संस्कार के द्वारा स्मृति की उत्पत्ति होती है)। अतः प्रथम आक्षेप निराधार है।

व्यापारस्य··· ··· ··· ···

(कथित दूसरे आक्षेप का समाधान यह है कि) सर्वत्र 'करण' व्यापार के मध्यवर्ती होने के कारण कार्य से एकक्षण व्यवहित ही रहता है। (अतः करण स्वरूप कारण के लक्षण में कार्य का अव्यवहित पूर्वत्व दो क्षण तक मानना आवश्यक है। इस लिये उक्त अव्यवहित पूर्वत्व की परिभाषा ऐसी बनानी होगी, जिससे 'करण' की स्थिति क्षण भी कार्य का अव्यवहितपूर्व हो सके। अन्यथा 'करणत्व' का उक्त लक्षण ही असम्भव दोष से ग्रसित हो जायगा। अतः पद में भी शब्दबोध का उक्त अव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व अवश्य है। इस लिये यह द्वितीय आक्षेप भी निराधार है, (द्वितीयादि क्षण साधारण अव्यवहित पूर्वत्व के समझने के लिये 'पक्षता' ग्रन्थ का सार्वभौम प्रकरण देखना चाहिए)।

अस्तु तर्हि शब्द एव बाधकं सर्वज्ञे कर्त्तरि ? तथा हि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ इत्यादि पठन्ति ।

अस्यायमर्थः—न पारमार्थिकं चेतनस्य कर्तृत्वमस्ति, आभिमानिकं तु तत् । न च सर्वज्ञस्याभिमानः, न चासर्वज्ञस्य जगत्कर्तृत्वमस्ति । उच्यते—

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता ।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ॥१६॥

इति कृतम्··· ··· ··· ···

शब्द में स्वतन्त्र प्रामाण्य के स्थापन के क्रम में 'प्रसङ्ग' वश चूँकि 'अन्विताभिधान' की चर्चा की गयी है, अतः 'अन्विताभिधान' ही प्रकृत में 'प्रसक्त' अर्थात् 'प्रसङ्गतः' आ गया है। इस प्रकार 'प्रसक्त अन्विताभिधान' के विचार के क्रम में भी 'प्रसङ्ग' वश ही पदार्थकरण मूलक 'अभिहितान्वयवाद' भी निरूपित हुआ है। अतः प्रकृत अभिहितान्वयवाद की चर्चा 'अनुप्रसक्त' है। इसका विस्तार से खण्डन करना प्रकृत में अनुपयुक्त है, अतः इस विचार को यहीं छोड़ देना उचित है ॥१५॥

पू० प० अस्तु तर्हि··· ··· ··· ···जगत्कर्त्तृत्वमस्ति

(सांख्य के अनुयायियों का आक्षेप यह है कि इस प्रकार से समर्थित) शब्द रूप स्वतन्त्र प्रमाण ही कथित ईश्वर की सिद्ध में बाधक है। क्योंकि 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि श्लोक गीता में पठित है। इस श्लोक का यह अर्थ है कि "चेतन्य से युक्त पुरुष में वस्तुतः कर्त्तृत्व नहीं है, क्योंकि अभिमानिक चैतन्य है। अर्थात् उसमें चैतन्य का 'अभिमान' मात्र है। 'अहङ्कार' का मूल है 'मिथ्याज्ञान'। सर्वज्ञ (ईश्वर) में मिथ्याज्ञान का रहना संभव ही नहीं है। यह मानना होगा कि जिस में अहङ्कारमूलक यह कर्त्तृत्व रहेगा, उसमें मिथ्याज्ञान भी अवश्य रहेगा। मिथ्याज्ञान से युक्त पुरुष कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। जो सर्वज्ञ नहीं होगा वह जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता। अतः "सर्वज्ञ परमेश्वर ही जगत कर्त्ता है" यह कहना ठीक नहीं है।

सि० प० उच्यते··· ··· ··· ···न प्रमाणमनाप्तोक्तिः

(इस आक्षेप के समाधान में हम लोग) कहते हैं कि—

('प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि वाक्य रूप शब्द तभी प्रमाण हो सकते हैं, जब कि वे आप्त के द्वारा उच्चरित हों ? अथवा नित्य हों ? शब्द का नित्यत्व खण्डित हो चुका है, अतः उनके प्रामाण्य के लिये आप्तपुरुष द्वारा उच्चरित होना ही एक मात्र उपाय है।

यदि हि सर्वज्ञकर्तृभावावेदकः शब्दो नाप्तोक्तः, न तर्हि प्रमाणम् । अथाप्तोऽस्य वक्ता, कथं न तदर्थदर्शी । अतीन्द्रियार्थदर्शीति चेत् ; कथमसर्वज्ञः ? । कथं वा न कर्त्ता ? । आगमस्यैव प्रणयनात् । न च नित्यागमसम्भवो विच्छेदादित्यावेदितम् ।१६। अपि च,

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात् ।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥ १७ ॥

अतः उक्त वाक्य के प्रसङ्ग में यह विकल्प उपस्थित होता है कि) वे आप्तों से उच्चरित हैं ? अथवा अनाप्तों से ? यदि उन शब्दों को अनाप्तोच्चरित माना जाय, तो वे प्रमाण ही नहीं होंगे । अप्रमाणिक शब्द न किसी के साधक हैं न किसी के बाधक, अतः उन्हें अनाप्तोच्चरित मानने पर उस शब्द से ईश्वर की सिद्धि बाधित नहीं हो सकती ।

यदि उन शब्दों के वक्ता पुरुष आप्त हैं, तो फिर उनमें उक्त वाक्य के अर्थों का यथार्थज्ञान अवश्य ही मानना होगा, क्योंकि आप्तत्व का लक्षण ही उच्चारण करनेवाले पुरुष में तदर्थविषयक यथार्थज्ञान का रहना है । 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि शब्दों से होनेवाला ज्ञान घटादि ज्ञानों के सदृश स्थूल विषयक नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय सूक्ष्म विषयक है । अतीन्द्रिय विषयों के द्रष्टा को अवश्य सर्वज्ञ मानना होगा । इस प्रकार 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि आगम (शब्द) के रचयिता को भी सर्वज्ञ मानना ही होगा । अतः कर्त्ता पुरुष का सर्वज्ञ होना अनुपपन्न नहीं है ।

सि० प० यदि हि ··· ··· ··· ···

'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि जिन शब्दप्रमाणों से कर्त्ता में सर्वज्ञत्व का निषेध करना चाहते हैं, वे शब्द यदि 'आप्त' पुरुष के द्वारा रचित नहीं हैं, तो फिर वे प्रमाण ही नहीं है । यदि उक्त रचयिता पुरुष आप्त हैं, तो फिर उनमें उक्त शब्द से प्रतिपाद्य अतीन्द्रिय अर्थों का ज्ञान भी क्यों नहीं है ? यदि वे उक्त अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञान से युक्त हैं, तो उन्हें असर्वज्ञ ही कैसे कहा जा सकता है ? एवं यदि वे 'आगम' के 'कर्त्ता' हैं, तो उन्हें 'अकर्त्ता' ही कैसे कहा जा सकता है ? 'आगम' (शब्द) नित्य नहीं हो सकता, इसका प्रतिपादन द्वितीयस्तवक में कर चुके हैं ॥ १६ ॥

अपि च ··· ··· ··· ··· न चासौ

दूसरी बात यह भी है कि शब्दप्रमाण नियमतः ईश्वरसिद्धि के बाधक ही नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर की सत्ता भी (कुछ) शब्दप्रमाणों से ज्ञात होती है । एवं 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुतियों का भी तात्पर्य ईश्वर में ज्ञानादि विशेषगुणों की असत्ता के ज्ञापन में नहीं है, किन्तु 'ईश्वर की उपासना ज्ञानादि विशेषगुणों से शून्य रूप में ही करनी चाहिये' इसी में उन श्रुतियों का तात्पर्य है । चूंकि 'आगम' प्रमाण नियमतः ईश्वर

न ह्यसत्त्वपक्ष एवाऽऽगमो नियतः। ईश्वरसद्भावस्यैव भूयःसु प्रदेशेषु प्रतिपादनात्। तथा चाग्रे दर्शयिष्यामः। तथा च सति क्वचिदसत्त्वप्रतिपादनमनेकान्तं न बाधकम्। सत्त्वप्रतिपादनमपि तर्हि न साधनमिति चेत्, आपाततस्तावदेवमेतत्।

की असत्ता का ही प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि 'द्यावा भूमी जनयन्' इत्यादि ईश्वर की साधक श्रुतियाँ भी उपलब्ध हैं—जिनका उल्लेख पञ्चमस्तबक में किया जायगा। इसलिये ईश्वर की असत्ता के ज्ञापक जो भी आगम प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे सभी 'अनेकान्त' हैं। उनसे ईश्वर की असत्ता का अप्रमाण्य से रहित निश्चयात्मक बोध नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार के (अप्रमाण्यज्ञानास्कन्दित संशयात्मक) ज्ञान से ईश्वर की सिद्धि बाधित नहीं हो सकती।

पू० प० सत्त्वप्रतिपादनमपि··· ··· ··· ···

ईश्वर सत्ता के साधक जितने वाक्य मिलते हैं, वे यदि इस लिये 'अनेकान्त' है कि कुछ वाक्य ईश्वर के साधक भी मिलते हैं, तो फिर तुल्य न्याय से ईश्वर के साधक जितने भी वाक्य मिलते हैं, वे भी 'अनेकान्त' ही होंगे, क्योंकि ईश्वर के बाधक भी कुछ वाक्य मिलते हैं। फलतः ईश्वर के साधक वाक्यों से भी ईश्वर का अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दित एवं संशय रूप बोध ही होगा। अतः उक्त शब्द प्रमाणों के बल पर ईश्वर की सिद्धि नही की जा सकती।

पू० प० आपाततः— ··· ··· ···

तब तक मैं मान लेता हूँ कि उक्त शब्द प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती। किन्तु जब यह निश्चित हो जायगा कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि जितने भी वाक्य उपलब्ध होते हैं, उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि ईश्वर को सभी विशेषगुणों से शून्य समझ कर ही उनकी उपासना करनी चाहिये। उन वाक्यों का तात्पर्य

---

१. 'न प्रमाणमनाप्तोक्तिः' इस १६ वें श्लोक से यह कहा गया है कि शब्द प्रमाण से ईश्वरानुमान बाधित नहीं हो सकता। 'न चासौ' इत्यादि १७ वें श्लोक से यह कहा जाता है कि ईश्वर के साधक भी शब्द प्रमाण हैं। एवं ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि गुणों के निषेधक जितनी भी 'निरञ्जनत्वादि बोधक श्रुतियाँ है, वे सभी ईश्वर में ज्ञानादि विशेषगुणों के अभाव की बोधिका नहीं हैं, किन्तु उनका इतना ही तात्पर्य है कि ईश्वर सभी विशेषगुणों से रहित है' इस रूप में उनकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा (१) ईश्वर साधक शब्द प्रमाण की सत्ता का (२) एवं ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि निषेधक श्रुतियों का अन्यत्र तात्पर्य है, ये दोनों बातें मुख्यतः उपपादित हुई हैं।

यदा तु निःशेषविशेषगुणशून्यात्मस्वरूपप्रतिपादनार्थत्वमकर्तृकत्वागमानामवधारयिष्यते, तदा न तन्निषेधे तात्पर्यममीषामिति सत्त्वप्रतिपादकानामेवाऽऽगमानां प्रामाण्यं भविष्यतीति । न च तेषामप्यन्यत्र तात्पर्यमिति वक्ष्यामः ॥ १७ ॥

अस्त्वर्थापत्तिस्तर्हि बाधिका । तथाहि—यद्यभविष्यन्नोपादेक्ष्यत्, न ह्यसावनुपदिश्य प्रवर्त्तयितुं न जानाति । अत उपदेश एवान्यथानुपपद्यमानस्तथाविधस्याभावमौदासीन्यं वाऽऽवेदयति ।

ईश्वर में सभी विशेष गुणों के अभाव (फलतः कृत्यभाव रूप कर्त्तृत्वाभाव) में नहीं है। तब (इन दोनों बातों के निश्चित हो जाने पर) आत्मा में कर्त्तृत्व के साधक अथवा ईश्वर में सर्वज्ञत्व के साधक जितने भी वाक्य हैं, उन सबों से ईश्वर के जितने भी बोध होंगे, उनमें अप्रामाण्य की शङ्का अथवा संशय रूपता नहीं रहेगी। फिर ईश्वर के साधक वाक्यों में 'अनेकान्तिकता' भी नहीं रहेगी।

न च तेषाम्··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि ईश्वर के साधक जितने भी वाक्य उपलब्ध होते हैं, उन सबों का जब अन्यत्र तात्पर्य की कल्पना कर लेते हैं, तभी जाकर ईश्वर के साधक वाक्यों का प्रामाण्य स्थिर हो पाता है। किन्तु जिस प्रकार ईश्वर के बाधक वाक्यों का अन्यत्र तात्पर्य कल्पित होता है, उसी प्रकार ईश्वर के साधक वाक्यों का भी तात्पर्य अन्यत्र कल्पित होकर ईश्वर के बाधक वाक्यों का प्रामाण्य स्थिर कर सकता है। अतः उक्त युक्ति प्रबल नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि:—) पञ्चम स्तबक के अन्तिम अंश में हम यह दिखलायेंगे कि किस हेतु से ईश्वर के बाधक वाक्यों का अन्यत्र तात्पर्य है। एवं ईश्वर के साधक वाक्यों का अन्यत्र तात्पर्य नहीं है ॥ १७ ॥

पू० प० अस्त्वर्थापत्ति··· ··· ··· ···

मीमांसकगण पुनः आक्षेप करते हैं कि शब्दादि प्रमाण ईश्वर सिद्धि का बाधक भले ही न हो, किन्तु उनसे अतिरिक्त एक अर्थापत्ति नाम का भी तो प्रमाण है, वही ईश्वर सिद्धि में बाधक होगा।

वेदों के कर्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि मानने वालों का अभिप्राय है कि उपदेष्टा पुरुष को उपदेश्य विषयों का ज्ञान अवश्य रहता है। अतः यह मानना होगा कि वेदों के उपदेश करने वाले पुरुष को भी वेदार्थ विषयक ज्ञान अवश्य है। वेदों में अनेकानेक इन्द्रियातीत विषयों का उपदेश है। अतीन्द्रियार्थ द्रष्टा पुरुष अवश्य ही सर्वज्ञ होंगे। अतः वेदों का उपदेष्टा पुरुष भी अवश्य ही सर्वज्ञ है। यह 'सर्वज्ञ पुरुष' ही 'परमेश्वर' है।

किन्तु लोगों को यागादि इष्ट कार्यों में प्रवृत्त कराने के लिए एवं हिंसादि अनिष्ट कार्यों से निवृत्त कराने के लिए ही वेदों के उपदेश हैं। अतः यह मानना होगा कि, वेदों का उपदेश

न, अन्यथैवोपपत्तेः ।

हेत्वभावे फलाभावात्प्रमाणेऽसति न प्रमा ।
तदभावात्प्रवृत्तिर्नो कर्मवादेऽप्ययं विधिः ॥ १८ ॥

करने वाले पुरुष को उपदेश के द्वारा ही पुरुष को इष्ट में प्रवृत्त कराने का एवं अनिष्ट से निवृत्त कराने का ज्ञान है : बिना उपदेश से प्रवृत्त अथवा निवृत्त कराने का ज्ञान उन्हें नहीं है। यदि ऐसी बात न होती तो वेदों के उपदेश का आयास व स्वीकार नहीं करते। तस्मात् वेदोपदेष्टा पुरुष में चूंकि बिना उपदेश के प्रवृत्त अथवा निवृत्त कराने के उपयुक्त ज्ञान नहीं है, अतः वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते, क्योंकि किसी एक विषय को भी न जानने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अतः वेद के कर्त्ता में सर्वज्ञत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। एवं अनन्तज्ञानराशि वेदों के कर्त्ता ही जब सर्वज्ञ नहीं हो सकते, तो फिर दूसरे पुरुष को सर्वज्ञ मानना दुराशा मात्र है। इस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष के निराकरण से जगत के कर्त्ता रूप में परमेश्वर का अनुमान बाधित हो जाता है।

सि० प० न, अन्यथोपपत्तेः ··· ··· ··· ···

उक्त आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि वेद रूप उपदेश की उपपत्ति 'अन्यथा' भी हो सकती है (अर्थात् वेदों के उपदेष्टा पुरुष को सर्वज्ञ मानें अथवा असर्वज्ञ, दोनों ही स्थितियों में वेदोपदेश की उपपत्ति हो सकती है, इसके लिए वेदों के उपदेष्टा को असर्वज्ञ मानना अनिवार्य नहीं है। अतः उक्त अर्थापत्ति प्रमाण ईश्वर सिद्धि का बाधक नहीं हो सकता)।

हेत्वभावे फलाभावात् ··· ··· ···

(यह सभी मानते हैं कि 'हेतु' के न रहने पर (कारण के न रहने पर) 'फल' की अर्थात् 'कार्य' की उत्पत्ति नहीं होती। इसी लिये 'प्रमाण' के न रहने पर 'प्रमा' की उत्पत्ति नहीं होती है। (इस नियम के अनुसार ही उपदेश के बिना हम लोगों की वाजपेयादियागों की) प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती[1]।

---

1. प्रमाज्ञान सफल प्रवृत्ति का कारण है। वेदों में जिन वाजपेयादि यागों के उपदेश किये गये हैं, उनमें प्रवृत्ति के उपयुक्त प्रत्यक्षादि रूप प्रमाज्ञान केवल वेदकर्त्ता पुरुष में ही संभव है। एक पुरुष में रहने वाले ज्ञान के समान दूसरे ज्ञान का पुरुषान्तर में उत्पादन बिना उपदेश के नहीं हो सकता। अतः हम लोगों में वाजपेयादि की प्रवृत्ति के उपयुक्त प्रमाज्ञान का उत्पादन 'उपदेश' के बिना संभव नहीं है। अतः परमेश्वर ने वेदों का उपदेश किया। यदि वे उपदेश नहीं करते तो हम लोगों की वाजपेयादि में प्रवृत्ति अनुपपन्न हो जाती। अतः वेदों के उपदेश से वेदकर्त्ता में असार्वज्ञ्य एवं तन्मूलक जगत्कर्तृत्वभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती।

बुद्धिपूर्वा हि प्रवृत्तिर्न बुद्धिमनुत्पाद्य शक्यसम्पादना। न च प्रकृते बुद्धिरप्युपदेशमन्तरेण शक्यसिद्धिः; तस्यैव तत्कारणत्वात्। भूतावेशन्यायेन प्रवर्त्तयेदिति चेत् ?

यदि ऐसी बात न हो तो इस प्रकार का आक्षेप तो 'कर्मवाद' में अर्थात् मीमांसकों के मत में भी किया जा सकता है। अर्थात् 'अदृष्ट' सभी कार्यों का कारण है, अतः वाजपेयादि याग विषयक प्रवृत्ति रूप कार्य का भी कारण है। ऐसी स्थिति में वेदों का उपदेश व्यर्थ है, क्योंकि वेदों का उपदेश रहने पर भी अदृष्ट के बिना याग की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः उक्त आक्षेप व्यर्थ है)।

सि० प० बुद्धिपूर्वा हि··· ··· ··· ···

बुद्धि से प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। अतः जब तक बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होगी, तब तक प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब तक वाजपेयादि के अनुष्ठाताओं में उनके उपयुक्त ज्ञान न हो— वाजपेयादि योगों की प्रवृत्तियाँ तब तक उत्पन्न नहीं होंगी। इस ज्ञान का संपादन बिना उपदेश के संभव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रवृत्ति के उत्पादन के उपयुक्त ज्ञान का उत्पादन उपदेश से ही संभव है। अर्थात् जिस पुरुष में प्रवृत्ति के उपयुक्त ज्ञान का संपादन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संभव नहीं रहता है, उनको केवल शब्द प्रमाण रूप उपदेश का ही भरोसा है। अस्मदादि में वाजपेयादि यागों की प्रवृत्ति के उपयुक्त प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संभव नहीं है। अतः उपदेश रूप शब्द प्रमाण के बिना हमलोगों की वाजपेयादि यागादि की प्रवृत्तियाँ उपपन्न नहीं हो सकती। अतः सर्वज्ञ होते हुए भी परमेश्वर को उपदेश का आयास स्वीकार करना पड़ा। इसलिये उपदेश की अनुपपत्ति से परमेश्वर में असर्वज्ञत्व की कल्पना अथवा अकर्त्तृत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि प्रवृत्ति की उक्त अनुपपत्ति से उपदेश की उपपत्ति की जा सकती है।

पू० प० भूतावेशन्यायेन··· — — —

उपदेश के बिना भी परमेश्वर लोगों को प्रवृत्त करा सकते हैं। जैसे प्रेत (पिशाच) शरीर में प्रविष्ट होकर ऐसे लोगों से भी सप्तशती पाठादि करा देता है, जिन्हें उस पाठ के उपयुक्त ज्ञान नहीं है। जब नगण्य भूत प्रेतादि में भी इस प्रकार की सामर्थ्य देखी जाती है, तो फिर सर्वशक्तिमान परमेश्वर में ऐसी सामर्थ्य की कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती। अतः उपदेश के बिना प्रवृत्तियाँ अनुपपन्न नहीं हैं। इस लिए प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से उपदेश की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्रवर्तयेदेव, यदि तथा फलसिद्धिः स्यात्। न त्वेवम्। कुत एतदवसितम्? उपदेशान्यथानुपपत्त्यैव। यस्यापि मते अदृष्टवशादेव भूतानां प्रवृत्तिस्तस्याऽपि तुल्यमेतत्। यद्यस्ति प्रवृत्तिनिमित्तमदृष्टम्? किमुपदेशेन? तत एव प्रवृत्तिसिद्धेः। न चेत्; तथापि किमुपदेशेन? तदभावे तस्मिन् सत्यप्यप्रवृत्तेः।

सि० प० प्रवर्त्तयेत्··· ··· ··· ···

यदि उक्त 'भूतावेशन्याय' से उपदेश के बिना ही वाजपेयादि में प्रवृत्ति रूप फल के उत्पादन की संभावना रहती, तो वे अवश्य ही ऐसा करते, उपदेश के आयास को स्वीकार न करते। किन्तु भूतावेशन्याय से भी यह संभव नहीं है कि उनमें बालुका से तैल के उत्पादन की अथवा सुवर्ण से धान्य के उत्पादन की रीतियाँ उन्हें ज्ञात हैं, किन्तु वस्तुस्थिति के अनुसार जिन वस्तुओं में जिन कार्यों के उत्पादन की सामर्थ्य है, उन सभी वस्तुओं से उन सभी कार्यों के उत्पादन की रीति उन्हें ज्ञात है—यही उनकी 'सर्वशक्तिमत्ता' का अर्थ है। इस लिये उपदेश अनुपपन्न नहीं है। भूतों में भी कोई विशेष प्रकार का प्रेत ही अपने आदेश के द्वारा किसी विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का उत्पादन कर सकता है। सभी प्रेत सभी प्रवृत्तियों का उत्पादन नहीं कर सकते। एवं वाजपेयादि के प्रत्येक अनुष्ठाता में प्रवृत्ति के लिए सर्वज्ञ परमेश्वर के 'आवेश' की कल्पना की अपेक्षा इसी में लाघव भी है कि किसी एक ही पुरुष में उन सभी प्रवृत्तियों के अनुकूल उपदेश करने की क्षमता की कल्पना की जाय। जिससे वाजपेयादि के सभी अनुष्ठाताओं को उक्त प्रवृत्तियों के अनुकूल ज्ञान हो सके। अतः उपदेश वृथा नहीं है।

यस्यापि मते ··· ··· ··· ··· (कारिका के चतुर्थ चरण की व्याख्या)

पूर्वपक्षवादी मीमांसक गण भी केवल 'उपदेश' को वाजपेयादि की प्रवृत्ति का कारण नहीं मानते। क्योंकि जितने पुरुषों को वाजपेयादि के अनुष्ठान की रीतियाँ ज्ञात है, वे सभी पुरुष वाजपेयादि के अनुष्ठानों में प्रवृत्त नहीं होते। भले ही उनके और भी सभी कारणों का सम्वलन रहे। इसके लिये उन लोगों को भी 'अदृष्ट' को उक्त प्रवृत्तियों का कारण मानना पड़ता है। किन्तु जिस प्रकार वे 'उपदेश' के द्वारा उपदेष्टा पुरुष की उपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार केवल अदृष्ट को ही प्रवृत्ति का कारण मान लेने से 'उपदेश' में भी प्रवृत्ति की कारणता उपेक्षित हो जायगी।

यद्यस्ति ··· ··· ···

क्योंकि यदि अनुष्ठाता पुरुष में प्रवृत्ति के जनकीभूत अदृष्ट की सत्ता है, तो फिर, वही अदृष्ट प्रवृत्ति के उपयुक्त ज्ञान का भी सम्पादन कर देगा। उसी से प्रवृत्ति की उत्पत्ति हो जायगी। यदि अनुष्ठाता पुरुष में उक्त अदृष्ट नहीं है, तथापि उपदेश व्यर्थ ही होगा, क्योंकि उपदेश के रहते हुए भी अदृष्ट के बिना प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होगी।

नित्यः स्वतन्त्र उपदेशो न पर्यनुयोज्य इति चेत्; यूयं पर्यनुयोज्याः, ये तमवधानतो धारयन्ति विचारयन्ति चेति ॥ १८ ॥

न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसंकीर्णोदाहरणाभावात् । प्रकारान्तराभावाच्च ।

तथा हि—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाऽप्यसौ समः ॥ १९ ॥

पू० प नित्य ··· ··· ···

पुरुषकृत अत एव अनित्य (पुरुष परतन्त्र) जो उपदेश हैं, उनके प्रसङ्ग में यह 'पर्यनुयोग' (प्रत्यभियोग) हो सकता है, किन्तु वेद तो नित्य है, अत एव वे 'स्वतन्त्र' है। अतः उनके प्रसङ्ग में ये अभियोग नहीं चल सकते।

सि० प० यूयम् ··· ··· ···

वेदों के उपर हमलोगों का कोई भी अभियोग नहीं है, आप मीमांसकों के ऊपर हम लोगों का अभियोग है, क्योंकि आपलोग ज्ञान पूर्वक वेदों का अध्ययन एवं विचार करते हैं ॥ १८ ॥

सि० प० न चार्थापत्ति ··· ··· ···

वस्तुतः अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण हो नहीं है, (१) क्योंकि ऐसी कोई विशेष प्रकार की प्रमिति उपलब्ध नहीं है, जिसका सम्पादन अनुमान प्रमाण से न हो सके, एवं उसके लिए 'अर्थापत्ति' नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता हो।

अर्थापत्ति को अनुमान से अभिन्न मानने की दूसरी युक्ति (२) यह है कि जिस रीति से अनुमान प्रमाण के द्वारा प्रमिति की उत्पत्ति होती है, उसी रीति से अर्थापत्ति के द्वारा भी प्रमिति की उत्पत्ति होती है। अर्थापत्ति के द्वारा प्रमिति की उत्पत्ति की कोई दूसरी रीति उपलब्ध नहीं होती है, अतः अर्थापत्ति अनुमान ही है। (सुतराम् अनुमान प्रमाण के द्वारा बाध की संभावना के निराकरण से ही तदभिन्न अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा बाध की संभावना निराकृत हो जाती है)।[1]

तथा हि, अनियम्यस्य ··· ··· ··· ···

(१) 'अनियम्य' की अर्थात् व्याप्ति से रहित की—'अयुक्ति' अर्थात् अनुपपत्ति नहीं होती। (अर्थात् व्यापक के बिना ही व्याप्य की अनुपपत्ति होती है।[1])

---

1. 'नियम' कहते हैं 'व्याप्ति' को। 'नियम' से युक्त ही है 'नियम्य'। फलतः 'नियम्य' शब्द 'व्याप्य' का बोधक है। वह्नि का नियम धूम में है, अतः धूम नियम्य

(व्याप्य) है । इसी लिये वह्नि धूम का नियामक है । वह्नि के बिना धूम नहीं रह सकता ; यही है वह्नि रूप 'नियन्ता' के विना धूम रूप नियम्य की 'अयुक्ति' अर्थात् अनुपपत्ति ।

'जीवंश्चैत्रो गृहे नास्ति' इस वाक्य के अर्थबोध के बाद जो चैत्र के बाहर रहने की कल्पना की जाती है, वही अर्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है । 'प्रत्यक्ष' शब्द के समान ही 'अर्थापत्ति' शब्द भी व्युत्पत्तिभेद से प्रमाण एवं प्रमिति दोनों का ही बोधक है । 'अर्थस्य आपत्तिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अर्थापत्ति' शब्द प्रमिति का बोधक है । एवं 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति के द्वारा वही 'अर्थापत्ति' शब्द प्रमाण का भी बोधक है । प्रकृत में उक्त वाक्यार्थबोध है 'अर्थापत्ति' प्रमाण, एवं इस बोध से अनुपपत्ति के अनुसन्धान के द्वारा उत्पन्न बहिरस्तित्व का ज्ञान है अर्थापत्ति प्रमिति ।

श्लोक के प्रथमचरण के द्वारा आचार्य ने अपना यह आशय व्यक्त किया है कि जिसमें जिस वस्तु की व्याप्ति रहती है, वही व्याप्य पदार्थ उस व्यापक पदार्थ के विना अनुपपन्न होता है । वह्नि के विना धूम ही अनुपपन्न होता है, धूम के विना वह्नि की अनुपपत्ति नहीं होती है । इसी प्रकार गृह में न रहनेवाले एवं जीवन से युक्त चैत्र की व्याप्ति चूँकि जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व में है, इसी लिये जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व के विना जीवित चैत्र का घर में न रहना अनुपपन्न है । यदि घर में न रहनेवाले जीवित चैत्र में जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व की व्याप्ति न रहती, तो उसके विना जीवित चैत्र का घर में न रहना अनुपपन्न नहीं होता । अतः 'अनियम्य' की अर्थात् व्याप्ति से रहित की 'अयुक्ति' अर्थात् अनुपपत्ति नहीं होती ।

अतः उपपाद्य में उपपादक की व्यतिरेक व्याप्ति का रहना अर्थापत्ति के लिये आवश्यक है । जिसकी व्याप्ति जिस वस्तु में रहेगी, वह उसका व्यापक अवश्य होगा । इस प्रकार जीवित चैत्र का बहिरस्तित्व गृह में न रहनेवाले चैत्र का अवश्य ही व्यापक है । अतः व्याप्य है 'नियम्य' एवं व्यापक है 'नियन्ता' । जो जिसका व्यापक नहीं है, वह उसका 'उपपादक' नहीं हो सकता । वह्नि चूँकि धूम का व्यापक है, इसी लिये यह कहना सम्भव होता है कि पर्वत में चूँकि धूम को देखते हैं, अतः उसमें वह्नि भी अवश्य ही होगा। क्योंकि धूम वह्नि के विना नहीं रह सकता ।

इसी प्रकार गृह में न रहनेवाले जीवित चैत्र की व्यापकता जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व में है, इसी लिये यह कहना सम्भव होता है कि 'चैत्र जीवित है, क्योंकि घर में नहीं दीखते हैं, तो फिर वे घर से बाहर कहीं अवश्य होंगे । यदि जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व में गृह में न रहनेवाले जीवित चैत्र की व्यापकता न रहती अर्थात् जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व के विना भी जीवित चैत्र का घर में न रहना 'उपपन्न'

'जीवंश्चैत्रो गृहे नास्ती' त्यनुपपद्यमानमसति बहिःसद्भावे तमापादयतीत्युदाहरन्ति। तत्र चिन्त्यते किमनुपपन्नं जीवतो गृहाभावस्येति। न ह्यनियम्यस्यानियामकं विना किञ्चदनुपपन्नम्, अतिप्रसङ्गात्।

न मानयोः ··· ··· ···

(३) (चूँकि दो विरोधी ज्ञान प्रमा नहीं हो सकते। किसी भी वस्तु में रज्जु एवं सर्प दोनों का ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता। दोनों ज्ञानों में से एक मिथ्या अवश्य होगा। अतः उनमें से किसी एक ही ज्ञान का करण प्रमाण होगा। अतः) दो प्रमाणों में कोई विरोध नहीं है।

(४) प्रसिद्धे वाप्यसौ ··· ··· ···

अगर ऐसी बात हो (अर्थात् जीवित देवदत्त के घर में न रहने से जीवित देवदत्त के बहिरस्तित्व की कल्पना को व्याप्ति मूलक होने पर भी अनुमान न मानें तो फिर) 'प्रसिद्ध' अर्थात् सर्वसिद्ध अनुमान के प्रसङ्ग में भी यह बात समान रूप से लागू होगी। (क्योंकि धूम से होने वाले वह्नि के ज्ञान को भी अर्थापत्ति कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी अर्थापत्ति की अनुपपत्ति एवं दो प्रमाणों का विरोध, ये दोनों ही प्रयोजक विद्यमान हैं। क्योंकि यह कहा जा सकता है कि पर्वत में जिस धूम को देखते हैं, वह वह्नि के विना अनुपपन्न है, अतः पर्वत में वह्नि की कल्पना करते हैं। अतः अर्थापत्ति भी अनुमान ही है।'

सि० प० जीवश्चैत्रः ··· ··· ··· (प्रथम चरण की व्याख्या)

जीवित चैत्र के बहिःसत्त्व के विना जीवित चैत्र का घर में न रहना अनुपपन्न है। इसी अनुपपन्नता से जीवित चैत्र के बहिसत्त्व की कल्पना (आपादन) की जाती है। अर्थापत्ति को अतिरिक्त प्रमाण मानने वाले इसी को अर्थापत्ति को उदाहरण मानते हैं।

हो सकता तो जीवित चैत्र का बहिरस्तित्व गृह में न रहनेवाले चैत्र का अथवा चैत्र में रहनेवाले गृहवृत्तित्व के अभाव का उपपादक नहीं हो सकता। अर्थात् अनुमान के समान ही अर्थापत्ति के भी व्याप्यव्यापकभाव के द्वारा विषय का प्रमापक है, अतः अर्थापत्ति भी अनुमान ही है, उससे अतिरिक्त प्रमाण नहीं।

१. कहने का तात्पर्य है कि वेदों के रचयिता में उपदेश कर्तृत्व मूलक असर्वज्ञत्व की कल्पना से जो ईश्वर का खण्डन करना चाहते हैं, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान ही है। अतः अर्थापत्ति से भी प्रकृत में यह अनुमान ही करना होगा कि 'ईश्वरः असर्वज्ञः तद्विना उपदेशकर्तृत्वस्य अनुपपद्यमानत्वात्'। किन्तु इस प्रकार के अनुमानों का निराकरण 'कानुमानमनाश्रयम्' इत्यादि से आश्रयासिद्ध्यादि दोषों का उद्भावन के द्वारा कर चुके हैं। उन्हीं दोषों से अर्थापत्ति के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि में होने वाली बाधाओं का निराकरण हो जाता है।

ननु स्वरूपमेव तत्, न तावद्बहिःसत्त्वेन कर्तव्यम्, तदकार्यत्वात्तस्य। स्थितिरेवास्य तेन विना न स्यादित्यस्य स्वभाव इति चेत्; एवं तर्हि तन्नियतस्वभाव एवासौ, व्याप्तेरेव व्यतिरेकमुखनिरूप्यायास्तथा व्यपदेशात् ।

इस प्रसङ्ग में यह विचार करना चाहिए कि जीवित चैत्र के बहिःसत्त्व के विना गृह में न रहने वाले जीवित चैत्र में कौन सी 'अनुपपत्ति' है। 'अनियामक' के विना 'अनियम्य' में कोई भी अनुपपत्ति नहीं होती है। अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु की व्याप्ति है, वही व्यापकीभूत वस्तु के विना अनुपपन्न होता है। जिस वस्तु में जिस वस्तु की व्याप्ति नहीं है, वह 'अव्याप्य' वस्तु भी यदि उक्त अव्यापकीभूत वस्तु से अनुपपन्न हो तो 'अतिप्रसङ्ग' होगा। अर्थात् यह कहना भी सङ्गत होगा कि घट के विना पट अनुपपन्न है' इसलिये चूंकि घट है, अतः पट भी अवश्य ही होगा। किन्तु इस स्थिति को कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता। तस्मात् ' नियन्ता' (व्यापक) के विना 'नियम्य, अर्थात् व्याप्य की ही अनुपपत्ति होती है।

ननु स्वरूपमेव ··· ··· ···

यह भी मानना संभव नहीं है कि 'स्वरूप' का अर्थात् गृह में न रहने वाले जीवित चैत्र का उत्पादन ही जीवित चैत्र के बहिरस्तित्व से होता है, क्योंकि उक्त बहिरस्तित्व चैत्र रूप द्रव्य का उत्पादक कारण नहीं है।

पू० प० स्थितिरेव ··· ··· ···

गृह में न रहने वाले जीवित चैत्र का यह स्वभाव ही है कि उसकी सत्ता उक्त बहिरस्तित्व के विना न हो। इस स्वभाव का संपादन ही उक्त बहिरस्तित्व से होता है।

सि० प० एवं तर्हि ··· ··· ···

तो फिर यही कहिये कि वह 'स्वभाव' गृह में न रहने वाले जीवित चैत्र में उक्त बहिरस्तित्व के 'नियम' स्वरूप ही है। अगर ऐसी बात है तो फिर गृहावृत्ति जीवित चैत्र में उक्त बहिरस्तित्व की व्याप्ति ही कथित हो जाती है। क्योंकि व्यतिरेकमुखी व्याप्ति ही 'स्वभाव' शब्द से प्रसिद्ध है। जिसके विना जो न रहे उसी में उसकी व्यतिरेकव्याप्ति रहती है। धूम वह्नि के विना नहीं रहता, अतः धूम में वह्नि की व्यतिरेकव्याप्ति है। इसी लिये धूम 'वह्निनियतस्वभाव' का कहलाता है। अतः गृह में जीवित चैत्र के न देखने से जो चैत्र के बहिरस्तित्व का बोध होता है, वह उक्त व्यतिरेकव्याप्ति से ही होता है। इसलिये उक्त बोध अनुमिति रूप ही है, एवं उसका करण भी अनुमान प्रमाण ही है, अर्थापत्ति रूप स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

कथं वा बहिः सत्त्वमस्योपपादकम् ?।

न हि अनियामको भवन्नप्यनियम्यमुपपादयति, अतिप्रसङ्गादेव। स्वभावोऽस्य यदनेन बहिःसत्त्वेन गेहासत्त्वं क्रोडीकृत्य स्थातव्यमिति चेत्; सेयं व्याप्तिरेवान्वय-मुखनिरूप्या तथा व्यपदिश्यत इति।

न वयमविनाभावमर्थापत्तावपजानीमहे, किन्तु तज्ज्ञानम्।

सि॰ प॰ कथम्बा ··· ··· ··· ···

(कारिका के द्वितीय चरण की व्याख्या) यदि बहिःसत्त्व में चैत्र में रहनेवाले गृहावृत्तित्व की व्यापकता न रहे, तो फिर बहिःसत्त्व से गृहावृत्तित्व उपपन्न ही कैसे होगा ? जो जिसका व्यापक नहीं होता, वह उसका उपपादक नहीं हो सकता। वह्नि धूम का व्यापक है, इसी लिये वह्नि धूम का उपपादक है। अगर यह स्वीकार न करेंगे तो यहाँ भी 'अतिप्रसङ्ग' होगा। अर्थात् यह मानना भी अयुक्त नहीं होगा कि अयोगोलक में चूँकि वह्नि है, अतः उसमें धूम भी अवश्य रहेगा। किन्तु ऐसा कोई भी नहीं मानता। अतः यही सत्य है कि 'अनियन्ता' अर्थात् अव्यापक कभी 'उपपादक' नहीं होता।

पू॰ प॰ स्वभावोऽस्य ··· ··· ··· ···

कथित बहिःसत्त्व उक्त गृहासत्त्व का व्यापक है, इस लिये उसका उपपादक नहीं है, किन्तु जीवित चैत्र का यह 'स्वभाव' ही है कि स्वगत बहिःसत्त्व के साथ वह नियमपूर्वक बहिःसत्त्व को भी अपने साथ अवश्य रखे। अतः 'नानियन्तोपपादकः' यह वाक्य ठीक नहीं है।

सि॰ प॰ सेयम् ··· ··· ··· ···

उक्त 'स्वभाव' अन्वयमुखी व्याप्ति को छोड़कर और कुछ भी नहीं है। एवं जो जिसके साथ नियमतः रहता है, उसमें उसकी अन्वयव्याप्ति भी अवश्य रहती है। धूम वह्नि के साथ नियमपूर्वक रहता है, अतः वह्नि की अन्वयव्याप्ति धूम में रहती है।

इसलिये बाहर रहनेवाले जीवित चैत्र के साथ यदि चैत्र में गृहावृत्तित्व अवश्य रहता है, तो फिर यह मानना ही होगा कि उक्त बहिरस्तित्व में उक्त गृहावृत्तित्व की अन्वयव्याप्ति अवश्य है। सुतराम् इस (अन्वयव्याप्ति प्रदर्शन की) रीति से भी अर्थापत्ति अनुमान से अभिन्न ही निष्पन्न होता है।

पू॰ प॰ न वयम् ··· ··· ··· ···

हम (मीमांसकगण) यह नहीं कहते कि अर्थापत्ति प्रमाण से प्रमिति के उत्पादन में व्याप्ति का कोई उपयोग ही नहीं है, हम लोगों का तो इतना ही कहना है कि अनुमान में व्याप्ति का उपयोग ज्ञात होकर होता है। अर्थात् अनुमिति में व्याप्ति का ज्ञान कारण है, व्याप्ति स्वरूपतः कारण नहीं है, किन्तु अर्थापत्ति में व्याप्ति का स्वतः उपयोग होता है,

न चाऽसौ सत्तामात्रेण तदनुमानत्वमापादयतीति चेन्न।

अनुपपत्तिप्रतिसन्धानस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। अन्यथा त्वतिप्रसङ्गात्। अर्थापत्त्याभासाऽनवकाशाच्च।

यदा ह्यन्यथैवोपपन्नमन्यथाऽनुपपन्नमिति मन्यते तदाऽस्य विपर्ययः, न त्वन्यथेति।

अर्थात् अर्थापत्ति में व्याप्ति ही कारण है, उसके ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार अनुमान एवं अर्थापत्ति में भेद स्पष्ट है, अतः अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण ही है, अनुमान नहीं है।

सि० प० न, अनुपपत्तिप्रतिसन्धानस्य ··· ··· ··· ···

अर्थापत्ति में भी व्याप्ति का ज्ञान ही कारण है, व्याप्ति स्वरूपतः कारण नहीं है। क्योंकि जबतक उपपादक (व्यापक) के अभाव से उपपाद्य (व्याप्य) की अनुपपत्ति का प्रतिसन्धान नहीं होता, तबतक अर्थापत्ति नहीं होती। (पहिले कह आये हैं कि अनुपपत्ति व्याप्ति ही है)। यदि अनुपपत्ति (व्याप्ति) के बिना प्रतिसन्धान के ही अनुपपत्ति रूप व्याप्ति की सत्ता मात्र से अर्थापत्ति माने तो यहाँ भी 'अतिप्रसङ्ग' दोष ही होगा। अर्थात् जीवित चैत्र में जो गृहवृत्तित्व का अभाव देखा जाता है, वह उनके बहिरस्तित्व के बिना अनुपपन्न है" इस आकार का ज्ञान जिस पुरुष को नहीं भी है, उस पुरुष में भी जीवित चैत्र के बाहिरस्तित्व का बोध मानना होगा। किन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है।

अर्थापत्त्याभास ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में दूसरा दोष यह है कि) यदि उक्त अनुपपत्ति रूप व्याप्ति का स्वरूपतः उपयोग अर्थापत्ति में माने तो 'अर्थापत्त्याभास' की बात ही छोड़ देनी होगी। जो वस्तुतः अर्थापत्ति न हो, किन्तु अर्थापत्ति के समान प्रतिभात होता हो, उसको ही 'अर्थापत्त्याभास' कहना होगा। जैसे कि घट पट के बिना अनुपपन्न नहीं है, किन्तु यदि कोई यह समझ ले कि घट पट के बिना अनुपपन्न हो तो फिर उस व्यक्ति को अवश्य ही घट के ज्ञान से पट का ज्ञान होगा। किन्तु यहाँ अर्थापत्ति मानना किसी को भी अभीष्ट नहीं है। किन्तु इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः अर्थापत्ति को प्रमाण माननेवालों को उक्त स्थिति को अर्थापत्त्याभास का उदाहरण मानना ही होगा।

यदा हि ··· ··· ··· ··· ···

फलतः जो "अन्यथैव" उपपन्न है, अर्थात् घट बिना पट के भी उपपन्न है उसमें जो 'अन्यथानुपपन्नत्व की भ्रान्ति अर्थात् 'पट के बिना घट उपपन्न नहीं हो सकता' इस प्रकार की जो भ्रान्ति है, उसी से उक्त 'विपर्यय' अर्थात् घटज्ञान विषयक ज्ञान के बाद उक्त अनुपपत्ति के प्रतिसन्धान से पट का भ्रमात्मक निश्चय रूप 'विपर्यय' उत्पन्न होता है। एवं इस भ्रमात्मक निश्चय रूप 'विपर्यय' की जनिका जो 'अनुपपत्ति' वह 'अर्थापत्त्याभास' कहलाती है।

तथापि कथमत्र व्याप्तिर्गृह्यते इति चेत्; यदाऽहमिह तदा नान्यत्र, यदाऽन्यत्र तदा नेहेति सर्वप्रत्यक्षसिद्धमेतत्। का तत्रापि कथन्ता ?।

सर्वदेशाप्रत्यक्षत्वे तत्राभावो दुरवधारण इत्यपि नास्ति, तेषामेव संसर्गस्याऽऽत्मनि प्रतिषेधात्।

यदि अर्थापत्ति में उक्त अनुपपत्ति रूप व्याप्ति को स्वरूपतः कारण माने, उसके लिये व्याप्ति के ज्ञान की अपेक्षा न माने तो उक्त 'अर्थापत्त्याभास' की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि अर्थापत्त्याभास स्थल में व्याप्ति की स्वरूपतः सत्ता नहीं रहती। अगर वहाँ भी व्याप्ति की स्वरूपतः सत्ता रहे, तो वह अर्थापत्त्याभास न हो कर अर्थापत्ति ही हो। यदि अर्थापत्ति में व्याप्ति को स्वरूपतः कारण न मान कर उसके ज्ञान को ही कारण मानते हैं, तो फिर अर्थापत्ति एवं अर्थापत्त्याभास इन दोनों की व्यवस्था हो जाती है। जहाँ व्याप्ति नहीं रहेगी, वहाँ भी व्याप्ति का ज्ञान (भ्रमात्मक ही सही) रह सकता है। अतः तथा कथित अर्थापत्ति में भी व्याप्ति का ज्ञान ही कारण है, स्वरूपतः व्याप्ति कारण नहीं है।

पू० प० तथापि ··· ··· ··· ···

अर्थापत्ति के कथित प्रसिद्ध उदाहरण में व्याप्ति गृहीत कैसे होगी ?

सि० प० यदाहम् ··· ··· ··· ···

सभी को स्वयं अपने में ही प्रत्यक्ष के द्वारा यह सिद्ध है कि जिस समय मैं घर रहता हूँ, उस समय बाहर नहीं रहता। एवं जिस समय बाहर रहता हूँ, उस समय घर में नहीं रहता। अतः जीवित चैत्र जिस समय घर में नहीं हैं, उस समय अवश्य ही बाहर कहीं हैं। इस प्रकार व्याप्ति का ग्रहण प्रकृत में सुलभ है। अतः इस प्रसङ्ग में 'कथन्ता' का अर्थात् संशय का कोई प्रसङ्ग नहीं है।

पू० प० सर्वदेशाप्रत्यक्षत्वे ··· ··· ··· ···

नैयायिक गण अभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण के प्रत्यक्ष को कारण मानते हैं। अतः घर में स्वयं रहने पर जो 'मैं घर से 'अन्यत्र' नहीं हूँ, इस प्रकार का प्रत्यक्ष होगा, उसमें गृह से 'अन्यत्र' अर्थात् भिन्न सभी देशों के प्रत्यक्ष की अपेक्षा होगी। किन्तु घर से भिन्न सभी देशों के अन्तर्गत व्यवहित, विप्रकृष्ट एवं अतीन्द्रिय वे सभी देश भी हैं, जिनका प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है। अतः 'अन्यत्र' स्वकीय अभाव का प्रत्यक्ष असम्भव है। इस लिये तन्मूलक उस व्याप्ति ज्ञान भी असम्भव है।

सि० प० तेषामेव ··· ··· ··· ···

सम्बन्ध द्विनिष्ठ है, अतः वह प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में ही रहता है। इसलिये जिस देश का सम्बन्ध 'अहम्' पद के अर्थ में है, उस देश में भी 'अहम्' पदार्थ का

अयोग्यानां प्रतिषेधे का वार्तेति चेत्; तदवयवानां तत्संसर्गप्रतिषेधादेवानुमानात्, अन्येषां न काचित्।

न ह्यकारणीभूतेन परमाणुना नेदं संसृष्टमिति निश्चेतुं शक्यमिति।

सम्बन्ध अवश्य है। तदनुसार 'यदाहमिह' इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'जिस समय मैं इस देश के सम्बन्ध से युक्त रहता हूँ, (यदाऽहम् एतद्देशसम्बन्धवान्)। एवं 'तदा नान्यत्र' इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'उस समय मैं अवश्य ही तद्देश से भिन्न सभी देशों के सम्बन्ध के अभाव से युक्त भी रहता हूँ' (तदाऽहम् तद्देशभिन्नयावद्देश-सम्बन्धाभाववान्) तदनुसार 'यदाहम्' इत्यादि व्याप्ति के बोधक वाक्य के द्वारा तद्देश से भिन्न यावद्देश के सम्बन्ध का अभाव ही 'अहम्' पदार्थ में अभिप्रेत है। अतः कोई दोष नहीं है।[1] क्योंकि उक्त एतद्देशभिन्न सभी देशों के सम्बन्ध के अभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरणीभूत केवल अस्मत् पदार्थ का ही प्रत्यक्ष आवश्यक है, सो यहाँ सुलभ है। प्रकृत में 'तदा अन्यत्र' इस वाक्य के द्वारा जिन देशों के प्रत्यक्ष हो सकते हैं उन्हीं देशों के सम्बन्ध के अभाव का बोध अभिप्रेत है। (तदनुसार प्रकृत सन्दर्भ के 'तेषामेव' का अर्थ है 'एतद्देशभिन्नसर्वदेशानाम्')।

पू० प० अयोग्यानाम् ··· ··· ···

(उक्त रीति से यद्यपि प्रत्यक्ष से ज्ञात होने वाले जितने देश हैं, उनके सम्बन्ध के अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है। क्योंकि प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेदक का किसी भी प्रकार का ज्ञान ही अभाव प्रत्यक्ष के लिये पर्याप्त है, तथापि) प्रकृत 'अन्यत्र' शब्द से अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति भी तो लिये जा सकते हैं, उनके सम्बन्धों के निषेध का बोध किस प्रकार होगा ? अतः एतन्मूलक व्याप्ति की दुर्लभता ज्यों की त्यों है।

सि० प० तदवयवानाम् ··· ··· ···

ऐसी कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार के परमाणु प्रभृति अतीन्द्रिय देश दो प्रकार के हैं (१) इन्द्रिय गोचर देशों के अवयभूत परमाण्वादि एवं (२) प्रत्यक्ष सिद्ध अवयवियों के अनवयवभूत स्वतन्त्र परमाण्वादि। इन में प्रथम प्रकार के जो परमाण्वादि हैं, उनका ज्ञान अनुमान से संभव है। यह अनुमान हो सकता है कि जिस अवयवी का सम्बन्ध जहाँ नहीं है, उनके अवयवों का सम्बन्ध भी उसमें नहीं है। यह नहीं हो सकता कि भूतल में घट का सम्बन्ध न रहे, किन्तु घट के अवयव कपालों का सम्बन्ध रहे। अतः प्रत्यक्ष सिद्ध जिन अवयवियों के सम्बन्ध का निषेध किया गया है, उनके अवयवीभूत अतीन्द्रिय देशों के सम्बन्ध

---

१. व्याप्तिज्ञान की उक्त अनुपपत्ति उक्त दोनों वाक्यों का क्रमशः यह अर्थ मान कर दी गयी है। (१) यदा अस्मत् सम्बन्धवानेतद्देशः (२) तदा एतद्देशभिन्नाः सर्वे देशाः अस्मत्सम्बन्धाभाववन्तः।

न चाऽविनाभावनिश्चयेनापि गमयन्नपक्षधर्मोऽर्थापत्तिरिति युक्तम्; पक्षधर्मताया अनिमित्तत्वप्रसङ्गात्, अविशेषात्। व्यधिकरणेनाविनाभावनिश्चयायोगाच्च। यत् यत्र यदेति प्रकारानुपपत्तेः।

का निषेध अनुमान प्रमाण से ज्ञात होगा। 'अन्येषाम्' अर्थात् उक्त अतीन्द्रियों भिन्न स्वतन्त्र परमाणु प्रभृत जो अतान्द्रिय देश हैं, उनके सम्बन्धों का निषेध संभव ही नहीं है। कदाचित् संभव होने पर भी उसका कोई उपयोग नहीं है। (कहने का तात्पर्य है कि जिन देशों में सम्बन्ध के रहने पर व्याप्ति भङ्ग की आशङ्का है, उन्हीं देशों के सम्बन्ध के निषेध का ज्ञान प्रकृतोपयोगी है। चैत्र में जिन देशों के सम्बन्ध की संभावना ही नहीं है, उनके निषेध का भी प्रयोजन नहीं है। अतः प्रकृत में व्याप्ति दुर्लभ नहीं है)।

पू० प० न चाविनाभाव ··· ··· ···

किसी प्रमिति को अनुमिति होने के लिए इतना ही आवश्यक है कि नहीं है कि वह व्याप्तिज्ञानजन्य हो, किन्तु उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह पक्षधर्मताज्ञान जन्य भी हो। अर्थापत्ति में व्याप्तिजन्यत्व या व्याप्तिज्ञानजन्यत्व के रहने पर भी पक्षधर्मताज्ञानजन्यत्व नहीं है, क्योंकि पक्ष है चैत्र, हेतु है गृहवृत्ति अभाव, यह अभाव गृह में ही रहेगा, चैत्र रूप पक्ष में नहीं। अतः 'गृहवृत्ति अभाव' रूप हेतु बहिःसत्त्व रूप साध्य का व्याप्य होने पर भी 'पक्षधर्म' नहीं है। सुतराम् अर्थापत्ति में पक्षधर्मताज्ञानजन्यत्व नहीं है। अतः अर्थापत्ति और अनुमान एक नहीं है।

सि० प० पक्षधर्मतायाः ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं है कि जिसको आप अर्थापत्ति कहते हैं, उसमें पक्षधर्मता का कोई उपयोग ही नहीं। यदि प्रकृत में 'चैत्रः बहिरस्ति गृहवृत्तिचैत्राभावात्' अनुमान का यह आकार हो, तो पक्षधर्मता की उक्त अनुपपत्ति अवश्य होगी। किन्तु प्रकृत में ऐसा अनुमान इष्ट ही नहीं है, किन्तु "चैत्रः बहिरस्ति गृहवृत्त्यभावप्रतियोगित्वात्' इस प्रकार का अनुमान प्रकृत में अभिप्रेत है, उक्त 'प्रतियोगित्व' रूप हेतु चैत्र रूप पक्ष में है अतः इस हेतु को 'पक्षधर्म' होने में कोई बाधा नहीं है।

यदि अर्थापत्ति स्थल में हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक नहीं मानेंगे (अर्थात् पक्षधर्मता की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करेंगे) तो जिस व्याप्ति की आवश्यकता अर्थापत्ति में स्वीकार कर चुके हैं, उसकी भी उपपत्ति नहीं होगी। क्योंकि व्याप्ति है हेतु और साध्य का समानाधिकरण्य रूप। प्रकृत में यदि चैत्र में रहनेवाले बहिरस्तित्व साध्य है, एवं गृह मे रहने वाला चैत्राभाव हेतु है, तो फिर दोनों का समानाधिकरण्य संभव ही नहीं है, अतः यहाँ समानाधिकरण्य मूलक व्याप्ति की भी संभावना नहीं है। सुतराम् दो विभिन्न अधिकरणों में रहने वाले

प्रमाणयोर्विरोधे अर्थापत्तिरविरोधोपपादिका, न त्वेवमनुमानमित्यपि नास्ति। विरोधे हि रज्जुसर्पादिवदेकस्य बाध एव स्यान्नतूभयोः प्रामाण्यम्। प्रामाण्ये वा न विरोधः।

(व्यधिकरण) उक्त दोनों में व्याप्य व्यापक भाव ही नहीं हो सकता। अगर व्यधिकरण धर्मों में भी परस्पर व्याप्य व्यापकभाव स्वीकार करें तो यत् (हेतुः) यत्र (देशे) यदा यस्मिन्काले अस्ति, तत्र तदा वा साध्यम्' इस आकार के शब्दों से जो व्याप्ति का प्रदर्शन किया जाता है—वह अनुपपन्न हो जायगा। इसी प्रकार के कालिक वा दैशिक सामानाधिकरण्य के द्वारा तो व्याप्ति गृहीत होती है। यदि व्याप्ति में हेतु एवं साध्य के समानाधिकरण्य (दोनों का एक अधिकरण में रहने) की अपेक्षा ही न तो फिर व्याप्ति प्रदर्शन के लिये उक्त प्रकार के शब्दों के प्रयोगों का वैयर्थ्य अनिवार्य है। अतः अर्थापत्ति में भी पक्षधर्मता का उपभोग अवश्य होता है।

पू० प० प्रमाणयोर्विरोधे ··· ··· ··· कारिका के तृतीयचरण की व्याख्या ··· ···

'जीवी चैत्रः क्वचिदस्ति' इस वाक्य में जो 'क्वचित्' पद है, उसका अर्थ 'गृह' भी है। अतः उक्त वाक्य से गृह में भी चैत्र के अस्तित्व का बोध होता है। इसके बाद 'जीवी चैत्रः गृहे नास्ति' इस वाक्य से गृह में चैत्र के अभाव का बोध होता है। फलतः उक्त अस्तित्व एवं नास्तित्व का विरोध प्रकृत में उसी प्रकार उपस्थित होता है, जैसे कि 'चैत्रः गृहे अस्ति' एवं 'चैत्रः गृहे नास्ति' इन दोनों वाक्यों के अर्थों में होता है। यह 'विरोधज्ञान' ही अर्थापत्ति प्रमिति का करण रूप 'अर्थापत्ति प्रमाण' है। इस 'विरोधज्ञान' के बाद प्रथम वाक्य के 'क्वचित्' पद का 'गृह रूप देश से भिन्न देश' रूप अर्थ की 'कल्पना' की जाती है। इस कल्पना के द्वारा उक्त विरोध मिट जाता है। अविरोध की यह कल्पना ही 'अर्थापत्ति' प्रमिति है। यह कार्य अनुमान प्रमाण से संभव नहीं है। अतः अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता।

सि० प० विरोधे हि ··· ··· ···

परस्पर विरोधि दो ज्ञानों में से कोई एक ही ज्ञान प्रमा होगा। अतः विरोधी दो ज्ञानों में से किसी एक ही ज्ञान का 'करण' प्रमाण होगा। दूसरे ज्ञान का करण प्रमाणाभास ही होगा। पुरोवर्ति इदंकारास्पद किसी सर्पाकार के वस्तु में किसी को 'रज्जुरियम्' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। एवं किसी को उसी वस्तु में 'सर्पोऽयम्' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। किसी एक विशेष्यक रज्जुत्व प्रकारक एवं सर्पत्व प्रकार का दोनों ज्ञान प्रमा नहीं हो सकते। अतः उक्त दोनों ज्ञानों के करणों में से कोई एक ही प्रमाण होगा, एवं दूसरा प्रमाणाभास होगा।

स्थूलमिदमेकमितिवत् सहसंभवात् । चैत्रोऽयमयं तु मैत्र इतिवद्वा विषयभेदात् । प्रकृते काप्यतीति सामान्यतो गेहस्यापि प्रवेशादेकविषयताऽप्यस्तीति चेत् ? यद्येवं क्वचिदस्ति क्वचिन्नास्तीतिवन्न विरोधः ।

अत्रापि विरोध एवेति चेत्; एकं तर्हि भज्येत ।

एतदनुसार प्रकृत में चूँकि 'चैत्रः क्वचिदस्ति' एवं 'चैत्रो गृहे नास्ति' इन दोनों वाक्यों से उत्पन्न दोनों ही बोध यथार्थ (प्रमा) हैं, अतः उनके उत्पादक उक्त दोनों वाक्य प्रमाण ही हैं, उनमें से कोई भी वाक्य 'प्रमाणाभास' अथवा 'अप्रमाण' नहीं है। इस लिये प्रकृत में कोई विरोध ही नहीं हैं। तस्मात् जिस प्रकार किसी एक ही विशेष्य में 'इदमेकम्' एवं 'इदं स्थूलम्; इत्यादि अविरुद्ध अनेक विशेषणों (प्रकारों) का ज्ञान हो सकता है। अथवा विभिन्न विशेष्यक विभिन्न प्रकारक 'अयं चैत्रः, अयन्तु मैत्रः' इत्यादि आकारों के ज्ञान हो सकते हैं। उसी प्रकार चैत्र में क्वचिदस्तित्व प्रकारक ज्ञान एवं चैत्र में ही गृहवृत्तित्वाभाव प्रकारक ज्ञान—ये दोनों ही हो सकते हैं। अतः प्रकृत में प्रमाणविरोध की कोई बात ही नहीं है।

पू० प० प्रकृते ··· ··· ··· ···

ज्योतिः शास्त्र के द्वारा चैत्र का जीवित रहना सिद्ध है। एतन्मूलक अनुमान के द्वारा यह भी सिद्ध है कि 'चैत्र कहीं किसी देश में अवश्य हैं। उस देश का विशेष रूप से निर्धारण भले ही न हो। इस प्रकार चैत्र के अस्तित्व की जो सिद्धि देश सामान्य में होती है, उस सामान्य के अन्तर्गत चैत्र का गृहसत्त्व भी है। अतः उक्त सामान्यसिद्धि से चैत्र का गृहसत्त्व भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है। एवं अनुपलब्धि रूप प्रमाण के द्वारा चैत्र का गृह में न रहना (गृहासत्त्व) भी सिद्ध होता है। ज्योतिःशास्त्रमूलक इस अनुमान से चैत्र में गृहसत्त्व की एवं अनुपलब्धि प्रमाण से चैत्र में ही गृहासत्त्व की सिद्धि प्राप्त होती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त दोनों प्रमाणों में कोई विरोध ही नहीं है।

सि० प० यद्येवम् ··· ··· ··· ···

यदि ऊपर कही हुई बात मान ली जाय तो उक्त दोनों बातों को प्रामाणिक ही मानना होगा। अतः उन दोनों में कोई विरोध ही नहीं है। (कहने का तात्पर्य है कि समान्य रूप से क्वचिदस्तित्व का ज्ञान रहने पर भी 'क्वचिन्नास्ति' यह ज्ञान हो सकता है। अतः 'क्वचिदस्तित्व' बुद्धि का 'क्वचिन्नास्तित्व' बुद्धि विरोधिनी नहीं है। अतः वे दोनों ही बुद्धियाँ एक ही समय रह सकतीं हैं। 'क्वचिदस्तित्व' की विरोधिनी है 'सर्वनास्तित्व' बुद्धि। इसके रहने पर ही 'क्वचिदस्तित्व' बुद्धि प्रतिरुद्ध हो सकती है। इस प्रकार यदि चैत्र में 'क्वचिस्तित्व' की बुद्धि रहेगी, तथापि गृह में न रहने की बुद्धि हो सकती है। तस्मात् 'क्वचिदस्ति' एवं 'क्वचिन्नास्ति' इन दोनों बुद्धियों की ही तरह 'क्वचिदस्ति' एवं 'गृहे नास्ति' इन दोनों बुद्धियों में भी कोई विरोध नहीं है)। यदि इन दोनों में भी विरोध माने तो इनमें से एक का भङ्ग हो जायगा। अर्थात् उनमें से एक वाक्यजनित बोध में प्रमात्व का विघटन हो जायगा।

न भज्येत, अर्थापत्त्या उभयोरप्युपपादनादिति चेत्; किमनुपपद्यमानम् ? विरोध एवान्यथानुपपद्यमानो विभिन्नविषयतया व्यवस्थापयतीति चेत्; अथाऽभिन्नविषयतयैव किं न व्यवस्थापयेत् ?

पू० प० न भज्येत ··· ··· ··· ···

यदि दोनों में विरोध निर्णीत रहता तो विरोधिप्रमाणजन्यत्व हेतु से दोनों में से एक ज्ञान में अप्रमात्व का साधन हो सकता था, किन्तु अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जब दोनों ज्ञानों में अविरोध निष्पन्न हो गया है, अर्थात् विरोध पराहत हो गया है, तो फिर विरोध के द्वारा जो दोनों में से एक में अप्रमात्व के साधन की आशा थी, उसे छोड़ ही देनी होगी।

सि० प० किम् ··· ··· — —

प्रकृत में अनुपन्न ही कौन सी वस्तु है ? जो अनुपन्न होकर प्रमाणों के अविरोध का सम्पादन करेगा ।

पू० प० विरोध एव ··· ··· ···

यदि 'क्वचिदस्ति' इस वाक्य से गृह में भी चैत्र के अस्तित्व का बोध न माना जाय तो फिर 'चैत्रो गृहे नास्ति' इस वाक्य के साथ उसका विरोध ही नहीं रह सकेगा। यह विरोध ही अनुपपन्न होकर इस कल्पना को उत्पन्न करता है कि "चैत्रः क्वचिदस्ति' यह वाक्य गृह से अतिरिक्त देशों में चैत्र के अस्तित्व का बोधक है। एवं 'चैत्रो गृहे नास्ति' यह वाक्य गृह में चैत्र के नास्तित्व का बोधक है"। इन दोनों में से पहिले वाक्य को यदि आदि में हीं गृह से अतिरिक्त देशों में चैत्र के अस्तित्व का बोधक मान लें, तो दोनों वाक्यों में विरोध ही अनुपपन्न होकर इस निश्चय को उत्पन्न करता कि उक्त दोनों वाक्य दो विभिन्न विषयों के बोधक हैं। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि विरोध समान विषय के दो विभिन्न प्रमाणों में ही होता है। किन्तु 'चैत्रः क्वचिदस्ति' यह वाक्य चैत्र में गृह से अतिरिक्त देशों में अस्तित्व का बोधक है, एवं 'चैत्रो गृहे नास्ति' यह वाक्य चैत्र में गृह के अवृत्तित्व का बोधक है। अतः दोनों वाक्य अविरुद्ध दो विषयों के बोधक हैं, क्योंकि गृहातिरिक्त निरूपित वृत्तित्व एवं गृहनिरूपितवृत्तित्वाभाव इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। गृह में न रहने वाले चैत्र का गृह से अतिरिक्त किसी देश में रहने में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० अथाभिन्नविषयतयैव ··· ··· ···

उक्त 'विरोध' कथित दोनों वाक्यों में विभिन्न विषयक बोध के उत्पादकत्व के सम्पादन द्वारा ही उक्त 'अविरोध' का 'व्यवस्थापन' क्यों करता है ? (अभिन्न विषयक बोध के उत्पादकत्व के संपादन द्वारा ही क्यों नहीं अविरोध का व्यवस्थापन करता है ?)

व्यवस्थापनमविरोधापादनम्। एकविषयतयैव चाऽनयोर्विरोधः। स कथं तयैव शमयितव्यः? । न हि यो यद्विषमूर्च्छितः स तेनैवोत्थाप्यते इति चेत्; एकविषयतया अनयोर्विरोध इत्येतदेव कुतः ? । विभिन्नदेशस्वभावतयैव सर्वत्रोपलम्भादिति चेत्; नन्वियं व्याप्तिरेव। तथा च घट्टकुट्यां प्रभातमिति।

पू० प० व्यस्थापनम् ... ... इति चेत् ... ...

प्रकृत में 'व्यस्थापन' शब्द का अर्थ है 'अविरोध का संपादन, विरोध समान विषयों में ही होता है, विभिन्न विषयों में नहीं। विरोध चूँकि समान विषयत्व मूलक है, अतः उसका उपशम अर्थात् अविरोध का संपादन भी दोनों को समान विषयक बोध के उत्पादकत्व के उपपादन से नहीं हो सकता। जो व्यक्ति जिस विष से मूर्छित होता है, उसी विष से उस मूर्च्छा का उपशम कदापि नहीं हो सकता। इस लिए अर्थापत्ति प्रमाण ही उक्त दोनों वाक्यों में विभिन्न विषयक बोध की जनकता की उपपत्ति करते हुए अविरोध का संपादन कर सकता है।

सि० प० एक विषयतया ... ...

(मीमांसकों ने यह सिद्धवत् लिखा है कि) उक्त दोनों वाक्यों में विरोध का मूल है, दोनों से समानविषयक बोधों का उत्पन्न होना। किन्तु इसमें भी यह पूछना है कि समान (एक) विषय में प्रवृत्त होने से ही दोनों में विरोध क्यों है ?

पू० प० विभिन्न... ... ...

किसी एक व्यक्ति में बहिर्वृत्तित्व (घर से बाहर रहना) एवं गृहवृत्तित्व ये दोनों धर्म एक ही समय नहीं रह सकते। वे दोनों एक समय विभिन्न व्यक्तियों में ही रह सकते हैं। जिस प्रकार किसी एक अधिकरण में गोत्व एवं अश्वत्व ये दोनों चूँकि नहीं रहते, अतः ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, उसी प्रकार एक काल में एक अधिकरण में न रहने से एवं विभिन्न आश्रयों में रहने से गृहवृत्तित्व एवं बहिर्वृत्तित्व ये दोनों धर्म भी परस्पर विरुद्ध हैं। एवं एक ही समय गृहवृत्तित्व एवं बहिर्वृत्तित्व ये दोनों ही धर्म विभिन्न आश्रयों में रहते हैं। यदि एक ही समय एक ही आश्रय में उक्त दोनों धर्म रह सकते तो, उन दोनों में कोई विरोध ही नहीं होता। जैसे रूप एवं रस इन दोनों में कोई विरोध नहीं होता है। तस्मात् यह जानना सुलभ है कि गृहवृत्तित्व एवं बहिर्वृत्तित्व ये दोनों धर्म नियमतः एक समय में विभिन्न व्यक्तियों में ही रहते हैं, किसी एक व्यक्ति में नहीं। अतः इन दोनों में जो विभिन्न देशों में ही रहने का 'स्वभाव' है, वही उक्त विरोध का नियामक है।

सि० प० नन्वियम्... ... ...

गृहावृत्तित्व एवं बहिर्वृत्तित्व इन दोनों के नियमतः विभिन्न देशवृत्तित्व रूप जिस 'स्वभाव' की चर्चा की गयी है, वह 'स्वभाव' 'व्याप्ति' को छोड़कर कोई अन्य वस्तु नहीं है।

धूमोऽपि वा अनुपपद्यमानतयैव वह्निं गमयेत् । न हि तेन विना असावुपपद्यते। विरोधोऽपि धूमाद्वह्निना भवितव्यम्, अनुपलब्धेश्च न भवितव्यमिति ।

यह 'अविरोधापादन' भी चूँकि व्याप्ति मूलक ही है, अतः यह भी अनुमान को छोड़कर और कुछ नहीं है। अर्थात् उक्त विरोध से इतना ही सिद्ध होता है कि जिस समय जो वस्तु गृह में नहीं रहती, उस समय उसकी सत्ता घर के बाहर कहीं अवश्य रहती है। यदि इस व्याप्ति को ही उक्त 'स्वभाव' कहें तो फिर 'घट्टकुटीप्रभात' न्याय की आपत्ति होगी। अर्थात् व्याप्ति के भय से विरोध के रहने पर अविरोधापादन का आच्छादन ओढ़कर भागने वाले मीमांसकों को आगे आकर पुनः व्याप्ति के ही सम्मुख उपस्थित हो जाना पड़ेगा ः अतः यह 'अविरोधापादन' भी व्याप्ति मूलक होने के नाते अनुमान ही है।[1]

धूमोऽपि वा ··· ··· ··· (श्लोक के चतुर्थ चरण की व्याख्या) ··· ··· ···

अर्थापत्ति के दो प्रकार कहे गये हैं। (१) एक के विना दूसरे की अनुपपत्ति से उस 'एक की कल्पना, एवं (१) दो प्रमाणों में परस्पर विरोध के उपस्थित होने पर अविरोध का सम्पादन। इन दोनों ही प्रकार की अर्थापत्तियों का उपयोग अनुमान के प्रसिद्ध उदाहरण 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में हो सकता है। फलतः अनुमान भी अर्थापत्ति में अन्तर्भूत होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को खो बैठेगा।

(१) धूम भी अपनी अनुपपत्ति के द्वारा ही वह्नि का ज्ञापन कर सकता है। फलतः वह भी अर्थापत्ति प्रमाण होगा। क्योंकि धूम वह्नि से उत्पन्न होता है, अतः धूम वह्नि के विना अनुपपन्न है। किन्तु पर्वत में धूम प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। अतः पर्वत में वह्नि भी अवश्य ही होगा। इस प्रकार इस अर्थापत्ति का 'पर्वतो वह्निमान् वह्निम्बिना अनुपपद्यमानधूमवत्त्वात्' यह स्वरूप निष्पन्न होता है।

विरोधोऽपि — ··· ··· ···

(२) चूँकि धूम वह्नि के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः धूम अवश्य ही वह्नि के साथ ही रहेगा। पर्वत में धूम का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वह्नि अनुपलब्धि से बाधित है। अतः वह्नि की अनुपलब्धि रूप जो वह्न्यभाव का ज्ञापक प्रमाण है, इन दोनों में 'विरोध'

---

१. 'घट्टकुटी प्रभातन्याय, के मूल में यह लौकिक कहानी है कि कोई वणिक् राजशुल्क न देने के अभिप्राय से राजमार्ग को छोड़ कर पगडन्डी के रास्ते चल पड़ा। रात में वह रास्ता भूल गया। किन्तु भूलते भटकते प्रातः काल वह घाट पर की शुल्कशाला (कुटी) पर ही पहुँच गया। फिर तो उसे शुल्क देना ही पड़ा। इस न्याय का प्रकृतोपयोग स्पष्ट है।

तथा चानुपलब्धेरर्वाग्भागव्यवस्थापनम्, धूमस्य च व्यवधानेनानुपलभ्यवह्निविषयत्व-स्थितिरर्थापत्तिरिति कुतोऽनुमानम् ?। वह्निमानयमित्यनुमानं व्याप्तेः। अन्यथाऽनुमानाभावे विरोधासिद्धेः। अर्वाग्भागानुपलब्धिविरोधेन परभागेऽस्य वह्निरित्यर्थापत्तिरेवेति चेन्न। व्याप्तिग्राहकेण प्रमाणेन विरोधस्योक्तत्वात्।

उपस्थित होता है। अर्थापत्ति प्रमाण इस विरोध को इस प्रकार मिटा सकता है कि पर्वत का जो अंश धूम से ढंका हुआ है, उसी अंश में वह्नि होगा। एवं अनुपलब्धि प्रमाण से जो वह्नि का अभाव ज्ञात होता है, वह पर्वत के किसी दूसरे अंश में होगा। धूम से वह्नि का अनुमान भी पर्वत के सभी अंशो में नहीं हो सकता। अतः वह्नि में धूम की व्यापकता से पर्वत के जिस अंश में वह्नि की सिद्धि होगी, अनुपलब्धि प्रमाण से वह्नि के अभाव की सिद्धि पर्वत के दूसरे अंश में होगी। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुपलब्धि प्रमाण इन दोनों का विरोध मिट जाता है। इस प्रकार सभी अनुमानों की बात ही मिट जायगी। यह स्थिति तो मीमांसकों भी मान्य नहीं होगी।

पू० प० वह्निमानयम् — ··· —

वह्नि एवं धूम की व्याप्ति से होने वाले जिस बोध को अनुमिति कही जाती है, उसका आकार है 'अयम् (पर्वतः) वह्निमान्'। यदि ऐसा न मानें तो अर्थापत्ति के द्वारा जो अविरोध संपादन की रीति दिखलायी गयी है, वह अनुपपन्न हो जायगी, क्योंकि किसी प्रमाण के द्वारा जब पर्वत में वह्नि की प्राप्ति होगी, तभी वह्न्यभाव के ज्ञापक अनुपलब्धि प्रभृति प्रमाणों से उसका विरोध उपस्थित होगा। एवं जब किसी प्रकार का विरोध उपस्थित होगा, तभी अर्थापत्ति प्रमाण अविरोध का संपादन करेगा। अतः नैयायिकों को भी यह मानना ही होगा कि उक्त व्याप्ति से होने वाला यह बोध 'वह्निमानयम्' इसी आकार होता है। व्याप्ति से होनेवाला यह बोध ही अनुमान है। यह अर्थापत्ति नहीं है। इस अनुमिति के बाद पर्वत के चक्षुःसंनिकृष्ट अंश से भिन्न अन्श में जो वह्नि की सिद्धि होती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण से होती है। अतः वह अर्थापत्ति रूप प्रमिति ही है।

सि० प० न, व्याप्तिग्राहकेन ··· ··· —

धूम में जो वह्नि की व्याप्ति है, उसका ग्राहक है प्रत्यक्ष प्रमाण, क्योंकि अनेक स्थलों जब धूम और वह्नि साथ-साथ देखे जाते हैं, उसके बाद ही 'नियत सामानाधिकरण्य' रूप उन दोनों की व्याप्ति भी गृहीत होती है। किन्तु प्रकृत पर्वत में तो केवल धूम ही देखा जाता है, वह्नि नहीं। वह्नि की इस अनुपलब्धि से वह्नि और धूम की जो नियत सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति है, वह खण्डित हो जाती है। अतः व्याप्ति के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण के

नाप्युत्तरार्थापत्तिः। अन्यथा पाण्डरत्वस्याऽपालालत्वविरोधेन पालालत्वस्थितिरप्यर्थापत्तिरेव स्यात्।

साथ पर्वत में वह्न्यभाव के ग्राहक अनुपलब्धि प्रमाण का विरोध उपस्थित होता है, अनुमान प्रमाण के साथ नहीं। इसलिये अनुमान के साथ अनुपलब्धि प्रमाण के विरोध को मिटाने के लिये अर्थापत्ति प्रमाण का स्वातन्त्र्य स्वीकार करना उचित नहीं है।

सि० प० नाप्युतरार्थापत्तिः··· ··· ··· ···

'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति के बाद जो 'पर्वतस्य परभागे वह्निः' इस आकार का बोध होता है, वह अर्थापत्ति का उदाहरण नहीं हो सकता। अगर ऐसी बात हो तो जिस समय 'यह वह्नि पलाल (पुआल) से उत्पन्न नहीं है' इस आकार का निश्चय जो धूम के पाण्डरत्व से होता है, उस निश्चय को भी अर्थापत्ति मानना होगा।[1]

१. नैयायिकों ने 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल को प्रतिबन्धि रूप से अर्थापत्ति के उदाहरण रूप में उपस्थित कर जो अनुमानोच्छेद की बात कही है, उस प्रसङ्ग में मीमांसक कह सकते हैं कि इसकी दूसरी उपपत्ति व्याप्ति के ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण एवं पर्वत में वह्न्यभाव के ग्राहक अनुपलब्धि प्रमाण इन दोनों में विरोध के द्वारा पहिले कहा जा चुका है। किन्तु 'वह्निमानयम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा हमलोगों ने अनुमान का स्वतन्त्र उदाहरण, एवं पर्वत के दूसरे अंश में वह्नि की अनुपलब्धि रूप विरोध के द्वारा अर्थापत्ति का स्वतन्त्र उदाहरण भी दिखला दिया है। अतः अर्थापत्ति के इस उदाहरण के मूल में प्रत्यक्ष का विरोध न रहने पर भी कोई हानि नहीं है। मीमांसकों की इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य ने 'नाप्युत्तरार्थापत्तिः' यह सन्दर्भ लिखा है।

इस सन्दर्भ का अभिप्राय यह है कि पुआल (पलाल) की आग से उत्पन्न धूम का वर्ण पाण्डर नहीं होता (अपाण्डर होता) है। पर्वत में दीखनेवाले सभी धूम सामान्यतः अपाण्डर ही दीखते हैं। क्योंकि उन धूमों की उत्पत्ति पुआल की आग से नहीं होती। अतः पुआल की आग से जिन धूमों की उत्पत्ति होगी, वे पाण्डरवर्ण के हो ही नहीं सकते हैं। यही है 'पाण्डरत्व' के साथ 'अपालालत्व' का विरोध। पाण्डरवर्ण के धूम से जिस वह्नि की अनुमिति होती है, उक्त विरोध के कारण उस वह्नि में पालालत्व की अर्थात् पलालजन्यत्व की भी सिद्धि उक्त अनुमिति के बाद होती है। इसका यह स्वारस्य है कि चूँकि यह धूम पाण्डर वर्ण का है, अतः इसका कारण पालाल से उत्पन्न वह्नि ही होगा। इस लिये धूम के इस आश्रय (पर्वत) में जो वह्नि है, वह पलालजन्य ही है। किन्तु वह्नि में पलालजन्यत्व की इस सिद्धि को कोई भी अर्थापत्ति प्रमाणजन्य नहीं मानता। किन्तु उक्त अनुमिति के बाद वह 'मानसबोध' ही माना जाता है। जैसे कि 'घटेन जलमाहर' इत्यादि वाक्यों से होनेवाले शाब्दबोध के बाद घट में छिद्रेतरत्वादि का मानसबोध होता है।

तद्विशिष्टस्य तेनैव व्याप्तेर्नैवमिति चेत्; यद्येवमर्वाग्भागानुपलभ्यमानवह्नित्वेन विशिष्टस्य धूमस्य तेनैव व्याप्तेः कथमेवं भविष्यतीति तुल्यम्।

केवलव्यतिरेक्यनुमानं पराभिमतमर्थापत्तिरन्वयाभावादिति चेत्; एवमेतावता विशेषेणानुमानेऽर्थापत्तिव्यवहारं न वारयामः।

तद्विशिष्टस्य··· ··· ··· ···

पाण्डुर वर्ण के धूम में पलाल से उत्पन्न वह्नि की ही व्याप्ति है। अतः पाण्डुर धूम से पलालजन्य वह्नि की ही अनुमिति होगी। क्योंकि जिस रूप में साध्य की व्याप्ति हेतु में गृहीत रहेगी, उसी रूप में साध्य की अनुमिति भी होगी।

सि० प० यद्येवम्··· ··· ··· ···

यदि ऐसी बात है तो फिर पर्वत में दीखनेवाले धूम में भी पर्वत के दूसरे भाग में रहनेवाले वह्नि की ही व्याप्ति गृहीत होती है, अतः उक्त धूम से पर्वत के अपरभाग में रहनेवाले वह्नि की ही अनुमिति होगी। फलतः साध्य में विशेषण विधया साध्यतावच्छेदक रूप से अनुमान प्रमाण के द्वारा ही पर भाग के वैशिष्ट्य का बोध हो जायगा। इसके लिये अर्थापत्ति रूप अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं है।

पू० प० केवलव्यतिरेक्यनुमानम्··· ··· ··· ···

आप (नैयायिक) जिसको 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' कहते हो, उसी को हम (मीमांसकगण) 'अर्थापत्ति' कहते हैं। क्योंकि अनुमिति की उत्पत्ति हेतु में साध्य के नियत सामानाधिकरण्य रूप अन्वयव्याप्ति से ही होती है। केवलव्यतिरेकी स्थल में यह अन्वय व्याप्ति नहीं रहती है, वहाँ तो साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का नियतसामानाधिकरण्य रहता है। अतः उसको अनुमान नहीं कहा जा सकता।

सि० प० एवमेतावता··· ··· ··· ···

यदि कोई अनुमान केवल व्यतिरेकव्याप्ति से ही उत्पन्न होता है, एवं इस विशिष्टता के कारण उसको अर्थापत्ति कहते हैं, तो इसमें मुझे कोई विवाद नहीं है।

तत्रानुमानव्यवहारः कुत इति चेत्; अविनाभूतलिङ्गसमुत्पन्नत्वात्। साध्यधर्मेण विना ह्यभवनमन्वयिन इव व्यतिरेकिणोऽप्यविशिष्टं, तन्निश्चयश्चाऽन्वयतिरेकाभ्यामन्यतरेण वेति। तस्मादर्थापत्तिरित्यनुमानस्य पर्यायोऽयं तद्विशेषवचनं वा पूर्ववदादिवदिति युक्तम् ॥ १९ ॥

पू० प० तत्र··· ··· ··· ···

व्यतिरेक व्याप्ति से उत्पन्न बुद्धि को आप 'अनुमिति' क्यों कहते हैं ? (अर्थात् एक शब्द से व्यवहृत होनेवाले दो वस्तुओं में साधारण रूप से रहनेवाला कोई एक धर्म चाहिए। अन्वयव्याप्तिजन्य बुद्धि एवं व्यतिरेकव्याप्तिजन्य बुद्धि इन दोनों बुद्धियों में ऐसा कौन सा साधारण धर्म है ? अर्थात् उन दोनों में रहनेवाला कोई साधारण धर्म नहीं है, अतः दोनों का एक 'अनुमान' शब्द से व्यवहार नहीं हो सकता)।

सि० प० अविनाभूत··· ··· ··· ···

'अविनाभूत' अर्थात् व्याप्ति से युक्त हेतु से उत्पन्न होना (व्याप्ति विशिष्ट हेतु जन्यत्व) ही दोनों में एक ही अनुमान शब्द से व्यवहार का प्रयोजक धर्म है। अर्थात् उक्त दोनों ही बुद्धियाँ चूँकि व्याप्ति से युक्त हेतु से उत्पन्न होती है, इसी साधर्म्य के कारण दोनों एक ही 'अनुमान' शब्द से व्यवहृत होती है।

साध्य रूप धर्म के 'बिना' अर्थात् साध्य के बिना जो हेतु न रहे, वही हेतु 'व्याप्त' अथवा 'अविनाभूत' हेतु है। अन्वयी हेतु एवं व्यतिरेकी हेतु दोनों ही साध्य के बिना नहीं रहते, अतः ये दोनों ही हेतु 'अविनाभूत' अर्थात् व्याप्त हेतु हैं। अन्तर इतना ही है कि यह 'नियतसामानाधिकरण्य' रूप व्याप्ति कहीं 'यत्र यत्र हेतुस्तत्र तत्र साध्यम्' इस 'अन्वय' से गृहीत होता है, एवं कहीं वह 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र हेत्वभावः इस 'व्यतिरेक' से गृहीत होता है। अर्थात् साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु से उत्पन्न होना दोनों बुद्धियों में समानरूप से है, अतः दोनों का 'अनुमान' शब्द से व्यवहार होता है, क्योंकि वही (साध्यनिरूपित व्याप्ति विशिष्ट हेतुजन्यत्व) अनुमानत्व व्यवहार का प्रयोजक है। चूँकि व्याप्ति के ग्राहक दोनों के भिन्न-भिन्न हैं, अतः ग्राहक की विभिन्नता से दोनों 'अन्वयी' एवं 'व्यतिरेकी' क्रमशः इन दो विभिन्न शब्दों से भी व्यवहृत होते हैं। तस्मात् 'अर्थापत्ति' या तो अनुमान का ही दूसरा नाम है, अथवा अनुमान का ही एक प्रभेद है। जैसे कि पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट प्रभृति उसके भेद हैं। अतः अर्थापत्ति नामका कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है ॥ १९ ॥

अनुपलब्धिस्तु न बाधिकेति चिन्तितम् । न च प्रत्यक्षादेरतिरिच्यते, तदुच्यते —

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥ २० ॥

अनुपलब्धिस्तु··· ··· ··· ···

मीमांसकाभिमत अनुपलब्धि प्रमाण भी ईश्वर की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता इसका विचार कर चुके हैं ।[1]

न च ··· ··· ···

किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतिरिक्त अनुपलब्धि नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। (अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ईश्वरबाधकत्व के निराकरण से ही अनुपलब्धि प्रमाण का भी ईश्वर बाधकत्व को भी निराकृत समझना चाहिए) । 'अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण क्यों नहीं है? इसकी युक्तियाँ कहते हैं :—

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात् ··· ··· ···

(श्लोक के इस प्रथम चरण का यह अभिप्राय है कि) अनुपलब्धि प्रमाण से जिस प्रमिति रूप 'प्रतिपत्ति' की बात कही जाती है, वह प्रतिपत्ति या प्रमिति 'अपोरोक्षाकारक' है। अर्थात् 'साक्षात्कार' रूप है। एवं उत्पत्तिशील जितने भी अपरोक्षज्ञान हैं, वे सभी इन्द्रियों से ही उत्पन्न होते है। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न 'घटाभाववद्भूतलम्' यह ज्ञान भी अपरोक्ष रूप ही है। अतः इन्द्रिय ही उसका भी 'करण' है। इसका यह अर्थ नहीं कि अभाव की प्रतीति में प्रतियोगी की अनुपलब्धि कारण नहीं है। इसका इतना ही अभिप्राय है कि अनुपलब्धि अभाव प्रतीति का 'करण' नहीं है, किन्तु सहकारि कारण है। सुतराम् इन्द्रिय और अनुपलब्धि दोनों में ही अभाव प्रमिति की कारणता अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है। इन्द्रिय में प्रतीति की करणता पहिले से सिद्ध है। अतः इन्द्रिय में अभाव प्रतीति

1. मीमांसकादि 'अनुपलब्धि' नाम का एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, जिस से अभाव की प्रमिति उत्पन्न होती है। वे ईश्वरसिद्धि के बाधक रूप में इस अनुपलब्धि प्रमाण को भी उपस्थित करते हैं। यह दो प्रकार से ईश्वर की सिद्धि में बाधक हो सकती है (१) स्वरूपतः एवं (२) ज्ञात होकर। भूतल में घट की अनुपलब्धि से जो घटाभाव का ग्रहण प्रथम प्रकार से होता है,। इस रीति से ईश्वर की सिद्धि में अनुपलब्धि प्रमाण का बाधकत्व 'योग्यादृष्टिः' इत्यादि श्लोक से खण्डित हो चुका है। अनुपलब्धि प्रमाण के ईश्वरबाधकत्व का दूसरे प्रकार को भी 'कानुमानाश्रयम्' इस सन्दर्भ के द्वारा कथित युक्तियों से ही खण्डित समझना चाहिये। इसकी सूचना ही आचार्य ने 'अनुपलब्धिस्तु' इत्यादि सन्दर्भ से दी है।

की 'करणता' भी मान लेते हैं, तो अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानना पड़ता है। अनुपलब्धि में यदि अभाव प्रतीति की करणता मानते हैं, तो 'अनुपलब्धि' नाम का एक अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ता है। इससे गौरव दोष की आपत्ति होती है। अतः अनुपलब्धि नाम का स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

(२) इन्द्रियस्यानुपक्षयात् ··· ··· —

[1]अभाव प्रतीति के अन्वय और व्यतिरेक से युक्त इन्द्रिय 'अन्यत्र' अर्थात् अभाव के अधिकरणादि ज्ञान में 'उपक्षीण' नहीं है। अर्थात् अभाव के अधिकरण के ज्ञान का संपादक होने के नाते ही इन्द्रिय के साथ अभाव ज्ञान का अन्वय और व्यतिरेक नहीं है। किन्तु इन्द्रिय स्वतः अभावज्ञान के लिए उपयोगी है, इसीलिये उसका अन्वयव्यतिरेक उसमें है। अतः इन्द्रिय अभावज्ञान का कारण ही है, अन्यथासिद्ध नहीं। सुतराम् इन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण अभावज्ञान अपरोक्षात्मक ही है अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ही है।

(३) अज्ञातकरणत्वाच्च — ··· ···

'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि प्रमितियाँ अपरोक्षात्मक ही है, क्योंकि वे 'अज्ञातकरणक' हैं। प्रत्यक्ष से भिन्न जितनी भी अनुभूतियाँ हैं, उनके 'करण' ज्ञात होकर ही अपने कार्यों का उत्पादन करते हैं, व्याप्ति एवं पद रूप करण जैसे कि ज्ञात होकर ही अनुमिति एवं शाब्दबोध रूप परोक्षानुभूतियों का उत्पादन करते हैं। केवल प्रत्यक्षात्मक अनुभूतियों के करण इन्द्रिय ही स्वरूपतः (ज्ञात होकर नहीं) अपने कार्यों को उत्पन्न करते हैं। इससे यह निष्पन्न होता है कि जो अनुभूति 'अज्ञातकरण' से उत्पन्न हो, वह प्रत्यक्षात्मक है। 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि अनुभव भी 'अज्ञातकरण' से ही उत्पन्न होते हैं, अतः वे भी प्रत्यक्षात्मक ही है। सुतराम् इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण ही उनका भी 'करण' हैं, इसके लिये अनुपलब्धि रूप स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. मीमांसकों का कहना है कि 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि प्रकार के अभाव के प्रत्यक्षों में भूतलादि अधिकरणों के प्रत्यक्ष कारण हैं। प्रत्यक्षों के प्रति इन्द्रिय कारण हैं। फलतः अधिकरण प्रत्यक्ष के सम्पादक के रूप में अभाव प्रतीति के लिये भी इन्द्रिय की अपेक्षा होती है। इस प्रकार इन्द्रिय चूँकि अभाव प्रतीति से 'अन्यत्र, अधिकरण के प्रत्यक्ष में 'उपक्षीण' है, चरितार्थ है, अतः अन्वयव्यतिरेक रहने पर भी इन्द्रिय अभाव प्रतीति का कारण नहीं है। किन्तु 'अन्यथासिद्धि' है। जैसे कि कुलालपिता घट का कारण नहीं होता। अतः अभाव की प्रतीति प्रत्यक्षात्मक नहीं है। इस लिये 'प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात्' यह वाक्य संगत नहीं है। इसी असङ्गति का परिहार 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' इस दूसरे हेतु वाक्य से आचार्य ने किया है।

या हि साक्षात्कारिणी प्रतीतिः सेन्द्रियकरणिका, यथा रूपादि प्रतीतिः। तथेह भूतले घटो नास्तीत्यपि। साक्षात्कारित्वमस्या असिद्धमिति चेन्न। एकजातीयत्वे ज्ञाताज्ञातकरणत्वानुपपत्तेः।

---

(४) भावावेशाच्च चेतसः ... ...

मन (चेतस्) के साहाय्य के बिना कोई भी 'करण' ज्ञानों का उत्पादन नहीं कर सकता। अतः अनुपलब्धि को भी यदि अभाव प्रमिति का 'करण' मानेंगे तो उसको भी उक्त प्रमिति के उत्पादन में मन का साहाय्य अपेक्षित होगा। किन्तु सो सम्भव नहीं है। क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि 'भावपदार्थ' रूप ज्ञानकरण (इन्द्रियादि) का ही सहायक हो। (यही है मन का चेतस् का 'भावावेश' अर्थात् भाव पदार्थ रूप ज्ञानकरण करण को साहाय्य करने का स्वभाव)। अनुपलब्धि है उपलब्धि का अभाव रूप, इसलिये उसको ज्ञान के उत्पादन में मन का साहाय्य प्राप्त नहीं हो सकता। अतः अनुपलब्धि अभाव प्रमिति की करण नहीं हैं। इन्द्रियाँ ही अभाव प्रमिति करण हैं।

या हि ... ... नास्तीत्यादि (प्रथम चरण की व्याख्या)

जिस प्रकार रूपादि की साक्षात्कारात्मक सभी प्रतीतियाँ इन्द्रिय रूप करण से ही उत्पन्न होती है, उसी प्रकार 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि आकारों की अभावप्रमितियाँ भी चूँकि साक्षात्कारात्मक हैं, अतः उनकी उत्पत्ति भी इन्द्रिय रूप करण से ही होती है, अर्थात् इन्द्रिय ही उनके भी करण हैं। इसके लिए अनुपलब्धि नाम के अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[1]

पू० प० साक्षात्कारित्वम् ... ...

यह निर्णीत नहीं है अभाव की उक्त प्रतीति साक्षात्कारात्मक ही है। हेतु को पहिले पक्ष में निर्णीत रहना चाहिये। अतः अभाव प्रतीति रूप पक्ष में 'साक्षात्कारत्व' हेतु नहीं है। सुतराम् उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, हेतु नहीं। अतः इस अनुमान से उक्त अभावप्रतीति में इन्द्रियकरणकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

सि० प० एकजातीयत्वे ... ...

ज्ञानों के (१) साक्षात्कार एवं (२) असाक्षात्कार ये दो ही भेद हैं। जिन ज्ञानों का करण स्वरूपतः अर्थात् ज्ञात न होकर उन्हें उत्पन्न करते हैं, वे ज्ञान साक्षात्कारात्मक हैं।

---

१. 'या हि' यहाँ से लेकर 'नास्तीत्यपि' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से आचार्य ने अपने अभीष्ट अनुमान की सूचना दी है। प्रकृत में अनुमान का आकार इस प्रकार का समझना चाहिए 'भूतले घटो नास्तीत्याद्यभावप्रतीतिः इन्द्रियकरणिका साक्षात्कार रूपत्वात् रूपादि प्रत्यक्षवत्।

न हि तस्मिन्नेव कार्ये तदेव करणमेकदा ज्ञातमज्ञातञ्चैकदोपयुज्यते, लिङ्गेन्द्रिययोरपि व्यत्ययप्रसङ्गात्, ज्ञानस्याकारणत्वप्रसङ्गाच्च न। हि तदतिपत्यापि भवतस्तत्कारणत्वम्, व्याघातात्।

तस्माज्ज्ञातानुपलब्धिजन्यस्यासाक्षात्कारित्वात्, तद्विपरीतकारणकमिदं तद्विपरीतजातीयमिति न्याय्यम्।

एवं जिन ज्ञानों के करण ज्ञात होकर उन्हें उत्पन्न करते है, वे है, असाक्षात्कारात्मक—जैसे कि अनुमित्यादि। अनुपलब्धि कुछ अभाव विषयक ज्ञानों को ज्ञात होकर उत्पन्न करतीं हैं, एवं कुछ अभाव विषयक ज्ञानों को स्वरूपतः उत्पन्न करतीं हैं। अभावविषयक सभी ज्ञानों को यदि नियमतः 'असाक्षात्कारात्मक' ही मानें तो यह स्वीकार करना होगा कि अनुपलब्धि ज्ञात होकर ही अभाव विषयक ज्ञान का उत्पादन करती है। यह तो संभव नहीं है कि अभाव विषयक ज्ञान नियमत असाक्षात्कारात्मक होते हुये भी कभी स्वरूपतः अनुपलब्धि रूप करण से उत्पन्न हों एवं कभी ज्ञात होकर उसी अनुपलब्धि रूप करण से उत्पन्न हों।

यह अनुभव के विरुद्ध है कि एक ही जाति के कार्य को एक ही करण कभी स्वरूपतः उत्पन्न करें, एवं कभी ज्ञात होकर उत्पन्न करें। यदि ऐसी बात हो तो फिर इन्द्रियां भी कभी प्रत्यक्ष का स्वरूपतः उत्पादन करेगी, एवं कभी ज्ञात होकर प्रत्यक्ष का उत्पादन करेगी। अथवा यह भी कहना संभव होगा कि व्याप्ति भी कभी बिना ज्ञात हुये ही अनुमिति का उत्पादन करती है। यदि ऐसा हो तो फिर इन्द्रिय एवं इन्द्रिय के ज्ञान दोनों में ही परस्पर निरपेक्ष होकर स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष की कारणता माननी होगी। एवं इसी प्रकार व्याप्ति एवं व्याप्तिज्ञान इन दोनों में भी स्वतन्त्र रूप से अनुमिति की कारणता माननी होगी। ऐसी स्थिति जो प्रत्यक्ष केवल इन्द्रिय से उत्पन्न होगा, उसके प्रसङ्ग में कहा जा सकता है 'वह बिना इन्द्रियज्ञान के ही उत्पन्न होती है। एवं जो अनुमिति केवल व्याप्ति से ही उत्पन्न होगी, उसके प्रसङ्ग में भी कहा जा सकता है कि यह अनुमिति बिना व्याप्तिज्ञान के ही उत्पन्न होती है। इसी प्रकार इन्द्रिय के ज्ञान से उत्पन्न प्रत्यक्ष की कारणता इन्द्रिय में निरस्त हो जाती है, एवं व्याप्तिज्ञान जनित अनुमिति की कारणता व्याप्ति में खण्डित हो जाती है। क्योंकि जिसके न रहने पर भी जो उत्पन्न हो सके, वह उसका कारण नहीं हो सकता।

इसलिये यही कहना पड़ेगा कि अनुपलब्धि के ज्ञान से अभाव की जो प्रतीति उत्पन्न होती है, वह अवश्य ही 'असाक्षात्कारात्मक' है। इसके 'विपरीत' जो अभावज्ञान केवल अनुपलब्धि से (अनुपलब्धि के ज्ञान से नहीं) उत्पन्न होगा, वह ज्ञान असाक्षात्कार के 'विरुद्ध' साक्षात्कारात्मक ही होगा। अतः 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि ज्ञानों में 'साक्षात्कारित्व' असिद्ध नहीं है। इसलिये उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है।

ननु क नाम ज्ञातानुपलब्धिरसाक्षात्कारिणीमभावप्रतीतिं जनयति ?। तद्यथा निपुणतरमनुसृतो मया मन्दिरे चैत्रो न चोपलब्ध इति श्रुत्वा श्रोताऽनुमिनोति, नूनं नासीदेवेति। एतेन प्राङ्नास्तिताऽपि व्याख्याता।

पू० प० ननु कनाम ··· ··· ··· ···

(यह तो समझा कि 'घटाभाववद्भूतलम्' अभाव का यह ज्ञान स्वरूपतः केवल अनुपलब्धि से ही उत्पन्न होता है, किन्तु यह नहीं समझा कि) अनुपलब्धि ज्ञात होकर अभाव विषयक किस प्रतीति को उत्पन्न करती है ?

सि० प० तद्यथा ··· ··· ··· ···

'मैंने मन्दिर में अच्छी तरह देखा, तथापि 'चैत्र' मुझे नहीं मिले' किसी आप्त पुरुष से ऐसा सुनने वाले पुरुष को यह अनुमान होता है कि 'मन्दिर में चैत्र नहीं थे'। यह अनुमिति रूप अभाव की प्रतीति उक्त श्रोता को उक्त शब्द के द्वारा अनुपलब्धि का ज्ञान होने पर ही होती है।

एतेन ··· ··· — ···

इसी से यह भी जानना चाहिये कि 'प्राङ्नास्तिता' अर्थात् प्रागभाव की भी केवल अनुपलब्धिजन्य एवं अनुपलब्धिज्ञानजन्य दो प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं।[1]

पू० प० ननु तथापि ··· ··· — ···

यदि यह निर्णीत भी हो जाय कि अनुपलब्धि के ज्ञान से जो अभाव की प्रतीति होती है, वह 'असाक्षात्कारात्मक' (परोक्षात्मक) ही होती है, तथापि इससे यह निर्णीत नहीं होता कि केवल अनुपलब्धि से जो अभाव की प्रतीति होती है, वह 'साक्षात्कारात्मक' (प्रत्यक्षात्मक) ही होता है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि के ज्ञान से जो अभाव की प्रतीति होती है, उससे भिन्न जाति की प्रतीति ही स्वरूपतः अनुपलब्धि' से उत्पन्न

---

१. (१) जहाँ घट के कपालादि सभी कारणों को एकत्र देखा जाता है, किन्तु घट की उपलब्धि नहीं होती है। वहाँ घट की केवल इस अनुपलब्धि से ही 'वहाँ घट उत्पन्न होगा' इस प्रकार की जो प्रागभाव की प्रतीति होती है, वह है केवल अनुपलब्धि जन्य 'प्राङ्नास्तिता' (प्रागभाव) की प्रतीति। (२) किसी आप्तपुरुष के द्वारा "घट के उत्पादक कुछ कारण तो थे, किन्तु घट के अमुक अमुक कारण को नहीं देखा। एवं उनके सम्मेलन की कोई संभावना भी नहीं जान पड़ी" ऐसा सुनने पर श्रोता को अनुमान होता है कि 'वहाँ घट नहीं उत्पन्न होगा' प्रागभाव की यह अनुमिति रूप प्रतीति सामग्र्यनुपलब्धि की उक्त शब्दज प्रतीति से उत्पन्न होती है। यह अनुपलब्धिज्ञान जनित 'प्राङ्नास्तिता' की प्रतीति का उदाहरण है।

ननु तथाप्यवान्तरजातिभेदोऽस्तु, अज्ञातानुपलब्धिजन्ये साक्षात्कारस्तु कुत इति चेत्; कारणविरोधात् कार्यविरोधेन भवितव्यमित्युक्तमेव । अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रिय-व्यापारानन्तरभावित्वाच्च । अधिकरणग्रहणे तदुपक्षीणमिति चेन्न ।

होती है । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वरूपतः अनुपलब्धि से ही उत्पन्न अभाव की प्रतीति में रहनेवाली वह विलक्षण जाति 'साक्षात्कारत्व' रूप ही है । (अर्थात् उक्त अभाव प्रतीति साक्षात्कार स्वरूप है) । वह 'भिन्न जाति' साक्षात्कारत्व को छोड़ कर कोई दूसरी भी जाति हो सकती, जो ज्ञानत्व की व्याप्य (अवान्तर) हो । अतः केवल अनुपलब्धि जनित घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि अभाव प्रतीतियों में 'साक्षात्कारत्व' का निर्णय नहीं किया जा सकता ।

सि० प० कारणविरोधात् ··· ··· ··· ···

जितनी भी 'असाक्षात्कारात्मक' प्रतीतियाँ हैं, वे सभी 'ज्ञातकरणों' से ही उत्पन्न होती हैं (स्वरूपतः करणों से उत्पन्न नहीं होती है) अतः 'असाक्षात्कारत्व' का व्यापक है 'ज्ञायमानकारणजन्यत्व' अर्थात् जो भी प्रतीति असाक्षात्कारात्मक (परोक्षात्मक) होंगी वे अवश्य ही ज्ञायमानकरण से उत्पन्न होंगी । 'व्यापकाभाव व्याप्याभाव का प्रयोजक है' इस न्याय से 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि प्रतीतियाँ चूँकि ज्ञातकरण से उत्पन्न नहीं होती है, अतः वे 'असाक्षात्कारात्मक' (परोक्षात्मक) नहीं हैं । असाक्षात्कारत्व का अभाव वस्तुतः साक्षात्कारत्व या प्रत्यक्षत्व रूप ही है । अतः यह ठीक है कि 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि अभावप्रतीतियाँ साक्षात्कारात्मक ही हैं । यही बात 'एक जातीयत्वे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा दूसरे शब्दों में पहिले भी कही जा चुकी है ।

अनन्यत्रोपक्षीणतया ··· ··· ··· ··· द्वितीयचरण की व्याख्या

'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि अभाव की प्रतीतियाँ अवश्य ही साक्षात्कारात्मक हैं, क्योंकि इन्द्रिय के व्यापार के बाद ही उनकी उत्पत्ति होती है । अथ च उस 'इन्द्रिय व्यापार' का उपयोग प्रकृत में किसी दूसरे कार्यों में नहीं है । (उक्त अभाव प्रतीति से 'अन्यत्र' अनुपयोग ही प्रकृत में इन्द्रिय व्यापार की 'अनन्यत्रोपक्षीणता' है) अतः उक्त अभाव प्रतीति के अव्यवहित पूर्व में नियत रूप से रहनेवाले उक्त इन्द्रियव्यापार को उक्त अभाव प्रतीति का 'अन्यथासिद्धि' होने की कोई संभावना नहीं है ।

पू० प० अधिकरणग्रहणे ··· ··· ··· ···

उक्त अभाव प्रतीति से अव्यवहितपूर्वकाल में नियत रूप से रहनेवाला जो इन्द्रिय का व्यापार है, उसका इतना ही प्रयोजन है कि अभाव के अधिकरणीभूत भूतलादि के प्रत्यक्ष

अन्धस्यापि त्वगिन्द्रियोपनीते घटादौ रूपविशेषाभावप्रतीतिप्रसङ्गात् । अस्ति हि तस्याधिकरणग्रहणम्, अस्ति च प्रतियोगिस्मरणम्, अस्ति च श्यामे रक्तत्वस्य योग्यस्याभावोऽनुपलब्धिश्च । अधिकरणग्राहकेन्द्रियग्राह्याभाववादिनोऽपि समानमेतदिति चेन्न ।

का वह उत्पादन कर दे। अभाव के ज्ञान में उसका कोई उपयोग नहीं है। अतः इन्द्रिय का उक्त व्यापार अभावग्रह से 'अन्यत्र' अधिकरणग्रह में 'उपक्षीण' (चरितार्थ) है। अतः उक्त कथन असङ्गत है।

सि० प० न, अन्धस्यापि ··· ··· ···

उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव के प्रत्यक्षके लिये प्रतियोगी का स्मरण, प्रतियोगी की (प्रत्यक्ष) योग्यता, अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि, एवं अधिकरण में अभाव की वास्तविकसत्ता इतने ही यदि अपेक्षित हों (अर्थात् अभाव के प्रत्यक्ष में अभाव के साथ इन्द्रिय के संनिकर्ष की अपेक्षा न रहे) तो घट मे न रहने वाले किसी रूपविशेष के अभाव का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय के द्वारा अन्ध पुरुष को भी होना चाहिये। किन्तु अन्धपुरुष को किसी भी वस्तु के रूपविशेष के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता (त्वगिन्द्रिय के द्वारा घट के काठिन्यादि को समझने पर रूप सामान्य का ज्ञान यद्यपि हो जाता है)। क्योंकि इस रूपविशेषाभाव के प्रत्यक्ष में इस अभाव रूप विषय के साथ इन्द्रिय के संनिकर्ष को छोड़ कर कथित अन्य सभी कारण विद्यमान हैं। अतः अभाव के प्रत्यक्ष में (अधिकरणप्रत्यक्ष रूप प्रयोजन के अतिरिक्त भी) इन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा अवश्य है।

जिस इन्द्रिय के व्यापार से विशेष प्रकार के रूप का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय का व्यापार उस रूप विशेष के अभाव के प्रत्यक्ष का भी कारण होता है। अन्ध पुरुष को चक्षु नहीं रहता, अथवा उसका चक्षु व्यापार करने में असमर्थ होता है, अतः जैसे अन्ध पुरुष को रूपविशेष की प्रतिपत्ति नहीं होती, वैसे ही रूपविशेष के अभाव की भी प्रतिपत्ति नहीं होती है। अतः अभाव के प्रत्यक्ष से अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से रहनेवाला इन्द्रिय का व्यापार 'अन्यत्र' उपक्षीण नहीं है (चरितार्थ नहीं है)। वह अभाव के प्रत्यक्ष का स्वतन्त्र रूप से भी सहायक है।

पू० प० अधिकरणग्राहक··· ··· ··· ···

जो (नैयायिक) सम्प्रदाय अधिकरण के ग्राहक इन्द्रिय से ही अभाव का भी ग्रहण मानते हैं, उनके मत में भी अन्ध पुरुष के द्वारा रूप विशेष के अभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। क्योंकि कोई भी इन्द्रिय हो, अभाव के साथ उसका सम्बन्ध 'स्वसम्बद्धविशेषणता'

प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्योऽभाव इत्यभ्युपगमात् । ममापि प्रतियोगिग्राहकेन्द्रिय-गृहीतेऽधिकरणे अनुपलब्धिः प्रमाणमित्यभ्युपगम इति चेन्न । वायौ त्वगिन्द्रियोपनीते रूपाभावप्रतीत्यनुदयप्रसङ्गात् ।

रूप ही होगा (स्व = इन्द्रिय, उसका सम्बन्ध है भूतल में, उसमें विशेषण है अभाव। इस प्रकार) चक्षु का स्वसम्बद्धविशेषणता सम्बन्ध ही अभाव में रह सकता है। किन्तु विशेषणता रूप यह सम्बन्ध तो घट में रहनेवाले रूपविशेषाभाव के साथ अन्ध के त्वगिन्द्रिय का भी है हो, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से सम्बद्ध है घट, उसमें विशेषण है रूपविशेष का अभाव, अतः चक्षु की तरह त्वगिन्द्रिय का भी उक्त विशेषणता रूप सम्बन्ध रूपविशेषाभाव में है ही। एवं यह सम्बन्ध अन्ध के त्वगिन्द्रिय में भी निरबाध है। अतः अन्ध पुरुष में रूप विशेषाभाव की प्रतीति रूप आपत्ति तो दोनों ही पक्षों में समान है।

सि० प० न, प्रतियोगिग्राहक ··· ··· ··· ···

दोनों पक्षों में उक्त दोष समान नहीं है, क्योंकि हम लोग यह नहीं कहते कि अभाव के आश्रय का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से हो, उसी इन्द्रिय से अभाव का भी प्रत्यक्ष हो। हम लोगों का यह कहना है कि अभाव के प्रतियोगी का ग्रहण जिस इन्द्रिय से हो, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी ग्रहण हो। अतः प्रतियोगी का ग्राहक जो इन्द्रिय, तत्सम्बद्ध विशेषणता ही अभाव के प्रत्यक्ष का कारणीभूत सम्बन्ध है। प्रकृत में रूपविशेष (स्वरूप प्रतियोगी) का ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय है, त्वगिन्द्रिय नहीं। अन्ध को चक्षु नहीं होता। अतः तत्सम्बन्ध विशेषणता रूप सम्बन्ध घटगत रूप विशेष के अभाव में नहीं है, अतः अन्ध को रूपविशेषाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि उसके त्वगिन्द्रिय का उक्त विशेषणतास्वरूप सम्बन्ध रूपविशेष के अभाव में विद्यमान है।

पू० प० ममापि — ··· ··· ···

इस प्रकार तो हम भी कह सकते हैं कि जिस इन्द्रिय से प्रतियोगी का ग्रहण हो, उसी इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले अधिकरण में विद्यमान अभाव का ही ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। 'रूपविशेष' स्वरूप प्रतियोगी का ग्राहक इन्द्रिय है चक्षु, उस से चूँकि आश्रयीभूत घट का ग्रहण अन्ध को नहीं होता है। अतः अन्ध को अनुपलब्धि प्रमाण से घट में रूपविशेष के अभाव का ज्ञान नहीं होता।

सि० प० न, वायौ ··· ··· ··· ···

उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि—वायु का प्रत्यक्ष केवल त्वगिन्द्रिय से होता है। त्वगिन्द्रियमात्र से गृहीत होनेवाले वायु में रूप के अभाव की प्रतीति को सभी मानते हैं। किन्तु कथित नियम के अनुसार उक्त प्रतीति नहीं हो सकेगी। क्योंकि रूपाभाव का

तथापि तत्तत्र सन्निकृष्टमिति चेत्; हन्तैवमनन्यत्र चरितार्थमिन्द्रियमवश्यमपेक्षणीयं रूपाभावानुभवेन। स्यादेतत्। तथापि वस्त्वन्तरग्रह एव तस्योपयोग इति चेन्न।

प्रतियोगी है रूप, एवं रूप का ग्राहक इन्द्रिय है चक्षु। किन्तु रूपाभाव के अधिकरणीभूत वायु का प्रत्यक्ष चक्षु से संभव नहीं है। इस प्रकार प्रकृत अभाव के प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय से उसके अधिकरण का ज्ञान संभव नहीं है। अतः अनुपलब्धि से वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा। इस लिये उक्त नियम को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पू० प० तथापि ··· ··· ··· ···

चक्षु से वायु का ग्रहण भले ही न हो, तथापि चक्षु का सम्बन्ध तो वायु के साथ है ही (अर्थात् नियम का यह स्वरूप स्वीकार करते है कि "प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय से सम्बद्ध अधिकरण में ही अनुपलब्धि रूप करण के द्वारा अभाव का प्रमाज्ञान हो" अन्ध को चक्षु नहीं हैं, उसके चक्षु का सम्बन्ध घट रूप प्रतियोगी में नहीं है। इसी लिये अन्ध के त्वागिन्द्रिय से गृहीत होनेवाले घट में भी रूप विशेष के अभाव की प्रतीति अनुपलब्धि प्रमाण से अन्ध को नहीं होती है। (रूपाभाव के प्रतियोगी रूप के ग्राहक चक्षु का सम्बन्ध वायु में है, अतः वायु में रूपाभाव का प्रमाज्ञान अनुपलब्धि रूप प्रमाण से होता है)।

सि० प० हन्तैवम् ··· ··· ··· ···

तो फिर इस से यह निष्कर्ष निकला कि जिस इन्द्रिय से प्रतियोगी का ग्रहण होता है, उस से अधिकरणादि किसी अन्य वस्तु का ज्ञान हो चाहे न हो, तथापि अभाव की प्रतीति में उसके प्रतियोगी के ग्राहक उस इन्द्रिय की अपेक्षा अवश्य होती है। क्योंकि वायु रूप अधिकरण के प्रत्यक्ष में अनुपयोगी भी चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग वायु धर्मिक रूपाभाव के प्रत्यक्ष में आपने स्वीकार कर लिया है। इस से यह सिद्ध होता होता है कि अधिकरणादि के प्रत्यक्ष से अनुपक्षीण (अचरितार्थ) भी इन्द्रिय का उपयोग रूपाभाव की प्रतीति में होता है। अतः 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' इस वाक्य का कथित अर्थ ठीक है।

पू० प० स्यादेतत् ··· ··· ··· ···

'प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय के द्वारा गृहीत 'आश्रय' में अनुपलब्धि से अभाव का ग्रहण हो' इस नियमवाक्य का 'आश्रय' पद अभाव से भिन्न सभी अर्थों में लाक्षणिक है। अर्थात् अभाव से भिन्न किसी भी पदार्थ के ज्ञानार्थ प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय का व्यापार रहने पर अभिमत आश्रय में अनुपलब्धि से उक्त प्रतियोगिक अभाव का ग्रहण हो। वायु में जो रूपाभाव का ग्रहण होता है, उस में भी 'वस्त्वन्तर' का अर्थात् वायु से भिन्न वृक्षादि वस्तुओं का ग्रहण तो चक्षु के व्यापार से होता ही है। अतः उक्त परिष्कृत नियम के अनुसार अनुपलब्धि प्रमाणों से वायु में अभाव का ग्रहण होने में कोई बाधा नहीं है।

तस्य तं प्रत्यकारणत्वात्। कारणत्वे वा महान्धकारे करपरामर्शेन स्पर्शवद्द्रव्याभावं न प्रतीयात्। प्रतीयाच्च पुरोविस्फारिताक्षः पृष्ठलग्नस्याऽश्यामत्वम्। आर्जवावस्थानमप्यधिकरणस्योपयुज्यते इति चेत्;

सि० प० तस्य तम्प्रति ··· ··· ··· ···

चूँकि 'वस्त्वन्तर' का ज्ञान अर्थात् अभाव के आश्रय से भिन्न उदासीन पदार्थों का ज्ञान अभावज्ञान का कारण नहीं है, अतः जिस इन्द्रिय के व्यापार से 'वस्त्वन्तर' का ग्रहण होता है, उस इन्द्रिय व्यापार की सत्ता को अभाव ग्रह के अव्यवहितपूर्वक्षण में नियमतः स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि अभावज्ञान के लिये उक्त 'वस्त्वन्तर' के प्रत्यक्ष को कारण मानें तो (१) अत्यन्त घने अन्धेरे में भी टटोल कर स्पर्श से युक्त घटादि द्रव्यों के अभाव का जो बोध होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि प्रतियोगि स्वरूप एवं स्पर्श से युक्त द्रव्यों के ग्राहक त्वगिन्द्रिय के द्वारा उस गहरे अन्धेरे में किसी उदासीन वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता।

प्रतीयाच्च — ··· ··· ···

(२) एवं यदि अभाव के ज्ञान के प्रति उसके प्रतियोगि के ग्राहक इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न उदासीन किसी पदार्थ (वस्त्वन्तर) का ज्ञान कारण रहे, तो जो पुरुष (जो कि आँख फाड़कर सामने की तरफ देख रहा है) किन्तु उसके पीछे रक्तघट रखा है, रक्तघट में जो 'अश्यामत्व' अर्थात् श्याम रूप का अभाव है, उसका ज्ञान उस पुरुष में मानना होगा। क्योंकि श्यामरूप के अभाव का प्रतियोगी जो श्याम रूप उसके ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा वह पुरुष सामने की किसी वस्तु को तो देखता ही है। किन्तु उस 'पुरोविस्फारिताक्ष' पुरुष को 'पृष्ठलग्न' रक्तघट में रहने वाले श्याम रूप के अभाव का ज्ञान नहीं होता। अतः उक्त 'कार्यकारणभाव' की कल्पना असङ्गत है।

पू० प० आर्जवावस्थानम् ··· — ··· ···

अभावग्रहण के प्रति उसके अधिकरण की 'आर्जवस्थिति अर्थात् ज्ञाता पुरुष के सामने रहना भी एक कारण है। उक्त श्यामरूपाभाव का आश्रय रक्तघट ज्ञाता पुरुष के पीठ की तरफ है, सामने नहीं, अतः उस अभाव का ग्रहण उस पुरुष को नहीं होता।

सि० प० तर्हि ··· — ··· ···

यदि अभाव के प्रत्यक्ष में उसके अधिकरण का ज्ञाता के सम्मुख रहना भी कारण है, तो फिर इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी अभाव के ग्रहण में अवश्य होगा। क्योंकि अंधेरे में सामने

तर्हि नयनसन्निकर्षोऽप्युपयोक्ष्यते। तदेकसहकारि प्रभासन्निकर्षापेक्षणात्। अन्यथा वातायनविवरविसारिकरपरामृष्टेऽप्यधिकरणे तदुलम्भप्रसङ्गाच्च। तथापि योग्यताऽऽपादनोपक्षीणश्चक्षुः। यदितरसामग्रीसाकल्ये ह्यनुपलभ्यमानस्याभावो निश्चीयते, तच्च चक्षुष्यधिकरणसन्निकृष्टे सति स्यादिति चेत्;

अवस्थित अधिकरण में आखों को सावधानता पूर्वक व्यापृत करने पर भी कोई भी वस्तु नहीं दीखती। अतः अधिकरण की आर्जवावस्थिति से होनेवाला अभाव का ग्रह हो, अथवा चक्षुः संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाला घट का प्रत्यक्ष ही हो—सभी में 'प्रभा' का संनिकर्ष आवश्यक है। अतः प्रकाश में अवस्थित अधिकरण में ही अभाव का भी ग्रहण होता है। 'अन्यथा' वातायन के छिद्र में हाथ डाल कर छुए हुये रक्त घट में श्याम रूप के अभाव का ग्रहण मानना होगा। क्योंकि चक्षु से वातयनादि के कुछ वस्तुओं का ग्रहण तो वहाँ भी होता ही है। अतः अभाव के ग्रहण में भी अभाव गत इन्द्रिय संनिकर्ष आवश्यक है।

पू० प० तथापि··· ··· ··· ···

'अनुपलब्धि अभावज्ञान का कारण है' इसमें किसी को भी विवाद नहीं है। अनुपलब्धि में अभावज्ञान की 'करणता' को स्वीकार करने में ही विवाद है (अर्थात् अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने में ही विवाद है) किन्तु (चार्वाक को छोड़कर) किसी के भी मत से 'केवल अनुपलब्धि' अभाव का ग्राहक नहीं है। किन्तु 'योग्यानुपलब्धि' ही अभाव का ग्राहक है। अत एव स्वर्ग, अपूर्व, देवता एवं परमाणु प्रभृति की अनुपलब्धि से उनके अभाव का निर्णय नहीं होता। 'योग्या चासौ अनुपलब्धिश्चेति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'योग्यानुपलब्धि' शब्द का अर्थ है योग्य' जो अनुपलब्धि। यह विचारणीय है कि 'अनुपलब्धि' में रहनेवाली इस 'योग्यता' का स्वरूप क्या है? इसका यही उत्तर है कि प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में जितने भी कारण अपेक्षित होते हैं, उनमें से 'विषय' को छोड़कर (अर्थात् प्रतियोगी को छोड़कर) और सभी कारणों का समवधान ही 'अनुपलब्धि' की योग्यता है। प्रतियोगी से इतर प्रतियोगि प्रत्यक्ष के सभी कारणों में इन्द्रिय एवं अधिकरण के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष भी है। इस प्रकार इन्द्रिय अथवा इन्द्रियसंनिकर्ष अभाव ग्रहण से 'अन्यत्र' उक्त 'अनुपलब्धि' के योग्यता संपादन में उपक्षीण है। अतः इन्द्रिय में 'अनन्यत्रोपक्षीणत्व' नहीं है। इसलिये अभाव का ज्ञान इन्द्रियजनित नहीं हैं।

ननु परिपूर्णानि कारणान्येव साकल्यम् । तथा च किं कुत्रोपक्षीणम् ? । अथान्योन्यमेलकं मिथः प्रत्यासत्त्यादिशब्दवाच्यं तदुपक्षयः, न तर्हि कश्चिच्चक्षुः कारणं स्यादिति । न हि रूपाद्युपलब्धिमप्यसन्निकृष्टमेतदुपजनयति ।

सि० प० ननु परिपूर्णानि··· ··· ··· ···

इन्द्रिय के व्यापार से अनुपलब्धि में जिस 'योग्यता' के संपादन की बात कही गयी है, उसको प्रतियोगी से भिन्न एवं प्रतियोगिप्रत्यक्ष के अन्य सभी कारणों का साकल्य रूप कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'कारणसाकल्य' नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है, जिसकी उत्पत्ति अनुपलब्धि में इन्द्रिय संनिकर्ष से हो। किन्तु 'कारणों की परिपूर्णता' ही कारणों का साकल्य है। उसके अन्तर्गत इन्द्रिय एवं अधिकरण का संनिकर्ष भी है। फलतः इन्द्रिय भी है। अतः इन्द्रिय के न रहने पर भी कारणों की परिपूर्णता अवश्य भङ्ग होगी। किन्तु यह बात तो कारण समूह घटक प्रत्येक कारण के प्रसङ्ग में कहा जा सकता है। किसी भी एक कारण के न रहने पर ही उक्त परिपूर्णता अथवा साकल्य विघटित हो जायगा। इस युक्ति से सभी कार्यों का प्रत्येक कारण 'अन्यत्रोपक्षीण' है। फलतः एक कार्य का एक कारण उसी कार्य के दूसरे कारण में कारणत्व संपादक होने के नाते 'अन्यत्रोपक्षीण' होगा। अतः इस रीति से इन्द्रिय को अभावोपलब्धि का 'अन्यथासिद्ध' नहीं कहा जा सकता।

पू० प० अथान्योन्यमेलकम्··· ··· ··· ···

एक कार्य के कारणों का जो समूह है, उन में से प्रत्येक कारण परस्पर एक दूसरे के साथ किसी विशेष रूप से सम्बद्ध होकर ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है। परस्पर असम्बद्ध (विश्लेष से युक्त-विश्लिष्ट) कारणों के समूह मात्र से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः कारणों में जो परस्पर सम्बन्ध की सम्पादकता है, वही है 'अन्यत्रोपक्षीणत्व'।

सि० प० न, तर्हि··· ··· ··· ···

यह उत्तर भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का 'अन्यत्रोपक्षीणत्व' यदि 'कारणत्व' का विघटक हो तो फिर चक्षु भी रूप विषयक प्रत्यक्ष का कारण नहीं हो सकेगा। क्योंकि रूप के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय ही रूप विषयक प्रत्यक्ष का उत्पादक है। अतः कहा जा सकता है कि उक्त संनिकर्ष का संपादन ही इन्द्रिय का प्रयोजन है। रूप विषयक प्रत्यक्ष में उसका कोई उपयोग नहीं है। अर्थात् रूप विषयक प्रत्यक्ष से 'अन्यत्र' इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष में 'उपक्षीण' होने के कारण रूपादि प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रिय 'अन्यथासिद्ध' है, कारण नहीं है। जब कारण ही नहीं है, तो फिर करण की बात तो दूर है।

अथाऽधिकरणसमवेत किञ्चिदुपलम्भोऽपि तद्विषयाभावग्रहेऽनुपलब्धेरपेक्षणीयः। ततस्तत्रेदं चरितार्थम्। वाय्वादिषु तु रूपाद्यभावप्रतीतिरानुमानिकी।

तथाहि—अनुपलब्ध्या ह्यनुमीयते, अयं नीरूपो वायुरिति। न, असिद्धेः।

पू० प० अथाधिकरणसमवेत··· ··· ··· ···

जिस अधिकरण में अनुपलब्धि के द्वारा अभाव का ज्ञान होगा, उस अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले किसी अन्य वस्तु का ज्ञान भी उक्त अनुपलब्धि का सहायक है। अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली वस्तु का यह ज्ञान इन्द्रिय से ही होता है। अतः अभाव ग्रह से 'अन्यत्र' इस अधिकरणसमवेत वस्तु के ज्ञान में इन्द्रिय का उपयोग (उपक्षय) होता है। अतः अभावग्रह में इन्द्रिय की अपेक्षा रहते हुए भी 'अन्यत्रोपक्षीण' होने से इन्द्रिय उसका कारण नहीं है।

वाय्वादिषु तु··· ··· ··· ···

(किन्तु रूप की अनुपलब्धि से वायु में जो रूपाभाव का ज्ञान होता है, उस में चक्षु का उपयोग तो होता है, किन्तु उसकी उपपत्ति कैसे हो ? क्योंकि वायु में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले किसी वस्तु का ज्ञान चक्षु से नहीं होता। इसका यह समाधान है कि) अभी जितनी भी बातें हो रहीं हैं, वे सभी स्वरूपतः केवल अनुपलब्धि से (अनुपलब्धि के ज्ञान से नहीं) होनेवाले अभाव ग्रह के प्रसङ्ग में ही हो रही है। इस अभावज्ञान को नैयायिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

ज्ञातानुपलब्धि मूलक (अर्थात् अनुपलब्धि के ज्ञान से उत्पन्न जो अभावग्रह है) वह वास्तव में अनुमिति स्वरूप है, उसमें कोई विवाद ही नहीं है। वायु में जो रूपाभाव का ज्ञान होता है, वह अनुमिति रूप ही है, क्योंकि अनुपलब्धि के ज्ञान से ही 'वायु में रूप नहीं है' इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अनुपलब्धि स्वरूपतः उसका कारण नहीं है। अतः इसमें यदि इन्द्रिय का उपयोग उपपन्न नहीं भी हो, तथापि को क्षति नहीं है।

सि० प० न, असिद्धेः ··· ··· ···

अनुपलब्धि रूप हेतु से वायु में रूपाभाव की अनुमिति हो ही नहीं सकती। क्योंकि वह अनुमिति 'वायुः नीरूपः रूपानुपलब्धेः' इस आकार की होगी, अर्थात् वायु में रूप नहीं है, क्योंकि वायु में रूप की उपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं होता)। किन्तु मीमांसकगण ज्ञान को अतीन्द्रिय मानते हैं, प्रकृत में हेतु स्वरूप अनुपलब्धि है, उपलब्धि का अभाव। उपलब्धि है ज्ञान रूप। अतीन्द्रिय भाव पदार्थ की तरह उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः उपलब्धि चूँकि अतीन्द्रिय है, अतः उपलब्धि का अभाव अर्थात् अनुपलब्धि

न ह्युपलम्भाभावो भवतामभावोपलम्भः, उपलम्भस्यातीन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। प्राकट्याभावेनानुमेय इति चेन्न।

वायौ रूपवत्ताप्राकट्याभावस्याप्यसिद्धेः, रूपाभावेन समानत्वात्। व्यवहाराभावेनानुमेय इति चेन्न।

भी अतीन्द्रिय ही है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये वायु रूप पक्ष में रूपानुपलब्धि हेतु की सिद्धि अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है। सुतराम् पक्षधर्मता ज्ञान के अभाव से ही अनुमिति अनुपपन्न है।

पू० प० प्राकट्याभावेन ··· ··· ···

ज्ञान यद्यपि अतीन्द्रिय है, अतः उसका प्रत्यक्ष भले ही न हो, तथापि ज्ञान से जो ज्ञातता अथवा 'प्राकट्य' की उत्पत्ति विषयों में होती है, उससे ज्ञान का अनुमान तो होता है। वायु में यदि रूप की प्रतीति होती तो वायु धर्मिक रूप निष्ठ कोई 'प्राकट्य' स्वीकृत होता, किन्तु किसी भी ज्ञान के बाद 'वायौ प्रकटं रूपम्' इस आकार की प्राकट्य की प्रतीति नहीं होती है। अतः यह समझते हैं कि 'वायुः रूपवान्' इस आकार की उपलब्धि (ज्ञान) नहीं है जिस से उक्त प्राकट्य की उत्पत्ति हो सके। अतः 'वायुः (विशेष्यता सम्बन्धेन) रूपानुपलब्धिमान् उक्तप्राकट्याभावात्' इस अनुमान से ही वायु स्वरूप पक्ष में रूपानुपलब्धि हेतु का निश्चय होगा। यह कोई राजाज्ञा नहीं हैं कि पक्ष में हेतु की सिद्धि प्रत्यक्ष के द्वारा रहे तभी अनुमिति हो। अतः 'वायुः रूपाभाववान् रूपानुपलब्धेः' इस अनुमान में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० न, वायौ प्राकट्याभावेन ··· ··· ··· ···

उक्त अनुमान के द्वारा भी वायु में रूपानुपलब्धि स्वरूप हेतु का निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि 'रूपवान् वायुः' यह प्रतीति यदि कहीं प्रसिद्ध होती, तो वायु धर्मिक रूप में प्राकट्य आ सकता था। उक्त प्रतीति चूँकि कहीं भी नहीं है, अतः उक्त प्राकट्य भी कभी कहीं भी नहीं है। अतः प्राकट्य का अभाव भी कहीं नहीं रह सकता। अतः जो दशा 'वायुः रूपाभाववान् रूपानुपलब्धेः' इस अनुमान का है, वही दशा 'वायुः विशेष्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक रूपानुपलब्धिमान् प्राकट्याभावात्' इस पक्षधर्मता साधक अनुमान का भी होगा। अतः वायु में रूपाभाव की सिद्धि का यह प्रकार भी ठीक नहीं है।

पू० प० व्यवहाराभावेन ··· ··· ··· ···

जिस में जिसकी उपलब्धि होती है, उस में उसका 'व्यवहार' भी होता है। (१) कायिक एवं (२) वाचिक भेद से व्यवहार के दो भेद हैं। घट की प्राप्ति की इच्छा वाले जिस पुरुष को भूतल में घट की उपलब्धि होती है, वह या तो दूसरे के द्वारा घट को मंगवाने के लिये 'घटमानय' इत्यादि शब्द प्रयोग रूप व्यवहार करता है, अथवा घटानयन के उपयोगी व्यापार का संपादन स्वयं अपने शरीर से ही करता है। वायु में यदि रूप की उपलब्धि होती

कायवाग्व्यापाराभावेऽप्युपेक्षाज्ञानाभावाभ्युपगमात् । मूकस्वप्नोपपत्तेश्च ।

तो वह व्यक्ति 'वायुरूपम्पश्य' इस आकार का शाब्दिक व्यवहार ही करता, अथवा पुनः स्वयं वायु को देखने के लिये चक्षु का उन्मीलनादि व्यापार ही करता । किन्तु वायु धर्मिक रूपोपलब्धि मूलक उन में से एक भी व्यापार नहीं उपलब्ध होता है । अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि 'वायुः विशेष्यतासम्बन्धेन रूपानुपलब्धिमान् रूपोपलब्धिजन्यव्यवहाराविषयत्वात्' । तस्मात् वायु में रूपव्यवहाराभाव हेतु से रूपानुपलब्धि को सिद्ध कर इस रूपानुपलब्धि से वायु में रूपाभाव का अनुमान बिना किसी बाधा के हो सकता है ।

सि० प० कायवाग् ··· ··· ··· ···

यदि यह नियम रहे कि जितनी भी उपलब्धियाँ हों, वे किसी न किसी व्यवहार को अवश्य उत्पन्न करें, तो वायु में रूपानुमान की उक्त उपपत्ति ठीक हो सकती है, किन्तु ऐसा नियम नहीं है । क्योंकि कथित कायिक और वाचिक दोनों ही व्यवहार या तो इष्ट की प्राप्ति के लिये होती है, या फिर अनिष्ट के परिहार के लिये होती है । इन में इष्ट वस्तु विषयक उपलब्धि से इष्ट की प्राप्ति के उपयोगी व्यवहार की उत्पत्ति होती है । एवं अनिष्ट वस्तु विषयक उपलब्धि से अनिष्ट के परिहार के जनक व्यवहार की उत्पत्ति होती है । किन्तु इष्ट एवं अनिष्ट इन दोनों से भिन्न भी विषय हैं, जिन्हें 'उपेक्ष्य' कहा जाता है । उपेक्ष्य विषयक भी उपलब्धि होती है । जैसे कि राह चलते व्यक्ति को राह पर पड़े सूखे पत्ते की उपलब्धि होती है । उपेक्ष्य विषयक उपलब्धि से कोई व्यवहार नहीं होता । अतः यह 'नियम' नहीं किया जा सकता कि जितनी भी उपलब्धियाँ हों, उन से कोई न कोई व्यवहार अवश्य हो । इस नियम के खण्डित होने पर इस नियम के द्वारा उत्पन्न 'जिसका व्यवहार न हो, उसकी उपलब्धि भी न हो' यह नियम भी खण्डित हो जाता है । 'नियम' ही है व्याप्ति, अतः व्याप्ति के न रहने से व्यवहाराभाव के द्वारा प्राकट्याभाव का उक्त अनुमान नहीं हो सकता ।

मूकस्वप्न ··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह भी है कि गूँगे मनुष्य को जो स्वप्नात्मक उपलब्धि होती है, उस से कोई भी व्यवहार नहीं होता । क्योंकि स्वप्न में देखे गये पदार्थों में कायिक व्यवहार सम्भव ही नहीं है । वाचिक व्यवहार गूँगे पुरुष से हो ही नहीं सकता । यह कहना भी सम्भव नहीं है कि मूक पुरुष को स्वप्न होता ही नहीं । इस युक्ति से भी व्यवहार में उपलब्धि की व्याप्ति खण्डित हो जाती है, अतः तन्मूलक व्यवहाराभाव से अनुपलब्धि का अनुमान भी निरस्त हो जाता है । सुतराम् अनुपलब्धि हेतु से वायु में रूपाभाव का अनुमान नहीं हो सकता ।

न च व्यवहाराभावमात्रेणाऽनुमातुमपि शक्यते। अनैकान्तिकत्वादसिद्धेश्च। तद्विषयस्तु व्यवहारस्तद्विषयज्ञानजन्यो वा?। तद्विषयज्ञानजनको वा? तदाश्रयधर्मजनको वा?।

न च व्यवहाराभावमात्रेण ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस व्यवहार से इष्टवस्तु की प्राप्ति हो सके, उस विशेष प्रकार के व्यवहार का इष्ट विषयक उपलब्धि ही कारण है। एवं जो विशेष प्रकार का व्यवहार अनिष्टवस्तु के परिहार का उत्पादक है, उस व्यवहार की उत्पत्ति अनिष्टवस्तु की उपलब्धि से ही होती है। इस 'व्यवहारविशेष' का कारण 'उपलब्धिविशेष' है। अतः कायिक व्यवहार विशेष से उपलब्धि सामान्य के अभाव का अनुमान भले ही न हो सके। किन्तु 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः तत्सामान्ययोरपि कार्यकारणभावः' इस न्याय के अनुसार व्यवहार सामान्य के प्रति उपलब्धि सामान्य भी कारण है ही। अतः वायु में रूप के व्यवहार सामान्य के अभाव से रूपोपलब्धिसामान्य का अभाव भी उपलब्ध होगा ही। इस प्रकार वायु में रूपानुपलब्धि का अनुमान होता है। इस युक्ति के खण्डन के लिये यह पूछना है कि) स्वकीय जो व्यवहार सामान्य है, उसके अभाव से अनुपलब्धि सामान्य की सिद्धि अभिप्रेत है? अथवा सभी के व्यवहार सामान्य के अभाव से अनुपलब्धि सामान्य की सिद्धि अभीष्ट है? इन में प्रथम पक्ष को स्वीकार करने से 'अनैकान्तिक' दोष होगा, क्योंकि जिस समय स्वयं व्यवहार नहीं भी करते है, उस समय भी दूसरे जन जिस विषय का व्यवहार करते है, उस विषय की उपलब्धि रहती है। द्वितीयपक्ष स्वीकार करने पर 'हेत्वसिद्धि' होगी। क्योंकि सभी जनों के व्यवहार का ज्ञान ही संभव नहीं है। अतः सभी जनों के व्यवहार के अभाव (रूप हेतु) का ज्ञान ही संभव नहीं है।

तद्विषयस्तु ··· ··· ··· ···

(यद्यपि कुछ विषय ऐसे भी हैं जो न ग्राह्य ही हैं, न त्याज्य ही किन्तु 'उपेक्ष्य' हैं। इस उपेक्ष्य विषय की भी उपलब्धि होती है। इस प्रकार 'उपलब्धि' के साथ 'व्यवहार' की व्याप्ति यद्यपि खण्डित हो जाती है, तथापि यह कहने का अवकाश रह जाता है कि अनुपेक्ष्य विषय की उपलब्धि के साथ अनुपेक्ष्य विषयक व्यवहार की व्याप्ति अवश्य है। 'रूप' उपेक्ष्य विषय नहीं है, किन्तु अपेक्ष्य विषय है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'रूप' की उपलब्धि से रूप का व्यवहार अवश्य होता है। ऐसा होने पर यह कहना भी संभव है कि चूँकि वायु में रूप का व्यवहार नहीं होता है, अतः वायु में (विशेष्यता सम्बन्ध से) रूप की उपलब्धि नहीं है। जैसे कि घट में स्वशरीरगत रूपव्यवहार के अभाव से स्वशरीर

के रूप की उपलब्धि का अभाव घट में निर्णीत होता है। अतः रूपवद्व्यवहाराभाव स्वरूप हेतु से वायु में रूपानुपलब्धि रूप हेतु की अनुमिति रूप सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार वायु में सिद्ध रूपानुपलब्धि रूप हेतु से वायु में रूपाभाव का अनुमान हो सकता है। इस समाधानाभास का यह उत्तर है कि) जिस वस्तु में जिस वस्तु की व्याप्ति रहती है, व्याप्ति से युक्त 'व्याप्य' उस वस्तु के अभाव (व्याप्याभाव) की व्याप्ति व्यापकीभूत उक्त वस्तु के अभाव में अवश्य रहती है। वह्नि की व्याप्ति धूम में है, अतः वह्नि के अभाव में धूमाभाव की व्याप्ति रहती है। इसी युक्ति से तद्विषयक व्यवहार की व्याप्ति चूँकि तद्विषयक उपलब्धि में है, अतः तद्विषयक व्यवहार के अभाव में तद्विषयक उपलब्ध्यभाव की व्याप्ति रह सकती है।

किन्तु यही विचारणीय है कि तद्विषयक व्यवहार की व्याप्ति तद्विषयक उपलब्धि में क्यों है ? (१) यह हो सकता है कि चूँकि तद्विषयक व्यवहार तद्विषयक उपलब्धि से उत्पन्न होता है, इसीलिये तद्विषयक व्यवहार की व्याप्ति तद्विषयक उपलब्धि में है। क्योंकि कार्य की व्याप्ति कारण में रहती है। (२) अथवा यह भी हो सकता है कि व्यवहार ही यदि उपलब्धि का 'जनक' हो (ऐसा भी होता है, क्योंकि व्यवहार से शक्तिग्रह रूप उपलब्धि होती है) तथापि व्यवहार की व्याप्ति उपलब्धि में रह सकती है, क्योंकि कारण की भी व्याप्ति कार्य में रहती है। (३) ऐसा भी हो सकता है कि तद्विषयक ज्ञान के (विषयता सम्बन्ध से) विषय स्वरूप 'आश्रय' में रहनेवाली जो ज्ञातता अथवा प्राकट्य रूप धर्म है, वही व्यवहार से उत्पन्न हो। फलतः यह ज्ञातता अथवा प्राकट्य रूप 'धर्म' चूँकि उपलब्धि एवं व्यवहार दोनों से ही उत्पन्न होता है, इसलिये भी व्यवहार की व्याप्ति उपलब्धि में रह सकती है, क्योंकि एक कार्य के जितने भी कारण होते हैं, उनमें उस कार्यकाल में नैयत्य (व्याप्ति) रहता है। अतः उपलब्धि में चूँकि इन तीन ही प्रकार से व्याप्ति का रहना संभव है, अतः व्यवहाराभाव में भी उपलब्धि के अभाव की व्याप्ति इन्हीं तीनों प्रकारों से संभव है।

अर्थात् (१) व्यवहार चूँकि ज्ञान (उपलब्धि) से उत्पन्न होता है, अतः जहाँ व्यवहार नहीं है, वहाँ उपलब्धि भी नहीं है। वायु में रूप का व्यवहार नहीं है, अतः रूपविषयक ज्ञान भी (विशेष्यता सम्बन्ध से) नहीं है। किन्तु अपेक्षाज्ञान एवं उपेक्षाज्ञान एतदुभयसाधारण व्यवहार एवं 'उपलब्धि' एक ही वस्तु है। अतः व्यवहार के अभाव से जो उपलब्ध्यभाव की अनुमिति होगी, वह वास्तव में ज्ञानाभाव से ज्ञानाभाव की ही अनुमिति होगी। 'स्व' से 'स्व' की उत्पत्ति की आपत्ति है 'आत्माश्रय' दोष। इस पक्ष में यह 'आत्माश्रय' दोष अनिवार्य है।

तदभावश्च तज्ज्ञानतदाश्रयधर्माभावान्तर्भूत एवेत्यशक्यनिश्चय एव, आत्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकप्रवृत्तिप्रसङ्गात्।

इतरेतराश्रय: ··· ··· ··· ···

(२) यदि यह मानें कि व्यवहार ज्ञान का कारण है, अतः 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्याय से व्यवहार रूप कारण के अभाव से उपलब्धि रूप कार्य का अभाव अनुमित होता है, तो इस पक्ष में 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा। क्योंकि चक्षुरादि व्यापार जैसे ज्ञान के कुछ कारण अतीन्द्रिय भी हैं, वे भी ज्ञानजनक व्यवहार के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु चक्षुरादि व्यापार रूप कारण का ज्ञान उन के कार्य के ज्ञान से ही हो सकता है, कारण के ज्ञान से नहीं। अतः अतीन्द्रिय स्वरूप चक्षुरादि के व्यवहार का अभाव उपलब्धि के अभाव से ही समझा जा सकता है। इसका यह फलितार्थ हुआ कि उपलब्ध्यभाव से व्यवहाराभाव को समझें; एवं व्यवहाराभाव से उपलब्ध्यभाव रूप अनुपलब्धि को समझें। इस प्रकार इस पक्ष में 'अन्योन्याश्रय' दोष है।

(३) यदि कथित तीसरा पक्ष मानें तो 'चक्रकापत्ति' दोष होगा। क्योंकि प्राकट्याभाव के ज्ञान से उपलब्ध्यभाव का ज्ञान' उपलब्ध्यभाव के ज्ञान से व्यवहाराभाव का ज्ञान, व्यवहाराभाव से प्राकट्याभाव का ज्ञान, प्राकट्याभाव के ज्ञान से उपलब्ध्यभाव का ज्ञान। अथवा ज्ञानाभाव से प्राकट्याभाव का ज्ञान, प्राकट्याभाव से व्यवहाराभाव का ज्ञान, व्यवहाराभाव से ही ज्ञानाभाव (अनुपलब्धि) का ज्ञान यदि मानें तो चक्रकापत्ति दोष होगा।

इस प्रकार कथित आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय एवं चक्रकापत्ति रूप दोषों के कारण विशेष व्यवहाराभाव से विशेष विषयक अनुपलब्धि की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

---

१. (इस प्रसङ्ग में मीमांसक कह सकते हैं कि—वायु पक्षक रूपाभाव साध्यक अनुमिति में जो रूपानुपलब्धि को, एवं रूपानुपलब्धि के अनुमिति में प्राकट्याभाव को हेतु माना गया है, उन में ये आत्माश्रयादि दोष तभी हो सकते हैं, जब कि उक्त हेतुओं के ज्ञानों को अनुमिति का कारण मानें। अर्थात् उन हेतुओं को ज्ञात होकर उन अनुमितियों का उत्पादक मानें। यदि स्वरूपतः उन हेतुओं को ही अनुमितियों का उत्पादक मानें, तो वे आत्माश्रयादि दोष नहीं आ सकते, अतः ऐसा ही स्वीकार करेंगे। इसके समाधान के लिये यह पूछना है कि अनुपलब्धि अथवा प्राकट्याभाव स्वरूपतः वायु में रूपाभाव का ज्ञापक क्यों है ? (१) रूप का साधक है उपलब्धि, अथवा प्राकट्य

न चाऽज्ञातस्योपलम्भाद्यभावस्य लिङ्गता ।

न चाज्ञातस्य[1] ... ...

यह नियम नहीं है कि जो जिसका (ज्ञापक) लिङ्ग हो, उस (लिङ्ग) का अभाव भी उक्त ज्ञाप्य के अभाव का ज्ञापक हो । अगर ऐसा हो तो धूम वह्नि का ज्ञापक है, अतः धूम

तदभाव रूप है अनुपलब्धि, अथवा प्राकट्याभाव रूप है अनुपलब्धि, अथवा प्राकट्य-भाव, इस लिये वे (अनुपलब्धि अथवा प्राकट्याभाव) रूपाभाव के साधक हैं । अथवा (२) रूपानुपलब्धि एवं रूपगत प्राकट्य के अभाव में रूपाभाव की व्याप्ति है, अतः वे रूपाभाव के अनुमापक हैं ? (३) अथवा रूप का कार्य है, रूप की उपलब्धि, एवं रूप गत प्राकट्य, (प्राकट्य चूँकि उपलब्धि जनित है, अतः उपलब्धि जनक उसका विषय भी प्राकट्य का कारण है) अतः 'कार्याभाव से कारणाभाव की अनुमिति' की न्याय से वे दोनों रूपगत प्राकट्याभाव एवं रूपानुपलब्धि ये दोनों वायु में रूपाभाव का साधन करते हैं । इन में 'नचाज्ञातस्य' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रथम विकल्प एव तृतीय विकल्प खण्डित हुये हैं, एवं 'अविनाभावबलेन' इस सन्दर्भ के द्वारा कथित द्वितीय विकल्प निरस्त हुआ है ।

१. अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से अगर रूपानुपलब्धि का ज्ञान वायु में होगा तो फिर चक्षु रूप प्रमाण से ही वायु में रूपाभाव का भी ज्ञान होगा । इस शिरोवेष्टनेन नासिका स्पर्श की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्रत्यक्ष से रूपानुपलब्धि को समझ कर उस से वायु में रूपाभाव का अनुमान किया जाय । यदि रूपोपलब्धि के अभाव को वायु में समझाने की शक्ति ज्ञान ग्राहक मन रूप इन्द्रिय में हैं, तो फिर रूप ग्राहक चक्षु में भी रूपाभाव को समझाने की सामर्थ्य क्यों नहीं है ?

किन्तु इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि अभाव का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अधिकरण का प्रत्यक्ष भी होना चाहिए । तभी अभाव का प्रत्यक्ष उस इन्द्रिय से हो सकता है । एतदनुसार वायु में रूपानुपलब्धि के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि रूपानुपलब्धि है रूपज्ञानाभाव, ज्ञान का ग्राहक इन्द्रिय ही उस का ग्राहक है । इसलिये मन रूप इन्द्रिय से अधिकरणीभूत आत्मा का भी ग्रहण हो सकता है । किन्तु रूपाभाव का प्रतियोगी है रूप, उसका ग्राहक है चक्षु, उससे वायु रूप अधिकरण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । अतः रूपानुपलब्धि का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त कर उसी से वायु में रूपाभाव का अनुमान करना पड़ेगा । क्योंकि वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसी का खण्डन आचार्य ने प्रकृत सन्दर्भ से किया है कि अभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण के प्रत्यक्ष की कोई आवश्यकता ही नहीं है ।

न च प्राकट्याभावः सत्तामात्रेणोपलम्भाभावमावेदयतीति युक्तम्; लिङ्गाभावस्य तथात्वेऽतिप्रसङ्गात्। अविनाभावबलेन तु नियते तत्प्रतिसन्धानापत्तेः।

न ह्यविनाभावः सत्तामात्रेण ज्ञानहेतुं नियमयति, धूमादावपि तथाभावप्रसङ्गादिति। ज्ञानप्रत्यक्षत्वेन त्वद्दिशा भविष्यतीति चेन्न।

का अभाव भी वह्नि के अभाव का ज्ञापक होगा। जिससे अयोगोलक में धूम के अभाव से वह्न्यभाव की अनुमिति माननी होगी। तस्मात् रूपव्यवहार अथवा रूपप्राकट्य ये दोनों रूपानुमिति के हेतु हैं, इस लिये रूपव्यवहार के अभाव अथवा रूपप्राकट्य के अभाव से रूपानुपलब्धि की अनुमिति नहीं हो सकती।

अविनाभावबलेन ... ...

यदि रूपानुपलब्धि की व्याप्ति रूपव्यवहार के अभाव में अथवा रूपप्राकट्य के अभाव में है, इसी लिये रूप व्यवहाराभाव से अथवा रूप प्राकट्याभाव से वायु में रूपानुपलब्धि की अनुमिति हो, तो फिर उक्त दोनों ही हेतुओं में रूपानुपलब्धि स्वरूप साध्य की व्याप्ति का प्रतिसन्धान भी उक्त अनुमिति में अपेक्षित होगा। फलतः रूपानुपलब्धि की व्याप्ति से युक्त ही दोनों हेतुओं का ज्ञान आवश्यक होगा। क्योंकि व्याप्ति स्वरूपतः अनुमिति के हेतु का नियमन नहीं करता। अर्थात् हेतु में साध्य की व्याप्ति के रहने से ही वह साध्य की अनुमिति के उत्पादन में उपयोगी नहीं होती।

यदि ऐसा न हो तो धूमादि हेतुओं में भी 'तथाभावप्रसङ्ग' होगा। अर्थात् जिस व्यक्ति को धूम में वह्नि की व्याप्ति गृहीत नहीं हैं। उस व्यक्ति को भी धूम से वह्नि की अनुमिति होगी। अतः इस पक्ष में अनुपलब्धि रूप हेतु से रूपाभाव के अनुमान में अनुपलब्धि का ज्ञान आवश्यक है। उक्त दोनों ही हेतुओं के ज्ञानों की अनुपपन्नता आत्माश्रयादि दोषों के द्वारा प्रदर्शित हो चुकी है।

पू० प० ज्ञानप्रत्यक्षत्वेन ... ...

नैयायिकों के समान ही हम (मीमांसक लोग) भी ज्ञानों का प्रत्यक्ष मान लेंगे। सुतराम् अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही हो सकता है। क्योंकि नैयायिकों के मत से जिसका प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय के द्वारा हो, उसके अभाव का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से होना उचित है। अतः ज्ञान का ग्रहण यदि मन स्वरूप इन्द्रिय के द्वारा हो, तो फिर ज्ञानाभाव (अनुपलब्धि) का ग्रहण भी मन से ही होगा। रूप विषयक ज्ञान का अभाव ही 'रूपानुपब्धि' है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात रूपानुपलब्धि के द्वारा ही वायु में रूपाभाव का अनुमान हो सकता है।

शब्दध्वंसादिनोक्तोत्तरत्वात्। अपि च प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणाधिकरणधर्मप्रतीतिरनुपलब्धेरङ्गमिति, तद्रहितायास्तस्याः कार्यव्यभिचाराद्व्यवस्थाप्येत, व्याप्तिबलाद्वा ?।

न तावदुक्तरूपानुपलब्धिस्तां विना अभावप्रत्ययमजनयन्ती दृश्यते।

सि० प० न, शब्दध्वंसादिना ··· ··· ··· ···

उक्त[1] समाधान भी युक्त नहीं है, इसका उपपादन द्वितीयस्तवक में यह उपपादन करते हुए दें चुका हूँ कि अभाव प्रत्यक्ष में उसके अधिकरण का प्रत्यक्ष आवश्यक नहीं है। (देखिये द्वितीय स्तवक "तस्मात्संनिकर्षे सति' इत्यादि सन्दर्भ)

अपि[1] च··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह है कि—"अनुपलब्धि के द्वारा जो अभाव की प्रतीति होगी; उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उस अभाव के प्रतियोगी का ग्रहण जिस इन्द्रिय से संभव है, उस इन्द्रिय से उस अभाव के अधिकरण में रहने वाले किसी भी धर्म का ज्ञान भी आवश्यक है" यह कैसे समझते हैं ?

(१) क्या उक्त अधिकरण में रहनेवाले धर्म का ज्ञान उक्त इन्द्रिय से नहीं रहने पर उस अधिकरण में अभाव का ग्रहण नहीं होता है, इस हेतु से अनुपलब्धि के द्वारा अभाव के ग्रहण में उक्त अधिकरण वृत्ति किसी धर्म के इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को अनुपलब्धि का सहायक मानते हैं ? अथवा (२) इन्द्रियजनित उक्त अधिकरणवृत्ति धर्म के ज्ञान में उक्त अनुपलब्धि की व्याप्ति ही है, इसी लिये उक्त ज्ञान को अनुपलब्धि का 'अङ्ग' मानते हैं ?

न तावत्··· ··· ··· ···

इनमें प्रथम पक्ष तभी युक्त हो सकता है जब कि अधिकरणवृत्ति धर्म के ज्ञान के बिना अभाव की प्रतीति कहीं भी नहीं होती (किन्तु श्रवणेन्द्रिय से आकाशवृत्ति किसी धर्म का

---

१. वायु में रूपानुपलब्धि का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता है, किन्तु वायु में रूपाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता इसमें दूसरी युक्ति मीमांसक लोग यह देते हैं कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस अधिकरण में अभाव का प्रत्यक्ष होगा, उस इन्द्रिय से उक्त अधिकरण में रहनेवाले किसी धर्म का ज्ञान भी आवश्यक है। आत्मा में रूपानुपलब्धि के ग्राहक मन रूप इन्द्रिय से आत्मा रहनेवाले इच्छादि अनेक गुणों का ज्ञान होता है, किन्तु वायु में रूपाभाव के ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा वायु में रहनेवाले किसी भी धर्म का ज्ञान नहीं होता है, अतः वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष चक्षु से नहीं हो सकता। इसी समाधानाभास का खण्डन आचार्य ने 'अपि च' इत्यादि सन्दर्भ से किया है।

नापि व्याप्तेः। तथा सति वायौ रूपाभावप्रत्ययस्तामाक्षिपेत्, एवम्भूतत्वात्। अनाक्षेपे, वा, न तत्कारणको भवेत्, न वा भवेत्। ततो न भवत्येव, लिङ्गात्तदुत्पत्तिरिति चेत्; ननु लिङ्गमपि सैव, न तत्त्वान्तरम्।

ज्ञान न रहने पर भी आकाश में अनुपलब्धि के द्वारा शब्दध्वंस रूप अभाव के प्रत्यक्ष का उपपादन (द्वितीयस्तबक में तस्मात् संनिकर्षेसति इत्यादि सन्दर्भ से) कर चुके हैं। अतः 'कार्यव्यभिचार' से अर्थात् अनुपलब्धि स्वरूप कारण के रहने पर भी अधिकरणवृत्ति उक्त धर्म के ज्ञान के बिना उक्त अभाव प्रतीति की अनुत्पत्ति स्वरूप 'व्यभिचार' से अधिकरणवृत्ति उक्त धर्मज्ञान में अनुपलब्धि की 'अङ्गता' (सहायक होना—सहकारिता) उपपादित नहीं हो सकती।

नापि— ... ...

दूसरा पक्ष इस लिये अयुक्त है कि अधिकरणवृत्ति धर्म के उक्त इन्द्रियजनित ज्ञान में अनुपलब्धि की व्याप्ति नहीं है। अगर ऐसी बात होती तो वायु में जो (विशेष्यता सम्बन्ध से) रूपाभाव की प्रतीति होती है, वहाँ भी वायु में रहनेवाले किसी धर्म का ज्ञान चक्षु से अवश्य रहता। किन्तु वायु में उसका रहना संभव ही नहीं है। क्योंकि वायुगत किसी धर्म का ग्रहण रूपग्राहक चक्षुरिन्द्रिय से संभव ही नहीं है। यदि अनुपलब्धि की व्याप्ति उक्त अधिकरणवृत्ति धर्म के ज्ञान में रहती, तो वायु में रूप ग्रहण से भी यह आक्षेप (कल्पना) हो सकता था कि वहाँ भी उक्त अधिकरणवृत्तिधर्म का ज्ञान आवश्यक है। चूँकि यह आक्षेप संभव नहीं है, अतः यह कहना भी संभव नहीं है कि अनुपलब्धि से होनेवाली वायु में रूपाभाव की प्रतीति का कारण वायुगत किसी धर्म का चाक्षुषज्ञान भी है। तस्मात् या तो वायु में रूपाभाव की प्रतीति ही न हो, यदि हो तो उसके लिये वायुगत किसी धर्म का चाक्षुषज्ञान भी आवश्यक है, किन्तु दोनों में से एक भी पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यही मानना होगा कि अधिकरणवृत्ति धर्म का ज्ञान अधिकरण वृत्ति अभाव विषयक ज्ञान का कारण नहीं है।

पू० प० ततो न··· ··· ··· ···

वायु में रूपाभाव की प्रतीति उक्त आपत्तियों के कारण अधिकरणवृत्ति धर्म के ज्ञान से भले ही न हो, किन्तु 'लिङ्ग' से होती है। अर्थात् वायु से रूपाभाव का अनुमान ही होता है।

सि० प० ननु लिङ्गमपि··· — ··· ···

वायु में रूपाभाव की अनुमिति जिस 'लिङ्ग' से होगी, वह लिङ्ग 'अनुपलब्धि' ही है। अर्थात् अनुपलब्धि रूप हेतु से ही वायु में रूपाभाव की अनुमिति होती है। अतः अनुपलब्धि से उत्पन्न होनेवाले किसी भी ज्ञान में यदि अभाव की प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय के द्वारा

यथा योनिसम्बन्धोऽलिङ्गदशायामिन्द्रियसन्निकर्षमपेक्षते, लिङ्गदशायां तु तदनपेक्ष एव ब्राह्मण्यज्ञाने, तथैतत् स्यादिति चेन्न। कार्यजातिभेदात्तदुपपत्तेः। प्रकृते च तदनभ्युपगमात्।

उत्पन्न अधिकरण गत धर्म का ज्ञान आवश्यक है, तो फिर अनुलब्धि स्वरूप हेतु से जो वायु में रूपाभाव का अनुमित्यात्मक ज्ञान होगा, उसके लिए भी वायुगत किसी धर्म का चाक्षुषज्ञान आवश्यक होगा ही। अतः अनुपलब्धि के द्वारा अभाव के ज्ञान में उक्त इन्द्रियजनित ज्ञान को अधिकरणगत धर्म का सहायक मानने से वायु में अनुपब्धि लिङ्गक रूपाभाव की अनुमिति भी अनुपन्न हो जायगी।

पू० प० यथा योनिसम्बन्ध··· ··· ··· —

जिस प्रकार किसी ब्राह्मण में किस समय इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं है, किन्तु यह ज्ञात है कि इस पुरुष के माता-पिता ब्राह्मण थे। ऐसी अवस्था में माता-पिता रूप 'योनि' अर्थात् कारणों के सम्बन्ध से उस व्यक्ति में 'ब्राह्मण्य' की अनुमिति होती है। 'योनिसम्बन्ध' रूप इस हेतु को ब्राह्मणत्व के ज्ञापन में ब्राह्मण व्यक्ति स्वरूप आश्रय में इन्द्रिय सनिकर्ष की अपेक्षा नहीं होती है। किन्तु वही 'योनिसम्बन्ध' जब 'अलिङ्गविषया' उसी व्यक्ति में ब्राह्मणत्व का ज्ञापन करता है, तो ब्राह्मणगत इन्द्रिय संनिकर्ष की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार अनुपलब्धि जब 'लिङ्गविषया' अभाव के ज्ञान को उत्पन्न करती है, तो उसे अभाव प्रतियोगी के अधिकरण में रहने वाले किसी धर्म के इन्द्रियजनित ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। किन्तु वही अनुपलब्धि जब 'अलिंगविषया' स्वतन्त्र रूप से अभाव विषयक ज्ञान को उत्पन्न करती है, तो उसे अधिकरण गत किसी धर्म के इन्द्रियज्ञान का साहाय्य अपेक्षित होता है। अतः वायु में रूपानुपलब्धि चूँकि लिंगविषया रूपाभाव की अनुमिति स्वरूप ज्ञान को उत्पन्न करती है, अतः वायु के किसी भी धर्म का चाक्षुषज्ञान यदि प्रकृत में नहीं भी है, तथापि कोई क्षति नहीं।

सि० प० न, कार्यजातिभेदात् ··· ··· ··· ···

सामग्री का वैजात्य ही कार्यों के वैजात्य का प्रयोजक है। प्रकृत में 'योनिसम्बन्ध' हेतुविषया ब्राह्मण्य के जिस ज्ञान का उत्पादन करता है, वह ज्ञान 'अनुमिति' रूप है। एवं विशुद्ध मातापितृजन्यत्व रूप योनिसम्बन्ध के अनुसन्धान के साहाय्य से ब्राह्मणगत इन्द्रियसंनिकर्ष के द्वारा ब्राह्मण्य का जो बोध होता है, वह 'प्रत्यक्ष' रूप है। अतः ब्राह्मण्य के विभिन्न दोनों ही बोधों की सामग्री अवश्य ही विभिन्न होंगी। यह विभिन्नता पहिली सामग्री में इन्द्रियसंनिकर्ष के प्रवेश एवं दूसरी में उसके अप्रवेश से होती है। किन्तु अनुपलब्धि से वायु में रूपाभाव का जो ज्ञान होता है, एवं भूतल में घटाभाव का जो ज्ञान होता है,

पारोक्ष्यापारोक्ष्ये विहायान्यथाऽप्यसौ भविष्यतीति चेन्न। अनुपलम्भात्। सम्भाव्यते तावदिति चेत्; सम्भाव्यताम्, न त्वेतावताऽपि तमाश्रित्य करणनियमनिश्चयः।

उन दोनों में किसी 'वैजात्य' का अनुभव नहीं होता (क्योंकि इन दोनों में तो वैजात्य पारोक्ष्य एवं अपारोक्ष्य रूप ही होता, सो आप मीमांसक मानते नहीं हैं)। अतः अभाव के इन दोनों ज्ञानों में कोई अन्तर नहीं होगा। इसलिये इसमें कोई विशेष युक्ति नहीं है कि अनुपलब्धि से उत्पन्न अभाव विषयक एक ज्ञान में अधिकरणगत किसी धर्म के इन्द्रियजनित बोध की अपेक्षा है, एवं अनुपलब्धि जनित ही दूसरे बोध में उक्त इन्द्रियजनित बोध की अपेक्षा नहीं है।

पू० प० पारोक्ष्यापारोक्ष्ये ··· ··· ··· ···

उक्त दोनों ज्ञानों में पारोक्ष्य (परोक्षता) एवं अपारोक्ष्य (अपरोक्षता) दोनों के द्वारा वैजात्य भले ही न हो, किन्हीं दूसरे धर्मों के द्वारा ही उनमें वैजात्य हो सकता है। उसी दूसरे प्रकार से वैजात्य के संपादन के लिये अभाव के एक ज्ञान में अधिकरणगत धर्म के इन्द्रियजनित ज्ञान की अपेक्षा मानेंगे। अभाव विषयक ही दूसरे ज्ञान में उसकी अपेक्षा नहीं मानेंगे, इसमें कोई बाधा नहीं है।

सि० प० अनुपलम्भात् ··· ··· ··· ···

उक्त दोनों ही ज्ञानों में पारोक्ष्य एवं अपारोक्ष्य इन दोनों से भिन्न किसी अन्य प्रकार के वैजात्य का अनुभव नहीं होता। अतः उक्त कथन उचित नहीं है।

पू० प० संभाव्यते ··· ··· ··· ···

अभावविषयक उक्त दोनों ज्ञानों में पारोक्ष्य एवं अपारोक्ष्य रूप वैजात्य की संभावना भले ही न रहे। अथवा किसी अन्य वैजात्य का भी अनुभव भले ही न हो। तथापि पारोक्ष्य एव अपारोक्ष्य इन दोनों धर्मों को छोड़कर किन्हीं अन्य धर्मों के द्वारा उन दोनों अभाव ज्ञानों में वैजात्य की संभावना तो है ही।

सि० प० संभाव्यताम् ··· ··· ··· ···

ऐसी संभावना भले ही रहे, तथापि उस संभावना के बल पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि अभाव विषयक प्रतीतियों का 'करण' अनुपलब्धि ही है। अतः इससे यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता कि अनुपलब्धि नाम का एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

ऽज्ञातकरणत्वाच्च । यदज्ञायमानकरणजं ज्ञानं तत्साक्षादिन्द्रियजम् यथा रूपप्रत्यक्षम् । तथा चेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमिति। यथा वा स्मरणमज्ञायमानकरणजं साक्षान्मनोजन्म। कुतस्तर्हि न साक्षात्कार्यनुभवरूपम् ?। संस्कारातिरिक्तसन्निकर्षाभावादिति वक्ष्यामः।

अज्ञातकरणत्वाच्च··· ··· ··· ··· मनोजन्म (तृतीय चरण की व्याख्या)

जिन ज्ञानों की उत्पत्ति के लिये उनके करणों के ज्ञात होने की अपेक्षा नही होती वे (अज्ञात करणक ज्ञान) अवश्य ही साक्षात् ही इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न होते हैं। जैसे कि 'रूप प्रत्यक्ष' स्वरूप ज्ञान को चक्षु से उत्पन्न होने के लिये चक्षु के ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती है, अतः वह साक्षात् चक्षु स्वरूप इन्द्रिय से ही उत्पन्न होती है।

अथवा जैसे कि-स्मरण रूप ज्ञान को अपनी उत्पत्ति के लिये 'पूर्वानुभव'स्वरूप अपने 'करण'के ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती है, अतः स्मरण साक्षात् मन स्वरूप इन्द्रिय से ही उत्पन्न होता है।

उसी प्रकार 'भूतले घटो नास्ति' इस अभाव प्रतीति को भी अपनी उत्पत्ति के लिये करण के ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती है, अतः वह भी 'अज्ञातकरणक' ज्ञान ही है। अतः वह भी अवश्य ही साक्षात् इन्द्रिय से ही उत्पन्न होता है। तस्मात् (इह भूतले घटो नास्तीत्याभावबुद्धिः साक्षादिन्द्रियजा अज्ञायमानकरणजन्यत्वात् रूपप्रत्यक्षवत्' स्मरण वद्वा) " इस आकार के अनुमान से उक्त अभाव बुद्धि में साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व सिद्ध है। अतः उसकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जायगी। इसके लिये अनुपलब्धि नाम के स्वतन्त्र प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

पू० प० कुतस्तर्हि ··· ··· ··· ···

स्मृति यदि इन्द्रिय से साक्षात् ही उत्पन्न होती है, तो फिर 'अयम् घटः' इत्यादि साक्षात्कारात्मक अनुभवों की तरह उसका अभिलाप (शब्दों से अभिव्यक्ति) क्यों नहीं होता है? (किन्तु स्मृति को तो कोई असाक्षात्कारात्मक अनुभव रूप भी स्वीकार नहीं करता) क्योंकि साक्षात्कार तो अनुभव रूप ही होता है, अतः स्मृति की उत्पत्ति में इन्द्रिय का साक्षात् उपयोग नहीं होता है, किन्तु संस्कार के द्वारा उसमें इन्द्रिय का उपयोग होता है। अतः उक्त अनुमान स्मृति रूप दृष्टान्त में व्यभिचरित होने के कारण असदनुमान है, उससे अनुपलब्धि का स्वतन्त्र प्रामाण्य खण्डित नहीं हो सकता।

सि० प० संस्कारातिरिक्त ··· ··· ···

वही ज्ञान साक्षात्कारात्मक है, जिसकी उत्पत्ति विषय एवं इन्द्रिय के ऐसे संनिकर्ष से हो जिस के मध्य में संस्कारादि की कोई बात न हो। स्मृति की उत्पत्ति में मन का

तथापि भावविषये इयं व्यवस्था, अभावज्ञानं त्वज्ञातकरणत्वेऽपि न साक्षादिन्द्रियजं भविष्यतीति चेन्न। उत्सर्गस्य बाधकाभावेन सङ्कोचानुपपत्तेः। अन्यथा सर्वव्याप्तीनां भावमात्रविषयत्वप्रसङ्गोऽविशेषात्। तथापि विपक्षे किं बाधकमिति चेत्;

'स्वजन्यसंस्कारविषयत्व' रूप संनिकर्ष ही प्रयुक्त होता है, मन के किसी अन्य संनिकर्ष की वहाँ संभावना नहीं है। क्योंकि स्मृति भूत एवं भविष्यत् वस्तुओं का भी होता है। अतः स्मृति अज्ञात करण जन्य होती हुई भी साक्षात्कारात्मक नहीं है। सुतराम् उक्त अनुमान का हेतु दृष्टान्त में व्यभिचरित नहीं है।

पू० प० तथापि भावविषये ··· — ···

'अज्ञात करणजन्य ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय जन्य ही हो' यह नियम भाव विषयक ज्ञान के ही प्रसङ्ग में स्वीकार करेंगे। अतः 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि अभाव विषयक ज्ञान यदि अज्ञात करण जन्य हैं भी, तथापि उनमें साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व नहीं है। अतः कथित युक्ति से अनुपलब्धि के स्वतन्त्र प्रामाण्य का खण्डन नहीं हो सकता।

सि० प० उत्सर्गस्य ··· ··· ··· ···

'उत्सर्ग' में अर्थात् सामान्य नियम में तब तक कोई सङ्कोच नहीं किया जा सकता, जबतक कोई विशेष बाधक उपस्थित न हो। यदि ऐसी बात हो तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि व्याप्तिज्ञान केवल भावविषयक अनुमिति को ही उत्पन्न कर सकती है, अभाव विषयक अनुमिति को नहीं। इस प्रकार अभाव विषयक प्रत्यक्ष की तरह अभाव विषयक अनुमिति की भी सत्ता उठ जायगी। इसी प्रकार शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति अभाव में निरस्त हो जायगी। अतः यदि भाव विषयक ज्ञान में साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व का ज्ञापक आज्ञातकरणजन्यत्व चूँकि अभाव विषयक ज्ञान में भी है, अतः उसमें भी साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व अवश्य है।

पू० प० तथापि ··· ··· ··· ···

फिर भी 'विपक्ष में' अर्थात् यह स्वीकार करने में कि अभाव विषयक ज्ञान में अज्ञातकरणजन्यत्व के रहते हुये भी साक्षात् इन्द्रिय जन्यात्व को नहीं स्वीकार करेंगे? ऐसी स्वीकार करने में कोई बाधक तो नहीं है, जैसे कि घट एवं पट दोनों कभी साथ-साथ रहते हैं, और कभी कभी अकेले-अकेले भी रहते हैं, उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाव विषयक ज्ञान में अज्ञातकरणजन्यत्व कभी साक्षात् इन्द्रिय जन्यत्व के साथ ही रहता है, किन्तु वही अज्ञातकरणजन्यत्व अभाव विषयक ज्ञान में कभी साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व को छोड़कर भी रहता है।

नन्विदमेव तावत्। अन्यदप्युच्यमानमाकर्णय। तद्यथा—अकारणककार्यप्रसंगः, रूपाद्युपलब्धीनामपि वाऽनिन्द्रियकरणत्वप्रसंगः।

न ह्यनुमित्यादिभिरुपलभ्यमानकरणिकाभिश्चक्षुरादिव्यवस्थापनम्, अपि तु रूपाद्युपलब्धिभिरेव।

सि० प० नन्विदमेव ··· ··· ···

पहिले तो (इदमेव) अर्थात् अभाव विषयक अनुमिति एवं शाब्दबोध की कथित अनुपपत्ति को ही उक्त 'विपक्ष' का बाधक समझें। अन्य भी विपक्ष के बाधकों का उल्लेख करता हूँ, उसे ध्यान पूर्वक सुनिये।

तद्यथा ··· ··· ··· अकारण ··· — ··· ···

यदि अज्ञातकरणक केवल भाव विषयक ज्ञान में ही साक्षत् इन्द्रियजन्यत्व मानेंगे, एवं अज्ञात करणजन्य ही अभाव विषयक ज्ञान में साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व नहीं मानेंगे, तो 'अकारणक कार्यप्रसङ्ग' रूप आपत्ति होगी।

अर्थात् अज्ञातकरणजन्य जितने भी ज्ञान हैं, इन्द्रिय में उन सभी ज्ञानों की कारणता अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में अज्ञात करणक अभाव विषयकज्ञान की उत्पत्ति बिना इन्द्रिय रूप कारण के ही मानें, तो इसका यह अर्थ होगा कि बिना कारण के भी कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु सो इष्ट नहीं है। अतः यह 'अनिष्टापत्ति' भी प्रकृत में विपक्ष का बाधक है।

रूपाद्युपलब्धिभिरेव ··· ··· ··· ···

(३) प्रकृत में तीसरा 'विपक्षबाधक' यह है कि यदि अज्ञातकरणक होने पर भी बिना इन्द्रिय के साक्षात् उपयोग के भी ज्ञान उत्पन्न हो, तो यह भी मानना होगा कि 'रूपादि विषयक ज्ञान भी बिना इन्द्रिय रूप कारण के ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि चक्षु है अतीन्द्रिय, उसकी सत्ता अथवा कारणता रूपादि की उन्हीं उपलब्धियों से जानी जाती है, जो अज्ञातकरण-जन्य हैं, ज्ञातकरणक रूपादि की अनुमित्यादि रूप उपलब्धियों से नहीं। ('विस्फारिताक्ष' पुरुष को व्याप्ति प्रभृति के अनुसन्धान के बिना भी रूपादि की उपलब्धि होती है, आँख मुंदे हुए पुरुष को रूप की उपलब्धि नहीं होती है)। अतः यह कल्पना करनी पड़ती है कि रूपादि की जो व्याप्त्यादि ज्ञानों से निरपेक्ष उपलब्धि होती है, उसका कोई ऐसा कारण है जो अक्षसंस्थान में रहता है, एवं अतीन्द्रिय है। इस 'चक्षुरादिव्यवस्था' का अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय के अनुमान का मूल है अज्ञातकरणजन्यत्व, एवं साक्षात् इन्द्रियजन्यत्व इन दोनों का नियमित रूप से साथ रहने का 'असंकुचित नियम'। उस में यदि यह विपक्षबाधक

यद्यपि साक्षात्कारिताऽपि तत्रैव पर्यवस्यति, तथापि प्रथमतोऽनुपलभ्यमान-करणत्वमेव प्रयोजकं चक्षुरादिकल्पने।

रहे कि ज्ञान अज्ञात करणजन्य होने पर भी इन्द्रिय के साक्षात् उपयोग के बिना भी उत्पन्न हो सकता है, तो यह कहना भी संभव होगा कि रूपादि की उक्त उपलब्धि भी बिना इन्द्रिय के ही हो सकती है। इसके लिये अतीन्द्रिय चक्षु की कल्पना व्यर्थ हैं। इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों की सत्ता ही विपन्न हो जायगी। तस्मात् व्याप्ति प्रभृति के ज्ञानों के बिना भी उत्पन्न होने वाली रूपादि की इन उपलब्धियों में चूँकि बिना इन्द्रिय के ही उपपन्न होने का प्रसङ्ग (आपत्ति) उपस्थित हो जायगा, अतः इस नियम को स्वीकार करना आवश्यक है कि जितने भी ज्ञान अज्ञातकरणक है, वे सभी अवश्य ही साक्षात् इन्द्रिय से उत्पन्न होते हैं।

पू० प० यद्यपि साक्षात्कारितापि··· ··· ··· ···

साक्षात्करात्मक ज्ञान उन व्याप्ति प्रभृति करणों से भिन्न करणों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, जो (व्याप्त्यादिकरण) ज्ञात होकर ही अपने कार्य को उत्पन्न नहीं करते। इस प्रकार साक्षात्कारात्मक ज्ञान में सिद्ध अज्ञातकरणजन्यता से ही साक्षात्कारत्व के प्रयोजक जिस 'अज्ञातकरणजन्यत्व' का आक्षेप होता है, उसी से चक्षुरादि इन्द्रियों का आक्षेप (स्वरूप सिद्धि) होती है। अतः रूपादि की उपलब्धियों में साक्षात्कारत्व है। वही चक्षुरादि इन्द्रियों का ज्ञापक है, 'अज्ञातकरणजन्यत्व' से चक्षुरादि का आक्षेप नहीं होता। अतः प्रकृत में रूप की उक्त उपलब्धि को यदि 'ज्ञातकरण' जन्य मान भी लेते हैं, तथापि चक्षुरादि की कल्पना में कोई बाधा नहीं आती है। नियमतः ज्ञात होकर उपयोगी होने वाले व्याप्ति प्रभृति कारणों की जन्यता जब उक्त रूपोपलब्धि में ज्ञात हो जाती है, तभी जाकर व्याप्ति प्रभृति ज्ञात होकर उपयुक्त होनेवाले व्याप्त्यादि कारणों से भिन्न किसी कारण सामान्य का अनुमान होता है। इसके बाद यह बात उपस्थित होती है कि उक्त चक्षुरादि करण व्याप्ति प्रभृति करणों की तरह ज्ञात होकर ही उपयुक्त होती है? अथवा दण्डादि की तरह स्वतः उपयुक्त होतीं हैं? इसके बाद अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जब चक्षुरादि में स्वरूपतः कारणत्व का निश्चय हो जाता हैं, तब यह जानने की स्थिति आती है कि 'साक्षात्कारात्मक ज्ञान अज्ञात करणक हैं।' अतः यह कहना अयुक्त है कि रूपादि की उपलब्धि में जो अज्ञातकरण-जन्यता है, वही चक्षुरादि इन्द्रियों का ज्ञापक है।

सि० प० तथापि··· ··· ··· ···चक्षुरादि कल्पने।

'रूपादि की उपलब्धियाँ साक्षात्कारात्मक हैं' यह पहिले उनके अज्ञातकरणजन्यत्व से ही समझा जाता है। अन्यथा यह कैसे समझेंगे कि रूपादिकी उक्त उपलब्धियाँ

न ह्युपलभ्यमाने करणान्तरे साक्षात्कारिणीष्वपि तासु चक्षुराद्यनुपलभ्यमानं कश्चिदकल्पयिष्यत् ।

अत एव साक्षात्कारित्वेऽपि स्मृतेर्मन एव करणमुपागमन् धीराः । संस्कारस्त्वर्थविशेषप्रत्यासत्तावुपयुज्यते, इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वव्यवस्थापनात् ।

साक्षात्कारात्मक हैं' अतः यह मानना होगा कि रूपादि की उपलब्धियों में पहिले अज्ञातकरणजन्यत्व स्वरूप हेतु के द्वारा साक्षात्कारत्व की सिद्धि होती है। उसके बाद उस साक्षात्कारात्मक ज्ञान की 'अन्यथानुपपत्ति' से चक्षुरादि इन्द्रिय स्वरूप उनके अज्ञातकरणों का अनुमान होता है। अतः 'अज्ञातकरणत्व भी चक्षुरादि की सिद्धि का प्राथमिक हेतु अवश्य है। अन्यथा "साक्षात्कारात्मक उपलब्धि का करण ज्ञात होकर अपने कार्य का 'उत्पादन' करता है" यह निर्णय हो जाने पर उस प्रतीति के करण स्वरूप में ऐसे चक्षुरादि की कल्पना नहीं की जा सकेगी, जो अज्ञात होकर स्वतः ही उक्त उपलब्धि का संपादन करे।

अतएव··· ··· ··· ···धीराः ।

"अत एव" अर्थात् जिस लिये कि अज्ञातकरणजन्यत्व ही इन्द्रियजन्यत्व का प्रयोजक है, इसी लिये 'धीर' विद्वद्वृन्द स्मृति में साक्षात्कारत्व के न रहने पर भी मन स्वरूप इन्द्रिय को ही स्मृति का 'करण' मानते हैं। अर्थात् स्मृति यद्यपि साक्षात्कारात्मक नहीं है, तथापि पण्डितगण मन स्वरूप इन्द्रिय को स्मृति का करण कहते हैं। यह तभी हो सकता है जब कि अज्ञातकरणजन्यत्व को इन्द्रियजन्यत्व का प्रयोजक मानें। ऐसा स्वीकार करने पर ही यह कहना संभव होगा कि रूपादि की उपलब्धियों की तरह स्मृतियाँ भी चूँकि अज्ञातकरणजन्य हैं, अतः इन्द्रियजन्य भी अवश्य हैं। वह इन्द्रिय है 'मन'। अतः स्मृति का करण 'मन' है। यदि साक्षात्कारित्व को इन्द्रियजन्यत्व का प्रयोजक मानें तो फिर स्मृति में इन्द्रियजन्यत्व की कोई चर्चा ही नहीं उठ सकती, क्योंकि स्मृति साक्षात्कारात्मक नहीं है। फिर स्मृति में इन्द्रियजन्यत्वमूलक मन स्वरूप करणजन्यत्व की कोई बात ही नहीं उठेगी। इसके बाद तो मन में स्मृतिकरणत्व की बात स्वतः खण्डित हो जायगी। तस्मात् अज्ञातकरणजन्यत्व ही इन्द्रियजन्यत्व का प्रयोजक है, साक्षात्कारित्व इन्द्रियजन्यत्व का प्रयोजक नहीं है।

संस्कारस्तु··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में यह आपत्ति हो सकती है कि तो फिर स्मृति को साक्षात्कारात्मक ही क्यों नहीं मान लिया जाय ? क्योंकि इन्द्रिय जन्य ज्ञान तो साक्षात्कारात्मक होता ही है। स्मृति भी मन स्वरूप इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, फिर उसे साक्षात्कार स्वरूप मान लेने में

भावावेशाच्च चेतसः। सर्वत्र हि बाह्यार्थानुभवे जनयितव्ये भावभूतप्रमाणाविष्टमेव चेत उपयुज्यते, नातोऽन्यथेति व्याप्तिः।

कौन सी बाधा है? इस आक्षेप का यह समाधान है कि) केवल इन्द्रियजन्य होने से ही कोई ज्ञान साक्षात्कारात्मक नहीं होता। किन्तु जो ज्ञान इन्द्रिय के उस संनिकर्ष के द्वारा उत्पन्न हो, जिस संनिकर्ष में 'संस्कार' का प्रवेश न हो, वही इन्द्रियजन्य ज्ञान साक्षात्कारात्मक होता है। स्मृति के उत्पादन में मन का 'स्वजन्यसंस्कारवत्त्व' स्वरूप सम्बन्ध ही प्रयोजक है। मन का अन्य कोई उपयुक्त सम्बन्ध स्मृति के विषय के साथ संभव ही नहीं है। अतः स्मृति इन्द्रिय से उत्पन्न होने पर भी स्मृति साक्षात्कारात्मक नहीं है।[1]

भावावेशाच्च चेतसः ··· ··· ···

चेतस् अर्थात् मन का यह स्वभाव है कि वह बाह्य घटादि विषयों के अर्थ विषयक अनुभव का उत्पादन किसी भाव रूप प्रमाण के साथ सम्बद्ध होकर ही करे। 'अभाव' भी बाह्य पदार्थ ही है (क्योंकि आत्मा में रहने वाले ज्ञानादि आन्तर पदार्थों से वह भी भिन्न

---

१. उक्त 'धीर' पण्डितगण संस्कार को ही स्मृति का करण क्यों नहीं मान लेते? मन रूप इन्द्रिय को स्मृति का करण मान लेने से जो स्मृति में साक्षात्कारत्व की आपत्ति आती है, उसको हटाने के लिये इतना प्रयास क्यों करते हैं? इस आक्षेप का यह समाधान है कि न्यायसूत्रादि ग्रन्थों में यह वर्णित है कि इन्द्रियां 'प्राप्यकारी' हैं अर्थात् अर्थों के साथ सम्बद्ध होकर ही ज्ञान की उत्पादिका है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन से जो स्मृति की उत्पत्ति होगी, उसके लिए यह आवश्यक है कि स्मृति के विषय के साथ मन का 'सम्बन्ध' हो। उक्त विषय के साथ मन का 'स्वसम्बद्धवृत्ति संस्कार विषयत्व' रूप सम्बन्ध ही हो सकता है ('स्व' है मन, तत्सम्बद्ध है आत्मा, उसमें संस्कार है, इस संस्कार की विषयता स्मृति के विषय में है) इस सम्बन्ध के सम्पादक रूप में ही संस्कार का उपयोग स्मृति के उत्पादन में है। संस्कार केवल इसी लिये अपेक्षित होता है। अतः संस्कार स्मृति का करण नहीं है।

तथैव शक्तेरवधारणात् । न ह्यनुपलब्धिमात्रसहायं तदभावेऽप्यनुभवमाधातुमुत्सहते । शब्दलिंगादेरपेक्षादर्शनात् । न च यत्र यदपेक्षं यस्य जनकत्वमुपलब्धम्, तदेव तस्यैव तदनपेक्षं जनकमिति न्यायसहम्; आर्द्रेन्धनसंबन्धमन्तरेणापि दहनात् धूमसम्भावनापत्तेः । तथा च गतं कार्यकारणभावपरिग्रहव्यसनेन ॥ २० ॥

अपि च—

प्रतिनोगिनि सामर्थ्याद्व्यापाराव्यवधानतः ॥
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥ २१ ॥

है) अतः मन अभाव विषयक अनुभव का उत्पादन भी किसी भाव रूप प्रमाण के साथ सम्बद्ध होकर ही कर सकता है । अभावों के साथ शाब्द तथा अनुमिति रूप अनुभवों में मन का यह 'भावावेश' (अर्थात् किसी भाव प्रमाण के साथ मिलकर ही अभाव विषय को ज्ञान के उत्पादन की क्षमता) को सभी स्वीकार करते हैं । अतः मन शाब्दादि अनुभवों से भिन्न 'घटाभाववद्भूतलम्' इस आकार के अभावानुभव को भी अनुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण के साथ सम्बद्ध होकर उत्पन्न नहीं कर सकता । क्योंकि यहाँ भी उसका उक्त 'भावावेश' रूप स्वभाव का व्यतिक्रम संभव नहीं है । जिस लिये कि 'जिस वस्तु में रहने वाली कारणता जिस वस्तु के सहाय्य की अपेक्षा रखती है, उस वस्तु की सहाय्य की अपेक्षा को छोड़कर वह कारण अपने कार्य का संपादन करे' यह अनुभव के विरुद्ध है । मन में अभाव के ज्ञान की कारणता भावरूप प्रमाण के साथ सम्बन्ध सापेक्ष होकर ही गृहीत है । अभाव के कुछ (अनुमिति शाब्दादि) अनुभव तो भावाविष्ट (भावावेश से युक्त) मन के द्वारा हो, एवं अभाव के कुछ अन्य अनुभव अनुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण से आविष्ट मन के द्वारा हो-यह 'अर्द्धजरती' नहीं स्वीकार की जा सकती । यदि ऐसा हो तो आर्द्रेन्धन से संयुक्त वह्नि में ही धूम की कारणता के गृहीत रहने पर भी, उक्त संयोग से रहित वह्नि से भी धूम की उत्पत्ति की आपत्ति होगी । जिससे किसी भी कार्यकारणभाव को स्वीकार करना ही व्यर्थ हो जायेगा ॥ २० ॥

सि० प० अपि[1] च प्रयियोगिनि सामर्थ्यात् ... ...

(१) 'प्रतियोगिनि सामार्थ्यात्' इस प्रथम हेतुवाक्य से यह प्रतिपादन अभीष्ट है कि घटाभाववद्भूतलम् इत्यादि अभाव प्रतीतियों का करण भी इन्द्रियाँ ही हैं । क्योंकि इन्द्रियाँ घटादि के अभाव के प्रतियोगी घटादि की उपलब्धि की करण हैं । जो जिसके अनुभव का करण होता है, वह उसके अभाव के अनुभव का भी करण होता है । यह व्याप्ति शब्द

---

1. इन्द्रिय में अभाव के अनुभव की करणता के साधक एवं अनुपलब्धि के स्वतन्त्रप्रामाण्य के प्रतिक्षेपक अन्य चार हेतु भी आचार्य ने दिखलाये हैं ।

प्रमाण रूप करण एवं अनुमान प्रमाण रूप करण में सिद्ध है। तस्मात् इन्द्रियाँ भी अभावोपलब्धि की करण हैं। अनुमिति एवं शाब्द से भिन्न अभाव के अनुभव के लिये 'अनुपलब्धि' स्वरूप स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

(१)व्यापाराव्यवधानतः' ... ...

सभी 'करण' व्यापार के द्वारा ही कार्यों का उत्पादन करते हैं। अथवा यह कहिये कि व्यापार के द्वारा कार्य सम्पादन करना ही 'करण' का स्वरूप है। अनुमिति का करण व्याप्ति ज्ञान भी परामर्श के द्वारा ही अनुमिति का, शाब्दबोध का करण भी पदार्थोपस्थिति रूप व्यापार के द्वारा ही शाब्दबोध का उत्पादन करता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी घटादि प्रत्यक्ष का उत्पादन घटादिगत स्वकीय संयोग रूप व्यापार के द्वारा ही करती हैं, अतः करण में जो कार्य का अव्यवहित पूर्वत्व है, उसमें व्यापारातिरिक्तत्वेन संकोच करना पड़ेगा। अर्थात् करण का यही लक्षण करना होगा कि व्यापार से भिन्न वस्तुओं से अव्यवहित नियतपूर्ववर्ती ही कारण है,। इन्द्रिय में जो अभावोपलधि की 'करणता' है, उसका व्यापार अधिकरणज्ञान ही है। अधिकरणज्ञान स्वरूप व्यापार से व्यवहित होने पर भी इन्द्रिय में अभावोपलब्धि को करणता में कोई बाधा नहीं है।

अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणाम् ... ...

करण में रहने वाले दोष से ही विपर्यय (निश्चयात्मक भ्रम) की उत्पत्ति होती है। चक्षु में कमलादि रोगों के उत्पन्न होने पर ही पाण्डुर रङ्ग के शङ्ख में पीतिमा की भ्रान्ति होती है। जो करण स्वगत दोष के द्वारा जिस विषय के विपर्यय को उत्पन्न करेगा, वही

---

१. मीमांसकों का कहना कि 'घटाभाववद्भूतलम्' इस ज्ञान का विशेष्य जो भूतल, उसी का ज्ञान इन्द्रिय से होता है। उस ज्ञान में प्रकार जो घटाभाव-उसका ज्ञान इन्द्रिय से नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रिय 'अन्यत्र' अर्थात् उससे भिन्न भूतल में चरितार्थ है। अतः घटाभाव के ज्ञान के लिए 'अनुपलब्धि, नाम के प्रमाण की आवश्यकता है। इसी का उत्तर इन हेतुवाक्यों के द्वारा आचार्य ने दिया है।

इस श्लोक का 'इन्द्रियाणि' पद पक्ष का बोधक है। उसके बाद 'अभावोपलब्धिकरणम्' साध्यबोधक इस वाक्य का अध्याहार करना चाहिये। अवशिष्ट पञ्चम्यन्त तीनों ही वाक्य एवं पञ्चमी का प्रतिरूपक तसिल् प्रत्यान्त 'व्यापाराव्यवधानतः' यह वाक्य, ये चारो ही हेतुबोधक वाक्य हैं। इससे निम्नलिखित न्यायवाक्य निष्पन्न होते हैं। (१) 'इन्द्रियाणि अभावोपलब्धिकरणानि प्रतियोगिनि सामर्थ्यात् (२) व्यापाराव्यवधानात् (३) दोषाणामक्षाश्रयत्वात् (४) विकल्पनात्।

यद्धि प्रमाणं यद्भावावगाहि, तत् तदभावावगाहि, यथा लिंगं शब्दो वा। घटाद्यवगाहि चेन्द्रियमिति। अन्यथा हि शब्दादिकमपि नाऽभावमावेदयेत् भाव एव सामर्थ्यावधारणात्।

न चैवमेव न्याय्यम्। 'देवदत्तो गेहे नास्ती' ति शब्दात्, मया तत्र जिज्ञास-मानेनापि न दृष्टो मैत्र इत्यवगतानुपलब्ध्याऽनुमानादप्यवगतेः।

'करण' उस विषय के प्रमाज्ञान को भी उत्पन्न करेगा, भूतल में घट के रहने पर भी चक्षु में रहने वाले दौर्बल्यादि दोषों से घटाभाव का विपर्यय रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः भूतल में घट के न रहने पर जो घटाभाव का प्रमात्मक ज्ञान होता है, उसका भी करण चक्षु (इन्द्रिय) ही है।

(४) विकल्पनानात् ... ... —

'घटाभाव वद्भूतलम्' यह विशिष्टबुद्धि रूप 'विकल्प' सर्वसिद्ध है। इस प्रतीति में इन्द्रिय के उपयोग को सभी स्वीकार करते हैं। यदि इस 'विकल्प' (विशिष्टज्ञान) के 'विशेष्य' भूतल में चरितार्थ होने के कारण चक्षु अभाव ज्ञान का उत्पादन नही कर सकता, फलतः अभाव की विशिष्ट बुद्धि का संपादन नहीं कर सकता। तो यह भी कहा जा सकता है कि 'अनुपलब्धि' चूँकि उक्त अभावज्ञान के प्रकारी भूत 'घटाभाव' के ज्ञान का ही सम्पादक है, अतः उससे उस विशिष्टबुद्धि का उत्पादन नहीं हो सकता, जिसमें कि अनुपलब्धि से अज्ञाप्य भूतल विशेष्य है। अर्थात् उक्त विशिष्टबुद्धि में कारणीभुत के ज्ञान का उत्पादक है 'अनुपलब्धि' एवं उसी विशेषणविशिष्टबुद्धि रूप कार्य का संपादक इन दोनों में से कोई भी नहीं है। क्योंकि दोनों ही अन्यत्र चरितार्थं हैं। इस विशिष्ट बुद्धि के लिए मीमांसकों को अनुपलब्धि से भिन्न ही कोई सातवां प्रमाण मानना होगा।

किन्तु ऐसा वे भी नहीं मानते। किन्तु विशेषणज्ञान जनक अनुपलब्धि प्रमाण से ही उक्त विशिष्टबुद्धि की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसी स्थिति में यदि केवल विशेष्यज्ञान के जनक इन्द्रिय रूप प्रमाण से ही हम (नैयायिकगण) विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति मान लेते हैं, तो इसके लिये इतनी व्यग्रता क्यों? जब कि 'अन्यत्र' उपक्षीण (चरितार्थ) अनुपलब्धि प्रमाण से वे भी विशिष्टबुद्धि को स्वीकार करते हैं, तो हम भी अगर 'अन्यत्र' उपक्षीण ही इन्द्रिय से अभाव की विशिष्टबुद्धि रूप 'विकल्पन' को स्वीकार कर लें तो कम से कम लाघव तो होगा ही। क्योंकि 'घटवद्भूतलम्' इस प्रतीति के उत्पादन के लिये प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) में स्वतन्त्रप्रामाण्य मीमांसकों को भी मानना ही है। तस्मात् 'घटाभावद्भूतलम्' इत्यादि आकार की विशिष्ट प्रतीति रूप 'विकल्पन' चूँकि अवश्य है, अतः इन्द्रिय भी अभाव का ज्ञापक 'करण' (ज्ञापकप्रमाण) अवश्य है।

यद्धि ... ... अवगतेः। (प्रथमचरण की व्याख्या)

जो प्रमाण जिस भाव पदार्थ को समझाता है, वही प्रमाण उसके अभाव को भी समझा सकता है। जैसे कि शब्द प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण। इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण

ग्राहयतु वा ऽऽश्रयमिन्द्रियम् । तथापि न तेनेदं व्यवधीयते व्यापारत्वात् । अन्यथा सर्वसविकल्पकानां प्रत्यक्षत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात् ।

भी घटादि भाव पदार्थों को अवगत कराता है, अतः वह घटादि के अभावों का भी ज्ञापन कर सकता है । यदि यह नियम न रहे कि 'जो प्रमाण जिस भाव पदार्थ का ग्राहक हो, उससे उस पदार्थ के अभाव का भी बोध हो' तो शब्द प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण से भी अभाव का ग्रहण नहीं हो सकेगा । अनुमानादि में भी तो पहिले भावपदार्थों के ग्रहण की सामर्थ्य ही उपलब्ध होती है । उसके बाद ही अभाव के ग्राहक उक्त नियम के अनुसार अनुमानादि में अभावग्रहण की सामर्थ्य उपलब्ध होती है । यदि यही 'न्याय्य' मानें कि शब्द अथवा अनुमान से भी केवल भावपदार्थों का ही ग्रहण हो तो 'देवदत्तो गेहे नास्ति' इस शब्द के द्वारा गृह विशेष्यक देवदत्ताभाव की शाब्द प्रतीति, एवं "मैंने वहाँ पूछने पर भी 'मैत्र' को कहीं नहीं देखा' इस प्रकार की ज्ञात अनुपलब्धि के द्वारा उत्पन्न 'उस समय वहाँ मैत्र नहीं थे' इस प्रकार का सार्वजनीन अनुमान स्वरूप प्रतीति, ये दोनों अनुपपन्न हो जायगी । अतः जिस इन्द्रिय से भाव का ग्रहण होता है, उस से अभाव का भी ग्रहण अवश्य होगा ।

(२) ग्राहयतु वा ··· ··· ··· ··· जलाञ्जलिः स्यात् (द्वितीयचरण की व्याख्या)

इन्द्रिय घटाभाव के आश्रय भूतल का ज्ञापन भले ही कर ले, इससे इन्द्रिय में 'घटाभाववद्भूतलम्' इस बुद्धि के अव्यवहित पूर्व रहने में इसलिये भले ही व्याघात हो जाय कि मध्य में अधिकरण का ज्ञान है । तथापि इन्द्रिय में अभाव की विशिष्टबुद्धि की कारणता में कोई अन्तर नहीं आता है । क्योंकि कोई भी 'करण' मध्यवर्त्ती व्यापार के अवश्य रहने से कार्य का व्यवहितपूर्ववर्त्ती नहीं हो जाता । अतः 'करण' में रहनेवाला जो कारणत्व का लक्षण है, उसमें निविष्ट अव्यवहितपूर्वत्व घटक 'व्यवहितत्व' व्यापार से भिन्न वस्तुओं का व्यवहितत्व ही समझना चाहिये । अधिकरण का ज्ञान अभाव की उक्त विशिष्टबुद्धि का व्यापार ही है । अतः उससे व्यवहित होने पर भी इन्द्रिय में अभाव की विशिष्टबुद्धि के अव्यवहितपूर्वत्व में कोई बाधा नहीं आती है । यदि ऐसा न मानें (अर्थात् व्यापार की व्यवधानता को भी करणत्व का विघटक मानें) तो जितने भी सविकल्पक ज्ञान हैं, उनमें से किसी को भी 'प्रत्यक्ष' नहीं कहा जा सकेगा । क्योंकि घटादि में चक्षुः पात के बाद 'घट घटत्वे' इस आकार का जो परस्पर विशेष्य विशेषणभाव शून्य ज्ञान होता है—जिसे निर्विकल्पक कहते हैं—उसके बाद ही सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है । यह सविकल्पक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' नहीं कहला सकेगा । क्योंकि वही ज्ञान 'प्रत्यक्ष प्रमिति' शब्द से व्यवहृत होता है, जो इन्द्रिय से उत्पन्न हो । किन्तु इन्द्रिय एवं सविकल्पकज्ञान के मध्य में तो निर्विकल्पक ज्ञान बैठा है । अतः अव्यवहित पूर्ववर्त्ती न होने के कारण इन्द्रियाँ जब सविकल्पकज्ञान का कारण ही नहीं है, तो फिर उसका

नन्वेवं सति धूमोपलम्भोऽप्यस्य व्यापारः स्यात्। तथा च गतमनुमानेनापीति चेन्न। यया क्रियया विना यस्य यत्कारणत्वं न निर्वहति, तं प्रति तस्या एव व्यापारत्वात्। न च धूमाद्युपलब्धिमन्तरेण चक्षुषो वह्निज्ञानकारणत्वं न निर्वहति, संयोगवदिति।

'करण' होना तो दूर की बात है। अतः यही कहना होगा कि व्यापार की व्यवधानता (बीच में रहना) करणत्व के लिये कोई बाधक नहीं है। निर्विकल्पकज्ञान चूँ कि सविकल्पकज्ञान के उत्पादन में व्यापार रूप है, अतः उसका व्यवधान इन्द्रिय में सविकल्पकज्ञान की करणता का विघटक नहीं हो सकता। अतः इन्द्रिय में सविकल्पक ज्ञान की करणता की अनुपपत्ति से 'करणता' की अनुपपत्ति नहीं होती। अतः व्यापार के बीच में रह जाने से 'करण' होने में बाधा नहीं आती है।[1]

पू० प० नन्वेवं सति ··· ··· — — अनुमानेनापीति चेत्

इन्द्रिय यदि स्वजनित एक ज्ञान रूप व्यापार के द्वारा दूसरे ज्ञान का 'करण' हो, तो पर्वत में जो धूम का दर्शन होता है, वह भी पर्वत में वह्निज्ञान का व्यापार हो सकता है। अतः पर्वत धर्मिक वह्नि का यह ज्ञान भी इन्द्रियकरणक होगा। जिस प्रमिति का करण इन्द्रिय हो, वही प्रमिति प्रत्यक्ष कहलाती है। अतः धूम दर्शन जनित 'पर्वतो वह्निमान' इस आकार के जिस प्रमिति को आप अनुमिति कहते हैं, वह भी प्रत्यक्ष ही कहलायेगी। इस प्रकार सभी अनुमितियों में साक्षात् या परम्परा किसी न किसी प्रकार इन्द्रिय का उपयोग अवश्य है। अतः सभी अनुमितियाँ प्रत्यक्ष हो जायगी। अनुमान का स्वतन्त्र प्रामाण्य ही विनष्ट हो जायगा। अतः अधिकरण ज्ञान को मध्यवर्त्ती व्यापार मानकर इन्द्रिय से अभाव की विशिष्टबुद्धि नहीं हो सकती।

सि० प० न, यया क्रियया ··· ··· ··· ···

जिस क्रिया के द्वारा जिस कारण में जिस कार्य का कारणत्व ही उपपन्न न हो सके, वही क्रिया उस कारण का उस कार्य का उत्पादक 'व्यापार' है। संयोग रूप क्रिया

1. यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि इन्द्रिय रूप करण के द्वारा उत्पन्न होने से ही कोई प्रमिति 'प्रत्यक्ष' कहलाती है। व्यापार से युक्त असाधारण कारण ही 'करण' है। (१) सविकल्पक (२) एवं निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष प्रमिति दो प्रकार की है। यद्यपि दोनों के ही करण इन्द्रिय हैं, फिर भी दोनों के उत्पादन में इन्द्रिय के व्यापार भिन्न भिन्न हैं। निर्विकल्पकज्ञान के लिये विषय एवं इन्द्रिय का संनिकर्ष ही 'व्यापार' है। एवं सविकल्पकज्ञान के उत्पादन में उक्त निर्विकल्पकज्ञान ही व्यापार है। अतः आगे के 'चक्षुषि वह्निज्ञानकारणत्वम्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'ज्ञान' पद से 'निर्विकल्पक' ज्ञान ही समझना चाहिये।

अस्ति च भावाभावविपर्ययः । सोऽयं यस्य दोषमनुविधत्ते, तदेवात्र करणमिति न्याय्यम् । न चानुपलब्धिः स्वभावतो दुष्टा, नाप्यधिकरणग्रहणं प्रतियोगिस्मरणं वा स्वभावतो दुष्टम् । अनुत्पत्तिदशायामनुत्पत्तेरुत्पत्तिदशायाञ्च स्वार्थप्रकाशनस्वभावताया अपरावृत्तेः ।

(धात्वर्थ) के बिना इन्द्रिय में निर्विकल्पक ज्ञान की कारणता अनुपपन्न है, अतः निर्विकल्पक ज्ञान के उत्पादन में विषयनिष्ठ इन्द्रिय का संयोग इन्द्रिय का व्यापार है । किन्तु आगे रखी हुई आग का चक्षु से जो ज्ञान होता है, उसमे चक्षु को धूमदर्शन रूप क्रिया की अपेक्षा नहीं होती है । जैसे कि उक्त स्थल में चक्षु की कारणता वह्नि के साथ अपने संयोग की अपेक्षा रखता है । अतः चक्षु में जो वह्नि प्रत्यक्ष की कारणता है, उसका निर्वाहक व्यापार उक्त धूमदर्शन रूप क्रिया नहीं है । पर्वत में जो वह्नि का ज्ञान होता है, उसकी कारणता ही जब चक्षु में नहीं है, तो फिर आगे उसके व्यापार की चर्चा निरर्थक है ।

अस्ति च ··· ··· ··· ··· (श्लोक के तीसरे चरण की व्याख्या)

जिस प्रकार भावविषयक विपर्यय होता है, उसी प्रकार अभाव विषयक विपर्यय का होना भी सर्वसिद्ध है । यह स्वभावसिद्ध है कि जिस वस्तु में रहनेवाले 'दोष' से विपर्यय होगा, उसी वस्तु से तद्विषयक प्रमाज्ञान भी होगा । चक्षु के दोष से शंख में पीतिमा का विपर्यय होता है, अतः हरिद्रा में जो पीतिमा का प्रमात्मक ज्ञान होगा, उसका भी कारण उक्त दोष का आश्रय चक्षु ही होगा । अभाव का भी विपर्ययात्मक ज्ञान होता है । कथित नियम के अनुसार जिसमें रहनेवाले दोष से अभाव का उक्त विपर्ययात्मक ज्ञान होगा, वही अभाव विषयक प्रमात्मक ज्ञान का कारण होगा । अभाव के विपर्यय में चक्षु भी कारण है । चक्षु के अतिरिक्त अभाव के विपर्यय में अधिकरण का ज्ञान, प्रतियोगी का स्मरण, एवं प्रतियोगी की अनुपलब्धि ये सभी भी अपेक्षित होते है । अतः चक्षु, अधिकरण ज्ञान, प्रतियोगिस्मरण एवं अनुपलब्धि इन चारों में से ही किसी में रहनेवाले दोष से अभाव का विपर्यय होगा । जिस में रहनेवाले दोष से अभाव का विपर्यय होगा, वही अभाव की विशिष्टबुद्धि रूप प्रमा का 'करण' होगा ।

न चानुपलब्धिः ··· ··· ··· ···

इन चारों में से 'अनुपलब्धि' चूँकि अभाव स्वरूप है, अतः उसमें दोष की कोई सम्भावना नहीं है । अतः अनुपलब्धि के दोष से अभाव का विपर्यायात्मक ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये अभाव की प्रमा अनुपलब्धि से नहीं हो सकती । अधिकरणग्रह एवं प्रतियोगि-स्मरण ये दोनों ही (ज्ञान स्वरूप होने के कारण) चूँकि 'प्रकाश' स्वरूप हैं, अतः इन दोनों की जब उत्पत्ति हो जायगी, तब भी वे दोनों ही अपने 'प्रकाश' रूप स्वभाव का अति-

असंसृष्टयोरधिकरणप्रतियोगिनोः संसृष्टतया प्रतिभानं दुष्टम्, संसृष्टयोश्चासंसृष्टतयेति चेत्; नन्वयमेव विपर्ययः, तथाच आत्माश्रयो दोषः ।

तस्मात् दुष्टेन्द्रियस्य तद्विपर्ययसामर्थ्ये अदुष्टस्य तत्समीचीनज्ञानसामर्थ्यमपि । तथा च प्रयोगः इन्द्रियमभावप्रमाकरणम्, तद्विपर्ययकरणत्वात् । यत् यद्विपर्ययकरणं तत् तत्प्रमाकरणम्, यथा रूपप्रमाकरणम् चक्षुरिति ।

क्रमण नहीं कर सकते । अतः उत्पत्ति की दशा में चूँकि इन दोनों में किसी भी दोष की सम्भावना नहीं है, अतः अधिकरणग्रहण एवं प्रतियोगिस्मरण इन दोनों में से किसी में भी रहनेवाले दोष से अभाव का विपर्यय नहीं हो सकता । जिस समय अधिकरणग्रहण एवं प्रतियोगिस्मरण ये दोनों अनुत्पन्न रहते हैं, उस समय अभाव के किसी भी ज्ञान की तो सम्भावना ही नहीं है । अतः उस समय अभावज्ञान की जब कारणता ही उन दोनों में सम्भव नहीं है, तो फिर उनमें रहनेवाले दोषों से अभाव के विपर्यय की कोई बात ही नहीं उठती । तस्मात् अधिकरण ग्रहण एवं प्रतियोगिस्मरण इन दोनों में से किसी में भी रहनेवाले किसी दोष से अभाव का विपर्यय नहीं हो सकता । इसीलिये प्रतियोगिस्मरण एवं अधिकरणग्रहण इन दोनों में से किसी के दोष से अभाव का प्रमात्मकज्ञान नहीं हो सकता ।

अब केवल इन्द्रिय ही अवशिष्ट है, जिसमें रहनेवाले दोष से अभाव का विपर्यय हो सकता है । अतः इन्द्रिय में रहनेवाले दोष से ही अभाव का विपर्यय होता है । इसलिये अभाव के प्रमात्मकज्ञान का करण भी इन्द्रिय ही हैं ।

पू० प० असंसृष्टयोः ··· ··· ··· ···

जिस अधिकरण में जिस अभाव का विपर्यय होगा, उस अधिकरण में उस अभाव का प्रतियोगी अवश्य रहेगा । अतः उस प्रतियोगी का सम्बन्ध भी उस अधिकरण में अवश्य रहेगा । किन्तु उस अधिकरण में उस प्रतियोगी के सम्बन्ध का ज्ञान जब नहीं रहेगा, तभी उस प्रतियोगी के अभाव का विपर्यय उस अधिकरण में होगा । अतः तद्धर्मिक अभाव के विपर्यय से पहिले इस प्रतियोगी के असम्बद्ध रूप से उस अधिकरण का ज्ञान आवश्यक है । किन्तु यह ज्ञान भी भ्रान्ति रूप ही होगा । इस ज्ञान का यह 'भ्रमत्व' ही वह 'दोष' है जिससे अभाव का विपर्यय होगा । इसी दोष से, अथवा अधिकरण सम्बद्धत्व रूप से प्रतियोगी के स्मरण रूप दोष से ही अभाव का विपर्यय होगा । एवं अधिकरण में असम्बद्धत्व रूप से आधेय के ज्ञान में रहनेवाले भ्रमत्व रूप दोष से अथवा आधेय से असम्बद्धत्व रूप से अधिकरण के ज्ञान में रहनेवाले भ्रमत्व रूप दोष से ही अभाव का विपर्यय होगा । अतः अधिकरण का ग्रहण अथवा प्रतियोगी का स्मरण ही अभाव के प्रमात्मकज्ञान का कारण है । क्योंकि उन्हीं दोनों में रहनेवाले किसी के भ्रमत्व दोष से अभाव का विपर्यय होता है ।

सि० प० नन्वयमेव ··· ··· ··· ···

जिस अधिकरण में जो वस्तु है, उस अधिकरण धर्मिक उस वस्तु के अभाव का ज्ञान ही उस अभाव का विपर्यय है । यह विपर्यय वस्तुतः प्रतियोगी से 'असंसृष्ट' अधिकरण का ग्राहक है

विकल्पनात् खल्वपि। 'अघटं भूतलम्' इति हि विशिष्टधीरवश्यमिन्द्रिय-करणिका स्वीकर्तव्या, प्रमाणान्तरं वा सप्तममास्थेयम्। यथा हि विशेष्यमात्रो-पक्षीणमिन्द्रियमकरणमत्र, तथा विशेषणमात्रोपक्षीणा अनुपलब्धिरपि न करणं स्यात्। स्वस्वविषयमात्रप्रवृत्तयोः प्रमाणयोः समाहारः कारणमिति चेन्न।

असंसृष्ट रूप से भान भ्रान्ति स्वरूप ही है। अतः तज्जन्य अभाव की भ्रान्ति को 'तज्जन्य' कहना फलतः 'स्व' को 'स्वजन्य' ही कहना है। स्व में स्वजन्यत्व है 'आत्माश्रय' दोष। सो इस पक्ष में अनिवार्य है। अतः अधिकरण का ग्रहण अथवा प्रतियोगी का स्मरण इन दोनों में से किसी में रहनेवाले किसी दोष से विपर्यय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः केवल 'इन्द्रिय' ही एक अवशिष्ट रहता है, जिसमें रहनेवाले दोष से अभाव का विपर्यय हो सकता है। अतः 'इन्द्रिय' ही अभाव के प्रमात्मकज्ञान का भी करण है। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार रूप के विपर्यय का जनक चक्षु ही रूपप्रमा का करण होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय ही अभाव प्रमा का करण है, क्योंकि जो जिसके विपर्ययात्मक ज्ञान का करण होता है, वही उसके प्रमाज्ञान का भी करण होता है। सुतराम् अनुपलब्धि अभावप्रमा की करण नहीं है, इसलिये अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

विकल्पनात् खलु ··· — ··· (चतुर्थचरण की व्याख्या

'घटाभाववद्भूतलम्' इस विशिष्टबुद्धि का करण इन्द्रिय को ही मानना होगा, ऐसा न मानने पर मीमांसकों को (अनुपलब्धि से भिन्न) एक सातवां प्रमाण और मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार विशिष्ट से 'अन्यत्र' विशेष्य ज्ञान में (अधिकरण ज्ञान में) चरितार्थ होने के कारण 'इन्द्रिय' में उक्त विशिष्टबुद्धि की कारणता निरस्त होगी, उसी प्रकार 'विशिष्ट' से अन्यत्र केवल अभाव रूप विशेषणज्ञान में ही चरितार्थ होने के कारण अनुपलब्धि में भी अभाव की उक्त विशिष्टबुद्धि की कारणता निरस्त जायगी (देखिये इस श्लोक का विवरण)

पू० प० स्वस्वविषय ··· ··· ··· ··· कारणमिति

सप्तम प्रमाण न मानने पर भी एवं इन्द्रिय को अभाव प्रमा का करण न मानने पर भी 'अघटं भूतलम्' इस आकार की विशिष्टबुद्धि की उपपत्ति हो सकती है। क्योंकि उक्त विशिष्टबुद्धि के दो विषय हैं एक भूतल, दूसरा घटाभाव। इनमें भूतल का ग्राहक है इन्द्रिय, एवं घटाभाव का ग्राहक है अनुपलब्धि। इन दोनों ग्राहकों के समाहार (एकत्रीकरण) से भूतल एवं घटाभावविषयक प्रतीति होगी। अतः केवल अपने-अपने विषय में प्रवृत्त उक्त दोनों करणों के समाहार ही उक्त विशिष्टबुद्धि का करण है।

विषयभेदे फलवैजात्ये च तदनुपपत्तेः। न हि मृत्सु तन्तुषु च व्याप्रियमाणयोः कुलालकुविन्दयोः समाहारः स्यात्। नापि घटपटादिकारिणां चक्रवेमादीनां समाहारः कचिदुपयुज्यते।

तत्र कर्बुरकार्याभावान्न तथा, प्रकृते तु विशिष्टप्रत्ययस्य परोक्षापरोक्षरूपस्य दर्शनात्तथेति चेत् ? विरुद्धजातिसमावेशाभावात्।

सि० प० न, विषयभेदे ··· ··· ··· ···

उक्त उपपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि मीमांसकों मत से इन्द्रिय से भावविषयकज्ञान ही होता है, एवं वह 'साक्षात्कारात्मक' ही होता है। एवं अनुपलब्धि से केवल अभाव का ही ज्ञान होता है, एवं वह ज्ञान 'परोक्षात्मक' ही होता है। इस प्रकार इन्द्रिय एवं अनुपलब्धि इन दोनों के फल के विषय एवं जातियाँ भिन्न हैं। दण्ड एवं कपाल का समाहार घटत्व रूप एक ही जाति के कार्यों का उत्पादन करता है। ऐसा नहीं होता कि मिट्टी में व्यापृत कुम्हार एवं तन्तु में व्यापृत जुलाहे के समाहार से घट और पट से भिन्न किसी 'विशेष' कार्य की उत्पत्ति हो। एवं घट के कारण चक्रादि एवं पट के कारण तुरीवेमादि इन सबों के समाहार से भी किसी विचित्र कार्य का उत्पत्ति नहीं होती है। तस्मात् इन्द्रिय एवं अनुपलब्धि इन दोनों के समाहार से भी 'अघटं भूतलम्' इस आकार की विशिष्टबुद्धि की उत्पत्ति नहीं हो सकता।

पू० प० तत्र कर्बुर ··· ··· ··· ···

घट एवं पट इन दोनों में से प्रत्येक कार्य 'कर्बुर' अर्थात् दोनों से भिन्न किसी विचित्र जाति का नहीं है। अतः कुम्हार एवं जुलाहे के समाहार से अथवा चक्रवेमादि के समाहार से किसी कर्बुर जाति के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उन समाहारों में से कोई भी समाहार विचित्र जाति के कार्य का जनक नहीं है। प्रकृत में 'अघटं भूतलम्' इस आकार का विशिष्टबुद्धि रूप कार्य 'परोक्ष' एवं 'अपरोक्ष' एतदुभयात्मक है। अर्थात् एक ही ज्ञानव्यक्ति परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप विभिन्नजातीय होने के कारण 'कर्बुर' (विचित्र) रूप है। अतः इन्द्रिय एवं अनुपलब्धि इन दोनों के समाहार की अपेक्षा उसके लिये होती है। घट एवं पट का प्रतिदृष्टान्त देना यहाँ उचित नहीं है।

सि० प० विरुद्धजाति ··· ··· ···

परस्पर विरुद्ध दो जतियों से युक्त किसी एक कार्य की सत्ता को मानना ही अप्रामाणिक है। जैसे कि कोई कार्य व्यक्ति जलत्व एवं क्षितित्व इन दोनों जातियों से युक्त

भावे वा करम्बित एव कार्ये द्वयोरपि शक्तिरभ्युपगन्तव्या, दर्शनबलात्। न हि नियतविषयेण सामर्थ्येन कर्बुरकार्यसिद्धिः ; अन्यथापि तथाप्रसङ्गात्। ननूभयोरप्युभयत्र सामर्थ्ये कोऽर्थो मिथः सन्निधानेनेति चेन्न। तत्सहितस्यैव तस्य तत्र सामर्थ्यादिति।

नहीं हो सकता, उसी प्रकार 'अघटं भूतलम्' यह विशिष्ट प्रतीति रूप कार्य परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व इन दोनों जातियों से युक्त नहीं हो सकता। यदि विरुद्ध जाति के दो विषयों के किसी एक ज्ञान व्यक्ति की उत्पत्ति में उन विषयों में से प्रत्येक के ज्ञापक विभिन्न प्रमाणों का उपयोग होता है तो प्रकृत में 'अघटं भूतलम्' इस विशिष्ट प्रतीति रूप एक ही कार्य व्यक्ति में प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धि इन दोनों का उपयोग मानना होगा। इसमें यह विभाग नहीं हो सकता कि उक्त विशिष्ट प्रतीति के भूतलांश का ज्ञापक प्रत्यक्ष है, एवं घटाभाव रूप अंश की ज्ञापिका अनुपलब्धि है। यही मानना होगा कि प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धि इन दोनों के संमिलन से 'अघटं भूतलम्' इस आकार के परोक्षापरोक्षात्मक 'कर्बुर' विचित्र एक ही कार्य की उत्पत्ति होती है। 'कर्बुर' जाति के सभी कार्यों में यही स्थिति देखी जाती है। अतः केवल भाव के 'अपरोक्ष' ज्ञान में समर्थ इन्द्रिय, एवं केवल अभाव विषयक 'परोक्ष' ज्ञान में समर्थ अनुपलब्धि इन दोनों के समाहार से 'परोक्षापरोक्षात्मक अघटं भूतलम्' इस आकार की एक विशिष्ट बुद्धि रूप 'कर्बुर' कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा स्वीकार करेंगें तो 'अन्यत्र' भी ऐसे कर्बुर कार्यों की उत्पत्ति माननी होगी (अर्थात् जहाँ घट के उत्पादक कपालादि के साथ साथ पट के उत्पादक तन्तु आदि भी है, वहाँ घट एवं पट रूप विभिन्न जाति के कार्य की उत्पत्ति न होकर 'घटपटात्मक' एक विलक्षण कार्य की उत्पत्ति माननी होगी)। अतः उक्त समाधान भी ठीक नहीं है।

पू० प० ननूभयोरपि ··· ··· ···

अनुपलब्धि एवं प्रत्यक्ष इन दोनों में से प्रत्येक में अपने अपने विषय घटाभाव एवं भूतल इन दोनों विषयों के ज्ञापन की क्षमता है ही, तो फिर इन्द्रिय एवं अनुपलब्धि इन दोनों के 'साहित्य को 'अघटं भूतलम्' इस विशिष्टबुद्धि का प्रयोजक मानने से क्या लाभ ?

सि० प० तत्सहितस्तैव ··· ··· ···

अनुपलब्धि 'सहित' इन्द्रिय में ही चूँकि उक्त विशिष्ट बुद्धि के उत्पादन की सामर्थ्य है, केवल इन्द्रिय में नहीं। इसी लिये उक्त 'साहित्य' को उक्त विशिष्ट बुद्धि का प्रयोजक मानना पड़ता है। सामर्थ्य की कल्पना तो अन्वय और व्यतिरेक से ही होती है, इस पर कोई 'पर्यनुयोग' अर्थात् अभियोग नहीं किया जा सकता कि ऐसा क्यों ? एवं ऐसा क्यों नहीं ?

एतेन 'सुरभिचन्दनमि' त्यादयो व्याख्याताः। तथा चाभावविषयेऽपीन्द्रिय-सामर्थ्यस्य दुरपह्नवत्वादलमसद्ग्रहेणेति ॥२१॥

एतेन ··· ··· ···

इसी युक्ति से 'सुरभिचन्दनम्' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति भी हो जाती है ।[1]

सि० प० तथा चाभावविषये··· ··· ··· ···

इस प्रकार चूँकि अभाव रूप विषय को समझाने की सामर्थ्य भी इन्द्रिय में अवश्य है। अतः अभाव प्रमा के लिये अनुपलब्धि नाम के स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना का दुराग्रह व्यर्थ है[2] ॥ २० ॥

---

१. अनेक प्रमाणों से उत्पन्न एक प्रमिति के उदाहरण के रूप में मीमांसकगण 'सुरभिचन्दनम्' इस प्रमिति को उपस्थित करते हैं। उन लोगों का कहना है कि 'सौरभ' का प्रत्यक्ष घ्राणेन्द्रिय से ही, एवं चन्दन का प्रत्यक्ष चक्षु से ही हो सकता है। अतः इन दोनों इन्द्रियों को जबतक परस्पर साहित्य रूप सहयोग प्राप्त नहीं, होता तब तक 'सुरभिचन्दनम्' इस प्रतीति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः यह प्रतीतिं चक्षु एवं घ्राण एतदुभयकरणक है। इसी के खण्डन के लिये 'तत्सहितस्यैव' इत्यादि सन्दर्भ से कही हुई युक्ति का अतिदेश 'सुरभिचान्दनम्' इस स्थल में भी 'एतेन' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है।

२. अभिप्राय यह है कि 'सुरभिचन्दनम्' इस स्थल में भी 'चक्षु' ही करण है 'घ्राण' उसका 'सहकारी' है। यदि 'चन्दन' को विशेषण मान कर 'सुरभि' को ही विशेष्य मान लें, तो फिर 'चन्दनम् सुरभि' बोध का यह आकार होगा। एवं इस बोध का 'घ्राण' ही करण होगा, एवं 'चक्षु' ही 'सहकारी' होगा। अर्थात् विशिष्टबुद्धि में केवल विशेष्य मात्र का प्रयोजक जो 'करण' है, वही विशेषण विशिष्ट विशेष्य बुद्धि का अर्थात् 'विशिष्ट' बुद्धि का भी 'करण' है विशेषण भासक 'करण' उसका सहकारी है। इस दृष्टि के अनुसार 'अघटं भूतलम्' इस ज्ञान के भूतल रूप विशेष्य का भासक जो 'इन्द्रिय' रूप 'करण' है, वही 'घटाभाव विशिष्ट भूतल' रूप 'विशिष्ट' का भी भासक है। 'घटाभाव' रूप विशेषण की भासिका अनुपलब्धि इन्द्रिय की सहकारिणी है। अतः अभावप्रमा के सम्पादन की सामर्थ्य भी 'इन्द्रिय' में है ही, इसके लिये 'अनुपलब्धि' स्वरूप एक अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

स्यादेतत्। नागृहीते विशेषणे विशिष्टबुद्धिरुदेति, तत्कार्यत्वात्। न च विशिष्टसामर्थ्ये केवलविशेषणेऽपि सामर्थ्यम्; केवलसौरभेऽपि चाक्षुषो वृत्तिप्रसङ्गात्। अतोऽभावविशेषग्रहणाय मानान्तरसम्भवः। अपि च कथमनालोचितोऽर्थं इन्द्रियेण विकल्प्येत? । न च मानान्तरस्याप्येषा रीतिः; अनुमानादिभिरनालोचितस्याप्यर्थस्य विकल्पनात्,

---

पू० प० स्यादेतत् नागृहीते··· ··· ··· ···

(१) 'अघटं भूतलम्' यह 'विशिष्टबुद्धि' है। विशेषण का ज्ञान भी विशिष्टबुद्धि का कारण है। अतः उक्त विशिष्टबुद्धि से पहिले 'घटाभाव' रूप विशेषण का ज्ञान आवश्यक है। केवल घटाभाव का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकरण के द्वारा ही अभाव में इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है। अतः अभाव की विशिष्टबुद्धि में उसका अधिकरण अवश्य गृहीत होगा। फिर अभाव की सभी बुद्धियाँ विशिष्टबुद्धि ही होंगी। अतः यही कहना होगा कि उक्त स्थल में विशेषणज्ञान विधया अपेक्षित अभाव का ज्ञान 'अनुपलब्धि' रूप 'करण' से ही होता है। यदि ऐसा न मानकर ऐसा मानें कि विशिष्टज्ञान में समर्थ जो इन्द्रिय है, उसी में केवल विशेषण ज्ञान के उत्पादन की भी सामर्थ्य मानें (अर्थात् चूँकि इन्द्रिय घटाभाववद्भूतल' रूप 'विशिष्ट' का ग्राहक है, अतः विशेषणीभूत घटाभाव का भी ग्राहक है, ऐसा स्वीकार करें) तो सौरभ विशिष्ट चन्दन रूप विशिष्ट के ग्राहक जो चक्षुरिन्द्रिय उससे ही विशेषणीभूत केवल सौरभ का भी भान मानना होगा। किन्तु सो उचित नहीं है। तस्मात् यह मानिये कि जिस प्रकार केवल घ्राणेन्द्रिय से ही ज्ञात होनेवाले सौरभ का भान 'सुरभिचन्दनम्' इस आकार की विशिष्टबुद्धि में चक्षु से ही होता है, उसी प्रकार अनुपलब्धि से ज्ञात होनेवाले घटाभाव रूप विशेषण का भी 'घटाभाववद्भूतलम्' इस आकार की विशिष्ट बुद्धि में चक्षु से ही भान होता है। अतः अभावविशिष्ट की उक्त प्रतीति इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से भले ही उत्पन्न हो, किन्तु उसके लिये अवश्य अपेक्षित विशेषणज्ञान के सम्पादक विधया अनुपलब्धि को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है।

अपि च कथम्··· ··· ··· ···

(२) अभाव का सविकल्पक ज्ञान ही होता है अभाव का कभी निर्विकल्पक (आलोचन) ज्ञान नहीं होता। यह भी निश्चित है कि प्रत्यक्षात्मक विशिष्ट बुद्धि से पहिले निर्विकल्पक बुद्धि अवश्य रहेगी, क्योंकि यह उसका कारण है। अतः यह कहा जा सकता है कि अभाव रूप विशेषण ज्ञान से उत्पन्न अभाव की विशिष्टबुद्धि निर्विकल्पक ज्ञानजनित नहीं है, अतः वह प्रत्यक्षात्मक भी नहीं है। फलतः जो परोक्षात्मक नहीं होता है, उसमें निर्विकल्पज्ञान की आवश्यकता अनुमित्यादि परोक्ष विशिष्टज्ञानों के दृष्टान्त से खण्डित है। अतः अभाव के निर्विकल्पज्ञान के न रहने से अभाव की उक्त विशिष्ट बुद्धि को परोक्षात्मक होने में कोई बाधा

अप्राप्तेश्च, न ह्यभावेनेन्द्रियस्य संयोगादिः संभवति। न च विशेषणत्वम्, सम्बन्धान्तरपूर्वकत्वात्तस्य।

बाधा नहीं है। अतः 'अघटं भूतलम्' इस आकार की अभाव विषयक विशिष्ट बुद्धि 'परोक्षात्मक' ही है, प्रत्यक्ष रूप नहीं है। अनुमानादि परोक्षज्ञान के व्याप्तिज्ञान प्रभृति करणों के न रहने पर भी 'अघटं भूतलम्' इस आकार की परोक्षात्मक विशिष्टबुद्धि की उत्पत्ति होती है। इस विशिष्टबुद्धि रूप प्रमा के करण रूप 'अनुपलब्धि' नाम के प्रमाण को मानना आवश्यक है।

(३) अप्राप्तेश्च ··· ··· ··· ···

इन्द्रिय जिस विषय के ज्ञान का उत्पादन करता है, उसके साथ इन्द्रिय की 'प्राप्ति' अर्थात् सम्बन्ध आवश्यक है। अभाव के साथ इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि 'संयोग' रूप सम्बन्ध दो द्रव्यों में ही होता है। अतः अभाव के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्भव नहीं है। समवाय सम्बन्ध भी द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन पदार्थों में ही रहता है (अर्थात् समवाय के अनुयोगी ये तीन हैं। प्रतियोगी भले ही इन तीनों के अतिरिक्त सामान्य एवं विशेष ये दोनों पदार्थ भी हों)। अतः अभाव में इन्द्रिय का समवाय सम्बन्ध भी नहीं रह सकता। अवशिष्ट है[1] 'विशेषणता' रूप सम्बन्ध, यह सम्बन्ध तो स्वयं ही अपनी स्थिति के लिये दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। अतः अभाव में इन्द्रिय का विशेषणता रूप सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता[2]।

---

१. इन्द्रिय का अभाव के साथ विशेषणता सम्बन्ध इस प्रकार हो सकता है कि भूतल में विशेषण है घटाभाव। भूतल के साथ चक्षु का संयोग रूप सम्बन्ध है। भूतल में रहनेवाली जो विशेष्यता है, तन्निरूपित विशेषणता घटाभाव में है। अतः इन्द्रिय का स्वसंयुक्तविशेषणता रूप सम्बन्ध घटाभाव में है (स्वसंयुक्त है भूतल, उसकी विशेषणता घटाभाव में है)। इन्द्रिय का अभाव में रहनेवाले विशेषणता' रूप सम्बन्ध का उपपादन इस प्रकार किया जा सकता है।

२. किन्तु इन्द्रिय का यह विशेषणता रूप सम्बन्ध भी अभाव में नहीं माना जा सकता। क्योंकि विशेष्य में किसी सम्बन्ध से विद्यमान वस्तु ही उसका 'विशेषण' होता है। भूतल में संयोग सम्बन्ध से विद्यमान घट ही उसका विशेषण होता है। अथवा घट में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान 'रूप' ही उसका विशेषण होता है। अतः यह निर्णय करना पड़ेगा कि भूतल में घटाभाव का कौन सा सम्बन्ध है? जिससे भूतल रूप विशेष्य का वह विशेषण होगा। यह निर्णय हो जाने पर ही घटाभाव भूतल का विशेषण हो सकता है।

अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाच्चानुपलब्धेः। न हि तदुपलब्धौ तस्याभावोपलम्भ इति चेत् ; उच्यते—

अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसानात् ।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः ॥२१॥

अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाच्च ··· ··· ···

यह सर्व सम्मत है कि घट की उपलब्धि रहने पर घटाभाव की उपलब्धि नहीं होती है। घटाभाव के ज्ञान के लिये घट की अनुपलब्धि की अपेक्षा स्वीकार करनी ही होगी। अतः अनुपलब्धि को अभावबुद्धि का कारण स्वीकार करना ही होगा। फिर उसे 'करण' मान लेने में ही कौन सी बाधा है ? अतः बाधक के न रहने से भी अनुपलब्धि प्रमा का करण है, अर्थात् प्रमाण है।

सि० प० उच्यते, अवच्छेदग्रहध्रौव्यात्

(१) अवच्छिद्यते भिद्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अवच्छेद' शब्द का अर्थ का अर्थ है प्रतियोगी। 'प्रतियोगी' के निरूपण के अधीन ही अभाव का निरूपण है। जैसा कि ज्ञान का निरूपण विषय के निरूपण के अधीन है। फलतः अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान के विना संभव नहीं है। (अभाव ज्ञान के प्रति 'अवच्छेद' का अर्थात् प्रतियोगी के ग्रह की यह अवश्य अपेक्षा ही प्रतियोगिग्रह का 'ध्रौव्य' है)।

एवं इसके बाद ही अभाव में इन्द्रिय का विशेषणता सम्बन्ध भी उपपन्न हो सकता है। नैयायिक गण अधिकरण में अभाव का 'स्वरूप' नाम का सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध को अनुयोगी और प्रतियोगी रूप दोनों ही सम्बन्धियों से भिन्न ही होना चाहिए। क्योंकि संयोग एवं समवाय इन दोनों से भिन्न वस्तु ही उनके अनुयोगी एवं प्रतियोगी होते हैं। किन्तु उक्त 'स्वरूप' सम्बन्ध या तो अपने प्रतियोगी के अभाव का स्वरूप होगा ? अथवा भूतलादि अनुयोगी स्वरूप ही होगा, अतः उक्त 'स्वरूप' नाम के किसी सम्बन्ध में उन दोनों का भेद नहीं रह सकता। इसलिये 'स्वरूप' नाम के किसी सम्बन्ध का मानना संभव नहीं है। अतः 'स्वरूप' सम्बन्ध के द्वारा भी अभाव में विशेषणता सम्बन्ध का उपपादन नहीं किया जा सकता। सुतराम् अभाव में चूँकि इन्द्रिय का कोई भी सम्बन्ध संभव नहीं है, अतः इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से अभावप्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः उसके लिये अनुपलब्धि नाम का अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक है।

उसी 'विशिष्टबुद्धि' में विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा होती है, जिस बुद्धि में भासित होने वाला विशेषण नियमतः 'इतर निरूप्य' नहीं होता। इसी लिये अभाव की विशिष्टबुद्धि में अभाव रूप विशेषण के पृथक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। यदि उक्त इतर निरूप्य पदार्थ रूप विशेषण विषयक विशिष्ट बुद्धि में भी उक्त विशेषण के ज्ञान की पृथक् रूप से अपेक्षा स्वीकार करें, तो घटज्ञान विषयक ज्ञान रूप 'घटमहं जानामि' इस आकार का अनुव्यवसात्मक बुद्धि अनुपपन्न हो जायगी, क्योंकि वह भी 'विशिष्टबुद्धि' रूप ही है। इस बुद्धि में आत्मा है विशेष्य, एवं घटज्ञानादि हैं विशेषण। किन्तु अनुव्यवसाय स्वरूप उक्त विशिष्ट बुद्धि में 'घटज्ञान' ही विशेषण रूप से भासित होता है। यह विशेषण रूप 'घटज्ञान' भी स्वयं विशिष्टबुद्धि रूप है। क्योंकि विशेषणी भूत 'घटज्ञान' घट विशेषणक 'ज्ञान' विशेष्यक ज्ञान रूप ही है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय रूप विशिष्टबुद्धि में 'घटज्ञान' रूप विशेषण का ज्ञान कारण है। एवं यह 'घटज्ञान' रूप विशेषण भी चूंकि 'विशिष्टबुद्धि' स्वरूप ही है, अतः इसमें भासित होने वाले 'घट' रूप विशेषण का ज्ञान भी आवश्यक है, जिसका पर्यवसायन 'आत्माश्रय' दोष में होता है, क्योंकि अनुव्यवसाय रूप घट विषयक ज्ञान में घट विषयक ज्ञान को ही कारण कहा गया है। इस प्रकार की 'स्व' में स्वापेक्षा आत्माश्रय दोष है। अथवा प्रकृत में आत्माश्रय दोष का उपपादन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि अनुव्यवसाय रूप उक्त विशिष्टबुद्धि में 'घटज्ञान' रूप जिस विशेषण के ज्ञान को आवश्यक बतलाया गया है, उस विशिष्ट ज्ञान रूप 'घटज्ञान' का उक्त अनुव्यवसाय रूप विशिष्ट बुद्धि को छोड़कर और कोई कार्य नहीं है, अतः साक्षात् ही उक्त विशिष्टबुद्धि रूप अनुव्यवसाय में उसी अनुव्यवसाय रूप उक्त विशेषण ज्ञान की अपेक्षा हो गया।

किन्तु कुछ विशिष्टबुद्धियों में तो विशेषणज्ञान की अपेक्षा अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध है। इस लिये यह व्यवस्था करनी होगी कि जो विशेषण नियमतः इतर निरूप्य हो, तद्विषणक विशिष्टबुद्धि में विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा नहीं स्वीकार करेंगे। अतः अनुव्यवसायस्थल में 'घटज्ञान रूप विशेषण चूंकि नियमतः 'घट' रूप विषय निरूप्य है, अतः घटज्ञान विशेषणक 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय रूप विशिष्ट बुद्धि में विशेषणज्ञान की आवश्यकता नहीं है। 'अयं घटः' इस विशिष्टबुद्धि में जो 'घटत्व' रूप विशेषण भासित होता है, वह इतर निरूप्य नहीं है, अतः तद्विशेषणक उक्त विशिष्टबुद्धि में घटत्व रूप विशेषण के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

प्रकृत में 'अघटं 'भूतलम्' इस विशिष्ट बुद्धि में भासित होने वाला 'अभाव' रूप विशेषण चूंकि नियमतः 'अवच्छेद' अर्थात् प्रतियोगी निरूप्य है, अतः तद्विशेषणक उक्त विशिष्टबुद्धि में

'अभाव' रूप विशेषण के ज्ञान की पृथक् आवश्यकता नहीं है। अतः विशेषण रूप अभाव के ज्ञान के लिये 'अनुपलब्धि' नाम के स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना अनावश्यक है।

उक्त नियम से ही अनुपलब्धि के पृथक् प्रामाण्य के साधक दूसरी युक्ति का भी खण्डन हो जाता है। अर्थात् उक्त युक्ति के अनुसार 'विशिष्ट प्रत्यक्ष में निर्विकल्पक ज्ञान की अपेक्षा होती है' इस नियम में भी यह सङ्कोच करना होगा कि जिस विशिष्ट प्रत्यक्ष में भासित होने वाला विशेषण नियमतः इतर पदार्थ से निरूप्य हों, उस विशेषण विषयक विशिष्ट प्रत्यक्ष में विशेषण के निर्विकल्पक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो 'घटमहं जानामि' यह अनुव्यवसाय रूप प्रत्यक्ष ही अनुपपन्न हो जायगा। इस विशिष्टबुद्धि में अपेक्षित 'घटज्ञान' रूप विशेषण का ज्ञान नियमतः सविकल्पक ही होता है।

इसी प्रकार घटाभावादि रूप विशेषणों का ज्ञान भी नियमतः सविकल्पक ही होता है। अतः यह नियम नहीं किया जा सकता कि 'सभी विशिष्ट प्रत्यक्षों में निर्विकल्पक ज्ञान की अपेक्षा अवश्य होती है।' इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि 'अभाव विशेषणक 'अघटं भूतलम्' यह विशिष्टबुद्धि चूँकि निर्विकल्पकज्ञान से उत्पन्न नहीं होती है, अतः वह प्रत्यक्ष रूप नहीं है' तस्मात् चूँकि अभाव की उक्त विशिष्ट बुद्धि को प्रत्यक्ष रूप मानने में कोई बाधा नहीं है, अतः उसको परोक्ष मानना भी आवश्यक नहीं है। सुतराम् इस परोक्षज्ञान के संपादन के लिये अनुपलब्धि नाम का स्वतन्त्र प्रमाण मानना अनावश्यक है।

अध्रौव्ये सिद्धसाधनात् ... ...

अवच्छेदग्रह (प्रतियोगिज्ञान) का "ध्रौव्य" अर्थात् नियतपूर्ववर्त्तित्व यदि अभाव ज्ञान के लिये न स्वीकार करें तो 'अनुपलब्धि के स्वतन्त्र प्रामाण्य के ज्ञापक उक्त दोनों ही अनुपपत्तियाँ स्वतः खण्डित हो जाती हैं।[1]

---

१. कहने का तात्पर्य कि अनुव्यवसाय रूप विशिष्ट प्रत्यक्ष में भासित होने वाला 'घट-ज्ञान' भी विशिष्टज्ञान ही है, अतः उसमें यदि विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा न हो। एवं 'अघटं भूलम्' इस विशिष्ट बुद्धि में भासित होने वाले 'घटाभाव' का ज्ञान भी (प्रतियोगित्व सम्बन्ध से घट विशिष्ट अभाव का) विशिष्टज्ञान ही है, उसमें यदि विशेषणज्ञान की अपेक्षा न हो, तो फिर विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान की अपेक्षा ही निरस्त हो जाती है। इस स्थित में यह कहना पूर्ण युक्त होगा कि 'विशिष्टबुद्धि में विशेषण ज्ञान चूँकि कारण ही नहीं है, अतः 'घटाभाववद्भूतलम्' इस विशिष्ट बुद्धि में विशेषणीभूत 'अभाव' के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि नाम के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। एवं यदि यह कहे कि 'अनुव्यवसाय रूप ज्ञान विषयक प्रत्यक्ष में

स ह्यर्थविशेषणीभविष्यन् केवलोऽपि विस्फुरेत्, यस्यावच्छेदकज्ञानं न व्यञ्जकम् ।

प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थनात्··· ··· ··· ···

(५) 'घटाभाववद्भूतलम्' इस आकार की 'विशिष्ट प्रतीति को सभी स्वीकार करते हैं। भूतल में घटाभाव को विशेषण माने बिना यह प्रतीति उपपन्न नहीं हो सकती। अतः भूतल में घटाभाव को विशेषण मानना ही होगा। किन्तु सभी 'विशेषणतायें' यदि विशेष्य में विशेषण के (स्वरूप से अतिरिक्त) किसी स्वाभाविक (संयोग समवायादि) सम्बन्ध की अवश्य अपेक्षा रखतीं हों, तो प्रकृत में 'अनवस्था' दोष होगा। क्योंकि भूतल में घटाभाव का जो भी सम्बन्ध मानेंगे, उन सभी सम्बन्धों के प्रसङ्ग में यह प्रश्न उपस्थित होगा 'वह सम्बन्ध भूतल में किस सम्बन्ध से है ? इस प्रकार की अबाधित प्रश्न की परम्परा अनवस्था दोष की जननी है। अतः अभाव में भूतल की 'विशेषणता' के लिए 'प्राप्त्यन्तर' अर्थात् किसी दूसरे सम्बन्ध का अनुसरण करने से 'अनवस्था' दोष होगा। अतः उक्त तीसरी युक्ति भी असङ्गत है।

न चेन्योऽपि··· ··· ··· ···

यदि भूतल की विशेषणता घटाभाव में इस लिये न मानें कि उसके सम्बन्ध का कोई दूसरा सम्बन्ध भूतल में नहीं है, तो फिर 'अन्य' प्रमाण से भी अर्थात् प्रत्यक्षादि से अन्य अनुपलब्धि रूप प्रमाण से भी 'घटाभावद्भूतलम्' यह भूतल विशेष्यक एवं घटाभाव विशेषणक प्रमा 'दुर्घट' हो जायगी। जिस किसी भी प्रमाण से उत्पन्न घटाभाव विशेषणक बुद्धि के लिये घटाभाव में विशेषणता का होना आवश्यक है। अतः उक्त तृतीय युक्ति से भी अनुपलब्धि का स्वतन्त्रप्रामाण्य व्यवस्थित नहीं हो सकता।

स हि··· ··· ··· ···

विशिष्टबुद्धि में विशेषण रूप से भासित होने वाली उसी वस्तु का 'केवल' अर्थात् उस विशिष्टबुद्धि को छोड़कर ज्ञान भी आवश्यक है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिये 'अवच्छेदक' रूप किसी (प्रतियोगी या विषय दूसरे का ज्ञान आवश्यक नहीं होता। अतः 'नागृहीते' इत्यादि से दी गयी आपत्ति, ठीक नहीं है)।

निर्विकल्पक ज्ञान कारण नहीं है' तो यह भी कह सकते हैं कि अभाव के 'अघटं भूतलम्' इस आकार के प्रत्यक्ष में भी निर्विकल्पक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'सभी प्रत्यक्षों में निर्विकल्पकज्ञान की अपेक्षा नहीं है। इस लिये यह कथन अयुक्त हो जाता है कि—"अभाव की विशिष्ट बुद्धि चूँकि निर्विकल्पकज्ञान जनित नहीं है, अतः वह प्रत्यक्ष ही नहीं है, इसलिये अभाव की उक्त विशिष्ट बुद्धि के लिये अनुपलब्धि को प्रमाण मानना चाहिये।" तस्मात् अनुपलब्धि के प्रामाण्य का साधक यह द्वितीय युक्ति भी असङ्गत है।

स च विकल्पयितव्य आलोच्यते, यो विशेषणज्ञाननिरपेक्षेणेन्द्रियेण
पते। यस्तु तत्पुरः सर एव प्रकाशते, तत्र तस्य विकल्पसामग्रीसमवधानवत
ामर्थ्यान्नायं विधिः।

स्वभावप्राप्तौ सत्यामप्यधिका प्राप्तिः प्रतिपत्तिबलेन रूपादावभ्युपगता।
स्वनवस्थादुस्थतया न तदभ्युपगमो न तु स्वभावप्रत्यासत्तिरेतावतैव विफलायते।

च··· ··· ··· ···द्वितीय चरण की व्याख्या

'विकल्प' अर्थात् सविकल्पकज्ञान के उसी 'विषय' का निर्विकल्पकज्ञान हो सकता है,
न्द्रिय के द्वारा जिसके ज्ञान की उत्पत्ति में किसी 'इतर' अर्थात् दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा न हो'
घटाभाववद्भूतलम्' इस विशिष्टबुद्धि में भासित होनेवाले घटाभाव का इन्द्रियजनित ज्ञान
अपनी उत्पत्ति के लिये नियमतः घटज्ञान की अपेक्षा रखता है। इस लिये घटाभाव रूप उक्त
विशेषण का ज्ञान भी नियमतः सविकल्पक ही होता है। अतः यह 'विधि' अर्थात् नियम ही नहीं
हो सकता कि प्रत्यक्षात्मक सभी विशिष्टबुद्धियों में निर्विकल्पकज्ञान की अपेक्षा अवश्य हो।

स्वभाव प्राप्तौ··· ··· ··· ···तृतीय चरण की व्याख्या

(रूपवान् घटः इस स्थल में) घट में विशेषण रूप से भासित होनेवाले 'रूप' का
'स्वभावप्राप्ति' अर्थात् समवाय रूप स्वाभाविक सम्बन्ध है। एवं यह सम्बन्ध मान लेने पर
भी अनवस्थादि किसी दोष की संभावना नहीं है, अतः उस सम्बन्ध के मानने में कोई बाधा
नहीं है। भूतल में विशेषणीभूत घटाभाव का भूतल में कोई 'स्वभावप्राप्ति' स्वाभाविक
सम्बन्ध मान लेने पर 'अनवस्था' दोष की संभावना है, अतः भूतल में घटाभाव का कोई
स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं मानते। किन्तु भूतल में घटाभाव की विशेषणता भी अनुभव से
सिद्ध है, अतः यह नियम ही स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'जिसमें जो विशेषण हो,
उसमें उसका कोई स्वाभाविक सम्बन्ध भी अवश्य रहे।

---

१. घटाभाववद्भूतलम् इस सविकल्पक ज्ञान में भासित होने के लिये 'घटाभाव' का
स्वतन्त्र रूप से निर्विकल्पकज्ञान में भासित होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि 'घटाभाव'
अपनी 'अभिव्यक्ति' के लिये 'घट' रूप 'अवच्छेद' का अर्थात् प्रतियोगी के ग्रह का
नियमतः अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय रूप
विशिष्टबुद्धि में भासित होने के लिये 'घटज्ञान' को निर्विकल्पक ज्ञान में भासित होना
आवश्यक नहीं है, घटज्ञान भी स्वयं अपनी अभिव्यक्ति के लिये नियमतः 'घट' रूप
'अवच्छेदक' के निरूपण की अपेक्षा रखता है।

न चेदेवम्, प्रमाणान्तरेऽपि सर्वमेतदुर्घटं स्यात् ।

तथाहि—सर्वमेव मानं साक्षात्परंपरया वा निर्विकल्पकविश्रान्तम् । न ह्यनुमानादिकमप्यनालोचनपूर्वकम् । ततोऽनालोचितोऽभावः कथमनुपलब्ध्याऽपि विकल्प्येत ।

न च तया तदालोचनमेव जन्यते, प्रतियोग्यनवच्छिन्नस्य तस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा किमपराद्धमिन्द्रियेण ? तथा, सम्बन्धान्तरगर्भत्वनियमेन विशेषणत्वस्य, मानान्तरेऽपि कः प्रतीकारः ? तदभावस्य तदानीमपि समानत्वात् ।

न चेदेवम् ··· ··· ··· ···चतुर्थ चरण की व्याख्या

यदि मीमांसकों की कथित युक्तियों को स्वीकार कर लिया जाय एवं उन से 'घटाभाववद्भूतलम्' इस विशिष्टबुद्धि को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अनुत्पन्न मानी जाय, तो अनुमान अथवा कथित अनुपलब्धि प्रमाण से भी उक्त विशिष्टबुद्धि की उत्पत्ति न हो सकेगी । क्योंकि किसी न किसी प्रकार सभी प्रमाण प्रत्यक्ष की अपेक्षा अवश्य रखते हैं । इस स्थिति में सभी प्रत्यक्षों में यदि 'आलोचन' अर्थात् निर्विकल्पक की अपेक्षा को भी स्वीकार करें, तो इसका यह अर्थ होगा कि 'सभी प्रमाणों को निर्विकल्पक ज्ञान की अपेक्षा है । फिर अनुपलब्धि से भी अभाव की विशिष्टबुद्धि कैसे होगी ? क्योंकि अभाव का निर्विकल्पज्ञान ही नहीं हो सकता ।

न च तया तदा··· ··· ··· ···

यदि यह कहें कि उस समय अनुपलब्धि में अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्पन्न होता है'' तो सो भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि केवल अभाव का तो भान होगा ही नहीं, अभाव का जब भी भान होगा, प्रतियोगि रूप विशेषण के साथ ही होगा । इस लिये अभाव का 'आलोचन' अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान असम्भव है । यदि अनुपलब्धि से अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान ही मानें तो फिर इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण ने ही कौन सा अपराध किया है कि उससे अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान नहीं होगा । अतः यदि यह नियम मानें कि 'जो ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान से उत्पन्न हो वही प्रत्यक्ष है' तो फिर किसी अन्य प्रमाण से भी अभाव की विशिष्टबुद्धि नहीं होगी ।

तथा, सम्बन्धान्तर ··· ··· ··· ··· चतुर्थचरण की व्याख्या

इसी प्रकार 'यदि विशेषण होने के लिये विशेष्य का कोई अन्य सम्बन्ध आवश्यक हो तो' 'मानान्तर' अर्थात् अनुपलब्धि अनुमानादि जो प्रत्यक्ष से 'अन्य प्रमाण' है, उन से जो अभाव की विशिष्टबुद्धि रूप प्रमायें होंगी, उन्हीं का क्या उपाय करेंगे ? क्योंकि उन स्थलों में भी अभाव रूप विशेषणों में भूतलादि विशेष्यों की विशेषणता आवश्यक है । विशेषणता के लिये उससे भिन्न किसी दूसरे सम्बन्ध को आवश्यक मानते हैं । किन्तु अभाव का भूतल में 'विशेषणता' को छोड़कर कोई दूसरा सम्बन्ध संभव नहीं है । अतः प्रत्यक्ष से 'अन्य' अनुमानादि प्रमाणों से ही अभाव की विशिष्टबुद्धि किस प्रकार होगी ?

परस्य तादात्म्यमस्तीति चेत्; ननु यद्यसावस्ति, अस्त्येव, न चेन्नैव। न ह्यभ्युपगमेनार्थाः क्रियन्ते, अनभ्युपगमेव वा निवर्तन्त इति। अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वे कारणत्वं सिद्ध्येत, न तु मानान्तरत्वम्।

अन्यथा भावोपलम्भेऽप्यभावानुपलब्धिरेव प्रमाणं स्यात्, नेन्द्रियम्। अभावोपलम्भे भावानुपलम्भवत् भावोपलम्भे अभावानुपलम्भस्यापि वज्रलेपायमानत्वादिति।

पू० प० परस्य ... — ... ...

मीमांसकगण अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं। अतः उनके मत से भूतल में घटाभाव का विशेषणता को छोड़ कर एक अभेद (तादात्म्य) सम्बन्ध भी संभव है। अतः उनके मत से अनुमानादि अन्य प्रमाणों से घटाभाव की विशिष्टबुद्धि उपपन्न हो सकती है।

सि० प० ननु ... — ... ...

किसी के मानने और न मानने से न किसी की सत्ता किसी में हो सकती है, न जिसमें जिसकी सत्ता नहीं है, वह स्वीकृत ही हो सकती है। अतः मीमांसकगण ऐसा मानते हैं कि 'अभाव अधिकरणात्मक है' इससे घटाभाव में भूतल का तादात्म्य हो नहीं जाता। अतः उक्त कथन ठीक नहीं है।[1]

अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वे — ... ...

अभावप्रमा से पूर्व प्रतियोगी की अनुपलब्धि की नियम से अपेक्षा होती है, अतः प्रतियोगी की अनुपलब्धि को कारण मानेंगे। किन्तु अनुपलब्धि में कारणत्व के 'अवश्याभ्युपगम' से 'करणता' एवं तन्मूलक 'मानान्तरता' नहीं स्वीकार की जा सकती।

अन्यथा भावोपलम्भेऽपि — — ... ...

'अन्यथा' अर्थात् केवल अवश्य अपेक्षित होने से ही अनुपलब्धि अभाव प्रमा का 'करण' हो। एवं अवश्य अपेक्षित ही इन्द्रिय 'करण' न हो तो घटादि भाव पदार्थों की जो इन्द्रियजनित प्रमायें होंगी, उनका 'करण' भी 'अनुपलब्धि' ही होगी, इन्द्रियादि नहीं। क्योंकि घटाभाव की उपलब्धि के रहने पर घट का प्रमाज्ञान नहीं होता है। एवं घटाभाव की उपलब्धि के न रहने पर घट रूप भावपदार्थ का प्रमाज्ञान होता है। इसलिये भावोपलब्धि में भी अभावानुपलब्धि अवश्य अपेक्षित है, अतः वह 'करण' भी होगी। इसलिये 'अनुपलब्धि' स्वतन्त्र प्रमाण है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

---

1. क्योंकि मीमांसकों का उक्त कथन उनके स्वीकृत सिद्धान्त के ही विरुद्ध है। घटाभाव एवं भूतल यदि एक ही वस्तु रहे, तो जिससे भूतल की प्रमा होगी, उसीसे भूतलाभिन्न घटाभाव की भी प्रमा होगी। फलतः 'घटाभाववद्भूतलम्' विशिष्टबुद्धि रूप यह अभाव की प्रमा भी प्रत्यक्ष से ही हो जायगी। इसके लिये अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करने की कौन सी आवश्यकता है ?

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्माऽपि नासाद्यते ।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवं
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ।।२३।।

।। इति गद्यपद्यात्मके श्रीन्यायकुसुमाञ्जलौ तृतीयस्तबकः ।।

(ईश्वर नमस्कारात्मक एवं इस स्तवक में कहे गये विषयों का संक्षेप में अनुसन्धान प्रयोजक इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार है:—)

एवम् यन्मुखवीक्षणैकविधुरैः प्रत्यक्षादिभिः प्रायः आत्मापि न आसाद्यते । तं सर्वानुविधेयम्, एकम्, असमस्वच्छन्दलीलोत्सवम् देवानामपिदेवम्, उद्भवदतिश्रद्धाः, (वयम्) प्रपद्यामहे ।

अर्थात् इस स्तवक में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि (अभाव) स्वरूप जिन छः प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में बाधा डालने की चर्चा की गयी है, वे सभी प्रत्यक्षादि प्रमाण 'प्रायः' जिन (परमेश्वर) का मुँह जोहे बिना अपने स्वरूप की सत्ता को ही नहीं लाभ कर सकते (अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपनी ही सत्ता जिन परमेश्वर की सत्ता के बिना खतरे में है) उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में विरोध की बात बहुत दूर है । (इनमें प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण 'कार्य' होने के कारण सर्वकारण स्वरूप परमेश्वर की अपेक्षा रखते है । अनुमानादि प्रमाण तो अपनी सत्ता के लिये धर्मिज्ञान के संपादन के लिये ईश्वर के साधक प्रमाणों की भी अपेक्षा रखते हैं) ।

इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध के निरस्त हो जाने के कारण 'उद्भवदतिश्रद्धाः' उनके ऊपर अति उत्कृष्ट (अवश्य ही मुक्ति देने वाली) श्रद्धा के कारण हम लोग उन परमेश्वर को प्रणाम करते हैं, जो इन्द्रादि देवों के भी स्तुत्य हैं, सभी जिनके 'अनुविधेय' अर्थात् अधीन हैं (अथवा जो सभी के अधिष्ठान स्वरूप हैं) एवं जो

'एक' हैं अर्थात् सजातीय द्वितीय रहित हैं, जिनके समान दूसरा कोई भी नहीं है। एवं जिनकी 'लीला' स्वरूपा इच्छा अथवा यत्नात्मक कृति कभी अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखती और विफल नहीं होती। एवं जिनमें सदा ही दुःखभाव स्वरूप 'उत्सव' विद्यमान रहता है।[1]



1. 'ग्रन्थान्ते ग्रन्थ मध्ये वा हरिः सर्वत्र गीयते' इस शास्त्र वचन को ध्यान में रखकर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस उक्ति के अनुसार इस महत्कार्य में बहुविध विघ्न की शङ्का से एवं इस स्तवक में कहे गये विषयों को संक्षेप संग्रह की दृष्टि से आचार्य ने 'प्रत्यक्षादिभिः' इस श्लोक की रचना कर ग्रन्थ में निबद्ध किया है।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

गद्यपद्यात्मके न्यायकुसुमाञ्जलौ

चतुर्थः स्तबकः

—:※:—

ननु सदपीश्वरज्ञानं न प्रमाणम् ; तल्लक्षणायोगात्। अनधिगतार्थगन्तुस्तथाभावात्। अन्यथा स्मृतेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च नित्यस्य सर्वविषयस्य चानधिगतार्थता ; व्याघातात्।

पू० प० ननु सदपि ··· ··· ··· ···

यदि (सर्वज्ञ) ईश्वर की सत्ता मान भी लें, तथापि उन का ज्ञान प्रमाण (प्रमा) नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाज्ञान का लक्षण उस में नहीं रह सकता। जिस पुरुष का ज्ञान पहिले से अज्ञात विषय का (अगृहीतग्राही) होता है, वही ज्ञान प्रमाण (प्रमा) है, यदि अगृतग्राहित्व को प्रमा का लक्षण न मानें, तो स्मृति में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। नित्य एवं सर्व विषयक ज्ञान कभी भी अगृहीतग्राही नहीं हो सकता[1]

---

१. 'सत्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्' इस वाक्य द्वारा जो चौथी विप्रतिपत्ति की सूचना प्रथम स्तबक में दी गयी है, उसी का निराकरण इस चौथे स्तबक में किया गया है। मीमांसक गण 'अनधिगताबाधितार्थविषयकत्व को ही प्रमाज्ञान का लक्षण कहते हैं। अर्थात् जो विषय पहले से अवगत न रहे, एवं जिसके विशेष्य में विशेषण का बाध न रहे, वही ज्ञान प्रमा है। स्मृति को नैयायिकगण भी प्रमा नहीं मानते, यदि केवल 'अबाधितार्थविषयकत्व' ही प्रमा का लक्षण कहेंगे, तो स्मृति में भी प्रमा लक्षण की आपत्ति (अतिव्याप्ति—अधिकव्याप्ति) होगी। अतः 'अनधिगतविषयत्व' विशेषण देना आवश्यक है। क्योंकि स्मृति नियमतः पूर्वज्ञात विषयक ही होती है।

किन्तु प्रमा का यह लक्षण ईश्वर ज्ञान में नहीं रह सकता, क्योंकि उनका ज्ञान 'नित्य' एवं 'सर्वविषयक' है। अतः उन्हें सभी विषयों का ज्ञान सभी समयों में है ही। इसलिये उनका कोई भी ज्ञान किसी भी समय अज्ञात विषयक नहीं हो सकता। यदि उनके किसी ज्ञान को अनधिगतार्थ विषयक मानेंगे तो यह स्वीकार करना होगा कि उससे पूर्व उनको उस विषय का ज्ञान नहीं था। इससे उस 'अनधिगम गण' में उनकी सर्वज्ञता खण्डित हो जायगी। अतः यदि अदृष्ट के किसी अधिष्ठाता पुरुष की कल्पना भी करेंगे, एवं उनका सर्वज्ञ होना भी संभव हो, तथापि उनका ज्ञान 'प्रमाण' (प्रमा) नहीं हो सकता। जिनका ज्ञान यथार्थ (प्रमा) नहीं है, उस पुरुष को 'अप्रमाण' ही कहा जायगा। 'अप्रमाणपुरुष' के ऊपर विश्वास नहीं किया जा सकता। सुतराम् वेद के कर्त्ता परमेश्वर नहीं हो सकते। अतः वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर की कल्पना निराधार है।

अत्रोच्यते—

अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥

अव्याप्तेरधिकप्राप्ते ··· ··· ··· ···

इस आक्षेप के उत्तर में हम (नैयायिक) कहते हैं कि 'अपूर्वदृक्त्व' अर्थात् अगृहीत ग्राहित्व प्रमा का लक्षण नहीं है, क्योंकि इस लक्षण में 'अव्याप्ति' एवं 'अधिकव्याप्ति' अर्थात् अतिव्याप्ति दोनों ही दोष हैं। यथार्थत्व से युक्त अनुभवत्व ही प्रमा का लक्षण है (यथार्थत्व से युक्त केवल ज्ञानत्व नहीं, क्योंकि इस से स्मृति में अतिव्याप्ति होगी। स्मृति इस लिये प्रमा नहीं है कि उस का तद्वति तत्प्रकारकत्व रूप प्रमात्व 'अनपेक्ष' अर्थात् स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु कारणीभूत अनुभव में रहनेवाले प्रामाण्य के अधीन है) हम नैयायिक गण प्रमात्व से युक्त 'अनपेक्ष' ज्ञान को ही प्रमा मानते हैं[1]।

---

1. 'अपूर्वदृक्त्व' अर्थात् अगृहीतग्राहित्व प्रमा का लक्षण है ही नहीं, क्योंकि इसमें अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोनों ही दोष हैं। प्रमा का यह लक्षण घटादि के धारावाही ज्ञान में नहीं है। सामग्री का सम्वलन रहने पर एक ही विषय के एक ही आकार के कभी कभी कई ज्ञान कुछ क्षणों तक निरन्तर होते रहते हैं। एक ही विषय के एक ही आकार के ये अनेक ज्ञान 'धारावाहिक' ज्ञान कहलाते हैं योगिगण जब ध्यान से एकाग्रता का साधन करते हैं, तब इसी प्रकार के ज्ञान उन्हें अनेक क्षणों तक होते रहते हैं। अतः धारावाहिक ज्ञानों के द्वितीयादिज्ञान अवगतार्थ विषयक ही होते हैं, अतः वे प्रमा नहीं हो सकेंगे। किन्तु 'एक ही आकार का एक ज्ञान प्रमा है, एवं उसी आकार प्रकार के दूसरे ज्ञान प्रमा नहीं हैं, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। एवं प्रमा का यह लक्षण शुक्ति में 'इदं रजतम्' इत्यादि आकार के विपर्ययों में भी है, क्योंकि विपर्यय रूप यह ज्ञान भी पूर्वज्ञात विषयक नहीं है, अतः यह लक्षण विपर्यय में अतिव्याप्त भी है। इसलिये यथार्थानुभवत्व ही प्रमा का लक्षण है। प्रमा का यह लक्षण ईश्वर के ज्ञान में भी है ही। सुतराम् ईश्वर में अप्रामाण्य की संभावना नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि 'यथार्थत्व' को ही यदि 'प्रमात्व' का प्रयोजक मानें तो स्मृति भी प्रमा क्यों नहीं होगी। क्योंकि यथार्थत्व है 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' रूप, सो स्मृति में भी है ही। यह भी नियम नहीं है कि स्मृति अयथार्थ ही हो अर्थात् तदभाववति तत्प्रकारक ही हो। अतः यथार्थत्व को प्रमात्व का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता।

न ह्यधिगतेऽर्थे अधिगतिरेव नोत्पद्यते, कारणानामप्रतिबन्धात्। न चोत्पद्यमानाऽपि प्रमातुरनपेक्षितेति न प्रमा; प्रमाण्यस्याऽतदधीनत्वात्।

सि० प० न हि अधिगते ··· ··· — ···

ऐसा कोई नियम नहीं है कि एक बार जाने हुये विषय का पुनः ज्ञान ही न हो, क्योंकि जिन सभी कारणों से एक बार जिस विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है, उन सभी कारणों के रहते उस विषय के ही दूसरे दूसरे ज्ञानों की उत्पत्ति तब तक होती रहेगी, जब तक कोई प्रतिबन्ध न उपस्थित हो जाय। अतः एक क्षण के उत्पन्न घट के प्रमाज्ञान के बाद जो उसी प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन में भी अवश्य ही प्रमात्व है। किन्तु उन ज्ञानों में अनधिगत विषयकत्व नहीं है। अतः अनधिगत विषयत्व अथवा अगृहीतग्राहित्व प्रमात्व का प्रयोजक नहीं हो सकता।

न[1] चोत्पद्यमानापि ··· ··· ··· ···

ज्ञान में रहनेवाले प्रमात्व को ज्ञाता के प्रयोजन की कोई अपेक्षा नहीं है। ऐसे बहुत से ज्ञान हैं, जिन्हें ज्ञाता नहीं चाहता। अथ च उन ज्ञानों को सभी प्रमा मानते हैं। जैसे कि व्याघ्रादि के ज्ञान।

इसी प्रश्न का समाधान 'अनपेक्षतयेष्यते' इस अन्तिम चरण से किया गया है। जो स्मृति यथार्थ अनुभव से उत्पन्न होती है, वही प्रमा होती है। (यह भी नियम नहीं है कि यथार्थानुभव से उत्पन्न सभी स्मृतियाँ प्रमा ही होती है) इस से यह निष्पन्न होता है कि स्मृति की यथार्थता का मूल है, कारणीभूत अनुभव की यथार्थता। अतः स्मृति के यथार्थत्व से होनेवाले सभी व्यवहार उस कारणीभूत अनुभव के यथार्थत्व से ही उपपन्न हो जायगे—स्मृति में अलग से प्रमात्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब तक कारणीभूत अनुभव में यथार्थत्व निर्णीत नहीं हो जाता, तब तक स्मृति से भी यथार्थत्व मूलक कोई व्यवहार नहीं होता। अतः जिस ज्ञान की यथार्थता किसी दूसरे ज्ञान की यथार्थता के अधीन न हो, उसी ज्ञान को प्रमा मानना चाहिये। स्मृति की जो यथार्थता है वह अनुभव की यथार्थता के अधीन है, अतः स्मृति में प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

1. इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि प्रथम क्षण में जो घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से घटज्ञान से होनेवाले सभी कार्यों का सम्पादन हो ही जायगा। उसके बाद ज्ञाता को घटज्ञान की कोई भी 'अपेक्षा' नहीं रहेगी। अतः प्रयोजन संपादक होने के नाते प्रथम क्षणोत्पन्न (प्राथमिक) ज्ञान ही प्रमा है, द्वितीयादिज्ञान प्रमा नहीं है।

नापि पूर्वाविशिष्टतामात्रेणाप्रामाण्यम्; उत्तराविशिष्टतया पूर्वस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्। तदनपेक्षत्वेन तु तस्य प्रामाण्ये तदुत्तरस्यापि तथैव स्यादविशेषात्। छिन्ने कुठारादीनामिव परिच्छिन्ने नयनादीनां साधकतमत्वमेव नास्तीत्यपि नास्ति। फलोत्पादानुत्पादाभ्यां विशेषात्।

नापि[२] ··· ··· ··· ···

किसी ज्ञान की अपेक्षा किसी ज्ञान में विशेष या अविशेष का रहना उसके प्रमात्व का प्रयोजक नहीं है। अगर ऐसी बात हो तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि द्वितीयादि ज्ञान चूंकि अप्रमा हैं, एवं प्राथमिक ज्ञान में उन से कोई विशेष नहीं है, अतः प्राथमिक ज्ञान भी अप्रमा है। यदि प्राथमिक ज्ञान के प्रमात्व के लिये उस में उत्तर ज्ञान से किसी विशेष की अपेक्षा नहीं है, तो फिर उत्तर ज्ञानों में प्रमात्व के लिये भी उन में प्राथमिक ज्ञान की किसी विशेष की अपेक्षा क्यों हो? अतः यह बात नहीं है कि उत्तर ज्ञानों में प्राथमिकज्ञान की अपेक्षा कोई 'विशेष' नहीं है, अतः वे प्रमा नहीं हैं।

पू० प० छिन्ने ··· ··· ··· ···

प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान ही प्रमा है, एवं प्रमा का करण ही प्रमाण है। 'क्रिया' के 'साधकतम' को 'करण' कहते हैं। किन्तु काठ का छेदन हो जाने पर जैसे कि कुठार छेदन क्रिया का 'साधकतम' नहीं रह जाता, उसी प्रकार नयन रूप करण से एक बार घटज्ञान रूप क्रिया की निष्पत्ति हो जाने पर नयन दूसरे क्षणों में उत्पन्न घटज्ञान रूप क्रियाओं का 'साधकतम' ही नहीं रह जाता। अतः उक्त धारावाहिकज्ञान के अन्तर्गत जो द्वितीयादिज्ञान हैं, वे प्रमाणजन्य ही नहीं हैं। अतः वे प्रमा नहीं हैं। इस लिये प्रमात्व का अगृहीतग्राहित्व रूप लक्षण ठीक है।

सि० प० फलोत्पादानुत्पादाभ्याम् ··· ··· ··· ···

काठ के छेदन हो जाने पर कुठार अवश्य ही छेदन क्रिया का साधकतम नहीं रह जाता। क्योंकि 'साधकतम' वहीं है जिससे 'कर्म कारक' में प्रकृत क्रिया के फल का उत्पादन हो सके। काठ का जैसा छेदन हो गया रहता है, ठीक वैसा हो छेदन पुनः नहीं हो सकता। काठ के उक्त छेदन के बाद कुठार उक्त छेदन क्रिया का साधकतम नहीं रह जाता। किन्तु एक बार घटज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी तत्सदृश ही दूसरे घटज्ञान की उत्पत्ति होती है। 'ज्ञाक्रिया' का फल है 'ज्ञान की विषयता'। घट में एक बार घटज्ञान की

---

२. किसी समुदाय का कहना है कि द्वितीयादिक्षणों में उत्पन्न उक्त ज्ञानों में प्रथमक्षण में उत्पन्न ज्ञान से कोई 'विशेष' नहीं रहता, अतः द्वितीयादिज्ञान प्रमा नहीं है। इसी का खण्डन 'नापि' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है।

तत्फलं प्रमैव न भवति, गृहीतमात्रगोचरत्वात्, स्मृतिवदिति चेन्न। यथार्थानुभवत्वनिषेधे साध्ये बाधितत्वात्।

विषयता के आ जाने के बाद भी जब घट दूसरे घटज्ञान का विषय होता है, तो यह कहना सम्भव नहीं है कि घट रूप कर्म कारक में एक बार घटज्ञानीय विषयता के आ जाने पर पुनः द्वितीयघट ज्ञान की विषयता की उत्पत्ति नहीं हो सकती'। अतः चक्षु से एक बार घटज्ञान की उत्पत्ति के बाद पुनः घटज्ञान की उत्पत्ति के होने में कोई बाधा नहीं है। तस्मात् द्वितीयादि ज्ञान भी चूँकि इन्द्रिय रूप प्रमाण से उत्पन्न होते हैं, अतः वे ज्ञान अवश्य ही प्रमा हैं। किन्तु उन में अगृहीतग्राहित्व नहीं हैं, अतः धारावाहिकज्ञान में जो अव्याप्ति दी गयी है, वह ठीक है।

पू० प० तत् फलम् ··· ··· ··· ···

'तत्' अर्थात् धारावाही ज्ञान के अन्तर्गत द्वितीयादि ज्ञान रूप फल 'प्रमा' नहीं हैं, क्योंकि वे (फल रूप ज्ञान) 'गृहीतग्राही' हैं। गृहीतग्राही ज्ञान रूप फल प्रमाण (प्रमा के करण) से उत्पन्न होने पर भी प्रमा नहीं होते, जैसे कि स्मृति रूप फल। अतः उक्त द्वितीयादिज्ञान प्रमालक्षण के लक्ष्य ही नहीं हैं।

सि० प० यथार्थानुभवत्वनिषेधे ··· ··· ··· ···

(कथित 'प्रमैव न भवति' इस साध्यबोधक वाक्य में जो 'प्रमा' शब्द प्रयुक्त है, उसका कौन सा अर्थ अभिप्रेत है ? (१) यथार्थानुभवत्व अथवा (२) अगृहीतग्राहित्व अथवा (३) प्रमा का व्यवहार।

(१) इनमें प्रथम अर्थ के अनुसार अनुमान का आकार होगा। 'तत्' अर्थात् "द्वितीयादिज्ञानरूपं फलम् यथार्थत्वाभाववत् गृहीतग्राहित्वात्" किन्तु इस अनुमान का साध्य 'यथार्थानुभवत्वाभाव' पक्ष में बाधित है। क्योंकि ये द्वितीयादिज्ञान भी प्रथमज्ञान के समान विषयक ही हैं। जो प्रकार विशेष्य प्रथमज्ञान में हैं, वे ही द्वितीयादि ज्ञानों में भी हैं। यथार्थत्व है, तद्वति तत्प्रकारकत्व रूप। यदि प्राथमिकज्ञान में यह प्रमात्व है, तो उसी के समान प्रकार विशेष्यक द्वितीयादिज्ञानों में भी प्रमात्व अथवा यथार्थत्व है ही। इस प्रकार यथार्थनुभवत्व के रहने से उक्त पक्ष में यथार्थानुभवत्वाभाव रूप साध्य नहीं है। अतः इस अनुमान में बाध दोष स्पष्ट है।

(२) दूसरा अर्थ मानने पर अनुमानवाक्य का यह आकार होगा 'तत्' द्वितीयादिज्ञानरूपं फलम् गृहीतग्राही गृहीतग्राहित्वात्' इस अनुमान में सिद्धसाधन एवं साध्यसमत्व ये दो दोष हैं। हेतु को पहिले से ही पक्ष में निश्चित रहना आवश्यक है। तदनुसार यदि 'गृहीतग्राहित्व' रूप हेतु उक्त द्वितीयादज्ञान रूप पक्ष में सिद्ध है, तो फिर साध्य भी सिद्ध ही है।

अनधिगतार्थत्वे सिद्धसाधनात्, साध्यसमत्वाच्च । व्यवहारनिषेधे तन्निमित्त-विरहौपाधिकत्वात्, बाधितत्वाच्च । न चानधिगतार्थत्वमेव तन्निमित्तम् ।

क्योंकि उक्त साध्य और हेतु दोनों अभिन्न हैं । अतः सिद्धसाधन दोष अनिवार्य है । यदि पक्ष में गृहीतग्राहित्व रूप हेतु सिद्ध नहीं भी है तथापि दोनों में अभेद तो है ही । साध्य और हेतु का 'अविशेष' अर्थात् अभिन्न होना ही 'साध्यसम' दोष है । तस्मात् 'प्रमा' शब्द के द्वितीय अर्थ के अनुसार अनुमान में सिद्धिसाधन एवं साध्यसम इन दोषों के कारण अप्रमात्व की सिद्धि नहीं हो सकती ।

(३) 'प्रमा' शब्द के तीसरे अर्थ के प्रसङ्ग में यह कहना है कि 'व्यवहार' शब्द का अर्थ है 'शब्द प्रयोग' । जो प्रकृत में 'प्रमाशब्दवाच्यत्व' रूप होगा । तदनुसार अनुमान वाक्य का यह स्वरूप निष्पन्न होता है 'तत्' अर्थात् फलीभूतम् द्वितीयादिज्ञानम् प्रमापद-वाच्यत्वाभाववत् अगृहीतग्राहित्वात्' इस अनुमान में 'तन्निमित्त विरह अर्थात् प्रमापद का प्रवृत्तिनिमित्त का विरह रूप[1] 'उपाधि' एवं 'बाध[2]' ये दो दोष हैं ।

पू० प० न चानधिगतार्थम् ··· ··· ··· ···

'तद्वति तत्प्रकारकत्वानुभवत्व' स्वरूप धर्म प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, किन्तु 'अगृहीतग्राहित्व' ही प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त है । अतः जितने ज्ञान अग्रहीतग्राही हैं, वे ही प्रमा पद के वाच्य अर्थ हैं । इसलिये प्रमापदप्रवृत्तिनिमित्ताभाव वास्तव में 'अगृहित ग्राहित्वाभाव' ही है । अतः उक्त अनुमान में उपाधि दोष नहीं है, क्योंकि प्रमापदवाच्यत्वाभाव रूप साध्य की व्यापकता के रहने पर भी 'अगृहीतग्राहित्वभाव' फलतः गृहीतग्राहित्व रूप हेतु का व्यापक ही है । क्योंकि स्व-स्व का व्यापक होता ही है । प्रकृत उपाधि एवं हेतु दोनों एक हैं, क्योंकि प्रमापदप्रवृत्तिनिमित्ताभाव रूप उपाधि का पर्यवसित अर्थ 'गृहीतग्राहित्व' ही होता है । अतः उक्त अनुमान में प्रमा पदप्रवृत्तिनिमित्ताभाव रूप उपाधि दोष नहीं है ।

---

1. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व है 'उपाधि' । प्रकृत में साध्य है प्रमापद-वाच्यत्वाभाव उसका अधिकरण है अप्रमाज्ञान, उसमें प्रमापदवाच्यत्वाभाव रूप उपाधि है, अतः प्रमापदवाच्यत्वाभाव में साध्य का व्यापकत्व है । एवं हेतु है अग्रहीत ग्राहित्व उसका अधिकरण है पक्षीभूत उक्त द्वितीयादिज्ञान, उनमें प्रमापद का प्रवृत्ति-निमित्त जो तद्वतितत्प्रकारकत्व वह भी है—इसलिये उसमें प्रमापद के प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव नहीं है, इसलिये प्रमापद के प्रवृत्तिनिमित्त के अभाव में साधन का अव्यापकत्व भी है ।

२. उक्त अनुमान में बाध दोष स्पष्ट है, क्योंकि—उक्त द्वितीयादिज्ञानों मे भी प्रमापद का व्यवहार होता ही है । अतः उन गृहितग्राही द्वितीयादिज्ञानों में प्रमापदवाच्यत्वा-भाव नहीं हैं, क्योंकि उनमें प्रमापद वाच्यत्व ही है ।

विपर्ययेऽपि प्रमाव्यवहारप्रसङ्गात् । नाऽपि यथार्थत्वविशिष्टमेतदेव; धारावहन-बुद्ध्यव्याप्तेः । न च तत्तत्कालकलाविशिष्टतया तत्राप्यनधिगतार्थत्वमुपपादनीयम्; क्षणोपाधीनामनाकलनात् ।

सि० प० विपर्ययेऽपि — ... ...

जो धर्म जिस पद का प्रवृत्तिनिमित्त होता है, उस धर्म से युक्त अर्थ ही उस पद का वाच्य होता है। घट पद का प्रवृत्तिनिमित्त है घटत्व, इसलिये घटत्व से युक्त घट रूप अर्थ घटपद का वाच्य है। इस नियम के अनुसार जो धर्म प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त होगा, उस धर्म से युक्त वस्तु प्रमा पद का वाच्य भी अवश्य होगा। अगृहीतग्राहित्व रूप धर्म (प्राथमिक) विपर्ययात्मक ज्ञान में भी है। यदि अगृहीतग्राहित्व को प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त मानेंगे तो अगृहीतग्राहित्व रूप धर्म से युक्त उक्त विपर्यय को प्रमा पद का वाच्य अर्थ मानना होगा। अतः विपर्यय रूप अप्रमाज्ञान में भी प्रमा पद का स्वारसिक प्रयोग होने लगेगा। अतः अगृहीतग्राहित्व प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं हो सकता।

नापि ... ...

केवल 'अगृहीतग्राहित्व' प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त भले ही न हो सके, किन्तु यथार्थत्व विशिष्ट अगृहीतग्राहित्व को प्रमा पद का प्रवृत्तनिमित्त मान कर विपर्यय में प्रमा पद के स्वारसिक प्रयोग की आपत्ति को दूर किया जा सकता है।

सि० प० धारावहन ... ...

धारावाहिक बुद्धियों में अर्थात् उक्त द्वितीयादि ज्ञानों की धारा के प्रत्येक ज्ञान में प्रमा पद का स्वारसिक प्रयोग होता है। किन्तु इन ज्ञानों में उक्त 'विशिष्ट' प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूप धर्म नहीं है, क्योंकि उनमें अगृहीतग्राहित्व नहीं है। उनके विषय प्राथमिक ज्ञान के द्वारा गृहीत हैं। अतः उक्त कथन भी ठीक नहीं है।

न च ... ...

प्रथम ज्ञान में जितने विषय भासित होते हैं, द्वितीयादि ज्ञानों में उन विषयों के अतिरिक्त उन ज्ञानों के आश्रयीभूत काल भी भासित होते हैं। काल रूप यह विषय प्राथमिक ज्ञान से अवगत नहीं रहता है। अतः उक्त क्षण रूप अनधिगत विषयक होने से द्वितीयादि ज्ञान भी अनधिगतार्थ विषयक हैं। इसलिये उनमें भी अगृहीतग्राहित्व भी है, यथार्थत्व तो है ही। अतः उक्त ज्ञानों में उक्त विशिष्ट प्रवृत्तिनिमित्त की सत्ता में कोई विवाद नहीं है।

प० स० क्षणोपाधीनाम् ... ...

द्वितीयादि ज्ञानों में उनके आश्रयीभूत क्षणों का भान नहीं होता है। अर्थात् क्षण रूप काल आश्रय होने पर भी वे उन ज्ञानों के विषय नहीं है। अतः द्वितीयादि ज्ञानों में भी उक्त क्षणविषयकत्व रूप विशेष से भी अगृहीतग्राहित्व का उपपादन नहीं किया जा सकता।

न चाज्ञातेष्वपि विशेषणेषु तज्जनितविशिष्टता प्रकाशत इति कल्पनीयम्; स्वरूपेण तज्जननेऽनागतादिविशिष्टताऽनुभवविरोधात् । तज्ज्ञानेन तु तज्जनने सूर्यगत्यादीनामज्ञाने तद्विशिष्टताऽनुत्पादात् ।

पू० प० न चाज्ञातेषु ··· ··· —

विशेषण से विशेष्य में 'विशिष्टता' नाम के एक धर्म की उत्पत्ति होती है । विशिष्टता की यह उत्पत्ति ज्ञात विशेषण से भी होती है, अज्ञात विशेषण से भी होती है । जो विशेषण विशेष्य के ज्ञान में स्वयं नहीं भी भासित होते है, तथापि उनकी विशिष्टता अवश्य भासित होती हैं । अतः द्वितीयादि ज्ञानों के आश्रयीभूत क्षण की विशिष्टता भी उनमें अवश्य उत्पन्न होती हैं, एवं भासित भी होती है । प्राथमिक ज्ञान के विषय एवं द्वितीयादिज्ञानों के विषय यद्यपि स्वरूपतः एक ही हैं, तथापि प्रथमक्षणविशिष्ट घटादि एवं द्वितीयक्षणवृत्ति घटादि दोनों भिन्न हैं । अतः धारावाहिक ज्ञान के घटक प्रत्येक ज्ञान का तत्तत्क्षणविशिष्ट विषय भिन्न-भिन्न ही है । इस प्रकार उनमें से कोई भी ज्ञान अधिगतार्थविषयक नहीं है । अतः धारावाहिक ज्ञान में अगृहीत ग्राहित्व के रहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

सि० प० स्वरूपेण[1] ··· ··· ···

'स्वरूपतः' अर्थात् केवल विशेषण से, फलतः विशेष्य में विद्यमान धर्म मात्र से विशेष्य में 'विशिष्टता' की उत्पत्ति मानें, एवं उसका भान विशिष्टबुद्धि में मानें तो अनधिगत घट में 'अनागतत्व' की जो स्वारसिक प्रतीति होती है, वह अनुपपन्न हो जायगी । क्योंकि उस समय घट की सत्ता ही नहीं है, फिर अनागतत्व रूप विशेषण कहाँ 'स्वविशिष्टता' का संपादन करेगा ? अतः यह भी पक्ष ठीक नहीं है ।

तज्ज्ञानेन ··· ··· ···

यदि विशेषण के ज्ञान से विशेष्य में 'विशिष्टता' की उत्पत्ति मानेंगे, तो प्रकृत द्वितीयादि ज्ञानों के विशेष्य में तत्काल 'विशिष्टता' की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सूर्यादि की गति ही काल की ज्ञापिका हैं । सूर्यादि की गतियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं । अतः स्थानान्तर प्राप्ति से उक्त गतियों की अनुमिति ही होती है । क्षण की ज्ञापिका ये गतियाँ अपनी अत्यन्त सूक्ष्मता

---

१. इस समाधान सन्दर्भ को समझने के लिये पूर्वपक्षी के उक्त कथन के प्रसङ्ग में यह विकल्प उपस्थित करना चाहिये कि (१) विशेष्य में उक्त विशिष्टता की उत्पत्ति केवल विशेषण से होती है ? अथवा (२) विशेषण के ज्ञान से होती है । इनमें प्रथम पक्ष का खण्डन 'स्वरूपेण' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है । एवं 'तज्ज्ञानेन' इत्यादि से द्वितीय पक्ष खण्डित हुआ है ।

न चैतस्यां प्रमाणमस्ति। नन्वनुपकार्यानुपकारकयोर्विशेषणविशेष्यभावे कथमतिप्रसङ्गो वारणीयः ? व्यवच्छित्तिप्रत्यायनेन, व्यवच्छित्तौ स्वभावेन। अन्यथा तवाप्यनवस्थानादिति।

के कारण द्वितीयादि (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञानों में भासित नहीं हो सकती। अतः उस समय काल रूप विशेषण का ज्ञान संभव ही नहीं है। यदि उक्त द्वितीयादि ज्ञानों में अनधिगतविषयत्व के संपादन के लिए ही उनमें काल के वैशिष्ट्य का भान मानना है, और वह भान संभव नहीं है, तो फिर विशेषण से विशेष्य में 'विशिष्टता' नाम की किसी वस्तु की उत्पत्ति को स्वीकार करना ही व्यर्थ है।

न चैतस्याम् ··· ··· ···

इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है कि 'विशेष्य में विशेषण के द्वारा विशिष्टता नाम की किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है'।

पू० प० नन्वनुपकार्य ··· ··· ···

विशेषण वही हो सकता है जो 'विशेष्य का कोई 'उपकार' कर सके। विशेष्य में केवल विद्यमान रहने से ही विशेषण नहीं हो जाता। यदि ऐसा स्वीकार करे तो भूतल रूप विशेष्य का जैसे कि घट विशेषण है, उसी प्रकार भूतल में रहने वाले प्रमेयत्वादि उसके विशेषण हो जायगे। इस अतिप्रसङ्ग को हटाने के लिए मानना होगा कि विशेष्य में विद्यमान रहकर जो उसके किसी उपकार का संपादन कर सके वही 'विशेषण' है। यह 'उपकार' विशेष्य में 'विशिष्टता' नाम की वस्तु के उत्पादन को छोड़कर और कुछ नहीं है। अतः किन्हीं दो वस्तुओं में विशेष्यविशेषण भाव को स्वीकार करने के लिए दोनो में उपकार्य-उपकारभाव का मानना भी आवश्यक है। इसका पर्यवसान ही विशेष्य में विशेषण से विशिष्टता नाम की वस्तु के उत्पादन को स्वीकार करने में होती है। अतः 'विशिष्टता' अप्रमाणिक नहीं है।

सि० प० व्यवच्छित्तिप्रत्यायनेन ··· ··· ···

विशेष्यविशेषणभाव के लिए उपकार्योपकारकभाव का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, विशेषण का प्रयोजन है विशेष्य को उसके सजातीयों से पृथक् रूप में समझाना, स्व

---

१. 'न चा ज्ञातेषु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'विशेष्य में विशेषण के द्वारा विशिष्टता नाम की कोई वस्तु उत्पन्न होती है' इस पक्ष के बाधक युक्तियों का प्रदर्शन किया गया है। किन्तु इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि यदि उक्त पक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध है, तो फिर सहस्रों बाधक उसको अन्यथा नहीं कर सकते। इसलिये आचार्य ने 'न चैतस्याम्' यह सन्दर्भ लिखा है। अर्थात् उक्त सिद्धान्त के बाधक प्रमाण ही केवल नहीं है किन्तु साधकप्रमाण का अभाव भी है।

ज्ञाततैवोपाधिरिति चेत् ?

में स्वेतर भिन्नत्व की बुद्धि ही 'व्यवच्छित्ति अथवा 'व्यवच्छेद' है। भूतल का घट रूप विशेषण अपने आश्रयीभूत भूतल प्रदेश को घटशून्य अन्य प्रदेशों से विलक्षण रूप से उपस्थित करता है। यह कार्य भूतल में रहने वाले घट के द्वारा ही हो सकता है, उसी में रहने वाले प्रमेयत्वादि धर्मों के द्वारा नहीं। क्यों कि प्रमेयत्वादि तो व्यवच्छेद्य स्वरूप घट शून्य प्रदेशों में भी हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'व्यवच्छित्ति' प्रत्यय को उत्पन्न करना (व्यवच्छित्ति-प्रत्ययजनकत्व) ही 'विशेषण का लक्षण है। यह लक्षण कथित घटादि में हैं, अतः वे विशेषण हैं, प्रमेयत्वादि में नहीं है, अतः वे भूतल के विशेषण नहीं हैं। यह काम तो विशेष्य में विशेषण के सम्बन्ध को मान लेने से ही अच्छी रीति से सम्पन्न हो सकता है। इसके लिए विशेष्य में विशेषण के द्वारा विशिष्टता नाम के किसी पदार्थ की उत्पत्ति को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

'अन्यथा' यदि विशेषण का विशेष्य में सम्बन्ध के रहते हुये भी वह अपने व्यच्छित्ति-प्रत्यय' रूप कार्य को न कर सके तो फिर उक्त 'विशिष्टता' को स्वीकार करने पर भी यह प्रश्न उपस्थित होगा कि यह 'विशिष्टता' अपने आश्रयी भूत विशेष्य में व्यवच्छित्तिप्रत्यय रूप 'उपकार' का सम्पादन ही किस प्रकार करेगी ? यदि विशेष्य में उस विशिष्टता के द्वारा भी किसी अतिरिक्त वस्तु की उत्पत्ति मानेंगे तो 'अनवस्था' होगी। यदि 'विशिष्टता' विशेष्य में किसी अतिरिक्त वस्तु के उत्पादन के विना भी यदि 'व्यवच्छित्ति' प्रत्यय रूप अपने कार्य का संपादन कर सकती है, तो फिर विशेषण भी विशेष्य में केवल अपने सम्बन्ध से ही व्यवच्छित्ति प्रत्यय का उत्पादन कर सकता है, इसके लिये विशेषण से विशेष्य में 'विशिष्टता' नाम के किसी पदार्थ के उत्पादन को स्वीकार करना अनावश्यक है।

पू० प० ज्ञाततैव --- ... --- ---

घटज्ञान के बाद 'ज्ञातो घटः' इस आकार की प्रतीति को सभी मानते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसा मानना होगा कि धारावाहिकज्ञानों में से जो पहिला ज्ञान है, उसमें भासित होनेवाले घट में ज्ञातता नहीं है। अतः यह घटज्ञान ज्ञातता से रहित घट विषयक है। द्वितीयादि ज्ञानों में भी यद्यपि वही घट भासित होता है, उस समय घट में प्रथमज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति हो गयी रहती है। अतः द्वितीयादि ज्ञान प्रथमज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता से युक्त घट विषयक हैं। प्रथमज्ञान के द्वारा केवल घट ही अवगत है, ज्ञातता नहीं। अतः द्वितीयदिज्ञान 'ज्ञातता' रूप अनवगत विषयक हैं। इसी प्रकार तृतीयज्ञान में दो ज्ञातताओं का भान होता है, एक है प्रथमज्ञानजन्य ज्ञातता जो द्वितीयज्ञान में भासित होने के कारण 'अवगत' है। दूसरी है द्वितीयज्ञानजन्य ज्ञातता जो पहिले से अवगत नहीं है।

न, निराकरिष्यमाणत्वात् । तत्सद्भावेऽपि वा स्मृतेरपि तथैव प्रामाण्यप्रसङ्गात् । जनकागोचरत्वेऽप्युत्तरोत्तरस्मृतौ पूर्वंपूर्वंस्मरणजनितज्ञातताऽवभासनात् ।

अतः तृतीयज्ञान भी अनवगत विषयक है ही । इसी प्रकार धारावाहिक चतुर्थादि ज्ञानों में अनवगत विषयकत्व का सम्पादन करना चाहिये । अतः प्रमा का 'अपूर्वदृक्त्व' लक्षण धारावाहिकज्ञानों में अव्याप्त नहीं है ।[1]

न, निराकरिष्यमाणत्वात् ··· ··· ··· ···

(१) (पहिली बात यह है कि ज्ञातता नाम की कोई वस्तु ही नहीं है) ज्ञातता ही आगे (श्लोक ३) खण्डनीय है ।

तत्सद्भावेऽपि ... ...

यदि ज्ञातता की सत्ता को स्वीकार भी करलें, एवं उक्त द्वितीयादि ज्ञानों में ज्ञातता रूप अनधिगत विषय का भान मान कर उनमें प्रामाण्य का सम्पादन करें, तो फिर इसी रीति से स्मृति में भी प्रामाण्य को स्वीकार करना होगा । अर्थात् उक्त अपूर्वदृक्त्व रूप प्रमा लक्षण स्मृति में अतिव्याप्त हो जायगा ।[2]

जनकागोचरत्वेऽपि ··· ··· ··· ···

(मीमांसक कह सकते हैं कि उक्त अतिव्याप्ति दोष नहीं है, क्योंकि नियमानुसार स्मृति में उतने ही विषय भासित हो सकते हैं, जिनका पूर्वानुभव में भान हो चुका हो । पूर्वानुभव में ज्ञातता का भान नहीं होता, अतः स्मृति में ज्ञातता का भान हो ही नहीं सकता । अतः स्मृति ज्ञातता रूप अनधिगत विषयक नहीं है, किन्तु पूर्वानुभव के द्वारा ज्ञात

---

१. इस सन्दर्भ का 'उपाधि' पद का अर्थ है 'अनधिगत विषयत्व का प्रयोजक विशेष धर्म' । अर्थात् 'ज्ञातता' ही धारावाहिकज्ञानों में 'अनधिगतविषयत्व' का प्रयोजक विशेष धर्म है ।

२. अभिप्राय यह है कि अनुभव के द्वारा पहिले जो विषय ज्ञात रहता है, स्मृति उसी विषय की होती है । अतः स्मृति के जितने भी विषय होंगे वे सभी पूर्वानुभव के विषय होने से ज्ञातता से भी अवश्य युक्त होंगे । किन्तु यह 'ज्ञातता' पूर्वानुभव के द्वारा ज्ञात नहीं रहती है । अतः एतद्विषयक स्मृति रूप ज्ञान अनवगतार्थ विषयक हो जायगी । अतः जिस स्मृति में प्रमात्व के वारण के लिये आप प्रमा के लक्षण में अगृहीतग्राहित्व विशेषण देते है, प्रमात्व लक्षण की यह अतिव्याप्ति उक्त विशेषण देने पर भी है ही । अतः उक्त विशेषण को ही वैयर्थ्य हो जायगा ।

अस्तु वा प्रत्यक्षे यथा तथा, गृहीतविस्मृतार्थश्रुतौ का वार्ता ? अप्रमैवाऽसाविति चेत्; गतमिदानीं वेदप्रामाण्यप्रत्याशाया ?

विषयक ही है। अतः स्मृति अनधिगत विषयक नहीं है, इस लिये स्मृति में प्रमा लक्षण को अतिव्याप्ति नहीं है। किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है क्योंकि—

उत्तरोत्तरस्मृतौ ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार धारावाहिक अनुभव होता है, उसी प्रकार स्मृति की भी धारा होती है। एवं जिस अनुभव के बल पर अनुभव के विषय में अनुभव से ज्ञातता का उत्पत्ति माननी पड़ती है, उसी प्रकार अनुभव के बल पर ही स्मृति के विषय में स्मृति से 'स्मृतता' (रूप ज्ञातता) की उत्पत्ति भी माननी होगी। इससे धारावाहिक स्मृतियों की जो दूसरी तीसरी स्मृतियाँ होंगी, उनमें प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि ये स्मृतियाँ भी 'स्मृतता' रूप ज्ञातता विषयक हैं। यह स्मृतता पूर्व से ज्ञात नहीं है। अतः यदि ज्ञातता के द्वारा धारावाहिक द्वितीयस्मृति में अतिव्याप्ति के वारण का प्रयास करेंगे, तो धारावाहिक स्मृति की द्वितीयादिस्मृतियों में अतिव्याप्ति हो जायगी।

(३) अस्तु वा ··· ··· ··· ···

जिस श्रुति से एकबार शाब्दबोध हो चुका है, बाद में उस श्रुति का अर्थ विस्मृत भी हो जाता है। फिर उसी श्रुति के सुनने से पुरुष को उस श्रुति के अर्थ का प्राथमिक ही बोध होता है। यह द्वितीय बोध भी 'प्राथमिक शाब्दबोध' ही है, अतः उसमें अगृहीतग्राहित्व घटित प्रमा लक्षण की अव्याप्ति अनिवार्य है।

पू० प० अप्रमैव सा ··· ··· ··· ···

उक्त द्वितीय प्राथमिकज्ञान 'अप्रमा' ही है, अतः प्रमा लक्षण का वह लक्ष्य ही नहीं है, फिर अव्याप्ति कैसी ?

सि० प० गतम् ··· ··· ··· ···

तो फिर मीमांसकों को वेद प्रामाण्य की आशा को छोड़ ही देनी उचित होगी। क्योंकि उनके मत से संसार अनादि एवं अनन्त है, एवं वेद नित्य हैं। आत्मा भी नित्य है। ऐसी स्थिति में जिस समय जिस पुरुष को 'स्वर्ग कामो यजेत' इस वाक्य से बोध होगा, उससे पूर्व भी उसी विषय का उसी प्रकार का बोध अवश्य हुआ रहेगा। फलतः श्रुतियों से होनेवाले सभी बोध 'गृहीतग्राही' ही होंगे। अतः वेदार्थ विषयक सभी बोध अप्रमा हो जायँगे। अतः वेद के प्रामाण्य की आशा छोड़ देनी होगी।

न ह्यनादौ संसारे 'स्वर्गकामो यजेते' ति वाक्यार्थः केनचिन्नावगत;। सन्देहेऽपि प्रामाण्यसन्देहात्। न च तत्रापि कालकलाविशेषाः परिस्फुरन्ति। न चैकजन्मावच्छेदपरिभाषयेदं लक्षणम्।

सन्देहेऽपि ··· ··· ··· ···

(यदि मीमांसक ऐसा कहें कि यह कोई निश्चित नहीं है कि जिस पुरुष को जिस समय श्रुत्यर्थ का बोध होगा, उससे पूर्व भी उस पुरुष को श्रुत्यर्थ विषयक बोध अवश्य हुआ होगा। अतः श्रुत्यर्थ विषयक सभी बोधों में अगृहीतग्राहित्व सन्दिग्ध है, निर्णीत नहीं। इसका यह समाधान है कि मीमांसकों के मत से) सृष्टि चूंकि अनादि है, एवं वेद और आत्मा दोनों ही नित्य हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति के वेदार्थ विषयक बोध में यह सन्देह अवश्य होगा कि 'इसका विषय कदाचित् पूर्व ज्ञात न हो, इस व्यक्ति को कदाचित् पहिले भी इसका ज्ञान न हो गया हो। जिसका निश्चय जिसके निश्चय का कारण होता है, उसका संशय भी उसके संशय का कारण होता है। अर्थात् व्याप्य का संशय व्यापक के संशय का कारण होता है (जैसे कि धूम का निश्चय वह्नि के निश्चय का कारण है, अतः धूम का संशय भी वह्नि संशय का कारण होता है)। प्रकृत में ज्ञान में अगृहीतग्राहित्व का निश्चय यदि ज्ञान में प्रमात्व निश्चय का कारण है, तो ज्ञान में अगृहीतग्राहित्व का संशय भी ज्ञान में प्रमात्व के संशय को अवश्य ही उत्पन्न करेगा।

न च तत्रापि ··· ··· ···

(यदि यह कहें कि जिस प्रकार धारवाहिक ज्ञानों के अन्तर्गत द्वितीयादि ज्ञानों में स्वाश्रयीभूत काल रूप अनवगत विषय के परिस्फुरण से अगृहीतग्राहित्व का सम्पादन कर आये हैं, उसी प्रकार वेदार्थ विषयक इन शाब्दबोधों में भी स्वाश्रयीभूत काल के परिस्फुरण से ही अगृहीतग्राहित्व का संपादन कर लेंगे, तो सो भी संभव) नहीं होगा, क्योंकि 'स्वर्गकामो-यजेत' इत्यादि शब्दजनित बोधों में स्वर्गादि विषयों के आश्रयीभूत काल का परिस्फुरण अनुभव के विरुद्ध है।

न चैक ··· ··· ···

एक पुरुष की एकजन्म की अवधि में जो प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है, 'अगृहीतग्राहित्व' उसी प्रमाज्ञान का लक्षण किया गया है। अतः सृष्टि की अनादि होने से जो अन्य जन्म के तत्तद्वेदार्थ विषयकज्ञान से इस जन्म के वेदार्थ विषयकज्ञान में गृहीतग्राहित्व की कोई सम्भावना नहीं है[1])।

---

1. अर्थात् एतज्जन्मावधिक एतद्व्यक्ति के एतद्विषयक प्रमाज्ञान का लक्षण है, एतद्व्यक्ति का एतज्जन्मावधिक एतद्विषयकज्ञानागृहीतविषयकत्व। अतः अन्यजन्म के वेदार्थ विषयकबोध से इस जन्म के वेदार्थ विषयकबोध में गृहीतग्राहित्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

तत्राप्यनुभूतविस्मृतवेदार्थं प्रति अप्रामाण्यप्रसङ्गात् । कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः ? । अननुभवत्वेनैव । यथार्थो ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति । 'तत्त्वज्ञानात्' इति सूत्रणात् । 'अव्यभिचारिज्ञानमि'ति च ।

यह समाधान भी उचित नहीं है, क्योंकि (१) पहिली बात यह है कि एकजन्म के प्रमाज्ञान के लिये प्रमा का एक लक्षण करना ही अनुचित है। दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तथापि यह कहने का अवसर है कि जिस पुरुष को इसी जन्म में अनुभूत वेदार्थ रूप विषय का विस्मरण इसी जन्म में हो गया है, उस व्यक्ति को वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी ही। अतः प्रमा के लक्षण में अगृहीत ग्राहित्व रूप विशेषण देना ही अनुचित है।

पू० प० कथं तर्हि ··· ··· ··· ···

यदि प्रमा के लक्षण में अगृहीत ग्राहित्व विशेषण न देंगे, तो स्मृति में प्रमात्व व्यवहार का प्रतिरोध कैसे होगा ?

सि० प० [1]अननुभवत्वेनैव ··· ··· ··· ···

स्मृति चूँकि अनुभव से भिन्न है, केवल इसी से उसमें प्रमात्व का व्यवहार नहीं होता है। तद्वति तत्प्रकारकानुभवत्व ही प्रमा का लक्षण प्रामाणिकों को अभिप्रेत है। क्योंकि महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र में 'तत्त्वज्ञानात्' इस वाक्य का एवं 'इन्द्रियार्थ संनिकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि प्रत्यक्षसूत्र में 'अव्यभिचारिज्ञानम्' इस वाक्य का प्रयोग किया है।[2]

---

1. 'अननुभवत्वेनैव' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा आचार्य ने श्लोक के तीसरे चरण की व्याख्या आरम्भ की है।

2. कहने का अभिप्राय है कि प्रथम सूत्र के द्वारा तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस के अधिगम की बात कही है। निःश्रेयस है मोक्ष। एवं आगे 'दुःख जन्म प्रवृत्ति' इत्यादि सूत्र के द्वारा तत्त्वज्ञान से मोक्ष की उत्पत्ति क्रम का उपपादन करते हुये महर्षि ने कहा है कि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, एवं मिथ्याज्ञान के नाश से दोष, प्रवृत्ति, जन्म इनके नाश क्रम से दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष की उत्पत्ति होती है। इससे यह फलित होता है कि बन्ध के कारणीभूत ज्ञान चूँकि मिथ्या हैं— अयथार्थ हैं, अतः तत्त्वज्ञान से उनका नाश होता है। तदभाववति तत्प्रकारकानुभवत्व ही अयथार्थत्व है। तत्त्वज्ञान को इस अयथार्थज्ञान का विरोधी अवश्य होना चाहिये। अतः 'तत्त्वज्ञान' अर्थात् तद्वतितत्प्रकारकनुभवा ही यथार्थज्ञान है।

ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्यात्? यथार्थज्ञानत्वात्, प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेन्न। सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्।

न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्; अव्यवस्थया व्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्।

पु० प० ननु ··· ··· ··· ···

यदि (तद्वतितत्प्रकारकज्ञान रूप) यथार्थज्ञान ही प्रमा है (प्रमा के लक्षण में अनधिगत विषयत्व का देना आवश्यक नहीं हैं) तो फिर 'स्मृति' भी यथार्थज्ञान क्यों नहीं है? क्योंकि कुछ स्मृतियाँ भी प्रत्यक्षादि अनुभवों के समान ही तद्वति तत्प्रकारक होतीं हैं। एवं ज्ञान तो वे हैं ही।

सि० प० न, सिद्धे ··· ··· ··· ···

व्वहार के अनुसार (प्रवृत्त) 'निमित्त' की कल्पना की जाती है। यदि स्मृति में भी प्रामाणिक गण 'प्रमा' पद का प्रयोग रूप व्यवहार करते, तो प्रमा पद के इस प्रकार के प्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना की जा सकती थी, जिससे उस प्रवृत्तिनिमित्तभूत धर्म की सत्ता स्मृति में भी रहे। जिससे स्मृति में भी प्रमा पद का व्यवहार हो, किन्तु प्रमाणिकगण स्मृति से भिन्न तद्वतितत्प्रकारक अनुभव में ही प्रमा पद का व्यवहार करते आये है। यदि 'परम्परा व्यवहार' रूप 'व्यवस्था' को स्वीकार न कर अपनी इच्छा के अनुसार ही पदों के प्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना करें तो लोक व्यवहार में विप्लव उपस्थित हो जायगा।

अतः प्रभा पद के ऐसे ही प्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना करनी पड़ती है. जो स्मृतियों में न रहे, एवं यथार्थ प्रत्यक्षादि अनुभवों में रहे। वह प्रवृतिनिमित्त धर्म है 'तद्वति तत्प्रकारकानुभवत्व' रूप। तद्वतितत्प्रकारकनुभवत्व रूप यह प्रमा पद का प्रवृत्तिनिमित्त धर्म चूँकि स्मृतियों में नहीं है, अतः उनमें प्रमा पद का व्यवहार नहीं होता है। क्योंकि स्मृति में तद्वतितत्प्रकारकत्व के रहने पर भी अनुभवत्व नहीं है। अतः स्मृति में प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति (अगृहीतग्राहित्व के न देने पर भी) नहीं है।

इसी प्रकार कथित 'अव्यभिचारि विशेषण से भी प्रमाज्ञान का उक्त लक्षण अभिप्रेत जान पड़ता है। जो विशेषण विशेष्य में न रहे, उस विशेष्य में विशेषण का ज्ञान ही 'व्यभिचारि' ज्ञान है। इसका पर्यवसान तदभाववति तत्प्रकारकत्व में होता है। इससे स्पष्ट है कि गौतमादि 'प्रामाणिक' गण तद्वति तत्प्रकारकज्ञान को ही यथार्थज्ञान मानते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान को मिथ्याज्ञान का विरोधी होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब कि प्रमाज्ञान को तद्वति तत्प्रकारकज्ञान रूप माना जाय।

न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति, पृथगनुपदेशात् । उक्तेष्वन्तर्भावादनुपदेश इति चेन्न । प्रत्यक्षस्यासाक्षात्कारिफलत्वानुपपत्तेः, लिङ्गशब्दादेश्च सत्तामात्रेण प्रतीत्यसाधनत्वादिति ।

न च स्मृति हेतौ ··· ··· ··· ···

(प्रश्न रह जाता है कि प्रमाणिकगण स्मृति में प्रमा पद का प्रयोग (व्यवहार) नहीं करते हैं—इसमें क्या प्रमाण है ? इसका यह उत्तर है कि स्मृति में भी प्रमा पद का व्यवहार यदि महर्षियों को अभीष्ट रहता तो वे स्मृति रूप प्रमा के करणभूत प्रमाण का भी स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करते । चूँकि उन्होंने ऐसा नहीं किया है, अतः यह समझना सरल है कि वे स्मृति में प्रमा पद का व्यवहार वे नहीं करते थे । अतः स्मृति प्रमा नहीं है ।

पू० प० उक्तेषु ··· ··· ···

प्रमा के जिन 'करणों' का महर्षियों ने उल्लेख किया है, उन्हीं करणों से स्मृति रूप प्रमा की भी उपपत्ति हो जायगी । अतः उन्होने स्मृति रूप प्रमा के करणों का अलग से उल्लेख नहीं किया है । अतः स्मृति के करणीभूत प्रमाणों के स्वतन्त्र रूप से उल्लेख न रहने से स्मृति में प्रमात्व का निराकरण नहीं हो सकता ।

सि० प० न, प्रत्यक्षस्य ··· ··· ···

महर्षि ने प्रत्यक्षादि जिन चार प्रमाणों का उल्लेख किया है, उनमें से किसी से भी स्मृति की उपपत्ति नहीं हो सकती । स्मृति परोक्षाकारक होती है, प्रत्यक्ष प्रमाण से परोक्षाकारक ज्ञान नहीं उत्पन्न होता, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से स्मृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अनुमान और शब्द ये दोनों ही प्रमाण स्वयं ज्ञात होकर ही अपने अपने फल रूप प्रमा ज्ञानों का उत्पादन करते हैं । स्मृति में पूर्वानुभव को छोड़कर अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। अतः अनुमान और शब्द इन दोनों में से भी किसी के करण से स्मृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती । उपमान प्रमाण से तो स्मृति की उत्पत्ति संभव ही नहीं है, क्योंकि उससे तो केवल 'शक्तिज्ञान' ही उत्पन्न होता है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों से चूँकि स्मृति की उत्पत्ति संभव नहीं है, अतः महर्षि के स्मृति रूप प्रमा के लिये स्वतन्त्र रूप से किसी प्रमाण के अनुल्लेख से यह समझा जा सकता है कि स्मृति में वे प्रमा पद का व्यवहार नहीं करते थे ।

एवं व्यवस्थिते तर्क्यतेऽपि। यदियमनुभवैकविषया सती तन्मुखनिरीक्षणेन तद्यथार्थत्वायथार्थत्वे अनुविधीयमाना तत्प्रामाण्यमव्यवस्थाप्य न यथार्थतया व्यवहर्तुं शक्यत इति। व्यवहारेऽपि पूर्वानुभव एव प्रमितिरनपेक्षत्वात्। न तु स्मृतिः, नित्यं तदपेक्षणात्। असमीचने ह्यनुभवे स्मृतिरपि तथैव। नन्वेवमनुमानमप्यप्रमाण-मापद्येत, मूलप्रत्यक्षानुविधानात्। न। विषयभेदात्।

एवं स्थिते ··· ··· ··· (चतुर्थचरण की व्याख्या)

यद्यपि उक्त रीति से स्मृति में अप्रमात्व की सिद्धि की जा चुकी है, तथापि 'तर्क' के द्वारा भी स्मृति में अप्रमात्व की उपपत्ति इस प्रकार की जा सकती है कि स्मृति में वे ही विषय भासित होते हैं, जिनका भान उसके कारणी भूत पूर्वानुभव में हो चुका रहता है। अतः पूर्वानुभव यदि प्रमात्मक होगा, तभी तज्जनित स्मृति प्रमा होगी। इसलिये स्मृति को यथार्थता या प्रमात्व पूर्वानुभव की यथार्थता के अधीन है। (स्मृति के प्रमात्व में जो पूर्वानुभव गत यथार्थत्व की अधीनता है, वही स्मृति का अपनी यथार्थता के लिये पूर्वानुभव का मुँह जोहना है)।

सुतराम् किसी स्मृति में तब तक प्रमात्व स्थिर नहीं हो सकता, जब तक कि उसके कारणीभूत पूर्वानुभव का प्रमात्व स्थिर न हो जाय। इस प्रकार चूँकि स्मृति का प्रमात्व पूर्वानुभव के प्रमात्व के अधीन है, अतः स्मृति में जो प्रमा पद का व्यवहार या प्रयोग होगा, उसके लिए भी पूर्वानुभव का प्रामाण्य अपेक्षित होगा। अतः स्मृति के मूलभूत पूर्वानुभव में ही प्रमात्व एवं प्रमा पद का प्रयोग (व्यवहार) उचित है, पूर्वानुभव सापेक्ष स्मृति में नहीं।

एवं अनुभव यदि 'असमीचीन' रहेगा अप्रमात्मक रहेगा, तो उससे होने वाली स्मृति भी अप्रमा ही होगी। सुतराम् स्मृति चूँकि नियमतः पूर्वानुभव की अपेक्षा रखती है, अतः प्रमा नहीं हो सकती।

पू० प० नन्वेवमनुमानम् ··· ··· ···

इस प्रकार तो अनुमिति भी प्रमा न रह जायगी, क्योंकि उसे भी किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष प्रमा की अपेक्षा अवश्य होती है।

सि० प० न, विषय ··· ··· ···

अनुमिति में हेतु प्रभृति के प्रत्यक्ष की ही अपेक्षा होती है, साध्य विषयक प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं होती है। स्मृति के प्रामाण्य में पूर्वानुभव के प्रामाण्य की जिस अपेक्षा का वर्णन किया गया, वह इससे भिन्न प्रकार की है। क्योंकि स्मृति जिस विषय की होती है, स्मृति में प्रामाण्य के लिए उसी विषय के पूर्वानुभव के प्रामाण्य की अपेक्षा होती है। अतः मानना होगा कि ज्ञान गत प्रमात्व के लिये जिस 'अनपेक्षत्व की चर्चा की गयी है वह स्वाप्यूनानतिरिक्त-

आगमस्तर्हि न प्रमाणं, तद्विषयमानान्तरानुविधानात् । न । प्रमातृभेदात् । धारावाहिकबुद्धयस्तर्हि न प्रमाणम्, आद्यप्रमाणानुविधानात् ।

विषय का किसी दूसरे ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व के प्रयोजकत्व की अनपेक्षा स्वरूप ही है। अतः अनुमिति में प्रमात्व की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

पू० प० आगमस्तर्हि ··· ··· ···

उक्त रीति से यद्यपि अनुमिति में प्रमात्व की अनुपपत्ति का उद्धार हो सकता है, फिर भी 'आगम' जनित ज्ञान (शाब्दबोध) में 'अप्रमात्व' की आपत्ति हो जायगी। क्योंकि श्रोता को जिस विषयक जैसा ज्ञान होता है, उसी विषय का वैसा ही ज्ञान वक्ता को पहिले से रहता है, क्योंकि उसी के अनुसार वह शब्द का प्रयोग करता है। अतः श्रोता में पुरुष गत शाब्दबोध का प्रमात्व उच्चारयिता पुरुषगत बोध में रहने वाले प्रमात्व के अधीन है। क्योंकि उच्चारयिता का बोध अगर यथार्थ है, तो श्रोता का बोध भी यथार्थ होता है। यदि उच्चारयिता का बोध अयथार्थ रहता है, तो श्रोता का बोध भी अयथार्थ ही होता है। अतः श्रोतागत बोध अर्थात् शाब्दबोध का प्रमात्व चूंकि उच्चारयिता पुरुष के बोध में रहने वाले प्रमात्व के अधीन है, अतः शाब्दबोध अप्रमा है। एवं प्रमा का करण नहीं होने से आगम प्रमाण नहीं रह जाता है। तस्मात् उक्त सापेक्षत्व प्रमात्व का विघटक नहीं है, अथवा उक्त अनपेक्षत्व प्रमात्व का साधक नहीं है।

सि० प० न, प्रमातृभेदात् ··· ··· ···

ऐसी बात नहीं है, क्योंकि स्मृति के पूर्वानुभव की सापेक्षत्व एवं शाब्दबोध में उच्चारयिता गत बोध की सापेक्षता इन दोनों में बड़ा अन्तर है। जिस पुरुष में स्मृति की उत्पत्ति होती है, उसी पुरुष में उत्पन्न पूर्वानुभव की सापेक्षता ही स्मृति में रहती है, किन्तु श्रोता में होने वाले जिस (शाब्द) बोध को स्वसमान विषयक दूसरे बोध की अपेक्षा होती है, वह बोध उच्चारयिता पुरुष में रहता है। अतः प्रयोज्य रूप शाब्दबोध एवं प्रयोजक रूप उच्चारयितृगत बोध दोनों के आश्रय भिन्न हैं। तत्पुरुष में रहने वाले तद्विषयक बोध के प्रमात्व का प्रयोजक तो उसी पुरुष में रहने वाले उसी विषयक बोध निष्ठ प्रमात्व का अनपेक्षता ही है। इस प्रकार की अनपेक्षता शाब्दबोधादि में है, अतः वे प्रमा है, उक्त अनपेक्षता स्मृति में नहीं है, अतः वे प्रमा नहीं हैं।

पू० प० धारावाहिक बुद्धयः ··· ··· ···

तब तो धारावाहिक ज्ञान के अन्तर्गत जो द्वितीयादि बुद्धियाँ हैं, उनमें अप्रमात्व की आपत्ति होगी। क्योंकि धारावाहिक ज्ञान का पहिला ज्ञान अगर यथार्थ (प्रमा) होता है, तो तदन्तर्गत आगे के ज्ञान भी प्रमा होते हैं, अन्यथा नहीं। अतः प्रथमज्ञान रूप आद्य 'प्रमाण' अर्थात् प्रमा, में रहने वाला प्रमात्व—उसका अनु-विधान (अनुगमन) द्वितीयादि ज्ञानों के प्रमात्व में है। एवं प्रथम ज्ञान एवं द्वितीयादि ज्ञान सभी समान विषयक एवं समान पुरुषीय भी है। अतः उक्त 'अनपेक्षत्व' प्रमात्व का प्रयोजक नहीं हो सकता।

न। कारणविशुद्धिमात्रापेक्षया प्रथमवदुत्तरासामपि पूर्वमुखनिरीक्षणाभावात्। कारणबलायातं काकतालीयं पौर्वापर्यमिति। यदि हि स्मृतिर्न प्रमितिः, पूर्वानुभवे किं प्रमाणम् ?

सि० प० कारणविशुद्धि ··· ··· ···

धारावाहिक ज्ञानों की उत्पत्ति उस स्थिति में होती है, जहाँ प्राथमिक ज्ञान की सामग्री अनेक क्षणों तक रहती है। उन क्षणों में उस सामग्री के रहने से उत्तरोत्तरक्षणों में एक ही प्रकार के ज्ञानों की परम्परा उत्पन्न होती है। ज्ञानों की यह परम्परा ही धारावाहिक ज्ञान कहलाती है। इनमें प्रथमज्ञान की अपेक्षा द्वितीयादि ज्ञानों को नहीं है। अतः जिस प्रकार धारावाहिक ज्ञानों के अन्तर्गत प्राथमिक ज्ञान अपने कारणों की विशुद्धि से ही प्रमा है; तदन्तर्गत द्वितीयादिज्ञान भी अपने अपने कारणों की विशुद्धि से ही प्रमा हैं। (अर्थात् विशुद्ध कारणों से उत्पन्न होने से ही वे प्रमा हैं)। अतः जिस प्रकार उक्त प्राथमिक ज्ञान अपनी प्रमात्व के लिये किसी दूसरे ज्ञान के प्रमात्व की अपेक्षा नहीं रखता है, उसी प्रकार द्वितीयादि ज्ञान भी अपने प्रमात्व के लिये किसी ज्ञान के प्रमात्व की अपेक्षा नहीं रखते।

तब रही बात धारावाहिक ज्ञानों के अन्तर्गत सभी ज्ञानों में नियमित पौर्वापर्य के क्रम की-उसका यह उत्तर है कि काकतालीयन्याय से उक्त सभी ज्ञानों के कारणों का सम्बलन उतने समय तक रहता है, अतः ज्ञानों का पौर्वापर्य क्रम भी बना रहता है। इससे उन ज्ञानों में से कोई किसी का कारण या कार्य नहीं है। जिस क्षण में जिस ज्ञान की सामग्री सम्वलित होगी, उसके अव्यवहितोत्तर क्षण में उस ज्ञान की उत्पत्ति होगी। अतः धारावाहिक ज्ञान के अन्तर्गत द्वितीयादि ज्ञानों में अप्रमात्व की आपत्ति नहीं है।

पू० प० यदि हि ··· ··· ···

स्मृति भी अवश्य ही प्रमा है। क्योंकि प्रमात्मकज्ञान से ही वस्तु की सिद्धि होती है। स्मृति का आकार है 'सः अथवा 'स एवायम्' इत्यादि। स्मृति से कारणीभूत पूर्वानुभव के विषय में 'तत्ता' की सिद्धि होती है। 'तत्ता' अतीत अनुभव की विषयता रूप है। अनुभव के समय उसके विषय में यह 'तत्ता' नहीं थी। अतः स्मृति में जिन घटादि विषयों का भान होता है, वे यद्यपि पूर्वानुभव के विषय हैं, किन्तु स्मृति में भासित होने वाली जो 'तत्ता' रूप धर्म है (अर्थात्) अतीतानुभव विषयत्व रूप धर्म है—वह पूर्वानुभव से ज्ञात नहीं है। अतः 'तत्ता' रूप अज्ञात विषयक होने के कारण स्मृति भी प्रमा है।

स्मृत्यन्यथाऽनुपपत्तिरिति चेन्न। तया कारणमात्रसिद्धेः। न तु तेनानुभवेनैव भवितव्यमिति नियामकमस्ति। अननुभूतेऽपि तर्हि स्मरणं स्यादिति चेत् ;

यदि ऐसा न हो तो इसमें प्रमाण ही क्या है ? कि स्मृति से पहिले पूर्वानुभव है ही। क्योंकि वस्तु की सिद्धि प्रमात्मक ज्ञान से ही होती है। स्मृति से पूर्वानुभव की सिद्धि तभी हो सकती है, जब कि स्मृति प्रमा हो। स्मृति में चूँकि 'तत्ता' में अन्तःप्रविष्ट 'पूर्वानुभव' भी विषय होता है, इसी लिये स्मृति से पूर्वानुभव की सिद्धि होती है। अतः स्मृति भी प्रमा है।

सि० प० स्मृत्यन्यथा ··· ··· ···

चूँकि स्मृति कार्य है, अतः उसका कोई कारण भी अवश्य है। वह कारण पूर्वानुभव ही है। अतः स्मृति रूप कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, तो उससे पूर्वानुभव रूप कारण को सिद्धि होती है। स्मृति से पूर्वानुभव की सिद्धि के लिये स्मृति के प्रमात्व की अपेक्षा नहीं है।

पू० प० न, तया ··· ··· ···

स्मृति के कार्यत्व से तो इतना ही सिद्ध होता है कि 'उसका कोई कारण है' उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'वह कारण पूर्वानुभव ही है' [1]

सि० प० अननुभूतेऽपि ··· ··· ···

यदि स्मृति के प्रति पूर्वानुभव को कारण न मानें तो अननुभूत विषयों की भी स्मृति होने लगेगी। अतः स्मृति के प्रति पूर्वानुभव को कारण मानना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में स्मृति में प्रमात्व को माने विना ही स्मृति रूप कार्य से पूर्वानुभव रूप कारण की सिद्धि हो सकती है। इसके लिए स्मृति को प्रमा मानना व्यर्थ है।

---

१. जहाँ ज्ञान में विषय विधया भासित होने से विषय की सिद्धि होती है, वहाँ ज्ञान के प्रमात्व की भी आवश्यकता होती है। किन्तु जहाँ ज्ञान हेतु विधया वस्तु का ज्ञापक होता है, वहाँ ज्ञान के प्रमात्व की आवश्कता नहीं होती है। क्योंकि अप्रमात्मक ज्ञान रूप कार्य से भी तो उसके कारणीभूत वस्तु का अनुमान होता है। प्रकृत में जब यह सिद्ध नहीं है कि 'स्मृति पूर्वानुभव का कारण है' उस स्थिति में स्मृति से जो पूर्वानुभव की सिद्धि होगी, वह 'तत्ता; के द्वारा पूर्वानुभव का स्मृति में भान होने से ही हो सकता है, इसके लिये स्मृति में प्रमात्व का मानना आवश्यक नहीं है।

किं न स्यात्। न ह्यत्र प्रमाणमस्ति। पूर्वानुभवाकारोल्लेखः स्मृतेर्दृश्यते, सोऽन्यथा न स्यादिति चेत्; तत्किं बौद्धवद्विषयाकारान्यथाऽनुपपत्त्या विषयसिद्धिस्त्वयाऽपीष्यते, तथाभूतं ज्ञानमेव वा तत्सिद्धिः?। आद्ये तद्वदेवानैकान्तिकत्वम्। न हि यदाकारं ज्ञानं तत्पूर्वकत्वं तस्येति नियमः, अनागतज्ञाने विभ्रमे च व्यभिचारात्।

पू० प० किं न ··· ··· ···

किसी वस्तु की सिद्धि केवल बाधक के न रहने से ही नहीं हो जाती। उसके लिए अलग से साधक प्रमाण की भी आवश्यकता होती है। स्मृति में यदि अननुभूत वस्तु के भान का ज्ञापक कोई प्रमाण रहे, तो अननुभूत विषयक का भी भान स्मृति में हो सकता है। किन्तु सो नहीं है, अतः स्मृति में पूर्वानुभव को कारण न मानने पर केवल किसी बाधक के न रहने से ही स्मृति में पूर्वाननुभूत विषय का भान नहीं हो सकता।

सि० प० पूर्वानुभवाकारोल्लेख ··· ··· ···

'सः' यह स्मृति के भान का आकार है, उसी का अभिलाप 'सः' पद से होता है। अतः यह मानना होगा कि स्मृति में 'तत्ता' का भान अवश्य होता है। पूर्वानुभव की विषयता ही 'तत्ता है। ऐसी स्थिति में स्मृति से पहिले यदि पूर्वानुभव नियमतः नहीं रहेगा, तो स्मृति में पूर्वानुभव की विषयता रूप 'तत्ता' का भान उपपन्न नहीं होगा। अतः यह माना जाता है कि स्मृति जिस विषय की होगी, उससे पूर्व उसी विषय का पूर्वानुभव भी अवश्य रहेगा। इस रीति से जो स्मृति के पहिले पूर्वानुभव की सिद्धि होती है, उसके लिये स्मृति को प्रमा होने की आवश्यकता नहीं है।

पू० प० तत्किम् ··· ··· ···

बौद्ध गण ज्ञान में विषयाकार की अनुपपत्ति से जो विषय की सांवृत सत्ता को स्वीकार करते हैं। क्या आपलोग (स्मृति को अप्रमा मानने वाले नैयायिकादि) भी ऐसा ही मानते हैं? (२) अथवा विषय के भान को ही विषय की सिद्धि समझते हैं?

आद्ये ··· ··· ··· ···

प्रथम पक्ष का तात्पर्य यह है कि स्मृति से पहिले पूर्वानुभव की सत्ता के बिना स्मृति में यदि पूर्वानुभवाकार (तत्ता) का उल्लेख सम्भव नहीं है, इसीलिये स्मृति से पहिले पूर्वानुभव की सत्ता की स्वीकृति आवश्यक हो तो क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धमतावलम्बी हो जाना पड़ेगा। उन लोगों का कहना है कि विज्ञान से भिन्न घटादि किसी भी वस्तु की अपनी पृथक् 'सत्ता' नहीं है? विज्ञान में घटादि विभिन्न विषयों के आकार संपादन के

द्वितीये तु स्मृतिप्रामाण्यमवर्जनीयम् । मा भूत्पूर्वानुभवसिद्धिः, किं नश्छिन्नमिति चेत्; न तर्हि स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणभावसिद्धिरिति । न । तदप्रामाण्येऽपि पूर्वापरावस्थावदात्मप्रत्यभिज्ञातप्रामाण्यादेव तदुपपत्तेः ।

लिये घटादि विषयों की सांवृत सत्ता को वे स्वीकार कर लेते हैं । इस रीति के अनुसार स्मृति से पूर्व पूर्वानुभव की सिद्धि इस प्रकार होगी कि तद्विषयक अनुभव अवश्य था, क्योंकि स्मृति पूर्वानुभवाकारक होती है । जो ज्ञान जिस वस्तु के आकार का होता है, वह वस्तु उस ज्ञान से पहिले अवश्य रहती है । जैसे कि घटानुभव से पहिले घट रहता है । स्मृतेः पूर्वम् तद्विषयकानुभवोऽवश्यमस्ति तम्बिना स्मृतेः पूर्वानुभवाकारानुपपत्तेः, यद्धि ज्ञानम् यद्विषयाकारकम् भवति तज्ज्ञानात्पूर्वम् तद्विषयीभूतवस्त्ववश्यमस्ति, यथा घटज्ञानात् पूर्वम् घटादि, इस अनुमान का हेतु अनैकान्तिक है अर्थात् व्यभिचारी है । क्योंकि 'घटो भविष्यति' इस अनागत विषयक ज्ञान से पहिले घट की सत्ता नहीं रहती है। अथवा यह नियम भी नहीं है कि शुक्ति में रजत की भ्रान्ति से पहिले रजत की सत्ता अवश्य रहती है । अतः उक्त हेतु के द्वारा स्मृति से पहिले स्मृति में विषयीभूत पूर्वानुभव की सिद्धि नहीं हो सकती ।

द्वितीये ··· ··· ··· ···

यदि 'विषय की सिद्धि' उस 'विषय' का 'ज्ञान' रूप ही हो, तो फिर पूर्वानुभव विषयक स्मृति ही पूर्वानुभव विषयक स्मृति रूप है । किन्तु तब तो स्मृति में प्रमात्व का मानना अनिवार्य होगा । क्योंकि प्रमाज्ञान विषयसिद्धि रूप ही है । भ्रमात्मक ज्ञान विषयसिद्धि रूप नहीं है, क्योंकि पहिले विषय की सत्ता के न रहने पर भी तद्विषयक भ्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है । अतः स्मृति को जब तक प्रमा न मानी जाय, तब तक स्मृति से पहिले नियमतः पूर्वानुभव की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती ।

सि० प० मा भूत ··· ··· ···

स्मृति से पूर्व यदि नियमतः पूर्वानुभव की सिद्धि नहीं होगी, तो इस से हम लोगों को क्षति ही कौन सी होगी ?

पू० प० न तर्हि

यदि तद्विषयक स्मृति से पहिले तद्विषयक अनुभव की सत्ता की सिद्धि नहीं होगी, तो स्मृति एवं पूर्वानुभव इन दोनों में जो कार्यकारणभाव सर्वजन सिद्ध है; वह विघटित हो जायगा ।

सि० प० तदप्रामाण्येऽपि ··· ··· ···

स्मृति में प्रमात्व के न रहने पर भी उससे पूर्व नियमतः तद्विषयक अनुभव का रहना सिद्ध हो सकता है। क्योंकि स्मृति के बाद 'योऽहमन्वभवममुमर्थं सोऽहमिदानीं स्मरामि' इस

'योऽहमन्वभवममुमर्थं सोऽहं स्मरामी'ति मानसप्रत्यक्षमस्तीति। न च गृहीतग्राहित्वमीश्वरज्ञानस्य; तदीयज्ञानान्तरागोचरत्वाद्विश्वस्य। न च तदेव ज्ञानं कालभेदेनाप्रमाणम्; अनपेक्षत्वस्यापरावृत्तेः। तथापि वा अप्रामाण्येऽतिप्रसङ्गादिति ॥ १ ॥

आकार का प्रत्यभिज्ञा रूप यथार्थ अनुभव उत्पन्न होता है। इस प्रत्यभिज्ञा से जिस प्रकार अनुभवितृत्व रूप पूर्वावस्था से युक्त एवं स्मर्तृत्व रूप अपरावस्था से युक्त आत्मा की सिद्धि होती है; उसी प्रकार स्मृति में विषय होने वाले पूर्वानुभव की भी सिद्धि होती है। क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा में पूर्वानुभव के द्वारा विषयीभूत अर्थ में स्मृति की विषयता भी भासित होती है। तस्मात् केवल अनुभव में प्रमात्व को स्वीकार कर लेने से ही, स्मृति में प्रमात्व के न मानने पर भी, तद्विषयक पूर्वानुभव में स्मृति की नियतपूर्वत्तिता की सिद्धि हो सकती है। इससे स्मृति एवं पूर्वानुभव में जो कार्यकारणभाव सर्वसिद्ध है, उसमें भी कोई बाधा नहीं आती है।

सि० प० न च गृहीतग्राहित्वम् ··· ··· ···

ईश्वर का ज्ञान 'गृहीतग्राही' है ही नहीं। यदि प्रमा को अग्रहीतग्राही होना आवश्यक मान ही लें तथापि ईश्वरज्ञान में अप्रमात्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती। क्योंकि ईश्वर को सभी विषयों का एक ही अखण्डज्ञान है। गृहीतग्राहित्व तत्पुरुषीयत्व घटित है। अर्थात् तत्पुरुषीय तद्विषयक प्रमाज्ञान में तत्पुरुषीय तद्विषयक किसी दूसरे ज्ञान में विषयीभूत किसी पदार्थ का भासित न होना ही अगृहीतग्राहित्व है। ईश्वर को जब किसी विषय का दूसरा ज्ञान है ही नहीं, तो फिर उनके किस विषय के दूसरे ज्ञान के द्वारा गृहीत विषयक होने के कारण ईश्वर का ज्ञान गृहीतग्राही होगा ?

सि० प० न च तदेवज्ञानम् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में मीमांसक कह सकते हैं कि जो ज्ञान प्रथम क्षण में अगृहीत ग्राही है, वही ज्ञान दूसरे क्षण में गृहीतग्राही हो सकता है। क्योंकि द्वितीय क्षण में वह विषय प्रथम क्षणवर्त्ति ज्ञान के द्वारा गृहीत हो चुका रहता है। इस प्रकार हम लोगों की तरह ईश्वर का भी एक ही अखण्डज्ञान गृहीतग्राही होने के कारण अप्रमा हो सकता है। अतः हम लोगों की तरह ईश्वर में भी अनाश्वास की सम्भावना विद्यमान है। इसका यह उत्तर है कि) यह सम्भव नहीं है कि एक ही ज्ञान एक ही क्षण में प्रमा हो और दूसरे क्षण में वही ज्ञान अप्रमा हो जाय। क्योंकि आप (मीमांसक) प्रमात्व में जिस 'अनपेक्षत्व' को प्रयोजक मानते है, वह द्वितीय क्षणवर्त्ति ज्ञान में भी है ही। अतः एक ही ज्ञान विभिन्न क्षणों में प्रमा और अप्रमा दोनों नहीं हो सकता।

स्यादेतत् । अनुपकारकं विषयस्य तदीयमेतदीयं वा न भवितुमर्हत्यविशेषात् । न च तस्येत्यनियतं तत्र प्रमाणमतिप्रसङ्गात् । न च तदभिज्ञमन्तरेण तदुपकारस्योपत्तिः, तथाऽनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा, कार्यत्वस्यानैकान्तिकत्वात् ।

'तथापि' अर्थात् प्रथम क्षण में विद्यमान 'स्व' रूप ज्ञान के द्वारा गृहीत विषयक होने के कारण द्वितीय क्षणवर्त्ति उसी ज्ञान में अप्रमात्व की सम्भावना हो तो सभी अपनी स्थिति क्षण रूप द्वितीय क्षण में अप्रमा होंगे। फलतः सभी ज्ञानों में प्रमात्व एवं अप्रमात्व एतदुभयापत्ति रूप 'अतिप्रसङ्ग' होगा । अतः इश्वरीय ज्ञान में अप्रमात्व की सम्भावना नहीं ॥१॥

पू० प० स्यादेतत्, अनुपकारकम् ··· ··· ··· ···

ज्ञान से विषय में 'ज्ञातता' नाम की एक वस्तु की उत्पत्ति अवश्य माननी होगी। ऐसा मानने पर धारावाहिक बुद्धि में अगृहीतग्राहित्व घटित प्रमा लक्षण की अव्याप्ति हट जाती है । क्योंकि ऐसा सार्वजनीन अनुभव है कि 'घट ही घटज्ञान का विषय है, पट नहीं । यदि घट में घटज्ञान से किसी 'उपकार विशेष' (ज्ञातता का आधान रूप) न हो तो 'घटज्ञान घट विषयक ही हैं, पट विषयक नहीं' इस नियम का प्रयोजक कौन होगा ? घट ज्ञान में घट के ही समान पट का भी कोई सम्बन्ध तो है ही । अतः घट ज्ञान से घट में एक 'ज्ञातता' नाम की वस्तु की उत्पत्ति माननी होगी। जिस से यह कहना सम्भव हो कि 'घट में ज्ञातता को उत्पन्न करने वाला ज्ञान घट विषयक ही हो सकता है, पटादि विषयक नहीं। (स्व निष्ठ ज्ञताता जनकत्व ही ज्ञान में स्व विषयकत्व का नियामक है) । फलतः घटज्ञानीय घट में रहने वाली विषयता घटज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आश्रयत्व रूप है। यह आश्रयता पट में नहीं है, अतः पट में घटज्ञान की विषयता नही है ।

इस प्रकार घटज्ञान से घट में 'ज्ञातता' रूप कार्य की उत्पत्ति के स्थित हो जाने पर यह पूछना है कि कार्यत्व हेतु से क्षित्यादि में जो 'सकर्त्तृत्व' का अनुमान रूप ज्ञान होता है, उसके बल से 'ज्ञातता' रूप कार्य में भी 'सकर्त्तृकत्व' की सिद्धि होनी चाहिये। क्योंकि तभी कार्यत्व और सकर्त्तृकत्व की व्याप्ति स्थिर रह सकती है। यदि कार्यत्व रूप हेतु की आश्रयीभूत ज्ञातता में सकर्त्तृकत्व रूप साध्य न रहे तो उक्त नियम व्यभिचरित हो जायगा । किन्तु ज्ञातता में यदि सकर्त्तृकत्व को स्वीकार करेंगे तो 'अनवस्था' होगी। क्योंकि 'सकर्तृकत्व' है 'उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्व' रूप (घट में कुलालकर्त्तृकत्व इसी लिये है कि घट के उपादान कारण कपालों का अपरोक्षज्ञान, 'कपालेन घटं कर्त्तुमिच्छामि' इस आकार की चिकीर्षा एवं तदनन्तर कृति, कुलाल इन तीनों से युक्त है। इस लिये कुलाल जन्यत्व घट में है । घट बनाने के लिये जलादि जुटानेवाला पुरुष भी यद्यपि घट का कारण अवश्य है, किन्तु उसका 'कर्त्ता' रूप कारण वह नहीं है, क्योंकि उस में घट के उपादान के उक्त अपरोक्षज्ञानादि नहीं है) ।

अत्रोच्यते—

स्वभावनियमाभावादुपकारोऽपि दुर्घटः ।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥ २ ॥

ऐसी स्थिति में घट में उत्पन्न होने वाले ज्ञातता रूप कार्य में सकर्तृकत्व की रक्षा के लिये उक्त ज्ञातता के उपादानभूत घट की जन्यता का मानना आवश्यक है। किन्तु घटज्ञान से जब घट में ज्ञातता की उत्पत्ति हो जायगी, तब वह ज्ञान घट विषयक हो सकेगा। अतः उक्त उपादान ज्ञान रूप घटज्ञान में घटविषयकत्व नियम की उपपत्ति उससे आगे उत्पन्न होनेवाले ज्ञातता से नहीं हो सकती। अतः इस घटविषयक ज्ञान में घटविषयकत्व के नियम की उपपत्ति के लिये दूसरे घटज्ञान से उत्पन्न होनेवाली दूसरी ही ज्ञातता माननी होगी। ऐसा स्वीकार करने पर द्वितीय ज्ञातता के कारणीभूत द्वितीय घट विषयक ज्ञान में भी उक्त शङ्का उत्पन्न होकर अनवस्था में परिणत हो जायगी। तस्मात् अवश्य स्वीकर्त्तव्य उक्त ज्ञातता के द्वारा ईश्वर के साधक उक्त अनुमान प्रमाण की सत्ता संकटापन्न हो जायगी।

सि० प० स्वभावनियमाभावात् ··· ··· ··· ··· (कारिका)

इस प्रसङ्ग में हम लोग कहते हैं कि 'घटज्ञान की विषयता घट में ही रहे' इस नियम की उपपत्ति के लिये ज्ञान से विषय में 'ज्ञातता' नाम की वस्तु की उत्पत्ति को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि घटज्ञान में ही ऐसे 'स्वभाव' की कल्पना करेंगे कि 'घट ज्ञान अवश्य ही घटविषयक हो, उसी से घटज्ञान में घटविषयकत्व की उपपत्ति हो जायगी। यदि उक्त 'स्वभाव' को स्वीकार न करें तो 'ज्ञातता' के प्रसङ्ग में भी यह अभियोग उपस्थित होगा कि 'घटज्ञान से घट मे ही ज्ञातता की उत्पत्ति क्यों हो ? पट में भी घटज्ञान से 'ज्ञातता' की उत्पत्ति क्यों न हो ? इस अभियोग के उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि 'घटज्ञान का यही 'स्वभाव' है कि वह घट में ही 'ज्ञातता' का उत्पादन करे, घटज्ञान का ऐसा स्वभाव स्वीकार करने की अपेक्षा इसी कल्पना में लाघव है कि 'घटज्ञान अवश्य ही घट विषयक हो' वा 'घटज्ञानीयविषयता अवश्य ही घट में रहे' इस के लिये 'ज्ञातता' को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि ज्ञातता की उपपत्ति किसी प्रकार 'सुघट' भी हो तो वह वर्तमान विषय में ही होगी, अतीत का विषय में नहीं[1]।

---

1. अभिप्राय यह है कि चूँकि घटज्ञान वर्त्तमान घट विषयक भी होता है, अतीत घट विषयक भी। वर्त्तमान घट विषयक जो ज्ञान है, वह कदाचित् 'ज्ञातता' का आधान कर भी सकता है, किन्तु अतीत घट विषयक जो ज्ञान है, वह ज्ञातता का आधान किस विषय में करेगा ?

विशेषाभावात्तत्रैव फलं नान्यत्रेत्येस्यापि नियमस्यानुपपत्तेः। स्वभावनियमेन चोपपत्तौ तथैव विषयव्यवस्थोपपत्तेः। अवश्यञ्चैतदनुमन्तव्यम्, अतीतादिविषयत्वानुरोधात्। न हि तत्र ज्ञानेन किञ्चित् क्रियत इति शक्यमवगन्तुम्, असत्त्वात्।

अतः ज्ञातता की सिद्धि ही जब नहीं हो सकती, तब ईश्वरानुमान में तन्मूलक विघटन का प्रयास व्यर्थ है।

सि० प० विशेषाभावात् ··· ··· — —

यदि 'स्वभाव नियम' रूप 'विशेष' को स्वीकार न करें तो 'घटज्ञान से घट में ही ज्ञातता की उत्पत्ति हो, पट में नहीं' इस नियम की भी उपपत्ति न हो सकेगी। अतः घटज्ञान के इस 'स्वभाव नियम' को स्वीकार ही करना होगा कि 'घटज्ञान से घट में ही ज्ञातता की उत्पत्ति हो 'पट में नहीं'। अगर यह नियम मानना ही है तो फिर तुल्य युक्ति से घटज्ञान का ही यह 'स्वभाव' रूप 'नियम' विशेष माना जा सकता है कि 'घटज्ञान का विषय घट ही हो'। इस नियम को स्वीकार कर लेने से ही ज्ञातता से होनेवाले 'विषयनियम' रूप कार्य की भी उपपत्ति हो जायगी। इस के बाद 'ज्ञातता' को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

सि० प० अवश्यञ्च (कारिका के उत्तरार्द्ध की व्याख्या) ··· ··· ··· ···

ज्ञातता के मानने पर भी 'विषयनियम' के लिये 'घटज्ञान घट विषयक ही हो' ऐसा नियम मानना ही होगा। क्योंकि अतीतादि अवर्तमान घट विषयक ज्ञान में 'विषयनियम' की उपपत्ति 'ज्ञातता' के द्वारा नहीं हो सकती। क्योंकि 'धर्म' की उत्पत्ति में 'धर्मि' भी एक कारण है। अतः अतीतादि घट विषयक ज्ञान से ज्ञातता रूप धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अतीतादि धर्मि रूप कारण की सत्ता वहाँ नहीं है।

इस स्थिति में प्रश्न यह होता है कि वर्तमान घट विषयक ज्ञान की विषयता घट में इस लिये है कि घटज्ञान जनित ज्ञातता का वह आश्रय है। किन्तु अतीतादि घट विषयक ज्ञानीय विषयता अतीतादि घटों में ही रहे—फलतः 'अतीतादि घट विषयक ज्ञान अतीतादि घट विषयक ही हो' इस नियम का प्रयोजक कौन होगा? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि 'अतीतादि घट विषयक ज्ञान का यह 'स्वभाव' ही है कि वह 'अतीतादि घट विषयक ही हो'। इस प्रकार का 'नियम' जब मानना ही पड़ता है तो फिर यह सामान्य नियम ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि 'सभी घट विषयक ज्ञानों का यही स्वभाव है कि वे घट विषयक ही हों' इस सामान्य नियम से ही सभी घट विषयक ज्ञानों में घट विषयकत्व की उपपत्ति हो जायगी, ज्ञातता को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है?

न च तद्धर्मसामान्याधारं किञ्चित् क्रियत इति युक्तम्; तेन तस्यैव विषयत्व-प्राप्तेः। तादात्म्याद्विशेषस्यापि सैव ज्ञाततेति चेत्; तत्किं चक्षुषा घटे ज्ञायमाने रसोऽपि ज्ञायते, तादात्म्यात् ?

पू० प० न च तद्धर्म ... ...

घट विषयक सभी ज्ञानों में घटत्वादि धर्म भी विषय होते हैं। अतीतघट विषयक ज्ञान के समय घट की सत्ता भले ही न रहे, किन्तु घट में विशेषण होने वाले घटत्वादि धर्मों की सत्ता अवश्य रहती है। उन घटत्वादि विशेषणों में ही ज्ञातता की उत्पत्ति होगी, उसी से अतीत अथवा भविष्यत्कालिक घटविषयक ज्ञानों में भी 'विषयनियम' की उपपत्ति हो जायगी। इस के लिये 'घटज्ञान घट विषयक ही हो' इस दूसरे नियम को मानने की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० तेन तस्यैव ... ...

ज्ञातता को स्वीकार कर जो नियम उपपन्न होता है, उसका आकार इस प्रकार का है 'जो ज्ञान जिस विषय में ज्ञातता को उत्पन्न करे, वह ज्ञान उस विषय का अवश्य हो'। तदनुसार अतीत घट विषयकज्ञान से यदि घटत्व में ज्ञातता की उत्पत्ति स्वीकार करेंगे, तो इससे यही नियम निष्पन्न होगा कि 'अतीतघट विषयक ज्ञान अवश्य ही घटत्व विषयक हो' किन्तु अतीतघट विषयक ज्ञान में अतीतघटविषयकत्व का नियम भी तो है—उसकी उपपत्ति घटत्व में ज्ञातता के आधान से नहीं हो सकती। वह तो अतीतघट में ज्ञातता के आधान से ही हो सकती है। किन्तु अतीत घट में ज्ञातता का आधान संभव ही नहीं है।

पू० प० तादात्म्यात् ... ...

धर्म एवं धर्मी दोनों अभिन्न हैं। अतः घट और घटत्व ये दोनों ही अभिन्न हैं। इस लिये घट में रहनेवाली ज्ञातता और घटत्व में रहनेवाली ज्ञातता ये दोनों भी अभिन्न हैं। अतः जो ज्ञान घटत्व में ज्ञातता का आधान करता है, वही ज्ञान घट में भी ज्ञातता का आधान अवश्य करता है। इस प्रकार अतीतादि घट विषयक ज्ञानों में भी घटविषयकत्व नियम की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

सि० प० तत्किम् ... ...

तो क्या जिस समय चक्षु से घट स्वरूप धर्मी का ज्ञान होता है, उस समय घट के 'रस' स्वरूप धर्म का भी प्रत्यक्ष होता है[1]।

---

1. धर्म एवं धर्मी ये दोनों यदि अभिन्न रहें, इस अभेद के कारण यदि धर्म के ग्रहण से धर्मी का भी ग्रहण हो जाय, तो फिर तुल्य युक्ति से धर्मी के ग्रहण से धर्म का भी ग्रहण मानना होगा। ऐसा मानने पर घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष से तद्गत रस का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना होगा। अतः धर्म और धर्मी न एक हैं, न दोनों में से किसी एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो सकता है।

घटाकारेण ज्ञायत एवासौ रसः इति चेत् । अथ रसाकारेण किं न ज्ञायते ?। तेन रूपेण ज्ञातताऽनाधारत्वादिति चेत् ।

पू० प० घटाकारेण ··· ··· ··· ···

धर्म और धर्मी ये दोनों जब एक हैं, तो यह मानना होगा कि घटादि धर्मियों के दो आकार हैं । एक 'स्व' रूप घटादि आकार, एवं दूसरा धर्म रूप रसादि आकार । इन में चक्षु से जब 'स्व' रूप के आकार का ग्रहण होता है, तब चक्षु से ही तद्गत रस रूप धर्म का भी अनुभव अवश्य होता है । एवं जिस समय रसनेन्द्रिय से रस का ग्रहण होता है तो रसना से रसाकार से घट का ग्रहण भी अवश्य होता है । इनमें घटाकारक जो घट का ग्रहण होता है वह 'घटग्रहण' कहलाता है, एवं रसाकारक जो रस का ग्रहण होता है, वह रस ग्रहण कहलाता है । इसीलिये चाक्षुष घटग्रहण को रसग्रहण नहीं कहा जाता है । अतः रसाकारक रस का चाक्षुष ही अनुपपन्न है, घटाकारक रस का चाक्षुष अनुपपन्न नहीं है । तस्मात् उक्त दोष नहीं है ।

सि० प० अथ रसाकारेण··· ··· ··· ···

घट एवं उसमें रहनेवाला रस ये दोनों जब एक हैं, तब जिस प्रकार चक्षु से घट का 'घटः' इत्याकारक ग्रहण होता है, उसी प्रकार चक्षु से ही 'रसः' इस आकार से ही घट का ग्रहण क्यों नहीं होता ? अथवा ऐसा कहिये कि चक्षुरान्द्रिय से उत्पन्न 'घटः' इस आकार की बुद्धि से जैसे घट का ग्रहण होता है, उसी प्रकार चक्षु से ही उत्पन्न 'घटः' इस आकार की बुद्धि से ही तद्गत रस का भी ग्रहण क्यों नहीं होता है ? अथवा रसनेन्द्रिय से 'रसः' इस आकार की जो प्रतीति होती है, उसी से घट का भी ग्रहण क्यों नहीं हो जाता ? अतः धर्म और धर्मी एक है ही नहीं । तस्मात् धर्म और धर्मी को एक मान कर जो समाधान किया गया है, वह ठीक नहीं है ।

पू० प० तेन रूपेण··· ··· ··· ···

ज्ञानविषयता की नियामिका है ज्ञातता । जिस रूप से युक्त होकर जो ज्ञातता का आधार होता है, उसी रूप से वह ज्ञान का भी विषय होता है । जिस रूप से युक्त होकर जो जिस ज्ञान का विषय होगा, उस ज्ञान से तद्रूप विशिष्ट आकार की बुद्धि ही उसका 'ग्रहण' कहलायेगा । प्रकृत में चक्षु से घट ग्रहण के द्वारा जिस ज्ञातता की उत्पत्ति होती है, उसका अधिकरण घटत्व रूप से घट एवं रस हैं (अर्थात् उक्त घटज्ञान जन्य ज्ञातता का आधार यद्यपि रस भी है, किन्तु रस में जो ज्ञातता की अधिकरणता है, वह रसत्वावच्छिन्न नहीं है किन्तु घटत्वावच्छिन्न है । उक्त ज्ञान जन्य ज्ञातता की रस निष्ठ अधिकरणता का अवच्छेदक घटत्व ही है रसत्व नहीं । रस निष्ठ जो ज्ञातता की रसत्वावच्छिन्ना अधिकरणता है, वही ज्ञान में रसाकारत्व की नियामिका है । इसीलिये 'घटः' इस आकार

न तर्हि वर्तमानसामान्यज्ञानेऽप्यतीतानागतादिज्ञानम्, तेनाकारेण प्राकट्यानाधारत्वादिति ॥ २ ॥

के ज्ञान से रसाकार से तद्गत रस का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु घट एवं रस चूंकि 'घट' इस आकार के ज्ञान में भी है, अतः रस का भी भान अवश्य होता है।

सि० प० न तर्हि··· ··· ··· ···

तब तो अतीत घट विषयक जिस ज्ञान से वर्तमान रूप सामान्य धर्म से युक्त घट में ज्ञातता का आधान होता है, उस अतीत घट विषयक ज्ञान से घट गृहीत नहीं हो सकेगा। क्योंकि वर्त्तमानत्व रूप से घट ज्ञातता अधिकरण नहीं है।[1]

---

1. अभिप्राय यह है कि 'जिस रूप से जो ज्ञातता का अधिकरण हो, वह अधिकरणीभूत वस्तु उस ज्ञातता के जनकी भूत ज्ञान में तद्रूपविशिष्ट आकार से ही भासित हो' इस नियम को मान लेने पर अतीत घटादि विषयक ज्ञान के द्वारा अतीतत्व विशिष्ट घट अतीतत्वविशिष्ट घटाकार से गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि पहिले कहा जा चुका है कि अतीतत्व विशिष्ट घट ज्ञातता का आधार हो ही नहीं सकता। उक्त ज्ञान के द्वारा अतीत घट का भान केवल इस रीति से हो सकता है कि घट एवं घटत्व चूंकि अभिन्न हैं, एवं घटत्व अतीत घट में भी हैं, अतः घटत्व निष्ठ ज्ञातता के द्वारा अतीत घट के भान की उपपत्ति हो सकती है।

   किन्तु घटत्व चूँकि वर्तमान है, केवल इसी लिये वह ज्ञातता का अधिकरण है, तब घटत्व में जो ज्ञातता की अधिकरणता है, उसका अवच्छेदक भी वर्त्तमानत्व ही है, अर्थात् घटत्व में जो ज्ञातता की अधिकरणता है, वह वर्त्तमानत्वावच्छिन्ना है। अतः उक्त नियम के बल से वर्त्तमानत्व से युक्त घटत्व में जो ज्ञातता है, वर्तमानत्व रूप से ही विषय के भान का नियामक हो सकता है। यह अलग विषय है कि वह वर्तमनात्व विशिष्ट वस्तु घटत्व स्वरूप हो, अथवा घटत्व से अभिन्न घट रूप हो। तस्मात् उक्त रीति से ज्ञातता के 'विषयनियम' में अतीत घटादि विषयक ज्ञान में व्यभिचार अवश्य होगा। अतः विषयनियम के लिये ज्ञातता का मानना अनावश्यक है।

ननु क्रियया कर्मणि किञ्चित् कर्त्तव्यमिति व्याप्तेरस्त्वनुमानम् ? । न,

अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया।
तद्वै शिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ॥ ३ ॥

पू० प० क्रियया··· ··· ··· ···

'घटं जानाति' यह प्रयोग सर्व सिद्ध है। इसमें घट है कर्म कारक। क्रिया से उत्पन्न फल से युक्त ही 'कर्मकारक' होता है। 'ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में प्रयुक्त ग्राम इसी लिए कर्म कारक है कि गमन क्रिया से उत्पन्न ग्राम संयोग रूप फल का आधार है। 'घटं जानाति' इस वाक्य में घट पद का अर्थ भी कर्मकारक है, अतः उसको 'जानाति' पद से बोध्य क्रिया से उत्पन्न किसी फल से युक्त होना ही चाहिये। यदि ऐसा न हो तो उक्त घट में कर्मता ही अनुपपन्न हो जायगी। अतः घट रूप विषय में ज्ञान क्रिया से जिस वस्तु की उत्पत्ति होगी, वही वस्तु है 'ज्ञातता'।

इस से यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार गमन रूपा क्रिया अपने कर्मीभूत ग्राम में कर्त्तृसंयोग रूप फल का उत्पादन करती है, उसी प्रकार ज्ञान क्रिया भी कर्मीभूत अपने विषयों में किसी फल का उत्पादन अवश्य करती है। क्योंकि सभी (सकर्मक) क्रियायें अपने कर्म में किसी फल का उत्पादन अवश्य करतीं है। (ज्ञानक्रिया स्वविषये किञ्चित् फलमुत्पादयति क्रियात्वात, या सकर्मिका क्रिया सा स्वकर्मणि किञ्चिदवश्यमुत्पादयति, यथा गमनक्रिया)। वह किञ्चित् फल 'ज्ञातता' ही है।

सि० प० न, अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा··· ··· ··· ···(पूर्वार्द्ध)

(उक्त अनुमान वाक्य में जिस 'क्रिया' पद का प्रयोग किया गया है, वह 'क्रिया' क्या 'धात्वर्थ' रूप है ? अथवा चलनात्मक (स्पन्द) रूप है ? यदि इन में प्रथम पक्ष अभिप्रेत हो, तो अनुमान का हेतु वाक्य 'धत्वर्थत्वात्' इस आकार का होगा। (अर्थात् ज्ञान रूप क्रिया चूँकि धात्वर्थ है, अतः अपने विषय में किसी वस्तु का उत्पादन अवश्य करती है)। किन्तु 'धात्वर्थत्व' रूप क्रियात्व हेतु 'विषयनिष्ठकिञ्चिज्जनकत्व' रूप साध्य का व्यभिचारी है। क्योंकि 'गगनं सन्धापयति चैत्रः' इस स्थल में धात्वर्थ है 'शर का संयोग', किन्तु उससे गगन में किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः क्रियाजन्य फलशालित्व रूप कर्मत्व गगन में नहीं है। इसी प्रकार 'अन्त्यशब्दं जानाति चैत्रः' इस स्थल में ज्ञान क्रिया से अन्त्यशब्द में ज्ञातता की सिद्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रकृत में ज्ञातता का उपादानकारण होगा 'अन्तिमशब्द'। उपादान कारण को कार्य के उत्पत्तिक्षण पर्यन्त रहना आवश्यक होता है। किन्तु अन्तिम शब्द का विनाश उसकी उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही हो जाता है। अतः 'अन्तिम शब्द' में भी क्रियात्व हेतु व्यभिचरित है।

धात्वर्थमात्राभिप्रायेण प्रयोगे संयोगादिभिरनेकान्तात् । न हि शरसंयोगेन गगने किञ्चित् क्रियते, अन्त्यशब्दाभिव्यक्त्या वा । स्पन्दाभिप्रायेणासिद्धेः । व्यापाराभिप्रायेण शब्दलिङ्गेन्द्रियव्यापारैर्व्यभिचारात् ।

यदि उक्त 'क्रिया' पद का अर्थ 'चलनात्मक स्पन्द' रूप 'क्रिया' है, तो प्रकृतानुमान का हेतु 'स्वरूपासिद्धि' दोष से ग्रस्त हो जायगा । पक्ष में हेतु के न रहने से 'स्वरूपासिद्धि' होती है । प्रकृत में पक्ष है 'ज्ञान' उसमें वह 'क्रियात्व' नहीं रह सकता, जो चलनात्मक क्रिया (स्पन्द) में रहता है । क्योंकि ज्ञान गुण पदार्थ है, कर्म पदार्थ नहीं । अतः उक्त क्रियात्व' हेतु से ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती ।

तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वात् ··· ··· ··· ···

(कोई कहते हैं कि 'ज्ञातो घटः' इस आकार का प्रत्यक्ष सर्वसिद्ध है । इस प्रत्यक्ष में 'ज्ञातता' विशेषण रूप से भासित होती है। एवं ज्ञातता का उक्त प्रत्यक्ष घट ज्ञान के बाद ही होता है । इस अन्वय व्यतिरेक से समझते हैं कि प्रत्यक्ष में भासित होनेवाली 'ज्ञातता' घटज्ञान से उत्पन्न होती है । इस प्रकार जो ज्ञातता को प्रत्यक्ष से सिद्ध मानते हैं । उनके प्रतिपक्ष में यह कहना है कि······) 'ज्ञातो घटः' इस आकार के 'अध्यक्ष' में प्रत्यक्ष में 'ज्ञान' का ही वैशिष्ट्य भासित होता है । उससे 'अधिक' ज्ञातता प्रभृति कोई भी धर्म भासित नहीं होता । अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

सि० प० धात्वर्थमात्राभिप्रायेण··· ··· ··· ···

यदि उक्त अनुमान वाक्य में प्रयुक्त 'क्रिया' पद से केवल धातु का अर्थ ही अभिप्रेत हो, तो उक्त अनुमान का हेतु ' अनैकान्तिक' अर्थात् व्यभिचारी होगा, क्योंकि शर संयोग रूप सन्धान से आकाश में किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है । अथवा अन्तिम शब्द की 'अभिव्यक्ति' अर्थात् ज्ञान से अन्तिम शब्द में किसी की उत्पत्ति संभव ही नहीं है (इन दोनों ही युक्तियों का उपपादन कारिका की व्याख्या में हो चुकी है) ।

सि० प० स्पन्दाभिप्रायेण··· ··· ··· ···

उक्त अनुमान वाक्य में प्रयुक्त 'क्रिया' पद का अर्थ 'स्पन्द' अर्थात् चलनात्मक क्रिया रूप अभिप्रेत हो, तो उक्त अनुमान का हेतु 'असिद्ध' अर्थात् स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा (असिद्धि का उपपादन भी श्लोक की व्याख्या में हो चुका है) ।

सि प० व्यापाराभिप्रायेण··· ··· ··· ···

(जो यह कहते हैं कि उक्त अनुमान वाक्य में जो 'क्रिया' पद प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ है 'व्यापार' । ज्ञान भी एक 'व्यापार' है । व्यापार से 'कर्मकारक' में 'कुछ' अवश्य उत्पन्न

न हि तै. प्रमेये किञ्चित् क्रियते, अपि तु प्रमातर्येव । फलाभिप्रायेणापि तथा । अन्ततस्तेनैवानेकान्तात्, अनवस्थानाच्च ।

होता है । जैसे कि गमन रूप व्यापार से ग्राम रूप कर्म कारक में संयोग रूप 'किसी वस्तु' की उत्पत्ति होती है । इस दृष्टि से उक्त अनुमान से 'विषय' में ज्ञान रूप व्यापार' से 'ज्ञातता' की सिद्धि की जा सकती है । यह समाधानाभास इस लिये अयुक्त है कि)' देवदत्तः घटं शब्दापयति, घटमनुमिनोति, घटम्पश्यति' इत्यादि स्थलों में क्रमशः 'शब्द' का व्यापार है पदार्थोपस्थिति, अनुमान का व्यापार है परामर्श, एवं प्रत्यक्ष का व्यापार हैं इन्द्रिय संयोग-- इनमें से कोई भी व्यापार घट रूप कर्म कारक में किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता । किन्तु वे सभी व्यापार देवदत्त रूप प्रमाता में ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं । अतः 'कर्मकारक' का 'व्यापार जन्य फलशालित्व' रूप लक्षण ही कथित रीति से घट में अव्याप्ति एवं देवदत्त में अतिव्याप्ति के कारण अनुपपन्न है ।

सि० प० फलाभिप्रायेण ... ...

(किसी का कहना है कि उक्त अनुमान में जो 'क्रिया' पद प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ है 'फल' । 'घटं जानाति' इस स्थल में 'जानाति' क्रिया से जो 'ज्ञान' रूप 'फल' उत्पन्न होता है, वही उक्त 'क्रिया' शब्द से अभिप्रेत है । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि ज्ञान रूप फल ज्ञेय में 'किसी वस्तु' को अवश्य उत्पन्न करता है, क्योंकि वह भी फल है । इस रीति से ज्ञातता के समर्थन में यह दोष है कि) 'एक फल से दूसरे फल की उत्पत्ति अवश्य हो' इस नियम का कहीं विश्राम भी है? अथवा यह नियम निरवधि है?

यदि इसको निरवधि मानेंगे तो अनवस्था होगी । यदि कहीं विश्राम देंगे तो विश्रान्ति स्थल रूप फल में उक्त अनुमान का हेतु व्यभिचरित हो जायगा ।[1]

---

1. ज्ञान चूंकि इन्द्रियादि व्यापार का फल है, केवल इसी लिये विषय में ज्ञातता रूप दूसरे फल को उत्पन्न करें, तो इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि इस ज्ञातता रूप फल से किसी तीसरे फल की उत्पत्ति होती है या नहीं ? यदि उससे भी फलान्तर की उत्पत्ति होती है तो फिर उसे तीसरे फल को भी किसी चतुर्थ फल का उत्पादक मानना होगा, इस प्रकार यह कल्पना अनवस्था में परिणत हो जायगी । यदि ज्ञातता रूप फल से किसी फलान्तर की उत्पत्ति नहीं मानते हैं, तो फिर यह नियम ही नहीं रह जाता कि 'सभी फल फलान्तर के जनक अवश्य हों' अतः 'ज्ञानरूपं फलं स्वविषयनिष्ठकिञ्चित्फलान्तरोत्पादकम् फलत्वात्' इस अनुमान का 'फलत्व' हेतु ही व्यभिचरित हो जाता है । यही अनैकान्तिक दोष प्रकृत सन्दर्भ के 'तथा' पद से कहा गया है, एवं 'तेनैव' पद से ज्ञातता रूप उस स्थल का निर्देश किया है, जहाँ उक्त फलत्व हेतु व्यभिचरित होता है ।

आशुविनाशिधर्माभिप्रायेण द्वित्वादिभिरनियमात् ।

सि० प० आशुविनाशि … … … …

(किसी का कहना है कि उक्त अनुमानवाक्य के 'क्रिया' पद का अर्थ है 'आशु विनाशि धर्म' अपनी उत्पत्ति से चौथे क्षण पर्यन्त जो न रह सके, वही प्रकृत में 'आशु विनाशि' शब्द से अभिप्रेत है। इससे पूर्व द्वितीय वा तृतीय क्षण पर्यन्त जो न रह सके, वह तो अवश्य ही 'आशु विनाशि' है। 'आशु विनाशि' पदार्थ का यह स्वभाव होता है कि वह अपने सम्बन्धी में किसी वस्तु को उत्पन्न कर तद्द्वारा ही कार्य का उत्पादक हो। जैसे कि क्षणिक ज्ञान से प्रवृत्ति तभी होती है, जब कि ज्ञान से उसके सम्बन्धी आत्मा में इच्छा की, एवं इच्छा से प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। अर्थात् ज्ञान से इच्छा, इच्छा से प्रयत्न, एवं प्रयत्न से प्रवृत्ति, यही क्रम मानना होगा। इसी लिये ज्ञान से आत्मा में इच्छादि गुणों की उत्पत्ति होती है।

इस वस्तु स्थिति के अनुसार आशुतर विनाशी ज्ञान से उसके सम्बन्धी 'विषय' में भी 'किसी वस्तु की' उत्पत्ति माननी होगी। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'घट विषयक ज्ञान से घट विषयक ही इच्छा उत्पन्न हो' यह नियम अनुपपन्न हो जायेगा। क्योंकि घट विषयक ज्ञान को घट विषयक इच्छा का कारण मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि इच्छा से ज्ञान का नाश हो जाता है। अतः यही मानना होगा कि ज्ञान से विषय में 'ज्ञातता' नाम की एक वस्तु उत्पन्न होती है। इस ज्ञातता से युक्त विषय ही-अर्थात् ज्ञात विषय ही इच्छा का कारण है। अतः ज्ञान से विषय में ज्ञातता रूप धर्म की उत्पत्ति मानना आवश्यक है। तदनुसार न्याय का प्रयोग इस प्रकार का होगा 'आशुविनाशिधर्मरूपं ज्ञानं स्वविषये किञ्चिदुपादकम् आशुविनाशिधर्मत्वात् इच्छावत्। किन्तु यह अनुमान भी शुद्ध नहीं है, क्योंकि) उक्त 'आशुविनाशित्व' हेतु द्वित्व में व्यभिचरित है।[1]

---

1. इसमें सन्दर्भ का विशदार्थ यह है कि घटादि दो वस्तुओं में चक्षुः पात के बाद 'अयमेको घटः' अयमेको घटः इस आकार की बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसको 'अपेक्षा बुद्धि' कहते हैं, इस बुद्धि से उक्त घटादि दोनों वस्तुओं में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। इसके बाद 'द्वित्व द्वित्वत्वे' इस आकार का द्वित्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इस के बाद 'इमौ द्वौ' इस आकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह द्वित्व संख्या क्या अपने आश्रय भूत द्रव्य की सत्ता पर्यन्त उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार एकत्व संख्या आश्रय की सत्ता पर्यन्त रहती है ? अथवा उसके विनष्ट होने से पहिले ही अर्थात् आश्रय के रहते ही विनष्ट हो जाती है ? इन में प्रथम पक्ष का मानना तो संभव नहीं है, क्योंकि एक वार द्वित्वबुद्धि के उत्पन्न हो जाने पर पुनः अपेक्षाबुद्ध्यादि के संबलन के बिना एकत्व बुद्धि की तरह द्वित्व की बुद्धि नहीं होती है। अतः यही मानना होगा कि आश्रय के नाश से पहिले ही द्वित्व का नाश हो जाता है।

अब विचारणीय है कि आश्रय के नाश से जब द्वित्व का नाश नहीं होता है, तो द्वित्व का नाश किससे होता है ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि अपेक्षाबुद्धि रूप कारण के नाश से ही द्वित्वादि संख्याओं का नाश होता हैं। अब प्रश्न होता है कि नाश कब होता है ? क्योंकि अपेक्षाबुद्धि के नाश के अगले ही क्षण में द्वित्व का नाश होगा। अतः उक्त प्रश्न के उत्तर के पहिले इस प्रश्न का समाधान आवश्यक है कि द्वित्व की सत्ता कबतक रहनी चाहिये ? इस प्रश्न का यह उत्तर है चूँकि प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण है, अतः द्वित्व प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्व क्षण पर्यन्त द्वित्व को अवश्य ही रहना चाहिये। इस वस्तुस्थिति के अनुसार क्षणों का यह क्रम निर्णीत होता है---(१) अपेक्षाबुद्धि (२) द्वित्व की उत्पत्ति (३) द्वित्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (४) द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति एवं अपेक्षाबुद्धि का नाश (५) तदनन्तर क्षण में द्वित्व का नाश। द्वित्व की इस विशिष्टबुद्धि के लिये ही अपेक्षाबुद्धि की सत्ता अन्य सभी बुद्धियों के विपरीत तीन क्षणों तक माननी पड़ती है। अन्यथा यदि अन्यबुद्धियों के समान ही अपेक्षाबुद्धि का नाश भी तीसरे ही क्षण में एक मान लें तो द्वित्व नाश चतुर्थ क्षण में ही हो जायगा। ऐसा होने पर चतुर्थ क्षण में जो द्वित्व का प्रत्यक्ष होता है सो न हो सकेगा। अस्तु। प्रकृत में यह कहना है कि---चूँकि द्वित्व भी चार क्षणों तक नहीं रहता है, अतः वह भी 'आशुतरविनाशी' है, किन्तु यह अपने प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अपने सम्बन्धी में किसी का उत्पादन नहीं करता, अतः उक्त 'आशुविनाशित्व' हेतु व्यभिचरित है। इस लिये इस हेतु से ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती।

आशुकारकाभिप्रायेण कर्मण्यसिद्धेः। कर्मण्याशुकारकं ज्ञानमित्येव हि साध्यम्। कर्त्तर्याशुकारकत्वस्य कर्यीपकारत्वेनाव्याप्तेः। शब्दादिव्यापारैरेवानेकान्तात्। स्यादेतत्। अनुभवसिद्धमेव प्राकट्यम्। तथा हि—ज्ञातोऽयमर्थ इति सामान्यतः, साक्षात्कृतोऽयमर्थ इति विशेषतो विषयविशेषणमेव किञ्चित् परिस्फुरतीति चेत् ।।३।।

सि० प० आशुकारकाभिप्रायेण··· ··· ··· ···

(किसी का कहना है कि प्रकृत में 'क्रिया' शब्द का अर्थ है 'आशुकारक'। तदनुसार अनुमान प्रयोग का आकार इस प्रकार का होगा 'क्रिया स्वकर्मणि किञ्चिज्जनिका आशुकारकत्वात्' अर्थात् सभी क्रियायें चूंकि 'आशुकारक' हैं। एवं 'ज्ञान' भी एक क्रिया है, अतः वह भी अपने कर्म में किसी को अवश्य उत्पन्न करता है, वही उत्पद्यमान वस्तु है 'ज्ञातता'। किन्तु ज्ञातता की यह उपपत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त पक्ष के निम्नलिखित तीन ही विकल्प संभव हैं, जिन में से एक भी ठीक नहीं है।

(१) कर्म रूप अधिकरण में आशुकारकत्व (२, कर्त्ता रूप अधिकरण में आशुकारकत्व एवं (३) सामान्य जिस किसी अधिकरण में आशुकारकत्व।

कर्मण्यसिद्धेः ··· ··· ··· ···

इन में अगर पहिला पक्ष स्वीकार करें तो उक्त अनुमान का हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हो जायगा। क्योंकि ज्ञान क्रिया के कर्म (विषय) में किञ्चिदाशुकारकत्व ही साध्य भी है। यदि इसकी सिद्धि ज्ञान में पहिले से ही स्वीकर कर लें, तो 'सिद्धसाधन' हो जायगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो पक्ष में हेतु की सिद्धि न रहने से 'स्वरूपासिद्धि' दोष होगा।

सि० प० कर्त्तर्याशुकारकत्वस्य··· ··· ··· ···

(शेष दोनों में किसी भी पक्ष को स्वीकार करने से) प्रकृतानुमान का हेतु 'अनैकान्तिक' होगा। क्योंकि शब्द प्रमाण का व्यापार पदार्थस्मरण एवं अनुमान प्रमाण का व्यापार परामर्श ये दोनों ही ज्ञान रूप हैं, अतएव क्षणिक हैं। सुतराम् ये दोनों अत्यन्त शीघ्र ही शाब्दबोध एवं अनुमिति इन दोनों का उत्पादन करते हैं। किन्तु ज्ञान स्वरूप इन व्यापारों से विषय रूप कर्म कारक में 'आशु' की तो बात ही दूर है—विलम्ब से भी किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः पदार्थस्मृति में अथवा परामर्श में 'कर्मनिष्ठ किञ्चिदुत्पादकत्व' रूप साध्य नहीं है, अथ च कर्तृनिष्ठ आशुकारकत्व रूप हेतु है। इसी रीति से 'किञ्चिन्निष्ठ किञ्चिदुत्पादकत्व' रूप तीसरा हेतु भी है। अतः उक्त दोनों ही हेतु अनैकान्तिक हैं, इसलिये इन में से किसी से भी ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती।

पू० प० स्यादेतत् अनुभवसिद्धेन··· ··· ··· ···श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या

अनुमान के द्वारा विषय में ज्ञातता की सिद्धि भले ही संभव न हो, तथापि सभी ज्ञानों के बाद सामान्य रूप से 'अयमर्थो ज्ञातः' इस आकार की प्रतीति होती है। एवं प्रत्यक्ष रूप

तदसत् । यथा हि—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।

तथा—

क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

विशेष प्रकार के ज्ञान के बाद 'साक्षात्कृतोऽयमर्थः' इस आकार की प्रतीति भी होती है। इन प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के अनुभवों में पूर्वज्ञान के विषय रूप 'अयम्' पद के अर्थ में 'ज्ञातत्व' अथवा 'साक्षात्कृतत्व' रूप 'प्राकट्य' का भान अवश्य होता है। इसकी उपपत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि 'प्राकट्य' अथवा उसका पर्यायवाची 'ज्ञाततादि' नामों से बोध्य किसी अर्थ की सत्ता न मानी जाय। अतः ज्ञान से विषय में ज्ञातता नाम को कोई वस्तु अवश्य उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

सि० प० तदसत्··· ··· अर्थेनैव विशेषो हि ··· ···(पूर्वार्द्ध की व्याख्या)

उक्त समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार घट पटादि साकार (सावयव) विषयों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार घटज्ञान एवं पटज्ञानादि निराकार (निरवयव) वस्तुओं में भी परस्पर भेद की प्रतीति होती है। घटादि सावयव वस्तुओं में परस्पर भेद बुद्धि के प्रयोजक हैं, उनके भिन्न भिन्न अवयव, किन्तु निरयव अत एव निराकार ज्ञानों में कथित भेद का नियामक कौन होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि 'अर्थ' अर्थात् विषयों के भेद से ही ज्ञानों में परस्पर भेद होता है। घट ज्ञान का विषय घट है, पट ज्ञान का पट। घट एवं पट चूँकि परस्पर भिन्न हैं, अतः घट विषयक ज्ञान से पट विषयक ज्ञान भी भिन्न हैं।

तस्मात् जिस प्रकार ज्ञान विशेष्य हो सकता है, उसी प्रकार ज्ञान विशेषण भी हो सकता है। घटज्ञानम्' इस स्थल में ज्ञान विशेष्य है, एवं घट विशेषण है। एवं 'ज्ञातो घटः' इस स्थल में ज्ञान ही विशेषण है और घट विषय ही विशेष्य है।

अतः जिस प्रकार निराकार (निरवयव) विषय विशेषणक ज्ञान में 'अर्थसे' अर्थात् विषय से 'विशेष' अर्थात् सजातीय दूसरे विषयक ज्ञान से व्यावृत्ति की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' इत्यादि स्थलों में भी 'ज्ञान' रूप विशेषण से ही 'ज्ञातघट' से 'अज्ञातघट' की व्यावृत्ति की उपपत्ति हो सकती है। इस लिये ज्ञातता को मानने की आवश्यकता नहीं है।

तथा क्रिययैव—(उत्तरार्द्ध की व्याख्या)··· ··· — ···

यदि ऐसा न मानें तो जिस प्रकार 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीति के बल से 'ज्ञातता' को स्वीकार करेंगे, उसी प्रकार 'कृति' से विषय में 'कृतता' की उत्पत्ति भी माननी होगी। किन्तु

कि न पश्यसि ? घटक्रिया पटक्रियेतिवत् कृतो घटः, करिष्यते घट इत्यादि। तथैव गृहाण, घटज्ञानं पटज्ञानमितिवत् ज्ञातो घटो ज्ञास्यते ज्ञायते इति।

मीमांसकगण भी कृति से विषय में 'कृतता' की उत्पत्ति नहीं मानते। अतः 'कृतो घटः' इस प्रतीति स्थल में उन लोगों को भी यही कहना होगा कि जिस प्रकार 'इयं घटक्रिया' इस प्रतीति में 'क्रिया' रूप विशेष्य में 'घट' विशेषण होकर घटक्रिया को पटादि क्रियाओं से भिन्न रूप में समझाती है, उसी प्रकार 'कृतो घटः' इस स्थल में 'कृति' ही 'घट' में विशेषण होकर 'कृतघट' को 'अकृत घटों' से व्यावृत्त करेगा। इस के लिये एक ऐसे 'कृतता' नामक पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, जिस की उत्पत्ति कृति से मानी जाय। तो फिर यही बात ज्ञान जन्य ज्ञातता के प्रसङ्ग में कही जा सकती है।

(फलितार्थ यह है कि मीमांसकों के मत से भी जिस प्रकार 'घटक्रिया' का 'विशेषक' होता है 'अर्थ' अर्थात् विषय, एवं 'कृतो घटः' इस स्थल में 'अर्थ' की विशेषिका है कृति, उसी प्रकार 'घटज्ञानम्' इस स्थल में ज्ञान का व्यावर्त्तक है 'अर्थ' (विषय)। एवं 'ज्ञातो घटः' इस स्थल में इसके विपरीत 'अर्थ' का विशेषक (व्यावर्तक) है ज्ञान। इन व्यावृत्तिबुद्धियों के लिये ज्ञातता, कृतता, प्रभृति पदार्थों को मानने की आवश्यकता नहीं है)।

कि न पश्यसि ··· ··· ··· ···

तुम यह नहीं देखते कि जिस प्रकार 'घटक्रिया, पटक्रिया' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार 'कृतो घटः, करिष्यते घटः इत्यादि व्यवहार भी होते हैं। उसी रीति से यह भी समझो कि 'घटज्ञानम्, पटज्ञानम्' इत्यादि व्यवहारों के समान ही 'घटो ज्ञायते, घटो ज्ञास्यते' इत्यादि व्यवहार भी हो सकते हैं, इन के लिये ज्ञातता की आवश्यकता नहीं है।[1]

---

1. कहने का अभिप्राय यह है कि 'घटक्रिया' इस व्यवहार की उत्पत्ति के लिये घट में क्रिया के द्वारा किसी धर्म की उत्पत्ति किसी प्रकार स्वीकृत भी हो सकती है। किन्तु 'कृतो घटः' करिष्यते घटः' इत्यादि स्थलों में तो इस प्रकार की कल्पनाओं का कोई अवकाश ही नहीं है। क्योंकि 'कृतो घटः' इस व्यवहार के समय 'कृति' विनष्ट हो गई रहती है, अतः घट में 'कृतता' की उत्पत्ति किससे होगी ? एवं 'करिष्यते घटः' इस व्यवहार के समय घट की ही सत्ता नहीं रहती है। अतः कृति से 'कृतता' की उत्पत्ति किस में होगी ? अतः मीमांसक गण भी यह स्वीकार करते हैं घटादि में कृति से कृतता की उत्पत्ति के बिना ही उक्त व्यवहारों की उपपत्ति होती है। इसी प्रकार घटादि में क्रिया से किसी की उत्पत्ति के बिना ही घटक्रियादि के व्यवहार हो सकते हैं।

कथमसम्बद्धयोर्धर्मधर्मिभाव इति चेत्; ध्वस्तो घट इति यथा। एतदपि कथमिति चेत्; नूनं ध्वंसेनापि घटे किञ्चित् क्रियत इति वक्तुमध्यवसितोऽसि ?

पू० प० कथम् ··· ··· ··· ···

'ज्ञातो घटः, ज्ञास्यते घटः, इन दोनों व्यवहारों के अव्यवहित पूर्वक्षण में घट का ज्ञान नहीं है। अतः यह मानना होगा कि उस समय घट एवं ज्ञान इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी निश्चित है कि असम्बद्ध दो वस्तुओं में परस्पर विशेष्य विशेषण भाव नहीं हो सकता। अतः उन प्रतीतियों को 'ज्ञान विशेषणक' कैसे कहा जा सकता है।

सि० प० ध्वस्तो घटः ··· ··· ···

जिस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर 'घटो ध्वस्तः, इस आकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार घट के न रहने की स्थिति में भी 'ज्ञातो घटः' ज्ञास्यते घटः, इत्यादि प्रतीतियाँ भी होगी।

पू० प० एतदपि ··· ··· ··· ···

विशेष विशेषण भाव जब विद्यमान दो वस्तुओं में ही होता है, तो घटो ध्वतः, यह यह प्रतीति भी कैसे होगी ? (क्यकि नैयायिकों के युक्ति के अनुसार 'घटो ध्वस्तः' इस प्रतीति में भी घट विशेष्य रूप से एवं ध्वंस विशेषण रूप से भासित होता है। किन्तु जिस समय घट की सत्ता रहती है, उस समय उसके ध्वंस की सत्ता नहीं रहती है, एव जिस समय ध्वंस की सत्ता रहती है' उस समय घट की सत्ता नहीं रहती है। फलतः घट और उसका ध्वंस ये दोनों एक समय में रह ही नहीं सकते। अतः ध्वंस विशेषणक घट विशेष्यक प्रतीति भी अनुपपन्न ही है। अतः इस दृष्टान्त के बल पर 'ज्ञातो घटः, ज्ञास्यते घटः' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति नहीं की जा सकती)।

सि० प० नूनम् ··· ··· ··· ···

तो क्या तुम (मीमांसक) यह कहने के लिये तो उद्यत नहीं हो कि ध्वंस से उसके घटादि प्रतियोगियों में (ज्ञातता की तरह) किसी पदार्थ की उपपत्ति होती है ?

इस प्रकार की स्थिति के स्थिर हो जाने पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'घटज्ञानम्, पटज्ञानम्' इत्यादि व्यवहार होते है, उसी प्रकार 'ज्ञातो घटः, ज्ञास्यते घटः' इत्यादि व्यवहारों की भी उपपत्ति हो सकती है। अर्थात् ज्ञायते घटः ज्ञातो घटः' इत्यादि स्थलों में घट में ज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति किसी प्रकार मानी भी जा सकती हैं, किन्तु 'ज्ञास्यते घटः' इस व्यवहार के समय घट की सत्ता ही ही नहीं हैं, फिर ज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति कहाँ पर होगी ? अतः 'ज्ञातता' को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

तन्निरूपणाधीननिरूपणो ध्वंसः स्वभावादेव तदीय इति किमत्र सम्बन्धान्तरेणेति चेत् ? प्रकृतेऽप्येवमेव ।

(अर्थात् मीमांसक गण भी 'ध्वस्तो घटः' इस प्रतीति को स्वीकार करते हैं। किन्तु ध्वंस से 'ध्वस्तता' प्रभृति किसी पदार्थ की उत्पत्ति प्रतियोगी में नहीं मानते। अतः जो कुछ भी उपाय वे लोग ध्वस्तता को न मानकर उक्त प्रतीति की उपपत्ति के लिये करेंगे, उसी उपाय से 'ज्ञातो घटः' ज्ञास्यते घटः' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति भी (विना ज्ञातता को स्वीकार किये ही) हमलोग भी करेंगे।

पू० प० तन्निरूपणाधीन ··· ··· ···

ध्वंस का (अभाव का) निरूपण प्रतियोगी के निरूपण की अपेक्षा रखता है प्रतियोगियों के निरूपण के विना ध्वंस का (किसी भी अभाव का) निरूपण हो ही नहीं सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अभाव का स्वभाव प्रतियोगी के निरूपण से निरूपित होना है। अतः अभाव में प्रतियोगी का 'निरूप्यत्व' नाम का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के बल पर 'ध्वंस घटीयः' इत्यादि सार्वजनीन प्रतीतियाँ होतीं हैं (अर्थात् वृत्तिता के (आधाराधेयभाव के) नियामक संयोगादि सम्बन्धों के लिये ही उनके प्रतियोगी और अनुयोगी रूप, अथवा विशेष्य एवं विशेषण रूप दोनों सम्बन्धियों की सत्ता अपेक्षित होती है। 'निरूप्यत्व' प्रभृति जो वृत्तिता के अनियामक सम्बन्ध हैं, उनके लिये दोनों सम्बन्धियों की सत्ता की आवश्यकता नहीं है। विशेष्य विशेषण भाव के लिये दोनों के सम्बन्ध की ही अपेक्षा है, दोनों की सत्ता की नहीं। वृत्तिता के अनियामक उक्त निरूप्यत्वादि सम्बन्ध दोनों में से किसी की सत्ता के विना भी उपपन्न हो सकता है : तस्मात् 'ध्वंस्तो घटः' इस प्रतीति के लिये 'ध्वस्तता' प्रभृति किसी धर्म को मानने की आवश्यकता नहीं है)।

सि० प० प्रकृतेऽपि ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार नियमतः प्रतियोगी अभाव निरूप्य है, उसी प्रकार ज्ञान भी नियमतः विषय निरूप्य है। इसी प्रकार विषय भी नियमतः ज्ञान निरूप्य है। अतः ज्ञान और विषय इन दोनों में विशेष्य विशेषण भाव के लिये ज्ञान और विषय इन दोनों की एकही समय सत्ता अपेक्षित नहीं है।

अतः जिस प्रकार विनाश के न रहने पर भी 'विनाशी घटः' इस प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं। अथवा घट की सत्ता के न रहने पर भी 'विनष्टो घटः' इस प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं, उसी प्रकार अव्यवहित पूर्व क्षण में ज्ञान के न रहने पर भी 'ज्ञातो घटः' इस प्रकार की प्रतीति, एवं पूर्व क्षण में घट के न रहने पर भी 'ज्ञास्यते घटः' इस प्रकार की ज्ञान विशेष्यक प्रतीति हो सकती हैं। इसके लिये 'ज्ञातता' को मानने की आवश्कतानहीं है।

एतेन फलानाधारत्वादर्थः कथं कर्मेति निरस्तम्। विनाश्यवत् करणव्यापारविषयत्वेन तदुपपत्तेः। स्वाभाविकफलनिरूपकत्वञ्च तुल्यम्।

सि० प० एतेन ··· ··· ··· ···

(ज्ञातता के न मानने पर मीमांसकों का एक प्रधान वक्तव्य है कि 'घटं जानाति' इस सर्व सिद्ध वाक्य से जो घट में कर्मता की प्रतीति होती है, उसकी अनुपपत्ति। क्योंकि ज्ञान रूप क्रिया से यदि घट में किसी फल की उत्पत्ति न हो, तो घट ज्ञान क्रिया का कर्म क्यों कर होगा ? चूँकि क्रिया से उत्पन्न फल का आश्रय ही उस क्रिया का कर्म होता है, अतः ज्ञान से घट में किसी वस्तु की उत्पत्ति माने बिना उक्त प्रयोग अनुपपन्न हो जायगा। अतः ज्ञान से विषय में किसी वस्तु की उत्पत्ति माननी होगी। उसी वस्तु को हमलोग 'ज्ञातता' कहते हैं। फलतः नाम में विवाद हो सकता है, अर्थ में नहीं। इसका यह उत्तर है कि) जिस प्रकार घट में किसी भी कृति की उत्पत्ति न होने पर भी अर्थात नाशानुकूल कृतिमत्त्व रूप कर्तृत्व के न रहने पर भी 'घटो नश्यति' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार क्रिया जन्य फल शालित्व के न रहने पर भी घट में ज्ञान क्रिया की कर्मता आ सकती है, जिसका प्रयोजक चक्षु प्रभृति प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होना है (अर्थात् घट में ज्ञान क्रिया का कर्मत्व एतज्जन्य फल शालित्व रूप नहीं है, किन्तु चक्षुषादिकरण व्यापार विषयत्व स्वरूप है, इसी से घट में ज्ञान क्रिया के कर्मत्व का व्यवहार होता है। इसका इतना ही प्रयोजन है कि 'घटं जानाति' यह प्रयोग 'साधु' हो।

वस्तुतः घट ज्ञानक्रिया का कर्म कारक है ही नहीं। क्योंकि विशेष प्रकार का कारक ही कर्म है। कारकत्व है क्रियाजनकत्व रूप। जनकता विद्यमान पदार्थ में ही रहती है। किन्तु अतीत और अनागत वस्तु भी ज्ञान का अर्थ (विषय) होता है। क्यों कि 'अतीतानागतं जानाति' इस प्रकार के प्रयोग भी होते हैं। अतः इस प्रकार के प्रयोगों की साधुता की रक्षा के लिए अर्थ (विषय) में ज्ञानक्रिया की कर्मता का केवल गौणव्यवहार होता है। जिस प्रकार घटविनाश रूप क्रिया प्रतियोगिभूत घट निरुप्य होने के कारण घटकर्तृक है (अर्थात् विनाश क्रिया का कर्तृत्व घट में है,) उसी प्रकार ज्ञान क्रिया भी विषय निरूप्य होने के कारण ही 'विषयकर्मक' है (अर्थात् ज्ञानक्रिया विषयकर्मिका है) अतः इस रीति से भी ज्ञातता का समर्थन नहीं किया जा सकता।

ननु ज्ञानमतीन्द्रियत्वादसाधारणकार्यानुमेयं तदभावे कथमनुमीयेत ?। अप्रतीतञ्च कथं व्यवहारपथमवतरेदिति ज्ञानव्यवहारान्यथाऽनुपपत्त्या ज्ञातता-कल्पनम्। तदप्यसत्। परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। ज्ञाततया हि ज्ञानमनुमीयेत, ज्ञाते च तद्व्यवहारान्यथाऽनुपपत्तिस्तां ज्ञापयेत्। कुतश्च ज्ञानमतीन्द्रियम् ?।

ननु ज्ञानम् ··· ··· ···

घट ज्ञान के बाद 'घटमहं जानामि' इस आकार का ज्ञान रूप व्यवहार सार्वजनीन है, जिसको अनुव्यवसाय कहा जाता है। यह अनुव्यवसाय रूप व्यवहार ज्ञान विषयक ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान अतीन्द्रिय है। अतः ज्ञान का उक्त अनुव्यवसाय रूप ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उसको ज्ञान विषयक अनुमान रूप ही मानना होगा। ज्ञान का असाधारण कार्य ही उसका अनुमापक लिङ्ग हो सकता है। अतः ज्ञान से किसी ऐसे असाधारण कार्य की उत्पत्ति माननी होगी, जिससे ज्ञान का उक्त व्यवहार (अनुव्यवसाय रूप अनुमिति) हो सके। ज्ञान का वह 'असाधारण' कार्य ही 'ज्ञातता' है। अतः ज्ञान विषयक ज्ञान रूप व्यवहार (अनुव्यवसाय) को 'अन्यथानुपपत्ति' से अर्थात् ज्ञातता को माने बिना उक्त व्यवहार की अनुपपत्ति से वशीभूत होकर ज्ञातता को स्वीकार करना ही होगा।

सि० प० तदप्यसत् ··· ··· ··· परस्पराश्रय ··· ··· ···

(१) इस कल्पना में 'परस्पराश्रय' अर्थात् अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि 'ज्ञातता' से ज्ञान का व्यवहार रूप अनुमान उत्पन्न होगा। एवं 'ज्ञानव्यवहार' का अर्थात् ज्ञाना-नुमिति की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञातता का अनुमान होगा। 'ज्ञानान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु से जो ज्ञातता की अनुमिति होगी, उसमें ज्ञान विषयक अनुमिति रूप ज्ञान (हेतुतावच्छेदकज्ञान विषया) अपेक्षित होगा। इस प्रकार ज्ञातता की अनुमिति में उक्त व्यवहार (रूप अनुव्य-वसाय) की अपेक्षा, एवं व्यवहार रूप उक्त अनुमिति में ज्ञातता की अपेक्षा स्पष्ट है। अतः इस रीति से ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती।

कुतश्च ··· ··· ···

(२) इसमें दूसरा यह दोष है कि इन सभी बातों का मूल है ज्ञान का अतीन्द्रिय होना। अतः इस प्रसङ्ग में सबसे पहिले यही परिक्षणीय है कि ज्ञान को अतीन्द्रिय मानना आवश्यक है या नहीं ? अथवा यों कहिये कि ज्ञान को अतीन्द्रिय स्वीकार करने के पक्ष में युक्ति है ? अथवा नहीं ?

पू० प० इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्व ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का कहना है कि) इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होने की योग्यता जिस वस्तु में नहीं रहती है, उसी को 'अतीन्द्रिय' कहते हैं। इसी युक्ति से परमाणु

इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वादिति चेन्न। अनुमानोपन्यासे साध्याविशिष्टत्वात्। अनुपलब्धिमात्रोपन्यासे तु योग्यताऽविशेषिताऽसौ कथमैन्द्रियकोपलम्भाभावं गमयेत्।

प्रभृति अतीन्द्रिय कहे जाते हैं। जिस प्रकार परमाणु आदि अतीन्द्रिय हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी इन्द्रियवेद्य न होने के कारण अतीन्द्रिय हैं। ज्ञान भी किसी इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने की क्षमता नहीं रखते। अतः ज्ञान भी अतीन्द्रिय है।

सि० प० न, अनुमानोपन्यासे ··· ··· ··· ···

(क्या मीमांसकों को) (१) 'इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्व' हेतु से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व का यह अनुमान अभिप्रेत है कि 'ज्ञानमतीन्द्रियम् इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वात् परमाण्वादिवत्' (२) अथवा ज्ञान में इन्द्रियगोचरत्व की अनुपलब्धि रूप प्रमाण से 'अतीन्द्रियत्व' की सिद्धि अभिप्रेत है ? (अर्थात् 'इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वात्' यह हेतु बोधक वाक्य से ज्ञान पक्षक अतीन्द्रियत्व का साधक यह अनुमान (ज्ञानमतीन्द्रियमिन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वात्) अभिप्रेत है ? अथवा उक्त हेतुवाक्य अनुपलब्धि प्रमाण का उपपादक है ?

इनमें से यदि उक्त प्रथम पक्ष को माने अर्थात् उक्त हेतु वाक्य को अनुमान का ज्ञापक माने तो अनुमान का आकार होगा 'ज्ञानमतीन्द्रियमिन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वात् परमाण्वादिवत्' (अर्थात् चूँकि परमाणुप्रभृति के समान ही ज्ञान का ग्रहण किसी इन्द्रिय से नहीं होता है, अतः ज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं)। किन्तु इस अनुमान में 'सिद्धसाधन' दोष है। क्योंकि 'अतीन्द्रियत्व' रूप साध्य एवं 'इन्द्रियेणोपलभ्यमानत्व' रूप हेतु दोनों वस्तुतः एक ही वस्तु है। उक्त अनुमिति में पक्षधर्मताज्ञान विषया ज्ञान विशेष्यक इन्द्रियेणोपलभ्यमानत्व का ज्ञान पहिले आवश्यक है। यह पक्षधर्मता ज्ञान 'ज्ञानमतीन्द्रियम्' पक्ष विशेष्यक अतीन्द्रियत्व रूप साध्य प्रकारक इस अनुमिति स्वरूप ही होगा। अतः अनुमिति से पहिले उक्त पक्षधर्मता ज्ञान रूप सिद्धि के रहने से 'पक्षता' विघटित हो जायगी। फलतः प्रथम पक्ष नहीं स्वीकार किया जा सकता। (यह सिद्धसाधन अथवा पक्षता का विघटन ही प्रकृत ग्रन्थ में 'साध्याविशिष्टत्व' पद से अभिप्रेत है)।

(द्वितीय पक्ष को समझने के लिये यह विकल्प करना चाहिये कि जिस 'अनुपलब्धि' से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व का साधन करना चाहते है, वह अनुपलब्धि क्या 'अनुपलब्धि' मात्र है ? अथवा योग्यानुपलब्धि है ? इनमें यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें।)

अनुपलब्धिमात्रोपन्यासे··· ··· ··· ···

(तो यह संभव नहीं है, क्योंकि) योग्यानुपलब्धि ही अभाव का साधक है, योग्यायोग्य साधारण सभी अनुपलब्धियाँ नहीं। अतः योग्यता से अविशेषित केवल अनुपलब्धि इन्द्रिय गोचर विषय के उपलम्भ के अभाव रूप अतीन्द्रियत्व का साधक किस प्रकार होगा ?

तद्विशेषणे तु कथमतीन्द्रियं ज्ञानमिति । तथाविधज्ञातताऽनाश्रयत्वादिति चेन्न । आश्रयासिद्धेः ।

तद्विशेषणे तु··· ··· ··· ···

यदि योग्यानुपलब्धि से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि करना चाहेंगे, तो इसी ज्ञान से 'अतीन्द्रियत्व' के विरोधी 'इन्द्रियग्राह्यत्व' की ही सिद्धि हो जायगी । क्योंकि 'योग्यानुपलब्धि' शब्द का अर्थ है 'योग्य' की अर्थात् प्रत्यक्ष के 'योग्य' वस्तु की अनुपलब्धि । फलतः प्रकृत में उक्त 'योग्यत्व' इन्द्रियवेद्यत्व रूप होगा । योग्यत्व का अन्वय अनुपलब्धि की प्रतियोगी जो उपलब्धि उसके विषय के साथ है । तदनुसार योग्य जो ज्ञान उसकी अनुपलब्धि से यदि ज्ञान का अभाव गृहीत हो तो अर्थतः ज्ञान में ऐन्द्रियकत्व की सिद्धि अवश्य हो जायगी । अतः योग्यानुपलब्धि से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ।

पू० प० तथाविध··· ··· ··· ···

घटादि वस्तुओं के साक्षात्कार के बाद 'साक्षात्कृतो घटः' इत्यादि आकार की प्रतीतियाँ सार्वजनीन हैं । जब तक साक्षात्कार से घटादि वस्तुओं में 'साक्षात्कृतता' (ज्ञातता) नाम की वस्तु की उत्पत्ति नहीं होगी, तबतक उक्त सार्वजनीन प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती । अतः यह मानना होगा कि जितने भी इन्द्रियवेद्य विषय हैं, उनमें 'साक्षात्कृतता' नाम की वस्तु अवश्य है । इस प्रकार 'इन्द्रियवेद्यत्व का व्यापक है 'साक्षात्कृतता' । एवं 'व्यापकभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि' इस न्याय से साक्षात्कृतता का अभाव इन्द्रियवेद्यत्वाभाव का ज्ञापक होगा । अर्थात् यह मानना होगा कि 'जहाँ साक्षात्कृतता नहीं है, वहाँ इन्द्रियवेद्यत्व भी नहीं है ।

प्रकृत में 'ज्ञानं साक्षात्कृतम्' इस आकार की प्रतीति नहीं होती है । अतः ज्ञान में 'साक्षात्कृतता' नहीं है । जब ज्ञान में साक्षात्कृतता नहीं है, तो फिर इन्द्रियवेद्यत्व भी नहीं है । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'ज्ञानमतीन्द्रियम् तथाविध ज्ञातताऽनाश्रयत्वात्' (साक्षात्कृतता ही 'तथाविध ज्ञातता' है)

सि० प० न, आश्रयासिद्धेः ··· ··· ··· ···

व्यवहार से वस्तु की सिद्धि होती है । अतः 'ज्ञान' की भी सिद्धि ज्ञान के व्यवहार से ही होगी । ज्ञान का व्यवहार ज्ञातता के अधीन है । ज्ञातता की सिद्धि चूँकि ज्ञान में रहनेवाले अतीन्द्रियत्व धर्म के अधीन है, अतः ज्ञान के भी अधीन है । अभी (ज्ञान में अतीन्द्रियत्व साधन के समय) 'ज्ञान' सिद्ध नहीं है । क्योंकि अनुमिति में पक्षतावच्छेदक

व्यवहारान्यथाऽनुपपत्त्यैव सिद्ध आश्रय इति चेन्न। ज्ञानहेतुनैव तदुपपत्तेः। तस्याऽऽत्ममनः संयोगादिरूपस्य सत्त्वेऽपि सुषुप्तिदशायामर्थव्यवहाराभावान्नैवमिति चेन्न।

तावन्मात्रस्य व्यवहाराहेतुत्वात्। अन्यथा ज्ञानस्वीकारेऽपि तुल्यत्वात्।

विशिष्ट पक्ष का ज्ञान अपेक्षित है। पक्ष का यह विशेष प्रकार का ज्ञान प्रकृत अनुमिति के पहिले सम्भव नहीं है। पक्ष में उसके विशेषण का (पक्षतावच्छेदक का) न रहना ही 'आश्रयासिद्धि' दोष है। सो इस अनुमिति में भी है, अतः इस अनुमान से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

पू० प० व्यहारान्यथनुपपत्त्य। ··· ··· ···

ज्ञात घटादि का ही व्यवहार होता है, अज्ञात घटादिका नहीं। अतः व्यवहार के प्रति 'व्यवहर्त्तव्य' विषय का ज्ञान कारण है। इसलिये 'ज्ञानव्यवहार' के लिये भी व्यवहर्त्तव्य विषय स्वरूप 'घटज्ञान' कारण है ही। सुतराम् उक्त 'ज्ञानव्यवहार' रूप कार्य से व्यवहर्त्तव्य विषयक अनुमान सुलभता से हो सकता है। अतः उक्त अतीन्द्रियत्व के अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष नहीं है।

सि० प० ज्ञानहेतुनैव ··· ··· ···

यद्यपि घटादि व्यवहार के प्रति घटादि व्यवहर्त्तव्य विषयों का ज्ञान कारण है। तथापि 'ज्ञान व्यवहार' के प्रति 'ज्ञान' को कारण मानना आवश्यक नहीं है। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए जिन वस्तुओं को कारण मानना पड़ता है, उन्हीं कारणों से 'ज्ञान व्यवहार' की भी उत्पत्ति मान लेंगे। इस कारण समूह रूप सामग्री में ज्ञान के उत्पादक कारणों से अतिरिक्त 'ज्ञान' का भी संनिवेश स्वीकार करना अनावश्यक है। अतः ज्ञान 'ज्ञान व्यवहार' का कारण नहीं हैं। इस लिये ज्ञान के बिना ज्ञान का व्यवहार अनुपपन्न भी नहीं है, अत। उक्त रीति से आश्रयासिद्धि दोष का उद्धार नहीं हो सकता।

पू० प० तस्यात्मनःसंयोगादि ··· ··· ···

जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, केवल उन्हीं कारणों से यदि ज्ञान का व्यवहार भी मानें तो सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञान का व्यवहार मानना होगा, क्योंकि उस समय ज्ञान के उत्पादक आत्मनः संयोगादि कारणों का समूह अवश्य रहता है, अत। ज्ञान को भी ज्ञानव्यहार का कारण मानना होगा, इस लिये उक्त अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष का जो हम ने उद्धार किया है, वह ठीक है।

सि० प० तावन्मात्रस्य ··· ··· ···

ज्ञान व्यवहार के प्रति 'तावन्मात्र' अर्थात् ज्ञान की उत्पादिका सामान्य सामग्री मात्र कारण नहीं हैं। अतः सुषुप्ति काल में ज्ञान के साधारण कारणों के रहते हुए भी ज्ञान

स्मरणान्यथाऽनुपपत्त्येति चेन्न । तस्याप्यसिद्धेः ।

का व्यवहार नहीं होता है । क्योंकि ज्ञानव्यवहार 'ज्ञान विशेष' स्वरूप ही है, अतः जब तक ज्ञानव्यवहार रूप 'विशेषज्ञान' के असाधारण (विशेष) कारणों का भी संबलन न हो, तब तक सामान्य कारणों के रहते हुए भी 'ज्ञानव्यवहार' की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसीलिये सुषुप्ति काल में ज्ञान का व्यवहार नहीं होता[1] है ।

पू० प० स्मरणान्यथानुपपत्त्या — ··· —

व्यवहार की 'अन्यथानुपपत्ति' से ज्ञान की सिद्धि भले ही न हो सके, स्मरण की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान की सिद्धि होगी (स्मृति के प्रति पूर्वानुभव कारण है । यदि 'ज्ञान' को स्वीकार नहीं करेंगे तो स्मृति की अनुपपत्ति हो जायगी । अतः स्मरण की उपपत्ति चूँकि विना ज्ञान के नहीं हो सकती, अतः स्मरण की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान की सिद्धि अनिवार्य है। अतः उक्त आश्रयासिद्धि दोष नहीं है ।

सि० प० तस्यापि — ··· ···

अगर स्मृति की सिद्धि रहे तो उसकी अनुपपत्ति से ज्ञान की सिद्धि हो सकती है, किन्तु अभी स्मृति भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि स्मृति भी ज्ञान ही है । इसलिये जब ज्ञान सामान्य ही असिद्ध है, तो तदन्तर्गत स्मृति भी असिद्ध ही है । इस रीति से भी ज्ञान की सिद्धि के द्वारा आश्रयासिद्धि का उद्धार नहीं हो सकता ।

---

१. अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति अवस्था में तो कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । किन्तु ज्ञान की उत्पादिका सामान्य सामग्री (आत्मनः संयोगादि रूपा) तो रहती है । अतः प्रश्न यह होता है कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान की सामान्य सामग्री के रहते ज्ञान की ही उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ! कौन उसका प्रतिरोधक है ? इस प्रश्न का यदि यह उत्तर दें कि सुषुप्ति समय में भी रहने वाले आत्मनः संयोग प्रभृति सामान्य कारणों के अतिरिक्त ज्ञान के और भी विशेष कारण हैं जिनके न रहने से सुषुप्तिकाल में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, तो फिर यह कहना पूर्ण सङ्गत है कि ज्ञान के उत्पादक जितने भी सामान्य और विशेष कारण हैं, उन्हीं सबों को 'ज्ञान व्यवहार का भी उत्पादक मान लेने से सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानव्यवहार का प्रतिरोध हो जायगा । इसके लिये ज्ञान के व्यवहार के कारणों में 'ज्ञान' रूप विषय को भी रखना अनावश्यक है । अतः ज्ञान के विना ज्ञान व्यवहार की अनुपपत्ति नहीं है । अन्यथा ज्ञान व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति वश उक्त अतीन्द्रियात्वानुमान के पक्षीभूत ज्ञान की सिद्धि सम्भव नहीं है । तस्मात् उक्त अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष जागरूक है ।

अस्ति तावद्व्यवहारनिमित्तं किञ्चिदिति चेन्न; किमतः ?। न ह्येतावता ज्ञानं तदिति सिद्ध्यति, तस्यैवासिद्धेः। तथापि नियतस्य कर्तुः प्रवृत्तेः कर्तृधर्मेणैव केनचित्प्रवृत्तिहेतुना भवितव्यमिति चेत्; अस्त्विच्छा प्रत्यक्षसिद्धा, न तु ज्ञानम्।

सैव कथं नियताधिकरणे उत्पद्यतामिति चेन्न।

पू० प० अस्ति तावत् — ··· ···

'घटं जानामि' इस व्यवहार का प्रयोजक (घट से भिन्न) कोई वस्तु अवश्य है। यदि ऐसा न मानें तो घट की सत्ता जब तक रहेगी, तब तक निरन्तर घट का व्यवहार होता ही रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये उक्त घटव्यवहार का घट से भिन्न कोई कारण अवश्य है, वही कारण है 'ज्ञान'। अतः ज्ञान असिद्ध नहीं है। इसलिये प्रकृत अनुमान में तन्मूलक आश्रयासिद्धि दोष नहीं है।

सि० प० किमतः ··· ··· ···

जब ज्ञान अभी सिद्ध नहीं है तो फिर (विषय से भिन्न) व्यवहार के जिस कारण की आप बात कर रहे है, वह ज्ञान से भिन्न ही कोई वस्तु होगी। इससे इतना ही सिद्ध होता है 'घटव्यवहार का घट से भिन्न कोई कारण अवश्य है' किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वह कारण 'ज्ञान' ही है। इसके लिए कोई दूसरा साधक ढूढ़ना होगा। अतः केवल इतने भर से ज्ञान की सिद्धि एवं तन्मूलक आश्रयासिद्धि दोष का निवारण नहीं हो सकता।

पू० प० तथापि नियतस्य कर्त्तुः ··· — ···

अपने इष्ट के साधनों में जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सभी स्वीकार करते हैं। जीव ही प्रवृत्ति का कर्त्ता अथवा समवायिकारण है। जिस जीव में जो कोई भी प्रवृत्ति होगी, वे सभी प्रवृत्तियाँ उस जीव में रहने वाले किसी धर्म से ही उत्पन्न होंगी, अन्य जीवों में रहने वाले किसी धर्म से नहीं। अतः यह मानना होगा कि प्रवृत्ति के आश्रयीभूत आत्मा (जीव) में प्रवृत्ति का कारणीभूत कोई धर्म अवश्य है। 'ज्ञान ही वह 'धर्म' है।

सि० अस्तु ··· — ···

जीव में रहनेवाले जिस धर्म को आप ने प्रवृत्ति का कारण माना है, वह धर्म 'इच्छा' रूप ही स्वीकार करेंगे, क्योंकि वह प्रत्यक्षसिद्ध है। (मीमांसक इच्छा का प्रत्यक्ष मानते हैं)। इसके लिये अतीन्द्रियज्ञान की कल्पना अनावश्यक है। अतः प्रवृत्ति के किसी कारण की अपेक्षा मानने पर भी वह कारण 'ज्ञान' ही हो—इसका कोई नियामक जब तक सिद्ध नहीं हो जाता, तबतक उक्त रीति से भी ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती।

पू० प० सैव कथम् ··· ··· ··· ···

प्रवृत्ति के कारण रूप में जिस इच्छा की सिद्धि के द्वारा 'ज्ञान' की सिद्धि का प्रतिरोध उपस्थित किया गया है। उस 'इच्छा' के कारण के प्रसङ्ग में भी चर्चा उठेगी कि

ज्ञानाभ्युपगमेऽपि तुल्यत्वात् । स्वहेतोः कुतश्चिदिति चेत्; तत एव इच्छा अस्तु, किं ज्ञानकल्पनयेति ।

स्यादेतत् । प्रकाशमाने खल्वर्थे तदुपादित्सादिरुपजायते, न तु सुषुप्त्यवस्थायामप्रकाशमानेऽप्यर्थे इत्यनुभवसिद्धम् । तत इच्छायाः कारणं विलक्षणमेव किञ्चित्परिकल्पनीयम्, यस्मिन् सति सुषुप्तलक्षणमौदासीन्यमर्थविषयमात्मनो निवर्त्तते इति चेत् ।

इच्छा भी चूँकि आत्मा का धर्म है, अतः उसे भी आत्मा के ही किसी दूसरे धर्म से उत्पन्न होना चाहिये । वही आत्मधर्म है ज्ञान । तस्मात् इच्छा के कारण के रूप में ही ज्ञान की सिद्धि सर्वथा सम्भावित है ।

सि० प० ज्ञानभ्युगमेऽपि ··· ··· ··· ···

इस प्रकार इच्छा के कारण के रूप में ज्ञान की सिद्धि होने पर भी यह प्रश्न उपस्थित होगा कि ज्ञान भी चूँकि आत्मा का धर्म है, अतः वह भी किसी दूसरे आत्मधर्म से ही उत्पन्न होगा । फिर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानजानक यह आत्मधर्म कौन सा है ?

पू० प० स्वहेतोः··· ··· ··· ···

आत्मा का ज्ञान रूप धर्म भी अपने किसी दूसरे आत्म धर्म से उत्पन्न होगा, इससे इच्छा के जनक रूप में ज्ञान की सिद्धि में कौन सी बाधा है ?

सि० प० तत एव··· ··· ··· ···

ज्ञान के कारण रूप में आत्मा के जिस दूसरे धर्म का आप आक्षेप करते हैं, उसी से इच्छा की भी उत्पत्ति मान लें । उसके लिये मध्य में ज्ञान को स्वीकार करने की कौन सी आवश्यकता है ? अतः ज्ञान में अतीन्द्रियत्व के साधक अनुमान का हेतु अवश्य ही आश्रयासिद्धि से दूषित है । इसलिये ज्ञान में अतीन्द्रियत्व मूलक ज्ञातता की सिद्धि संभव नहीं है ।

पू० प० स्यादेतत्··· ··· ···

जाग्रत अवस्था में ही घटादि अर्थ प्रकाशित होते हैं, सुषुप्ति अवस्था में नहीं । एवं यह भी सभी मानते हैं कि प्रकाशित अर्थों की ही उपादानेच्छा उत्पन्न होती है । अर्थात् जाग्रत अवस्था में चूँकि अर्थ प्रकाशित रहता है, अतः उपादान रूप अर्थ की इच्छा उत्पन्न होती है । सुषुप्ति अवस्था में अर्थ का प्रकाश नहीं रहता । इसलिये अर्थ रूप उपादान की इच्छा (उपादित्सा) उत्पन्न नहीं होती है । इस अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों से यह समझते हैं कि इच्छा का कारण कोई ऐसी वस्तु है जो जाग्रत अवस्था में ही रहती है, सुषुप्ति अवस्था में नहीं । फलतः इच्छा का कारण कोई ऐसी वस्तु है, जिसके रहते सुषुप्ति नहीं होती । वही कोई 'प्रकाश स्वरूप वस्तु' है 'ज्ञान' । अतः ज्ञान असिद्ध नहीं है ।

हन्तैवं सुष्वापनिवृत्तिमनुभवसिद्धां प्रतिजानानेन ज्ञानमेवापरोक्षमिष्यते। अचेतयन्नेव हि सुषुप्त इत्युच्यते, अचेतन्यनिवृत्तिरेव हि चेतन्यं ज्ञानमिति। तथा च कालात्ययापदिष्टो हेतुः। एतेन क्षणिकत्वादिति निरस्तम्।

सि० प० हन्तैवम्··· ··· ··· ···

'सुष्वाप' अर्थात् सुषुप्ति अवस्था की निवृत्ति ही जाग्रत अवस्था है। इस जाग्रत अवस्था को यदि 'अनुभव' अर्थात् प्रत्यक्ष से सिद्ध मानें तो इसी से ज्ञान की अपरोक्षता भी सिद्ध हो जायगी। क्योंकि पुरुष जिस समय अचेतन अवस्था में रहता है, तभी उसमें 'सुष्वाप' का व्यवहार होता है। अचैतन्य की निवृत्ति ही चैतन्य है, एवं चैतन्य ज्ञान स्वरूप है। अतः ज्ञान की अपरोक्षता ही 'जाग्रदवस्था' है। इस प्रकार ज्ञान रूप पक्ष में प्रत्यक्षत्व सिद्ध है, अतः प्रत्यक्षत्व का अभाव रूप अतीन्द्रियत्व उसमें नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में ज्ञान में अतीन्द्रियत्व के साधन के लिए जो भी हेतु प्रयुक्त होगा, उसको 'कालात्यापदेश' अर्थात् बाध दोष से ग्रसित होना अनिवार्य होगा। अतः ज्ञान में अतीन्द्रियत्व का साधक उक्त अनुमान से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

ऐतेन··· ··· ··· ···

इसी प्रकार 'ज्ञानमतीन्द्रियं क्षणिकत्वात्' इस अनुमान को भी निरस्त समझना चाहिये।[1]

1. क्षणभङ्गवादी बौद्धगण भी ज्ञान को अतीन्द्रिय मानते हैं। इसी प्रकार ज्ञान को क्षणिक मानने वाले अन्य लोग भी हैं। उन लोगों का कहना है कि ज्ञान चूँकि क्षणिक है, अतः इन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियसंनिकर्ष के समान ही विषय भी कारण है। एवं विषय एवं इन्द्रिय इन दोनों के संनिकर्ष का भी विषय कारण है। इस स्थिति में क्षणिक (एक क्षण मात्रवर्त्ति वा क्षणत्रयावस्थायी) ज्ञान रूप विषय के इन्द्रियसंनिकर्ष का संवलन तक ज्ञान रूप विषय की सत्ता नहीं रह सकती। अतः पहिली बात तो यह है कि जिस इन्द्रिय संनिकर्ष से ज्ञान का प्रत्यक्ष होगा, उसका संवलन ही असंभव है। यदि उसका संवलन मान भी लें, तथापि उस समय तक क्षणिक ज्ञान की सत्ता ही संभव नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान चूँकि क्षणिक है, अतः इन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इस प्रकार का अभिप्राय रखनेवालों के अभीष्ट अनुमान का प्रयोग 'ज्ञानमतीन्द्रियम् क्षणिकत्वात्' इस आकार का है। इसी अनुमान में कथित 'कालात्ययापदेश' (बाध) दोष का अतिदेश आचार्य ने 'एतेन' इत्यादि सन्दर्भ से किया है।

अपि च—किमिदं क्षणिकत्वं नाम ?। यद्याशुतरविनाशित्वम्, तदाऽनैकान्तिकम्। अथैकक्षणावस्थायित्वं तदसिद्धं प्रामाणाभावात्।

अपि च··· ··· ··· ···

क्षणिकत्व हेतुक ज्ञान पक्षक उक्त अनुमान का हेतु व्यभिचार दोष से भी ग्रसित है। क्योंकि क्षणिकत्व क्या वस्तु है ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि क्षणिकत्व को 'आशुतर (तृतीयक्षण) विनाशित्व रूप कहें तो 'अनैकान्तिक' दोष इस प्रकार होगा कि आशुतर विनाशित्व का अर्थ नैयायिक मीमांसकादि सभी लोग तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगित्व मानते हैं। अर्थात् आशुतर विनाशी वह वस्तु है, जिसका उत्पत्ति के तीसरे क्षण में ही विनाश हो जाय। इन लोगों के मत से किसी भी वस्तु की आयु दो क्षणों से कम नहीं है। दो क्षणों तक ही रहने वाले ज्ञान इच्छा प्रभृति जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी पदार्थों का विनाश तृतीय क्षण में होता है। सुतराम् विनाशशील जितने भी पदार्थ हैं, उनमें सब से शीघ्र विनष्ट होनेवाले ज्ञान इच्छादि पदार्थ ही है। मीमांसक लोग भी इच्छादि पदार्थों को क्षणिक मानते हुए भी अतीन्द्रिय नहीं मानते। अतः इच्छादि पदार्थों में अतीन्द्रियत्व रूप साध्य नहीं है, अथच क्षणिकत्व (आशुतरविनाशित्व) रूप हेतु है। उक्त अतः क्षणिकत्व हेतु 'अनैकान्तिक' अर्थात् व्यभिचारी भी है।

पू० प० अथैकक्षण··· ··· ··· ···

(बौद्धगण कहते हैं कि) क्षणिकत्व का अर्थ है केवल एक ही क्षण तक रहना। ज्ञान को ही एक क्षणावस्थायी (क्षणिक) मानेंगे, इच्छादि को नहीं। अतः उक्त व्यभिचार दोष नहीं है। क्योंकि इच्छादि में यदि अतीन्द्रियत्व रूप साध्य नहीं है तो उक्त (एक क्षण मात्र वृत्तित्वरूप) क्षणिकत्व हेतु भी नहीं है।

सि० प० तदसिद्धम्··· ··· ··· ···

हेतु को अनुमान से पूर्व अपने स्वरूप से सिद्ध रहना चाहिये, किन्तु किसी पदार्थ का केवल एक क्षण भर ही रहना (एकक्षणमात्रवृत्तित्व) किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः एक क्षणमात्रवर्तित्व रूप क्षणिकत्व ही अलीक (सर्वथा अप्रसिद्ध) है। अतः उक्त क्षणिकत्व 'हेतु' ही नहीं है, किन्तु 'असिद्ध' (हेत्वसिद्ध) नाम का हेत्वाभास है।

इस अतिदेश ग्रन्थ का अभिप्राय है कि उक्त रीति से जब ज्ञान में इन्द्रिय-वेद्यत्व निर्णय हो चुका है, तो उसके बाद ज्ञान में इन्द्रियवेद्यत्वाभाव रूप अतीन्द्रियत्व के साधक जो भी हेतु प्रयुक्त होंगे, वे सभी कालात्ययापदेश दोष से ग्रसित अवश्य होंगे। अतः इस क्षणिकत्व हेतुक अनुमान से भी ज्ञान में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

ननु स्थायिविज्ञानं यादृशमर्थक्षणं गृह्यदुत्पद्यते, द्वितीयेऽपि क्षणे किं तादृशमेव गृह्णाति, अन्यादृशं वा, न वा कमपीति। न प्रथमः, तस्य क्षणस्यातीत्वात्। प्रत्यक्षज्ञानस्य च वर्तमानाभत्वात्।

पू० प० स्थायिविज्ञानम् ··· ··· ··· ···

(बौद्धों का कहना है कि) जो समुदाय विज्ञान का 'स्थायीत्व' अर्थात् अनेक क्षणों तक रहना मानते हैं, उन लोगों को भी घटादि पदार्थों की तरह सजातीय विलक्षण ज्ञान को उत्पत्ति ही माननी पड़ेगी। क्योंकि घटादि स्थूल पदार्थों में से कोई एक ही वस्तु अनेक क्षणों तक रहनेवाली नहीं है। किन्तु निरन्तर अनेक क्षणों तक एक सजातीय विज्ञान समूह की उत्पत्ति होती है। उन्हीं में परस्पर अत्यन्त सादृश्य वश केवल ऐक्य का व्यवहार होता है। इसके अनुसार ज्ञान का द्वितीयक्षण तक रहना भी द्वितीय क्षण में सजातीय द्वितीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप ही है।

इस वस्तु स्थिति के अनुसार जो सम्प्रदाय ज्ञान को स्थायी (अर्थात् द्वितीय क्षण तक स्थिति शील) मानते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि (१) एक स्थायी विज्ञान प्रथम क्षण में जिस प्रकार के जितने अर्थों का ग्रहण करता है, क्या द्वितीय क्षण में भी वह उसी प्रकार के उतने ही अर्थों का ग्रहण करता है ? (२) अथवा प्रथम क्षण में गृहीत अर्थों से भिन्न अर्थों का ही ग्रहण द्वितीय क्षण में करता है ? (३) किं वा द्वितीय क्षण में वह किसी भी अर्थ का ग्रहण नहीं करता, बिना किसी अर्थ ग्रहण किये ही स्थित रहता है।

(१) इन में से प्रथम पक्ष इसलिये उपपन्न नहीं हो सकता कि ज्ञान में जिस प्रकार घटादि अर्थ भासित होते हैं, उसी प्रकार अर्थ में विशेषणीभूत वर्त्तमानकालादि भी भासित होते हैं। जैसे कि प्रथम क्षण में वर्त्तमानत्वविशिष्ट घट भासित होता है। किन्तु द्वितीय क्षण में तो वह प्रथम क्षण अततीत हो जाता है, अतः द्वितीय क्षण में विद्यमान विज्ञान यदि प्रथम क्षण वृत्तित्व विशिष्ट घटादि का ग्रहण स्वरूप होगा तो वह अतीतत्वविशिष्टघट विषयक ही होगा। अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि 'जिस प्रकार के अर्थ का ग्रहण प्रथम क्षण में होता है, द्वितीयक्षण में भी तद्ग्रहण स्वरूप में ही वह स्थित रहता है।

यह तो हुई परोक्षापरोक्ष साधारण सभी ज्ञानों के प्रसङ्ग में। किन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान तो नियमतः वर्त्तमानत्व विशिष्ट घट विषयक ही होता है, अतः द्वितीयक्षण में स्थित प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के प्रसङ्ग में यह अनुपपत्ति तो अत्यन्त परिस्फुट है। क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न प्रत्यक्षात्मक विज्ञान के ठीक समानविषयक विज्ञान का द्वितीय क्षण में रहना असंभव है।

न चातीतमेव वर्तमानाभतयोल्लिखति; भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, विरम्य व्यापारायोगात् । प्रथमतोऽपि तथाऽभ्युपगमेऽनागतावेक्षणप्रसङ्गात् ।

न चातीतमेव ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि) जिस क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह वर्तमानकाल द्वितीयक्षण में अतीत होता है । द्वितीय क्षण में इस अतीतकाल का ही ग्रहण करते हुए विज्ञान की स्थिति रहती है । किन्तु उक्त अतीतकाल का ग्रहण उस द्वितीय क्षण में अतीतत्व रूप से न होकर वर्तमानत्व रूप से ही होता है । (अर्थात् द्वितीय क्षण में विद्यमान विज्ञान के द्वारा प्रथम क्षण रूप अतीतकाल ही अत्यन्त सादृश्यवश वर्तमान के समान प्रतीत होता है) ।

सि० प० भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् ··· ··· ··· ···

इससे तो एक ही ज्ञान प्रथम क्षण में प्रमा, एवं द्वितीय क्षण में अप्रमा हो जायगी। क्योंकि तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान ही 'भ्रान्ति' है। द्वितीय क्षणवर्त्ती ज्ञान में वर्त्तमान-त्वाभाव से युक्त अतीतकाल विशेष्य हैं। एवं वर्त्तमानत्व प्रकार है। अतः उक्त समाधान संगत नहीं है ।

न द्वितीयः ··· ··· व्यपारायोगात् ··· ··· ··· ···

अर्थात् "प्रथम क्षणवर्त्ति विज्ञान जिस प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है, द्वितीयक्षणवर्त्तिविज्ञान उससे भिन्न प्रकार के वस्तुओं के ग्रहण स्वरूप में ही विद्यमान रहता है" यह द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह जिस विषयक ग्रहण स्वरूप होकर उत्पन्न होगा, उस विषय को कभी नहीं छोड़ेगा, एवं किसी दूसरे विषय का भासक भी नहीं होगा । अतः प्रथमक्षण रूप वर्त्तमानकाल में वह जिस विषय को ग्रहण करेगा, द्वितीय क्षण में न उस विषय को छोड़ सकता है, न किसी अन्य प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण ही कर सकता है । एक विषय को छोड़ कर दूसरे विषय का ग्रहण ही 'विरम्य-व्यापार' है । यह 'विरम्य व्यापार ज्ञान में सम्भव नहीं है ।

प्रथमतोऽपि ··· ··· ··· ···

(इस द्वितीय पक्ष का खण्डन करते हुए कोई कहते हैं कि) उक्त 'विरम्य' 'व्यापारायोग' का निष्कर्ष यह है कि प्रथमक्षणवर्त्तिज्ञान एवं द्वितीयक्षणवर्त्तिज्ञान दोनों को एक ही विषय का ग्राहक होना चाहिये । किन्तु यह ऐक्य दो प्रकारों से सम्भव है (१) द्वितीय क्षणवर्त्तिज्ञान से जिस प्रकार के जितने विषय प्रकाशित हों, उस प्रकार के उतने

न तृतीयः, ज्ञानस्वहानेरिति महाव्रतीयाः। तदसत्। ज्ञानं गृह्णातीत्यस्यैवार्थस्याऽनभ्युपगमात्। अपि तु तदेव ग्रहणमित्यभ्युपगमः।

ही विषय प्रथमज्ञान के द्वारा भी प्रकाशित हों। एवं (२) प्रथमक्षणवर्त्ति ज्ञान में जिस प्रकार से जितने विषय प्रकाशित हों, द्वितीयक्षणवर्त्ति ज्ञान से भी उसी प्रकार के उतने ही विषय प्रकाशित हों। इनमें द्वितीय पक्ष में उक्त 'विरम्य व्यापारायोग' रूप दोष दिया गया है। किन्तु तुल्य युक्ति से प्रथम पक्ष का भी तो अवलम्बन कर सकते हैं। अर्थात् यह भी कहा जा सकता है कि द्वितीयक्षणवर्ति ज्ञान से जिस प्रकार अतीतत्व विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है, उसी प्रकार प्रथमक्षणवर्त्तिज्ञान से भी अतीतत्व विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण होता है। अतः दोनों ज्ञानों में विषय भेद प्रयुक्त जो 'विरम्य व्यापारयोग' की आपत्ति दी गयी है, वह मिट जाती है।

सि० प० अनागतावेक्षणप्रसङ्गात् ··· ··· ··· ···

प्रत्यक्ष का यह स्वभाव है कि वह वर्त्तमान क्षणावच्छिन्न वस्तु का ही ग्रहण करे। अतः अतीतकालिक वस्तु का ग्रहण करना प्रत्यक्ष के स्वभाव के विपरीत है। प्रथम क्षण में उक्त 'अतीतत्व' विद्यमान नहीं है, किन्तु 'अनागत' है। यदि प्रत्यक्षात्मकज्ञान के प्रथमक्षण में उक्त अतीतत्व का ग्रहण माने तो वह 'प्रत्यक्ष से भविष्यत् (अनागत) कालिक वस्तु का ग्रहण' मानना ही होगा। पहिले कह आये हैं कि अतीत एवं अनागत कालिक वस्तु का ग्रहण प्रत्यक्ष के स्वभाव के प्रतिकूल है। अतः प्रत्यक्ष से 'अनागतावेक्षणप्रसङ्ग' अर्थात् अनागत वस्तु का ग्रहण स्वरूप प्रथम रूप दोष के कारण उक्त समाधान उचित नहीं है।

न तृतीयः ··· ··· ··· ···

"द्वितीयक्षण में ज्ञान विद्यमान तो रहता है, किन्तु वह उस क्षण में किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करता' यह तृतीय विकल्प इस लिये उचित नहीं है कि वस्तुओं का ग्रहण करना ही ज्ञान का स्वभाव है। अतः जिस समय वह किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता उस समय वह 'ज्ञान' ही नहीं रह जाता। अतः ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध है कि (१) द्वितीयक्षण में ज्ञान की सत्ता तो रहती है, किन्तु वह (२) किसी वस्तु का ग्रहण नहीं करता। तस्मात् ज्ञान चूँकि एक क्षण मात्र ही रहता है, अतः इन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता।

सि० प० तदसत् ··· ··· ··· ज्ञानं गृह्णाति ··· ··· ···

बौद्धों का उक्त पक्ष असङ्गत है, क्योंकि यह कहना ही असङ्गत है कि 'ज्ञान से अर्थ का ग्रहण होता है' ज्ञान तो स्वयं 'ग्रहण' स्वरूप है। तदनुसार बौद्धों के उक्त विकल्पों

तथा च ज्ञानं प्रथमे क्षणे यमर्थमालम्ब्य जातं द्वितियेऽपि क्षणे तदालम्बनमेव तन्न वेति प्रश्नार्थः।

तत्र तदालम्बनमेव तदिति परमार्थः। न चैवं भ्रान्तत्वम्; विपरीतानवगाहनात्। तथापि ज्ञेयनिवृत्तौ कथं ज्ञानाऽनुवृत्तिः ?। तदनुवृत्तौ वा कथं ज्ञेयनिवृत्तिरिति चेत्; किमस्मिन्ननुपपन्नम् ?। न हि ज्ञानमर्थश्चेत्येकं तत्त्वमेकायुष्कं वेति।

का स्वरूप इस प्रकार निष्पन्न होता है कि 'प्रथम क्षण में ज्ञान यद्विषयक उत्पन्न होता है, अपने स्थिति क्षण में अर्थात् द्वितीय क्षण में भी क्या उसी विषय का रहता है ? अथवा नहीं ?

इस विकल्प में मेरा पक्ष है कि 'प्रथम क्षण में ज्ञान यद्विषयक उत्पन्न होता है, द्वितीयक्षण में भी तद्विषयक ही रहता है, इस पक्ष के अवलम्बन से द्वितीयक्षणवर्त्ति ज्ञान में जो भ्रमत्व की आपत्ति आई थी, वह मिट जाती है। क्योंकि 'विपरीतावगाही' अर्थात् तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान ही 'भ्रान्ति' है। द्वितीयक्षणवर्त्ति ज्ञान इस प्रकार का विपरीतावगाही नहीं है। अतः उसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता।

पू० प० तथापि ··· ··· ··· ···

प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति के क्षण में (प्रथम क्षण में) वर्त्तमानत्व विषयक है। द्वितीयक्षण से उस वर्त्तमानत्व का (प्रथमक्षण में ज्ञान विषयीभूत वर्त्तमानत्व का) नाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि प्रथमक्षणवर्त्तिज्ञान में विषयीभूत वर्त्तमानत्व का जिस द्वितीयक्षण में नाश हो जाता है, उस द्वितीयक्षण तक तद्विषयक ज्ञान की अनुवृत्ति बनी रहे, यदि द्वितीय क्षणतक ज्ञान की अनुवृत्ति रही तो उसका विषय (ज्ञेय) जो वर्त्तमानत्व उसकी निवृत्ति द्वितीयक्षण में कैसे हुई ? अतः ज्ञान एक ही क्षण तक रहता है।

सि० प० किमस्मिन् ··· ··· ··· ···

द्वितीयक्षण पर्यन्त ज्ञान की अनुवृत्ति रहती है—अतः उसका ज्ञेय वर्त्तमानत्व की अनुवृत्ति भी द्वितीय क्षण तब अवश्य रहे ? अथवा द्वितीय क्षण में चूंकि वर्त्तमानत्व रूप ज्ञय की निवृत्ति हो जाती है—अतः ज्ञान की भी निवृत्ति द्वितीय क्षण में अवश्य हो—यह आवश्यक नहीं है।

ये दोनों ही नियम निम्नलिखित दो हेतुओं में से किसी एक के रहने से ही निष्पन्न हो सकते हैं। (१) ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों एक ही पदार्थ है। (२) ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों का 'आयुष्काल' सत्ता का समय समान है। किन्तु दोनों में से एक भी सत्य नहीं है। न ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक हैं, एवं न दोनों का आयुष्काल ही एक है। अतः उक्त आपत्ति का कोई मूल्य नहीं है।

सत्यपि वा क्षणिकत्वे कथमप्रत्यक्षम् ?। इत्थं, यथोच्यते—न स्वप्रकाशं वस्तुत्वादितरवस्तुवत् न च ज्ञानान्तरग्राह्यम्। ज्ञानयौगपद्यनिषेधेन समानकालस्य तस्याभावात्। ग्राहककाले ग्राह्यस्यातीतत्वेन वर्तमानाभत्वानुपपत्तेः। ग्राह्यकाले च ग्राहकस्यानागतत्वादिति चेत्।

सत्यपि वा … … … …

ज्ञान में (द्वितीयक्षणवृत्ति ध्वंसप्रतियोगित्व रूप) क्षणिकत्व मान भी लें, तथापि वह क्षणिकत्व ज्ञान में अतीन्द्रियत्व का साधक कैसे होगा ?

पू० प०[1] इत्थम् … … … न स्वप्रकाशम् … … …

ज्ञान 'स्वप्रकाश' अर्थात् 'स्व' रूप ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। क्योंकि घटादि कोई भी वस्तु स्व के द्वारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञान भी चूँकि 'वस्तु' है अतः वह भी 'स्व' रूप ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता (ज्ञानं न स्वप्रकाश्यं वस्तुत्वात् घटादिवत्)। अतः ज्ञान स्वकाश नहीं है।

न ज्ञानान्तरग्राह्यम् ? … … … …

ज्ञान किसी दूसरे प्रत्यक्ष रूप ज्ञान से भी प्रकाशित नहीं हो सकता। क्योंकि (१) प्रत्यक्ष के प्रति विषय कार्यकालवर्त्तितया कारण है (अर्थात् विषय के केवल प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्व क्षण में ही रहना आवश्यक नहीं है, किन्तु कार्य की उत्पत्तिक्षण तक उसका रहना कार्य की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है)। किन्तु सो प्रकृत में सम्भव नहीं है। क्योंकि एक आत्मा में एक ही समय दो ज्ञानों का रहना (ज्ञानयौगपद्य) खण्डित है। अतः एक आत्मा में एक ही समय 'ग्राह्यज्ञान' एवं ग्राहक रूप दूसराज्ञान इन दोनों का साथ रहना ही असम्भव है। क्योंकि जिस समय ग्राहकज्ञान रहेगा, उस समय ग्राह्यज्ञान अतीत हो गया रहेगा। एवं जिस समय ग्राह्यज्ञान रहेगा उस समय ग्राहकज्ञान रूप दूसरा ज्ञान 'अनागत' रहेगा। चूँकि प्रत्यक्ष प्रमा 'वर्त्तमान' विषय का ही होता है अर्थात् वर्त्तमान वस्तु विषयक ही होता है। इस लिये अतीतज्ञान विषयक दूसरा ज्ञान 'वर्त्तमानाभ' नहीं हो सकता।

---

१. इस ग्रन्थ को समझने के लिये बौद्धों के अभिप्रेत इन विकल्पों के ऊपर ध्यान देना चाहिये। ज्ञान यदि प्रत्यक्षप्रमा का विषय है, तो वह कौन-सी प्रमा है ? 'स्व' रूप जो प्रत्यक्षप्रमा है, उसका ? अथवा 'स्व' से भिन्न किसी अन्य प्रत्यक्ष प्रमा का ? इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का खण्डन 'न स्वप्रकाशम्' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है। एवं न 'ज्ञानान्तरग्राह्यम्' इस सन्दर्भ के द्वारा कथित द्वितीय विकल्प खण्डित हुआ है।

नन्वेवं ज्ञाततापि न प्रत्यक्षा स्यात्, क्षणिकत्वात्। कथम्? इत्थम्—न स्वप्रकाशा, वस्तुत्वात्। न जनकग्राह्या; अनागतत्वात्, विरम्य व्यापारायोगाच्च।

सि० प० नन्वेवम् ··· ··· ··· ··

इस रीति से तो क्षणिकत्व के द्वारा ज्ञातता में भी अतीन्द्रियत्व की सिद्धि हो सकती है।

पू० प० कथम् ··· ··· ··· ···

ज्ञातता में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि किस प्रकार होगी?

सि० प० इत्थम् ··· ··· ··· ···

ज्ञातता चूँकि वस्तु होने के कारण घटादि के समान ही 'स्वप्रकाश' अर्थात् स्वग्राह्य नहीं है, अतः ज्ञातता को भी प्रत्यक्षप्रमा के द्वारा ग्राह्य ही मानना होगा। इस स्थिति में यह पूछना है कि यदि ज्ञातता प्रत्यक्षप्रमा का विषय है, तो वह प्रत्यक्षप्रमा कौन-सी है?

(१) जिस 'ज्ञान' रूप प्रत्यक्षप्रमा से ज्ञातता उत्पन्न होगी, वह उसी प्रत्यक्ष का विषय होगी?

(२) अथवा दूसरी प्रत्यक्ष प्रमा का विषय होगी?

न जनकग्राह्या ··· ··· ··· ···

इन में प्रथमपक्ष (अर्थात् ज्ञातता का जनकीभूत जो प्रत्यक्ष है, उसी का विषय ज्ञातता है, यह पक्ष) इसलिये युक्त नहीं है कि (१) जिस समय ज्ञातता के प्रत्यक्ष को उत्पन्न करनेवाली उक्त प्रत्यक्ष की सत्ता है, उस समय ज्ञातता 'अनागत' है। क्योंकि इस प्रत्यक्ष के बाद इसी प्रत्यक्ष से ज्ञातता उत्पन्न होगी। प्रत्यक्षप्रमा में उसका विषय 'कार्य-कालविषया कारण है' अर्थात् विषय रूप कारण को प्रत्यक्ष की उत्पत्ति क्षण पर्यन्त रहना आवश्यक है। अतः ज्ञातता को उत्पन्न करनेवाली अथ च ज्ञातता के अनाधारभूत क्षण में रहनेवाली प्रत्यक्षप्रमा से ज्ञातता गृहीत नहीं हो सकती।

विरम्य ··· ··· ···

(२) दूसरी बात यह भी है कि इससे 'विरम्य व्यापारयोग' की भी आपत्ति होगी। क्योंकि ज्ञान का यह स्वभाव है कि जिस विषय को अवलम्ब कर वह उत्पन्न हो, उसको वह न छोड़े। एवं अन्य वस्तु का ग्रहण न करे। इस स्वभाव-नियम के अनुसार घटादि विषय की प्रमा अपनी उत्पत्ति के बाद घटादि विषयों को छोड़कर और किसी विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। अतः अपने से उत्पन्न ज्ञातता का भी ग्रहण नहीं कर सकती। अतः ज्ञातता स्वजनकीभूत प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं हो सकती।

न समसमयज्ञानग्राह्या; ज्ञानजनकेन्द्रियसम्बन्धाननुभवात्। न च तदुत्तरज्ञान-ग्राह्या; तदानीमतीतत्वादिति। क्षणिकत्वमेव तस्याः कुत इति चेत्; त्वदुक्तयुक्तेरेव। तथा हि—यं क्षणमाश्रित्य जाता, ततः परमपि तमेवाऽऽश्रयतेऽन्यं वा? न वा कमपीति?

न समसमय ··· ··· ···

ज्ञातता विषयक प्रत्यक्ष के लिये ज्ञातता के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष आवश्यक है। यह संनिकर्ष ज्ञातता की उत्पत्ति के बाद ही हो सकता है, उससे पहिले नहीं। किन्तु ज्ञातता के प्रत्यक्ष से पहिले ही इस संनिकर्ष की अपेक्षा होगी। अतः ज्ञातता के साथ एक ही समय में रहने वाली (ज्ञाततासमकालिक) जो प्रत्यक्ष प्रमा है, एवं जो ज्ञातता से पूर्व काल में रहने वाले संनिकर्ष से उत्पन्न होती है- उससे ज्ञातता गृहीत नहीं हो सकती।

(ज्ञातता की उत्पत्ति के बाद उत्पन्न होने वाली प्रत्यक्षप्रमा से ज्ञातता गृहीत नहीं हो सकती-यह द्वितीय विकल्प इसलिये अयुक्त है कि) प्रत्यक्ष वर्त्तमान विषय का ही होता है। ज्ञातता के उत्तर काल में ज्ञातता अतीत हो जाती है, वर्त्तमान नहीं रह जाती। अतः ज्ञातता के उत्तर काल में ज्ञातता का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इस लिये यह कहना संभव नहीं है कि ज्ञातता चूँकि ज्ञातता के उत्तर कालिक प्रत्यक्ष का विषय है, अतः वह अतीन्द्रिय नहीं है"

पू० प० क्षणिकत्वमेव ··· ··· ···

ज्ञातता में अतीन्द्रियत्व की मूल है ज्ञातता की क्षणिकता, किन्तु ज्ञातता में क्षणिकत्व के साधन का ही मूल क्या है?

सि० प० त्वदुक्तेरेव ··· ··· ··· तथाहि — ··· ··· ···

ज्ञान में क्षणिकत्व के साधन के लिए आपने जिस प्रकार तीन विकल्पों को उपस्थित किया है, उसी प्रकार ज्ञातता में क्षणिकत्व के साधन के लिये भी ये तीन विकल्प उपस्थित किये जा सकते हैं। (१) जिस क्षण विषयक ज्ञान से जो ज्ञातता उत्पन्न होती है, वह ज्ञातता उसी क्षण में रहती है? (२) अथवा अन्य क्षणों में भी रहती है? (३) कि वा कहीं रहती ही नहीं है?

---

१. (इस प्रसङ्ग का जो 'ज्ञातता स्वजनकीभूत प्रत्यक्ष प्रमा से भिन्न किसी दूसरी प्रत्यक्ष प्रमा से ही गृहीत होती है' यह दूसरा विकल्प है, इसके दो विकल्प हो सकते हैं (१) ज्ञातता की स्थिति में ही रहने वाली (समकालिक) जो प्रत्यक्ष प्रमा है, उसी से ज्ञातता का प्रत्यक्ष होता है? अथवा (२) ज्ञातता की स्थिति के बाद उत्पन्न होने वाली जो प्रत्यक्षप्रमा है, उससे ज्ञातता गृहीत होती है। इनमें से प्रथम पक्ष 'न समसमय' इत्यादि से खण्डित हुआ है।

तत्र न प्रथमः, तस्य तदानीमसत्त्वात्। न द्वितीयः, अप्रतिसंक्रमात्। एकक्षणावगाहिनि च ज्ञाने तदन्यक्षणाऽऽश्रयज्ञातताफलत्वेन भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। रजतावगाहिनि पुरोवर्त्तिवृत्तिज्ञातताफल इव। न चान्यमपि क्षणं ज्ञानमवगाहते; तदानीं तस्यासत्त्वात्। न तृतीयः, निःस्वभावताप्रसङ्गात्। न ह्यसौ तदानीं तदीया अन्यदीया वेति।

---

(१) तत्र न ··· ··· ··· ···

जिस क्षण विषयक ज्ञान से जो ज्ञातता उत्पन्न होती है, उस क्षण की सत्ता चूंकि नहीं रहती है, अतः उस क्षण में उस ज्ञातता का रहना संभव नहीं है।

न द्वितीयः ··· ··· ···

'ज्ञातता चूँकि अमूर्त्त पदार्थ है, अतः वह चलनशील नहीं है। चलनशील पदार्थ ही एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सकता है। चलनशीलता ही 'प्रतिसंक्रम शीलता' है। अतः एक स्थान को छोड़कर ज्ञातता का दूसरे स्थान में जाना सम्भव नहीं है। इसलिये ज्ञातता जिस क्षणविषयक ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होती है, उस क्षण को छोड़कर दूसरे क्षणों में नहीं रह सकती। चलन शील पदार्थ ही 'प्रतिसंक्रमशील' हो सकता है। अतः ज्ञातता का 'प्रतिसंक्रम' अर्थात् एक आश्रय को छोड़ कर दूसरे आश्रय को अवलम्बन करना सम्भव नहीं है। अतः जिस क्षण विषयक ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होगी, उससे भिन्न क्षणों में वह ज्ञातता नहीं रह सकती।

एक विषयक ज्ञान से जहाँ दूसरे विषय में ज्ञातता उत्पन्न होती है, वहाँ वह 'एक' विषयक ज्ञान भ्रमात्मक ही होता है। जैसे कि आगे रखे हुए शुक्ति खण्ड विषयक जो 'इदं रजतम्' यह ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान से रजत में चूँकि ज्ञातता उत्पन्न होती है, अतः वह ज्ञान भ्रमात्मक होता है। इसी प्रकार यदि एक क्षणावच्छिन्नज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अपर क्षण का अवलम्बन करे तो ज्ञातता के जनकी भूत ज्ञान नियमतः भ्रमात्मक हो जायेंगे। अतः यह विकल्प भी असङ्गत है। (उस समय उस ज्ञान में कोई भी अन्यक्षण विषय नहीं है। 'ज्ञान' प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमा रूप है। चूँकि 'तत्क्षण' में अन्यक्षण की सत्ता नहीं है, अतः तत्क्षण विषयक प्रत्यक्ष कभी अन्यक्षण विषयक नहीं हो सकता)।

न तृतीयः ··· ··· ···

ज्ञातता का यह स्वभाव है कि वह उसी विषय में रहे जो उसके जनकीभूत ज्ञान का विषय हो। यदि अपनी उत्पत्ति क्षण के बाद ज्ञातता किसी आश्रय में रहती ही नहीं, तो फिर अपने जनकी भूत ज्ञान के विषय घटादि पदार्थों में भी उसकी सत्ता नहीं रह सकती। धर्मी में जो धर्म कभी रहे, कभी नहीं, वह धर्म उस धर्मी का 'स्वभाव' नहीं कहला सकता। अतः उक्त तृतीय पक्ष को स्वीकार करने का यह अर्थ होता है कि ,या तो ज्ञातता अपनी उत्पत्तिक्षण के

अतीतेनापि तेनैव क्षणेनोपलक्षिताऽनुवर्त्तत इति चेत्; एवं तर्हि वर्तमानार्थता प्रकाशस्य न स्यात्। अन्यथा ज्ञानस्यापि तथाऽनुवृत्तेः को दोषः?।

न हि वर्त्तमानार्थप्रकाशसम्बन्धमन्तरेण ज्ञानस्यान्या वर्त्तमानावभासता नाम। अर्थनिरपेक्षप्रकाशनानुवृत्तिमात्रेण तथात्वे भूतभाविविषयस्यापि ज्ञानस्य तथाभाव-प्रसङ्गात्।

के बाद निःस्वभावक हो जाती है? अथवा रहती ही नहीं। किन्तु ये दोनों ही बातें असङ्गत हैं। ज्ञातता भी अपने आश्रितत्व रूप स्वभाव को नहीं छोड़ सकती। किन्तु उस समय अपने आश्रयीभूत विषय के न रहने से उसमें भी नहीं रह सकती, एवं अन्य ज्ञान के विषय में उसका रहना सम्भव ही नहीं है। 'एवं ज्ञातो घटः' इत्यादि प्रतीतियाँ जब घटज्ञान के बाद के क्षणों में भी होती है, तो उन क्षणों में ज्ञातता की सत्ता का अपलाप भी नहीं किया जा सकता।

पू० प० अतीतेनापि ··· ··· ···

विशेषण के लिए ही यह आवश्यक है कि विशेष्य की सत्ता के समय तक वह अवश्य रहे। उपलक्षण के लिये इसकी आवश्यकता नहीं है। तदनुसार द्वितीयक्षण में स्थिति से युक्त ज्ञान भी अतीतकाल रूप प्रथमक्षणावच्छिन्न घटादि विषयक हो सकता है। इस प्रकार द्वितीय क्षण में विद्यमान ज्ञान का भी विषय प्रथमक्षण हो सकता है। अतः ज्ञातता अपनी उत्पत्ति के द्वितीयादि क्षणों में भी रह सकती है। अतः उक्त प्रतिबन्धि उचित नहीं है।

सि० प० एवं तर्हि ·· ··· ··· ···

"प्रत्यक्ष में वर्त्तमान क्षणावच्छिन्न विषय ही भासित होता है" इस नियम के बल पर ही यह कहना संभव होता है कि 'प्रकाश' अर्थात् प्रत्यक्षप्रमा 'वर्त्तमानार्थ' है। यदि अतीत-क्षणावच्छिन्न विषय भी उक्त 'प्रकाश' में भासित हो तो 'प्रकाश वर्त्तमानार्थक है' यह नियम भङ्ग हो जायगा। यदि 'प्रकाश' रूप प्रत्यक्ष में अतीतकाल का भी भान मान लें, तो ज्ञान के क्षणिकत्व साधन के प्रसङ्ग में जो विकल्प उपस्थित किये गये थे, उन में प्रथम पक्ष को अर्थात् 'स्थायी विज्ञान जिस अर्थक्षण को विषय कर उत्पन्न होता है, वह तदुत्तर क्षण में भी तद्विषयक ही रहता है" इस पक्ष को उपस्थित करना संभव नहीं होगा। क्योंकि वह पक्ष तो केवल इसी लिये अनुपपन्न होता है कि द्वितीय क्षण में प्रथमक्षण अतीत हो जाता है, एवं 'प्रकाश' अर्थात् प्रत्यक्ष अतीतक्षण विषयक नहीं होता है। किन्तु यदि 'प्रकाश' का अतीतक्षणविषयक होना संभव हो तो ज्ञान के प्रसङ्ग का उक्त प्रथमपक्ष भी अनुपपन्न नहीं रह जायगा।

पू० प० अर्थनिरपेक्ष··· ··· ··· ···

जबतक अर्थ के प्रकाश की अनुवृत्ति रहती है, तावत् पर्यन्त का जो खण्डकाल उसको वर्त्तमान काल समझ कर 'प्रकाश' को 'वर्त्तमानार्थ' कहा गया है। उसमें 'प्रकाश्य' रूप अर्थ (विषय) की सत्ता की अपेक्षा नहीं है। अतः वर्त्तमान क्षणावच्छिन्न घटादि जब तक प्रकाशित होते रहेंगे, तबतक वह 'प्रकाश' अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ज्ञान 'वर्त्तमानार्थ' हो सकता

अथ माभूदयं दोष इति स्थूल एव वर्तमानः प्रकाशेऽऽश्रीयत इत्यभ्युपगमः, तदा तज्ज्ञानस्यापि स एव विषय इति तस्यापि न क्षणिकत्वमिति। ननु ज्ञानमैन्द्रियकं चेत्; विषयसञ्चारो न स्यात्, सञ्जातसम्बन्धत्वात्।

है। अतः द्वितीयक्षण में वर्तमान क्षण का विनाश हो जाने पर भी तद्विषयक 'प्रकाश' को वर्तमानार्थक होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

सि० प०० भूतभावि··· ··· ··· ···

यदि ऐसा हो अर्थात् केवल भासित होने मात्र से उस विषय के अधिकरणीभूत वर्तमानक्षण का भी अवभास हो, तो फिर भूत एवं भावि विषयक जितनी भी अनुमिति, शाब्दादि परोक्ष प्रतीतियाँ हैं, उन सबों में भी विषय के अधिकरणीभूत वर्तमान क्षण का भान मानना होगा। जिससे ज्ञानों का जो परोक्ष एवं अपरोक्ष ये दो भेद हैं, उनका लोप हो जायगा। अतः उक्त समाधान ठीक नहीं है।

पू० प० अथ मा भूत्··· ··· ··· ···

जितने समय तक ज्ञातता की सत्ता अपेक्षित है, ज्ञातता की उत्पत्ति क्षण से लेकर उतने समय तक के क्षणों के समूह रूप स्थूल खण्ड काल को ही प्रकृत में 'वर्तमानकाल' कहते हैं। इस स्थूल काल के अन्तर्गत द्वितीय क्षण में यदि वह ज्ञान है, तथापि वह स्वाधिकरणीभूत वर्तमान काल में ही रहता है। अतः अग्रिम क्षण में ज्ञातता के प्रत्यक्ष में वर्तमान विषयकत्व अनुपपन्न नहीं है। इसलिए ज्ञातता के प्रसङ्ग में उक्त प्रतिबन्धी से कोई दोष नहीं होता है। सुतराम् ज्ञातता को क्षणिक मानने की आवश्यकता नहीं है।

सि० प० तदा ··· ··· ···

इस रीति से तो ज्ञान का क्षणिकत्व भी निराकृत हो सकता है। क्योंकि ज्ञान के प्रसङ्ग में भी यह कहा जा सकता कि ज्ञान जिस वर्तमानकाल को ग्रहण करता है वह ज्ञानाधिकरणी भूत काल क्षणद्वयात्मक स्थूल काल ही है। अतः उत्पत्ति के दूसरे क्षण में स्थित ज्ञान के वर्तमान विषयकत्व में कोई बाधा नहीं है। इसके लिये ज्ञान को 'क्षणिक' अर्थात् एक मात्र क्षणावस्थायी मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः क्षणिकत्व हेतु से ज्ञान में अतीन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इस लिये ज्ञान के अतीन्द्रियत्व के द्वारा ज्ञातता की सिद्धि की आशा छोड़ देनी चाहिये।

पू० प० ननु ज्ञानम् ··· ··· ···

वस्तु (१) इन्द्रिय वेद्य एवं (२) अतीन्द्रिय दो ही प्रकार की होती है। अतः ज्ञान यदि इन्द्रिय वेद्य न हो सके तो अवश्य ही अतीन्द्रिय होगा। ज्ञान इन्द्रियवेद्य नहीं हो सकता। अतः अवश्य ही ज्ञान अतीन्द्रिय है। ज्ञान इन्द्रिय वेद्य इस लिये नहीं हो सकता

न च जिज्ञासानियमान्नियमः; तस्याः संशयपूर्वकत्वात् ।

कि उसके इन्द्रिय वेद्य होने पर घटादि अन्य किसी भी वस्तु का इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण ही संभव नहीं होगा। क्योंकि ज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रयोजक संनिकर्ष होगा 'मनः संयुक्तसमवाय' (मनः संयुक्त है आत्मा, उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पदार्थ है ज्ञान। अतः मन रूप इन्द्रिय का उक्त संनिकर्ष ज्ञान में है)। यह संनिकर्ष स्वयं नित्य है, एवं आत्मा और मन ये दोनों भी नित्य है। अतः आत्मा के साथ मन के संयोग में भी कभी कोई बाधा नहीं है। घटादि विषयों के प्रयोजक संनिकर्ष हैं मन से संयुक्त चक्षुरादि इन्द्रियों का घटादि विषयों के साथ संयोगादि रूप सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की सत्ता कभी रहती है कभी नहीं। एवं सुषुप्ति काल को छोड़कर (जिस समय घटादि विषयों का अवभास नहीं होता है)। ज्ञान रूप विषय की सत्ता सदा बनी रहती है। इस स्थिति में ज्ञान रूप विषय का ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान सर्वदा होता रहेगा। घटादि विषयों का 'सञ्चार' अर्थात् प्रत्यक्षप्रमा रूप अवभास कभी भी नहीं होगा।[1]

सि० प० न च जिज्ञासा ··· ··· ··· ···

जिज्ञासा को इसका नियामक मानेगें।[2]

---

१. अभिप्राय यह है कि ज्ञान रूप विषय को ज्ञापन कराने वाला इन्द्रिय संनिक' सर्वदा रहेगा। घटादि विषयों को ज्ञापन करने वाला इन्द्रिय संनिकर्ष कभी रहेगा, कभी नहीं भी रहेगा। सर्वदा रहने वाले ज्ञान के भासक इन्द्रिय संप्रयोग के रहते घटादि के अवभासक इन्द्रिय संप्रयोगों से घटादि का भान तभी हो सकता है, जब कि परवर्त्ती घटादिभासक इन्द्रिय संप्रयोगों को पूर्ववर्त्ती ज्ञान ग्राहक इन्द्रिय संप्रयोग का बाधक मान लें। किन्तु ऐसा स्वीकार करने की कोई विशेष युक्ति नहीं है। एवं इन्द्रियों से घटादि विषयों की प्रत्यक्षप्रमा सर्वसिद्ध है। ज्ञान का प्रत्यक्ष विवादास्पद है। अतः यही मानना उचित है कि जिस प्रकार आकाश के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष रहने पर भी आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है, इस लिये आकाश को अतीन्द्रिय मान लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञान के साथ मन का संयुक्त समवाय रूप सम्बन्ध रहने पर भी ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः ज्ञान अतीन्द्रिय है।

२. अर्थात् जिस समय घटादि विषयों की जिज्ञासा रहेगी, उस समय यदि उन घटादि विषयों के साथ इन्द्रियों का उपयुक्त संनिकर्ष रहेगा, तो ज्ञानभासक संनिकर्ष के रहने पर भी घटादि विषयों का ही प्रत्यक्ष होगा। जिस समय ज्ञान विषयक जिज्ञासा रहेगी, उस समय ज्ञान भासक इन्द्रिय संप्रयोग से ज्ञान का प्रत्यक्ष ही होगा। अतः ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर जो घटादि विषयों के 'सञ्चार' अर्थात् प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति दी गयी है, वह नहीं है।

तस्य च धर्मिज्ञानपूर्वकत्वात् । धर्मिणश्च सन्निधिमात्रेण ज्ञाने, जिज्ञसाऽपेक्षणे वा उभयथाऽप्यनवस्थानादिति । तन्न, ज्ञातत‍ापक्षेऽपि तुल्यत्वात् ।

पू० प० तस्य ··· ··· ··· ···

संशय जिज्ञासा का कारण है । संशय का कारण है धर्मिज्ञान । अतः ज्ञान विषयिणी जो जिज्ञासा होगी, उस में धर्मिज्ञान विषया ज्ञान का भी ज्ञान अपेक्षित होगा । इस स्थिति में यह पूछना है कि संशय के कारण रूप में यह ज्ञान विषयक ज्ञान केवल आत्मा एवं मन के संनिधि से ही होगा ? (अर्थात् मनः संयुक्त समवाय रूप संनिकर्ष मात्र से होगा ?) अथवा इस ज्ञान विषयक ज्ञान के लिये भी ज्ञान विषयिणी जिज्ञासा की अपेक्षा होगी ? इन दोनों विकल्पों में से किसी को भी ग्रहण करने से अनवस्था अवश्य होगी । क्योंकि यदि केवल इन्द्रिय संनिकर्ष से ही ज्ञान विषयक ज्ञान की उत्पत्ति मानें, तो उस ज्ञान परम्परा का कभी विच्छेद ही नहीं होगा । क्योंकि ज्ञान का उत्पादक उक्त संनिकर्ष नित्य है । यदि इस ज्ञान सामान्य विषयक ज्ञान में भी जिज्ञासा की अपेक्षा मानेगें, तो उस जिज्ञासा के प्रयोजकीभूत ज्ञानविषयक सामान्यज्ञान के लिये भी जिज्ञासा की अपेक्षा माननी होगी । अतः इस पक्ष में भी अनन्त ज्ञानों की परम्परा माननी होगी । इसलिये 'जिज्ञासा' को नियामक मानने से उभयथा अनवस्था दोष अनिवार्य है । अतः इन्द्रिय से विषयावभास को स्वीकार करने से कथित 'विषयसंचारानुपपत्ति' रूप दोष जागरूक है । तस्मात् ज्ञान को अतीन्द्रिय मानना ही उचित है ।

सि० प० तन्न, ज्ञातताक्षेऽपि ··· ··· ··· ···

मीमांसकों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके मत से किसी भी विषय के ज्ञेयत्व की नियामिका ज्ञातता ही है । घटज्ञान के बाद घटज्ञान से चूँकि घट में ज्ञातता की उत्पत्ति होती है, एवं इसी ज्ञातता के द्वारा 'ज्ञातो घटः' इस आकार की प्रतीति होती है, इसी लिये घट को घटज्ञान का ज्ञेय मानें, तो ज्ञातता के प्रसङ्ग में भी यही बात उठेगी कि घट में रहनेवाली ज्ञातता के ज्ञेयत्व की नियामिका घटनिष्ठ ज्ञातता के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कोई विलक्षण 'ज्ञातता' होगी । एवं इस विलक्षण ज्ञातता के प्रसंग में भी उक्त प्रसंग उपस्थित होकर अनन्त ज्ञातताओं के अनन्तज्ञान की धारा में पर्यवसित होगी, जो फलतः अनवस्था रूप होगी ।

यदि ज्ञातता के ज्ञान का प्रयोजक जिज्ञासा को माने, अर्थात् यह कहें कि जब तक ज्ञातता की जिज्ञासा रहेगी, तभी तक ज्ञातता की ज्ञानपरम्परा चलेगी । उसके बाद वह

तस्या अपि हि ज्ञेयत्वे तत्परम्पराज्ञानापाताज्जिज्ञासानियमस्य च तद्वदनुपपत्तेः । न च इन्द्रियसम्बन्धविच्छेदाद्विराम इति युक्तम्; आत्मप्राकट्याव्यापनात् ।

धारा (परम्परा) विच्छिन्न हो जायगी । अतः अनवस्था दोष नहीं है । किन्तु जिज्ञासा को नियामक मानने पर भी अनवस्था का उद्धार नहीं होगा, क्योंकि दूसरी रीति से अनवस्था आपन्न हो जायगी । अर्थात् जिज्ञासा के पहिले संशय की आवश्यकता होती है—संशय धर्मिज्ञान से उत्पन्न होता है । प्रकृत में ज्ञातता विषयकज्ञान जनकसामग्री की दशा में उक्त धर्मिज्ञान के संपादन के लिये धर्मिज्ञानजनकसामग्री की कोटि में 'धर्मिजिज्ञासा' का भी अन्तर्भाव करना होगा । इस प्रकार फिर 'जिज्ञासा' के आने पर कथित रीति से जिज्ञासा, संशय, धर्मिज्ञान इस रीति से अनवस्था आ पड़ेगी ।

पू० प० न चेन्द्रयसम्बन्ध ··· ··· ··· ···

हम (मीमांसक) ज्ञान को अतीन्द्रिय, एवं ज्ञातता को इन्द्रियवेद्य मानते हैं । प्रत्यक्ष इन्द्रियसंनिकर्ष की अपेक्षा रखता है । अतः इन्द्रियवेद्य होने पर भी उसी ज्ञातता का प्रत्यक्ष होगा जिसके साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष रहेगा, जिसके साथ इन्द्रिय का उपयुक्त संनिकर्ष नहीं रहेगा, उस ज्ञातता का प्रत्यक्ष नहीं होगा । ज्ञातता घटादि विषयों में रहती है । अतः इन्द्रिय घटादि विषयों के साथ सम्बन्ध युक्त होकर ही ज्ञातता के साथ सम्बद्ध होगी । जैसे कि घटत्वादि धर्मों के साथ सम्बद्ध होती है । अतः घट में रहनेवाली ज्ञातता का प्रत्यक्ष घट को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय अथवा त्वगिन्द्रिय से ही होगा । ज्ञातता के साथ इन इन्द्रियों का संनिकर्ष 'इन्द्रियसंयुक्तसमवाय' अथवा 'इन्द्रियसंयुक्तविशेषणता' रूप ही होगा ।

ऐसी स्थिति में घट रूप विषय के साथ यदि इन्द्रिय का संनिकर्ष विनष्ट हो जाय, तो उक्त समवाय अथवा उक्त विशेषणता रूप संनिकर्ष का भी विनाश हो जायगा । केवल समवाय अथवा केवल विशेषणता के नित्य होने पर भी उक्त विशिष्ट समवाय अथवा उक्त विशिष्ट विशेषणता का विनाश हो सकता है । अतः जिस समय ज्ञातता के आश्रयीभूत विषय के साथ इन्द्रिय के संनिकर्ष का विनाश हो जायगा, उसके बाद ज्ञातता विषयक ज्ञानों की धारा भी विच्छिन्न हो जायगी । अतः ज्ञातता को ज्ञानपरम्परा के आनन्त्य से जो अनवस्था दिखलायी गयी है, वह उचित नहीं है ।

सि० प० आत्मप्राकट्य··· ··· ··· ···

घटादि विषयों में रहनेवाली ज्ञातताओं के प्रसङ्ग में उक्त कथन ठीक हो सकता है, क्योंकि घटादि विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध अनित्य है । अतः उसके नाश से घटादि विषयों में रहनेवाली ज्ञातताओं में जो इन्द्रियों का संनिकर्ष है, उसका विनाश हो सकता है । किन्तु आत्मगत जो प्राकट्य (ज्ञातता) है, उसके प्रत्यक्ष का प्रयोजक संनिकर्ष होगा, मनः संयुक्त

स्वभावत एव काचिदसावजिज्ञासिताऽपि ज्ञायते, न तु सर्वेति चेत्तुल्यम् । प्रागुत्पन्नज्ञाततास्मरणजनितजिज्ञासः समुन्मीलितनयनः सञ्जातज्ञानसमुत्पादितप्राकट्य' जिज्ञासुरेव प्रतिपद्यत इत्यतो नानवस्थेति चेत्; तुल्यमेतत् ।

समवाय, उसका विनाश संभव नहीं है। अतः अन्य ज्ञातताओं के ज्ञानों की परम्परा में विच्छेद भले ही संभव हो, किन्तु आत्मनिष्ठ ज्ञातता विषयक ज्ञान के प्रसङ्ग में उक्त अनवस्था तदवस्थ रहेगी । अतः उक्त समाधान भी ठीक नहीं है ।

पू० प० स्वभावतः··· ··· ··· ···

ज्ञातता का यह स्वभाव है कि वह कभी जिज्ञासित होकर ज्ञात हो, एवं उसका यह भी स्वभाव है कि कभी अजिज्ञासित होकर भी ज्ञात हो । अतः ज्ञातता विषयक ज्ञान के साथ जिज्ञासा का सम्बन्ध नियत नहीं है । इसलिये जिज्ञासा के नैयत्य से जो अनवस्था दी गयी है, वह ठीक नहीं है ।

सि० प० तुल्यम्··· ··· ··· ···

ज्ञानों के प्रसङ्ग में भी यही बात समान रूप से कही जा सकती है कि ज्ञानों का यह स्वभाव है कि वे कभी जिज्ञासित होकर ज्ञात हों, एवं कभी बिना जिज्ञासा के भी ज्ञात हों, अथवा कभी ज्ञात ही न हों । इसलिये ज्ञान के सभी ज्ञानों में जिज्ञासा की अपेक्षा नहीं है । अतः जिज्ञासा के नैयत्य से जो ज्ञानों के प्रसङ्ग में अनवस्था दी गयी है, वह इस पक्ष में भी नहीं है ।

पू० प० प्रागुत्पन्न··· ··· ··· ···

धर्मी का जिस किसी प्रकार का ज्ञान ही जिज्ञासा का कारण है, वह ज्ञान स्मृति रूप हो, अथवा अनुभव रूप हो--इस में कोई आग्रह नहीं है । (कहने का अभिप्राय यह है कि) जिस व्यक्ति को पूर्वोत्पन्न ज्ञातता का सामान्य रूप से ज्ञान है, उस व्यक्ति के द्वारा 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' से एतत्कालिक ज्ञातता भी गृहीत है ही । अतः धर्मी की ज्ञातता के ज्ञान में जिस जिज्ञासा की अपेक्षा है; उसकी उपपत्ति उक्त सामान्यज्ञानमूलक स्मृति से भी हो सकती है । इसके बाद वर्तमान ज्ञातता का ज्ञान इन्द्रिय संनिकर्ष से हो जायगा । इस इन्द्रिय संनिकर्ष के विनष्ट हो जाने पर ज्ञातता के ज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो जायगी । इस प्रकार उक्त अप्रमाणिक अनवस्था दोष का परिहार हो सकता है ।

सि० प० तुल्यमेतत्··· ··· ··· ···

ज्ञान के प्रसङ्ग में जो अनवस्था दी गयी है, उसके प्रसङ्ग में भी समान न्याय से यह कहा जा सकता है कि सामान्यलक्षण संनिकर्ष के द्वारा ज्ञान पहिले से ही ज्ञात है । फलतः एतत्कालिक ज्ञान भी सामान्यतः ज्ञात ही है । ज्ञान के इस सामान्यज्ञान से स्मृति उत्पन्न होगी,

ननु ज्ञानं न सविकल्पकग्राह्यं तस्य निर्विकल्पकपूर्वकत्वात्, निर्विकल्पक-गृहीतस्य तावत्कालानवस्थानात्, तस्य तेनैव विनाशात् ।

उसी से ज्ञान विषयक जिज्ञासा की उत्पत्ति हो सकती है । इस प्रकार जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर इन्द्रियसंप्रयोगादि से ज्ञान विषयक ज्ञान की उत्पत्ति होगी । एवं उक्त जिज्ञासा के न रहने पर ज्ञान के ग्राहक इन्द्रियसंप्रयोग के रहने पर भी घटादि विषयों के साथ इन्द्रियसंप्रयोग के रहने पर घटादि विषयों का 'संचार' हो सकता है । अतः ज्ञान को इन्द्रियवेद्य मानने पर जो 'विषयसंचारानुपपत्ति' रूप दोष दिया गया है, वह वास्तव में नहीं है ।

पू० प० ननु ज्ञानम्··· ··· ··· ···

प्रत्यक्षप्रमा के निर्विकल्पक और सविकल्पक ये दो भेद हैं । यदि ज्ञान का प्रत्यक्षप्रमा रूप ज्ञान हो, तो वह ज्ञान या तो निर्विकल्पक रूप होगा ? अथवा सविकल्पक रूप ? यदि यह सिद्ध हो जाय कि ज्ञान का न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता न सविकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता है, तो यह सिद्ध हो जायगा कि ज्ञान इन्द्रियवेद्य नहीं है, अर्थात् अतीन्द्रिय है ।

विशिष्टबुद्धि के प्रति विशेषण का ज्ञान कारण है--इस न्याय से ज्ञान विषयक सविकल्पकप्रत्यक्ष रूप विशिष्ट बुद्धि का, ज्ञान विषयक निर्विकल्पकप्रत्यक्ष रूप ज्ञान, विशेषणज्ञान विधया कारण है । किन्तु ज्ञानविषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वीकार करने पर ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष ही न हो सकेगा । क्योंकि प्रत्यक्ष में विषय भी कारण है । एवं कार्यकाल विधया कारण है । अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्तिक्षण पर्यन्त विषय का रहना आवश्यक है ।

किन्तु प्रकृत में सो संभव नहीं है । क्योंकि जिस क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति होगी, उसके अनन्तर क्षण में ही अन्ततः उसके साथ इन्द्रिय का संप्रयोग होगा । उसके अनन्तर क्षण में ही ज्ञान विषयक निर्विकल्पक ज्ञान (यथा कथञ्चित) हो सकता है । किन्तु ज्ञान तो केवल दो क्षणों तक ही रहता है, अतः उसी क्षण में ज्ञान का नाश हो जायगा । फिर उसके बाद विषय से उत्पन्न होनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? (अर्थात् विषय को यदि कार्यकालविधया कारण न मानकर अव्यवहितपूर्वक्षणवर्त्ति विधया ही कारण मानें, तथापि निर्विकल्पक ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता) यदि प्रत्यक्ष के प्रति विषय को कार्यकालविधया कारण मानें तो निर्विकल्पक ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान का कारण न मानने पर भी ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष न हो सकेगा । क्योंकि ज्ञान के साथ इन्द्रिय का संप्रयोग होने पर उसके बाद ही ज्ञान का प्रत्यक्ष होगा । किन्तु उसी क्षण में तो ज्ञान रूप विषय का नाश हो जायगा । अतः ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं होता है ।

नाऽपि केवलनिर्विकल्पकवेद्यम्; तस्य सविकल्पकोन्नेयत्वेन तदभावे प्रमाणाभावात्। न च समवायाभाववन्निर्विकल्पकनिरपेक्षसविकल्पकगोचरत्वं ज्ञानस्येति साम्प्रतम्।

नापि··· ··· ··· ···

ज्ञान का केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तो सविकल्पक प्रत्यक्ष से अनुमान ही होता है। इस अनुमान को छोड़कर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता का ज्ञापक कोई अन्य प्रमाण नहीं है। किन्तु अभी कह आये हैं कि 'ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता'। ज्ञान के सविकल्पक प्रत्यक्ष के न रहने पर तद्धेतुक अनुमान मात्र से सत्ता लाभ करनेवाला ज्ञान का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वतः विपन्न हो जाता है। इसलिये ज्ञान प्रत्यक्षवेद्य नहीं है, अतः ज्ञान अतीन्द्रिय है।

(किन्तु इस प्रसङ्ग में नैयायिक कह सकते हैं कि ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष ही होता है। उसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः मध्य में निर्विकल्पक ज्ञान के लिये एक क्षण अधिक मान लेने के कारण आगे के क्षण में ज्ञान के नाश हो जाने के कारण ज्ञान के सविकल्पक प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं आती है। निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार करने की एक ही युक्ति है कि विशिष्टबुद्धि रूप सविकल्पक ज्ञान के लिये अपेक्षित विशेषण विषयक ज्ञान का सम्पादन। जिस विशिष्टबुद्धि के लिये विशेषण ज्ञान का सम्पादन 'अन्यथा संभव' न हो, वहाँ अगत्या विशेषण का निर्विकल्पक ज्ञान स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जिस विशिष्ट बुद्धि के लिये अपेक्षित विशेषण का ज्ञान दूसरे प्रकार से संभव हो, उस विषय के निर्विकल्पक ज्ञान को मानने की आवश्यकता नहीं है।

जैसे कि अभाव एवं समवाय के सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिये उनके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही होती है। क्योंकि अभाव एवं (सम्बन्ध रूप होने के कारण) समवाय के प्रत्यक्ष में उनके दोनों सम्बन्धियों का अर्थात् अभाव के प्रतियोगी और अनुयोगी एवं समवाय (सम्बन्ध) के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों का साक्षात्कार क्रमशः दोनों के साक्षात्कार में अपेक्षित है। एवं इन दोनों विशेषणों से युक्त होकर अभाव और समवाय इन दोनों की विशिष्टबुद्धि होती है। समवाय और अभाव इन दोनों की विशिष्ट बुद्धि में अपेक्षित इनके अनुयोगी और प्रतियोगी के प्रत्यक्ष का चूँकि सविकल्प ही संभव है, अतः इन विशेषणों के सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही उक्त दोनों विशिष्टबुद्धियाँ हो जाँयगी। इसलिये उसके समवायत्व एवं अभावत्व इन दोनों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की कल्पना अनावश्यक है। अतः यह नियम नहीं किया जा सकता कि जिसका सविकल्पक प्रत्यक्ष हो, उसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी अवश्य हो। इसलिये प्रकृत में यह

तयोर्विशेषणांशस्य प्राग्ग्रहणादनुमानादिवत्तदुपपत्तेः। प्रकृते तु ज्ञानत्वादेरनुपलब्धेरगृहीतविशेषणायाश्च बुद्धेर्विशेष्यानुपसंक्रमात्कथमेवं स्यात्? न, उत्पन्नमात्रस्यैव बाह्यविषयज्ञानस्यालोचनात्।

कहना संभव है कि ज्ञान विषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु ज्ञान का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता। (अतः 'निर्विकल्पक गृहीतस्य' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा जो ज्ञान विषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन किया गया है, वह ठीक नहीं है)।

पू० प० तयोः ... ...

समवाय एवं अभाव इन दोनों का सविकल्पक प्रत्यक्ष विना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के इस लिये होता है कि उन दोनों के विशेषण स्वरूप अनुयोगी और प्रतियोगी इन दोनों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान पहिले ही किसी दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गया रहता है। किन्तु ज्ञान विषयक प्रकृत ज्ञान का विशेषणीभूत ज्ञानत्व प्रकारक ज्ञान प्रकृत प्रत्यक्ष से पूर्व किसी अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण से संभव नहीं है। अतः जिनको ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष मानना है, उन्हें ज्ञान का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी मानना ही होगा। ज्ञान के सविकल्पक प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति 'ननु ज्ञानम्' इत्यादि सन्दर्भ से उपपादन कर चुके हैं। तस्मात् समवाय एवं अभाव इन दोनों के सविकल्पक प्रत्यक्ष के दृष्टान्त से ज्ञान के सविकल्पक प्रत्यक्ष में निर्विकल्पकज्ञानजन्यत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। अतः ज्ञान अतीन्द्रिय है।

सि० प० न, उत्पन्नमात्रस्यैव ... ...

यदि सभी सविकल्पक प्रत्यक्षों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अपेक्षा मान भी लें, तथापि ज्ञान के सविकल्पक प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि ज्ञान के सविकल्पक प्रत्यक्ष का एक नाम 'अनुव्यवसाय' भी है। अतः इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञान विषयक प्रत्यक्ष के विषयीभूत ज्ञान को 'व्यवसाय' नाम से अभिहित करना होगा।

जिस क्षण में यह 'व्यवसाय' रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी क्षण में ज्ञानत्व का 'आलोचन' अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान भी उत्पन्न होता है। उक्त व्यवसाय के पूर्व तृतीय क्षणवर्त्ती जो व्यवसायात्मक ज्ञान है (अर्थात् जिस व्यवसाय का प्रकृत अनुव्यवसाय क्षण में नाश होगा) उसी व्यवसाय रूप ज्ञान के साथ प्रकृत व्यवसाय की उत्पत्ति के क्षण में 'ज्ञानत्व' का ग्रहण होता है। क्योंकि वर्तमानकालवर्त्ती ज्ञानत्व रूप विशेषण के ज्ञान से उक्त पूर्ववर्त्ती व्यवसायात्मक ज्ञान का 'विकल्प' अर्थात् सविकल्पक प्रत्यक्ष आगे के क्षण में

ततस्तत्पुरःसरं प्रथमत एव तज्जातीयस्य ज्ञानान्तरस्य विकल्पनात्। इन्द्रियसन्निकर्षस्य तदैव विशेषणग्रहणलक्षणसहकारिसम्पत्तेः। व्यक्त्यन्तरसमवेतमपि हि सामान्यं तदेवेत्युपयुज्यते।

होता है। ज्ञानत्व रूप विशेषण के इसी ज्ञान से प्रकृत व्यवसाय रूप ज्ञान का भी सविकल्पक प्रत्यक्ष अगले क्षण में हो सकता है।[1]

(किन्तु इस प्रसंग में यह आपत्ति होती है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेषण को विशेष्य के साथ ही भासित होना चाहिये। एक घट के साथ गृहीत गुणक्रियादि को विशिष्ट-बुद्धि दूसरे घट के साथ नहीं होती है। प्रकृत में भी प्रकृत व्यवसाय रूप ज्ञान के साथ ज्ञानत्व का निर्विकल्पक ज्ञान नहीं होता है। किन्तु दूसरे व्यवसाय के साथ ज्ञानत्व निर्विकल्पकज्ञान के द्वारा गृहीत होता है। ज्ञानत्व रूप विशेषण के इस निर्विकल्पक ज्ञान से प्रकृत व्यवसाय विशेष्यक सविकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उक्त प्रक्रिया बुद्धिमत्तापूर्ण होने पर भी उपयोगी नहीं है। इस आक्षेप का समाधान आचार्य यह देते हैं कि)

व्यक्त्यन्तरसमवेतम् ··· ··· ···

जो विशेषण अनेक विशेष्यों में रहता है, वह भी वास्तव में (अनेक आश्रयों में रहते हुए भी) 'एक' ही रहता है। अत. अपने आश्रयीभूत किसी एक विशेष्य व्यक्ति के साथ गृहीत होने पर भी अपने आश्रयीभूत अन्य विशेष्य के साथ वह विशिष्टबुद्धि में भासित हो सकता है।

---

1. इस प्रसङ्ग को समझने के लिये निम्नलिखित क्षण प्रक्रिया के ऊपर ध्यान देना चाहिये। मान लिजिये प्रकृत व्यवसाय 'घटव्यवसाय' है, इसी का प्रत्यक्ष अगले चौथे क्षण में होना है। तत्पूर्ववर्त्ती तृतीयक्षणवर्त्ति व्यवसाय पद से घट विषयक व्यवसाय को लें। (१) प्रथम क्षण में घट का व्यवसाय, (२) द्वितीय क्षण में घट व्यवसाय एवं तद्गत् ज्ञानत्व इन दोनों के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग, (३) तदुत्तर तृतीय क्षण में घटव्यवसाय और तद्गत ज्ञानत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। (४) तदुत्तर चौथे क्षण में पूर्वज्ञान के साथ निर्विकल्पक ज्ञान में गृहीत ज्ञानत्व एवं इन्द्रिय के सम्प्रयोग इन दोनों से ज्ञान का सविकल्पक प्रत्यक्ष होगा। अतः ज्ञानों का प्रत्यक्ष असम्भव नहीं है।

अन्यथा अनुमानादिविकल्पानामनुत्पादप्रसङ्गः। तद्गतस्य विशेषणस्याग्रहणात्, अन्यगतस्य चानुपयोगात् किं लिङ्गग्रहणसहकारि स्यादिति। एतेन शब्दादिप्रत्यक्षं व्याख्यातमिति।

प्रकृत में ज्ञानत्व रूप विशेषण सभी ज्ञानों में एक है। अतः एक घटज्ञान रूप विशेष्य के साथ ज्ञात होने पर भी दूसरे ज्ञान विषयक ज्ञान में विशेषण विधया भासित हो सकता है।

'अन्यथा' यदि यह मानें कि जिस विशेषण का ज्ञान जिस विशिष्ट बुद्धि का कारण है, उस विशेषण को उसी विशेष्य के साथ पूर्व में ज्ञात रहना चाहिए तो अनुमानादि सभी 'विकल्पों' का अर्थात् विशिष्ट बुद्धियों का विलोप हो जायगा। अनुमिति रूप विशिष्टबुद्धि में विशेषण रूप से साध्यतावच्छेदक का भान होता है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस आकार की अनुमिति रूप विशिष्टबुद्धि में वह्नित्व रूप साध्यतावच्छेदक का विशेषणविधया ज्ञान कारण है। किन्तु उक्त अनुमिति से पहिले वह्नित्व का भान व्याप्तिज्ञान अथवा परामर्श में ही हुआ है। किन्तु दोनों ही ज्ञानों में महानस रूप दृष्टान्त गत वह्नि वृत्तित्व रूप से ही वह्नित्व का भान हुआ है, पर्वतीयवह्नि रूप साध्यवृत्तित्व रूप से नहीं। अतः यदि उक्त नियम मानते हैं, तो महानसीयवह्निवृत्तित्व रूप से वह्नित्व रूप विशेषण के ज्ञान के द्वारा पर्वतीयवह्निविषयक विशिष्टबुद्धि नहीं हो सकेगी।

इसी प्रकार शाब्दबोध रूप विशिष्टबुद्धि में भी जिस 'शक्य' व्यक्ति का भान होता है, तद्भिन्न व्यक्तिवृत्तित्व रूप से ही शक्यतावच्छेदक रूप विशेषण का ज्ञान पहिले रहता है। अतः उक्त नियम सङ्गत नहीं है। सुतरान् ज्ञानत्व विशिष्टज्ञान का (विशिष्ट) प्रत्यक्ष अनुपपन्न नहीं है।

एतेन ··· ··· ···

(मीमांसकों ने ज्ञानों के क्षणिक होने के नाते ज्ञानत्व रूप विशेषणज्ञान की अनुपपत्ति वश जिस प्रकार की आपत्ति ज्ञान के विशिष्ट प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में दी है, वे लोग उसी प्रकार की आपत्ति शब्द को क्षणिक मानने पर 'ग' कारादि शब्दों की विशिष्टबुद्धि के प्रसङ्ग में भी देते हैं)।

मीमांसकों का कहना है कि शब्द क्षणिक नहीं हैं, किन्तु व्यापक हैं। यदि ऐसा न मानें तो गकारादि का जो सार्वजनीन विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि 'गत्व' से युक्त गकार की विशिष्टबुद्धि रूप प्रत्यक्ष में 'गत्व' रूप विशेषण का ज्ञान कारण है। एवं गकार रूप विषय के साथ इन्द्रिय का संप्रयोग भी आवश्यक है। किन्तु गकार को यदि क्षणिक मान लेते हैं, तो जबतक उक्त इन्द्रिय संप्रयोग का संबलन होगा, तब तक गकार रूप विषय ही नष्ट हो जायगा। अतः शब्द क्षणिक नहीं है, किन्तु व्यापक है। मीमांसकों के इसी सिद्धान्त का खण्डन आचार्य ने 'एतेन' इत्यादि से किया है)।

स्यादेतत् । विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमिष्यते । न चातीन्द्रियस्य परमाण्वादेर्मनसा वेदनमस्ति । न चाऽगृहीतस्य विशेषणत्वम् । न च नित्यपरोक्षस्यापरोक्षविशिष्ट-

---

इस का यह अभिप्राय है कि--जिस प्रकार क्षणिकज्ञान के विशिष्ट प्रत्यक्ष की उपपत्ति की गयी है, उसी रीति से क्षणिक शब्द की विशिष्ट बुद्धि की भी उपपत्ति जाननी चाहिए ।[1]

पू० प० स्यादेतत् विषयनिरूप्यम् ··· ··· ··· ···

नैयायिक गण भी विषयावच्छिन्न ज्ञान का ही मानसप्रत्यक्ष मानते हैं, विषयानुपहित केवल ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं । एवं अतीन्द्रिय पदार्थ का मानस प्रत्यक्ष भी नहीं होता है । इस वस्तुस्थिति के अनुसार अतीन्द्रिय विषयकज्ञान का मानस प्रत्यक्ष नैयायिक भी स्वीकार नहीं करेंगे । इस प्रकार अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति के ज्ञानों में अतीन्द्रियत्व के स्थिर हो जाने पर उन्हीं को दृष्टान्त बनाकर सभी ज्ञानों में अतीन्द्रियत्व का साधन करेंगे (ज्ञानानि अतीन्द्रियाणि ज्ञानत्वात् परमाण्वादि विषयकज्ञानवत्) अतः ज्ञान अतीन्द्रिय है ।

न चागृहीतस्य ··· — ···

यदि सभी ज्ञानों का मानस प्रत्यक्ष स्वीकार करेंगे, तो परमाणु प्रभृति अतीन्द्रियों के जो अनुमित्यादि ज्ञान होते हैं, उन ज्ञानों का भी मानस प्रत्यक्ष मानना होगा । ऐसा स्वीकार करने पर परमाणु प्रभृति का जो अतीन्द्रियत्व है, वही विपन्न हो जायगा । क्योंकि परमाणु आदि

---

1. अर्थात् विषयीभूत गकार की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में अन्य गकार विशेषक गत्व रूप विशेषण प्रकारक उक्त ज्ञान उत्पन्न होता है ? उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में कर्णविवरवर्ति आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध ही गकार की उत्पत्ति होती है । अर्थात् गत्व रूप विशेषण विषयकज्ञान के अव्यवहित उत्तर क्षण में गकार की उत्पत्ति एवं, गकार रूप विषय के साथ इन्द्रिय संनिकर्ष दोनों एक ही क्षण में उत्पन्न होते हैं । उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में गकार के विशिष्ट प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है । क्योंकि गकार विषयक विशिष्ट प्रत्यक्ष रूप कार्य के क्षण में गकार रूप विषय की सत्ता है (यहां क्षण गकार का स्थितिक्षण है) एवं उसके अव्यवहित पूर्व क्षण में विशेषण का ज्ञान इन्द्रिय संप्रयोग प्रभृति कारण भी हैं—ऐसी स्थिति में शब्द को यदि क्षणिक मान लेते हैं—तथापि शब्द विषयक उक्त विशिष्ट प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है । अतः शब्द व्यापक नहीं है ।

बुद्धिविषयत्वम्; व्याघातादिति। न। बाह्येन्द्रियग्राह्यस्य वा पूर्वज्ञानोपनीतस्यैव मनसा वेदनात्। अन्यथाऽतीन्द्रियस्मरणस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

विषयक अनुमिति रूप ज्ञान जब मानस प्रत्यक्ष का विषय है, तो उसमें विषयीभूत परमाणु प्रभृति को भी उस प्रत्यक्ष का विषय मानना होगा। यह तो संभव ही नहीं है कि प्रत्यक्ष की विषयता परमाणु आदि में न रहे, किन्तु वे प्रत्यक्षात्मक विशिष्ट बुद्धि के विशेषण हों। क्योंकि किसी भी विशिष्टबुद्धि का विषयीभूत विशेषण विशिष्टबुद्धि के द्वारा गृहीत हुये विना विशिष्ट बुद्धि का विशेषण नहीं हो सकता। एवं यह संभव नहीं है कि सर्वथा परोक्षवस्तु में अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान की विषयता रहे। क्योंकि परोक्षत्व अथवा अतीन्द्रियत्व अपरोक्ष ज्ञान की विषयता का अत्यन्ताभाव रूप ही है। किसी अतीन्द्रिय वस्तु में अपरोक्षज्ञान की विषयता को स्वीकार करना एवं अपरोक्षज्ञानीयविषयता का अभाव रूप अतीन्द्रियत्व को स्वीकार करना, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें एक साथ नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति वस्तुओं के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि ऐसी बात है तो फिर उसी के दृष्टान्त से सभी ज्ञानों में अतीन्द्रियत्व का अनुमान हो सकता है।

सि० प० न, बाह्येन्द्रियग्राह्यस्य ··· ··· ··· ···

मन रूप इन्द्रिय के द्वारा जिस ज्ञान (मानसप्रत्यक्ष) की उत्पत्ति होगी, उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उस ज्ञान का विषय अवश्य ही बाह्येन्द्रिय ग्राह्य भी हो। परमाणु आदि यदि बाह्य इन्द्रियों से गृहीत नहीं भी होते हैं, तथापि मन के तद्विषयक ज्ञान के ग्रहण (प्रत्यक्ष) में कोई बाधा नहीं है। अर्थात् मन के द्वारा ज्ञान के प्रत्यक्ष में इसकी कोई अपेक्षा नहीं है कि विषयीभूतज्ञान का विषय भी इन्द्रिय ग्राह्य हो। अतः परमाणु आदि अतीन्द्रिय विषयक अनुमान प्रभृति ज्ञानों का मन के द्वारा प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है।

'अन्यथा' अर्थात् यदि मन रूप इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान विषयक ज्ञान में विषयीभूत ज्ञान के विषयों का इन्द्रिय से ग्राह्य होना आवश्यक हो, तो अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति वस्तुओं का स्मरण भी न हो सकेगा, क्योंकि स्मरण रूप ज्ञान भी मन से ही उत्पन्न होता है। किन्तु उसमें इन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है। अतः मन रूप इन्द्रिय से जो ज्ञान विषयक ज्ञान उत्पन्न होगा, उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्यक्ष विषयीभूत ज्ञान का विषय इन्द्रिय ग्राह्य ही हो। अतः परमाणु प्रभृति अतीन्द्रिय वस्तुओं के अनुमित्यादि परोक्षज्ञान का भी मन से ज्ञान हो सकता है। मन रूप इन्द्रियजन्य वह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप ही होगा।

इयांस्तु विशेषः—तस्मिन् सति तद्बलादेव, असति तु तज्जनितवासनाबलात् । न चैवं सति स्मरणमेतत्,

---

इयांस्तु विशेष: ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षियों का आक्षेप है कि घटादि ज्ञानों के उत्पन्न होने पर उनके 'घटमहं जानामि' इत्यादि आकारों के प्रत्यक्ष को 'अनुव्यवसाय' कहा जाता है। एवं इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से आगे स्मृति भी उत्पन्न होती है। किन्तु ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान जब स्मरण रूप भी हो सकता है तो फिर घटादिज्ञानों से उत्पन्न होनेवाले अनुव्यवसाय रूप ज्ञानों को भी स्मृति रूप माना जा सकता है। इस का कोई भी नियामक नहीं है कि उक्त अनुव्यवसाय रूप ज्ञान स्मृति रूप न होकर साक्षात्कारात्मक अनुभव रूप ही हो। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) स्वजन्य जिस ज्ञान के क्षण में अथवा तदव्यवहितपूर्वक्षण में कारणीभूत (वा विषयीभूत) ज्ञान स्वयं विद्यमान रहता है, उस ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान साक्षात्कारात्मक (प्रत्यक्ष) होता है, क्योंकि वही ज्ञान साक्षात्कार रूप कहलाता है, जिसके विषय के साथ इन्द्रिय का उपयुक्त संनिकर्ष रहे। अनुव्यवसाय रूप कथित ज्ञान का विषय जो व्यवसाय रूप ज्ञान है, उसके साथ मन का स्वसंयुक्त समवाय रूप संनिकर्ष संभव है। अत: अनुव्यवसाय रूप उक्त ज्ञान साक्षात्कार स्वरूप है।

जिस ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान के अव्यवहितपूर्वक्षण में कारणीभूतज्ञान का रहना संभव नहीं है, वह ज्ञान केवल स्वजनित संस्कार के द्वारा ही उक्त ज्ञान को उत्पन्न करता है। अत: इस प्रकार के ज्ञान स्मृति रूप हैं।

(अर्थात् छ प्रकार के जो प्रत्यक्ष के कारणीभूत संनिकर्ष हैं, उनमें से किसी संनिकर्ष के रहने से ज्ञान विषयक अनुव्यवसाय रूप ज्ञान साक्षात्कारात्मक होता है एवं उक्त संनिकर्ष के न रहने पर केवल 'वासना' (संस्कार) रूप संनिकर्ष के साहाय्य से जो ज्ञान विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्मरण रूप होता है। अत: अनुव्यवसाय के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है)।

पू० प० न चैवम् ··· ··· ··· ···

(ज्ञान विषयक प्रत्यक्ष रूप) अनुव्यवसाय का आकार है 'घटमहं जानामि' इसमें 'अयं घटः' इस आकार का ज्ञान आवश्यक होता है। फलतः अनुव्यवसाय में जो घट भासित होता है, वह 'अयं घटः' इस व्यवसाय से गृहीत रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सभी अनुव्यवसाय 'गृहीत ग्राही' अर्थात् पूर्वज्ञातविषयक ही होते हैं। अनुभव

अगृहीतज्ञानगोचरत्वात्। न च विषयांशे तत्तथा स्यादिति युक्तम्; अवच्छेदकतया प्रागवस्थावदवभासनात्।

रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान को अज्ञातविषयक (अगृहीतग्राही) होना चाहिये। अनुव्यवसाय रूप ज्ञान चूँकि अगृहीतग्राही नहीं है, अतः उसे अनुभव रूप नहीं माना जा सकता। अनुभव रूप न होने से उसकी प्रत्यक्षता (साक्षात्कारात्मकता) स्वतः खण्डित हो जाती है। तस्मात् ज्ञान अतीन्द्रिय है।

सि० प० अगृहीत ··· ··· ··· ···

अनुव्यवसाय में विषयीभूत ज्ञान पहिले से गृहीत नहीं है। अतः अनुव्यवसाय एक ऐसा ग्रहण रूप ज्ञान है, जिसका विषय पूर्वगृहीत नहीं है। इसलिये अनुव्यवसाय अगृहीतविषयक ग्रहण रूप है। इसी लये अनुव्यवसाय अनुभव रूप हो सकता है। सुतराम् अनुव्यवसाय के अनुभव रूप न होने से जो अपरोक्षत्व की अनुपपत्ति दी गयी है, वह ठीक नहीं है।[1]

पू० प० न च विषयांशे ··· ··· ··· ···

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगृहीतग्राही (पहिले से अज्ञात विषयक) ज्ञान ही 'अनुभव' है, एवं पूर्वज्ञात विषयक (गृहीतग्राही) ज्ञान ही 'स्मृति' है। इस निष्कर्ष के अनुसार कथित अनुव्यवसाय रूप ज्ञान जैसे कि अनुभव है। क्योंकि 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय में विषयीभूत 'ज्ञान' पहिले से गृहीत नहीं है। एवं उसी का घट रूप विषय पूर्वगृहीत है, अतः भी यह नहीं कहा जा सकता कि अनुव्यवसाय स्मृति रूप परोक्षज्ञान नहीं है।

सि० प० अवच्छेदकतया ··· ··· ··· ···

'स एवायं देवदत्तः' इस आकार के 'प्रत्यभिज्ञान' रूप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में पहिले से ज्ञात पूर्वावस्था रूप 'तत्तांश' के भासित होने पर भी उसके प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं

---

1. कहने का अभिप्राय है कि वही ज्ञान अनुभव रूप है जिसका प्रधान विषय पूर्वगृहीत न हो। यह आवश्यक नहीं है कि उसके सभी विषय पहिले से अज्ञात ही हों। स्मृति के लिये ही यह आवश्यक है कि उसके सभी विषय पूर्वगृहीत ही हों। अतः अनुव्यवसाय का घट रूप एक विषय यदि पूर्व से ज्ञात भी है, तथापि उसका ज्ञान रूप दूसरा विषय पूर्व से ज्ञात नहीं है। अतः अनुव्यवसाय के सभी विषय चूँकि पूर्वगृहीत नहीं हैं, अतः उसे स्मृति रूप नहीं माना जा सकता। एवं ज्ञान रूप एक विषय के अगृहीत होने के कारण वह अनुभव रूप हो सकता है।

न च प्रत्यभिज्ञानमपि ग्रहणस्मरणाकारम्; विरोधात् ।

पहुँचती है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'विशिष्टबुद्धि' रूप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में इतना ही आवश्यक है कि विशेष्य रूप में (विशेष्य विधया) जिसका भान हो, उसे पहिले से ज्ञात नहीं रहना चाहिये। अर्थात् विशेषण रूप से भासित होनेवाला विषय यदि पहिले से ज्ञात भी हो, तथापि कोई क्षति नहीं।

इस स्थिति में उक्त अनुव्यवसाय का घट रूप विषय यदि पूर्व से ज्ञात भी है, तथापि उस अनुव्यवसाय के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि उक्त अनुव्यवसाय में घट विशेषण रूप से ही विषयीभूत ज्ञान में भासित होता है, विशेष्य रूप से नहीं। अतः इस रीति से भी कथित अनुव्यवसाय का प्रत्यक्षत्व खण्डित नहीं होता।

पू० प० न च प्रत्यभिज्ञानमपि ··· ··· ··· ···

'प्रत्यभिज्ञान' रूप दृष्टान्त के बल से 'अनुव्यवसाय' में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि ही उचित नहीं है। क्योंकि हम लोग (मीमांसक गण) तुल्य युक्ति से प्रत्यभिज्ञान को भी ग्रहण एवं स्मरण एतदुभयात्मक ही मानते हैं। अतः 'अनुव्यवसाय' भी ग्रहण एवं अनुभव एतदुभयाकारक है। स्मृति है 'परोक्षज्ञान' एवं अनुमिति प्रभृति अनुभव रूप ज्ञान भी 'परोक्ष' रूप ही हैं। अतः ग्रहणत्व (अनुभवत्व) एवं परोक्षत्व इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। इसलिये प्रत्यभिज्ञान अथवा अनुव्यवसाय प्रभृति ज्ञान ग्रहण एवं स्मरण एतदुभयाकारक हो सकते हैं।

किन्तु प्रत्यक्षत्व एवं परोक्षत्व ये दोनों धर्म तो परस्पर विरुद्ध हैं। अतः प्रत्यभिज्ञा अथवा अनुव्यवसाय इन दोनों में से कोई भी ज्ञान अनुभव एव स्मरण एतदुभयाकारक नहीं हो सकता। प्रकृत अनुव्यवसाय को दोनों ही पक्ष गृहीतग्राही (पूर्वज्ञातविषयक) मानते हैं, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

सि० प० विरोधात्·–– ··· ··· ···

ग्रहणत्व (अनुभवत्व) एवं स्मृतित्व ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं। जब ग्रहणत्व और स्मृतित्व का विरोध है तो फिर ग्रहणत्व का व्याप्य प्रत्यक्षत्व के साथ भी स्मृतित्व का विरोध अनिवार्य है। अतः प्रत्यक्षत्व और स्मृतित्व ये दोनों धर्म किसी एक धर्मी में नहीं रह सकते। (अर्थात् जिस प्रकार कोई भी ज्ञान स्मृति एवं अनुभव एतदुभयात्मक नहीं हो सकता उसी प्रकार) कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष एवं स्मृति एतदुभयाकारक नहीं हो सकता।[1]

---

१. आचार्य का आशय यह है कि प्रत्यभिज्ञान में अथवा अनुव्यवसाय में जो पहिले से ज्ञात पूर्वावस्था (तत्ता) अथवा घटादि का जो भान होता है, उन विषयों के

अथ ग्रहणस्मरणयोः कियती सामग्री ? अधिकोऽर्थसन्निकर्षो ग्रहणस्य, संस्कारमात्रं सन्निकर्षः स्मरणस्य। अथ ग्रहणत्वेऽपि कुत एतदपरोक्षाकारम् ?

पू० प० अथ… … … …

अनुव्यवसाय अथवा प्रत्यभिज्ञा से पहिले उनमें भासित होनेवाले घटादि अथवा सत्ता प्रभृति विषयों का पूर्वानुभव जनित संस्कारों की सत्ता माननी होगी। ऐसा स्वीकार करनेपर यह प्रश्न होता है कि संस्कार से अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न कोई ज्ञान जब ग्रहण (अनुभव) रूप भी हो सकता है, तो फिर संस्कार से उत्पन्न फलतः संस्कार के अव्यवहित उत्तरक्षणवर्त्ति कौन सा ज्ञान ग्रहण रूप है ? एवं कौन सा ज्ञान स्मृति रूप है ? इसका नियामक कौन होगा ?

सि० प० अधिकः… … … …

जिस ज्ञान के लिये विषय के साथ इन्द्रिय के संनिकर्ष की अपेक्षा हो वह ज्ञान है (प्रत्यक्षात्मक) ग्रहण रूप। इस ज्ञान से पहिले संस्कार के रहने या नहीं रहने से कोई भी क्षतिवृद्धि नहीं होती है। तदनुसार अनुव्यवसाय एवं प्रत्यभिज्ञा ये दोनों ही ज्ञान ग्रहण (प्रत्यक्ष) रूप हैं। एवं केवल संस्कार (अर्थात् इन्द्रिय संनिकर्षादि से असहकृत संस्कार) से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति रूप है। अतः अनुव्यवसाय या प्रत्यभिज्ञा स्मृति रूप नहीं हैं।

पू० प० अथ ग्रहणत्वेऽपि… … … …

प्रत्यभिज्ञा अथवा अनुव्यवसाय यदि ग्रहण (अनुभव) रूप ही है (स्मृति रूप नहीं) 'तब भी ये अपरोक्षज्ञान (प्रत्यक्षात्मक) हो हैं' ऐसा निर्णय नहीं किया जा सकता। क्योंकि ग्रहण रूप ज्ञान भी तो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भेद से दो प्रकार के है। अपरोक्षानुभव है प्रत्यक्षात्मक ज्ञान एवं परोक्षात्मक अनुभव है अनुमित्यादि। अतः अनुव्यवसायादि अनुमित्यादि परोक्षात्मक अनुभव रूप भी हो सकते हैं। क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तुओं का भी अनुमित्यादि रूप परोक्षानुभव होते ही हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि 'अनुव्यवसाय अथवा प्रत्यभिज्ञा चूँकि ग्रहण (अनुभव) रूप हैं, अतः वे अतीन्द्रिय नहीं हो सकते।

पूर्वज्ञान से उत्पन्न संस्कार उसका प्रयोजक नहीं है। किन्तु उनके भान का प्रयोजक इन्द्रियसंनिकर्ष ही है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञान के स्थल में देवदत्त के साथ चक्षु का संयोग संनिकर्ष है, एवं देवदत्त में रहनेवाली 'सत्ता' के साथ चक्षु का ही 'स्वसंयुक्तविशेषणता' रूप संनिकर्ष है। एवं 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय स्थल में ज्ञान के साथ मन का 'स्वसंयुक्तसमवाय' रूप सम्बन्ध है, एवं उसी ज्ञान में विशेषणीभूत घट के साथ उसी मन का 'स्वसंयुक्तसमवेतविशेषणता' रूप संनिकर्ष है। अतः प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक इन्द्रियसंनिकर्ष से ही जब प्रत्यभिज्ञा एवं अनुव्यवसाय दोनों ही उत्पन्न होते हैं, तो वे दोनों ही सर्वांश में प्रत्यक्ष ही हैं।

कारणान्तरनिरपेक्षेण संस्काराधिकसन्निकर्षवतेन्द्रियेण जनितत्वात्।

सि० प० कारणान्तर··· ··· — —

प्रथमत: ज्ञानों के तीन विभाग हो सकते:हैं (१) केवल संस्कार रूप व्यापार से उत्पन्न—जो 'स्मृति' कहलाती है। (२) लिङ्गज्ञान अथवा शक्तिज्ञान से उत्पन्न—ये अनुमिति शाब्दबोधादि परोक्षानुभव रूप हैं। (३) लिङ्गज्ञान एवं शक्तिज्ञान इन दोनों की अपेक्षा न रखते हुये जो केवल इन्द्रियसंनिकर्ष से ही उत्पन्न हो—यह ज्ञान अपरोक्षानुभव रूप है।

यह अपरोक्षानुभव भी दो प्रकार का है (१) केवल इन्द्रिय संप्रयोगजन्य—जिसमें संस्कार के साहाय्य की अपेक्षा न हो। इसी के अन्तर्गत 'अयं घट:' इत्यादि 'व्यवसाय' रूप ज्ञान आते हैं। (२) संसकारसहकृत इन्द्रिय संप्रयोगजन्य—अनुव्यवसाय अथवा प्रत्यभिज्ञान इसी अपरोक्षानुभव के अन्तर्गत आते हैं।

ज्ञानों के इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि अनुव्यवसाय एवं प्रत्यभिज्ञा ये दोनों न स्मृति रूप है, न परोक्षानुभव रूप ही हैं। अत: परिशेषात् ये दोनों अपरोक्षानुभव रूप ही हैं।[1]

---

1. वर्द्धमान ने अपनी प्रकाश टीका में आचार्य के उक्त समाधान की आलोचना करते हुए लिखा है कि वास्तव में प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न न होकर स्मृति से उत्पन्न होती है। अर्थात् पूर्वदृष्ट देवदत्त की स्मृति एवं इन्द्रियसंप्रयोग इन्हीं दोनों से 'सोऽयं देवदत्त:' यह प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न मानकर उक्त प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति संस्कार एवं इन्द्रियसंप्रयोग इन दोनों से मानें, तो उसका 'परोक्ष' होना अनिवार्य हो जायगा। क्योंकि संस्कार तो पूर्वानुभव रूप करण का केवल व्यापार मात्र हैं। यदि प्रत्यभिज्ञा को संस्कार रूप व्यापार जन्य मानेंगे, तो उसे संस्कार जनक पूर्वानुभव रूप 'करण' जन्य भी मानना ही होगा। जिससे प्रत्यभिज्ञा का अपरोक्षत्व ही खतरे में पड़ जायगा। क्योंकि ज्ञान रूप करण से भिन्न करण से (ज्ञानाकरणक) उत्पन्न ज्ञान ही 'अपरोक्षाकारक' ज्ञान है।

यदि प्रत्यभिज्ञा को साक्षात् स्मृति जन्य मानते हैं, तो स्मृति रूप ज्ञान में प्रत्यभिज्ञा की कारणता ही आती है, करणता नहीं। अत: प्रत्यभिज्ञा ज्ञान रूप कारण से उत्पन्न होने पर भी 'ज्ञानाकरणक' रह जाती है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का अपरोक्षाकारत्व निर्विघ्न हो जाता है। इसी प्रकार अनुव्यवसाय को भी संस्कार जन्य न मानकर स्मृतिजन्य मान लेने से उसका भी अपरोक्षाकारकत्व निर्विवाद हो जाता है।

अथ कः सन्निकर्षः ? ज्ञानेन संयुक्तसमवायः, तदर्थेन संयुक्तसमवेतविशेषणत्वमिति । मनसो निरपेक्षस्य बहिर्व्यापारेऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्ग इति चेत् ।

पू० प० अथ कः ··· ··· ··· ···

प्रत्यक्ष के लिये विषय एवं इन्द्रिय का संनिकर्ष आवश्यक है। अतः अनुव्यवसाय अथवा प्रत्यभिज्ञा को भी यदि मानस प्रत्यक्ष रूप मानेंगे तो इनके विषयों के साथ मन रूप इन्द्रिय का संप्रयोग (संनिकर्ष) मानना ही होगा। वह 'संसर्ग' कौन सा होगा ? (अर्थात् अनुव्यवसाय अथवा प्रत्यभिज्ञा में ऐसे भी विषय भासित होते हैं, जिनकी सत्ता उस समय नहीं रहती है। उस समय उन अविद्यमान विषयों के साथ इन्द्रिय का संप्रयोग संभव नहीं है। अतः यही कहना पड़ेगा उन स्थलों में विषय और इन्द्रिय का संप्रयोग नहीं है। फलतः वे स्मरण ही हैं। अतः सभी अनुव्यवसायों को अथवा सभी प्रत्यभिज्ञाओं को नियमतः प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता)।

सि० प० ज्ञानेन ··· ··· ··· ···

अनुव्यवसाय में भासित होनेवाले 'ज्ञान' रूप विषय के साथ मन का स्व-संयुक्त-समवाय रूप संनिकर्ष है (स्व मन, तत्संयुक्त-आत्मा, उसमें समवाय सम्बन्ध से ज्ञान की सत्ता है)। एवं विषयीभूत इस ज्ञान में घटादि विशेषण हैं। वे विद्यमान रहें अथवा अविद्यमान रहें—दोनों ही स्थितियों में वे ज्ञान के विशेषण हैं। क्योंकि अतीतादि विषयों का भी ज्ञान होता है। अतः अनुव्यवसाय के विषयीभूत ज्ञान के विशेषण (विषय) घटादि में मन का स्वसंयुक्त समवेत विशेषणता रूप सम्बन्ध निर्विवाद है। स्व मन, तत्संयुक्त आत्मा, तत्समवेत-ज्ञान, इस ज्ञान में विषयता सम्बन्ध से घटादि विशेषण हैं। अतः अविद्यमान घट में भी मन का उक्त सम्बन्ध है। इसलिये अनुव्यवसाय के किसी भी अंश में प्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति फलतः परोक्षत्व की आपत्ति नहीं है।

पू० प० मनसः··· ··· ··· ···

इस प्रकार यदि मन रूप इन्द्रिय के द्वारा अविद्यमान वस्तु का भी प्रत्यक्ष हो, तो फिर संसार से अन्धों और बहरों की सत्ता ही उठा देनी होगी। क्योंकि मन नित्य है, वह अन्धों और बहरों के पास भी है ही। अतः यदि केवल मन, चक्षु, श्रोत्रादि बहिरिन्द्रियों के साहाय्य के बिना ही, घट शब्दादि विषयों के प्रत्यक्षों का उत्पादन कर सकता है, तो फिर कौन अन्धा और बहरा रह जायगा ?

अतः यह कहना होगा कि 'निरपेक्ष' (अर्थात् चक्षुरादि के साथ सम्बन्ध के बिना) 'बहिर्व्यापार' में (घटादि बाह्यवस्तुओं के प्रत्यक्ष प्रयोजक संनिकर्ष रूप व्यापार में) समर्थ नहीं है। फलतः मन स्वतन्त्र रूप से घटादि बाह्यवस्तुओं के प्रत्यक्ष का उत्पादन

ज्ञानावच्छेदकं प्रति नाऽयं दोषः। न च ज्ञानापेक्षया बहिरित्यस्ति। नाऽपि तद्विषयापेक्षया निरपेक्षत्वम्, तस्यैव ज्ञानस्यापेक्षणात्। तथाऽपि ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यत्र किं प्रमाणम्?

नहीं कर सकता, 'आन्तरिक' इच्छा प्रभृति वस्तुओ के प्रत्यक्ष का ही उत्पादन कर सकता है। अतः जिन अनुव्यवसायों में अतीत घटादि भासित होते हैं, उन घटादि विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये सभी अनुव्यवसायों को सभा अंशों में प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

पू० प० ज्ञानावच्छेदकम् ··· ··· ··· —

ज्ञान में 'अवच्छेदकीभूत' अर्थात् विशेषणीभूत विषयों का अनुव्यवसाय में प्रत्यक्षतः भान मानने पर भी अन्ध बधिरादिका लोप रूप दोष नहीं हो सकता। क्योंकि 'ज्ञान' स्वरूप आन्तरवस्तु के साथ सम्बद्ध होने के नाते घटादि विषय सामान्यतः बाह्य होते हुये भी वस्तुतः 'आन्तर' हो जाते हैं।

सि० प० नापि··· ··· ··· ···

उक्त प्रश्न का दूसरा समाधान यह है कि 'व्यवसाय' रूप ज्ञान भी 'अनुव्यवसाय' का कारण है। 'रूपं साक्षात्करोमि' एवं 'शब्दं श्रृणोमि' इन दोनों अनुव्यवसायों के प्रति क्रमशः रूप का व्यवसाय स्वरूप ज्ञान, एवं शब्द का व्यवसाय स्वरूप ज्ञान भी कारण है अर्थात् रूपं साक्षात्करोमि इस अनुव्यवसाय का कारण 'रूप का साक्षात्कारात्मक व्यवसाय स्वरूप ज्ञान है, एवं 'शब्दं साक्षात्करोमि' इस अनुव्यवसाय का 'शब्द विषयक साक्षात्कारात्मक' व्यवसाय रूप ज्ञान कारण है। सुतराम् मन से जो उक्त अनुव्यवसाय रूप प्रत्यक्ष उत्पन्न होंगे, उनमें उक्त व्यवसाय स्वरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञानों की भी अपेक्षा होगी। इससे यह निष्पन्न होता है कि मन अनुव्यवसाय रूप प्रत्यक्ष का भी उत्पादन 'निरपेक्ष' होकर स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकता, मन को भी अनुव्यवसाय के उत्पादन में व्यवसाय की अपेक्षा है। अन्ध को रूप का साक्षात्कारात्मक व्यवसाय रूप ज्ञान नहीं रहता। एवं बधिर को शब्द का साक्षात्कार स्वरूप व्यवसाय नहीं होता। अतः अन्ध को रूप का अनुव्यवसाय एवं बधिर को शब्द का अनुव्यवसाय नहीं होता।

पू० प० तथापि··· ··· ··· ···

इतने पर्यन्त के सन्दर्भ यही दिखलाया गया है कि ज्ञान के प्रत्यक्ष का कोई बाधक नहीं है। किन्तु बाधक के न रहने से ही तो किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, उसके लिये तो साधक प्रमाण की सत्ता भी चाहिये। साधक प्रमाण एवं बाधक प्रमाण इन दोनों के न

प्रत्यक्षमेव । यदसूत्रयत्—'ज्ञानविकल्पानां भावाभावसंवेदनादध्यात्मम्' (न्याय०. ५-१-३१) इति ॥ ४ ॥

ननु नेश्वरज्ञानं प्रमा, नित्यत्वेनाफलत्वात् । नाऽपि प्रमाणम्, अकारकत्वात् । अत एव च न तदाश्रयः प्रमातेति ।

रहने से तो ज्ञान का प्रत्यक्ष हो अथवा नहीं ?' इस प्रकार का संशय ही हो सकता है । यह निर्णय नहीं हो सकता कि 'ज्ञान का प्रत्यक्ष हो' ।

सि० प० प्रत्यक्षमेव··· — ··· —

'जानामि' इस आकार का मानस प्रत्यक्ष ही ज्ञान विषयक प्रत्यक्ष की सत्ता का साधक प्रमाण है । इस प्रसङ्ग में महर्षि गौतम ने भी 'ज्ञानविकल्पानाम्' इस सूत्र के द्वारा कहा है कि 'ज्ञानों के जो नानाविध 'विकल्प' अर्थात् प्रकार हैं, उनकी सत्ता एवं उनके 'अभाव' अर्थात् असत्ता के नाना प्रकार के (घट को देखता हूँ पट को नहीं) बोध चूँकि 'अध्यात्म' अर्थात् आत्मविशेष्यक होते हैं, अतः ज्ञान प्रत्यक्षवेद्य है ॥ ४ ॥

पू० प० ननु नेश्वरज्ञानम्··· ··· ··· —

ईश्वर का ज्ञान यदि 'प्रमा' है तो 'नित्य' नहीं हो सकता, । 'प्रमा' चूँकि 'प्र' पूर्वक 'मा' धातु का अर्थ है, अतः एक विशेष प्रकार की 'क्रिया' ही है । क्रिया अवश्य ही किसी से उत्पन्न होती है । (अर्थात् 'क्रिया' नित्य नहीं हो सकती) । अतः 'प्रमा' रूपा 'क्रिया भी अवश्य ही किसी से उत्पन्न होगी । सुतराम् ईश्वरज्ञान यदि नित्य है, तो वह धात्वर्थ क्रिया स्वरूप नहीं हो सकती । ईश्वर ज्ञान जब सामान्यतः 'क्रिया' स्वरूप नहीं है, तो फिर 'प्र' पूर्वक 'मा' धात्वर्थ 'क्रियाविशेष' स्वरूप भी नहीं हो सकती ।

एवं ईश्वरीय प्रमा यदि नित्य है, तो वह 'प्रमाण' भी नहीं हो सकती । क्योंकि कोई भी नित्य पदार्थ 'कारक' नहीं हो सकता । क्योंकि प्रकृत में 'कारक' शब्द से 'करण' कारक अभिप्रेत है । व्यापार से युक्त असाधारण कारण ही 'करण' है । नित्यवस्तु का कोई व्यापार नहीं हो सकता । तस्मात् ईश्वरीय ज्ञान यदि नित्य है तो वह 'प्रमाण' भी नहीं हो सकता ।

अत एव ईश्वर 'प्रमाता' भी नहीं हो सकते । क्योंकि प्रमा का समवायिकारण होना ही 'प्रमातृत्व' है । किन्तु ईश्वरीयज्ञान नित्य होने से जब कार्य हो नहीं है, तो फिर किसके समवायिकरण होने के नाते ईश्वर प्रमाता होंगे ?[1]

---

१. अर्थात् यदि ईश्वर प्रमाता नहीं हैं तो फिर अखिलज्ञान राशि वेदों की रचना प्रमातृत्व शून्य पुरुष से स्वीकार नहीं की जा सकती । अतः वेदकर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि की आशा छोड़ देनी चाहिये । इसी आक्षेप के समाधान के लिये 'मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः' यह श्लोक लिखा गया है ।

उच्यते

मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥

समीचीनो ह्यनुभवः प्रमेति व्यवस्थितम् । तथा चानित्यत्वेन विशेषणमनर्थकम् । नित्यानुभवसिद्धौ तद्व्यवच्छेदस्यानिष्टत्वात्, असिद्धौ च व्यवच्छेद्याभावात् ।

सि० मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः··· ··· ··· ···

'सम्यक्परिच्छित्ति' अर्थात् यथार्थानुभवत्व ही प्रमाज्ञान का सामान्य लक्षण है। यह लक्षण नित्यप्रमा में भी है, अनित्य प्रमा में भी है। जिस 'क्रिया' शब्द से 'प्रमा' अभिहित होती है, वह 'क्रिया' केवल 'धात्वर्थ' रूप है। धात्वर्थ रूपा यह क्रिया नित्य भी हो सकती है जैसे कि 'सत्ता', एवं अनित्य भी हो सकती है जैसे कि गमनादि क्रिया। अतः कार्यत्व (उत्पत्तिमत्त्व) के साथ धात्वर्थत्व इस 'क्रियात्व' कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। इसलिये ज्ञान की नित्यता उसके प्रमात्व का बाधक नहीं हो सकती।

तद्वत्ता च प्रमातृता··· ··· ··· ···

प्रमाज्ञान का रहना ही 'प्रमातृता' है, यह प्रमातृता ईश्वर में हैं। प्रमातृत्व प्रमाज्ञान का कर्तृत्व रूप नहीं है। क्योंकि क्रिया के प्रति 'स्वतन्त्र' 'अर्थात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ' ही कर्त्ता है। ज्ञान रूप क्रिया का ऐसा कोई कर्त्ता हो ही नहीं सकता। अग्नि के स्पर्श से जिस उग्र उष्णस्पर्श का भान होता है—उसे कोई नहीं चाहता। भान होने पर उसका निवारण भी नहीं किया जा सकता। उसको शीतस्पर्श के भान में बदलना भी संभव नहीं है। अतः प्रमाज्ञान का रहना ही 'प्रमातृत्व' है। इस प्रकार का प्रमातृत्व प्रमाज्ञान को नित्य मानने पर भी पूर्ण सम्भव है।

तदयोगव्यवच्छेदः··· ··· ··· ···गौतमे मते

महर्षि गौतम के मत से 'प्रामाण्य' शब्द का अर्थ प्रमा का करणत्व रूप नहीं है। किन्तु 'प्रमा' के साथ 'अयोग व्यवच्छिन्न सम्बन्ध ही' (सतत सम्बन्ध ही) प्रामाण्य है। इस प्रकार का प्रामाण्य ईश्वर के व्यापारशून्य होने पर भी उनमें पूर्ण संभव है। अतः ईश्वर के प्रामाण्य में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

सि० प० समीचीनो हि··· ··· ··· ···

'साम्यक्मिति' अर्थात् समीचीन अनुभव (यथार्थानुभव) ही 'प्रमा' है। प्रमा का यह लक्षण निर्णीत हो जाने पर जो कोई 'प्रमा' को नियमतः 'कार्य' अर्थात् नियमतः किसी से उत्पन्न मानते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि 'प्रमा के लक्षण में आप 'अनित्यत्व' विशेषण क्यों देते हैं ?'[1]

---

1. अवतरण ग्रन्थ में यही आक्षेप किया गया है कि ईश्वर का ज्ञान चूँकि नित्य है, अतः वह प्रमा नहीं हो सकता। इसका यह फलितार्थ हुआ कि प्रमा के सभी लक्षणों में अन्ततः 'अनित्यत्वे सति' यह विशेषण देना आवश्यक है।

न चेदमनुमानम्; आश्रयासिद्धिबाधयोरन्यतराक्रान्तत्वात् ।

विशेष्य को अपने से इतर पदार्थों से भिन्न समझानेवाला ही विशेषण' है। प्रकृत में उक्त 'अनित्यत्व' विशेषण से किस ज्ञान में प्रमात्व की व्यावृत्ति अभिप्रेत है ? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वपक्षवादी को यही कहना पड़ेगा कि नित्यज्ञान में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसी के लिये प्रमा के लक्षण में अनित्यत्व विशेषण देते हैं। किन्तु 'व्यावृत्ति' उसी वस्तु की हो सकती है जो कहीं प्रसिद्ध हो। अर्थात् व्यावृत्ति के लिये व्यावर्त्य का प्रसिद्ध होना आवश्यक है।

इस स्थिति में आक्षेप करनेवाले पर यह अवान्तर प्रश्न किया जा सकता है कि प्रकृत में जिस नित्यज्ञान की आप व्यावृत्ति करना चाहते हैं, वह कहीं प्रसिद्ध है ? अथवा नहीं ? यदि वह प्रसिद्ध है ? अर्थात् नित्यज्ञान की कहीं सत्ता है, तो उस में प्रमा ज्ञान का लक्षण जाना ही चाहिये। यदि प्रमा के लक्षण में 'अनित्यत्व' विशेषण दें तो वह प्रमा का लक्षण कथित नित्यज्ञान में अव्याप्त हो जायगा। अतः अनित्यत्व विशेषण के द्वारा व्यावर्त्य नित्यज्ञान की यदि सत्ता मानते हैं तो अनित्यत्वविशेषण व्यर्थ नहीं हो जाता, किन्तु उस विशेषण के देने से नित्यज्ञान रूप प्रमा में अव्याप्ति का वह प्रयोजक हो जाता है।

यदि उक्त अनित्यत्व विशेषण का कोई व्यावर्त्य नहीं है—अर्थात् नित्य प्रमा की सत्ता ही नहीं है (कोई भी प्रमा नित्य नहीं है) तो अनित्यत्व विशेषण किसकी व्यावृत्ति के द्वारा अपने को सार्थक करेगा ? अतः इस पक्ष में अनित्यत्व विशेषण का वैयर्थ्य अनिवार्य है।

न चेदम्··· ··· ··· ···

(किसी का कहना है कि) ईश्वरप्रमा को छोड़कर और सभी प्रमायें फलात्मक हैं। अतः वे सभी प्रमायें अनित्य हैं। अतः इन प्रमाओं के दृष्टान्त से यह कहा जा सकता है ईश्वर की प्रमा भी अनित्य ही हैं। यदि ईश्वरीय ज्ञान अनित्य नहीं है, तो वह प्रमा भी नहीं है। ईश्वरीय ज्ञान को आप नित्य मानते हैं, अतः वह प्रमा नहीं हो सकता। इससे यह अनुमान वाक्य निष्पन्न होता है कि "ईश्वरज्ञानं न प्रमा फलानात्मकत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा घटप्रमादि" किन्तु यह अनुमान भी संभव नहीं है, क्योंकि इस अनुमान में (१) आश्रयासिद्धि एवं (२) बाध ये दो दोष विद्यमान हैं।

(१) इस अनुमान को उपस्थित करनेवाले मीमांसकगण चूँकि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, अतः ईश्वरीय ज्ञान की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। अतः

न तत्प्रमाकरणमिति त्विष्यत एव, प्रमया सम्बन्धाभावात्। तदाश्रयस्य तु प्रमातृत्वमेतदेव यत् तत्समवायः। कारकत्वे सतीति तु विशेषणं पूर्ववन्नरर्थकमनुसन्धेयम्।

यद्येवम्, 'आप्तप्रामाण्यात्' (न्याय सु. २-२-६७) इति सूत्रविरोधः। तेन हीश्वरस्य प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते, न तु प्रमातृत्वमिति चेन्न।

ईश्वरीयज्ञान को पक्ष बनाकर जितने भी अनुमान प्रस्तुत किये जायेंगे, वे सभी आश्रयासिद्धि दोष से ग्रसित होंगे। अतः कथित अनुमान में भी आश्रयासिद्धि दोष है, इसलिये इस अनुमान के द्वारा ईश्वरीयज्ञान में अप्रमात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। (२) इसी प्रकार उक्त अनुमान में 'बाध' दोष भी है (अर्थात् ईश्वरीयज्ञान की सत्ता को स्वीकार कर यदि उक्त अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष का उद्धार कर भी लेंगे, तथापि इस अनुमान में बाध दोष अपरिहार्य ही रहेगा। क्योंकि ईश्वरीयज्ञान रूप पक्ष में अप्रमात्व रूप साध्य के अभाव स्वरूप प्रमात्व का निश्चय 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुति प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है, अतः इस दोष के कारण भी उक्त अनुमान से ईश्वरीयज्ञान में अप्रमात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती)।

न तत्............ (कारिका के द्वितीय चरण की व्याख्या)

ईश्वरीय प्रमा 'स्व' स्वरूप अपना करण तो अवश्य ही नहीं है, अतः ईश्वर में इस प्रकार के अप्रामाण्य की आपत्ति इष्ट ही है।

तदाश्रयस्य............ (कारिका के उत्तरार्द्ध की व्याख्या)

ईश्वर में प्रमातृत्व का इतना ही अर्थ है कि नित्यप्रमा का समवाय उन में है।

कारकत्वे सति............

(किसी का कहना है कि अस्मदादि में भी प्रमातृत्व है। इन सभी स्थानों में प्रमाता को 'प्रमा' का 'कर्तृ' कारक रूप में ही देखा जाता है। इस से यह निष्पन्न होता है कि 'प्रमा का समवायी होने के साथ-साथ जो कर्तृकारक होगा, वही प्रमाता होगा। ईश्वर 'कारक' नहीं है। अतः वे 'प्रमाता' नहीं हो सकते। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) यदि कोई 'कारक' न होते हुए भी 'प्रमाता' है, तो फिर प्रमातृत्व के लक्षण में 'कारकत्व' विशेषण देने से प्रमातृत्व लक्षण की अव्याप्ति उस 'अकारक प्रमाता' पुरुष में होगी। यदि कोई ऐसा प्रमाता ही नहीं है जो कारक न हो (अर्थात् प्रमाता कारक ही हो) तो फिर उक्त लक्षण में 'कारकत्व' विशेषण देना ही व्यर्थ है। क्योंकि उसका कोई व्यवच्छेद्य नहीं है। अतः उक्त आक्षेप उचित नहीं है।

यद्येवम्............

'आप्तप्रामाण्यात्' (२-१-६८) इस न्यायसूत्र के द्वारा ईश्वर में प्रमातृत्व का अभिधान किया गया है। यदि ईश्वर को प्रमाता स्वीकार नहीं करेंगे, तो उक्त सूत्र का विरोध होगा। अतः उक्त आर्षवाक्य रूप शब्द प्रमाण के अनुरोध से भी ईश्वर को 'प्रमाता' मानना चाहिए।

निमित्तसमावेशेन व्यवहारसमावेशाविरोधात् । प्रमासमवायो हि प्रमातृव्यवहारनिमित्तम्, प्रमया त्वयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धः प्रमाणव्यवहारनिमित्तं तदुभयञ्चेश्वरे। अत्रापि कार्येति विशेषणं पूर्ववदनर्थकमूहनीयम् ।

सि० प० न, निमित्त समावेशेन ··· ··· ···

उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि 'निमित्त' का अर्थात् 'प्रवृत्तिनिमित्त' का जो 'समावेश' अर्थात् समानाधिकरण्य है, उसके बल से 'प्रामाण्य' एवं 'प्रमातृत्व' इन दोनों का विरोध मिट जाता है ।[1]

प्रमासमवायो हि ··· — ···

'प्रमा का समवाय' प्रमातृ पद के व्यवहार का 'निमित्त' 'प्रवृत्तिनिमित्त' है । अर्थात् जहाँ प्रमा का समवाय रहता है, उसी वस्तु को समझाने के लिये अभिधावृत्ति के द्वारा 'प्रमातृ' पद की 'प्रवृत्ति' अर्थात् प्रयोग होता है । एवं जिस वस्तु में प्रमा का अयोगव्यवछिन्न सम्बन्ध है, उसको समझाने के लिये ही 'प्रमाण' पद की प्रवृत्ति अथवा प्रयोग होता है । फलतः एक ही पुरुष को समझाने के लिये 'प्रमातृ' पद एवं 'प्रमाण' पद दोनों की प्रवृत्ति होती है । ईश्वर में प्रमातृ पद का प्रवृत्तिनिमित्त जो प्रमा का समवाय एवं 'प्रमाण' पद का प्रवृत्तिनिमित्त जो प्रमा का अयोग व्यवछिन्न सम्बन्ध ये दोनों ही हैं, अतः ईश्वर 'प्रमाता' और प्रमाण दोनों ही हैं ।

अत्रापि ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में यह आक्षेप हो सकता है कि जन साधारण कार्य रूप (अनित्य) प्रमा के समवाय से युक्त पुरुष में 'प्रमातृ' पद का एवं कार्य रूप प्रमा के अयोगव्यवछिन्न सम्बन्ध से युक्त पुरुष में 'प्रमाण' पद का व्यवहार करते हैं । अतः दोनों पदों के प्रवृत्तिनिमित्त धर्म के अन्तर्गत जो 'प्रमा' है, उसमें कार्यत्व विशेषण का देना आवश्यक है । ईश्वरीय प्रमा 'कार्य' नहीं है, किन्तु नित्य है । अतः ईश्वर में कार्य प्रमा का समवाय अथवा कार्य प्रमा का

1. जिस विषय में जो पुरुष प्रमाण कहलाता है, उस पुरुष को उस विषय का प्रमाज्ञान भी अवश्य रहता है । अतः पुरुष में रहने वाला 'प्रामाण्य' एवं 'प्रमातृत्व' ये दोनों अविरोधी ही नहीं, परस्पर व्याप्त धर्म भी है । अतः इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते । अतः जिस पुरुष में प्रमाण्य रहेगा, उस पुरुष में प्रमातृत्व भी भी अवश्य ही रहेगा । फलतः जिस पुरुष में प्रमाण्य नहीं है, उस पुरुष प्रमातृत्व भी नहीं है । अतः उक्त सूत्र विरोध के द्वारा प्रमातृत्व के अपनर्थन से ईश्वर में प्रमाण्य का विरोध अवश्य भावी है ।

स्यादेतत् । प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्, प्रमिणोतीति प्रमातेति कारकशब्दत्व-मनयोः । तथा च कथमकारकमर्थं इति चेन्न । एतस्य व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।

अयोग व्यवच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है । इस लिये ईश्वर प्रमाण एवं प्रभाता दोनों में से कोई भी नहीं हो सकते । इस प्रकार के आक्षेप करनेवालों से पूछना चाहिये कि) उक्त दोनों प्रवृत्तिनिमित्तों में प्रविष्ट प्रमा में 'कार्यत्व' विशेषण देने से किसका व्यवच्छेद अभिप्रेत है ? अगर 'नित्यप्रमा' को उसका व्यवच्छेद्य कहें ? तो इसके बाद पूछना पड़ेगा कि किसी भी प्रमा को नित्य मानते हैं ? अथवा नहीं ? यदि मानते हैं तो नित्यप्रमा के उस आश्रयीभूत पुरुष में भी 'प्रभातृ' पद एवं 'प्रमाण' पद दोनों का व्यवहार होना ही चाहिये । उक्त दोनों पदों के प्रवृत्ति निमित्तिभूत धर्म में प्रविष्ट जो 'प्रमा' है, उसमें 'कार्यत्व' विशेषण देने से नित्यप्रमा से युक्त पुरुष में उक्त दोनों पदों का व्यवहार नहीं हो सकेगा । इस पक्ष में कार्यत्व विशेषण व्यर्थ है ।

यदि कोई भी प्रमा नित्य न हो तब तो उक्त कार्यत्व अवश्य ही व्यर्थ है । क्योंकि नित्यप्रमा की व्यावृत्ति के लिये ही प्रमा में कार्यत्व विशेषण की आवश्यकता है—किन्तु नित्य प्रमा नाम की जब कोई वस्तु ही नहीं है, तो किसकी व्यावृत्ति के लिये उक्त प्रमा में 'कार्यत्व' विशेषण दिया जायगा । अतः कार्यत्व विशेषण मूलक यह आक्षेप भी वृथा है ।

पू० प० प्रमीयते ··· ··· ···

'प्रमाण' पद एवं 'प्रमातृ' पद इनके प्रवृत्तिनिमित्तों का ईश्वर में रहना संभव ही नहीं है, अत: ईश्वर न 'प्रमाण' हो सकते हैं न 'प्रमाता' । क्योंकि 'प्रमीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति मूलक करण में ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न 'प्रमाण' पद का अर्थ है 'प्रमा का करण' किन्तु ईश्वरीय प्रमा जब नित्य है तो उसका 'करण' कोई भी नहीं हो सकता । अतः ईश्वर भी उसके करण नहीं हो सकते । अत: ईश्वर को 'प्रमाण' नहीं माना जा सकता ।

एवं 'प्रमिणोतीति प्रमाता' इस व्युत्पत्तिमूलक कर्त्ता में निष्पन्न तृच् प्रत्यय से 'प्रमातृ' पद निष्पन्न होता है । 'कर्त्ता' एक कारक है । 'कारक' विशेष प्रकार का कारण ही है । अतः प्रमा का (स्वातन्त्र्य रूप) विशेष से युक्त कारण ही उसका 'कर्त्ता' हो सकता है । किन्तु ईश्वरीय प्रमा चूँकि नित्य है, अतः उसका कोई सामान्य कारण भी नहीं हो सकता । 'विशेषकारण' की तो कोई चर्चा ही व्यर्थ है । अतः ईश्वर में 'प्रमातृ' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'प्रमाकर्तृत्व' रूप धर्म नहीं रह सकता । इस लिये ईश्वर को प्रमाता भी नहीं कहा जा सकता ।

सि० प० न, एतस्य ··· ··· ··· ···

उक्त आक्षेप उचित नहीं है । क्योंकि व्युत्पत्तिमूलक उक्त योग के अनुसार प्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना नहीं की जा सकती । वे केवल व्युत्पत्ति प्रदर्शन मात्र हैं । प्रमाण पद एवं प्रमातृ

प्रवृत्तिनिमित्तं तु यथोपदर्शितमेव, व्यवस्थापनात्। अन्यथा अस्मदादिषु न प्रमातृव्यवहारः स्यात्, सर्वत्र स्वातन्त्र्याभावात्। कारणव्यवहारस्त्वन्यत्र। यद्यप्यन्यनिमित्तकोऽपि, तथापीहोक्तनिमित्तविवक्षयैवेति।

पद के प्रवृत्तिनिमित्त तो वे ही धर्म हैं, जिनका निर्वचन युक्ति पूर्वक किया जा चुका है। यदि ऐसा न हो, व्युपत्ति के अनुसार ही प्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना की जाय तो अस्मादि में प्रमातृत्व का व्यवहार अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रमातृ' पद का प्रवृत्तिनिमित्त प्रमा-कर्तृत्व रूप है। स्वातन्त्र्य रूप विशेष से युक्त कारक हो 'कर्त्तृ' कारक है। अस्मदादि को जो प्रमाज्ञान होता है, उसके लिये हम सब स्वतन्त्र नहीं है। अगर ऐसा होता तो क्रुद्ध व्याघ्र को आगे कभी हम खड़ा नहीं देख सकते थे। अतः सभी व्युत्पत्तियां उन पदों के योगार्थ का अभिधान मात्र है। केवल उसी के बल पर पदों की प्रवृत्तिनिमित्तों की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः कथित निर्दुष्ट प्रवृत्तिनिमित्तों की सत्ता ईश्वर में बाधित नहीं है। इस लिये ईश्वर में प्रमातृत्व अथवा प्रमाणत्व की अनुपपत्ति नहीं है।

पू० प० यद्यपि ··· ··· ···

चक्षुषा पश्यति' इस प्रकार के प्रयोग सार्वजनीन हैं। इससे यह निष्पन्न होता है कि जिस अयोगव्यवछिन्न सम्बन्ध' के द्वारा करणत्व के निर्वचन की चेष्टा की गयी है, वह सम्बन्ध 'जनकता' रूप ही है। अर्थात् जिसका अयोगव्यवच्छिन्न 'जनकता' रूप सम्बन्ध जिसमें रहे वही उसका 'करण' है। तदनुसार ही 'चक्षु' दर्शन प्रमा का, अथवा कुठार छेदन क्रिया का करण होता है। तदनुसार जिसकी करणता जिस वस्तु में रहेगी, उसको उस वस्तु से उत्पन्न होना चाहिये। इस दृष्टि से ईश्वर में ईश्वरीय प्रमा की करणता नहीं आ सकती। क्योंकि ईश्वरीय प्रमा नित्य है, अतः किसी से भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः ईश्वर से भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सुतराम् ईश्वर में चूँकि ईश्वरीय प्रमा की जनकता नहीं है, अतः ईश्वर 'प्रमाण' नहीं हो सकते।

सि० प० तथापीहोक्त ··· ··· ··· ···

'अन्यत्र' अर्थात् देवदत्तादि अथवा कुठारादि में कथित 'जनकत्व' रूप सम्बन्ध से ही प्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना के द्वारा 'प्रमाण' पद का व्यवहार होता है। किन्तु ईश्वर में कारक विशेष के वाचक 'प्रमाण' पद का प्रयोग नहीं होता। किन्तु साक्षात्कार रूप प्रमा के साथ अयोगव्यवच्छिन्न समवाय रूप सम्बन्ध के वाचक 'प्रमाण' पद का प्रयोग होता है। अर्थात् देवदत्तादि में जिस प्रकार प्रमा का जनकत्व रूप सम्बन्ध है, उसी प्रकार अयोगव्यवछिन्न समवाय नाम का सम्बन्ध भी है। इनमें से दूसरे सम्बन्ध के बल से ही ईश्वर में प्रमाण पद का व्यवहार होता है।

एवं तर्हि पञ्चमप्रमाणाभ्युपगमेऽपसिद्धान्तः। न हि तत्प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा, अनिन्द्रियलिङ्गशब्दकरणत्वात्।

न। साक्षात्कारिप्रमावत्तया प्रत्यक्षान्तर्भावात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वस्य च लौकिकमात्रविषयत्वात्। स्यादेतत्। तथापीश्वरज्ञानं न प्रमा, विपर्यस्तत्वात्।

पू० प० एवम् तर्हि ··· — ···

किन्तु उक्त रीति से ईश्वर में प्रमाण पद का व्यवहार करने से 'प्रमाण चार ही हैं' इस प्रकार का अवधारण भङ्ग हो जयागा। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्यक्षप्रमिति की उत्पत्ति इन्द्रिय एवं अर्थ के संनिकर्ष से हो। एवं अनुमान प्रमाण के लिये यह आवश्यक है कि अनुमिति रूप प्रमिति लिङ्गज्ञान से उत्पन्न हो। इसी प्रकार शाब्द प्रमाण के लिये शाब्दी प्रमा में शब्दजन्यत्व, उपमान प्रमाण के लिये उपमिति प्रमा में सादृश्य ज्ञानजन्यत्व की आवश्यकता जाननी चाहिये।

किन्तु ईश्वरीय प्रमा तो 'अजन्य' है, अतः उसके करण का प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण में अन्तर्भूत होना संभव नहीं है। अतः ईश्वर यदि प्रमाण होंगे तो उन्हें कथित चारों प्रमाणों से भिन्न कोई पाचवां प्रमाण ही मानना होगा। जिससे प्रमाणों की संख्या का उक्त अवधारण भङ्ग हो जायगा।

सि० प० न, साक्षात्कारि ··· ··· ··· ···

ईश्वर को प्रमाण मानने से प्रमाणों की चतुष्ट्व संख्या का अवधारण अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि ईश्वर रूप प्रमाण का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में हो जायगा। 'जो प्रमिति इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न हो उसका करण ही प्रमाण है' यह नियम केवल लौकिक प्रत्यक्ष में ही लागू हो सकता है। अगर ऐसा न मानें तो योगिजन योगिप्रत्यक्ष प्रमिति के प्रमाण न हो सकेंगे। क्योंकि योगज प्रत्यक्ष उक्त संनिकर्ष जन्य नहीं है। अतः यही कहना पड़ेगा कि 'साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमिति' है, उससे युक्त योगी पुरुष भी प्रत्यक्ष प्रमाण है' इसके अनुसार ईश्वर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आ जाते है। रही बात 'इन्द्रियार्थ संनिकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि प्रत्ययक्ष सूत्र के विरोध की—उस विरोध को सूत्र के प्रत्यक्ष पद को लौकिक प्रत्यक्ष परक मानकर मिटा देना चाहिये।

पू० प० स्यादेतत्, तथापीश्वर ज्ञानम् ··· ··· ···

'तथापि' इस प्रकार सर्वज्ञ ईश्वर के प्रसंग में आये हुये सभी दोषों का उद्धार हो जाने पर भी यह आपत्ति रह जाती है कि ईश्वर यदि सर्वज्ञ हैं तो सर्वपदार्थ के अन्तर्गत 'भ्रान्ति' रूप गुण पदार्थ का भी ज्ञान उनमें अवश्य है। ज्ञान विषयक ज्ञान से 'पूर्वज्ञान' का भी विषय होना उपपादित हो चुका है। अतः ईश्वर को यदि भ्रान्ति विषयक ज्ञान है, भ्रान्ति

यदा खल्वेतदस्मदादिविभ्रमानालम्बते, तदैतस्य विषयमस्पृशतो न ज्ञानावगाहनसम्भव इति तदर्थोऽप्यालम्बनमभ्युपेयम्। तथा च तदपि विपर्ययः, विपरीतार्थालम्बनत्वात्। तदनवगाहने वा अस्मदादेर्विभ्रमानविदुषस्तदुपशमायोपदेशानामसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति। न। विभ्रमस्याप्रामाण्येऽपि तद्विषयस्य तत्त्वमुल्लिखतोऽभ्रान्तत्वात्। अन्यथा भ्रान्तिसमुच्छेदप्रसङ्गः, प्रमाणाभावात्।

का विषय भी ईश्वरीय ज्ञान का विषय होगा। फलतः ईश्वर का ज्ञान भी 'तदभाववति तत्प्रकारक होने से भ्रान्ति रूप हो जायगा। जिससे ईश्वर के भ्रान्त होने की आपत्ति होगी।

यदि ईश्वर में भ्रान्ति विषयक ज्ञान नहीं मानेंगे, तो यह मानना होगा कि वेदों में हम लोगों की भ्रान्ति को मिटाने के लिये जो उपाय निर्दिष्ट हैं, वे सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं। अतः नैयायिकों के मत से वेदों का प्रामाण्य ही अनुपपन्न हो जायगा। अतःवेदों के प्रामाण्य के लिये मीमांसको के पथ का ही अवलम्बन नैयायिकों को भी करना पड़ेगा। वेद कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि की आशा उन्हें छोड़ देनी होगी।

सि० प० न, विभ्रमस्यापि··· ··· ··· —

शुक्ति विशेष्यक रजतत्व प्रकारक 'शुक्ताविदं रजतम्' यह ज्ञान भ्रम इस लिये है तदभावावति तत्प्रकारक है, अर्थात् रजतत्वाभाव के आश्रय शुक्ति में रजतत्व प्रकारक है। किन्तु 'तादृशज्ञानवानहम्' यह अनुव्यवसाय रूप ज्ञान भ्रमात्मक नहीं है। क्योंकि इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञान का विशेष्य है 'अहम्' पदार्थ आत्मा, एवं प्रकार है उक्त भ्रमात्मक ज्ञान। आत्मा रूप विशेष्य में उक्त भ्रमात्मक ज्ञान स्वरूप प्रकार की सत्ता वास्तव में है ही। अतः उक्त अनुव्यवसाय चूँकि तद्वति तत्प्रकारक है—तदभाववति तत्प्रकारक नहीं है, अतः उक्त अनुव्यवसाय प्रमा है, भ्रम नहीं।

यदि ऐसा न हो तो संसार से भ्रान्ति की सत्ता ही मिट जायगी। क्योंकि कौन ज्ञान प्रमा है ? एवं कौन ज्ञान भ्रम है, इसका निर्णय उक्त अनुव्यवसाय से ही होता है। क्योंकि प्रमात्मक ज्ञान से ही वस्तु की सिद्धि होती है, भ्रमात्मक ज्ञान से नहीं। शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान के बाद 'इदम्' पद के अर्थ में शुक्तित्व ज्ञात हो जाता है। इसके बाद 'रजतत्वाभाववति रजतं जानामि' (अर्थात् जो चांदी नहीं है, उसको मैंने चांदी समझा है) इस आकार का अनुव्यवसाय होता है। इस अनुव्यवसाय के बाद यह अनुमान होता है कि 'शुक्ति में होनेवाला यह रजतत्व विषयक ज्ञान भ्रम है, क्योंकि तदभाववति तत्प्रकारक है (शुक्तिविदं रजतम् इत्याकारकं ज्ञानं भ्रमः तदभाववति तत्प्रकारकत्वात्)। यह अनुव्यवसाय

तथाऽप्यारोपितार्थविच्छिन्नज्ञानाऽऽलम्बनत्वेन कथं न भ्रान्तत्वमिति चेन्न। यत् यत्र नास्ति तत्र तस्यावगतिरिति भ्रान्त्यर्थत्वात्। एतदालम्बनस्य चैवमुल्लिखतः सर्वत्र यथार्थत्वात्। न हि न तद्रजतम्, नाऽपि तत्रासत्, नाऽपि तन्नावगतमिति।

भी जब भ्रान्ति रूप ही होगा, तो इसके द्वारा 'शुक्ताविदं रजतम्' इस ज्ञान में तदभाववति तत्प्रकारकत्व रूप भ्रमत्व ही सिद्ध नहीं होगा। जैसे कि 'शुक्ताविदं रजतम्' इस ज्ञान से शुक्ति में रजतत्व की सिद्धि नहीं होती है।

पू० प० तथाप्यारोपितार्थविच्छिन्न··· ··· ··· ···

भ्रान्ति विषयक ज्ञान (अनुव्यवसाय) में भी विषयीभूत भ्रान्ति के विषय भी अवश्य भासित होते हैं। अतः जिस विषय के आलम्बन से शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस आकार का ज्ञान भ्रान्ति कहलाता है, तद्विषयक भ्रान्ति का (अनुव्यवसाय रूप) ज्ञान भी अवश्य 'भ्रान्ति' स्वरूप है। अतः ईश्वर चूँकि सभी विषयों के ज्ञाता हैं, अत उक्त 'सभी' के अन्तर्गत भ्रान्ति विषयक ज्ञान से युक्त परमेश्वर अवश्य ही भ्रान्त हैं।

सि० प० न, यत् यत्र नास्ति ·· ··· ··· ···

उक्त आक्षेप उचित नहीं है। कोई भी ज्ञान भ्रम विषयक होने से भ्रम नहीं हो जाता है। जहाँ जो वस्तु नहीं रहे, वहाँ उसका ज्ञान ही भ्रान्ति है। अतः तदभाववति तत्प्रकारकत्व भ्रान्तित्व का नियामक है। इसी लिये शुक्ति में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान भ्रान्ति है। क्योंकि रजतत्व से रहित शुक्ति में वह रजतत्व का अवगाहन करता है। किन्तु उसी भ्रान्ति विषयक 'रजतत्वेन शुक्तिं जानामि' (शुक्ति को मैं रजत समझता हूँ) यह ज्ञान भ्रान्ति रूप नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान का मुख्य विशेष्य है अहम् पदार्थ आत्मा, उस में भ्रान्ति रूप ज्ञान प्रकार विधया भासित होता है। यह भ्रान्ति रूप ज्ञान वस्तुतः उस आत्मा में है ही। ज्ञान रूप अवान्तर विशेष्य में रजतत्व में रहनेवाली प्रकारता निरूपितत्व सम्बन्ध से भासित होती है, एवं उक्त इदम् पदार्थ भी स्व निष्ठ विशेष्यता निरूपितत्व सम्बन्ध से ही भासित होती है। रजतत्व भी स्वनिष्ठ प्रकारता निरूपितत्व सम्बन्ध से उक्त अनुव्यवसाय रूप ज्ञान में है ही। अतः भ्रान्ति विषयक उक्त उक्त अनुव्यवसाय रूप ज्ञान का कोई भी विशेष्य ऐसा नहीं है, जिसमें कोई भी विशेषण अपने (विशेषणतावच्छेदक) सम्बन्ध से अपने विशेष्य में नहीं है। तो भ्रान्तिविषयक अनुव्यवसाय रूप ज्ञान भ्रान्ति रूप क्यों होगा? अतः यह आपत्ति भी निराधार है।

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः ।
लेशादृष्टि-निमित्त-दुष्टि-विगम-प्रभ्रष्ट-शङ्का-तुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥ ६ ॥



इति गद्यपद्यात्मके न्यायकुसुमाञ्जलौ चतुर्थस्तवकः ॥ ४ ॥

साक्षात्कारिणि··· ··· ··· ···

शिव (परमेश्वर) की 'परद्वारानपेक्ष' अर्थात् इन्द्रिय अनुमानादि प्रमाणों से अनपेक्ष अत एव नित्य साक्षात्कारात्मक प्रमा में संसार की प्रत्येक कार्यवस्तु की रचना का क्रम संनिविष्ट है। 'शिव' में चूँकि भ्रम का लेश भी नहीं है, अतः भ्रममूलक रागद्वेष रूप 'दुष्टि' (दोष) की कोई संभावना ही नहीं है। सुतराम् एतादृश शिव (परमेश्वर) के द्वारा रचित होने के कारण वेदो में अप्रामाण्य की शङ्का का लेश भी नहीं है। वेदों में अप्रामाण्यशङ्का को हटानेवाले उक्त स्वतन्त्र प्रमात्मक ज्ञान से युक्त परमेश्वर ही जब मुझे प्रमाण रूप में प्राप्त हैं, तो फिर अप्रामाण्य शंका से कवलित बौद्धादि शास्त्रों के अनुयायी लोगों के इस प्रसङ्ग में (विरुद्ध) रहने से ही क्या[1] ?

---

१. (साक्षात्कारिणि' इत्यादि पद्य के द्वारा आचार्य ने शिवस्तुति के व्याज से इस स्तवक में में कथित विषयों का संक्षिप्त विवरण दिया है।

इस श्लोक का अन्वय वर्द्धमान एवं शङ्कर मिश्र के अनुसार इस प्रकार है:—

'तत्' तस्माद्धेतोः 'मे' मम शिवः प्रमाणम्, कीदृशः शिवः ? यथार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः (निविष्टः विषयीभूतः निखिलप्रस्तावि प्रपञ्चरूपो वस्तूनां क्रमो यस्य) कीदृशि अनुभवे ? साक्षात्कारिणि, अर्थात् साक्षात्कारित्वविशिष्टे। 'नित्ययोगिनि' अर्थात् नित्यत्व विशिष्टे। पुनः कीदृशि अनुभवे ? 'परद्वारानपेक्षस्थितौ' अर्थात् परम्—इन्द्रियशब्दलिङ्गादि, तदेव द्वारम्, तदनपेक्षा स्थितिर्यस्य। शिवः पुनः कीदृशः ? 'लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः' अर्थात् लेश-अल्पा या अदृष्टिः = विशेषादर्शनम्, तन्निमित्ता या 'दुष्टिः' रागद्वेषात्मिका = तद्विगमेन प्रभ्रष्टः शङ्कातुषो वेदाप्रामाण्यशङ्का लेशा यस्मात् सः। शंकोन्मेष एव—अप्रमाण्यशंका प्रादुर्भाव एव कलंको येषां बौद्धादीनाम्, तैः किम् ? तेषां विमतिरकिञ्चित्करमित्यर्थः।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

गद्यपद्यात्मके न्यायकुसुमाञ्जलौ

पञ्चमः स्तबकः

—: ० :—

नन्वीश्वरे प्रमाणोपपत्तौ सत्यां सर्वमेतदेवं स्यात्, तदेव तु न पश्याम इति चेत् ? न ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। तथा हि—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ १॥

क्षित्यादि कर्तृपूर्वकं कार्यत्वादिति।

पू० प० नन्वीश्वरे··· ··· ··· ···

प्रमाणों के रहने पर ही कथित ये बाधकाभावादि साधक ईश्वर की सिद्धि में सहायक हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर के साधक प्रमाण की ही सत्ता दिखाई नहीं पड़ती है।

सि० प० न ह्येष··· ··· ··· ···

यह तो 'स्थाणु' (शुष्क वृक्ष) का अपराध नहीं है कि अन्धा उसे नहीं देख पाता है (यह परमेश्वर शिव स्वरूप स्थाणु का अपराध नहीं है कि 'अन्ध' अर्थात् उनके ज्ञापक प्रमाण से अनभिज्ञ पुरुष उन्हें नहीं समझ पाता है। उनकी सत्ता का ज्ञापक प्रमाण अवश्य है)।

तथा हि कार्यायोजनधृत्यादेः··· ··· ··· ···

विश्वविद् (सर्वज्ञ) अव्यय (नित्य परमेश्वर) की सिद्धि (१) कार्य (२) आयोजन (३) धृति (४) (आदि पद ग्राह्य) विनाश (५) पद (व्यवहार) (६) प्रत्यय (७) वेद (८) वाक्य एवं (९) विशेषप्रकार की संख्या इन नौ हेतु के अनुमानों से करनी चाहिये।

कार्यत्व हेतुक प्रथम अनुमान का आकार है 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' अर्थात् घटादि जितने भी 'कार्य' दृष्ट है, वे सभी किसी 'कर्त्ता' के द्वारा ही उत्पन्न होते है, क्षित्यंकुरादि भी कार्य ही हैं, अतः उनकी उत्पत्ति भी किसी कर्त्ता से ही होनी है। क्षित्यंकुरादि का यह कर्तृत्व अस्मदादि में संभव नहीं है, अतः अस्मदादि से विलक्षण क्षित्यंकुरादि का कर्त्ता ही परमेश्वर हैं।

इस स्तबक के द्वारा 'तत्साधक प्रमाणाभावाच्च' यह पांचवीं विप्रतिपत्ति निराकृत हुई है।

(२) आयोजन हेतुक अनुमान··· ··· ··· ···

आ. 'युज्यते' संयुज्यतेऽन्योन्यं द्रव्यमनेनेत्यायोजनं कर्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत 'आयोजन' शब्द का अर्थ है सृष्टि की आदि में द्व्यणुक के उत्पादक दो परमाणुओं की क्रिया। जिस क्रिया से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह क्रिया अवश्य ही किसी स्वसमानकालिक (अपने

आश्रयीभूत काल में वर्त्तमान) प्रयत्न से उत्पन्न होती है। जैसे कि 'चेष्टा' रूप क्रिया। सृष्टि की आदि की दोनों परमाणुओं की उक्त 'क्रिया' भी चूंकि द्व्यणुक रूप कार्य को उत्पन्न करती है, अतः उसको भी स्वसमानकालिक किसी प्रयत्न से अवश्य उत्पन्न होना चाहिये। उस प्रयत्न के आश्रय ही परमेश्वर हैं, क्योंकि उक्त प्रयत्न का आश्रय हमलोग नहीं हो सकते। अतः यह अनुमान निष्पन्न होता है कि "परमाण्वादयो हि चेतनायोजिताः प्रवर्त्तन्ते, अचेतनत्वात् वास्यादिवत्।

(३) धृति हेतु क अनुमान ... ...

इस अनुमान का स्वारस्य है कि गुरु द्रव्य पतनशील होता है, किन्तु जब स्पर्श से युक्त दूसरे द्रव्य का विशेष प्रकार का संयोग एवं विधारक प्रयत्न इन दोनों में से कोई रहता है तो गुरुत्व से युक्त द्रव्य का भी पतन नहीं होता है, जैसे कि छीके पर रखा हुआ दही का मटका नहीं गिरता है, अथवा आकाश में उड़ती हुई पक्षी नहीं गिरती है। ब्रह्माण्ड भी गुरुतर द्रव्य है, अतः उसका भी पतनशील होना अनिवार्य है। किन्तु ब्रह्माण्ड का पतन नहीं होता है। ब्रह्माण्ड में स्पर्श से युक्त किसी दूसरे द्रव्य के संयोग का भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः यह मानना होगा कि किसी विधारक प्रयत्न ही अपनी सत्ता के द्वारा उसे गिरने नहीं देता। वह प्रयत्न अस्मदादि का नहीं हो सकता। फलतः ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धकीभूत प्रयत्न का आश्रय ही परमेश्वर हैं। इससे अनुमान का निष्पन्न प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिए। ब्रह्माण्डपर्यन्तं हि जगत् साक्षात्परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितं गुरुत्वे सत्यपतनधर्मकत्वात् वियति विहङ्गमशरीरवत्।

(४) विनाश हेतुक अनुमान ... ...

विनाश हेतुक अनुमान का स्वारस्य यह है कि जिस प्रकार 'निर्माण' कार्य प्रयत्न से युक्त कोई पुरुष ही कर सकता है, उसी प्रकार संहार भी प्रयत्न से युक्त ही कोई पुरुष कर सकता है। जिस प्रकार पट का निर्माण प्रयत्न से युक्त कुविन्द (जुलाहे) के बिना नहीं हो सकता, उसी प्रकार खण्डपट की उत्पत्ति के जनक महापट का विनाश भी प्रयत्न से युक्त पुरुष से ही हो सकता है। इसी प्रकार जगत का संहार भी उपयुक्त प्रयत्न से युक्त पुरुष के बिना संभव नहीं है। जगत के विनाश स्वरूप प्रलय का उपपादन द्वितीय स्तबक में किया जा चुका है। तस्मात् जगत का संहार जिस प्रयत्न से होता है, उस प्रयत्न का आश्रयत्व अस्मदादि में चूंकि संभव नहीं है, अतः तादृश प्रयत्न का आश्रय पुरुष ही परमेश्वर हैं। इस अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है:—ब्रह्माण्डादि द्व्यणुकपर्यन्तं जगत् प्रयत्नवद्विनाश्यम् विनाश्यत्वात् पाट्यमानपटवत्"।

(५) पद हेतुक अनुमान··· ··· ··· ···

'पद्यते गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत में 'पद' शब्द का अर्थ है 'वृद्ध व्यवहार' (अर्थात् व्यवहार के अङ्गीभूत अर्थ जिस से ज्ञात हो वही है 'पद')। इस वृद्ध व्यवहार रूप 'पद' से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है। जैसे कि आधुनिक कुविन्द का (जुलाहे का) कपड़ा बुनने का नैपुण्य किसी की शिक्षा से ही प्राप्त होता है। नैपुण्यशिक्षा की यह परम्परा कहीं पर अवश्य विराम को प्राप्त होती है। अर्थात् कोई ऐसा भी पटनिर्माण में कुशल पुरुष है जिस का पटनिर्माण का नैपुण्य किसी अन्य किसी निपुणतम पुरुष की शिक्षा के अधीन नहीं हैं। अन्यानपेक्ष नैपुण्य से युक्त वह पुरुष ही परमेश्वर हैं।

(६) 'प्रत्यय' हेतुक ईश्वरानुमान··· ··· ··· ···

(प्रत्यय' शब्द का मुख्य अर्थ है 'समाश्वास' अर्थात् विश्वास। प्रामाण्य विश्वास का विषय है। इस सम्बन्ध से ही प्रकृत में विश्वास के विषय 'प्रामाण्य' में विश्वासार्थक 'प्रत्यय' पद की लक्षणा है। यह 'प्रामाण्य' शब्द 'प्र' पूर्वक 'मा' धातु से भाव में (स्वार्थ) में ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न 'प्रमाण' शब्द के उत्तर 'यत्' प्रत्यय से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है 'प्रमात्व'। अभिप्राय यह है कि 'प्रमा' कारणगुणपूर्वक है। शब्द जनित प्रमाज्ञान का कारणीभूत गुण है वक्ता पुरुष में वाक्यार्थ विषयक यथार्थज्ञान का रहना। क्योंकि यह यथार्थज्ञान जिस पुरुष में रहता है, उस पुरुष के द्वारा उच्चरित तद्विषयक वाक्य ही प्रमाण कहलाता है। इसी रीति से लोक में शब्द का प्रामाण्य देखा जाता है। वेद रूप शब्दों में भी प्रामाण्य की यही रीति माननी होगी। क्योंकि जबतक यह विश्वास न हो जाय कि 'वेद के वक्ता को वेदार्थ का यथार्थज्ञान है' तब तक वेदों में प्रामाण्य की संभावना नहीं है। सर्वज्ञ पुरुष को छोड़कर किसी साधारण मनुष्य में वेदार्थ विषयक ज्ञान का विश्वास नहीं किया जा सकता। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि शब्दजनित प्रमा भी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाओं की तरह चूंकि प्रमा है, अतः वह भी कारणगुणपूर्वक है। वेद रूप शब्द जनित ज्ञान के प्रामाण्य के उपयुक्त यथार्थ ज्ञान स्वरूप गुण जिस पुरुष में हो, वही पुरुष परमेश्वर हैं।

(७) 'श्रुति' से परमेश्वर का अनुमान··· ··· — ···

'श्रुति' से अर्थात वेदों से भी परमेश्वर का अनुमान करेंगे। वेदों का निर्माण सर्वज्ञपुरुष के द्वारा ही हुआ है, क्योंकि जो वेद नहीं है, उसकी रचना सर्वज्ञपुरुष के द्वारा नहीं होती है, जैसे कि अस्मदादि की रचनायें। अर्थात् 'वेदाः सर्वज्ञपुरुषप्रणीताः वेदत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा अस्मदादि वाक्यम्"।

(८) वाक्य लिङ्गक ईश्वरानुमान··· ··· ··· ···

सभी वाक्य किसी पुरुष के द्वारा ही निर्मित होते हैं, वेद भी वाक्य रूप ही है। अतः वेदों की रचना किसी पुरुष के द्वारा ही की गयी है। अस्मदादि का वेदों का रचयिता होना संभव नहीं है, अतः वेदों के रचयिता पुरुष ही परमेश्वर हैं। वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्।

(९) संख्या विशेष लिङ्गक ईश्वरानुमान

इस अनुमान का स्वारस्य यह है 'कारणगुणाः कार्यगुणानारमन्ते' इस न्याय के अनुसार अवयवि द्रव्य रूप कार्य में महत्परिमाण का कारण कारणीभूत अवयवों में रहने वाला महत्परिमाण ही है। क्योंकि दोनों कपालों के महत्परिमाणों से घट में रहने वाले महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है। किन्तु कुछ विशेष प्रकार के महत्परिमाणों के कारण अवयवगत संख्या भी हैं। क्योंकि आधे-आधे सेर के दो कपालों के द्वारा निर्मित घट के महत्परिमाण से आधे आधे सेर के ही तीन कपालों से निर्मित घट का परिमाण भिन्न प्रकार का होता है। देखना यह है कि प्रथम घट की अपेक्षा द्वितीय घट का परिमाण भिन्न प्रकार का क्यों होता है? क्योंकि दोनों ही घटों के अवयवों का परिमाण तो एक ही सा है। अतः दोनों परिमाणों के वैलक्षण्य का नियामक प्रकृत में अवयवगत परिमाण को नहीं माना जा सकता। अतः यही कहना होगा दूसरे घट के उत्पादक अवयवों की भिन्न संख्या ही उक्त विशेष प्रकार के परिमाण का कारण है। इस लिये संख्या को भी परिमाण का कारण मानना होगा।

चूंकि अणुपरिमाण किसी भी कार्य के कारण नहीं है, अतः द्व्यणुक के परिमाण एवं त्रसरेणु के परिमाण इन दोनों परिमाणों की उत्पत्ति क्रमशः द्व्यणुक के अवयव स्वरूप दोनों परमाणुओं की द्वित्व संख्या, एवं द्व्यणुकों की त्रित्व से ही माननी होगी। द्वित्वादि संख्यायें चूंकि पुरुष बुद्धि के अधीन हैं, एवं वह पुरुष अस्मदादि नहीं हो सकते। अतः उक्त बुद्धि का आश्रय जो पुरुष होगा, वही परमेश्वर है। तदनुसार अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है—सर्गाद्यकालीन-परमाणुगतद्वित्वसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या द्वित्वत्वात्'।

('कार्यायोजन धृत्यादेः' इस श्लोक के 'कार्य', 'आयोजन' प्रभृति पदों का कथित अर्थ से विलक्षण अर्थ करके तदनुसार ईश्वर साधक विभिन्न अनुमानों का उपपादन आचार्य इस स्तबक के छठे श्लोक से लेकर अन्त तक किया है। उन अनुमानों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।)

कार्यत्व हेतुक पहिला अनुमान

(१) 'क्रियते' जन्यते शब्दोऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रथमश्लोक का 'कार्य' पद 'तात्पर्य का वाचक है। ('कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र के अनुसार 'करण' अर्थ में भी 'अण' प्रत्यय हो सकता है।) यह 'तात्पर्य' उद्देश्य-फलतः विशेष प्रकार की 'इच्छा' रूप ही है। क्योंकि 'तात्पर्य' पद की व्युत्पत्ति 'तदेव परमुद्देश्यम् यस्य' इस प्रकार की है। जिस उद्देश्य से अर्थात् जिस अर्थ विषयक बोध की इच्छा से जो शब्द वक्ता के द्वारा प्रयुक्त होता है, वही उद्देश्य 'तत्पर' शब्द का अर्थ है। तत्पर' का 'भाव' ही 'तात्पर्य' है, सुतराम् यह तात्पर्य शब्द वक्ता की इच्छा का ही बोधक है। एतननुसार सभी वाक्यों का कोई तात्पर्यार्थ है, अतः वेद रूप वाक्यों का भी कोई तात्पर्यार्थ होगा। तद्घटक तात्पर्य जिस पुरुष का होगा, वही पुरुष परमेश्वर है। वेदः सतात्पर्यकः प्रमाणशब्दत्वात्' इस अनुमान के अनुसार वेद रूप वाक्य के तात्पर्य का आश्रयत्व चूंकि अनित्य एवं असर्वज्ञ अस्मदादि में संभव नहीं है। अतः उक्त तात्पर्य का आश्रय ही परमेश्वर हैं।

(२) आयोजन हेतुक दूसरा अनुमान

इस पक्षमें 'आ सम्यग् भावेन योजनम् व्याख्यानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आयोजन' शब्द का अर्थ है 'व्याख्या;। जो जिस शब्द के अर्थ को अच्छी तरह जानता रहता है, वही उस शब्द की अच्छी व्याख्या कर सकता हैं। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि वेद की व्याख्या उसके सभी अर्थों को अच्छी तरह जानने वाले पुरुष के द्वारा ही की गयी है, क्योंकि वेद रूप वाक्य महाजनों के द्वारा परिगृहीत वाक्य हैं। अर्थात् शिष्ट जन उन्हीं व्याख्यानों के अनुसार वाजपेयादि का अनुष्ठान करते हैं। अखिल वेदों के अर्थों का वह सम्यग् ज्ञाता ही परमेश्वर हैं। 'वेदाः सकलवेदार्थदर्शिविज्ञापितार्थकाः महाजनानुष्ठीयमानविषय-बोधकवाक्यत्वात्।

(३) धृति हेतुक अनुमानान्तर

इस पक्ष में 'धृति' शब्द का अर्थ है 'धारण अर्थात् 'वेदधारण' वेदों का अध्ययन। स्वाध्यायोऽध्येतव्य इस विधिवाक्य के ही अनुसार अध्यापकादि के निर्देश के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी ने वेदों का अध्ययन अवश्य किया था। उस अध्ययन के अनुसार ही आगे शिष्ट पुरुषों के द्वारा उस अध्ययन की परम्परा चली। वह स्वतन्त्रपुरुष ही परमेश्वर हैं। 'वेदाध्ययनं स्वतन्त्रप्रमाणपुरुषमूलकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात्।

(४) अनुष्ठानलिङ्गक ईश्वरानुमान

'कार्ययोजनधृत्यादेः' इस वाक्य के 'आदि' पद से द्वितीयपक्ष में अनुष्ठान' समझना चाहिये। 'अनुष्ठान' शब्द प्रकृत में 'उपासना' का बोधक है। अर्थात् जिस की उपासना की जाती है, उसकी 'सत्ता' अवश्य है। क्योंकि शिष्टजन ही उपासना करते हैं। तदनुसार अनुमान का प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये ' उपासनं सद्विषयकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात्" अर्थात् शिष्टों की उपासना का विषयीभूत पुरुष ही 'परमेश्वर हैं।

(५) पद पक्षक ईश्वर का अनुमान।

अर्थात् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर पद से जगत् कर्त्ता का बोध प्रसिद्ध है। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'ईश्वर पदं जगदुत्पादकर्तृ-परम् तत्वेन वेदबोधित्वात्।

अथवा अलौकिक अर्थात् वेद में प्रयुक्त 'अहम्' पद से ईश्वर की सिद्धि जाननी चाहिये अर्थात् जिस प्रकार लोक में प्रयुक्त 'अहम्' पद उसके स्वतन्त्र रूप से उच्चारण करने वाले पुरुष का बोधक है, उसी प्रकार वेद में प्रयुक्त (अलौकिक) 'अहम्' पद भी स्वतन्त्र रूप से उसके उच्चारण करने वाले का ही बोधक है। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'अलौकिकाहं पदं स्वतन्त्रोच्चारयितृपरम् अहम्पदत्वात् लौकिकाहम्पदवत्' वेदों के अहम् पद का स्वतन्त्र उच्चारण करने वाला पुरुष ही परमेश्वर है। इसी प्रकार वेदों में प्रयुक्त 'यः कः' सः इत्यादि पदों के द्वारा भी ईश्वर का अनुमान करना चाहिये।

(६) 'प्रत्यय' के द्वारा ईश्वर का अनुमानान्तर

प्रकृत में 'प्रत्यय' शब्द से विधि प्रत्यय अभिप्रेत है। विधि प्रत्यय का अर्थ है' आप्ता-भिप्राय'। स्वर्गकामो यजेत इत्यादि वेद वाक्यों में प्रयुक्त 'विधि' प्रत्यय के द्वारा जिस आप्त के 'अभिप्राय' का बोध होता है, वह 'आप्त' पुरुष ही परमेश्वर हैं। तदनुसार 'स्वर्ग कामो-ऽश्वमेधेन यजेत' इत्यादि श्रुतिघटकलिङ् प्रत्ययः आप्ताभिप्रायवाचकः लिङ् प्रत्ययत्वात् लौकिक-लिङ् प्रत्ययवत्; इस प्रकार का अनुमान जानना चाहिये।

(७) 'श्रुति' रूप शब्द प्रमाण मूलक अनुमानान्तर से ईश्वर की सिद्धि।

'ईश्वरमुपासीत' 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है। 'सर्वे वेदभागाः ईश्वर प्रतिपादकाः वेदत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा घटादिः

(८) 'वाक्य' लिङ्गक ईश्वर का अनुमानान्तर।

सभी वाक्य स्वार्थविषयकज्ञान (वाले पुरुष) से उत्पन्न होते हैं, तदनुसार सृष्टि की आदि का वेदवाक्य भी उक्त वेद वाक्य के अर्थ विषयक ज्ञान (वाले पुरुष) से ही

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो नो नासिद्धिरनिबन्धना ॥ २ ॥

उत्पन्न होता है, क्योंकि वह भी हम लोगों के वाक्य की तरह वाक्य ही है। सर्गादिकालीन वेदवाक्यं तदर्थज्ञानजन्यं वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्' यह अनुमान का प्रयोग जानना चाहिये।

(६) विशेष प्रकार की 'संख्या' से ईश्वर का अनुमानान्तर।

(क) वाक्य के अन्तर्गत 'उत्तमपुरुष' के द्वारा कथित (अभिहिता) संख्या नियमतः वक्ता पुरुष के साथ ही अन्वित होती है। वेदों में भी 'एकोऽहं बहुस्याम्' इत्यादि अनेक उत्तमपुरुष के आख्यात के प्रयोग हैं। वेदवाक्यों के इस उत्तमपुरुष के आख्यात से अभिहिता संख्या का अन्वय भी उसके वक्ता पुरुष में ही अन्वित होगी। वही पुरुष परमेश्वर हैं। 'वेदवाक्यघटकोत्तमपुरुषाख्यातवाच्या संख्या वेदवक्तृनिष्ठा उत्तमपुरुषाख्यातवाच्यत्वात् लौकिक-वाक्यगतोत्तमपुरुषाख्यातवाच्यसंख्यावत्'।

(ख) 'संख्यायते कथ्यते अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'संख्या' शब्द का 'समाख्या' रूप 'संज्ञा' भी अर्थ है। 'समाख्या' यौगिक संज्ञा को कहते हैं। वेदों में भी "काठक, कलापक" आदि समाख्यायें हैं। 'समाख्या' का कोई आदि प्रवक्ता होता है। वेदों में प्रयुक्त उक्त समाख्याओं का आदि प्रवक्ता परमेश्वर को छोड़ कर और कोई नहीं हो सकता। तस्मात् यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'वेदशाखायाः कठकलापादि संज्ञा पुरुषोक्तयधीना संज्ञात्वात् आधुनिक संज्ञावत्।

सि० प० न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् ··· ··· ··· ···

("क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवत्' इस अनुमान का कार्यत्व हेतु) बाध दोष से ग्रसित नहीं है (क्योंकि तृतीयस्तवक में ईश्वर रूप प्रतियोगी की सिद्धि के बिना बाध की संभावना का निराश किया जा चुका है, अतः बाध देने के लिये अपेक्षित ईश्वर रूप प्रतियोगी की सिद्धि आवश्यक है, जो कार्यत्व हेतु के बिना संभव नहीं है, अतः ईश्वर के साधक कार्यत्व हेतु में बाध दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह बाध दोष उक्त हेतु का 'उपजीव्य' है अर्थात् उक्त बाध दोष कार्यत्व हेतुक उक्त अनुमान की अपेक्षा रखता है)।

तथा हि—अत्र ये शरीरप्रसङ्गमुद्भाटयन्ति, कस्तेषामाशयः ? ।

(१) प्रतिबन्धो न दुर्बलैः ··· ··· ··· ···

इसी प्रकार कार्यत्व हेतुक अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष का भी उद्भावन नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिस किसी हेतु से सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन करेंगे, वह प्रतिहेतु प्रकृत कार्यत्व हेतु से दुर्बल ही होगा। समान बलशाली प्रतिहेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष होता है, प्रकृत हेतु से दुर्बल प्रतिहेतु के द्वारा नहीं।

(३) सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो नो ··· ··· ··· ···

यदि क्षित्यङ्कुरादि प्रकृत पक्षों में केवल 'सकर्तृकत्व' रूप प्रकृत साध्य के साथ-साथ 'शरीरिकर्तृकत्व' रूप साध्य की भी सिद्धि होगी, तो फिर दोनों में 'विरोध' संभव नहीं है (क्योंकि साथ साथ जिनकी सिद्धि संभव हो, उनमें विरोध कैसा ? (सहानवस्थायित्व ही 'विरोध' है) । यदि क्षित्यङ्कुरादि में शरीरिकर्तृकत्व सिद्ध ही नहीं है, तो भी 'विरोध' संभव नहीं है (क्योंकि जिसकी अपनी ही सत्ता नहीं है, वह विरोध कैसे करेगा ?)

(४) नासिद्धिरनिबन्धना ··· — ··· ···

क्षिति एवं अङ्कुर रूप पक्ष क्षितित्व रूप एवं अङ्कुरत्व रूप से प्रसिद्ध है, अतः प्रकृत में 'आश्रयासिद्धि' रूप दोष नहीं दिया जा सकता। एवं उक्त पक्षों में सावयवत्व (रूप हेतु) से 'कार्यत्व' रूप हेतु भी सिद्ध है, अतः 'स्वरूपासिद्धि दोष भी संभव नहीं है। चूँकि इस हेतु में कोई 'उपाधि' नहीं है, अतः 'तन्निबन्धन' व्याप्यत्वासिद्धि दोष भी इस हेतुमें नहीं है, क्योंकि व्यभिचार उन्हीं स्थलों में होता है, जहाँ बाध अथवा असिद्धि इन दोनों में से कोई अवश्य रहे। इन्हीं दोनों में से किसी से व्यभिचार निरूपण करने वाले अधिकरण की सत्ता ज्ञात होती है। प्रकृत में चूँकि इन दोनों दोषों में से कोई भी दोष नहीं है। अतः प्रकृत में व्यभिचार दोष भी नहीं है। (फलतः यह कार्यत्व हेतु पाँचों प्रकार के हेत्वाभासों से मुक्त है) ।

तथा हि अत्र ये ··· ··· ··· ···

जो समुदाय इस कार्यत्व लिङ्गक ईश्वरानुमान के प्रसङ्ग में 'शरीर' के प्रसङ्ग को उठा कर दोष का उद्भावन करना चाहते हैं, उनका क्या अभिप्राय है ?

किमीश्वरं पक्षयित्वा कर्तृत्वाच्छरीरित्वम्; ततः शरीरव्यावृत्तेरकर्तृत्वम्। अथ क्षित्यादिकमेव पक्षयित्वा कार्यत्वाच्छरीरिकर्तृकत्वम्।

---

(१) किम्[1] ··· ··· ··· ··· बाध दोष का उपपादन ··· ··· ··· ···

सभी कार्यों के कर्त्ता शरीर से युक्त ही होते हैं। ईश्वर भी यदि कर्त्ता हैं, तो उन्हें भी शरीर से युक्त अवश्य होना चाहिये। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि "ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात् कुलालादिवत्" अर्थात् जिस प्रकार घटादि कार्यों के कुलादि कर्त्ता शरीर से युक्त हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी चूंकि क्षित्यंकुरादि के कर्त्ता हैं, अतः अवश्य ही शरीर से युक्त हैं।

(२) किन्तु ईश्वर को तो शरीर नहीं है। इस लिये उनमें कर्तृत्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'ईश्वरो न कर्त्ता शरीरशून्यत्वात् आकाशादिवत्' अर्थात् जिस प्रकार आकाशादि शरीर न रहने के कारण किसी भी कार्य के कर्त्ता नहीं हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी चूंकि शरीर से रहित हैं, अतः 'कर्त्ता' नहीं हैं।

इस प्रकार ईश्वर रूप प्रकृत पक्ष में प्रकृत अनुमान का 'कर्तृत्व' रूप साध्य का अभाव चूंकि निर्णीत है, अतः प्रकृत ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु बाधित है। अतः इससे ईश्वर का अनुमान नहीं किया जा सकता।

(३) क्षित्यादिकमेव··· ··· ··· ···विशेषण के बाध से विशिष्टबाध का उद्भावन

शरीर के प्रसङ्ग को उठाकर दोष देनेवाले का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जितने भी कार्य हैं, वे सभी शरीर से युक्त कर्त्ता के द्वारा ही निर्मित होते हैं। क्षित्यंकुरादि भी कार्य ही हैं, अतः वे भी शरीर से युक्त कर्त्ता के द्वारा ही निर्मित होंगे, "क्षित्यादिकं शरीरिकर्तृकम् कार्यत्वात् घटादिवत्" अर्थात् जिस प्रकार क्षित्यादि कार्य शरीर से युक्त कुलालादि कर्त्ताओं से ही बनते हैं, उसी प्रकार क्षित्यंकुरादि भी चूंकि कार्य हैं, अतः शरीरिकर्त्ता के द्वारा ही निर्मित होते हैं। ऐसा निर्णय हो जाने पर इस निर्णय में कोई बाधा

---

1. ईश्वर को न माननेवाले सभी विचारक उक्त कार्यत्व लिङ्गक अनुमान पर जिन दोष 'कन्टकों' का प्रहार करते हैं, उन दोषों का उपपादन पूर्वक 'उद्धार' (कण्टकोद्धार) इस श्लोक द्वारा सूचित होकर संक्षिप्त रूप से खण्डित हुआ है, एवं 'अत्र ये शरीर प्रसङ्गम्' इत्यादि गद्य सन्दर्भ के द्वारा विशद रूप से उपपादित हुआ है।

उन लोगों का प्रधान आक्षेप है कि किसी भी कार्य के कर्त्ता को शरीरधारी होना आवश्यक है। क्योंकि शरीर के द्वारा ही सभी 'कर्त्ता' कार्यों का संपादन करते हैं। इसमें दृष्टान्त की कमी नहीं है। अतः जो 'कर्तृजन्य होगा, वह शरीरजन्य भी अवश्य होगा। सुतराम् जो शरीरजन्य नहीं होगा, वह कर्तृजन्य भी नहीं होगा। क्षित्यङ्कुरादि शरीरजन्य नहीं हैं। अतः कर्तृजन्य भी नहीं है, अतः क्षित्यङ्कुरादि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

यद्वा शरीराजन्यत्वादकार्यत्वं तत एव वाऽकर्तृकत्वम् ?

नहीं रहती कि क्षित्यंकुरादि ईश्वर कर्तृक नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर शरीरी नहीं हैं। क्षित्यंकुरादि के यदि कोई कर्त्ता होंगे भी तो हमलोगों के समान शरीर से युक्त ही होंगे। अशरीरी परमेश्वर कर्त्ता नहीं हो सकते।

इस रीति से 'विशेषण' के बाध से 'विशिष्टबाध, रूप दोष का उद्भावन पूर्वपक्षवादी को इष्ट हो सकता है।[1]

(४) यद्वा शरीराजन्यत्वात्··· ··· ··· ···

जितने भी कार्य हैं, उनकी उत्पत्ति में शरीर का उपयोग अवश्य होता है। शरीर के व्यापार के बिना कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता है। जैसे कि आकाशादि की उत्पत्ति में शरीर का कोई उपयोग नहीं होता, अतः आकाशादि शरीरजन्य नहीं है। उसी प्रकार क्षित्यंकुरादि भी 'कार्य' नहीं हैं। इस से यह अनुमान निष्पन्न होता है कि "क्षित्यंकुरादिकमकार्यम् शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्" 'अर्थात् आकाशादि के समान क्षित्यंकुरादि भी 'कार्य' नहीं हैं, क्योंकि आकाशादि के समान ही क्षित्यंकुरादि भी शरीरजन्य नहीं हैं'। इस प्रकार कार्यत्व हेतुक उक्त ईश्वरानुमान के क्षित्यंकुरादि रूप पक्ष में कार्यत्व हेतु के अभाव के निर्णय से उक्त 'कार्यत्व' हेतु में 'स्वरूपासिद्धि' दोष की आपत्ति होती है। क्योंकि पक्ष में हेतु के न रहने से ही 'स्वरूपासिद्धि' दोष होता है। अतः उक्त कार्यत्व रूप दुष्ट हेतुक अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

(५) तत एव वा··· ··· ··· ···

जितने भी कार्य शरीर से उत्पन्न होते हैं, वे सभी कार्य कर्त्ता के द्वारा भी उत्पन्न होते हैं। क्षित्यंकुरादि कार्य शरीर से उत्पन्न नहीं होते, अतः वे कर्त्ता से भी उत्पन्न नहीं हो सकते। इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'क्षित्यंकुरादिकमकर्तृकम् शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्' (अर्थात् जिस प्रकार शरीर से अनुत्पन्न आकाशादि किसी भी

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'कर्त्ता शरीरी एव,' इस व्याप्ति के बल से क्षित्यङ्कुरादि में भी शरीर विशिष्ट कर्तृजन्यत्व की ही सिद्धि होगी, किन्तु ईश्वर में शरीर रूप विशेषण नहीं है। अतः क्षित्यादि में केवल कर्तृजन्यत्व के रहने पर भी ईश्वर में शरीर रूप विशेषण के अभाव से क्षित्यादि में शरीर विशिष्ट कर्तृजन्यत्व रूप 'विशिष्ट' का बाध समझना चाहिये।

परव्याप्तिस्तम्भनार्थं विपरीतव्याप्त्युपदर्शनमात्रं वेति । तत्र प्रथमद्वितीययोराश्रयासिद्धिबाधापसिद्धान्तप्रतिज्ञाविरोधाः ।

कर्त्ता से उत्पन्न नहीं हैं, उसी प्रकार क्षित्यंकुरादि पदार्थ चूँकि शरीर से उत्पन्न नहीं होते, अतः किसी कर्त्ता से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकते ।) इस अनुमान के द्वारा भी दूसरे प्रकार से क्षित्यंकुरादि पक्षों में कर्तृजन्यत्व रूप साध्य के अभाव स्वरूप बाध का उद्भावन होता है । तस्मात् कार्यत्व रूप बाधित हेतु से क्षित्यंकुरादि में कर्तृजन्यत्व की सिद्धि के द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ।

(६) परव्याप्तिस्तम्भनार्थम्··· ··· ··· ···

(अनीश्वरवादियों का कहना है कि) कार्यत्व हेतुक उक्त ईश्वरानुमान की उत्पत्ति 'यत् यत् कार्यम् तत् तत् कर्तृजन्यम् (जितने भी कार्य हैं, वे सभी अवश्य ही कर्त्ता से उत्पन्न होते हैं) इस व्याप्ति से होती है । इस व्याप्ति की विरोधिनी व्याप्ति है "यत् यत् कार्यं तत् शरीरजन्यमपि भवत्येव' (अर्थात् जितने भी कार्य हैं, वे सभी कर्तृजन्य होने के साथ साथ शरीरजन्य भी अवश्य होते हैं । इस व्याप्ति का पर्यवसान "यत् शरीरजन्यं न भवति, तत् कार्यमपि न भवति(अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में शरीर की अपेक्षा नहीं होती है, वह वस्तुतः 'कार्य' ही नहीं है) इस व्याप्ति में होती है । इस पर्यवसित व्याप्ति के द्वारा प्रकृत ईश्वर साधक अनुमान में प्रकारान्तर से (१) बाध एवं (२) सत्प्रतिपक्ष इन दोनों दोषों उद्भावन अभिप्रेत है । इन में बाध दोष का प्रतिपादन 'अत एव वा' इस सन्दर्भ में किया जा चुका है । सत्प्रतिपक्ष दोष के उद्भावन की रीति यह है कि जिस अनुमान के पक्ष में प्रकृत साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु विद्यमान रहे, उस अनुमान का प्रकृत हेतु सत्प्रतिपक्षित होता है । प्रकृत अनुमान के पक्ष हैं क्षित्यंकुरादि, साध्य है कर्तृजन्यत्व, एवं हेतु है कार्यत्व । इस अनुमान के पक्ष क्षित्यंकुरादि में यदि (शरीरघटित) शरीराजन्यत्व हेतु से कर्तृजन्यत्व रूप प्रकृत साध्य के अभाव की सिद्धि हो जाय, तो प्रकृत सध्य का साधक कार्यत्व हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष उपस्थित हो जायगा । क्योंकि प्रकृत ईश्वरानुमान के पक्ष क्षित्यंकुरादि में कार्यत्व रूप प्रकृत हेतु से भिन्न शरीराजन्यत्व रूप प्रति (विरोधी) हेतु के द्वारा प्रकृत अनुमान का साध्य जो कर्तृजन्यत्व उसके अभाव स्वरूप अकर्तृकत्व की सिद्धि होगी । अतः प्रकृत कार्यत्व हेतु क्षित्यंकुरादि रूप पक्ष में सकर्तृकत्व के साधन में समर्थ नहीं है ।

सि० प० तत्र प्रथम द्वितीययोः··· ··· ··· ···

(शरीर के प्रसङ्ग को उठाकर प्रकृत ईश्वरानुमान के कार्यत्व हेतु को हेत्वाभास साबित करने के लिए जिन छ अनुमानों का प्रयोग अनीश्वरवादी करते हैं, उन में) प्रथम एवं द्वितीय

इन दो अनुमानों में (१) आश्रयासिद्धि (२) बाध (३) अपसिद्धान्त और (४) प्रतिज्ञाविरोध ये चार दोष हैं (अतः इन चार दोषों से ग्रसित अत एव कार्याक्षम इन अनीश्वरवादियों के उक्त दोनों अनुमानों से प्रकृत ईश्वरानुमान दूषित नहीं हो सकता ।[१]

---

१. अनीश्वरवादियों ने 'ईश्वरः शरीरी कर्त्तृत्वात् कुलालादिवत्' इस प्रथम अनुमान के द्वारा प्रकृत (क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वात् घटवत्) अनुमान में बाध दोष का उद्भावन किया है। प्रथमतः इस विरोधी अनुमान में बाध दोष है। क्योंकि स्वविशेषण (पक्षतावच्छेदक) विशिष्ट पक्ष का ज्ञान अनुमिति के लिये आवश्यक है। अतः बाध के उद्भावक उक्त ईश्वर पक्षक अनुमान के लिये 'ईश्वरत्व विशिष्ट ईश्वर का पहिले ज्ञान चाहिये ही। यह ईश्वरत्व विशिष्ट ईश्वर का ज्ञान 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' इस अनुमान प्रमाण के द्वारा ही उत्पन्न होगा। इस अनुमान के द्वारा क्षित्यङ्कुरादि रूप पक्ष में सकर्त्तृकत्व की सिद्धि से क्षित्यङ्कुरादि में अकर्त्तृकत्व साधक अनुमान बाधित हो जायगा। बाधित अनुमान के द्वारा प्रकृतानुमान में बाध का उद्भावन नहीं किया जा सकता।

(२) अनीश्वरवादियों के उक्त अनुमान से पहिले यदि ईश्वरत्व विशिष्ट ईश्वर सिद्ध नहीं है, तो इस अनुमान में आश्रयासिद्धि रूप दोष होगा। क्योंकि पक्ष में विशेषण (पक्षतावच्छेदक) का न रहना ही 'आश्रयासिद्धि' दोष है। ईश्वर में ईश्वरत्व की सिद्धि से ही ईश्वरत्व की सत्ता सिद्धि होगी सो यदि नहीं है, तो पक्ष में पक्षतावच्छेदक नहीं है। अतः इस विरोधी अनुमान का हेतु 'आश्रयासिद्धि' हेत्वाभास है। इससे प्रकृत अनुमान में बाध का उद्भावन नहीं किया जा सकता।

(३) अनीश्वरवादियों के उक्त दोनों ही अनुमानों को स्वीकार कर लेने से उन्हें 'अपसिद्धान्त' नामक 'निग्रह स्थान' रूप दोष प्राप्त होगा अर्थात् ईश्वर को स्वीकार न करते हुये भी ईश्वर साधक अनुमान में दोष देने के लिये 'जो ईश्वरः शरीरी कर्त्तृत्वात्' इस अनुमान को स्वीकार करेंगे, वे निगृहीत (पराजित) होंगे। क्योंकि 'ईश्वर में शरीरित्व को स्वीकार करने से उन्हें ईश्वर के नास्तित्व रूप अपने सिद्धान्त से हटकर उसके विरुद्ध ईश्वर के अस्तित्व रूप सिद्धान्त पर आना होगा। क्योंकि उक्त अपने अनुमान से उनको शरीरित्व विशिष्ट परमेश्वर को स्वीकार करना होगा। जो उनके सिद्धांत के विरुद्ध 'अपसिद्धान्त' है। निगृहीत पुरुष कथा के उपयुक्त नहीं है।

(४) ईश्वर में शरीरित्व के उक्त दोनों ही साधकों को 'प्रतिज्ञाविरोध' नाम के निग्रह स्थान का भी सामना करना होगा। साध्यविशिष्ट पक्ष के बोध का कारणीभूत वाक्य है 'प्रतिज्ञा'। इनमें पक्ष के बोधक एवं साध्य के बोधक पदों में यदि परस्पर विरोध हों तो 'प्रतिज्ञाविरोध' नाम का निग्रह स्थान प्राप्त होता है। जिसका प्रसिद्ध

तृतीये तु व्याप्तौ सत्यां नेदमनिष्टम् । असत्यां तु न प्रसङ्गः । चतुर्थे बाधा-नैकान्तिकौ ।

सि० प० तृतीये तु व्याप्तौ सत्याम् ··· ··· ··· ···

(३) कार्यत्व में यदि शरीरिकर्तृजन्यत्व की व्याप्ति है, तथापि यह कोई अनिष्ट नहीं है [1] ।

असत्याम् ··· ··· ··· ···

यदि कार्यत्व हेतु में शरीरिकर्तृजन्यत्व की व्याप्ति ही नहीं है तो फिर क्षत्यङ्कुरादि में शरीरिकर्तृजन्यत्व की ही सिद्धि नहीं होगी, अतः कार्यत्व हेतुक प्रकृत ईश्वरानुमान में किसी दोष की संभावना नहीं है। अर्थात् ईश्वर में शरीर के बाध से जो क्षित्यङ्कुरादि में शरीरिकर्तृकत्व के न रहने से ईश्वर जन्यत्व का बाध दिखलाया गया है, वह प्रकृत में नहीं है।

सि० प० चतुर्थं ··· ··· ··· ···

(४) शरीर के प्रसङ्ग को उठाकर पूर्वपक्षवादी क्षित्यङ्कुरादि में शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा अकार्यत्व का साधन करना चाहते हैं (जिससे प्रकृत ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु क्षित्यङ्कुरादि रूप पक्ष में असिद्ध रहने से स्वरूपासिद्ध हो जाय) उनके इस 'क्षित्यादिकमकार्य

उदाहरण 'मम माता वन्ध्या' यह वाक्य है प्रकृत में पूर्व पक्षियों का प्रतिज्ञावाक्य है ईश्वरः शरीरी एवं 'ईश्वरः अकर्त्ता' । दोनों ही वाक्यों में उक्त विरोध स्फुट है । क्योंकि क्षित्यादि में जिस लिये कि अस्मदादि शरीरिकर्तृत्व संभव नहीं हैं, इसीलिये अशरीरी परमेश्वर की कल्पना संभव होती है । अतः ईश्वर है, किन्तु वे शरीरी नहीं हैं' अथवा 'ईश्वर हैं, किन्तु वे कर्त्ता नहीं हैं' ये दोनों प्रतिज्ञावाक्य परस्पर विरोधी हैं । तस्मात् उक्त दोनों अनुमानों के बल पर प्रकृत ईश्वरानुमान में बाध दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता ।

1. क्योंकि शरीरिकर्तृजन्यत्व की व्याप्ति से युक्त कार्यत्व हेतु के द्वारा क्षित्यङ्कुरादि में शरीरिकर्तृजन्यत्व की सिद्धि के बाद जब योग्यानुपलब्धि के द्वारा क्षित्यङ्कुरादि में शरीरिकर्तृजन्यत्व के बाध की प्रतीति होगी तो शरीरिकर्तृजन्यत्व साध्य से शरीरत्व रूप अंश को हटा कर (प्रमोष) कर केवल कर्तृजन्यत्व रूप साध्य की अनुमिति होगी । यह नियम नहीं है कि जिस रूप से साध्य की व्याप्ति हेतु में गृहीत रहे, उसी रूप से साध्य की अनुमिति हो, क्योंकि पर्वत में महानसीयवह्नि के अभाव के निश्चय के बाद वह्नित्व रूप से केवल धूम में व्याप्ति के ग्रहण से केवल वह्नि की 'पर्वतो वह्निमान्' इस आकार की अनुमित नहीं होती है, किन्तु 'महानसीयवह्नीतर-वह्निमान् पर्वत' इसी आकार की अनुमिति होती है ।

पञ्चमे त्वसमर्थविशेषणत्वम् । षष्ठेऽपि नागृह्यमाणविशेषया व्याप्त्या बाधः ।

शरीराजन्यत्वात्' इस अनुमान में (१) बाध एवं (२) अनैकान्तिक दोष हैं । (क्योंकि पक्ष के बोधक 'क्षित्यादि' पद से यदि क्षिति एवं अङ्कुर दोनों विवक्षित हैं, तो फिर बाध होगा, क्योंकि क्षिति एवं अङ्कुर एतदुभयगत द्वित्व ही पक्षतावच्छेदक होगा । इस द्वित्वावच्छेदेन 'अकार्यत्व' का अभाव निर्णीत है ।, क्योंकि अकार्यत्व यदि दोनों में रहेगा भी तो अलग अलग क्षितित्वावच्छेदेन एवं अङ्कुरत्वावच्छेदेन ही रहेगा । सुतराम् पक्षतावच्छेदकीभूत उक्त उभयत्वावच्छेदेन अकार्यत्व रूप साध्य का अभाव निर्णीत रहने के कारण प्रकृत में बाध दोष समझना चाहिये ।

यदि शरीराजन्यत्व हेतुक अकार्यत्व साध्यक अनुमान में केवल क्षिति ही पक्ष है, तो अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष होगा, क्योंकि अङ्कुर में शरीराजन्यत्व रूप हेतु है, किन्तु अकार्यत्व रूप साध्य निर्णीत नहीं है । अतः शरीराजन्यत्वहेतुक उक्त अनुमान से प्रकृत ईश्वरानुमान में स्वरूपासिद्धि दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता ।

(५) पञ्चमे तु ··· ··· ··· —

क्षत्यङ्कुरादि रूप पक्ष में शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा जो अकर्तृकत्व का साधन कर (क्षित्यङ्कुरादिकमकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्) ईश्वर के साधक प्रकृत अनुमान में बाध दोष का उद्भावन करना चाहते हैं, यह भी उचित नहीं है । क्योंकि उक्त अनुमान के शरीराजन्यत्व में 'शरीरांश' व्यर्थ है । अतः व्यर्थ विशेषण घटित 'शरीराजन्यत्व' हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है । इसलिये उसके द्वारा क्षित्यङ्कुरादि में अकर्तृकत्व की सिद्धि संभव नहीं है, अतः प्रकृत ईश्वरानुमान में कथित रीति से भी बाध दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता ।

(६) षष्ठे तु ··· ··· ··· ···

('परव्याप्तिस्तम्भनार्थम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा जो प्रकृत ईश्वरानुमान में) छठे प्रकार से बाध एवं सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन दिखलाया गया है' वह भी उचित नहीं है । क्योंकि उक्त दोनों दोषों के उद्भावन का मूल है शरीरघटित 'यत् यत् शरीराजन्यं तत्तदकर्तृकम्' इस विपरीत व्याप्ति के द्वारा 'यत् यत् कार्यं तत्तत् सकर्तृकम्' इस प्रकृत व्याप्ति का 'स्तम्भन' अर्थात् कार्य करने की अक्षमता ।

नागृह्यमाण — ··· ··· ···

प्रकृत व्याप्ति के द्वारा बाध इस लिये नहीं हो सकता कि दोनों ही व्याप्तियाँ बराबर बल की हैं । जिस प्रकार अकर्तृकत्व की व्याप्ति शरीराजन्यत्व में है, उसी प्रकार कर्तृजन्यत्व

न चागृह्यमाणविशेषव्याप्त्या गृह्यमाणविशेषायाः सत्प्रतिपक्षत्वम् । अस्ति च कार्यत्वव्याप्तेः पक्षधर्मतापरिग्रहो विशेषः । कर्ता शरीरी, विपरीतो न कर्तेति चाऽनयोस्तद्विरहः । ननु यत् बुद्धिमद्धेतुकं तच्छरीरहेतुकमिति नियमे

की व्याप्ति कार्यत्व में भी है । इस प्रकार सकर्तृकत्व और अकर्तृकत्व दोनों साध्यों की व्याप्तियाँ उनके अपने अपने दोनों हेतुओं में समान रूप से है । फिर एक साध्य की अनुमिति से दूसरी अनुमिति बाधित क्यों कर होगी ? जब तक शरीराजन्यत्व हेतु में अकर्तृकत्व रूप साध्य की व्याप्ति में सकर्तृकत्व एवं कार्यत्व की व्याप्ति से कोई 'विशेष' गृहीत नहीं होगा, तब तक 'विपरीत व्याप्ति' के प्रदर्शनमात्र से प्रकृत अनुमान बाधित नहीं हो सकता ।

न चागृह्यमाण ··· ··· ··· ··· कर्त्ता शरीरी ··· ··· ··· ···

एवं कथित 'शरीराजन्यत्व' हेतु से क्षित्यङ्कुरादि में अकर्तृकत्व के साधन के द्वारा प्रकृत ईश्वरानुमान में सत्प्रतिपक्ष का भी उद्भावन नहीं किया जा सकता । क्योंकि शरीराजन्यत्व हेतु में अकर्तृकत्व साध्य की जो व्याप्ति है, उसमें प्रकृत ईश्वरानुमान की उपयोगिनी 'यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकम्' इस व्याप्ति की अपेक्षा कोई 'विशेष' गृहीत नहीं है । अर्थात् दोनों हेतुओं में व्याप्ति रूप बल यद्यपि समान हैं । किन्तु शरीराजन्यत्व हेतु का क्षित्यादि पक्षों में रहना सन्दिग्ध है । फलतः इस हेतु में 'पक्षधर्मता' रूप बल सन्दिग्ध है । किन्तु कार्यत्व हेतु का क्षित्यादि पक्षों में रहना निश्चित है । अतः इस हेतु में 'पक्षधर्मता' निश्चित है । इस प्रकार दोनों हेतु समान बल के नहीं हैं, क्योंकि शरीराजन्यत्व हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता—हेतु के इन दोनों बलों में से व्याप्ति रूप एक ही बल निश्चित है, दूसरा पक्षधर्मता रूप बल निश्चित नही है । किन्तु प्रकृत ईश्वरानुमान के कार्यत्व हेतु में व्याप्ति एवं पक्षधर्मता—हेतु के ये दोनों बल निश्चित हैं । हेतु के समान बल से युक्त प्रतिहेतु के ही द्वारा सत्प्रतिपक्ष होता है, सो प्रकृत में नहीं है, अतः शरीरघटित विपरीतव्याप्ति के प्रदर्शन मात्र से प्रकृतानुमान में सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन नहीं किया जा सकता ।

पू० प० ननु यत् बुद्धिमद्धेतुकम् ··· ··· ··· ···

अकर्तृकत्व के साधक शरीराजन्यत्व हेतु में पक्षधर्मता का अनिश्चय दिखा कर उसे कार्यत्व से हीन बल का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'यत्कार्यं शरीरजन्यं भवति तद् बुद्धिमज्जन्यमपि भवत्येव' (अर्थात् जो कार्य शरीर से उत्पन्न होता है, उसे बुद्धि से युक्त पदार्थ की अपेक्षा अवश्य होती है) इस व्याप्ति के द्वारा यह नियम निष्पन्न होता है कि 'जिस कार्य की उत्पत्ति में शरीर की अपेक्षा न हो, उसकी उत्पत्ति में बुद्धि से युक्त पदार्थ की भी अपेक्षा कदापि नहीं होगी ।' इससे अनुमान किया जा सकता है कि 'क्षित्यङ्कुरादिकं

यच्छरीरहेतुकं न भवति तद्बुद्धिमद्धेतुकमपि न भवतीति विपर्ययनियमोऽपि स्यात्। तथा च पक्षधर्मताऽपि लभ्यत इति चेन्न।

गगनादेः सपक्षभागस्यापि सम्भवात्, केवलव्यतिरेकित्वानुपपत्तेः। अन्वये तु विशेषणासामर्थ्यात्। हेतुव्यावृत्तिमात्रमेव हि तत्र कर्तृव्यावृत्तिव्याप्तम्, न तु शरीर-रूपहेतुव्यावृत्तिरित्युक्तम्। व्याप्तश्च पक्षधर्म उपयुज्यते, न त्वन्योऽतिप्रसङ्गात्।

शरीराजन्यं बुद्धिमदजन्यत्वात्' (अर्थात् क्षित्यङ्कुरादि चूंकि बुद्धि से युक्त पदार्थ के द्वारा उत्पन्न नहीं होते है, अतः अवश्य ही शरीर से उत्पन्न नहीं होते)। इस अनुमान के द्वारा क्षित्यङ्कुरादि में शरीराजन्यत्व के निश्चित हो जाने पर सकर्तृकत्व के साधक कार्यत्व हेतु कर्त्तजन्यत्व के साधक शरीराजन्यत्व हेतु से अधिक बलशाली नहीं रह जाता। शरीराजन्यत्व हेतु में पक्षधर्मता रूप बल भी सिद्ध हो जाता है। अतः शरीराजन्यत्व हेतु क्षित्यङ्कुरादि में कर्त्रजन्यत्व साधन के द्वारा जो सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन किया गया है, सो अयुक्त नहीं है।

सि० प० न, गगनादेः ··· — — ···

दोनों हेतु समानबलशाली नहीं है, क्योंकि कर्त्रजन्यत्व के साधक शरीराजन्यत्व हेतु में पक्षधर्मता के रहते हुये भी वस्तुतः कर्त्रजन्यत्व रूप अपने साध्य की व्याप्ति ही नहीं है। इसमें यह हेतु है कि शरीराजन्यत्व हेतु केवलव्यतिरेकि नहीं हो सकता, क्योंकि शरीराजन्यत्व रूप हेतु कर्त्रजन्यत्व रूप अपने साध्य के साथ गगन रूप एक अधिकरण (सपक्ष) में निश्चित है। वही हेतु केवलव्यतिरेकि कहलाता है, जिसके साध्य का कोई निश्चित अधिकरण (सपक्ष) न हो। अतः शरीराजन्यत्व हेतु में केवलव्यतिरेकि व्याप्ति नहीं रह सकती। एवं शरीराजन्यत्व हेतु में कर्त्रजन्यत्व रूप साध्य की अन्वय व्याप्ति भी नहीं है। क्योंकि 'जो जो शरीरजन्य नहीं है, वे सभी कर्तृजन्य भी नहीं है' यही तो प्रकृत में अन्वयव्याप्ति होगी। इस व्याप्ति में शरीर रूप विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि प्रकृत व्याप्ति का यही स्वरूप पर्याप्त है कि 'जो किसी से भी जन्य नहीं है, वे सभी कर्तृजन्य भी नहीं हैं। सुतराम् अकर्तृकत्व की व्याप्ति केवल अजन्यत्व में ही है, शरीराजन्यत्व में नहीं। इस प्रकार शरीराजन्यत्व में जब अकर्तृकत्व की अन्वयव्याप्ति अथवा व्यतिरेकव्याप्ति इन दोनों में से कोई भी नहीं है, तो यदि उसमें पक्षधर्मता है भी, तथापि शरीराजन्यत्व में अकर्तृकत्व के साधन के उपयुक्त बल नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि व्याप्ति से युक्त जो 'पक्षधर्म' अर्थात् पक्षवृत्ति हेतु वही अनुमिति के लिये 'उपयोगी' है। केवल 'पक्षधर्म'

एतेन तद्व्यापकरहितत्वादिति सामान्योपसंहारस्यासिद्धत्वं वेदितव्यम्। न हि यद्व्यावृत्तिर्यदभावेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपसंहर्तुमशक्या, तत् तस्य व्यापकं नामेति।

(अर्थात् व्याप्ति से रहित पक्ष में विद्यमान हेतु) अनुमिति के लिये 'उपयोगी' नहीं है। अगर ऐसा माने तो 'ह्रदो वह्निमान् जलात्' इत्यादि स्थलों के हेतु से भी प्रमा अनुमिति की उत्पत्ति रूप 'अतिप्रसङ्ग' का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि उक्त हेतु में भी तो पक्षधर्मता है ही। तस्मात् सकर्तृकत्व रूप साध्य की व्याप्ति से शून्य क्षित्यादि पक्षों में रहनेवाले 'अर्थात् पक्षधर्मता से युक्त शरीराजन्यत्व' हेतु से प्रकृत ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता।

एतेन तद्व्यापकरहितत्वात् ··· ··· ··· —

(किसी का कहना है कि शरीराजन्यत्व हेतु से प्रकृत ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु भले ही सत्प्रतिपक्षित न हो, किन्तु 'तद्व्यापकरहितत्व' हेतु से क्षित्यादि में अकर्तृकत्व साधन के द्वारा वह सत्प्रतिपक्षित हो सकता है। इस विरोधी अनुमान का स्वारस्य यह है कि जितने भी पदार्थ किसी कर्त्ता से उत्पन्न होते हैं, वे सभी पदार्थ अवश्य ही शरीर से भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्व (कर्तृजन्यत्व) का व्यापक है, एवं सकर्तृकत्व शरीरजन्यत्व का व्याप्य है। यह अव्यभिचरित नियम है कि (जहाँ व्याप्य रहेगा, वहाँ व्यापक अवश्य रहेगा, इसके विपरीत) जहाँ व्यापकीभूत वस्तु का अभाव रहेगा, वहाँ व्याप्य का अभाव भी अवश्य रहेगा। इसी लिये जहाँ वह्नि नहीं रहता है, वहाँ धूम भी नहीं रहता। इस से यह स्पष्ट है कि जिन सभी स्थानों में शरीरजन्यत्व नहीं रहेगा (अर्थात् जो सभी पदार्थ शरीरजन्य नहीं होंगे) उन सभी स्थानों में कर्तृजन्यत्व का अभाव (अकर्तृकत्व) भी अवश्य रहेगा। क्षित्यंकुरादि में शरीरजन्यत्व नहीं है, अतः कर्तृजन्यत्व भी नहीं रहेगा। सुतराम् यह अनुमान हो सकता है कि 'क्षित्यादिकमकर्तृकं तद्व्यापकरहितत्वात् आकाशादिवत्' इस अनुमान के हेतुवाक्य में जो 'तत्' पद है, वह 'कर्तृजन्यत्व' का वाचक है। इस प्रकार सामान्यमुखी व्याप्ति के द्वारा वस्तुतः शरीराजन्यत्व रूप प्रति हेतु से ही प्रकृत ईश्वरानुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन किया जा सकता है) उन लोगों का भी समाधान 'न गगनादेः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा दिये गये समाधानों से हो जाता है।

चूँकि शरीरजन्यत्व में कर्तृजन्यत्व की व्यापकता ही नहीं है, अतः उक्त व्यापकत्व के बल पर जितनी भी बात कही जायगी, सभी गलत हो जायगी। क्योंकि जो जिसका

विशेषविरोधस्तु विशेषसिद्धौ सहोपलम्भेन, तदसिद्धौ मिथो धर्मिपरिहारानुपलम्भेन निरस्तो नाशङ्कामप्यधिरोहतीति ।

व्यापक होगा, वह (व्याप्य पदार्थ) उस व्यापकवस्तु से शून्य आश्रय में कभी नहीं रहेगा । जैसे कि धूम वह्नि से शून्य किसी अधिकरण में नहीं रहता है ।

प्रकृत में यह कहना है कि 'शरीरजन्यत्व' में 'कर्तृजन्यत्व' की व्यापकता नहीं है, किन्तु केवल 'अजन्यत्व' में ही 'कर्तृजन्यत्व' की व्यापकता है । आकाशादि पदार्थों में जो शरीराजन्यत्व एवं अकर्तृकत्व इन दोनों की नियमतः एकत्र स्थिति देखी जाती हैं, उसका प्रयोजक केवल 'अजन्यत्व' को ही स्वीकार करने में लाघव है । उसकी प्रयोजकता शरीराजन्यत्व में स्वीकार करना आनावश्यक है । अर्थात् आकाशादि चूँकि सर्वथा 'अजन्य' हैं, इसीलिये 'अकर्तृक' है । शरीर से अनुत्पन्न होने के नाते अकर्तृक नहीं हैं । इस प्रकार चूँकि शरीराजन्यत्व अकर्तृकत्व का प्रयोजक नहीं है, अतः शरीराजन्यत्व की व्यापकता भी नहीं है । अतः 'तद्व्यापकरहितत्व' हेतु के द्वारा भी प्रकृतानुमान का कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता ।

(इतने पर्यन्त के गद्य सन्दर्भ से श्लोक के आदि के दो चरणों की व्याख्या की गयी है) ।

सि० प० विशेष विरोधस्तु··· ··· ··· ···तृतीय चरण की व्याख्या

(अर्थात् जिस प्रकार यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकम्' यह व्याप्ति है, उसी प्रकार यत् यत् सकर्तृकं तत् तत् शरीरजन्यम्' यह व्याप्ति भी है । अतः क्षित्यंकुरादि में सकर्तृकत्व की सिद्धि भी होगी तो 'शरीरिकर्तृजन्यत्व' की ही सिद्धि होगी । किन्तु इस रीति से क्षित्यंकुरादि में प्राप्त 'शरीरिकर्तृजन्यत्व' प्रत्यक्ष से बाधित है, अतः इस प्रत्यक्षबाध के कारण क्षित्यंकुरादि में 'अशरीरिकर्तृजन्यत्व की सिद्धि ही प्राप्त है । इस प्रकार एक ही अनुमान से एक ही समय क्षित्यंकुरादि में 'शरीरिकर्तृजन्यत्व' एवं 'अशरीरिकर्तृजन्यत्व' ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म प्राप्त होंगे । इस 'विशेष विरोध' के कारण उक्त ईश्वरानुमान दुष्ट है । इस आक्षेप का समाधान यह है कि)——

उक्त 'विशेषविरोध' वस्तुतः क्षित्यादि के कर्त्ता से शरीरित्व एवं अशरीरित्व इन दोनों परस्पर विरुद्ध धर्मों की आपत्ति रूप ही है । इस प्रसङ्ग में प्रथमतः यह कहना है कि यदि एक ही कर्त्ता में एक ही समय 'शरीरित्व' एवं 'अशरीरित्व' इन दोनों धर्मों की सिद्धि हो सकती है, तो फिर ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध ही नहीं हैं । यदि एक कर्त्ता में एक समय शरीरित्व एवं अशरीरित्व इन दोनों धर्म उपलब्ध ही नहीं हैं, तथापि दोनों में परस्पर विरोध नहीं माना

स्यादेतत् । अस्ति तावत् कार्यस्यावान्तरविशेषो यतः शरीरिकर्तृकत्वमनुमीयते । तथा च तत्प्रयुक्तामेव व्याप्तिमुपजीवेत् कार्यत्वसामान्यमिति स्यात् ।

जा सकता । क्योंकि जिन सभी स्थानों में 'शरीरित्व' है, उन सभी स्थानों में अशरीरित्व नहीं है, यही है उन दोनों का 'विरोध'। अर्थात् जो कर्त्ता शरीरित्व का आश्रय है, वही कर्त्ता अशरीरित्व का आश्रय नहीं हो सकता, एवं जो कर्त्ता अशरीरित्व का आश्रय होगा, वह शरीरित्व का आश्रय नहीं हो सकता, इस प्रकार का नियत असमानाधिकरण्य रूप 'धर्मिप्रतिक्षेप' का अथवा आश्रयव्यावृत्ति का ज्ञान 'विरोध' के लिये आवश्यक है। प्रकृत में इस प्रकार के धर्मिप्रतिक्षेप (आश्रयव्यावृत्ति) की जब उपलब्धि नहीं है, तो फिर 'विरोध' की शंका ही ही व्यर्थ है।

पू० प० स्यादेतत् अस्ति तावत् ··· ··· ··· कारिका के चतुर्थचरण की व्याख्या

प्रकृत ईश्वरानुमान का 'कार्यत्व' हेतु चूँकि शरीरजन्यत्व 'उपाधि' से युक्त है, अतः व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होने के कारण उससे ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

शरीर के (अवच्छेदकत्व) सम्बन्ध से युक्त आत्मा में ही (शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही) कृति की उत्पत्ति होती है। कृति से युक्त आत्मा ही 'कर्त्ता' है। अतः जो कृतिजन्य होगा, वह शरीरजन्य भी अवश्य ही होगा। किन्तु क्षित्यङ्कुरादि ऐसे भी 'कार्य' हैं जो शरीरजन्य नहीं हैं। इस प्रकार 'कार्य' दो प्रकार के निष्पन्न होते हैं, एक शरीरजन्य जैसे कि घटादि, दूसरा शरीराजन्य जैसे कि अङ्कुरादि। अतः कर्तृजन्यत्व की व्याप्ति दोनों प्रकार के कार्यों में रहनेवाले कार्यत्व रूप सामान्य धर्म में नहीं है। कार्यत्व का 'अवान्तर' न्यूनवृत्तिधर्म जो घटत्वादि उसमें 'कर्तृत्व रूप सामान्य धर्म का अवान्तर धर्म जो शरीरिजन्यत्व' उसी की व्याप्ति है। अतः प्रकृत 'कार्यत्व' हेतु में शरीरजन्यत्व उपाधि है, क्योंकि साध्य है कर्तृजन्यत्व उसकी व्यापकता शरीरजन्यत्व में है, (क्योंकि जहाँ-जहाँ कर्तृजन्यत्व है, उन सभी स्थानों में शरीरजन्यत्व भी अवश्य है)। एवं कार्यत्व हेतु की अव्यापकता भी शरीरजन्यत्व में है (क्योंकि कार्यत्व है क्षित्यङ्कुरादि में, उनमें शरीरजन्यत्व नहीं है)।[1]

---

1. 'कार्यत्व सामान्य' धर्मरूप हेतु के द्वारा यदि क्षित्यादि में सकर्तृकत्व की सिद्धि होती, तभी यह कहा जा सकता था कि क्षित्यङ्कुरादि में चूँकि अस्मदादि रूप शरीरिकर्तृजन्यत्व ईश्वर में बाधित है अतः इस बाध के कारण क्षित्यङ्कुरादि में अशरीरिकर्तृजन्यत्व की सिद्धि होगी। वही अशरीरीकर्त्ता परमेश्वर नाम से प्रसिद्ध

न स्यात्, न हि विशेषोऽस्तीति सामान्यमप्रयोजकम्। तथा सति सौरभकटुत्वनीलिमाऽऽदिविशेषे सति न धूमसामान्यमग्निं गमयेत्। किं नाम साधकसामान्ये साध्यसामान्यमाश्रित्य प्रवर्तमाने तद्विशेषः साध्यविशेषव्याप्तिमाश्रयेत्।

न तु विशेषे सति सामान्यमकिञ्चित्करम्; तस्यापि विशेषान्तरापेक्षयाऽकिञ्चित्करत्वप्रसङ्गात्।

सि० प० न स्यात् ··· ··· ··· ···

कार्यत्व के व्याप्य घटत्वादि धर्मों में सकर्तृकत्व सामान्य का अवान्तर धर्म शारीरिकर्तृकत्व की व्याप्ति अवश्य है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कार्यत्व रूप सामान्यधर्म में सकर्तृकत्व रूप सामान्यधर्म की व्याप्ति नहीं है। जिन विशेष धर्मों में जिन विशेषधर्मों की व्याप्ति रहती है, उन दोनों प्रकार के विशेषों के दोनों सामान्यधर्मों में भी व्याप्यव्यापकभाव न रहे ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं हैं। प्रत्युत यही नियम है कि जिन दो प्रकार विशेषों में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव अथवा कार्यकारणभाव रहे, उन दोनों प्रकार के विशेषों के दोनों सामान्यधर्मों में भी व्याप्यव्यापकभाव अथवा कार्यकारणभाव अवश्य रहना चाहिये।

यदि ऐसा न मानें तो धूम से वह्नि साध्यक सर्वसिद्ध अनुमान का ही लोप हो जायगा। वह्नि से जितने भी धूम उत्पन्न देखे जाते हैं, उन में से प्रत्येक में अलग-अलग प्रकार के सुगन्ध-कटुत्व-नीलिमादि रूपों की उपलब्धि होती है। सुतराम् तत्तद्वह्नि से भिन्न-भिन्न प्रकार के ही धूमों की उत्पत्ति माननी होगी। इससे इतना ही निष्पन्न होगा कि तत्तद्धूम विशेष में तत्तद्वह्नि विशेष की व्याप्ति है। किन्तु धूम सामान्य में वह्नि सामान्य की व्याप्ति इससे निष्पन्न नहीं होगी। जिससे धूम सामान्य के द्वारा वह्निसामान्य का अनुमान अनुपपन्न हो जायगा।

अतः यही कहना होगा कि वह्निसामान्य धूमसामान्य का तो कारण है ही, किन्तु धूमसामान्य के वह्निसामान्य घटित सामग्री (कारणसमूह) के सम्वलन क्षण में जहाँ

हैं। कर्तृजन्यत्व जब वास्तव में शरीरिकर्तृजन्यत्व रूप ही है तो फिर कार्यत्व सामान्य में उसकी व्याप्ति ही नहीं रह सकती। उसकी व्याप्ति रहेगी शरीरीकर्ता से उत्पन्न कार्यों में रहनेवाले कार्यत्व में (जो कार्यत्व सामान्य का न्यूनवृत्ति है) उस कार्यत्व हेतु से तो शरीरिकर्तृजन्यत्व की ही सिद्धि होगी। जो कर्तृत्व अस्मदादि में अथवा इन्द्रादि में मान लेने से ईश्वर को न मानने से भी उपपन्न हो सकती है। अतः प्रकृत अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

सौरभादिविशेषं विहायापि धूमे वह्निर्दृष्टो, न तु विशेषं विहाय कार्यं कर्त्रेति चेन्न। कार्यविशेषा कारणविशेषे व्यवतिष्ठते, न तु कार्यकारणसामान्ययोः प्रतिबन्धमन्यथाकुर्यादिति। किं न दृष्टं कार्यं कारणमात्रे, अंकुरो बीजे, तद्विशेषो धान्ये, तद्विशेषः शालौ, तद्विशेषः कलमे इत्यादि बहुलं लोके।

गुग्गुल प्रभृति विशेष कारणों का सामीप्य प्राप्त होता है—वहाँ विशेषकारणों से युक्त उक्त सामान्य कारण से ही सुगन्धियुत-वर्णविशेषयुक्त एवं कटुत्वादि के तारतम्य से युक्त विभिन्न प्रकार के विशेष धूमों की उत्पत्ति होती है। इससे यह निष्पन्न नहीं होता कि वह्नि सामान्य धूमसामान्य का कारण नहीं है अथवा धूमसामान्य में वह्नि सामान्य की व्याप्ति नहीं है।

यदि विशेष विशेष में व्याप्यव्यापकभाव, अथवा कार्यकारणभाव न रहे तो जिन विशेष धर्मों में परस्पर कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव मान कर सामान्यकार्यकारणभाव अथवा सामान्यव्याप्यव्यापकभाव का खण्डन करना चाहते हैं, उन विशेष धर्मों में भी परस्पर व्याप्यव्यापकभाव अथवा कार्यकारणभाव स्थिर न रह सकेंगे, क्योंकि उन विशेष धर्मों के भी तो अवान्तर विशेषधर्म है, जिनकी अपेक्षा वे 'विशेषधर्म' सामान्यधर्म ही है। इस प्रकार 'विशेषावान्तरविशेष' फलत अन्तिम विशेष रूप दो व्यक्तियों में ही व्याप्यव्यापकभाव अथवा कार्यकारणभाव मात्र की स्थिति का खण्डन प्रथम स्तवक में कर चुके हैं। तस्मात् कार्यत्व के व्याप्य घटत्वादि विशिष्ट में शारीरिकर्तृजन्यत्व है, केवल इसीलिये कार्यसामान्य में सामान्यतः कर्तृजन्यत्व का व्याघात नहीं हो सकता।

पू० व० सौरभादिविशेषम् ··· ··· ··· ···

(सौरभादि विशेषों से हीन धूम विशेष की उत्पत्ति भी वह्नि से देखी जाती है। अतः धूम विशेष और वह्निविशेष में जो कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव है—उससे भिन्न धूम सामान्य और वह्निसामान्य में भी कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव मानना पड़ता है। किन्तु कार्यत्व रूप सामान्य के विशेष घटत्वादि धर्मो से रहित न कोई कार्य ही देखते हैं, एवं शरीरित्व स्वरूप विशेष से रहित न किसी कर्त्ता को ही देखते हैं—ऐसी स्थिति में कार्यत्व के विशेष जो घटत्वादि धर्म एवं शरीरित्वादि विशेष से युक्त जो कर्तृत्वादि धर्म इन दोनों रूपों से कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव से अतिरिक्त कर्तृत्व सामान्य एवं कार्यत्व सामान्य इन दोनों रूपों से भी अतिरिक्त कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव की कल्पना व्यर्थ है, इस आक्षेप का समाधान यह है कि—)

सि० प० न, कार्यविशेष ··· ··· ··· ···

विशेष कारण के सम्बलन से (एकत्र होने से) विशेष कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है, किन्तु इससे कार्यसामान्य एवं कारणसामान्य में जो 'प्रतिबन्धि' अर्थात् व्याप्ति है,

क वा दृष्टमणुद्रव्यारब्धं द्रव्यं नित्यरूपाद्यारब्धं रूपादि, तथापि सामान्य-व्याप्तेरविरोधात्सिद्धयत्येव। अवश्यञ्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा कार्यत्वस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।

उसमें कोई 'अन्यथा' नहीं हो सकती। लोक में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं कि सामान्य कारण से सामान्य कार्य होता है, एवं उसी सामान्य के विशेष स्वरूप कारण के रहने पर विशेष प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे केवल बीज के रहते केवल अङ्कुर की उत्पत्ति होती है। एवं बीजत्व रूप सामान्य के अवान्तर धान्यत्व जाति के बीज के रहने पर 'धन्याङ्कुर' स्वरूप विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है। एवं धान्य सामान्य के विशेष शालि के बीज के रहने से शाल्यङ्कुर रूप विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है। एवं शालि विशेष कलम के बीज के रहने से कलमाङ्कुर की उत्पत्ति होती है। अतः विशेष कार्यकारणभाव के रहते सामान्यकार्यकारणभाव में कोई बाधा नहीं है।

क्व वा ··· ··· ··· ···

(इस कथित बीजाङ्कुर स्थल में किसी बाधक के न रहने से सामान्यकार्यकारण-भाव एवं विशेषकार्यकारणभाव दोनों ही स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु प्रकृत में कार्य सामान्य के प्रति कर्तृसामान्य को कारण मानने में 'ज्ञानमनित्यमेव' कर्ता शरीरी एव; इत्यादि अनेक प्रकार के प्राथमिक बाध बाधक रूप में उपस्थित होंगे। 'ज्ञानमनित्यमेव' इस बाध से नित्यज्ञान बाधित होगा, जिससे अनित्यज्ञान से युक्त अस्मादि रूप कर्ता से विलक्षण नित्यज्ञान से युक्त परमेश्वर रूप कर्ता बाधित होंगे। परिणाम में प्रकृत कार्यत्व लिङ्गक अनुमान से भी उक्त बाध के कारण अनित्यज्ञान विशिष्ट कर्ता की ही सिद्धि होगी।

इसी प्रकार 'कर्ता शरीरी एव' इस बाध से अशरीरी कर्ता का बाध होगा। जिससे क्षत्यङ्कुरादि में भी शरीरिकर्तृजन्यत्व की ही सिद्धि होगी। अतः प्रकृत ईश्वरानुमान से अस्मदादि से विलक्षण अशरीरी नित्यज्ञान से युक्त कर्ता रूप परमेश्वर की सिद्धि न होकर शरीरी एवं अनित्यज्ञान से युक्त अस्मदादि के सदृश कर्ता की ही सिद्धि होगी, नित्यज्ञान से युक्त अशरीरी परमेश्वर की नहीं। इस आक्षेप का समाधान यह है कि; आँखों से दश-बीस सौ या हजार स्थानों के विपरीत दर्शन से युक्ति के द्वारा उपपन्न कार्यकारणभाव का खण्डन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा हो तो फिर परमाणु एवं चक्षुरादि इन्द्रियों की सत्ता ही लुप्त हो जायगी। क्योंकि महान् अवयवियों का प्रत्यक्ष होता है, उन सभी अवयवियों को सभी स्थानों में महत्परिमाण से युक्त अवयवों के द्वारा ही उत्पन्न होते देखा जाता है। इससे यह व्याप्ति निर्णीत हो सकती है कि "अवयवो महानेव" अर्थात् महत्परिमाण

से युक्त द्रव्य ही किसी अवयवी के अवयव हो सकते हैं। इस व्याप्ति के द्वारा अणुपरिमाण से युक्त परमाणु रूप द्रव्य बाधित हो जायगा।

एवं महत्परिमाण से युक्त द्रव्यों के रूप ही तो देखे जाते हैं। दीख पड़ने वाले घटादिगत सभी रूपों की उत्पत्ति कपालादि अवयवों में रहनेवाले अनित्य रूपों से ही देखी जाती है। इससे यह नियम किया जा सकता है कि 'रूपमनित्यरूपारब्धमेव' (अर्थात् रूप की उत्पत्ति अनित्य रूपों से ही होती है)। ऐसा होने पर जलादि परमाणुओं में रहनेवाले नित्यरूपों से रूप की उत्पत्ति बाधित हो जायगी। फलतः नित्य रूप की सत्ता ही बाधित हो जायगी।

तस्मात् जिस प्रकार सैकड़ों स्थानों में घटादि द्रव्यों को महत्परिमाण से युक्त कपालादि द्रव्यों के द्वारा ही उत्पन्न देखे जाने पर भी अणुपरिमाण से युक्त परमाणु रूप द्रव्यों के द्वारा द्वयणुक रूप द्रव्य की उत्पत्ति बाधित नहीं होती है, एवं घटादि द्रव्यों में रहनेवाले रूपों की उत्पत्ति शतशः सहस्रशः अनित्य रूप से ही होने पर भी जलादि के परमाणुओं में रहनेवाले नित्य रूपों से ही जलादि के द्वयणुओं में रहनेवाले रूपों की उत्पत्ति बाधित नहीं होती है, उसी प्रकार 'कर्ता शरीरी एव' एवं 'ज्ञानमनित्यमेव' इत्यादि केवल प्रत्यक्षमूलक नियमाभासों से अशरीरी एवं नित्यज्ञान से युक्त 'कर्ता' बाधित नहीं हो सकते। अतः विशेष कार्यकारणभावों के रहने पर भी 'यत्-यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकम्' यह सामान्य-व्याप्ति अवश्य रहेगी।

एवं ऐसा स्वीकार करना आवश्यक भी है 'अन्यथा' कार्य सामान्य 'आकस्मिक' हो जायगा।[1]

---

१. जिस प्रकार अन्य कारणों में कार्य के अन्वय के समान ही कार्य का व्यतिरेक भी है, उसी प्रकार कर्ता रूप कारण में भी कार्य का व्यतिरेक भी है : अर्थात् जिस प्रकार अन्य कारणों के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार कर्ता रूप कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। प्रत्युत कर्ता के न रहने पर अन्य कारणों के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। क्योंकि अन्य कारणों का उपयुक्त रूप से संचालन कर्ता के ही अधीन है, अतः 'कार्य सामान्य विना कर्ता के ही उत्पन्न होता है' इसका पर्यवसान 'कार्य सामान्य विना कारण के ही उत्पन्न होता है' इसी में होता है। इस प्रकार बिना कारण के ही कार्य समान्य की उत्पत्ति ही कार्य सामान्य का 'आकस्मिकत्व' है। किन्तु यह इष्ट नहीं है। अतः कार्यसामान्य का कर्तृसामान्य की व्याप्ति उपाधि से रहित है। अतः प्रकृत ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नहीं है।

स्यादेतत्। अन्वयव्यतिरेकि तावदिदं कार्यत्वमिति परमार्थः। तत्राऽऽकाशादेर्विपक्षात् किं कर्तृव्यावृत्तेः कार्यत्वव्यावृत्तिराहोस्वित् कारणमात्रव्यावृत्तेरिति सन्दिह्यते। तदसत्। कर्तुरपि कारणत्वात्। कारणेषु चान्यतमव्यतिरेकस्यापि कार्यानुत्पत्तिं प्रति प्रयोजकत्वात्।

पू० प० अन्वयव्यतिरेकि ... ...

प्रकृत ईश्वरानुमान का 'कार्यत्व' हेतु चूँकि 'अन्वयव्यतिरेकी' है; अतः सपक्ष में हेतु के जरिये (हेतु प्रयुक्त) उसके साध्य की सत्ता, एवं विपक्ष में साध्याभाव के जरिये (साध्याभाव प्रयुक्त) हेत्वभाव की सत्ता का निर्णय आवश्यक है। प्रकृत कार्यत्व हेतु प्रयुक्त साध्य की सत्ता निर्णीत है सपक्ष घटादि में। घटादि चूँकि कार्य हैं, इसीलिये सकर्त्तृक हैं। इस प्रकार विपक्ष गगनादि में जो कार्यत्व हेतु रूप हेतु का अभाव है, उसकी प्रयोजकता सकर्त्तृकत्वाभाव रूप साध्याभाव में निर्णीत नहीं है। गगन में कार्यत्व का अभाव अवश्य है; किन्तु सन्देह बना हुआ है कि गगन में जो कार्यत्व का अभाव है, उसका प्रयोजक सकर्त्तृकत्वाभाव है? (अर्थात् गगन का किसी कर्त्ता से उत्पन्न न होना है) अथवा गगन का कारण मात्र की व्यावृत्ति' है? (अर्थात् गगन का किसी भी कारण से उत्पन्न न होना है?) इस प्रकार के सन्देह के रहते गगन रूप विपक्ष में जो कार्यत्व रूप हेतु का अभाव है, उसकी प्रयोजकता सकर्त्तृकत्वाभाव रूप साध्याभाव में निर्णीत नहीं हो सकती।

प्रकृत कार्यत्व हेतु चूँकि अन्वयव्यतिरेकी है, अतः इसमें जबतक साध्य की अन्वय व्याप्ति एवं व्यतिरेक व्याप्ति दोनों नहीं रहेगी, तबतक वह अनुमिति के लिये उपयोगी नहीं हो सकेगी। अन्वयव्याप्ति के रहते हुये भी व्यतिरेक व्याप्ति की असत्ता का प्रतिपादन किया जा चुका है। सुतराम् कार्यत्व हेतु से क्षित्यङ्कुरादि कार्यों में सकर्त्तृकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

सि० प० तदसत्, कर्त्तुरपि ... ...

यदि गगनादि में रहने रहने वाले कार्यत्वाभाव का प्रयोजक गगनादि का किसी भी कारण से उत्पन्न न होना ही हो (अर्थात् गगनादि निष्ठ कार्यत्वाभाव का प्रयोजक कारण मात्राजन्यत्व ही हो) तथापि उक्त प्रयोजकता कारण विशेष के अभाव में भी अवश्य ही रहती है। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति कारणों के समूह (सामग्री) से होती है। सामग्री के अन्तर्गत किसी एक कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। सामग्री के अन्तर्गत दो अथवा उससे अधिक कारणों के न रहने पर तो कार्य की अनुत्पत्ति की बात ही

अन्यथा कारणत्वव्याघातात्, कारणादिविशेषव्यतिरेकसन्देहप्रसङ्गाच्च। कथं हि निश्चीयते किमाकाशात् कारणव्यावृत्त्या कार्यत्वव्यावृत्तिः, उत करणव्यावृत्त्या? एवं किमुपादानव्यावृत्त्या, किमसमवायिव्यावृत्त्या, किं निमित्तव्यावृत्त्येति। कार्यत्वात्करणमुपादानमसमवायि निमित्तं वा बुद्धयादिषु न सिद्धयेत्।

क्या है? जिसके न रहने पर भी जिस कार्य की उत्पत्ति हो, वह उस कार्य का कारण ही नहीं है। कर्त्ता भी उसी सामग्री के अन्तर्गत एक कारण है। अन्य सभी कारणों के रहने पर भी यदि कर्त्ता रूप कारण न रहे, तथापि कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः गगन में जो कार्यत्व का अभाव है, उसका प्रयोजक यदि गगन का किसी कर्त्ता से उत्पन्न न होने को अर्थात् सकर्तृकत्वाभाव को ही मान लें, तो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होगी।

अन्यथा ··· ··· ··· ···

यदि ऐसा मानें अर्थात् गगनादि में रहने वाले कार्यत्व के अभाव को यदि गगनादि का किसी भी कारण से उत्पन्न न होने (कारण सामान्याभाव) को ही स्वीकार करें, तो गगन के ही सम्बन्ध में ये सन्देह उपस्थित होंगे कि 'करणत्व' चूंकि कारणत्व सामान्य का अवान्तर (व्याप्य) धर्म है, अतः 'करण' के अभाव से (करणाभाव प्रयुक्त) भी कार्याभाव होता है, अतः गगन किसी 'कारण से उत्पन्न नहीं है, इसीलिये 'अकार्य' है? (गगननिष्ठ कार्यत्वाभाव कारणसामान्याभाव प्रयोज्य है? अथवा करणसामान्याभाव प्रयोज्य है?)

इसी प्रकार ये सन्देह भी हो सकते हैं कि—(१) गगन निष्ठ कार्यत्वाभाव का प्रयोजक उपादानकारण का अभाव है? अथवा कारण सामान्य का अभाव है? (२) गगन निष्ठ कार्यत्वाभाव का प्रयोजक असमवायि कारण का अभाव है? अथवा कारण सामान्य का अभाव है? (३) अथवा गगन में रहने वाले कार्यत्वभाव का प्रयोजक निमित्त कारण का अभाव है? अथवा कारण सामान्य का अभाव है?

कार्यत्व में जब प्रत्येक कारण की व्याप्ति है, तो फिर कार्यत्वाभाव की प्रयोजकता प्रत्येक कारण के अभाव में माननी ही होगी।

यदि कार्यत्व में कारण सामान्य की ही व्याप्ति स्वीकार करें तो (वह घटादि की कारणता का प्रयोजक प्रत्यक्षात्मक अन्वयव्यतिरेक से भी जाना जा सकता है)। किन्तु 'बुद्धि प्रभृति कार्यों का कोई कारण अवश्य है' केवल इतने से ही 'बुद्धि प्रभृति का कोई उपादान कारण अवश्य है, अथवा असमवायिकारण अवश्य है, अथवा निमित्त कारण अवश्य है' इस प्रकार का अवधारण नहीं किया जा सकता। तस्मात् कार्यत्व में कार्यत्व सामान्य के अवान्तर उपादानत्व, असमवायिकारणत्व, एवं निमित्तकारणत्वादि' से युक्त उपादानादि

कर्तुः कारणत्वे सिद्धे सर्वमेतदुचितम्, तदेव त्वसिद्धमिति चेत्; किं पटादौ कुविन्दादिरकारणमेव कर्ता, प्रस्तुते वोदासीन एव साधयितुमुपक्रान्तः ?। तस्माद्यत्किञ्चिदेतदपीति।

ननु कर्ता कारणानामधिष्ठाता साक्षाद्वा शरीरवत्, साध्यपरम्परया वा दण्डादिवत् ?। तत्र न पूर्वः, परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसङ्गात्।

प्रत्येक कारण की व्याप्ति है। इस प्रकार उपादानादि प्रत्येक कारण कार्यत्व का व्यापक है। व्याप्याभाव में व्यापकाभाव की प्रयोजकता प्रसिद्ध है। अतः प्रत्येक कारण का अभाव कार्य के उत्पन्न न होने का प्रयोजक है। कारणों में निमित्तकारण रूप कर्त्ता भी हैं। अतः कार्यत्व सामान्याभाव का प्रयोजक अकर्त्तृकत्व भी हो सकता है। इस लिये गगननिष्ठ कार्यत्वाभाव को सकर्त्तृकत्वाभाव प्रयोज्य मानने में कोई बाधा नहीं है। कार्यत्व हेतु में सकर्त्तृकत्व रूप साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति भी है। सुतराम् उक्त आक्षेप सङ्गत नहीं है।

पू० प० कर्त्तुः कारणत्वे ··· — ···

ये सभी बातें तभी ठीक हो सकती है, जब कि कर्त्ता भी कार्यों का एक कारण हो। अर्थात् तभी यह कहना ठीक हो सकता है कि सकर्त्तृकत्व चूँकि कार्यत्व हेतु का व्यापक है, अतः गगनादि विपक्षों में रहने वाले कार्यत्वाभाव (हेत्वभाव) सकर्त्तृकत्व रूप व्यापक (साध्य) के अभाव प्रयोज्य है, किन्तु 'कर्त्ता कारण है' यही तो सिद्ध नहीं है।

सि० प० किं पटादौ ··· — ··· ···

कुविन्दादि पटादि कार्यों के कर्त्ता तो हैं, किन्तु वे 'कारण' नहीं हैं' क्या यही कहना चाहते हो ? अर्थात् पटादि के तन्तु प्रभृति अन्यकारणों के समान ही जब कुविन्दादि कर्त्ताओं में भी कार्यों का अन्वय और व्यतिरेक दोनों है, तो फिर कर्त्ता भी कार्यों का एक कारण अवश्य है। यह मान कर ही मैंने कार्यत्व हेतुक उक्त ईश्वरानुमान का प्रयोग किया है।

पू० प० ननु कर्त्ता ··· ··· — ···

कारणों का अधिष्ठाता ही 'कर्त्ता' कहलाता है। कर्त्ता की ही बुद्धि एवं प्रयत्न से अन्य सभी कारण संचालित होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं। कर्त्ता में कार्यों का यह अधिष्ठातृत्व (१) साक्षात् एवं (२) परम्परा भेद से दो प्रकार के हैं।

(१) प्रयत्न से युक्त आत्मा के संयोग रूप असमवायिकारण के द्वारा उत्पन्न क्रिया का उत्पादक कर्त्ता उस कार्य के कारणों का साक्षात् अधिष्ठाता है। जैसे अपने शरीर

न द्वितीयः, द्वाराभावात्। न हि कस्यचित् साक्षादधिष्ठेयस्याऽभावे परम्परया अधिष्ठानं सम्भवति ।

का अधिष्ठाता अपनी आत्मा है। शरीर में जो चेष्टा रूप क्रिया उत्पन्न होती है, उसका कारण है 'प्रयत्नवदात्मसंयोग'। क्या क्षित्यादि कार्यों का ईश्वर साक्षाद् अधिष्ठाता है, जैसे कि शरीर का आत्मा का अधिष्ठाता है ?[1]

(२) कर्त्ता में परम्परया अधिष्ठातृत्व वहाँ होता है, जहाँ शरीर की क्रिया के साहाय्य से कर्त्ता क्रिया का कारण होता है। जैसे कि दण्डादि कारणों के अधिष्ठाता कुलालादि हैं। क्या ईश्वर में क्षित्यादि के उत्पादक कारणों का यह द्वितीय प्रकार का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करते हैं ?

नैयायिकों की सृष्टि प्रक्रिया यह है कि सृष्टि से पहिले पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारो द्रव्यों के परमाणु ही थे। एवं आकशादि अन्य नित्य पदार्थ भी थे। इस स्थिति में प्राणियों के कर्मों की भोगजनकता के उद्बोधन, एवं प्रयत्न से युक्त ईश्वर का परमाणु के साथ संयोग, इन दोनों से दो परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न हुई। उन दोनों परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अनन्त द्वयणुकों की उत्पत्ति के बाद त्रसरेणु आदि क्रम से महती पृथिवी एवं महान् जलादि की उत्पत्ति हुई। इस रीति से ज्ञात होता है कि परमाणुओं में क्रिया के उत्पादन में ईश्वर किसी अन्य शरोर का साहाय्य ग्रहण नहीं करते हैं है। अतः ईश्वर में क्षित्यादि के उत्पादक कारणों का साक्षात् अधिष्ठातृत्व ही सम्भव है। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर परमाणुओं को ही ईश्वर का शरीर मान लेना होगा। क्योंकि किसी शरीर की अपेक्षा के बिना ही वे (परमाणु) क्रिया के आश्रय हैं।

द्वितीय प्रकार का (परम्परया) अधिष्ठातृत्व तो परमेश्वर में सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उसके लिये मध्य में किसी द्वार का रहना आवश्यक है, सो प्रकृत में कोई नहीं है।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि क्रिया का असमवायिकारण संयोग अथवा विभाग इन्हीं दोनों में से कोई हो सकता है। चेष्टा रूप क्रिया का उन दोनों में से भी संयोग ही असमवायिकारण हो सकता है, विभाग नहीं। चेष्टा की उत्पत्ति की रीति यह है कि पहिले चेष्टानुकूल प्रयत्न आत्मा में उत्पन्न होता है। फिर उस प्रयत्न से युक्त आत्मा का संयोग शरीर के साथ होता है। (शरीर के साथ केवल आत्मा का संयोग तो बराबर है ही, किन्तु आत्मा में प्रयत्न तो सर्वदा नहीं रहता। अतः प्रयत्न की उत्पत्ति के बाद ही शरीर में प्रयत्नवदात्मसंयोग रह सकता है)। उसके बाद शरीर में चेष्टा रूप क्रिया की उत्पत्ति होती है। यहाँ आत्मा साक्षात् ही चेष्टा के कारणों का अधिष्ठाता है।

तदयं प्रमाणार्थः—परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः, शरीरेतरत्वात्। यत्पुनः साक्षादधिष्ठेयं न तदेवं, यथाऽस्मच्छरीरमिति।

साक्षात् अधिष्ठेय जब कोई दूसरे शरीरादि हों, तभी परम्परया कर्त्तृत्व ईश्वर में (किसी भी प्रकार का अधिष्ठातृत्व कर्त्तृत्व) संभव हो सकता है, अतः यह संभव नहीं है।

पू० प० तदयम् ··· ··· ··· परमाण्वादयः ··· ··· ··· सत्प्रतिपक्षोद्भावन)

(उक्त वस्तु स्थिति के अनुसार प्रकृत ईश्वरानुमान के विरोधी ये सभी अनुमान प्रस्तुत होते हैं।)

(१) परमाणु प्रभृति किसी चेतन अधिष्ठाता के अधिष्ठेय नहीं हैं, क्योंकि परमाणु आदि शरीर स्वरूप नहीं हैं। शरीर से भिन्न वस्तु चेतन अधिष्ठाता का साक्षात् अधिष्ठेय नहीं होते। जैसे कि हम लोगों का शरीर किसी अधिष्ठाता साक्षात् अधिष्ठेय नहीं है।

इस अनुमानों से परमाणुओं से जब किसी साक्षात् अधिष्ठाता का अधिष्ठेयत्व निवृत्त हो जायगा, तो फिर परमाणुओं को सृष्टि की आदिकालिक क्रियाओं में ईश्वरकर्त्तृकत्व की सिद्धि रूक जायगी। जिससे क्षित्यादि पक्षक कार्यत्व हेतुक प्रकृत ईश्वरानुमान भी प्रतिरुद्ध हो जायगा।[1] इस प्रकार प्रकृत अनुमान 'प्रतिपीड़ा' से ही सही सत्प्रतिपक्षित हो जाता है।

---

1. 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार होती है कि सभी कार्य जब 'सकर्त्तृक' हैं अर्थात् चेतन के द्वारा साक्षात् अधिष्ठित कारणों से उत्पन्न होते हैं, तो फिर दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से जो क्षित्यादि की उत्पत्ति होगी, उसमें कारणीभूत दोनों परमाणुओं में रहने वाली क्रियादि की उत्पत्ति भी किसी चेतन में रहने वाले प्रयत्न से ही माननी होगी। जिस चेतनगत प्रयत्न से उन क्रियादि की उत्पत्ति होगी, वही चेतन उन कारणों के अधिष्ठाता होंगे। एवं उसी अधिष्ठाता पुरुष के अधिष्ठेय परमाणु होंगे। यदि परमाणुओं में चेतनाधिष्ठितत्व खण्डित हो जाता है, तो वे चेतन अधिष्ठाता सुतराम् खण्डित हो जाते हैं।

इस प्रकार यह अनुमान प्रकृत ईश्वरानुमान का विरोधी होने के कारण 'प्रतिपक्षानुमान' है, एवं प्रकृत 'कार्यत्व' सत्प्रतिपक्षित होता है। किन्तु उक्त प्रतिपक्षानुमान में सत्प्रतिपक्ष का प्रकृत लक्षण घटित नहीं होता है, क्योंकि उसके लिये आवश्यक है कि 'स्थापना' अनुमान के पक्ष में ही स्थापनानुमान के साध्य के अभाव का किसी दूसरे हेतु के द्वारा प्रतिपक्षानुमान हो। जैसे 'क्षित्यादिकं अकर्त्तृकं शरीराजन्यत्वात्' इस प्रतिपक्षानुमान का प्रयोग दिखला आये हैं। प्रकृत

नापि परम्परया अधिष्ठेयाः, स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वात्, स्वचेष्टायाम स्मच्छरीरवत्। व्यतिरेकेण वा दण्डाद्युदाहरणम्। एवं क्षित्यादि न चेतनाधिष्ठितहेतुकं-शरीरेतरहेतुकत्वादित्यतिपीडया सत्प्रतिपक्षत्वम्।

पू० न० नापि परम्परया ··· ··· ··· ··· (सत्प्रतिक्षोद्भावनम्)

(२) (इस अनुमान वाक्य का स्वारस्य यह है कि परमाणु परम्परा से भी चेतन अधिष्ठाता के अधिष्ठेय नहीं हैं, क्योंकि वे अपने व्यापार के उत्पादन में अर्थात् स्वगत क्रिया के उत्पादन में किसी शरीर की अपेक्षा नहीं रखते। जैसे कि मेरा शरीर स्वगत चेष्टा रूप क्रिया के उत्पादन में किसी दूसरे शरीर की अपेक्षा नहीं रखता (अन्वय उदाहरण)। अथवा जितने परम्परा चेतन के अधिष्ठेय होते हैं, वे सभी स्वगत कार्यानुकूल क्रिया के उत्पादन में किसी शरीर की अपेक्षा अवश्य रखते है। जिस प्रकार दण्डादि में तब तक कोई भी कार्यानुकूल क्रिया उत्पन्न नहीं होती है, जबतक कि कुलाल के शरीर का साहाय्य उसे प्राप्त नहीं होता। परमाणुओं की क्रिया में किसी शरीर की अपेक्षा नहीं होती, अतः वे परम्परा से भी चेतनाधिष्ठित नहीं हैं। (ये दोनों क्षित्यादि के मूलकारणीभूत परमाणुपक्षक अनुमान हैं। आगे क्षित्यादि कार्यपक्षक ही विरोधी तीसरा अनुमान दिखलाया गया है)।

पू० प० एवं क्षित्यादि ··· ··· ··· ···

(३) (इस अनुमानवाक्य का स्वारस्य यह है कि) क्षित्यादि के उत्पादक कारण समूह (सामग्री) में चूँकि शरीर नहीं है, अतः समझते हैं कि क्षित्यादि कार्यों के उत्पादक समूह का कोई चेतन अधिष्ठाता नहीं है। (अतः क्षित्यादि चेतनाधिष्ठित हेतुक नहीं हैं)। इसलिये क्षित्यादि शरीरेतर कारणों से उत्पन्न होते हैं। जितने भी कार्य चेतन से अधिष्ठित कारणों उत्पन्न होते है, वे सभी शरीर से युक्त कारण समुदाय से भी अवश्य ही उत्पन्न होते हैं। (अर्थात् उनके उत्पादन में शरीर का उपयोग अवश्य होता है। जैसे कि घटादि कार्य। तस्मात क्षित्यादि कार्य चूँकि शरीरघटित सामग्री से नहीं उत्पन्न होते हैं, अतः वे

प्रतिपक्षानुमान का साध्य सकर्तृकत्व रूप प्रकृत साध्य के अभाव स्वरूप नहीं है। अतः लक्षण के अनुसार प्रकृत प्रतिपक्षानुमान से सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन नहीं हो सकता। फिर भी स्थापनानुमान का प्रतिपक्षत्व रूप सत्प्रतिपक्षत्व का प्रयोजन स्वरूप प्रधानधर्म प्रकृत प्रतिपक्षानुमान में भी है, अतः वह भी सत्प्रतिपक्ष कहला सकता है। अतः सन्दर्भ के उपसंहार में आचार्य ने 'अतिपीडया सत्प्रतिपक्षत्वम्' यह वाक्य लिखा है।

अपि च—पटादौ कुविन्दादेः किं कारकाधिष्ठानार्थमपेक्षा तेषामचेतनानां स्वतोऽप्रवृत्तेः, आहो कारकत्वेन ?। न पूर्वः, तेषां परमेश्वरेणैवाधिष्ठानात्। न ह्यस्य ज्ञानमिच्छा प्रयत्नो वा वेमादीन् न व्याप्नोतीति सम्भवति। न चाधिष्ठितानामधिष्ठात्रन्तरापेक्षा, तदर्थमेव। तथा सत्यनवस्थानादेवाऽविशेषात्।

उन कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं जिनका अधिष्ठाता कोई चेतन हैं (चेतनाधिष्ठित हेतुक नहीं हैं)। इस प्रकार क्षित्यादि कार्यों की उत्पादिका सामग्री के चेतन अधिष्ठाता की असिद्धि हो जाने पर प्रकृत अनुमान से ईश्वरसिद्धि की आशा नहीं की जा सकती। (ये तीनों ही अनुमान सत्प्रतिपक्ष लक्षण के अनुसार सत्प्रतिक्षोद्भावक नहीं हैं, किन्तु 'अर्थतः' सत्प्रतिपक्षों द्भावक हैं, अतः 'प्रतिपीड़या सत्प्रतिपक्षत्वम्' यह वाक्य लिखा गया है। इसकी युक्ति प्रथम अनुमान की व्याख्या में लिख आये हैं)।

पू० प० अपि च ... ...(सिद्ध साधन दोषोद्भावन की भूमिका)

(सभी कार्यों का कर्त्ता ईश्वर को मान लेने पर) पटादि कार्यों में कुविन्दादि कर्त्ताओं की अपेक्षा क्यों होती है ? इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं (पटादि के जो तन्तु प्रभृति अन्य कारण हैं वे सभी अचेतन हैं, उन सबों को पटादि कार्यों के उपयुक्त रूप से संचालित होने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। अतः उन अचेतन कारणों को उपयुक्त रूप से व्यापृत करने के लिये किसी चेतन की आवश्यकता है, वे ही चेतन हैं कुविन्दादि कर्त्ता। अथवा (२) जैसे कि पटादि के तन्तु प्रभृति अचेतन पदार्थ कारक हैं, वैसे ही कुविदादि कर्त्ता रूप चेतन पदार्थ भी कारक हैं। अतः तन्तु प्रभृति कारकों के समान ही केवल कारक होने के नाते ही पटादि की उत्पत्ति में चेतन कुविन्दादि कर्त्ताओं की अपेक्षा है।

न पूर्वः ... ...

इनमें से प्रथम पक्ष को स्वीकार करने में यह आपत्ति है कि परमेश्वर जब सभी कार्यों के उत्पादक अचेतन कारणो के अधिष्ठाता है, तो पटादि कार्यों के उत्पादक तन्तु प्रभृति अचेतन कारणों के भी अधिष्ठाता हैं, फिर पटादि कार्यों के कुविन्दादि नगण्य चेतनों को अधिष्ठाता मानना व्यर्थ है।

यह तो संभव ही नहीं है कि परमेश्वर में क्षित्यङ्कुरादि के कर्त्तृत्व के उपयुक्त ज्ञान, इच्छा अथवा प्रयत्न से दोनों परमाणुओं के संयोगों के कारणों का नियमन हो सकता है, किन्तु पट के तुरी वेमादि कारणों का नहीं। परमेश्वर से अधिष्ठित रहने पर भी पट के कारणों के समूह के नियमन के लिये कुविन्दादि द्वितीय अधिष्ठाता की भी अपेक्षा मानें, तो इस प्रकार

न द्वितीयः, अधिष्ठातृत्वस्याऽनङ्गत्वप्रसंगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वापत्तेः। न च हेतुत्वेनैव तस्यापेक्षाऽस्त्विति वाच्यम्। एवं तर्हि यत्कार्यं तत्सहेतुकमिति व्याप्तिः, न तु सकर्तृकमिति। तथा च तथैव प्रयोगे सिद्धसाधनात्।

तृतीयादि अधिष्ठाता भी कल्पित होकर अनवस्था को ले आवेंगे। क्योंकि जिस युक्ति से परमेश्वर रूप एक अधिष्ठाता के रहते दूसरे अधिष्ठाता की कल्पना करेंगे, उसी युक्ति से दूसरे अधिष्ठाता के रहते हुये तृतीयादि अधिष्ठाताओं की भी कल्पना अनवस्था का कारण होगी।

न द्वितीयः ... ...

पटादि कार्यों में जो कुविन्दादि की अपेक्षा है, उसके प्रयोजक कुविन्दादि में रहनेवाला अधिष्ठातृत्व अथवा कर्तृत्व नहीं है, अर्थात् कुविन्दादि चूंकि उन ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न से युक्त हैं, जिन से पटादि के कारणों का नियमन होता है। इस हेतु से पटादि कार्यों में कुविन्दादि की अपेक्षा नहीं है। किन्तु जिस प्रकार तन्तु प्रभृति पटादि के कारक हैं, उसी प्रकार कुविन्दादि भी पटादि के कारक हैं, इसी लिये पटादि कार्यों में कुविन्दादि की भी अपेक्षा होती है।

यह निष्पन्न हो जाने पर 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकम् कार्यत्वात् पटादिवत्' इस अनुमान का सकर्तृकत्व रूप साध्य पटादि दृष्टान्तों में न रह सकेगा, क्योंकि 'सकर्तृकत्व' का अर्थ है किसी अधिष्ठाता का अधिषष्ठेय होना। इस प्रकार का सकर्तृत्व तो पटादि दृष्टान्तों में नहीं है। क्योंकि कुविन्दादि तो पटादि के अधिष्ठाता नहीं है, तन्तु प्रभृति के समान ही एक साधारण कारक मात्र हैं। अतः यह दूसरा पक्ष भी असङ्गत है।

सि० न च

यदि कुविन्दादि पटादि कार्यों का तन्तु प्रभृति के समान ही केवल 'कारक' मात्र होंगे 'कर्ता' नहीं, तथापि पटादि कार्यों के उत्पादन में कुविन्दादि की अपेक्षा अनिवार्य ही रहेगी ही। तो इसमें क्षति ही कौन सी है ?

पू० प० एवं तर्हि ... ...

ऐसा मान लेने पर प्रकृत में कार्यत्व में सकारणकत्व (सहेतुकत्व) की ही व्याप्ति निष्पन्न होगी, जिसका स्वरूप होगा 'यत्-यत् कार्यं तत्तत् सहतुकम्' इससे 'यद्यत् कार्यं तत्तत् सकर्तृकम्' यह व्याप्ति निष्पन्न नहीं होगी। एवं तदनुसार निष्पन्न अनुमान का प्रयोग होगा 'क्षित्यकुरादिकं सहेतुकम् कार्यत्वात्' किन्तु यह अनुमान 'सिद्धसाधन' दोष से दुष्ट होगा। क्योंकि क्षित्यङ्कुरादि में केवल 'सहेतुकत्व' तो सभी मानते हैं, अतः वह 'सिद्ध' ही है। सुतराम् इस अनुमान से ईश्वर सिद्धि की आशा नहीं की जा सकती।

किञ्चाऽनित्यप्रयत्नपूर्वकत्वप्रयुक्तां व्याप्तिमुपजीवत् कार्यत्वं न बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन स्वभावप्रतिबद्धम्। न ह्यनित्यप्रयत्नोऽपि बुद्धया शरीरवत् कारणत्वेनापेक्ष्यते, येन तन्निवृत्तावप्यकार्यबुद्धिर्न निवर्तेत इति।

पू० प० किञ्च··· ··· ··· ···

कर्तृत्व है उपादानगोचापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्व रूप। जिस कार्य का जो 'कर्त्ता' होता है, उस व्यक्ति को उस कार्य के 'उपादान' का (समवायिकारण का) अपरोक्ष-ज्ञान अवश्य रहता है। विना इस अपरोक्षज्ञान के वह 'कर्त्ता' ही नहीं हो सकता। एवं उक्त उपादान कार्य के संपादन की इच्छा (चिकीर्षा) एवं तदनुकूल प्रयत्न भी उस पुरुष में अवश्य रहते हैं। उक्त ज्ञान-इच्छा (चिकीर्षा) एवं कृति इन तीनों के बिना कर्तृत्व असंभव है। यह निर्णीत है कि उक्त (१) अपरोक्षज्ञानत्व (२) कृतिमत्त्व एवं (३) प्रयत्नवत्व ये तीनों में से प्रत्येक परस्पर निरपेक्ष होकर भी कर्त्ता के तीन लक्षण हैं। इस प्रकार 'कर्तृत्व' के ये तीन स्वरूप निष्पन्न होते हैं (१) उपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत्व (२) उक्त चिकीर्षावत्व एवं (३) उक्त प्रयत्नवत्व, तदनुसार 'सकर्तृकत्व' प्रकृत में उपादानगोचरापरोक्षज्ञानवज्जन्यत्व रूप निर्णीत होता है।

नैयायिकों ने (१) नित्य एवं (२) अनित्य भेद से ज्ञान के दो प्रकारों को स्वीकार किया है। प्रकृत में उपादान विषयक अनित्य ज्ञान है कुलालादि में, जो घटादि के कर्तृत्व का संपादक कपालादि उपादानों का अपरोक्षज्ञान है। एवं नित्यज्ञान है परमेश्वर का परमाणु द्वय रूप उपादान का अपरोक्षज्ञान, जिससे दोनों परमाणुओं से संयोगादि क्रम से क्षित्यादि की सृष्टि होती है। किन्तु बुद्धि के रहने पर भी तब तक कोई भी कर्त्ता कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता, जब तक उसमें तदनुकूल प्रयत्न न रहे। इसका अन्वय एवं व्यतिरेक घटादि कार्यों में सहस्रशः दृष्ट हैं। सुतरां घटादि में अनित्य प्रयत्नवद् जो कुलादि, तज्जन्यत्व ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'अनित्यप्रयत्नवज्जन्यत्व रूप जो सकर्तृकत्व, उसी की व्याप्ति कार्यत्व हेतु में है। बुद्धिमज्जन्यत्व रूप जो कर्तृत्व है, उसके साथ कार्यत्व हेतु 'स्वभावप्रतिबद्ध' (अर्थात् व्याप्ति रूप स्वाभाविक सम्बन्ध से युक्त) नहीं है।

न हि··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में सिद्धान्ती कह सकते हैं कि बुद्धि प्रयत्न का कारण है, अतः जो प्रयत्न से युक्त पुरुष के द्वारा उत्पन्न होगा, वह बुद्धि से युक्त पुरुष के द्वारा भी उत्पन्न होगा। अतः जिसमें प्रयत्नवज्जन्यत्व है, उसमें बुद्धिमज्जन्यत्व भी अवश्य है। सुतराम् कार्यत्व हेतु में यदि प्रयत्नवज्जन्यत्व की व्याप्ति है, तो बुद्धिमज्जन्यत्व की भी व्याप्ति अवश्य

है। इससे सृष्टि की आदि में द्व्यणुकादि के उत्पादन में समर्थ एवं नित्यबुद्धि से युक्त परमेश्वर की कल्पना सुलभ है)। किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वयव्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी हेतु में रहनेवाली व्याप्ति के लिये यह आवश्यक है कि हेतु का अभाव साध्य के अभाव का प्रयोज्य हो। जैसे कि धूमाभाव वह्न्यभाव प्रयोज्य होता है। अथवा शरीर की निवृत्ति से प्रत्प्रयुक्त कार्य रूप अनित्यबुद्धि की निवृत्ति होती है, क्योंकि शरीरावच्छेदेनैव आत्मा में अनित्यबुद्धि रहती है, शरीर की निवृत्ति होने से तद्गत बुद्धि की निवृत्ति भी अवश्य हो जायगी।

सुतराम् अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व की व्याप्ति बुद्धिमज्जन्यत्व (सकर्तृकत्व) में तभी रह सकती थी, जब कि अनित्यप्रयत्न बुद्धि का कारण होता। किन्तु बात ठीक उलटी है कि बुद्धि ही अनित्यप्रयत्न का कारण है। अनित्यप्रयत्न बुद्धि का कारण नहीं है। यदि अनित्य-प्रयत्न बुद्धि का कारण भी होता अनित्यबुद्धि का ही कारण होता, नित्यानित्य साधारण सभी बुद्धियों का नहीं। इस स्थिति में भी केवल यही कहा जा सकता था कि चूंकि जहाँ अनित्य प्रयत्न नहीं है, वहाँ अनित्यबुद्धि भी नहीं है। इस प्रकार भी अनित्य प्रयत्न की निवृत्ति से अनित्यबुद्धि की ही निवृत्ति हो सकती थी, नित्यबुद्धि की तो कदापि नहीं।

अनित्यबुद्धि के विनष्ट होने पर भी जो नित्यबुद्धि का नाश नहीं होता है, उसका कारण नित्यबुद्धि में अनित्यप्रयत्नजन्यत्व का अभाव नहीं है, क्योंकि अनित्यप्रयत्न जब अनित्यबुद्धि का भी कारण नहीं है, तो नित्यबुद्धि का अवश्य ही कारण नहीं है। अतः यही मानना होगा कि नित्यबुद्धि की नित्यता ही उसके विनाश का बाधक है।

तस्मात् पटादि दृष्टान्तों में अनित्यप्रयत्नवज्जन्यत्व रूप से कर्तृत्व ही दृष्ट है, अतः अनित्यप्रयत्न पूर्वकत्व की ही व्याप्ति कार्यत्व हेतु में है, बुद्धिमज्जन्यत्व रूप सकर्तृकत्व की व्याप्ति कार्यत्व हेतु में नहीं है। अतः प्रकृत ईश्वरानुमान के द्वारा क्षित्यादि में परमाण्वादि विषयक अपरोक्षबुद्धि से युक्त कर्ता से उत्पन्न होने की सिद्धि के द्वारा परमेश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।[1]

---

1. 'किञ्च' इत्यादि पूर्वपक्षग्रन्थ का सरल अभिप्राय यह है कि—'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् पटादिवत्। ईश्वर के साधक इस अनुमान में 'अनित्य प्रयत्नपूर्वकत्व' रूप उपाधि दोष भी है, क्योंकि क्षित्यादि जिन सभी स्थानों में 'कार्यत्व' रूप हेतु है, उन सभी स्थानों में 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' नहीं है। क्योंकि अस्मदादि-शरीरियों का प्रयत्न ही तो अनित्य है, तत्पूर्वकत्व क्षित्यादि में नहीं है। अतः 'अनित्य-प्रयत्नपूर्वकत्व' कार्यत्व हेतु का अव्यापक है। एवं 'सकर्तृकत्व रूप साध्य का वह व्यापक भी है। क्योंकि पटादि कार्यों में सकर्तृकत्व निर्णीत है, निर्णीत सकर्तृकत्व-

तदेतत् प्रागेव निरस्तप्रायं नोत्तरान्तरमपेक्षते ।

सि० प० तदतेत्प्रागेव ··· ··· ··· ···

कथित सत्प्रतिपक्ष सिद्धसाधन एवं उपाधि दोषों का उद्धार 'विशेषस्तु विशेषवान्' इत्यादि श्लोक के द्वारा पूर्व कथित सिद्धान्त से ही बहुत अंशो में हो जाता है, अतः दूसरे दूसरे उत्तरों की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि—

(१) सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्धार

परमेश्वर कार्यत्व रूप सामान्य के घटादि कार्य रूप 'विशेषों' का अधिष्ठाता यदि कुलालादि शरीर के द्वारा ही होते हैं, तथापि कार्यत्व रूप सामान्य के क्षित्यङ्कुरादि कार्य रूप 'विशेषों' के 'कर्ता' शरीर से भिन्न परमाणु सापेक्ष होकर ही उन कार्यों का अधिष्ठाता होगा, तो इन में कौन सी बाधा है? शरीर घटित विशेष प्रकार की सामग्री घटादि रूप विशेष कार्यों की उत्पादिका है—"एवं शरीर से भिन्न परमाण्वादि घटित विशेष प्रकार की सामग्री क्षित्यंकुरादि रूप विशेष उत्पादिका है' यह स्वीकार करने में तो कोई भी असामञ्जस्य नहीं है। अतः उक्त सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं हो सकता।

(२) सिद्धसाधन दोष का परिहार

'सिद्धसाधन' दोष के प्रसङ्ग में भी कहा जा सकता है कि कुछ विशेष प्रकार के कार्य चार अथवा आठ कर्तृ घटित सामग्री से उत्पन्न होते हैं—जैसे कि शिविकावाहनादि, कुछ विशेष प्रकार के कार्य दो कर्त्ताओं से युक्त विशेष प्रकार की सामग्री से उत्पन्न होते हैं, जैसे कि पटादि। कुछ विशेष प्रकार के कार्य ईश्वर रूप एक ही कर्तृघटित सामग्री से उत्पन्न होंगे, जैसे कि क्षित्यङ्कुरादि। इस व्यवस्था को स्वीकार करने में भी कोई बाधा नहीं है। अर्थात् यह कहना संभव नहीं है कि—पटादि कार्यों का यदि ईश्वर एवं कुविन्दादि कोई दो कर्त्ता हैं, तो क्षित्यङ्कुरादि कार्यों का भी दो कर्त्ता अवश्य हों। अथवा शिविकावाहनादिकार्यों के यदि आठकर्ता हैं, तो पटादि कार्यों के भी उतने ही कर्ता हों। तस्मात् सिद्धसाधन की बात भी व्यर्थ है।

वाले सभी स्थानों में 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' भी है। इस प्रकार अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व साध्य का व्यापक भी है, एवं हेतु का अव्यापक भी। अतः प्रकृत ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु उपाधि से युक्त होने के कारण 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है, इसलिये इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

तथा हि—साक्षादधिष्ठातरि साध्ये परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसङ्ग इति किमिदं शरीरत्वं यत् प्रसज्यते ? यदि साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वं तदिष्यत एव। न च ततोऽन्यत्प्रसञ्जकमपि। अथेन्द्रियाश्रयत्वम् ?

---

(३) उपाधिदोष का निरास

इसी प्रकार उपाधि दोष के प्रसङ्ग में भी यह मुक्तकण्ठ से कहा जा सकता है कि कुलालादि की अनित्य शरीरावच्छिन्न आत्मा में रहनेवाला प्रयत्न चूँकि अनित्य ही हो सकता है, अतः विशेष प्रकार के घटादि कार्य अवश्य ही अनित्य प्रयत्न जन्य हैं। किन्तु एतादृश अनित्यप्रयत्न से जब क्षित्यङ्कुरादि की उत्पत्ति संभव ही नहीं है, एवं इन में भी कार्यत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है, तो फिर यह कहना साहस मात्र है कि कार्यत्व में अनित्यप्रयत्न जन्यत्व की ही व्याप्ति है। यह कहना ही गलत है कि "चूँकि घटादि कार्य विशेष अनित्य-प्रयत्नघटितसामग्री से उत्पन्न होते हैं, अतः सभी कार्य अनित्यप्रयत्न से ही उत्पन्न हों" इसी लिये उक्त प्रकार से उपाधि दोष का उद्‌भावन भी उचित नहीं है।

सि० प० तथा हि ··· ··· ··· ···

फिर भी इन तीनों दोषों का स्वतन्त्र रूप से भी उद्धार प्रदर्शित किया जाता है।

सत्प्रतिपक्ष दोष का स्वतन्त्रनिरास—

(पूर्वपक्षवादी ने प्रथमतः सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्‌घाटन करते हुए कहा है कि 'कर्तृत्व' है 'अधिष्ठातृत्व' रूप एवं 'कर्तृकत्व' है 'अधिष्ठेयत्व' रूप। प्रकृत ईश्वरानुमान घटक 'कर्तृत्व' यदि साक्षात् अधिष्ठातृत्व रूप मानें, तो परमाणुओं को क्षित्यादि कर्ता परमेश्वर का शरीर मान लेना होगा। फलतः एतादृश सकर्तृत्व को साध्य करने से परमाणुओं में शरीरत्व की आपत्ति होगी। इस प्रसङ्ग में कहना है कि:—

साक्षादधिष्ठातरि

परमाणुओं में जिस शरीरत्व की आपत्ति दी गई है, वह शरीरत्व प्रकृत में कौन सी वस्तु है ? यदि उस 'शरीरत्व' का स्वरूप (लक्षण) कर्ता का साक्षात् अधिष्ठेयत्व मात्र हो, तो इस प्रकार के शरीरत्व को परमाणुओं में स्वीकार करना 'इष्ट' है, इस में कोई 'आपत्ति' नहीं है। शरीरत्व के साथ रहनेवाले जो इन्द्रियाश्रयत्व (इन्द्रिय) अथवा भोगायतनत्व (भोग) आदि धर्म हैं, उनकी सत्ता परमाणु रूप शरीर में स्वीकार नहीं की जा सकती। क्योंकि प्रकृत शरीर में भोगायतनत्वादि की आपत्ति के लिये कोई प्रबल युक्ति नहीं है।

यदि शरीरत्व को इन्द्रियाश्रयत्व रूप मानें अर्थात् जिस में इन्द्रिय रहे, उसी को शरीर कहें, तो इस प्रकार का शरीरत्व परमाणुओं में नहीं मानते, क्योंकि साक्षादधिष्ठेय

तन्न। तदवच्छिन्नप्रयत्नोत्पत्तौ तदवच्छिन्नाज्ञानजननद्वारेणेन्द्रियाणामुपयोगात्। अनवच्छिन्ने प्रयत्ने नाऽयं विधिः; नित्यत्वात्। अत एव नाऽर्थाश्रयत्वम्। न हि नित्यज्ञानं भोगरूपमभोगरूपं वा यत्नमपेक्षते, तस्य कारणविशेषत्वात्।

रूप शरीर को इन्द्रिय का आश्रय इस लिये मानते हैं कि शरीरावच्छेदनैव आत्मा में अनित्य प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। इस प्रयत्न से युक्त आत्मा में ही इन्द्रिय से (सुखदुःखान्यतर-साक्षात्कार रूप) भोगात्मक अनित्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी लिये अनित्य प्रयत्न एवं अनित्य बुद्धि इन दोनों के आश्रयीभूत आत्मा के साक्षादधिष्ठेय को इन्द्रिय का आश्रय मानना पड़ता है।

किन्तु जिस अधिष्ठाता के ज्ञान एवं प्रयत्न दोनों ही नित्य हैं, जिनमें भोग रूप ज्ञान का उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं है, उन अधिष्ठाता के साक्षाद् अधिष्ठेय परमाणुओं को इन्द्रियों का आश्रय मानने की आवश्यकता नहीं है। शरीरत्व की परिभाषा यदि साक्षादधिष्ठेयत्व रूप मानते हैं, तो उसके आश्रय को इन्द्रियों का आश्रय होना आवश्यक नहीं है। अतः साक्षादधिष्ठेय कुलालादि शरीरों में इन्द्रियाश्रयत्व है भी, तथापि परमाणु रूप साक्षादधिष्ठेय में इन्द्रियाश्रयत्व के न रहने में कोई बाधा नहीं है। तस्माद् परमाणुओं के साक्षादधिष्ठेय होने पर भी उनमें इन्द्रियाश्रयत्व रूप शरीरत्व नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि 'परमाणव इन्द्रियवन्तः साक्षादधिष्ठेयत्वात् कुलालादिवत्' इस अनुमान के द्वारा परमाणुओं में इन्द्रियाश्रयत्व रूप शरीरत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती। क्योंकि इस अनुमान में अवच्छेदकता सम्बन्ध से 'अनित्यज्ञानवत्त्व' उपाधि है। जिन सभी स्थानों में इन्द्रियाश्रयत्व (इन्द्रिय) रूप साध्य है, उन सभी स्थानों में अनित्य-ज्ञान (वत्त्व) रूप उपाधि भी है। परमाणुओं में साक्षादधिष्ठेयत्व रूप हेतु है, किन्तु अनित्यज्ञानवत्त्व रूप उपाधि नहीं है। अतः परमाणुओं में इन्द्रियाश्रयत्व रूप आपत्ति के जनक (आपादक) साक्षादधिष्ठेयत्व हेतु सोपाधिक होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है, अतः इससे परमाणुओं में इन्द्रियवत्त्व रूप शरीरत्व की सिद्धि रूप आपत्ति नहीं दी जा सकती।

अत एव ... ...

अर्थात् इसी मूलशैथिल्य के कारण कथित 'साक्षादधिष्ठेयत्व' रूप आपादक हेतु से परमाणुओं में 'अर्थाश्रयत्व' रूप शरीरत्व की सिद्धि रूप आपत्ति भी नहीं दी जा सकती। यदवच्छिन्न आत्मा में रूप रसादि 'अर्थ' भोगों का उत्पादन करते हैं, वही 'अवच्छेदक'

न च नित्यसर्वज्ञस्य भोगसम्भावनाऽपि; विशेषादर्शनाभावे मिथ्याज्ञानानवकाशे दोषानुत्पत्तौ धर्माधर्मयोरसत्त्वात् ।

तस्मात्, साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात्, स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वाच्चेति द्वयं साध्याविशिष्टम् ।

अर्थों का आश्रय है । शरीरावच्छेदनैव आत्मा में सभी भोग उत्पन्न होते है, अतः शरीर अर्थों का आश्रय होता है । ईश्वर को चूंकि कोई भी अनित्य ज्ञान नहीं होता, अतः अर्थजन्य भोग रूप अनित्यज्ञान भी उनको नहीं होता है, फिर तदवच्छेदकीभूत अर्थाश्रयत्व की परमाणुओं में चर्चा कैसी ? क्योंकि भोगों के कारण हैं धर्म और अधर्म । धर्माधर्म राग से उत्पन्न होते हैं । राग का कारण है मिथ्याज्ञान । मिथ्याज्ञान विशेषादर्शन से उत्पन्न होता है । इस क्रम के अनुसार सर्वज्ञ परमेश्वर में भी सभी विषयों के विशेषों का दर्शनरूप ज्ञान भी उनमें अवश्य है । सुतराम् उनमें किसी भी वस्तु के किसी भी विशेष का अदर्शन नहीं रह सकता । चूंकि उनको किसी विषय के किसी भी अंश 'विशेष' का अज्ञान (अदर्शन) नहीं है, अतः उनको किसी भी विषय का मिथ्याज्ञान भी नहीं है । सुतराम् उनमें मिथ्याज्ञान-मूलक राग एवं द्वेष की भी सम्भावना नहीं है । फिर रागजनित धर्म एवं द्वेषजनित अधर्म उनमें कहां से आवेंगे ? तस्मात् धर्म एवं अधर्मरूप कारण के न रहने से सुख एवं दुःख इन दोनों में से किसी एक विषयक साक्षात्कार स्वरूप भोग भी परमेश्वर को नहीं हो सकता । इस लिये भोग के अवच्छेदक मात्र में रहनेवाले 'अर्थाश्रयत्व' की सत्ता परमेश्वर का साक्षादधिष्ठेय होने पर भी परमाणुओं में नहीं है, अतः परमाणुओं में 'अर्थाश्रयत्व' रूप शरीरत्व की आपत्ति भी नहीं है ।

सि० प० [1]तस्मात् ··· ··· ··· इतिद्वयम् ··· ··· ··· साध्याविशिष्टम् ।

(सम्प्रतिपक्ष देने के लिये जिन वितर्कों की अवतारणा की गयी है, उनसे ईप्सित दोनों प्रतिपक्षानुमानों के निष्पन्न दो हेतु वाक्य (१) साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात् (२) स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वाच्च, ये दोनों हैं । इनमें पहिले हेतुवाक्य का स्वारस्य यह है कि:—

(१) साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात् ··· ··· ···

प्रकृत में 'शरीरत्व' यदि 'साक्षादधिष्ठेयत्व' रूप मानें, तो कथित 'परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरीरेतरत्वात्' इस प्रथम प्रतिपक्षानुमान के 'शरीरेतरत्वात्' इस हेतु वाक्य की व्याख्या होगी 'साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात्' । क्योंकि जब 'साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्व'

---

१. इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष के प्रयोजन अनुमानों के दोषों की युक्तियों के उपपादि के बाद अब उन दोषों के आकारों की प्रदर्शन करते हुये उनको और स्पष्ट रूप से दिखाने के लिये 'तस्मात्' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है ।

अनिन्द्रियाश्रयत्वादभोगायतनत्वात्,

ही 'शरीरत्व' है तो स्वभावतः 'शरीरेतरत्व' 'साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्व' रूप ही होगा। एवं प्रकृत अनुमान का साध्य भी 'साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्व' ही है। पक्ष में साध्य सिद्ध नहीं रहता है। सुतराम् प्रकृत में साध्य से अभिन्न हेतु भी पक्ष में सिद्ध नहीं है। इससे हेतु 'साध्यसम' होने के नाते पक्षधर्मता रूप बल से रहित हो जायगा। जिससे उसकी अनुमित्युत्पादन की क्षमता ही जाती रहेगी। अतः इस अनुमान से प्रकृत ईश्वरानुमान प्रतिरुद्ध नहीं हो सकता।

(२) 'परमाण्वादयः न परम्परयापि चेतनाधिष्ठेयाः स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वात्' द्वितीय वितर्कानुयायी इस द्वितीय प्रतिपक्षानुमान में 'स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्व' हेतु है, एवं परमाणुओं में 'परम्परयाधिष्ठेयत्वाभाव' साध्य है। इस पक्ष में सभी अचेतन कारण नियमतः शरीर के द्वारा ही चेतन से अधिष्ठित होते हैं। इस लिये 'परम्परया चेतनाधिष्ठितत्व' शब्द का अर्थ 'शरीर के द्वारा चेतनाधिष्ठितत्व हो जाना है, एवं तदनुसार न परम्परया चेतनाधिष्ठिताः' इस साध्य बोधक वाक्य का पर्यवसित अर्थ 'शरीरद्वारेण न चेतनाधिष्ठिताः' इस प्रकार का हो जाता है।, 'स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वात्' इस हेतुवाक्य से जिस हेतु का बोध होता है, वह साध्यबोधक वाक्य के कथित पर्यवसितार्थ से भिन्न नहीं है, क्योंकि 'शरीरद्वारेण चेतनानधिष्ठितत्व' एवं 'स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्व' ये दोनों फलतः एक ही हैं। इस द्वितीय प्रतिपक्षानुमान का हेतु भी 'साध्यसन' है, अतः पक्ष में निश्चित नहीं है। फलतः इस हेतु में भी 'पक्षवृत्तित्व' रूप बल के न रहने के कारण प्रकृत ईश्वरानुमान को प्रतिरुद्ध करने की क्षमता नहीं है।

(१) अनिन्द्रियाश्रयत्वात् ··· ··· ··· ···

उक्त विरोधी अनुमान के 'शरीरेतरत्व' हेतु का घटक शरीरत्व यदि इन्द्रियाश्रयत्व (इन्द्रिय) स्वरूप हो, तो तदनुसार प्रतिपक्षानुमान का स्वरूप 'परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः अनिन्द्रियाश्रयत्वात्' इस प्रकार का होगा। किन्तु अनिन्द्रियत्व हेतुक इस निष्पन्न अनुमान का हेतु 'अन्यथासिद्ध' होगा। क्योंकि जिस अधिष्ठाता (आत्मा) को भोग होता है, उनको शरीर का होना आवश्यक है, क्योंकि शरीरावच्छेदनैव आत्मा में भोग की उत्पत्ति होती है। एवं इन्द्रिय भी भोग का कारण हैं। इसी लिये भोग का आयतन शरीर इन्द्रिय का भी आश्रय होता है। ईश्वर रूप आत्मा में भोग की उत्पत्ति नहीं होती है (ईश्वर

स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वाच्चेति त्रयमप्यन्यथासिद्धम्। अभोगायतनत्वादनिन्द्रिया-श्रयोऽपि, भोक्तृकर्मानुपग्रहादभोगायतनमपि, स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यानुत्पाद्यत्वात्तदनपेक्षमपि स्यात्।

को भोग नहीं होता)। अतः कुलालादि का शरीर साक्षादधिष्ठेय होने पर भी इन्द्रिय का आश्रय होता है। किन्तु इसी कारण ईश्वर रूप अधिष्ठाता का साक्षात् अधिष्ठेय होने पर भी परमाणु इन्द्रिय का भी आश्रय हो—यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि परमाणु अपने अधिष्ठाता ईश्वर स्वरूप चेतन के भोग का आयतन नहीं है। इस प्रकार साक्षात् चेतन के द्वारा अधिष्ठित होने पर भी परमाणुओं में अनिन्द्रियाश्रयत्व की 'अन्यथासिद्धि' अर्थात् परमाणुओं को साक्षात् चेतन अनधिष्ठेय माने बिना भी अनिन्द्रियाश्रयत्व की उपपत्ति हो सकती है, तो फिर यह कहना सङ्गत नहीं है कि परमाणु चूँकि इन्द्रियों के आश्रय नहीं है, अतः चेतन के साक्षात् अधिष्ठेय भी नहीं है। सुतराम् अनिन्द्रियाश्रयत्वलिङ्गक उक्त असदनुमान से प्रकृत ईश्वरानुमान प्रतिहत नहीं हो सकता।

(२) अभोगायतनत्वात् ... ...

भोक्ता के पुण्यपाप से जिस प्रकार के भोगों की संभवानायें रहतीं हैं, उन्हीं के अनुरूप शरीरों की रचना होती है। अतः भोक्ता पुरुष के पापपुण्य के साहाय्य से तदनुकूल भागों के संपादन के लिये जिस शरीर की उत्पत्ति होगी, साक्षात् चेतन का अधिष्ठेय वह शरीर अवश्य ही भोग का आयतन होगा। फलतः कोई भी शरीर चेतन का साक्षात् अधिष्ठेय होने से ही भागायतन नहीं होता। अर्थात् भोगायतनत्व में साक्षात्चेतनाधिष्ठेयत्व की व्याप्ति नहीं है। किन्तु भोगायतनत्व में भोक्ता के कर्मों के उपग्रह की व्याप्ति है।

प्रकृत में पहिली बात यह है कि किसी भी कारण से परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि उनके अधिष्ठाता 'भोक्ता' नहीं है। परमाणुओं के अधिष्ठाता (परमेश्वर) पुण्य एवं पाप दोनों से सर्वथा रहित है, अतः परमाणु भोक्ता के कर्मों (पाप-पुण्य) के द्वारा 'उपगृहीत' नहीं है। इस लिये परमाणु चेतन का साक्षात् अधिष्ठेय होने पर भी 'अभोगायतन' हो सकते है। जब अभोगायतनत्व की 'सिद्धि' 'अन्यथा' भी हो सकती है, अर्थात् साक्षात् चेतनानधिष्ठितत्व के विना भी (साक्षाच्चेतनाधिष्ठितत्व के रहते हुये भी) अभोगा-यतनत्व भी सिद्धि हो सकती है, तो फिर अभोगायतनत्व हेतुक साक्षाच्चेतनाधिष्ठितत्व का अनुमान सदनुमान नहीं हो सकता। अतः इससे ईश्वरानुमान प्रतिहत नहीं हो सकता।

(३) स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वात् ... ...

कार्य के उत्पादन के अनुकूल स्वरूप में उद्यत होने के लिये शरीर की अपेक्षा उन्हीं कारण द्रव्यों को होती है, जिनमें क्रिया का उत्पादन स्पर्श एवं वेग इन दोनों से युक्त किसी दूसरे द्रव्य की प्रेरणा से होती है। दण्डादि में घटादि कार्यों की किसी अनुपयोगी क्रिया की भी तब तक उत्पत्ति नहीं होती है, जब तक वायु प्रभृति स्पर्श एवं वेग से युक्त किसी दूसरे द्रव्य को प्रेरणा उन्हें प्राप्त न हो। इससे यह नियम निष्पन्न होता है कि दण्डदि द्रव्यों

अचेतनत्वाच्चेतनाधिष्ठितमपि स्यादिति को विरोधः ?।

की सभी क्रियायें स्पर्श और वेग इन दोनों से युक्त किसी दूसरे द्रव्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। अतः दण्डादि में घटादि कार्यों के उत्पादन के अनुकूल जो क्रियायें होंगी, वे भी स्पर्श एवं वेग से युक्त किसी दूसरे द्रव्य की प्रेरणा से ही होगी। वे दूसरे (द्रव्यान्तर) कुलालादि चेतन से अनपेक्ष वायु प्रभृति नहीं हो सकते। क्योंकि उक्त दण्डादि में केवल जिस किसी प्रकार की क्रिया (घटादि के लिये) अपेक्षित नहीं है, किन्तु घटादि अभिप्रेत अर्थों की उत्पादिका विशेष प्रकार की क्रियायें ही अपेक्षित हैं, उनकी उत्पत्ति तो अभिप्राय विशेष से युक्त चेतन के द्वारा प्रेरित स्पर्श और वेग से युक्त किसी दूसरे द्रव्य से ही हो सकती है, वही दूसरा द्रव्य है 'शरीर'।

अयमप्यन्यथासिद्धम् ··· ··· ··· ···

सृष्टि की आदि में जो परमाणुओं में द्वयणुकोत्पत्ति के अनुकूल क्रिया उत्पन्न होती है, उसके लिये स्पर्श और वेग से युक्त किसी दूसरे द्रव्य की प्रेरणा संभव नहीं है, क्योंकि उस समय परमाणुओं से अतिरिक्त स्पर्श एवं वेग से युक्त कोई द्रव्य नहीं रहता। फिर भी परमाणुओं की उन क्रियाओं को चेतनाभिप्राय सापेक्ष मानना ही होगा, क्योंकि वायु से आन्दोलित दण्ड के द्वारा तो चक्रादि में घटादि के उत्पादन के अनुकूल भ्रमण की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः किसी चेतन के अभिप्राय के विना अचेतन परमाणुओं में द्वयणुक रूप कार्य के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः परमाणु साक्षात् ही चेतनाधिष्ठित है, किसी दूसरे (शरीरादि) द्रव्यों के द्वारा नहीं। चूंकि शरीर की अपेक्षा किये बिना ही परमाणु चेतनाधिष्ठेय हो सकते हैं, अतः 'स्वव्यापारे तदनपेक्षत्व' रूप तृतीय प्रतिहेतु भी 'अन्यथा सिद्ध' हो जाता है क्योंकि 'अन्यथा' अर्थात् साक्षाच्चैतनाधिष्ठेयत्वाभाव रूप साध्य के विना भी (अर्थात् साक्षात् चेतनाधिष्ठेयत्व के रहने पर भी) परमाणुओं में (पक्ष में) 'शरीरानपेक्ष व्यापारवत्त्व' रूप हेतु रह सकता है। अतः इस हेत्वाभास से प्रकृत ईश्वरानुमान प्रतिहत नहीं हो सकता।[1]

अचेतनत्वात्··· ··· ··· ···

('परमाणु चेतन का अधिष्ठेय है' इसी का कौन सा प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि) परमाणुओं से द्वयणुकादि क्रम से सृष्टि होती है' यह मान लेने पर

1. प्रकृत सन्दर्भ के "अभोगायतनत्वादनिन्द्रियाश्रयोऽपि" के आगे 'साक्षाच्चेतनाधिष्ठितः स्यात्' एवं 'भोक्तृकर्मानुपग्रहादभोगायतनमपि' के आगे एवं 'स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यानुत्पाद्यत्वात्तदनपेक्षमपि' इन दोनों महावाक्यों के आगे भी 'साक्षाच्चेतनाधिष्ठितः' इस वाक्य का अध्याहार कर इस सन्दर्भ को समझना चाहिये।

तथा च साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितेतरजन्यत्वादिति साध्यसमः। इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वादिति द्वयमप्यन्यथासिद्धम्। कार्यंज्ञानाद्यनपेक्षत्वाच्छरीरेतरजन्यमपि स्यात्। अचेतनहेतुकत्वाच्चेतनाधिष्ठितमपोति को विरोधः?

परमाणुओं में चेतनाधिष्ठितत्व सिद्ध हो जाता है। क्योंकि परमाणु अचेतन (जड़) हैं। चेतन के साहाय्य के विना अचेतन पदार्थों से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः द्वयणुक के उत्पादक परमाणु भी चेतनाधिष्ठित ही हैं। सुतराम् परमाणुओं में शरीर की अपेक्षा किये बिना क्रिया रूप व्यापार की सत्ता एवं चेतन का साक्षात् अधिष्ठेयत्व इन दोनों को साथ-साथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

सि० प० तथा च साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितेतरजन्यत्वादिति ... ...

(इस प्रकार 'परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरोरेतरत्वात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कथित ईश्वरानुमान के विरोधी अनुमान के 'शरीरेतरत्व' हेतु के अन्तर्गत 'शरीरत्व' के ये तीन स्वरूप संभावित प्रतीत होते हैं (१) साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितत्व (२) इन्द्रियाश्रयत्व एवं (३) भोगायतनत्व। तदनुसार विरोधी अनुमानों के स्वरूप (१) क्षित्यादिकं न साक्षात् प्रयत्नाधिष्ठेयम् साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात् (२) क्षित्यादिकं न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयम् इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वात् (३) क्षित्यादिकं न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयम् अभोगायतनत्वात्, ये तोन प्रकार के होंगे।

(१) इनमें से पहिले अनुमान का स्वारस्य यह है कि घटादि जितने भी कुलालादि चेतनों के द्वारा अधिष्ठित कपालादि कारणों से उत्पन्न कार्य हैं, वे सभी साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठित कुलालादि के शरीरों से उत्पन्न होते हैं। क्षित्यङ्कुरादि भी यदि चेतनाधिष्ठित कारणों से उत्पन्न होते, तो वे भी शरोरजन्य अवश्य होते, किन्तु वे शरीरजन्य नहीं हैं, अतः चेतनाधिष्ठित हेतुओं से उत्पन्न नहीं हैं। किन्तु यह हेतु भी साध्य के समान ही पक्ष में सिद्ध न होने के कारण 'साध्यसम' है। क्योंकि प्रकृत में नैयायिक कहते हैं कि ईश्वरोय प्रयत्न के साक्षात् अधिष्ठेय परमाणुओं के द्वारा क्षित्यादि की उत्पत्ति होती है। मीमांसकादि कहते हैं कि प्रयत्न का अधिष्ठेय केवल शरीर ही है। क्षित्यादि चूंकि प्रयत्न जन्य नहीं हैं, अतः साक्षात् प्रयत्न के अधिष्ठेय से उत्पन्न भी नहीं हैं। इस प्रकार क्षित्यादि में साक्षात्प्रयत्न से अधिष्ठित वस्तुओं से उत्पन्न होना सन्दिग्ध है। इस लिये इस हेतु के द्वारा क्षित्यादि में चेतन कारण से उत्पन्न न होने की सिद्धि नहीं हो सकती। सुतराम् क्षित्यादि में उक्त हेतुक अनुमान से सकर्तृकत्व का बाध नहीं हो सकता।

(२) यदि विरोधी अनुमान के हेतु का घटक 'शरीरत्व' इन्द्रियाश्रयत्व रूप हो तो विरोधी अनुमान का स्वरूप 'क्षित्यादिकं न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयम् इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वात्' इस आकार का होगा। किन्तु इस अनुमान का इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्व हेतु 'अन्यथासिद्ध' होगा। अर्थात् उक्त साध्य के न रहने पर भी रह सकता है। क्योंकि जितने भी ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय की अपेक्षा अवश्य रखते हैं। इन्द्रियाँ शरीरों में आश्रित होकर ही ज्ञानों का उत्पादन करती हैं। अतः जितने भी ज्ञानों में इन्द्रियों की अपेक्षा होगी, उन सभी ज्ञानों को अपनी उत्पत्ति के लिये शरीरों की अपेक्षा अवश्य होगी।

एवं अचेतन कारणों से जिन कार्यों की उत्पत्ति होगी, उन सभी कार्यों की उत्पत्ति में चेतन के ज्ञानों की भी अपेक्षा अवश्य होगी। एवं जो चेतन शरीर के साथ (अवच्छेदकता सम्बन्ध से) सम्बद्ध होगा, उस चेतन का ज्ञान नियमतः अनित्य ही होगा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जितने कार्य अनित्यज्ञान से उत्पन्न होंगे, उनकी उत्पत्ति में इन्द्रियाश्रय (शरीर) की भी अपेक्षा अवश्य होगी। किन्तु इससे यह नियम निष्पन्न नहीं होता है कि 'जिन कार्यों की उत्पत्ति में 'ज्ञान की अपेक्षा हो, उन सभी कार्यों की उत्पत्ति में 'इन्द्रियाश्रय' शरीर की भी अपेक्षा अवश्य हो।'' क्योंकि जिस कार्य की उत्पत्ति 'नित्यज्ञान' से होगी, उसकी उत्पत्ति में (इन्द्रियाश्रय) शरीर की अपेक्षा नहीं होगी। चूँकि शरीर अनित्यज्ञान का अवच्छेदक है, इसी लिये जिन कार्यों की उत्पत्ति अनित्य ज्ञान से होती है, उनके लिये शरीर की भी अपेक्षा होती है। किन्तु जिस (नित्य) ज्ञान का अवच्छेदक शरीर नहीं है, उस से उत्पन्न होनेवाले कार्यों में शरीर की अपेक्षा क्यों कर होगी ? अतः जिस कार्य की उत्पत्ति में इन्द्रियाश्रयेतर परमाणुओं की अपेक्षा होगी, वह कार्य भी चेतन से अधिष्ठित हेतुजन्य हो सकता है।

(३) शरीर रूप अवच्छेदक के सहारे ही आत्मा भोग करता है। अतः शरीर ही आत्मा के भोग का स्थान अर्थात् 'आयतन' है। अतः 'आत्मनो भोगायतनं शरीरम्' शरीर का यह लक्षण प्रसिद्ध है। तदनुसार उक्त अनुमान घटक शरीरत्व यदि भोगायतनत्व रूप मानें तो 'क्षित्यादिकं न चेतनाधिष्ठितहेतुकं भोगायतनेतरजन्यत्वात्' ऐसा अनुमान का स्वरूप होगा। किन्तु इस अनुमान का 'भोगायतनेतरजन्यत्व' हेतु भी 'अन्यथासिद्ध' (अप्रयोजक-व्याप्यत्वासिद्ध) है। क्योंकि घटादि कार्य चूँकि भोग के आयतन स्वरूप कुलालादि के शरीर से उत्पन्न होते हैं, केवल इस लिये चेतनाधिष्ठित हेतुक नहीं हैं। भोगायतन (कुलालादि-शरीर) का उपयोग

अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः। न हि चेतनानधिष्ठितहेतुकत्वं क्वचित्प्रमाणसिद्धम् ।

तो घटादि कार्यों में इस लिये होता है कि भोगायतन रूप शरीरावच्छेनेव तदुपयुक्त ज्ञान की उत्पत्ति होती है। पहिले कह आये हैं कि कपालादि उपादानों का इन्द्रियजनित अपरोक्षज्ञान घटादि कार्यों के कारण हैं। उपादान विषयक ये अपरोक्षज्ञान कुलालादि में शरीरावच्छेदनैव उत्पन्न होंगे। सुतराम् जिस ज्ञान की 'उत्पत्ति' होगी, उस उत्पत्ति में भोगायतन (शरीर) का उपयोग अवश्य होगा। सुतराम् कोई भी ज्ञान भोगायतन (शरीर) जन्य इसलिये होता है कि वह उत्पत्तिशील है। चेतनाधिष्ठित हेतुक होने के नाते वह भोगायतनजन्य नहीं है।

प्रकृत में क्षित्यादि के उपादान परमाणुओं का अपरोक्षज्ञान इन्द्रियादि से उत्पन्न हो नहीं सकता। परमाणुओं के इन अपरोक्षज्ञान को नित्य ही मानना होगा। परमाणु स्वरूप उपादानों के अपरोक्ष ज्ञान के लिए भोगायतन शरीर, की कोई अपेक्षा नहीं है। किन्तु परमाणु हैं तो अचेतन, चेतन अधिष्ठाता के बिना उनसे किसी कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः अचेतन परमाणु भी किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही क्षित्यादि कार्यों का उत्पादन कर सकते हैं। सुतराम् क्षित्यादि कार्य चेतनाधिष्ठितहेतुक तो हैं, किन्तु भोगायतन स्वरूप शरीर जन्य नहीं हैं।

इस प्रकार भोगायतन से भिन्न परमाणुओं से उत्पन्न होने पर भी क्षित्यादि कार्य चेतनाधिष्ठितहेतु से उत्पन्न हो सकते हैं, तो फिर चेतनानधिष्ठितत्व के साधन के लिये प्रयुक्त भोगायतनेतरजन्यत्व हेतु—'अन्यथासिद्ध' हो जाता है। अर्थात् जो कार्य भोगायतनेतरजन्य होगा, वह चेतनाधिष्ठित हेतुक भी हो सकता है। अतः यह कहना संभव नहीं है कि जितने भी कार्य भोगायतनेतरजन्य हैं, वे सभी चेतनाधिष्ठित हेतुक नहीं हो सकते। अतः भोगायतनेतर-जन्यत्व रूप (व्याप्यत्वासिद्ध) हेत्वाभास से उत्पन्न अनुमिति के द्वारा प्रकृत ईश्वरानुमान का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता।

अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः ··· ··· ··· ··· सपक्षाद्व्यावृत्तेः

'क्षित्यादिकं न चेतनाधिष्ठितहेतुकम् शरीरेतरजन्यत्वात्' इस अनुमान के हेतु में 'साध्याप्रसिद्धि' दोष भी है। क्योंकि पक्ष से भिन्न कहीं भी एक स्थान में सिद्ध वस्तु का ही दूसरे स्थान (पक्ष) में साधन किया जा सकता है। सर्वथा अप्रसिद्ध वस्तु का कहीं भी साधन नहीं किया जा सकता। महानस में प्रसिद्ध (सिद्ध) वह्नि का ही पर्वत में साधन किया जाता है।

न च चेतनाऽधिष्ठितहेतुकत्वनिषेधः साध्यः, हेतोरसाधारण्यप्रसङ्गात् । गगनादेरपि सपक्षाद्व्यावृत्तेः ।

इस वस्तुस्थिति अनुसार क्षित्यादि से भिन्न (क्योंकि वे पक्ष हैं) जितने भी कार्य हैं, वे सभी चेतनाधिष्ठित हेतुओं से ही उत्पन्न होते दीख पड़ते हैं । तो फिर किस कार्यव्यक्ति में प्रसिद्ध 'चेतनानधिष्ठितहेतुकत्व' की सिद्धि क्षित्यादि कार्यों में करना चाहते हैं ? इसका साधन तो गगनकुसुमादि के साधन के तुल्य हो जायगा ।[1] अतः 'साध्याप्रसिद्धि' रूप दोष हेतुक अनुमान से प्रकृत ईश्वरानुमान प्रतिहत नहीं हो सकता ।

न च चेतनाधिष्ठित ... ...

(इस साध्याप्रसिद्धि दोष के निवारण के लिये पूर्वपक्षी कह सकते हैं कि) प्रकृत में 'चेतनानधिष्ठित हेतुकत्व' साध्य नहीं है, किन्तु 'चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाव' साध्य है । इस प्रकार नञ् के हेर फेर से विरोधी अनुमान 'प्रसिद्धसाध्यक' हो सकता है । क्योंकि 'अभाव' रूप साध्य की प्रसिद्धि के लिये केवल उसके प्रतियोगी की ही प्रसिद्धि आवश्यक है । अभाव रूप प्रकृत साध्य का प्रतियोगी 'चेतनाधिष्ठितहेतुकत्व' घटादि कार्यों में प्रसिद्ध है ।

घटादि कार्यों में 'चेतनानधिष्ठितहेतुकत्व' की सिद्धि हो, अथवा 'चेतनाधिष्ठित-हेतुकत्वाभाव' की सिद्धि हो, दोनों ही स्थितियाँ क्षित्यादि के कारणों के अधिष्ठाता चेतन सर्वज्ञ परमेश्वर की सिद्धि को प्रतिरुद्ध करेंगी ही । अतः उक्त रीति से कथित 'साध्याप्रसिद्धि' दोष का परिहार हो सकता है ।

---

१. पक्ष है विशेष्य, साध्य है 'विशेषण' । जिस 'विशेष्य' का (पक्ष का) 'विशेषण' अर्थात् साध्य पक्ष से भिन्न किसी विशेष्य में प्रसिद्ध नहीं है, वहाँ पक्ष है 'अप्रसिद्ध विशेषणक पक्ष' । प्राचीनों के मत से पक्ष से भिन्न सपक्ष में साध्य की अप्रसिद्धि ही 'साध्याप्रसिद्धि' का लक्षण है ।

नवीननैयायिकगण साध्य के विशेषणीभूत (साध्यतावच्छेदक) धर्म से शून्य साध्य को ही 'साध्याप्रसिद्धि' कहते हैं । इस धारणा के मूल में भी पक्ष से भिन्न में साध्यतावच्छेदक रूप विशेषण से युक्त साध्य की 'अप्रसिद्धि' ही है । प्रकृत में 'चेतनानधिष्ठितहेतुकत्व' साध्य है । इसमें निविष्ट 'हेतु' भी एक अवान्तर विशेष्य है, क्योंकि 'चेतनानधिष्ठितत्व' रूप विशेषण का वह विशेष्य है । किन्तु 'हेतु में वस्तुतः 'चेतनानधिष्ठितत्व रूप विशेषण नहीं है, क्योंकि सभी हेतु चेतनाधिष्ठित ही हैं । अतः 'चेतनाधिष्ठितहेतुत्व' घटित उक्त विशिष्ट साध्य भी अप्रसिद्ध है । इस प्रकार नवीन मतानुसार भी प्रकृत हेतु 'साध्याप्रसिद्ध' है ।

यत्पुनरुक्तं, कुविन्दादेः पटादौ कथमपेक्षेति। तत्र कारकतयेति कः सन्देहः ?। किन्तु कारकत्वमेव तस्य ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवतो न स्वरूपतः, तदेव चाधिष्ठातृत्वम् ।

सि० प० हेतोरसाधारण्यप्रसङ्गात् ··· ··· ···

(प्रतिहेतुक अनुमान के साध्य में इस प्रकार के परिवर्त्तन से यद्यपि कथित साध्याप्रसिद्धि दोष का परिहार अवश्य होगा, किन्तु इस परिवत्तित साध्यक प्रत्यनुमान का हेतु) 'असाधारण, हो जायगा ।

सपक्ष में (दृष्टान्त में) जिस हेतु का अभाव अवश्य ही रहे, वही हेतु 'असाधारण' कहलाता है। तदनुसार 'साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व' ही असाधारण' हेत्वाभास का लक्षण है। तदनुसार 'क्षित्यादिकं चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाववत् शरीरेतरजन्यत्वात्' इस अनुमान का 'शरीरेतरजन्यत्व' हेतु 'असाधारण' दोष के लक्षण से आक्रान्त हो जाता है। क्योंकि प्रकृत अनुमान के 'सपक्ष' हैं आकाशादि। चूंकि आकाशादि नित्य हैं, अतः उनमें जन्यत्व घटित कोई भी हेतु नहीं है, अतः उनमें चेतनाधिष्ठित हेतु जन्यत्व भी नहीं है। वस्तुतः जितने अचेतन हेतु हैं, वे सभी 'चेतनाधिष्ठित' ही हैं, अतः कोई भी 'कार्य' पदार्थ प्रकृत अनुमान का सपक्ष नहीं हो सकता। गगनादि नित्य पदार्थ ही सपक्ष हो सकते हैं। किन्तु गगनादि नित्यपदार्थों में 'शरीरेतरजन्यत्व' रूप हेतु भी नहीं है, क्योंकि गगनादि जब किसी से भी उत्पन्न नहीं होते। अतः गगनादि सपक्षों में सर्वदा ही न रहने के कारण उक्त अनुमान का 'शरीरेतरजन्यत्व' हेतु असाधारण हेत्वाभास होगा। अतः इस अनुमान से भी प्रकृत ईश्वरानुमान प्रतिहत नहीं हो सकता।

सि० प० यत्पुनरुक्तम् ··· ··· ··· अधिष्ठातृत्वम् ।

'अपि च पटादौ कुविन्दादेः इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा जो यह विकल्प किया गया है कि पटादि कार्यों में कुविन्दादि कि अपेक्षा इस लिये है कि कुविन्दादि पटादि कार्यो के तन्तु प्रभृति अचेतन कारकों के अधिष्ठाता हैं ? अथवा कुविन्दादि स्वयं ही पटादि के 'कारक' हैं, इसी लिये पटादि कार्यों में उनकी अपेक्षा होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि कुविन्दादि स्वयं ही पटादि कार्यों के कारक' हैं, इसीलिये पटादि कार्यों में उनकी अपेक्षा होती है।

किन्तु कुविन्दादि पटादि के इसलिये कारक हैं कि उनमें पटादि कार्यों के उपादानों का अपरोक्षज्ञान, एवं पटादि विषयक चिकीर्षा, एवं पटादि विषयक प्रयत्न ये तीनों ही उनमें हैं,

यस्त्वधिष्ठिते किमधिष्ठानेनेति । तत्किं कुविन्द उद्धार्यते, ईश्वरो वा, अनवस्था वाऽऽपाद्यते ? । न प्रथमः, अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् ।

स्वयं केवल कुविन्द होने कारण ही वे पटादि के कारक नहीं हैं अर्थात् उक्त उपादान ज्ञान, चिकीर्षा एवं प्रयत्न विशिष्ट कुविन्दादि ही पटादि के कारक हैं, केवल कुविन्दादि पटादि के कारक नहीं है।

कार्यों का 'अधिष्ठातृत्व' भी उपादान विषयक उक्त ज्ञान, चिकीर्षा एवं प्रयत्न स्वरूप ही है। अतः कुविन्दादि पटादि कार्यों के अधिष्ठाता रूप कारक ही हैं। तस्मात् कुविन्दादि में पटादि कार्यों के कर्तृत्व में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

सि० प० यस्त्वधिष्ठिते ··· ··· ···

'अपि च पटादौ कुविन्दादेः' इसी सन्दर्भ के द्वारा प्रकृत अनुमान में 'सिद्धसाधन' दोष का उद्भावन इस अभिप्राय से किया गया है कि वेमादि अचेतन साधनों का जब कुविन्दादि में से कोई चेतन अधिष्ठाता विद्यमान हैं, तो फिर ईश्वर रूप उनके दूसरे अधिष्ठाता की कल्पना 'किमर्थ' की जाती है ?

इस आक्षेप के समाधान के लिये आक्षेप करनेवाले से पूछना आवश्यक है कि उक्त प्रश्न वाक्य के निम्न लिखित तीन ही अर्थ हो सकते हैं, उन में से आप को कौन सा 'अर्थ' अभिप्रेत है।

(१) ईश्वर रूप एक अधिष्ठाता जब विद्यमान हैं तो कुलाल कुविन्दादि अन्य अधिष्ठाताओं को मानने का क्या 'प्रयोजन' है ? (अतः ईश्वर को अधिष्ठाता स्वीकार करने से कुविन्दादि में जो पटादि कार्यों की सर्वसिद्ध कारणता है, उस का लोप हो जायगा)।

(२) कुविन्दादि चेतन पदार्थ जब वेमादि अचेतन कारणों को यथावत् परिचालित करने के लिये विद्यमान हैं, तो फिर ईश्वर को पटादि कार्यों का कर्त्ता मानना प्रमाण से बहिर्भूत है। अतः ईश्वर पटादि कार्यों के कर्त्ता नहीं हैं।

(३) कुविन्दादि से अधिष्ठित वेमादि अचेतन कारणों का यदि ईश्वर नाम का एक और अधिष्ठाता मानें, तो समान युक्ति से कुविन्द एवं ईश्वर इन दोनों से भिन्न वेमादि के तीसरे अधिष्ठाता की भी कल्पना की जा सकती है। जिससे अधिष्ठातृ परम्परा का अपर्यवसान रूप अनवस्था दोष की आपत्ति होगी।

इनमें प्रथम आक्षेप का यह समाधान है कि कुविन्दादि में पटादि कार्यों की कारणता अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध है, अतः ईश्वर को मान लेने से उसका लोप नहीं हो सकता ।

न द्वितीयः, परमाण्वदृष्टाद्यधिष्ठातृत्वसिद्धौ ज्ञानादीनां सर्वविषयत्वे वेमाद्य-धिष्ठानस्यापि न्यायप्राप्तत्वात्। न तु तदधिष्ठानार्थमेवेश्वरसिद्धिः। न तृतीयः, तस्मिन् प्रमाणाभावात्। तथाप्येकाधिष्ठितमपरः किमर्थमधितिष्ठतीति प्रश्ने किमुत्तर मिति चेत् ?

न द्वितीयः ··· ··· ··· ···

द्वितीय आक्षेप के उत्तर में कहना है कि अधिष्ठातृत्व है उपादान विषयक अपरोक्षज्ञान रूप। अथवा अचेतन कारणों को कार्य के अनुकूलभाव से प्रयोक्तृत्व रूप। जिस सूक्ष्मदर्शी अधिष्ठाता को परमाणु रूप उपादान का अपरोक्षज्ञान रहेगा, अथवा अदृष्टादि अतीन्द्रिय अचेतन साधनों को कार्यों के अनुकूल प्रयोग करने की क्षमता रहेगी, उस अधिष्ठाता को तन्तु कपालादि स्थूल उपादानों का अपरोक्षज्ञान नहीं रहेगा, कि वा वेमादि स्थूल एवं इन्द्रियवेद्य साधनों को उपयुक्त रूप से व्यापृत करने की क्षमता नहीं रहेगी—यह संभव नहीं है। अतः परमाणु अथवा अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में कल्पित परमेश्वर को सर्वज्ञ मानना ही उचित है। वेमादि कारणों को पटादि स्वरूप कार्यों के उपयुक्त संचालन के ज्ञान से ही कुविन्दादि में वेमादि कारणों का अधिष्ठातृत्व माना जाता है, उक्त ज्ञान जब परमेश्वर में भी हैं, तब उनमें भी वेमादि कारणों के अधिष्ठातृत्व का निवारण कौन कर सकता है ?

यदि वेमादि के अधिष्ठाता रूप में ही परमेश्वर की सिद्धि करते, तो यह कहने का अवसर होता कि 'कुविन्दादि अधिष्ठाताओं के रहते परमेश्वर रूप अधिष्ठाता की कल्पना व्यर्थ है' किन्तु अन्य युक्तियों से जब परमेश्वर की सिद्धि हो जाती है, एवं पटादि के कर्तृत्व के उपयुक्त ज्ञान की सत्ता भी उनमें मानना अनिवार्य हो जाता है, तो फिर पटादि कार्यों के कर्तृत्व का भी निवारण उनमें कैसे किया जा सकता है ?

न तृतीयः तस्मिन् ··· ··· ··· ···

(३) कुविन्दादि अधिष्ठाताओं के रहते हुए भी ईश्वर रूप एक और अधिष्ठाता की कल्पना में अनेक युक्तियां हैं, अतः पटादि कार्यों का एक और अधिष्ठाता मानते हैं। किन्तु उसके बाद पुनः तीसरा या चौथा—इस प्रकार अनन्त अधिष्ठाताओं की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है, अतः प्रकृत में अनवस्था दोष का कोई अवसर नही है।

पू० प० तथाप्येकाधिष्ठितम्··· ··· ··· ···

फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि कुविन्दादि किसी एक अधिष्ठाता से अधिष्ठित होने के बाद वे ही वेमादि कारण समूह पुनः ईश्वर रूप दूसरे अधिष्ठाता से क्यों (किमर्थं) अधिष्ठित होते हैं ? अथवा ईश्वराधिष्ठित होने पर भी पुनः कुविन्दादि से अधिष्ठित क्यों होते हैं ?

हेतुप्रश्नोऽयम्, प्रयोजनप्रश्नो वा ? नाद्यः ईश्वराधिष्ठानस्य नित्यत्वात्। कुविन्दाद्यधिष्ठानस्य स्वहेत्वधीनत्वात्। न द्वितीयः कार्यनिष्पादनेन भोगसिद्धेः स्पष्टत्वात्। एकाधिष्ठानेनैव कार्यं स्यादिति चेत्।

सि० प० हेतुप्रश्न— ··· ··· ···

उक्त पूर्वपक्ष ग्रन्थ में प्रयुक्त 'किमर्थं' पद का 'अर्थ' पद 'हेतु' के बोध के अभिप्राय से प्रयुक्त है ? अथवा 'प्रयोजन' के अभिप्राय से प्रयुक्त है ? अर्थात् उक्त प्रश्न वाक्य से ये दो अभिप्राय प्रकट होते हैं। (१) एक अधिष्ठाता के द्वारा अधिष्ठित वेमादि कारणों के समूह में दूसरे अधिष्ठाता का अधिष्ठातृत्व किस 'हेतु' से उत्पन्न होता है ? अथवा (२) ईश्वर रूप अधिष्ठाता से अधिष्ठित होने से ही जब वेमादि कारणों से पटादि कार्यों की निष्पत्ति रूप 'प्रयोजन' संपादित हो जायगा, तो फिर कुविन्दादि दूसरे अधिष्ठाताओं का क्या प्रयोजन ?

इनमें प्रथम विकल्प का यह समाधान है कि ईश्वर में जो वेमादि कारणों का अधिष्ठातृत्व है, वह पटादि कार्यों के उपादान विषयक ईश्वरीय अपरोक्षज्ञान रूप है, अतः नित्य होने के कारण किसी से भी उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि ईश्वर को सभी विषयों का नित्य अपरोक्षज्ञान है, अतः पटादि कार्यों के उपादानों का भी नित्य अपरोक्षज्ञान अवश्य है। इसलिये प्रकृत प्रश्न का यही उत्तर है कि पटादि कार्यों के वेमादि कारणों में जो ईश्वराधिष्ठितत्व है, वह किसी भी हेतु से उत्पन्न नहीं होता।

पटादि कार्यों के कुविन्दादि कर्त्ता के प्रसङ्ग में यह उत्तर है कि कुविन्दादि गत कर्तृत्व चूँकि पटादि के कारणों के उपादन कारणों के अपरोक्षज्ञान का रहना ही है, अतः उक्त अपरोक्षज्ञान कुविन्दादि के इन्द्रियसंनिकर्षादि कारणों से उत्पन्न होते हैं।

न द्वितीयः कार्यनिष्पादनेन— ··· ··· ···

कथित द्वितीय प्रश्न का यह उत्तर है कि पटादि कार्यों के निर्माण से कुविन्दादि कर्त्ताओं को शरीर के श्रम से जो दुःख प्राप्त होता है, पारिश्रमिक की प्राप्ति से जो सुख प्राप्त होता है, इन दोनों प्रयोजनों के सम्पादन के लिये ही पटादि के वेमादि अचेतन कारण ईश्वर से अधिष्ठित होने पर भी कुलालादि से भी अधिष्ठित होते हैं।

पू० प० एकाधिष्ठानेनैव··· ··· ··· ···

पट के तन्तु प्रभृति कारणों के समूह (सामग्री) का प्रयोजन है पटादि कार्यों का सम्पादन, कुविन्दादि कर्त्ताओं में भोगों का संपादन उसका कार्य नहीं है, अतः तन्तु प्रभृति कारणों के समूह के ईश्वराधिष्ठित होने पर भी पटादि कार्यों की उत्पत्ति तो हो ही जायगी। यदि उस सामग्री से कुविन्दादि भोगों का संपादन नहीं हुआ तो इसमें क्षति ही क्या है ? क्योंकि

स्यादेव, तथापि न सम्भेदेऽन्यतरवैयर्थ्यम् । परिमाणं प्रति सङ्ख्यापरिमाण-प्रचयवत् प्रत्येकं सामर्थ्योपलब्धौ सम्भूयकारित्वोपपत्तेः ।

उक्त भोगों का संपादन तो उस सामग्री का कार्य नहीं है । प्रत्युत एक कार्य की सामग्रो से दूसरे कार्य की उत्पत्ति का न होना ही तो स्वाभाविक है। अतः द्वितीय प्रश्न का उक्त समाधान ठीक नहीं है ।

सि० प० स्यादेव तथापि··· ··· ··· ···

एक मात्र कर्त्ता के द्वारा अधिष्ठित कारणों से जिस कार्य की उत्पत्ति संभव है, उस कार्य की उत्पत्ति एकाधिष्ठित कारणों से ही होती है, जैसे कि क्षित्यंकुरादि कार्यों की । किन्तु इस दृष्टान्त से जिस कार्य की कारणता दो कर्त्ताओं में गृहीत है, उसका निराकरण यह कह कर नहीं किया जा सकता कि 'एक कर्त्ता है ही तो दूसरा व्यर्थ है' ।

परिमाणं प्रति··· ··· ··· ···

जैसे कि परिमाण, संख्या एवं प्रचय इन तीनों में से प्रत्येक में परिमाण की कारणता के सिद्ध हो जाने पर भी किसी विशेष प्रकार के परिमाण के वे तीनों कारण होते हैं, किसी परिणाम विशेष के प्रति वे दो ही कारण होते हैं । किसी परिमाण का उन में से कोई एक ही कारण होता है ।[1]

---

1. विशदार्थ यह है कि 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस न्याय के अनुसार कपालों के परिमाणों में घटपरिमाण की कारणता प्रसिद्ध है । किन्तु ह्रस्वादि एवं महदादि भेद से परिमाण भी दो प्रकार के हैं । आधे-आधे सेर के एक वितस्ति (वित्ते) के कपालों से उत्पन्न घट एक सेर का, एवं दो वितस्तियों का होगा । किन्तु आधे-आधे सेर के ही तीन वितस्तियों के दो ही कपालों से जिस घट की उत्पत्ति होगी, उस घट का तौल तो पहिले घट के समान एक सेर ही होगा, किन्तु उसकी लम्बाई छ वित्ते की होगी । उक्त घट के दोनों प्रकार के परिमाणों के उक्त दोनों प्रकार के परिमाण अलग-अलग कारण हैं । इसी प्रकार आधे आधे सेर के एवं एक एक वित्ते के ही दो कपालों से उत्पन्न घट के परिमाण की अपेक्षा उक्त स्वरूप के ही तीन कपालों से उत्पन्न घट बड़ा भी होता है, एवं भारी भी । किन्तु उक्त दोनों प्रकार के घटों के परिमाणों में तो कोई अन्तर नहीं है । केवल अवयव रूप कारणों की संख्या में अन्तर है, अतः मानना होगा कि उक्त दूसरे प्रकार के घट के विलक्षण परिमाण का कारण त्रित्व संख्या ही है । सुतराम् अवयवों में रहनेवाली संख्या को अवयवी में रहनेवाले परिमाण का कारण मानना होगा ।

एवं कुछ संख्या के एवं कुछ परिमाण के लोहे के टुकड़ों से बने हुये लोहे के अवयवी, एवं उतनी ही संख्या के एवं उतने ही परिमाण के रुई के खण्डों से बने हुए रुई के अवयवी की लम्बाई चौड़ाई (दैर्घ्य विस्तृति) भिन्न प्रकार की

अस्ति तत्र वैजात्यमिति चेत्; इहापि किञ्चिद्भविष्यतीति । न चाकुर्वतः कुलालादेः कायसंक्षोभादिसाध्यो भोगः सिद्ध्येदिति तदर्थमस्य कर्तृत्वमीश्वरोऽनुमन्यते; तदर्थमात्रत्वादैश्वर्यस्येति ।

पू० प० अस्ति तत्र ··· ··· ··· ···

कथित परिमाणों में परस्पर कुछ विलक्षणतायें अवश्य हैं, अतः विभिन्न प्रकार के परिमाण रूप कार्यों के लिये कारणों के विभिन्न समूहों की कल्पना करते हैं। पटादि कार्यों में एवं क्षित्यङ्कुरादि कार्यों में ऐसा कोई वैलक्षण्य जान नहीं पड़ता है, जिससे एक को द्विकर्तृक, एवं दूसरे को एककर्तृक मानें। अतः कथित परिमाण रूप दृष्टान्त का अतिदेश प्रकृत में नहीं हो सकता।

सि० प० इहापि ··· ··· ··· ···

पटादि रूप कार्यों में एवं क्षित्यङ्कुरादि कार्यों में भी इस प्रकार का कोई अन्तर होगा। 'अन्यथा' यदि उन दोनों प्रकार के कार्यों में कोई अन्तर न स्वीकार करें तो कुविन्दादि कर्ताओं में जो पटादि कार्यों के निर्माण से शारीरिक दुःख का अनुभव रूप भोग उत्पन्न होता है, एवं मूल्य प्राप्ति से सुख का अनुभव रूप भोग उत्पन्न होता है, उन भोगों की उत्पत्ति नहीं होगी। इसी लिये कुविन्दादि में रहनेवाले पटादि कार्यों के कर्तृत्व का ईश्वर अनुमोदन करते हैं। परमेश्वर में जो 'ऐश्वर्य' रूप संपत्ति है, उसका यही प्रयोजन है कि केवल अनुमोदन से ही जीवों के उपयुक्त भोगों का सम्पादन करें। अतः प्रकृत में परिमाण रूप दृष्टान्त अनुपयुक्त नहीं है, एवं पटादि का दो कर्ताओं से उत्पन्न होना एवं क्षित्यङ्कुरादि कार्यों का परमेश्वर रूप एक ही कर्ता से उत्पन्न होना भी अनुपपन्न नहीं है।

होती है। यह क्यों होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि लौहखण्ड रूप अवयवों का निर्माण जिन अवयवों से होता है, उन अवयवों के परस्पर संयोग से रुई खण्डों के उत्पादक अवयवों का संयोग 'प्रशिथिल' है। इस प्रशिथिल नाम के संयोग का ही नाम 'प्रचय' है। यह 'प्रचय' भी परिमाण का कारण है। तस्मात् कुछ परिमाणों के परिमाण संख्या एवं प्रचय ये तीनों ही कारण हैं। जैसे घटादि के परिमाण, कुछ परिमाणों की उत्पत्ति परिमाण एवं प्रचय इन दोनों से ही होती है जैसे कि रुई के परिमाण की। इसी प्रकार कुछ परिमाणों के केवल संख्या ही कारण है, जैसे कि द्व्यणुक के परिमाण का।

इसी प्रकार यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि कुछ कार्यों की उत्पत्ति में अनेक कर्ताओं की अपेक्षा होती है, जैसे शिबिकावाहनादि (पालकी ढोने में)। किसी कार्य के लिये एक ही कर्ता की अपेक्षा होती है, जैसे कि गमनादि कार्यों के लिये। कुछ कार्यों के लिये दो कर्ताओं की अपेक्षा होती है, जैसे कि पटादिकार्यों के लिये। इसी प्रकार क्षित्यङ्कुरादि रूप कार्यों में केवल ईश्वर स्वरूप एक ही कर्ता की अपेक्षा होती है। इसमें कोई भी असामञ्जस्य नहीं है।

यत्त्वनित्यप्रयत्नेत्यादि, भवेदप्येवं यद्यनित्यप्रयत्ननिवृत्तावेव बुद्धिरपि निवर्तेत। न त्वेतदस्ति, उदासीनस्य प्रयत्नाभावेऽपि बुद्धिसद्भावात्। हेतुभूता बुद्धिर्निवर्तत इति चेन्न।

सि० प० यत्त्वनित्यप्रयत्न ... ...

(क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवद् इस ईश्वरानुमान में जो) 'अनित्य-प्रयत्नपूर्वकत्व' स्वरूप उपाधि का उद्भावन किया गया है, वह तभी ठीक हो सकता है जब कि यह निर्णीत हो जाय कि अनित्यप्रयत्न की निवृत्ति से ही बुद्धि की निवृत्ति होती है। आत्मा के बुद्धि प्रभृति विशेषगुणों का यह स्वभाव है कि वे अपने उत्तरवर्ती किसी दूसरे विशेषगुण से विनष्ट हों। बुद्धि के बाद जहाँ प्रयत्न की उत्पत्ति होती है, वहाँ बुद्धि के बाद में रहनेवाले अनित्यप्रयत्न से अवश्य ही आत्मा के विशेषगुण स्वरूप बुद्धि का विनाश होता है। किन्तु जहाँ कोई 'उदासीन' अर्थात् कार्यों के लिये कारणों को व्यापृत न करनेवाले पुरुष को उक्त कारण विषयक अपरोक्षज्ञान होता है, वहाँ उस पुरुष में प्रयत्न रूप गुण की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः प्रयत्न से उक्त 'उदासीन' पुरुष की उक्त बुद्धि का विनाश सम्भव नहीं है। किन्तु उत्तरवर्ती दूसरी बुद्धि प्रभृति आत्मा के अन्य विशेषगुणों से ही होती है। अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि प्रयत्न के नाश से ही बुद्धि का नाश होता है।

यह स्थिर हो जाने पर 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' में 'बुद्धिमत्पूर्वकत्व' रूप सकर्तृकत्व की व्यापकता खण्डित हो जाती है। क्योंकि उक्त उदासीन पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न संस्कार में 'बुद्धिमज्जन्यत्व' तो है, किन्तु उसमें 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' नहीं है। अतः साध्यव्यापकत्व के न रहने से प्रकृत ईश्वरानुमान में 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' उपाधि नहीं है।

पू० प० हेतुभूता ... ...

'सकर्तृकत्व' का विवरण रूप जो 'बुद्धिमज्जन्यत्व' है, तद्घटक 'बुद्धि' पद से 'उपादान' स्वरूप 'कारक' विषयक अपरोक्ष बुद्धि ही अभिप्रेत है। इस कारक विषयक बुद्धि के बाद अवश्य ही प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। अतः प्रयत्न के नाश से (सभी बुद्धियों का नाश भले ही सम्भव न हो) किन्तु कथित कारक विषयक बुद्धि का विनाश अवश्य होता है, बुद्धि में जो संस्कार की कारणता है, उसका प्रयोजक (अवच्छेदक) 'कारकविषयत्व' नहीं है (अर्थात् कपालादि कारक विषयक बुद्धियाँ चूँकि कारक विषयक हैं, इसलिये वह कारक-विषयक संस्कार का कारण नहीं है, किन्तु इस संस्कारों से उत्पन्न होनेवाली स्मृतियों में होनेवाले (कारक स्वरूप) विषय ही उक्त बुद्धि के भी विषय हैं, इस लिये वह तद्विषयक

उदासीनबुद्धेरपि संस्कारं प्रति हेतुत्वात् । कारकविषया बुद्धिर्निवर्तत इति चेन्न । उदासीनस्यापि कारकबोद्धृत्वात् । न हि घटादिकमकुर्वन्तश्चक्रादिकं नेक्षामहे । हेतुभूता कारकबुद्धिर्निवर्तत इति चेन्न । अयतमानस्यापि दुःखहेतुभूताया अपि तद्धेतु-कण्टकस्पर्शबुद्धेरभावात् ।

संस्कार का कारण है) । अतः उपादानगोचरापरोक्षज्ञानवज्जन्यत्व रूप सकर्तृकत्व की व्यापकता अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व में अवश्य है । इस लिये उसके उपाधि होने में कोई भी बाधा नहीं है ।

सि० प० उदासीनबुद्धेरपि ··· — ··· ···

जो पुरुष घटादि के कारक दण्डादि को घटादि के उत्पादन के लिये व्यापृत नहीं करता है, ऐसे 'उदासीन' पुरुष को भी घटादि के दण्डादि 'कारकों' का प्रत्यक्ष होता है । ऐसा कोई नियम नहीं है, 'उदासीनों' को कारकों का प्रत्यक्ष ही न हो । अतः उदासीन पुरुष में उत्पन्न उक्त कारक विषयक अपरोक्ष बुद्धि से संस्कार की उत्पत्ति अवश्य होगी । इस संस्कार में उक्त बुद्धिमज्जन्यत्व रूप सकर्तृकत्व (साध्य) तो है, किन्तु अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व रूप उपाधि नहीं है । अतः साध्यव्यापकत्व के न रहने से अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व प्रकृत अनुमान में उपाधि नहीं हो सकता ।

पू० प० हेतुभूता कारकबुद्धिः ··· ··· ··· —

घटादि कार्यों के उत्पादन में उदासीन पुरुष की कारक विषयक बुद्धि का विनाश प्रयत्न से भले हो संभव न हो, किन्तु जिस कारक विषयक बुद्धि से घटादि कार्यों की उत्पत्ति होती है, फलतः जो कारक विषयक बुद्धि घटादि कार्यों की 'हेतु' है, उस 'हेतुभूता' बुद्धि का विनाश अनित्य प्रयत्न से ही होगा । क्योंकि उक्त 'हेतुभूता' बुद्धि के बाद कर्ता में प्रयत्न की उत्पत्ति अवश्य होती है । सकर्तृकत्व के विवरण भूत बुद्धिमज्जन्यत्व में जो बुद्धि शब्द प्रयुक्त है, उसके अर्थ रूप बुद्धि उक्त 'हेतुभूता' कारकविषयक अपरोक्ष बुद्धि ही है । इस प्रकार जहाँ भी बुद्धिमज्जन्यत्व (रूप सकर्तृकत्व) है, उन सभी स्थानों में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' अवश्य है । अतः प्रकृत उपाधि में साध्यव्यापकत्व की अनुपपत्ति नहीं है ।

सि० प० न, अयतमानस्यापि ··· ··· ··· ···

राह चलते हुए पुरुषों को कभी कभी अचानक ही काटों के उपर पैर पड़ जाता है, काँटों के उस स्पर्श से उन्हें दुःख पहुचता है । इस दुःख का कारण है काँटों के साथ पैर का स्पर्श । अतः उक्त स्पर्श दुःख का 'कारक' है । एवं उक्त स्पर्श विषयक बुद्धि 'कारकबुद्धि' है । किन्तु इस कारक विषयक बुद्धि से प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः यह नहीं

चिकीर्षाहेतुभूतोऽनुभवो निवर्तत इति चेन्न । केनचिन्निमित्तेनाकुर्वतोऽपि चिकीर्षातद्धेतुबुद्धिसम्भवात् । अनपेक्षकृतिहेतुचिकीर्षाकारणं बुद्धिर्निवर्तते इति चेत् ।

कहा जा सकता कि प्रयत्न की निवृत्ति से उक्त स्पर्श विषयक बुद्धि स्वरूप कारक विषयक बुद्धि की निवृत्ति अवश्य होती है । तस्मात् उक्त दुःख में कारक विषयक बुद्धिमज्जन्यत्व तो है, किन्तु अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व नहीं है । अतः साध्यव्यापकत्व के न रहने से प्रकृत अनुमान में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व उपाधि नहीं हो सकता ।

पू० प० चिकीर्षा ··· ··· ···

कार्य के उत्पादन में कर्त्ता का उपयोग चिकीर्षा के द्वारा ही होता है । अतः सकर्तृकत्व के विवरण स्वरूप बुद्धिमज्जन्यत्व में विशेषणीभूत जो 'बुद्धि' है, उसको 'चिकीर्षा' का कारण स्वरूप होना आवश्यक है । कारक विषयक इस बुद्धि के बाद प्रयत्न की उत्पत्ति अवश्य होती है, अतः प्रयत्न के नाश से इस कारक विषयक बुद्धि का विनाश अवश्य होगा । इसलिये जो बुद्धि चिकीर्षा का 'हेतु' है, चिकीर्षा हेतुभूत इस बुद्धिमज्जन्यत्व रूप सकर्तृत्व जहाँ भी है, उन सभी स्थानों में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व भी अवश्य है । अतः उपाधिदान असङ्गत नहीं है ।

सि० प० केन चित् ··· ··· ··· ···

कोई भी ऐसा नियम नहीं है कि बुद्धि एवं चिकीर्षा की उत्पत्ति के बाद कृति (प्रयत्न) की उत्पत्ति अवश्य हो । किसी प्रतिबन्धक के आ जाने से बुद्धि से चिकीर्षा की उत्पत्ति होने पर भी उसके बाद कृति एवं तज्जनित कारक के व्यापार की उत्पत्ति नहीं भी हो सकती है । अतः जिस पुरुष में कृति नहीं भी है, उस पुरुष में भी चिकीर्षा रह सकती है । इस पुरुष की बुद्धि चिकीर्षा का कारण अवश्य है, किन्तु इस ज्ञान से चूँकि प्रयत्न (कृति) की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः (चिकीर्षा के हेतुभूत) इस ज्ञान की निवृत्ति (विनाश) को प्रयत्न विनाश प्रयोज्य नहीं कहा जा सकता । इस चिकीर्षा में (जिससे प्रतिबन्धक वश प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं हो सकी) बुद्धिमज्जन्यत्व तो है, किन्तु अनित्य प्रयत्न पूर्वकत्व नहीं है । अतः अनित्य प्रयत्न पूर्वकत्व में साध्यव्यापकत्व के न रहने से उपाधित्व की अनुपपत्ति बनी हुई है ।

पू० प० अनपेक्षकृति हेतु ··· ··· ···

कृति दो प्रकार की है (१) कृतिसापेक्ष एवं (२) कृति निरपेक्ष, जिस समय औषध के निर्माण का जनक वैद्य का प्रयत्न (कृति) किसी दूसरे प्रयत्न (कृति) की अपेक्षा नहीं रखता है, उस प्रयत्न की उत्पत्ति औषध के उपादान विषयक उस अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होता, जिसमें औषध निर्माण के उपयुक्त गुरु के उपदेश की भी अपेक्षा

न तर्हि बुद्धिमात्रम् । तथा चानित्यप्रयत्नहेतुकत्वप्रयुक्तं विशिष्टप्रयत्न-चिकीर्षाहेतुबुद्धिमत्पूर्वकत्वमिति तन्निवृत्तौ तदेव निवर्तताम् न तु बुद्धिमत्पूर्वकत्वमात्रम्, तत्र तस्याप्रयोजकत्वादितिबुद्धिमत्पूर्वकत्वसाध्यपक्षे परीहारः । सकर्तृकमिति प्रयत्न-प्रधानपक्षे शंकेव नास्ति, तस्यैव तत्रानुपाधित्वात् ।

होती है । किन्तु किसी दूसरे कृति की अपेक्षा नहीं होती है, किन्तु उसी औषध का निर्माण जब वैद्य का कोई साधारण भृत्य करता है, तो उसके प्रयत्न (कृति) में औषधनिर्माण करने वाले वैद्य के कृति की भी अपेक्षा होती है ।

सकर्तृकत्व के विवरण रूप बुद्धिजन्यत्व घटक अपरोक्षज्ञान मात्र सापेक्ष एवं सभी कृति से 'अनपेक्ष' कृति की उत्पत्ति उपादान विषयक केवल अपरोक्ष ज्ञान से ही होगीं । (यह अपरोक्षज्ञान कर्तृत्व का प्रयोजक है ।) किन्तु चीकीर्षा यदि केवल अपरोक्षज्ञान से युक्त उक्त पुरुष के आदेश मात्र से उत्पन्न होगी, तो आज्ञा देनेवाले पुरुष की कृति से सापेक्ष यह कृति केवल उक्त पुरुष में रहने वाले पुरुष के ज्ञान से उत्पन्न होगी । इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान से जहाँ चिकीर्षा के द्वारा कृति की उत्पत्ति होगी, वहाँ चिकीर्षा एवं कृति इन दोनों के कारणीभूत उक्त अपरोक्षज्ञान की निवृत्ति अवश्य हो जायगी । अत: जो उक्त अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होगा, उसकी उत्पत्ति में कृति की भी अपेक्षा अवश्य होगी । अत: जो अपरोक्षबुद्धिमज्जन्य होगा, वह अनित्यप्रयत्नजन्य भी अवश्य होगा । इस प्रकार कर्तृत्व की प्रयोजिका चिकीर्षा के द्वारा उक्त अपरोक्ष बुद्धिमज्जन्यत्व रूप सकर्तृकत्व की व्यापकता अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व में अवश्य है, क्योंकि उक्त अपरोक्षबुद्धि प्रयत्न का कारण है । अतः कार्यत्व हेतुक प्रकृत ईश्वरानुमान में अवश्य ही अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' रूप उपाधि दोष है ।

सि० न० तर्हि --- ··· ··· परीहारः --- ··· ···

तो फिर यह कहिये कि अनित्यप्रयत्न की निवृत्ति से सभी बुद्धियों की निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु 'विशिष्टबुद्धि की अर्थात् उक्त अनपेक्षकृति एवं चिकिर्षा के कारणीभूत 'विशेष प्रकार का बुद्धियों की ही निवृत्ति अनित्यप्रयत्न से होती है । अत। उक्त अनपेक्षकृति एवं चिकीर्षा के कारणीभूतबुद्धिमज्जन्यत्व ही उक्त अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व का प्रयोज्य है, केवलबुद्धिमज्जन्यत्व नहीं । अतः उक्त 'विशिष्ट' की ही व्यापकता भी अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व रूप उपाधि में है, अतः उक्त विशिष्टसाध्यक अनुमिति में अनित्यप्रयत्प्रपूर्वकत्व उपाधि हो सकती है । अभी तो मेरे अनुमान में केवल उपादान विषयक (गोचर) अपरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व ही साध्य है, उसमें यह अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व उपाधि नहीं हो सकता ।

एवेन

सकर्तृकत्व यदि उक्त बुद्धिमज्जन्यत्व रूप रहे, तदनुसारी सकर्तृकत्व साध्यक अनुमान में यदि 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' को कोई उपाधि रूप से उपस्थित करे, उसका 'परीहार' ही ऊपर कहा गया है।

सकर्तृकमिति··· ··· ··· ···

किन्तु कृति से युक्त पुरुष ही 'कर्तृ' शब्द का मुख्यार्थ है। तदनुसार 'कृतिमज्जन्यत्व' ही मुख्य 'सकर्तृत्व' है। जो कृतिमज्जन्य होगा, वह अवश्य ही कृतिजन्य भी होगा। अतः जिस वस्तु में कृतिमज्जन्यत्व की सिद्धि होगी, उस वस्तु में कृतिजन्यत्व की सिद्धि भी समझ लेनी चाहिये। अतः प्रकृत में 'कर्तृ' शब्द को उक्त मुख्य अर्थ परक मानने से प्रकृत अनुमान का साध्य 'प्रयत्नवज्जन्यत्व' स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। इसलिये प्रयत्नसाध्यक अनुमान में कथित 'अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व' उपाधि हो ही नहीं सकता। क्योंकि साध्य एवं उपाधि दोनों फलतः अभिन्न ही ठहरते हैं। 'स्व' साध्यक अनुमान में 'स्व' उपाधि नहीं हो सकता।[1]

पू० प० एतेन[2]··· ··· ··· ···

कृति ही कार्यों का साक्षात् कारण है। उपादान विषयक (गोचर) अपरोक्ष बुद्धि उक्त कृति के उत्पादन द्वारा कार्यों का (परम्परा से) कारण है। अतः कृति से युक्त पुरुष ही 'कर्तृ' शब्द का मुख्य अर्थ है, तदनुसार 'कृतिविशिष्ट पुरुषजन्यत्व' ही 'सकर्तृकत्व' शब्द का प्रधान अर्थ है। एवं 'उपादानगोचरापरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व' सकर्तृकत्व शब्द का गौण

१. 'उप समीपवर्त्तिनि आदधाति स्वीयम् धर्ममित्युपाधिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जो अपने समीप की वस्तु में 'स्व' में रहनेवाले धर्म का 'आधान' करे, वही 'उपाधि' शब्द का मुख्य अर्थ है। जबाकुसुम अपने समीप के स्फटिक में स्वगत रक्तिमा का आधान करता है, अतः वह उपाधि है। 'स्व' का समीपवर्त्ती 'स्व' नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक वस्तुओं में से ही कोई एक दूसरे का समीप हो सकता है। अतः 'स्व' साध्यक अनुमान में 'स्व' उपाधि नहीं हो सकता।

२. इस 'एतेन' पद का अन्वय आगे के 'निरस्तम्' पद के साथ है। 'योहि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कथित समाधान ही 'एतेन' पद से अभीष्ट है। अर्थात् 'योऽहि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कथित समाधान से 'शरीर सम्बन्ध' इत्यादि सन्दर्भ से कथित पूर्वपक्ष को समाहित समझना चाहिये।

शरीरसम्बन्धे बुद्धिगतकार्यत्ववत् बुद्धिसम्बन्धे प्रयत्नगतकार्यत्वमुपाधिरिति निरस्तम् ।

मर्थ है। (अर्थात् प्रधान कर्तृत्व है कृति स्वरूप, एवं अप्रधान कर्तृत्व है उक्त अपरोक्षबुद्धि रूप)। अतः कार्यों में सकर्तृकत्व की सिद्धि से मुख्य रूप से 'कृतिमज्जन्यत्व की ही सिद्धि होगी। किन्तु कृति चूंकि बुद्धि से उत्पन्न होती है, अतः कृतिमज्जन्यत्व की सिद्धि के बाद उस कृतिमज्जन्यत्व से कार्यों में अपरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व की भी सिद्धि हो जायगी। अतः जो प्रयत्न स्वयं 'कार्य' स्वरूप होगा, उस प्रयत्न से उत्पन्न कार्य ही अपरोक्षबुद्धिजन्य भी होगा। ईश्वर का प्रयत्न तो 'नित्य' है किसी का 'कार्य' नहीं है, ईश्वर की किसी भी अपरोक्षबुद्धि से प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः क्षित्यङ्कुरादि कार्यों में ईश्वर प्रयत्न जन्यत्व की सिद्धि हो जाने पर भी उन कार्यों में अपरोक्षबुद्धिजन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार क्षित्यङ्कुरादि कार्यों में सकर्तृकत्व की सिद्धि से 'कृतिविशिष्ट पुरुष' की ही सिद्धि हो सकती है, उक्त अपरोक्षबुद्धि से युक्त सर्वज्ञ पुरुष की नहीं। अर्थात् "क्षित्यङ्कुरादेः कर्ता पुरुषः क्षित्याद्युत्पादनसमर्थक्षित्याद्युपादगोचरापरोक्षबुद्धिमान् क्षित्यादिजनकप्रयत्नवत्त्वात्" इस अनुमान में 'प्रयत्नगतकार्यत्व' उपाधि है। (फलतः कार्यप्रयत्न उपाधि है) क्योंकि जिन कुलाल-कुविन्दादि पुरुषों में उक्त बुद्धि रूप साध्य है, उनमें 'कार्यत्वविशिष्ट प्रयत्न रूप उपाधि भी है। अतः यह 'कार्यप्रयत्न' साध्य का व्यापक है। एवं क्षित्यादिजनक प्रयत्न रूप हेतु है ईश्वर में, वहां अनित्य प्रयत्न रूप उपाधि नहीं है। अतः हेतु का अव्यापक भी है। इसलिये प्रकृत ईश्वरानुमान उपाधि से दूषित है।

पू० प० शरीर सम्बन्धे ··· ··· ··· ···

क्षित्यादि कार्यों में बुद्धिजन्यत्व की सिद्धि के द्वारा उस बुद्धि के आश्रय रूप में ईश्वरसिद्धि के प्रसङ्ग में जब नैयायिकों के उपर 'ईश्वरः शरीरी बुद्धिमत्त्वादस्मदादिवत्' इस अनुमान के द्वारा ईश्वर में शरीर सम्बन्ध की आपत्ति की गयी थी, तो उक्त विरोधी अनुमान में 'कार्यत्वविशिष्टबुद्धि' को उपाधि के रूप में उपस्थित किया गया था। क्योंकि जीवों में 'कार्यबुद्धि' का सम्बन्ध भी है। एवं केवल बुद्धि रूप हेतु ईश्वर में है, किन्तु वहां 'कार्यबुद्धि' नहीं है। अतः 'कार्यबुद्धि साध्य का व्यापक, एवं साधन का अव्यापक दोनों ही है। अतः जिस प्रकार नैयायिकों के मत से ईश्वर में बुद्धिमत्त्व हेतु के द्वारा शरीरसम्बन्ध की सिद्धि इसलिये नहीं होती है कि उसमें 'कार्यत्वविशिष्टबुद्धि' रूप उपाधि दोष है, उसी प्रकार ईश्वर के 'कर्तृत्व रूप' कृति की सिद्धि होने पर भी उस प्रयत्न (कृति) से ईश्वर में बुद्धि की सिद्धि नहीं हो सकती। (ईश्वर में मुख्यकर्तृकत्व स्वरूप कृति की सिद्धि से उनमें बुद्धि नहीं सिद्ध हो सकती) केवल कृति से युक्त (कर्तृत्वविशिष्ट) ईश्वर की ही सिद्धि होगी 'सर्वज्ञ परमेश्वर' की नहीं।

यागयत्न इत्यनेन पर्यायताऽऽपत्तेः। कर्तृसङ्ख्याऽभिधानानभिधानाभ्यां विशेष इति चेन्न। यागयत्नवानित्यनेन साम्यापत्तेः। इष्ट एवायमर्थ इति चेत्? न, इतो वत्सरशतेनाप्यप्रवृत्तेः। फलसमभिव्याहाराभावान्न प्रवर्तत इति चेत्।

सि० प० न, यागयत्न ··· ··· ··· ···

यद्यपि उक्त रीति से केवल 'यत्न पद' के साथ विधिप्रत्यय की पर्यायता की आपत्ति हट जाती है, फिर भी 'यागयत्नः' इस विषयोपरक्त यत्नवाचक पद के साथ 'विधिप्रत्यय' की पर्यायता की आपत्ति होगी ही। क्योंकि ये दोनों ही विषयोपरक्त यत्न के वाचक हैं। अतः उक्त समाधान भी ठीक नहीं है।

पू० प० कर्तृसंख्या··· ··· ··· ···

विधि प्रत्यय 'यत्न' के समान ही 'कर्तृगत संख्या' का भी वाचक है। 'यागयत्न' पद केवल 'यत्न' का ही वाचक है, कर्तृगत संख्या का नहीं। अतः एकबार प्रयुक्त विधि प्रत्यय से अभिधा वृत्ति के द्वारा जितने अर्थों का बोध होता है, 'यागयत्न' पद से उन से न्यून अर्थ का बोध होता है, अतः इन दोनों में भी पर्यायत्व की आपत्ति उचित नहीं है।

सि० प० न··· ··· ··· ···

उक्त रीति से 'यागयत्नः' शब्द के साथ 'विधिप्रत्यय' की पर्यायता की आपत्ति भले ही छूट जाय, फिर 'यागयत्नवान्' इस पद के साथ विधि प्रत्यय के पर्यायत्व की आपत्ति होगी, जो उक्त युक्ति से नहीं हटेगी। क्योंकि 'यागयत्नवान्' इस पद में जो प्रथमा विभक्ति है, उस से कर्तृगत संख्या का, एवं 'यागयत्न' पद से 'यागविषयक प्रयत्न' का एवं अखण्ड 'यागयत्नवान्' इस पद से दोनों का ही बोध होता है।

पू० प० इष्ट··· ··· ··· ···

पर्यायत्व की इस आपत्ति को (इष्ट) स्वीकार कर लेंगे।

सि० प० न, इतः ··· ··· ··· ···

यह भी संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर जिस प्रकार विधि श्रवण के बाद प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विधिप्रत्यय के समानार्थक 'यागयत्नवान्' इस पद को सुनने के बाद भी प्रवृत्ति माननी होगी। किन्तु यह तो सौ वर्षों में भी संभव नहीं है। अतः उक्त पर्यायत्वापत्ति को इष्ट नहीं किया जा सकता।

पू० प०, फल; ··· ··· ··· ···

'यजेत' प्रभृति विधिप्रत्ययान्त पदों को चूंकि 'स्वर्गकामः' प्रभृति पदों का समभिव्याहार रहता है, अतः उनसे प्रवृत्ति होती है। किन्तु 'यागयत्नवान्' इस पद को फलबोधक

स्वर्गकामो यागयत्नवानित्यतोऽप्यप्रवृत्तेः। तत् कस्य हेतोः ?। न हि यत्नो यत्नस्य हेतुः, यत्नप्रतीतिर्वा यत्नस्य कारणम्, अपि त्विच्छा। न च साऽपि प्रतीता यत्नजननी येन सेव विध्यर्थं इत्यनुगम्यताम्, अपि तु सत्तया। न च लिङः श्रुतिकाले सा सती।

किसी पद का समभिव्याहार प्राप्त नहीं है, अतः इससे प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न होती। अतः उक्त पर्यायत्वापत्ति को इष्ट करने में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० न, स्वर्गकामः ··· ··· — ···

'स्वर्गकामो यागयत्नवान्' इस वाक्य से प्रवृत्ति की आपत्ति क्यों नहीं होगी ? अर्थात् उक्त युक्ति से केवल 'यागयत्नवान्' इस पद से प्रवृत्ति की आपत्ति का वारण किया जा सकता है। फिर भी 'यागयत्नवान्' स्वर्गकामः' इस वाक्य से 'यजेत् स्वर्गकामः' इस वाक्य की तरह प्रवृत्ति की आपत्ति रहेगी ही।

न हि यत्नो यत्नस्य[1] ··· ··· ··· ···

न यत्न स्वयं ही प्रयत्न का कारण है, न प्रयत्न का ज्ञान ही प्रयत्न का कारण है, किन्तु 'इच्छा' ही प्रयत्न का कारण है। वह इच्छा भी ज्ञात होकर प्रयत्न का कारण नहीं है कि इच्छा को ही विधिप्रत्यय का वाच्य अर्थ मान लें। इस लिये इच्छा को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता।

---

1. यहाँ यह अनुसंधान करना आवश्यक है कि 'इष्टहानेः (श्लोक ८) इत्यादि श्लोक के द्वारा स्पन्द, यत्न, इच्छा प्रभृति कर्त्ता में रहने वाले धर्मों में विधि प्रत्यय की वाच्यता खण्डित हुई है। उन में से 'यत्न' के विध्यर्थत्व के खण्डन के प्रसङ्ग का ही यह दीर्घ प्रसङ्ग था। आगे 'न च लिङः' इत्यादि सन्दर्भ से उक्त श्लोक के 'असत्वात्' इस वाक्य की व्याख्या आरम्भ होती है।

अर्थात् कर्त्ता में रहनेवाला इच्छा स्वरूप धर्म भी विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जिस समय लिङ् प्रत्यय स्वरूप शब्द का श्रवण रहता है, उस समय उक्त इच्छा रूप कर्त्ता के धर्म की सत्ता नहीं रहती है। इच्छा स्वयं ही प्रवृत्ति का कारण है, अपने ज्ञान के द्वारा वह प्रवृत्ति का कारण नहीं है (अर्थात् इच्छा-विषयक ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है)। इस लिये यदि लिङ् स्वरूप शब्द से इच्छा विषयक ज्ञान की उत्पत्ति हो भी (क्योंकि परोक्ष ज्ञान के लिये विषय की सत्ता अपेक्षित नहीं है) तथापि उस ज्ञान से प्रवृत्ति की संभावना नहीं है। क्योंकि इच्छा का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है, इच्छा ही प्रवृत्ति का कारण है।

न[1] च लिङ्गेव तां जनयति। अर्थविशेषमप्रत्याययन्त्यास्तस्यास्तज्जनकत्वे व्युत्पत्तिग्रहणवैयर्थ्यात् । अनुपलब्धलिङ्गाश्चेच्छाऽनुत्पत्तिप्रसङ्गादिति । एतेन वृद्धव्यवहाराद्व्युत्पत्तिर्भवन्ती बालस्यात्मनि प्रवृत्तिहेतुर्योऽवगतस्तमेवाश्रयेत् ।

न च लिङ्गेव ... ...

यह कहना भी संभव नहीं है कि "जिस इच्छा से प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है, वह इच्छा लिङ्प्रत्यय से ही उत्पन्न होती है' क्योंकि इस का इस स्वीकृति में पर्यवसान होगा कि "विधि स्वरूप शब्द किसी अर्थ विशेष विषयक ज्ञान स्वरूप व्यापार के द्वारा प्रवृत्ति का कारण नहीं है" किन्तु इस से यह जिज्ञासा ही व्यर्थ हो जायगी कि 'विधिरूप शब्द की अभिधा शक्ति कहाँ है ? क्योंकि शब्द की अभिधावृत्ति उसी अर्थ में मानी जाती है, जिस का बोध किसी लक्षणा प्रभृति अन्य वृत्तियों के साहाय्य के बिना ही उस शब्द से हो सके। लिङ् प्रत्यय यदि इच्छा का अभिधायक (वाच्य) हो, तभी उक्त रूप से इच्छा लिङ् प्रत्यय का वाच्य अर्थ हो सकती है। लिङ् को यदि इच्छा का उत्पादक मानें, तो उक्त कार्य नहीं हो सकता। अर्थात् विधिप्रत्यय इच्छा का बोधक ही हो सकता है, इच्छा का उत्पादक नहीं। तस्मात् इच्छा को यदि विधि प्रत्यय का अर्थ मानेंगे, तो ज्ञान के द्वारा विधिप्रत्यय में जो प्रवृत्ति की स्वारसिक कारणता है, वह भङ्ग हो जायगी।

अनुपलब्धलिङ्गाश्च ... ...

दूसरी बात यह है कि लिङ् से यदि इच्छा की उत्पत्ति होगी भी, तो लिङ् विषयक श्रवण स्वरूप ज्ञान से युक्त पुरुष में ही होगी। ऐसा स्वीकार करने पर जिस पुरुष को लिङश्रवण स्वरूप 'उपलब्धि' नहीं हुई है, उस पुरुष में इच्छा की उत्पत्ति अनुपपन्न हो जायगी।

एतेन ... ...

कर्त्ता में रहने वाले इच्छा अथवा प्रयत्न रूप धर्म को केवल इसी लिये विध्यर्थ नहीं मानते हैं कि वे प्रवृत्ति के स्वयं कारण हैं, ज्ञात होकर वे प्रवृत्ति के कारण नहीं हैं। इसी युक्ति के अनुसार 'संकल्प' को ही विधि प्रत्यय का अर्थ स्वीकार करनेवाले पक्ष को भी निरस्त समझना चाहिये।

---

1. इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि लिङ् रूप शब्द से ही इच्छा की उत्पत्ति मानेंगे। अतः जहाँ लिङ् का श्रवण होगा, वहाँ इच्छा भी अवश्य उत्पन्न होगी। इस लिये इच्छा को विध्यर्थ मानने में जो 'असत्त्व' हेतु के द्वारा प्रतिषेध किया गया है, वह युक्त नहीं है। इसी युक्ति के खण्डन के लिये श्लोक में 'प्रत्ययत्यागात्' यह वाक्य लिखा गया है। 'न च लिङ्गेव' इत्यादि सन्दर्भ 'प्रत्ययत्यागात् इस वाक्य की व्याख्या की भूमिका स्वरूप है

स्वयञ्च कुर्यामिति सङ्कल्पादेवायं प्रवृत्तः, ततः स एव लिङर्थं इति निरस्तम्। कुर्यामिति प्रयत्नो वा स्यादिच्छा वा। नाद्यः, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न द्वितीयः, सा हि सत्तयैव प्रयत्नोत्पादिनी, न च लिङः श्रुतिकाले सा सतीत्युक्तम्। फलेच्छा तु निसर्गवाहितया सत्यपि न प्रयत्नं प्रति हेतुः, अन्यविषयत्वात्।

पू० प० वृद्धव्यवहाराद् ... ...

'संकल्प' को 'विधिप्रत्यय' का अर्थ मानने वालों का कहना है कि वृद्धव्यवहार ही शक्ति का मुख्य नियामक है। अतः विधिप्रत्यय की शक्ति का निर्णय भी वृद्धव्यवहार से ही होगा। किन्तु जिस पुरुष को विधिप्रत्यय की शक्ति का ज्ञान नहीं है, वह भी पिपासाकुल होने पर जलानयादि कार्यों में प्रवृत्त होता है। क्योंकि उसे ज्ञात रहता है कि 'कुर्याम्' इस आकार का संकल्प प्रवृत्ति का कारण है। विधिश्रवण के बाद प्रयोजकवृद्ध की अग्निहोत्रादि विषयक प्रवृत्ति को देखकर उसे धारणा बन जाती है कि 'कुर्याम्' इस आकार का 'संकल्प' ही विधि प्रत्यय का अर्थ है। अतः संकल्प ही 'विधि' प्रत्यय का अभिधेय अर्थ है।

सि० प० कुर्याम् ... ...

'कुर्याम्' इस शब्द से जिस 'संकल्प' की ओर संकेत किया गया है, वह प्रत्यय स्वरूप है? (२) अथवा इच्छा स्वरूप है? यदि उक्त 'संकल्प' को 'प्रत्यय' स्वरूप मानेंगे तो 'स्वात्मनि वृत्तिविरोध' की आपत्ति होगी। अर्थात् प्रयत्न कभी प्रयत्न का विषयक नहीं हो सकता। (यही बात श्लोक के 'विरोधतः' पद से व्यक्त की गयी है)।

यदि उक्त 'संकल्प' को 'इच्छा स्वरूप मानेंने तो लिङ् श्रवणकाल में चूँकि इच्छा की सत्ता नहीं है, एवं इच्छा स्वरूपतः स्वयं प्रवृत्ति का कारण है ज्ञात होकर नहीं, अतः प्रयत्न के द्वारा इच्छा से प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह बात पहिले भी कही जा चुकी है। अतः 'संकल्प' भी विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

फलेच्छा तु ... ...

(श्लोक के 'संकरात्' इस हेतु वाक्य के विवरण स्वरूप इस सन्दर्भ का अभिप्राय है कि पहिले फल की इच्छा उत्पन्न होती है, उसके अनन्तर तदनुकूल प्रयत्न उत्पन्न होता है। उसके बाद प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है, इस स्वाभाविक क्रम के अनुसार लिङ् श्रवण के समय भी सुखादि स्वरूप मुख्य फलों की इच्छा अवश्य रहती है। इस फलेच्छा से यागादि उपाय विषयक प्रयत्नों की उत्पत्ति होगी। अतः 'फलेच्छा' ही विधिप्रत्यय का अर्थ है। किन्तु यह भी उचित नहीं है, क्योंकि) यद्यपि यह स्वाभाविक है कि यागादि उपायों की इच्छा

तदर्थञ्च शास्त्रवैयर्थ्यात्। तस्याः कारणान्तरत एव सिद्धेः। तत्प्रतीत्यर्थमपि शास्त्रानपेक्षणात्। तस्या मनोवेद्यत्वात्। प्राप्ते च शास्त्रानवकाशात्। तदभिधाने च स्वर्गकाम इति कर्तृविशेषणपौनरुक्त्यात्। तदा हि यजेतेत्यस्यैव यागकर्त्ता स्वर्गकाम इत्यर्थः स्यात्।

यदि च फलविषयैव साधनविषयं प्रयत्नं जनयेत्; अन्यत्रापि प्रसुवीत, नियामकाभावात्।

से अव्यवहित पूर्वकाल में सुखादि फलों की इच्छायें अवश्य रहें। किन्तु केवल इसलिये फलेच्छा उपाय विषयक इच्छा का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि समानविषयक इच्छा समानविषयक प्रयत्न का ही कारण है। घटविषयक इच्छा से घटविषयक प्रयत्न की ही उत्पत्ति हो सकती है, पटविषयक प्रयत्न की नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि फल विषयिणी इच्छा विधिप्रत्यय से उत्पन्न होगी? अथवा ज्ञात होगी?

तदर्थञ्च ··· ··· ··· ···

विधिप्रत्यय से फलविषयिणी इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि तद्विषयक इच्छा के प्रति तद्विषयक ज्ञान में जो कारणता क्लृप्त है, उसी से सुखादि फल विषयक इच्छाओं की उत्पत्ति हो जायगी। इसके लिये विधि स्वरूप शास्त्र की कौन सी आवश्यकता है? अतः इस पक्ष में शास्त्र का वैयर्थ्य दोष अनिवार्य है।

तत्प्रतीत्यर्थं ··· ··· ··· ···

विधिप्रत्यय से फलविषयक इच्छा विषयक ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती। क्योंकि इच्छा तो स्वभावतः मन स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण बोध्य है। इसके लिये विधि-प्रत्यय रूप शब्द (शास्त्र) प्रमाण की कौन सी आवश्यकता है? अन्य प्रमाणों से अज्ञेय अर्थों के ज्ञान के लिये ही शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण की आवश्यकता होती है? तथापि यदि आग्रहवश सुखेच्छा को अर्थात् 'फलेच्छा' को विधि प्रत्यय का अर्थ मानेंगे, तो फल के बोधक एवं कर्त्ता में विशेषणीभूत 'स्वर्गकामः' प्रभृति पदों का वैयर्थ्य दोष आ पड़ेगा। क्योंकि उनसे ज्ञाप्य अर्थों का ही बोध 'विधि प्रत्यय' से भी कहा गया है। फलतः इस पक्ष में 'यजेत' पद से बोध्य फलकामना के लिये प्रयुक्त 'स्वर्गकाम.' पद का वैयर्थ्य अनिवार्य है।

यदि च ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि अन्वय और व्यतिरेक ये दोनों ही कारणत्व के नियामक हैं। फलेच्छा में उपाय विषयक प्रयत्न का अन्वय एवं व्यतिरेक ये दोनों ही

हेतुफलभाव एव नियामक इति चेत्, न।

यदि हैं, तो फिर फलेच्छा को उपायविषयक इच्छा का कारण मानने में बाधा ही क्या है ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि) फल एवं उपाय ये दोनों ही परस्पर भिन्न दो वस्तुएं हैं। अतः फलविषयक इच्छा में उपाय विषयक इच्छा की कारणता को स्वीकार करने का अर्थ है भिन्न विषयक इच्छा में भिन्न विषयक प्रयत्न की कारणता को स्वीकार करना, किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर 'अन्यत्र' भी अर्थात् घटविषयक इच्छा में भी पट विषयक प्रयत्न की कारणता को स्वीकार करना होगा। किन्तु सो युक्त नहीं है। अतः उक्त आक्षेप व्यर्थ है।[1]

पू० प० हेतुफलभाव एव ··· ··· ··· ···

फल स्वरूप भिन्न विषयक इच्छा को ही उपाय रूप भिन्न विषयक प्रयत्न का कारण मानते हैं। सुख फल है, एवं याग उसका उपाय, इसी लिये सुखेच्छा में यागविषयक प्रयत्न की कारणता को स्वीकार करते हैं। घटपटादि परस्पर निरपेक्ष वस्तुओं में 'फलोपायभाव' नहीं है अर्थात् उनमें कोई एक दूसरे का फल अथवा उपाय नहीं है, अतः एक विषयक इच्छा से दूसरे निरपेक्ष विषयक प्रयत्न उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः 'अन्यत्र' भी जो कारणत्व की आपत्ति दी है, वह ठीक नहीं है।

---

१. समानविषयक प्रयत्न के प्रति समानविषयक इच्छा को कारण मानना आवश्यक है। एवं यह भी नियम है कि जिसको जिस विषय की इच्छा होती है, उसे उस विषय के साधन विषयक इच्छा भी अवश्य होती है। तदनुसार जिसे स्वर्ग की इच्छा होगी, उसे याग करने की इच्छा भी अवश्य ही होगी। यह याग विषयक इच्छा याग विषयक प्रयत्न के बाद नहीं होगी। सुतराम् स्वर्गादि फलविषयक इच्छा को यदि याग स्वरूप उपायविषयक प्रयत्न का कारण स्वीकार भी करेंगे, तो फलविषयक इच्छा में यह कारणता यागविषयक इच्छा के उत्पादन के द्वारा ही आ सकेगी। अर्थात् फलविषयक इच्छा से उपायविषयक इच्छा, एवं उपायविषयक इच्छा से उपायविषयक प्रयत्न—यही क्रम मानना होगा। ऐसी स्थिति में समानविषयकत्व मूलक न्याय के अनुसार उपायविषयक इच्छा को ही उपायविषयक प्रयत्न का कारण मानकर, फलविषयक इच्छा को उपायविषयक प्रयत्न का अन्यथासिद्ध मानना ही उचित है। किन्तु पहिले कहा जा चुका है कि छिन्नावस्था के समय यागादिविषयक इच्छायें नहीं रहती हैं। इसलिये फलेच्छा स्वरूप-कर्त्तृधर्म अथवा उपायेच्छा स्वरूप कर्त्तृधर्म इन दोनों में से कोई भी विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

न, अज्ञातस्य तस्य नियामकत्वे लिङं विनाऽपि स्वर्गेच्छातो यागे प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। ज्ञातस्य तु तत्साधनत्वस्य नियामकत्वे तदिच्छैव तत्र प्रवर्त्तयतु। यो यत्कामयते स तत्साधनमपि कामयत एवेति नियमात्। न च सा तदानीं सती। न च तज्ज्ञानमेव प्रयत्नजनकम्, तच्च लिङा क्रियत इति युक्तम्। स्वर्गकामो यागचिकीर्षावानित्यतोऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्।

सि० प० न, अज्ञातस्य तस्य ··· ··· ··· ···

उक्त समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथमतः यह प्रष्टव्य है कि जिस 'फलविषयक 'इच्छा' को 'उपाय विषयक इच्छा' का उत्पादक कहा है, उसमें 'फल' शब्द से क्या फलत्व रूप से ज्ञायमान 'वस्तु' अभिप्रेत है? अथवा उस वस्तु का फलत्व रूप से ज्ञात होना आवश्यक नहीं है, किन्तु उसका 'फलस्वरूप' होना ही पर्याप्त है? इनमें से द्वितीय पक्ष इस लिये अयुक्त है कि) यदि प्रयत्न में विषय होनेवाले, उपाय के फल स्वरूप, स्वर्गादि फलों का फलत्व रूप से ज्ञात होना आवश्यक नहीं है, अर्थात यदि स्वर्गादि फलों को यागादि उपायों का फल होना ही पर्याप्त है, तो फिर विधि के बिना ही केवल स्वर्ग की इच्छा मात्र से याग में प्रवृत्ति माननी होगी। अतः इस पक्ष में विधिवाक्य के वैयर्थ्य की आपत्ति होगी।

ज्ञातस्य ··· ··· ··· ···

यदि यागादि उपायों के साध्य रूप से स्वर्गादि का ज्ञात होना आवश्यक हो, तो फिर यागविषयक प्रयत्न के लिये यागविषयक इच्छा को कारण मानना आवश्यक होगा।

पू० प० न च तज्ज्ञानमेव ··· ··· ··· ···

फल की इच्छा उपाय के प्रयत्न का कारण भले ही न हो, किन्तु फलेच्छा विषयक ज्ञान तो उपाय विषयक प्रयत्न का कारण हो सकता है, एवं इसके द्वारा प्रवृत्ति का भी कारण हो सकता है। इस लिये फलेच्छा के ज्ञान को विधि प्रत्यय का वाच्य (अर्थ) मानने में कौन सी बाधा है?

सि० प० स्वर्गकामः ··· ··· ··· ···

यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य का अर्थ होगा 'स्वर्गकामो यागचिकीर्षावान्'। यदि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से प्रवृत्ति मानें, तो तत्समानार्थक 'स्वर्गकामो यागचिकीर्षावान्' इस वाक्य से भी प्रवृत्ति की उत्पत्ति माननी होगी। किन्तु ऐसी बात नहीं होती है।

लिङ्गो वेच्छां प्रतीत्यनिच्छन्नपि सर्वः प्रवर्त्तेत । स्वसंबन्धितया तदवगतस्तथा, न तु सामान्यत इति चेन्न । प्रथमपुरुषेण तदभिधाने तस्याविध्यर्थत्वप्रसङ्गात् । ओदनकामस्त्वं पाकचिकीर्षावानित्यतोऽपि प्रवृत्त्यापत्तेश्च । अपि च । सङ्कल्पज्ञानात् यदि प्रयत्नो जायेत, तथापि सङ्कल्पस्य कुतो जन्म ? किमर्थंश्च ?

लिङ्गो वा ··· ··· ··· ···

इसी प्रसङ्ग में दूसरी बात यह है कि विधि स्वरूप शब्द से जो फलेच्छा का शाब्दबोध रूप परोक्षज्ञान होगा, उस समय फलेच्छा का रहना नियत नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि फलेच्छा न रहे, किन्तु उसका शाब्दबोध रहे। अतः जिस व्यक्ति को फलेच्छा नहीं है, किन्तु उसका ज्ञान है, उसमें भी प्रवृत्ति माननी होगी। इस लिये भी फलेच्छा विषयक ज्ञान को विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

पू० प० स्वसम्बन्धि ··· ··· ··· ···

प्रवृत्त (प्रवृत्ति से युक्त) पुरुष में रहनेवाली फलेच्छा का ज्ञान ही विधिप्रत्यय का अर्थ है। जिस पुरुष में फलेच्छा नहीं रहेगी, किन्तु फलेच्छा का ज्ञान रहेगा, वह ज्ञान कभी फलेच्छा विशिष्ट (सामानाधिकरण सम्बन्धेन) नहीं होगा। अतः फलेच्छा के विना जो फलेच्छा के ज्ञान से प्रवृत्ति की आपत्ति दी गयी है, वह ठीक नहीं है।

सि० प० न, प्रथम पुरुषेण ··· ··· ··· ···

'यजेत' इस प्रथम पुरुष में निष्पन्न विधिप्रत्यय से फलेच्छा विषयक उसी ज्ञान का अभिधान होगा, जो नियमतः प्रवृत्त होने वाले श्रोता पुरुष से भिन्न पुरुष में ही रहेगा। अतः प्रवृत्त होने वाले पुरुष में रहने वाला ज्ञान विध्यर्थ नहीं हो सकता।

ओदनकामस्त्वम् ··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह भी है कि यदि फलेच्छा विषयकज्ञान को विधिप्रत्यय का अर्थ मानेंगे, तो जिस प्रकार 'ओदनकामः पचेत्। इस वाक्य से पाक में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार 'ओदनकामस्त्वं पाक चिकीर्षावान्' इस वाक्य से भी प्रवृत्ति माननी होगी। क्योंकि दोनों वाक्य समानार्थक हैं।

अपि च ··· ··· ··· ···

तीसरी बात यह है कि यदि यह स्वीकार भी करलें कि स्वर्गादि फलविषयक इच्छा स्वरूप संकल्प के ज्ञान से यागादि उपाय विषयक प्रयत्नों की उत्पत्ति होती है, तथापि यह प्रष्टव्य शेष रह जाता है कि उस 'संकल्प' का जन्म किससे होता है ?

सङ्कल्पज्ञानादेव प्रयत्नार्थञ्चेति चेत्; नन्विच्छाविशेषः सङ्कल्पः; स तावत् सुखे स्वभावतः, तत्साधने चौपाधिकः, सङ्कल्पविषयस्तु कथम् ?। तत्साधनत्वादेवेति चेत्; तर्हि तत्साधनत्वज्ञानात्, न तु सङ्कल्पस्वरूपज्ञानाद्भवितुमर्हतीति। अन्यथेष्ट-साधनताज्ञानमप्यनर्थकमापद्येत। तस्मात् सङ्कल्पः प्रवर्तक इत्यभ्युपेयते, किन्तु सत्तामात्रेण, न तु ज्ञात इति नासौ विधिः। ज्ञानञ्च विषयोपहारेणैव व्यवहारयतीति तद्विषय एवावशिष्यते इति कर्तृधर्मव्युदासः।

पू० प० संकल्प ··· — ··· ···

(यदि इस प्रश्न का यह उत्तर दें कि) प्रयत्नोत्पत्ति स्वरूप प्रयोजन संपादन के लिये संकल्प विषयक ज्ञान से संकल्प की उत्पत्ति होती है।

सि० ननु ··· ··· — —

पहिले कह आये हैं प्रकृत में 'संकल्प' इच्छा स्वरूप है। सुख विषयक इच्छा तो स्वाभाविक है, क्योंकि सुखविषयक ज्ञान का यह स्वभाव ही है कि वह सुखविषयक इच्छा का उत्पादन करें। यागादि जो सुख के साधन हैं, उनकी इच्छा यागादि उपायों को सुख का साधन समझने से ही होगी। अतः यागादि उपाय विषयक इच्छा औपाधिक है। किन्तु संकल्प विषयक इच्छा विशेष स्वरूप 'संकल्प' किससे उत्पन्न होगा ? यदि संकल्प में जो सुख के साधनीभूत यागादि की साधनता है, तद्विषयक ज्ञान से उक्त 'संकल्प' की उत्पत्ति मानेंगे, तो इच्छा स्वरूप उक्त संकल्प की उत्पत्ति वास्तव में सुखसाधनत्व ज्ञान से ही मानना होगा, संकल्पत्वेन संकल्पज्ञान से नहीं। यदि ऐसा हो तो इष्टसाधनताज्ञान और इच्छा में जो कार्यकारणभाव है, वही भङ्ग हो जायगा।

अतः संकल्प को प्रवर्त्तक तो मानते हैं, किन्तु ज्ञात होकर प्रवर्त्तक नहीं मानते। स्वतः संकल्प को ही प्रवृत्ति का कारण मानते हैं। अनेक बार यह कहा जा चुका है कि वही विधि-प्रत्यय का अर्थ हो सकता है, जो ज्ञात होकर प्रवृत्ति का उत्पादन कर सके। अतः संकल्प विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

ज्ञानञ्च ··· — ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि संकल्प स्वरूप कर्तृधर्म भले ही विधि प्रत्यय का अर्थ न हो सके, किन्तु 'ज्ञान' स्वरूप कर्तृधर्म तो विधि प्रत्यय का अर्थ हो सकता है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी विशेष विषय के साथ सम्बद्ध होकर ही ज्ञान प्रवृत्ति का उत्पादन कर सकता है। यदि ऐसा न हो तो सभी ज्ञानों से सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का उत्पादन मानना होगा। अर्थात् 'यजेत' इस वाक्य जनित ज्ञान से पाकादि में

अस्तु तर्हि कर्मधर्मः। नेत्युच्यते,

अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः।
तदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाऽप्यप्रवृत्तितः ॥१२॥

भी प्रवृत्ति माननी होगी। ऐसी स्थिति में जब किसी विशेष विषय के सम्बन्ध प्रयुक्त ही उक्त ज्ञान में प्रवृत्ति की उत्पादकता है, तो फिर वह 'विशेष विषय' ही प्रवृत्ति का कारण है, एवं वही 'विशेषविषय' विधि प्रत्यय का अर्थ है। वह 'विशेष विषय' इष्ट 'साधनत्व' रूप ही है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से ही 'ज्ञान' (इष्टसाधनत्वविषयक ज्ञान) में प्रवृत्ति की जनकता है, इस लिये 'इष्ट साधनत्व' ही विधि प्रत्यय का अर्थ है, तस्मात् कर्त्ता में रहनेवाले किसी भी धर्म को विध्यर्थ नहीं माना जा सकता।

पू० प० अस्तु तर्हि ··· ··· ···

(यदि कर्त्ता में रहनेवाले ज्ञान, इच्छा प्रभृति धर्म विधि प्रत्यय के अर्थ नहीं हो सकते तो फिर) 'कर्म' में रहनेवाले धर्म को ही विधि प्रत्यय का अर्थ क्यों न मान लिया जाय।

सि० प० न, [1]अतिप्रसङ्गात् फलम् ··· ··· ···

किन्तु यह भी संभव नहीं है,

---

1. इस स्तवक के आठवें श्लोक के अवतरण में यह विकल्प किया गया है कि (१) कर्त्ता का धर्म विध्यर्थ है; अथवा (२) कर्म में रहने वाला धर्म ही विधि प्रत्यय का अभिधेय है ? (३) किं वा क्रिया गत धर्म ही विधिप्रत्यय का वाच्य है ? अथवा (४) नियोक्ता में रहनेवाला धर्म ही विधिप्रत्ययार्थ है ? इनमें से अन्तिम पक्ष ही आचार्य को अभिप्रेत है। इसके लिये शेष तीनों ही पक्षों का खण्डन आवश्यक है। अतः ८वें श्लोक से लेकर ११रहवें श्लोक पर्यन्त के ग्रन्थ से कर्त्ता में रहनेवाले इच्छा, ज्ञान प्रभृति धर्मों का विध्यर्थत्व खण्डित हुआ है।

इस श्लोक के द्वारा क्रमशः 'कर्म धर्म' का विध्यर्थत्व खण्डित हुआ है। प्रकृत में 'कर्म' पद के तीन अर्थ संभावित हैं। (१)'क्रियते इति कर्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ही 'स्वर्ग स्वरूप फल, 'अपूर्व' स्वरूप व्यापार, एवं 'याग' स्वरूप करण, ये तीनों ही 'कर्म' शब्द के अर्थ हो सकते हैं। अविशेषात् 'कर्म' पद बोध्य इन तीनों में ही विध्यर्थत्व आपन्न है। फलतः खण्डनीय विकल्पों के ये तीन स्वरूप निष्पन्न होते हैं।

अतिप्रसङ्गान्न फलम् ··· ··· ··· ···

क्योंकि यह निर्णीत हो चुका है कि विधि प्रत्यय के अर्थ को ज्ञात होकर प्रवृत्ति का उत्पादक होना आवश्यक है, अत: 'स्वर्गगत कार्यत्व' तभी विधि प्रत्यय का अर्थ हो सकता है, यदि उक्त 'कार्यत्व' का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण हो। स्वर्ग स्वरूप फल के लिये लोग यागादि का अनुष्ठान करते हैं। अतः तद्विविषयक प्रवृत्ति का कारण याग विषयक ज्ञान ही हो सकता है। यदि स्वर्ग निष्ठ कार्यत्व विषयक ज्ञान को याग विषयक प्रवृत्ति का कारण मानें, तो इसका अर्थ है विभिन्न विषयक ज्ञान को विभिन्न विषयक प्रवृत्ति का कारण मानना। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर घट विषयक ज्ञान से पटविषयक प्रवृत्ति की आपत्ति स्वरूप 'अतिप्रसङ्ग' होगा। इसी 'अतिप्रसङ्ग, के भय से स्वर्ग स्वरूप 'फल' निष्ठ कार्यत्व को विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।[1]

---

(१) स्वर्ग वृत्ति कार्यत्व विधि प्रत्यय का अर्थ है (२) अपूर्व निष्ठ कार्यत्व विधिप्रत्यय का अर्थ है। (३) यागादि गत कार्यत्व ही विध्यर्थ है। इनमें श्लोक के प्रथम चरण से प्रथम पक्ष का खण्डन किया गया है। द्वितीय पक्ष का द्वितीय चरण से, एवं द्वितीय पक्ष पर आये हुये अन्य अवान्तर विरोधों का तृतीय चरण से खण्डन हुआ है। चौथे चरण से तृतीय पक्ष खण्डित हुआ है।

1. किन्तु इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस 'फल' को जिस कारण का कार्य समझेंगे, उस कारण में प्रवृत्ति अवश्य होगी। घट पट का कार्य नहीं है, अतः घटज्ञान से पट में प्रवृत्ति नहीं होती है। किन्तु पिपाशोपशमन स्वरूप फल को जब जल प्रयोज्य समझते हैं, तो इस ज्ञान से जल में प्रवृत्ति अवश्य होती है। अतः स्वर्ग स्वरूप फल को याग का कार्य समझने से याग में जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उससे घट ज्ञान से पट विषयक प्रवृत्ति की आपत्ति स्वरूप 'अतिप्रसङ्ग' नहीं दिया जा सकता। किन्तु विध्यर्थ को ज्ञात होकर प्रवृत्ति को उत्पन्न करने की बात बनी हुई है। तदनुसार प्रकृत में 'स्वर्गस्वरूपं कार्यं यागजन्यम्' इस आकार के स्वर्गनिष्ठ कार्यत्व विषयक ज्ञान का विषयीभूत स्वर्गनिष्ठकार्यता में यागविषयक प्रवृत्ति की कारणता माननी होगी। किन्तु मनुष्य असंख्य है, किसी को यह ज्ञान भी हो सकता है कि 'स्वर्ग स्वरूपं कार्यम् चैत्यवन्दनादिजन्यम्' अतः केवल स्वर्गनिष्ठ कार्यत्व ज्ञान मात्र से प्रवृत्ति मानने पर वस्तुतः स्वर्ग के अकारण चैत्यवन्दनादि कार्यों में भी शिष्ट जनों की प्रवृत्ति की आपत्ति रूप 'अतिप्रसङ्ग' होगा। इस लिये स्वर्गादि फल निष्ठ कार्यत्व को विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

(२) नापूर्वं तत्त्वहानितः

(श्लोक के उक्त द्वितीय चरण का अभिप्राय है कि) यागजनित जिस 'अपूर्व' से स्वर्ग उत्पन्न होता है, उस अपूर्वनिष्ठ कार्यत्व को भी विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि इससे 'अपूर्व' का 'तत्त्व' अर्थात् 'अपूर्वत्व' नहीं रह सकेगा। उसे 'अपूर्व' इस लिये कहा जाता है कि शाब्दबोध से 'पूर्व' वह सर्वथा 'अ'ज्ञात रहता है। यदि अपूर्व निष्ठ कार्यत्व में विधिप्रत्यय का शक्ति मानेंगे, तो उस शक्तिज्ञान के लिये 'अपूर्व' का किसी भी प्रकार का ज्ञान पहले आवश्यक होगा। क्योंकि सर्वथा अज्ञात वस्तु में शक्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। तस्मात् अपूर्व के 'तत्त्वहानि' अर्थात् अपूर्वत्व की हानि रूप दोष के कारण अपूर्वत्व निष्ठकार्यत्व को विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

(३) तदलाभाच्च कार्यञ्च ... ...

(इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी कह सकते हैं कि 'अपूर्व' का 'अपूर्वत्व' रूप से ज्ञात होने पर ही उसकी 'अपूर्वता' व्याहत होगी। अतः अपूर्वत्व रूप से अपूर्व (निष्ठ कार्यता) में विधिप्रत्यय की शक्ति नहीं मानते। किन्तु कार्यत्व रूप से 'कार्य' में ही लिङ पद की शक्ति मानते हैं। कार्यत्व रूप से कार्य तो पूर्वज्ञात ही है। अतः उसमें शक्ति का ज्ञान दुर्घट नहीं है। किन्तु शाब्दबोध में अकांक्षा से वशीभूत होकर 'अपूर्व स्वरूप' कार्य का ही भान होगा। सामान्य रूप से शक्ति गृहीत रहने पर भी विशेष रूप से शाब्दबोध में भान आकांक्षा के प्रभाव से माना जाता है। घट पद की शक्ति घटत्व स्वरूप सामान्य धर्म विशिष्ट में ही गृहीत रहने पर भी 'घटेन जलमाहर' इत्यादि वाक्य जन्य शाब्दबोध में छिद्रेतरत्वादि विशिष्ट घटविशेष का ही भान होता है। अतः अपूर्व निष्ठ कार्यत्व में विधिप्रत्यय की शक्ति मानने पर भी अपूर्व की अपूर्वता व्याहत नहीं होगी।

अथवा कार्यत्वोपलक्षित अपूर्व में ही लिङ् प्रत्यय की शक्ति मानते हैं। किन्तु शाब्दबोध अपूर्वत्व विशिष्ट अपूर्व का ही होगा। किन्तु शक्तिज्ञान का आकार 'कार्यं विधिशक्यम्' इसी आकार का होगा। जैसे कि 'गन्धवती पृथिवी' इस स्थल में गन्धवत्वोपलक्षित (गन्धोपलक्षित) पृथिवी में ही पृथिवी पद की शक्ति गृहीत होती है। किन्तु शाब्दबोध में पृथिवित्व विशिष्ट पृथिवी ही भासित होती है। उसी प्रकार पहिले अपूर्वत्वविशिष्ट अपूर्व का ज्ञान न रहने पर भी विधिप्रत्यय से अपूर्वत्व विशिष्ट अपूर्व का शाब्दबोध हो सकता है। इससे अपूर्व की अपूर्वता व्याहत नहीं होगी। इसी पक्ष का खण्डन श्लोक के तृतीय चरण से इस इस अभिप्राय से किया गया है कि)

(१) जिन यागादि कार्यों से अपूर्व की उत्पत्ति होती है तद्बोधक धातु समभिव्याहृत लिङ् पद की शक्ति यदि कार्य में स्वीकार करेंगे तो 'अपूर्व' का उक्त रीति से भान

कर्म हि फलं वा स्यात्, तत्कारणमपूर्वं वा, तत्कारणं क्रिया वा ?। न प्रथमः, फलेच्छायाः प्रवृत्तिं प्रत्यहेतुत्वात्, अतिप्रसङ्गादित्युक्तत्वात्। न द्वितीयोऽव्युत्पत्तेः।

किसी प्रकार शाब्दबोध में हो भी सकता है। किन्तु नित्यकर्म के विधायक जो 'अहरहः संध्यामुपासीत' इत्यादि वाक्य हैं, उनमें प्रयुक्त लिङ्पद से अपूर्व का बोध असम्भव होगा। सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है, उनसे तदकरण प्रयुक्त प्रत्यवायों की अनुत्पत्ति मात्र होती है। एवं 'अष्टम्यां मांसं नाश्नीयात्' इत्यादि निषेध वाक्यों में प्रयुक्त लिङ् प्रत्यय से भी 'अपूर्व' का बोध सम्भव नहीं है, क्योंकि अष्टमी तिथि में मांस के न खाने से किसी अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है।

अतः 'तदलाभात्' अर्थात् नित्यकर्म के विधायक वाक्यों के लिङ्प्रत्यय से, एवं निषेध वाक्यों में प्रयुक्त लिङ् प्रत्यय से चूंकि 'अपूर्व' का 'लाभ' सम्भव नहीं है, अतः कार्य सामान्य में लिङ् पद की शक्ति स्वीकार करके भा अपूर्व निष्ठ कार्यत्व स्वरूप 'कर्म के धर्म' को विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

(४) न, क्रियापि··· ··· ··· ···

'क्रिया निष्ठ कार्यत्व' भी विधि प्रत्यय का अभिधेय नहीं हो सकता। क्योंकि विध्यर्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह ज्ञात होकर प्रवृत्ति को उत्पन्न कर सके। जो ज्ञात होकर प्रवृत्ति का उत्पादक होगा, उसको इष्ट का साधक होना अनिवार्य है। अन्ततः इष्टसाधकत्व रूप से ज्ञात होना आवश्यक है ही, भले ही वास्तव में इष्ट का साधक न हो। याग स्वरूप 'क्रिया' में रहनेवाला 'कार्यत्व' न ज्ञात होकर प्रवृत्ति का कारण है, न प्रवृत्ति से पहिले सर्वत्र इष्ट साधनत्व रूप से ज्ञात ही रहता है। अतः यागादि क्रियाओं में रहनेवाला कार्यत्व स्वरूप धर्म भी विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

कर्म हि ··· ··· ··· ···

प्रकृत में 'कर्म' शब्द से (१) 'स्वर्गादि' स्वरूप चरम फल (२) उनके उत्पादक व्यापार स्वरूप कारण 'अपूर्व' अथवा (३) करण स्वरूप यागादि ये तीन ही लिये जा सकते हैं।

तत्र न प्रथमः ··· ··· ··· ···

इन में से प्रथम पक्ष इस लिये असङ्गत है कि फलेच्छा को यदि प्रवृत्ति का कारण मानेंगे तो 'अतिप्रसङ्ग' होगा, जिसका उपपादन किया जा चुका है।

न द्वितीयः··· ··· ··· ···

लिङ् शब्द की शक्ति यदि 'अपूर्व' में मानेंगे तो उसका प्रवृत्ति निमित्त (१) अपूर्वत्व अथवा (२) अपूर्व में रहनेवाला कार्यत्व होगा (३) अथवा वे दोनों ही प्रवृत्तिनिमित्त होंगे। इन में यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करेंगे तो 'अपूर्व' की अपूर्वता ही भंग हो जायगी। 'अपूर्व'

लिङो हि प्रवृत्तिनिमित्तमपूर्वत्वं वा स्यात् ? कार्यत्वं वा स्यात् ? उभयं वा ?। न प्रथमः। शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्यापूर्वत्वस्य प्रमाणान्तरादवगतावपूर्वत्वव्याघातात्। अनवगतावव्युत्पत्तेः, संबन्धिनोऽनवगमे संबन्धस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तत एवावगतावितरेतराश्रयदोषात्। न च गन्धवत्त्वेनोपनीतायां पृथिव्यां पृथिवीशब्दवत् अपूर्वे प्रवर्त्तते लिङिति युक्तम्। तत्रोभयोरपि प्रतीयमानत्वेन सन्देहे कल्पनागौरवपुरस्कारेण पृथिवीत्व एव सङ्गतिविश्रान्तेरुपपत्तेः। न त्वत्रापूर्वत्वप्रतीतिः।

शब्द का अर्थ है शाब्दबोध से पहिले किसी भी प्रमाण से प्रमित न होना। किन्तु यदि अपूर्व में विधि प्रत्यय की शक्ति मानेंगे, तो शक्तिज्ञान से पहिले 'अपूर्व' का किसी प्रमाण से ज्ञान मानना होगा। इस लिये अपूर्व विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता। यदि शक्तिज्ञान से पहिले 'अपूर्व' किसी प्रमाण से गृहीत नहीं होगा, तो उसमें 'व्युत्पत्ति' अर्थात् विधि प्रत्यय रूप शब्द की शक्ति गृहीत ही नहीं हो सकेगी। क्योंकि शक्ति है, शब्द और अर्थ का विशेष प्रकार का सम्बन्ध रूप। 'सम्बन्ध' की प्रतीति के लिये उसके प्रतियोगी और अनुयोगी स्वरूप दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः प्रकृत शक्ति स्वरूप सम्बन्ध के लिये विधिप्रत्यय स्वरूप एक सम्बन्धी एवं अपूर्व स्वरूप दूसरे सम्बन्धी, इन दोनों ही प्रतियोगी एवं अनुयोगी का ज्ञान आवश्यक है। इन के ज्ञात हुए बिना शक्ति का ज्ञान संभव ही नहीं है।

यदि प्रकृत में विधिप्रत्यय स्वरूप शब्द से ही शक्ति के अपूर्व स्वरूप सम्बन्धी का ज्ञान मानेंगे, तो 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा, क्योंकि शक्तिज्ञान से 'अपूर्व' का शाब्दबोधात्मक ज्ञान की उत्पत्ति, एवं शाब्दबोध से शक्ति ज्ञान की उत्पत्ति माननी पड़ती है। अतः इस अन्योन्याश्रय दोष के कारण 'अपूर्वत्व' विधिप्रत्यय का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं हो सकता।

न च गन्धवत्त्वेन··· ··· — ···

एवं 'गन्धवती पृथिवी' इत्यादि स्थलों में पृथिवीत्व विशिष्ट में एव गन्धविशिष्ट में दोनों में ही पृथिवी पद की शक्ति समान रूप से प्राप्त है। किन्तु प्रथम का शक्यतावच्छेदक है पृथिवित्व जाति स्वरूप अखण्ड धर्म, एवं द्वितीय शक्यतावच्छेदक है 'गन्ध स्वरूप सखण्ड धर्म, अतः पृथिवित्व विशिष्ट में शक्ति मानने में लाघव है, अतः पहिले से अज्ञात रहने पर भी पृथिवित्व विशिष्ट में पृथिवीपद की शक्ति मानी जाती हैं। प्रकृत में ऐसा कोई विनिगमक नहीं है। अतः पूर्व में अज्ञात 'अपूर्वत्वविशिष्ट अपूर्व व्यक्ति का 'अलाभ' स्वरूप दोष ज्यों का त्यों रहेगा।

स्यादेतत्। कार्यत्वमुपलक्षणीकृत्य तावदेषा लिङ् प्रवृत्ता। तदुपलक्षितश्च यागो वा यत्नो वाऽन्यो वा शब्देतरप्रमाणगोचरो नाधिकारिविशेषणस्वर्गसाधन-समर्थः। न चाकाम्यफले कामी नियोक्तुं शक्यते।

ततोऽन्यदेवालौकिकं किञ्चिदनेनोपलक्ष्यते, यो लिङादिप्रवृत्तिगोचर इति किमनुपपन्नमिति चेत्;

पू० प० स्यादेतत् कार्यत्वमुपलक्षणीकृत्य ··· ··· ··· —

अपूर्व निष्ठ कार्यत्व ही विधि प्रत्यय का अर्थ है। किन्तु अपूर्व वृत्तित्व विशिष्ट कार्यत्व में शक्ति न मानकर साधारणतः कार्य वृत्तित्व विशिष्ट कार्यत्व व्यक्ति में ही विधिप्रत्यय की शक्ति मानेंगे। किन्तु कार्यत्व के आश्रयीभूत घटादि व्यक्तियों में स्वर्ग की साधनता बाधित है, अतः शाब्दबोध में स्वर्ग के साधनीभूत 'अपूर्व स्वरूप कार्य' का ही भान होगा।

केवल कार्यत्व में लिङ् प्रत्यय की शक्ति मानने से लिङ् प्रत्यय से सभी कार्यों की प्रतीति को आपत्ति आती है, किन्तु शब्द प्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात याग स्वरूप कार्य हो, अथवा तदनुकूल यत्न स्वरूप ही कार्य हो, अथवा घटादि स्वरूप कार्य ही हों, इन में से कोई भी स्वर्ग का चरम कारण नहीं है। फलतः उक्त कार्यों से कोई भी स्वर्ग के उत्पादन में पूर्ण समर्थ नहीं है। अतः कथित घटादि स्वरूप कार्य, अथवा केवल याग स्वरूप कार्य, किम्वा 'तदनुकूल यत्न' स्वरूप कार्य, इनमें से किसी से भी 'स्वर्ग कामना विशिष्ट' कर्त्ता में विशेषणीभूत स्वर्ग का सम्पादन नहीं हो सकता। तथापि यदि उन्हीं कार्यों का शाब्दबोध में भान मानें, तो इन सब से जिस कार्य का संपादन होगा, उस कार्य की कामना से युक्त पुरुष ही तदनुकूल कार्य में प्रवृत्त होगा, स्वर्गादि कामना से विशिष्ट पुरुष उन कामों में प्रवृत्त नहीं होगा। किन्तु प्रकृत में घटादि कार्यों से अथवा याग स्वरूप कार्य से उत्पन्न होनेवाले (साध्य) कार्य कर्त्ता पुरुष को काम्य (अभीष्ट) ही नहीं है। जिस पुरुष को जिस कार्य की कामना नहीं है, उस पुरुष को उस कार्य में प्रवृत्त नहीं किया जा सकता। अतः केवल कार्यत्व विशिष्ट कार्य सामान्य में विधि प्रत्यय की शक्ति के रहने पर भी शाब्दबोध में घटयागादि कार्यों से भिन्न 'अपूर्व स्वरूप' कार्य विशेष का ही भान होगा। इस प्रकार कार्यत्व सामान्य को लिङ् पद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर कोई अनुपपत्ति नहीं है।

उपलक्षणं हि स्मरणमनुमानं वा । उभयमप्यनवगतसंबन्धेनाशक्यम् । न हि संस्कारवन्मनोवददृष्टवद्वा कार्यत्वमपूर्वत्वमुपलक्षयति, ज्ञानापेक्षणात् । ततो हस्तीव हस्तिपकम्, धूम इव धूमध्वजम्, तत्संबन्धज्ञानादुपलक्षयेत्, न त्वन्यथा । तथा च न्यायसम्पादनाऽप्यरण्ये रुदितम् । न हि युक्तिसहस्रैरप्यविदिते सङ्गतिग्रहोऽविदितसंगतिर्वा शब्दः प्रवर्तत इति ।

सि० प० उपलक्षणं हि··· ··· ··· ···

जो जिसका ज्ञापक होता है, उन में परस्पर सम्बन्ध अथवा व्याप्यव्यापकभाव का पहिले से ज्ञात होना आवश्यक है। गङ्गा पद के मुख्यार्थ के साथ जब घोष का अन्वय अनुपपन्न हो जाता है, तभी पूर्वज्ञात गङ्गा के सम्बन्धी तीर की उपस्थिति गङ्गा पद से होती है। इसी प्रकार धूम से महानस में धूम के साथ नियत रूप से ज्ञात वह्नि का स्मरण होता है।

प्रकृत में कार्यत्व विशिष्ट कार्य सामान्य में विधि प्रत्यय की शक्ति को स्वीकार करने पर भी, उस शक्ति से जो अपूर्व स्वरूप कार्य विशेष की उपस्थिति होगी, उसके लिये भी 'अपूर्व' स्वरूप कार्यविशेष एवं विधिप्रत्यय स्वरूप पद, इन दोनों का परस्पर सम्बद्ध रूप से पहिले से ज्ञात रहना आवश्यक है। उस 'उपस्थिति' को स्मरण रूप मानें, चाहे अनुमिति रूप मानें।

न हि संस्कारवत्··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार संस्कार पहिले से अज्ञात रह कर भी स्मृति का उत्पादन करता है, उसी प्रकार 'कार्यत्व' भी पहिले से सर्वथा अज्ञात ही 'अपूर्व' स्वरूप कार्य का ज्ञापन कर सकता है। किन्तु) यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पादक हेतु पहिले से ज्ञात हुये बिना भी कार्य का उत्पादन कर सकता है (अतः अज्ञात संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति हो सकती है) किन्तु ज्ञापक हेतु सर्वथा अज्ञात अर्थ का ज्ञापन नहीं कर सकता। अतः जिस प्रकार संस्कार, मन अथवा अदृष्ट प्रभृति साधन अपने ज्ञान की अपेक्षा न कर अपनी सत्ता से ही वे अपने अपने कार्यों का उत्पादन कर सकते हैं, उसी प्रकार 'कार्यत्व' अज्ञात होकर 'अपूर्व' स्वरूप अपने आश्रयीभूत कार्य का ज्ञापन नहीं कर सकता। इस लिये यही कहना पड़ेगा कि 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' इस न्याय से जिस प्रकार महावत हाथी का ज्ञापक (स्मारक) होता है, वा धूम धूमध्वज (वह्नि) का ज्ञापक (स्मारक) होता है, उसी प्रकार कार्यत्व भी अपने आश्रयीभूत अपूर्वादि स्वरूप अपर सम्बन्धी का ज्ञापक (स्मारक) होगा। किसी अन्य रीति से कार्यत्व अपूर्व का ज्ञापक नहीं हो सकता। अतः कार्यत्व के ज्ञान से यदि 'अपूर्व' का बोध मानेंगे, तो अपूर्व का पहिले से ज्ञात होना आवश्यक है, जिस से अपूर्व की अपूर्वता ही भङ्ग हो जायगी।

एतेन भेदाग्रहात् क्रियाकार्ये व्युत्पत्तिरिति निरस्तम्। न ह्यज्ञाते भेदाग्रहो व्यवहारांगम्, अतिप्रसंगात्। किञ्चापूर्वत्वे प्रवृत्तिनिमित्तत्वे कल्प्यमाने लौकिकी लिङनर्थिका प्रसज्येत। तत्रोपलक्षणीयाभावात्। तत्र कार्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्त-मिति यदि, प्रकृतेऽपि तथैवास्तु क्लृप्तत्वात्, सम्भवाच्चेति।

अतः 'तदुपलक्षितश्च यागो वा यत्नो वा' इत्यादि प्रकृत सन्दर्भ के द्वारा जो अनुमान का प्रयास किया गया है, वह भी अरण्यरोदन के समान व्यर्थ ही है। क्योंकि हजारों युक्तियाँ देने पर भी सर्वथा अज्ञात अर्थ में शक्ति गृहीत नहीं हो सकती, एवं शक्ति ज्ञान के बिना शाब्दबोध हो नहीं सकता, तो फिर इस पक्ष में 'अपूर्व' की अपूर्वता (शाब्दबोध से पूर्व सर्वथा अज्ञात रहने) की अनुपपत्ति बनी ही रहेगी।

एतेन··· ··· ··· ···

कोई कहते हैं कि अपूर्व स्वरूप कार्य विशेष में रहने वाला कार्यत्व स्वरूप विशेष धर्म ही लिङ् पद का प्रवृत्ति निमित्त है। किन्तु इस विशेष धर्म में सभी कार्यों में रहनेवाले कार्यत्व स्वरूप सामान्य धर्म के अभेद की भ्रान्ति होती है। इसी भ्रान्ति से प्रेरित हो कर सभी कार्यों में रहनेवाले कार्यत्व स्वरूप सामान्य धर्म को समझाने के लिए लिङ् पद प्रवृत्त होता है। किन्तु इस पक्ष में भी 'अपूर्व' की 'अपूर्वता भङ्ग' स्वरूप कथित दोष विद्यमान है। क्योंकि ज्ञात वस्तु के भेद का अज्ञान (भेदाग्रह) ही प्रवृत्ति का कारण है। इदन्त्व रूप से ज्ञात शुक्ति द्रव्य विशेष्यक रजत भेदाग्रह ही शुक्ति में रजत प्रवृत्ति का कारण होता है। अतः प्रकृत में भी जिस किसी भी प्रकार से 'अपूर्व' के पूर्वभान की अपेक्षा अवश्य होगी।

किञ्च ··· ··· ··· ···

यदि अपूर्वनिष्ठकार्यत्व अथवा अपूर्वत्व को विधिप्रत्यय का प्रवृत्ति निमित्त मानें तो दूसरा दोष यह है कि यागादि जिन कार्यों से अपूर्व की उत्पत्ति होती है, ऐसे यागादि अर्थ के बोधक धातुओं से निष्पन्न विधिप्रत्यय का उक्त अर्थ कथंचित् हो भी सकता है, किन्तु 'पचेत्' इत्यादि जिन लौकिक विधिप्रत्ययों से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है, वे सभी (लौकिक अर्थों के विधायक धातुओं से निष्पन्न) विधिप्रत्यय व्यर्थ हो जायेंगे। क्योंकि विधिप्रत्यय के प्रवृत्तिनिमित्त अपूर्वत्व अथवा अपूर्वनिष्ठकार्यत्व स्वरूप उपलक्षण के उपलक्षणीय अपूर्व की वहाँ सत्ता ही नहीं है। पाकादि लौकिक स्थलों में यदि 'पाकादि कार्यों' को ही विधि प्रत्यय का अर्थ मानेंगे तो समान न्याय से 'यजेत्' इत्यादि स्थलों में भी 'अपूर्व' स्वरूप कार्य को ही विधिप्रत्यय का अर्थ मानना होगा, जिससे कथित 'अपूर्व व्यक्ति का अलाभ' स्वरूप दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा।

अस्तु तर्हि तदेव प्रवृत्तिनिमित्तं, तर्कसम्पादनया त्वपूर्वव्यक्तिलाभ इति चेन्न। नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभप्रसङ्गात्।

पू० प० अस्तु ··· ··· ··· ···

यदि सभी कार्यों में रहनेवाले कार्यत्व स्वरूप सामान्य धर्म को ही विधि प्रत्यय का प्रवृत्तिनिमित्त मान लें, तथापि 'अपूर्व' के लाभ की उपपत्ति हो सकती है। कार्यत्व सामान्य स्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त यद्यपि घटादि धर्मियों में ही ज्ञात हैं, फिर भी कार्यत्व सामान्य में विधिप्रत्यय की शक्ति के ग्रह के बाद कार्यसामान्य की स्मृति होगी, उस स्मृति (पदार्थोपस्थिति) से ही 'यागविषयकं कार्यम्' इस आकार का शाब्दबोध होगा। शक्तिज्ञान से उत्पन्न पदार्थोपस्थिति एवं शाब्दबोध इन दोनों में जो समानप्रकारकत्व मूलक कार्यकारणभाव का नियम है, उसका इतना ही अभिप्राय है कि 'उपस्थिति में पदार्थ जिस 'रूप' से भासित हो, शाब्दबोध में भी उस रूप का भान अवश्य हो।' प्रकृत शाब्दबोध में याग का यागत्व और कार्यत्व इन दोनों रूपों से भान होता है, अतः शाब्दबोध में याग को उस कार्यत्व रूप से भासित होने में कोई बाधा नहीं है, जो कथित उपस्थिति में भी भासित है। तस्मात् इस पक्ष में भी 'अपूर्व' व्यक्ति का 'अलाभ' रूप दोष नहीं है।

सि० प० न, नित्य ··· ··· ··· ···

यदि लिङ् प्रत्यय से अपूर्व निष्ठ कार्यत्व का ही बोध मानें, तो नित्यकर्मानुष्ठान के ज्ञापक 'अहरहः संध्यामुपासीत' एवं निषेधबोधक 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि जिन स्थलों में 'अपूर्व' का बोध ही सम्भव नहीं है, उन स्थलों में विध्यर्थ का बोध ही अनुपपन्न हो जायगा।[1]

---

1. कहने का तात्पर्य है कि लिङ् प्रत्यय से प्रथमतः कार्यत्व सामान्य की ही उपस्थिति होती है। किन्तु कार्यत्व के आश्रयीभूत घटादि वस्तुओं के अयोग्य होने के कारण 'यजेत' इस वाक्य से होने वाले बोध में वे भासित न होकर योग्य याग स्वरूप कार्य ही भासित होता है। किन्तु केवल याग से स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं है, इस लिये 'अपूर्व' स्वरूप मध्यवर्ती व्यापार स्वरूप कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। जिस का भान शाब्दबोध में होता है। प्रकृत में सन्ध्यावन्दन स्वरूप नित्यकर्म से दूर भविष्य में भी स्वर्गरूप फल की उत्पत्ति नहीं होती है—तब रही बात पाप की अनुत्पत्ति की—वह तो संनिहित ही है—उसके लिये अपूर्व की कल्पना निरर्थक है। यही बात निषेधवाक्य के प्रसङ्ग में भी कही जा सकती है। क्योंकि उससे भी संनिहित पापानुत्पत्ति ही होती है, विप्रकृष्ट स्वर्ग की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः वहाँ भी अपूर्व की कल्पना व्यर्थ है। अतः अपूर्वनिष्ठकार्यत्व में लिङ्पद की शक्ति नहीं है।

न चास्मिन् पक्षे एकत्र निर्णीतेन शास्त्रार्थेनान्यत्र तथैव व्यवहार इति सम्भवति। कार्यत्वस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन निर्णीतत्वात्, न त्वपूर्वत्वस्य। न्यायसम्पादनायाश्च तत्रासम्भवात्। फलानुगुण्येन हि व्यक्तिविशेषो लभ्यते। न च तत् तत्र श्रूयते। न चाश्रुतमपि कल्पयितुं शक्यते। बीजाभावात्।

न चास्मिन् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि 'यववराहादिन्याय' से (जैमिनि सूत्र अ १ पा ३ अधि ५) एक स्थान में एक शब्द का निर्णीत अर्थ के अनुसार उस शब्द का प्रयोग अन्य स्थानों में भी होना उचित है 'यजेत' पद में प्रयुक्त लिङ् प्रत्यय का जब 'अपूर्व' स्वरूप कार्य में शक्ति निर्णीत हो गया है, तब नित्यकर्म के विधायक वाक्यों में एवं निषेधवाक्यों में प्रयुक्त लिङ् पद का भी अपूर्व स्वरूप कार्यत्व स्वरूप अर्थ ही करना पड़ेगा। किन्तु) यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सभी कार्यों में रहने वाले कार्यत्व स्वरूप सामान्य धर्म ही विधिप्रत्यय का प्रवृत्तिनिमित्त निर्णीत है। तदनुसार कार्य सामान्य में ही लिङ् प्रत्यय का शक्ति निश्चित है। अपूर्वत्व में न लिङ् पद का प्रवृत्तिनिमित्तत्व निर्णीत है, न अपूर्व स्वरूप कार्य विशेष व्यक्ति में लिङ् पद का शक्ति ही निश्चित है। तब रही बात उक्त 'यववराहन्याय' से अपूर्व स्वरूप कार्य विशेष का शाब्दबोध में भान होने की बात, सो प्रकृत में सम्भव नहीं है, क्योंकि जहाँ 'अपूर्व' के बिना मुख्य फल का सम्पादन सम्भव ही नहीं रहता, वहीं 'न्याय' से अर्थात् 'अनुमान से अपूर्व की कल्पना की जा सकती है। किन्तु जहाँ (नित्यकर्मानुष्ठान स्थल में) अपूर्व की कल्पना के बिना भी 'पापानुत्पत्ति' प्रभृति फलों की सम्भावना है, उन स्थलों में न्याय (अनुमान) से अपूर्व की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ स्वर्गादि फल श्रुत रहते हैं, वहीं उन फलों के अनुकूल अपूर्वादि विशेष प्रकार के कार्यों की कल्पना सम्भव होती है। नित्यविधिस्थल में अथवा निषेधस्थल में विशेष फलों की श्रुति नहीं रहती है, वहाँ न्याय से अपूर्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

पू० प० न चाश्रुत ··· ··· ··· ···

जहाँ स्वर्ग स्वरूप फल की श्रुति नहीं रहती है, वहाँ भी 'विश्वजिन्न्याय' से स्वर्ग स्वरूप फल की कल्पना की जाती है। अतः नित्यविधिस्थल में अथवा निषेधस्थल में भी अश्रुत स्वर्ग रूप फल की कल्पना की जा सकती है।

सि० प० बीजाभावात् ··· ··· ··· ···

जहाँ फल श्रुत नहीं रहते, एवं संनिहित किसी फल की सम्भावना नहीं रहती है, वहाँ 'विश्वजिन्न्याय' से असंनिहित स्वर्ग स्वरूप फल की कल्पना की जाती है। किन्तु नित्यविधि

तद्धि विध्यन्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्येत, कार्य्यत्वप्रत्ययान्यथाऽनुपपत्त्या वा, लोकवत्। न प्रथमः। भवतां दर्शने तस्योपेयरूपत्वात्। यतः श्रुतस्वर्गफलत्वेऽपि साध्यविवृद्धिरुच्यते।

स्थल में एवं निषेधस्थल में तो 'पापानुत्पत्ति' स्वरूप सन्निहित फल ही सम्भव है वह तो सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म एवं कलञ्ज के अभक्षणादि से ही सम्भव है, तदर्थ 'अपूर्व' की कल्पना अनावश्यक है। अतः उक्त कथा सङ्गत नहीं है।

पू० प०··· ··· ··· तद्धि···

नित्यविधि स्थल में अथवा निषेधवाक्य स्थल में 'तत्' अर्थात् 'अपूर्व' की कल्पना किस से होगी? (१) उन दोनों वाक्यों में 'विधित्व' की अनुपपत्ति से? (अर्थात् जबतक नित्यकर्म से एवं निषिद्ध कर्म से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं मानेंगे, तबतक नित्यकर्म के विधायक वाक्य एवं निषेधवाक्य में प्रयुक्त आख्यात प्रत्यय में विधित्व ही उत्पन्न नहीं होगा, उनसे अपूर्व की उत्पत्ति मानेंगे?) (२) 'कार्यत्वप्रत्यय' अर्थात् उन दोनों वाक्यों से बोध्य कार्य में करणीयत्व बुद्धि की अनुपपत्ति से? (नित्यकर्म एवं निषिद्ध कर्म इन दोनों से अपूर्व की उत्पत्ति मानेंगे? क्योंकि 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस निषेध वाक्य से निषिद्ध कार्य न करने के संकल्प स्वरूप 'भाव' विषयक ही बोध होता है।

लोकवत् ··· ··· ··· ···

जिस प्रकार 'पचेत' प्रभृति लौकिक वाक्यों में प्रयुक्त लिङ्प्रत्यय स्थल में 'पाकः कर्त्तव्यः' इस प्रकार का ज्ञान 'पाकं मदिष्टसाधनम्' इस आकार के इष्टसाधनत्व प्रकारक ज्ञान से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों में भी जबतक इष्टसाधनत्व की बुद्धि नहीं होगी (अर्थात् उन्हें जबतक इष्ट का साधन नहीं समझा जायगा) तबतक 'सन्ध्यावन्दनं कर्त्तव्यम्' इस आकार की कर्त्तव्यत्व की बुद्धि (कार्यत्व बुद्धि) उत्पन्न नहीं होगी। एवं इस कर्त्तव्यत्व बुद्धि के न होने से 'अहरहः संन्ध्यामुपासीत' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त आख्यात में विधिप्रत्ययत्व ही अनुपपन्न हो जायगा।

न प्रथमः··· — ··· ···

इनमें से (१) प्रथम पक्ष इसलिये अयुक्त है कि मीमांसक गण 'अपूर्व' को 'उपाय' न मानकर 'उपेय' स्वरूप 'चरम फल' ही मानते हैं। तदनुसार 'अपूर्व' स्वयं 'इष्ट' है, इष्ट का साधन नहीं है। अतः पाक के दृष्टान्त से संन्ध्यावन्दनादि बोधक वाक्यों का विधि (वाक्य) से अपूर्व स्वरूप फल का विधायक नहीं हो सकता[1]।

---

१. मुख्य और गौण भेद से फल दो प्रकार के हैं। किसी अन्य वस्तु के उत्पादन के उद्देश्य से जिसके उत्पादक कृति न हो, वही वस्तु 'मुख्य' फल है। भोजन जनित तृप्ति से होनेवाला 'सुख' मुख्य फल है, क्योंकि सुख के उत्पादन के लिये जो कृति

न द्वितीयः शब्दबलेन तत्प्रत्यये तदनपेक्षात् । लोके हि तत्प्रत्यय इष्टाभ्युपायताऽधीनो न तु वेदे इत्यभ्युपगमात् । अन्यथेष्टाभ्युपायतैव प्रथमं वेदादवगन्तव्या । प्रमाणान्तराभावात् ।

ततः कार्यतेत्यानुमानिको विधिः स्यात्, न शाब्दः । आनुमानिकं फलमस्तु यत्कर्त्तव्यं तदिष्टाभ्युपायइति व्याप्तेरित्यपि न युक्तम् ।

न द्वितीय: ... ...

कार्यत्व (कर्त्तव्यत्व) की बुद्धि यदि विधिवाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण से उत्पन्न होगी, तो इसके लिये उसमे विधित्व का ज्ञान अपेक्षित नहीं है । क्योंकि मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि लोक में कार्यत्व (कर्त्तव्यत्व) की बुद्धि इष्टसाधनत्व के ज्ञान से होती है । एवं वेदविहित कार्य में कर्त्तव्यत्व की बुद्धि के लिये इष्टसाधनत्वज्ञान की अपेक्षा नहीं है । यदि ऐसा मानेंगे तो पहिले वेद से इष्टसाधनत्वज्ञान की ही उत्पत्ति माननी होगी । इसके बाद इष्टसाधनत्व के उक्त ज्ञान से कार्यत्व का अनुमानिक बोध होगा । फलत विधिवाक्य का प्रयोजन अनुमान प्रमाण से सिद्ध होगा, शब्द प्रमाण से नहीं । किन्तु यह तो मीमांसकों की रीति के विरुद्ध है ।

आनुमानिकं फलमस्तु ... ...

जितने 'कर्त्तव्य' हैं वे सभी अवश्य ही 'इष्टाभ्युपाय' अर्थात् इष्टसाधन है । संध्या वन्दनादि नित्य कर्म भी कर्त्तव्य रूप से निर्दिष्ट हैं, अतः संध्यावन्दनादि नित्यकर्म भी इष्टसाधन अवश्य हैं । 'अपूर्व' ही वह 'इष्ट' है, जिसके संध्यवन्दनादि साधन हैं । अतः संध्यावन्दनादि नित्यकर्मों से भी 'अपूर्व' की उत्पत्ति अवश्य होती है । जिससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'संध्यावन्दनादिकमिष्टसाधनम् कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टत्वात् ज्योतिष्टोमादिवत्' ।

उत्पन्न होती है, सुख को छोड़कर उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता । किन्तु भोजन पाकादि जितने भी कार्य है, उनके उत्पादक प्रयत्न का भोजनादि कार्यों को छोड़कर भोजनादि जनित सुख ही उनका उद्देश्य होता है । इस लिये मुख्य फल ही 'इष्ट' है, और गौण फल 'इष्ट' के 'साधन' हैं । मीमांसकों के मत से 'अपूर्व' जब मुख्य फल ही है, तब तो वह स्वयं ही इष्ट' है, इष्ट का साधन नहीं है । फलतः अपूर्व में इष्टसाधनत्व ही नहीं है । इसलिये जिस प्रकार स्व रूप फल में फलजनकत्व के न रहने से कार्यत्व (कर्त्तव्यत्व) की बुद्धि होती है, उसी प्रकार अपूर्व में भी कार्यत्व की बुद्धि होगी । क्योंकि उसमें भी फल जनकत्व नहीं है । तस्मात् 'अहरहः संध्यामुपासीत, इस विधि से 'अपूर्व' की कल्पना नहीं की जा सकती ।

सुखेन व्यभिचारात्। अन्यत्वे सतीति चेन्न। दुःखाभावेन व्यभिचारात्। फलं विहायेति चेत्, तदेव किमुक्तं स्यात्। इष्टं स्वभावत इति चेत्, तर्हि ततोऽन्यदनिष्टं स्यात्, तच्च कर्तव्यमिति व्याघातः। तत्साधनमिति चेत्; तत्साधनत्वे सतीति साध्याविशिष्टं विशेषणम्।

सि० प० सुखेन ··· ··· ··· ···

सुख 'इष्ट' ही है, इष्ट का साधन नहीं। फिर भी लोक एवं वेद दोनों के द्वारा ही कर्त्तव्य रूप में निर्दिष्ट है। अतः सुख में इष्टसाधनत्व स्वरूप प्रकृत अनुमान का साध्य नहीं है, किन्तु 'कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टत्व' स्वरूप हेतु है। अतः उक्त अनुमान का हेतु व्यभिचारी है।

पू० प० अन्यत्वे सति ··· ··· ··· ···

सुखभिन्नत्व को हेतु में विशेषण देकर अर्थात् सुखभिन्नत्वे सति कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टत्व को ही हेतु बनावेंगे। सुख में यदि इष्टसाधनत्व रूप साध्य नहीं है, तो 'सुखभिन्नत्वे सति कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टत्व' स्वरूप हेतु भी नहीं है। अतः कथित व्यभिचार दोष नहीं है।

सि० प० न, दुःखाभावेन ··· ··· ··· ···

हेतु में सुख भिन्नत्व विशेषण के देने से सुख में उक्त व्यभिचार का वारण भले ही हो जाय, फिर भी दुःखाभाव में व्यभिचार दोष बना रहेगा, क्योंकि सुख की ही तरह दुःखाभाव भी लोक एवं वेद दोनों से ही कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट है, एवं दुःख में सुखभिन्नत्व भी है, किन्तु इष्टसाधनत्व स्वरूप साध्य नहीं है।

पू० प० फलम् ··· ··· ··· ···

फलत्व रूप से सुख एवं दुःखाभाव दोनों का संग्रह कर यदि हेतु में फलभिन्नत्व विशेषण दें (अर्थात् फलभिन्नत्वे सति कर्त्तव्यत्वेन निर्दिश्यमानत्व को हेतु बनावें)। तो सुख एवं दुःखाभाव में जो व्यभिचार दोष दिये गये हैं, उसका वारण हो जायगा। क्योंकि सुख एवं दुःखाभाव दोनों ही 'फल' हैं, अतः फलभिन्नत्व घटित हेतु की सत्ता उनमें नहीं रह सकती।

सि० प० तदेव ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में प्रष्टव्य है कि) 'तद्' अर्थात् 'फल' का ही क्या लक्षण है?

इष्टम् ··· ··· ··· ···

यदि इस प्रश्न का यह उत्तर दें कि जो 'स्वभावतः इष्ट' हो वही 'फल' है।

तर्हि ··· ··· ··· ···

तो फिर हेतु में विशेषणीभूत फलभिन्नत्व शब्द का 'स्वभावतः अनिष्ट' ही फलितार्थ होगा। किन्तु जो स्वभावतः अनिष्ट होगा, वह कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट कैसे होगा? फलतः

स्वभावतो नेदमिष्टं कर्तव्यञ्च, ततो नूनमिष्टसाधनमिति साधनार्थं इति चेन्न। स्वभावतो नेदमिष्टमित्यसिद्धेः। अनन्योद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्तत्वात्। अन्यथा तदसिद्धेः। ततो व्याघातादन्यतरापाय इति।

'कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टत्व' हेतु में 'फलभिन्नत्व' रूप विशेषण नहीं रह सकता। अतः यह हेतु (काञ्चनमय धूम की तरह) विशेषणासिद्ध हो जायगा।

किन्तु जो स्वभावतः इष्ट नहीं भी है, वह भी कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट हो सकता है, जैसे कि फल का साधन। तदनुसार उक्त हेतु में यदि 'फलसाधनत्वे सति' इतना विशेषण और दें तो उक्त विशेषणासिद्धि का परिहार हो सकता है। किन्तु हेतु का यह विशेषण 'साध्याविशिष्ट' हो जायगा। क्योंकि साध्य भी तो 'इष्टसाधनत्व' ही है।

स्वभावत: ··· ··· ··· ···

संध्यावन्दनादि यद्यपि स्वभावतः इष्ट नहीं है, तथापि कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट हैं, तो वे इष्ट के साधन अवश्य हैं। इष्ट के ही समान इष्ट के साधन भी कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट होते हैं। यह बात पाकादि दृष्टान्तों के बल से निःसंकोच कही जा सकती है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि 'संध्यावन्दनादिकमिष्टसाधनम् स्वभावतः इष्टत्वाभावे सत्यपि कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टत्वात् पाकादिवत्' यही परिष्कृत अनुमान प्रकृत में अभिप्रेत है।

न, स्वभावतः ··· ··· ··· अन्यतरापाय ··· ··· ···

यह अभी सिद्ध नहीं है कि संध्यावन्दनादि नित्यकर्म अथवा कलञ्जभक्षणादि निषिद्ध कर्म 'स्वभावतः इष्ट नहीं हैं' क्योंकि 'अनन्योद्देश्यकृतिव्याप्यत्व' ही 'स्वतः इष्ट' का लक्षण है, सो तो संध्यावन्दनादि नित्य कर्मों में भी है ही, क्योंकि संध्यावन्दनादि जिस कृति के द्वारा अनुष्ठित होते हैं, उस कृति का कोई अन्य उद्देश्य (उत्पाद्य) नहीं है। यदि संध्यावन्दनादि के द्वारा भी कोई स्वर्गादि अन्य फल अभिप्रेत हों, तो फिर उनमें नित्यत्व या निषेधत्व ही असिद्ध हो जायगा। इस 'असिद्धि' से 'व्याघात' प्रयुक्त 'अन्यतरापाय' अनिवार्य हो जायगा।[1]

---

1. क्योंकि 'स्वतःइष्टत्व' नित्यत्व एवं निषेधत्व इन दोनों का विरोधी धर्म है। अतः सन्ध्यावन्दन या तो 'स्वतःइष्ट' ही होगा, अथवा नित्य ही होगा। यह नहीं हो सकता कि वे नित्य भी हो, एवं स्वतःइष्ट भी हो। इसी प्रकार कलञ्जभक्षणादि या तो निषिद्ध ही हो सकते हैं कि या 'स्वतः इष्ट' ही हो सकते हैं, दोनों नहीं हो सकते। यही है प्रकृत में 'अन्यतरापाय'।

अस्तु नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभः, किं नश्छिन्नमिति चेत्; किं नश्छिन्नं, यदा कामाधिकारेऽपि तदलाभः। न हि लिङा कार्यं स्वर्गसाधनमुक्तम्। नापि स्वर्गकामपदसमभिव्याहारान्यथाऽनुपपत्त्या तल्लब्धम्, ब्राह्मणत्वादिवदधिकार्य-वच्छेदमात्रेणैवोपपत्तेः।

पू० प० अस्तु ··· ··· ··· ···

'अपूर्व नियोकार्यत्व' में लिङ् पद की शक्ति मानने से अपूर्व के निष्पादक नित्यकर्म के विधायक वाक्यों का, अथवा अपूर्व के अनुत्पादक कलञ्जभक्षणादि के निषेधक वाक्यों का यदि असंग्रह होगा, तो इसमें मेरी कौन सी हानि होगी ? अर्थात् इस अलाभप्रसङ्ग को इष्ट कर लेंगे।

सि० प० किं नः ··· — ··· ···

'कामाधिकार' में अर्थात् काम्यकर्म के विधायक स्वर्गकामो यजेत इत्यादि स्थलों में, यदि अपूर्व का अलाभ होगा तो इसमें हम (नैयायिकों) लोगों की ही कौन सी क्षति होगी ? क्योंकि इस प्रसङ्ग में यह विकल्प उपस्थित होता है कि—

(१) लिङ्प्रत्यय क्या किसी अन्य के साहाय्य के बिना ही उक्त वाक्य से स्वर्गसाधनत्व विषयक बोध का उत्पादन करता है, जिससे कि स्वर्ग पर्यन्त स्थायि 'अपूर्व' स्वरूप साधन का लाभ हो ?

(२) अथवा 'स्वर्गकाम' पद के समभिव्याहार के बल से लिङ् प्रत्यय ही स्वर्ग के अव्यवहितपूर्वक्षण पर्यन्त स्थायी एवं स्वर्ग के साधनीभूत अपूर्व का उत्पादक है ?

न हि लिङा ··· ··· ··· ···

(इन में से पहिला पक्ष इस लिये ठीक नहीं है कि) केवल लिङ् प्रत्यय से 'कार्यम् (कर्त्तव्यम्) स्वर्गसाधनम्' इस अर्थ का बोध नहीं होता है। यदि ऐसा हो तो 'पचेत्' इत्यादि लौकिक विधि वाक्यों के लिङ् प्रत्यय का कुछ अर्थ ही नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि 'अनन्योद्देश्यकृतिव्याप्यत्व' ही प्रकृत में 'कार्यत्व' है। किन्तु स्वर्गसाधनत्व उसका विरोधी है। अतः वेदस्थ लिङ्प्रत्ययस्थल में भी उक्त अन्यतरापाय स्वरूप विरोध उपस्थित होगा।

नापि स्वर्गकामपद ··· ··· ··· ···

यह भी कहना ठीक नहीं है कि 'स्वर्गकाम' पद का समभिव्याहार ही व्यर्थ हो जायगा, यदि 'यजेत' इस वाक्य से 'कार्यं स्वर्गसाधनम् (कर्त्तव्यम्) यह बोध उत्पन्न न हो, क्योंकि 'स्वर्गकामः' इस पद की 'अन्यथा' भी 'उपपत्ति' हो सकती है। अतः 'स्वर्गकामः' पद की 'अन्यथानुपपत्ति' से भी 'स्वर्गसाधनम्' इस बोध की उपपत्ति नहीं हो सकती।

न चेदमनुमानम्; यस्य यदिच्छातो यत्कर्तव्यं, तत्तस्येष्टसाधनमिति। अन्येच्छया स्वाभाविककर्तव्यत्वासिद्धेः। तदिच्छयेव तत्कर्तव्यतायाः सुखेनानैकान्तिकत्वात्।

जैसे कि 'ब्राह्मणो यजेत' इस वाक्य के 'ब्राह्मण' पद से 'अब्राह्मण' का व्यवच्छेद होता है। एवं इस व्यवच्छेद से यह उपपन्न होता है कि 'जो ब्राह्मण हो' वही इस याग का अनुष्ठान करे, उसी प्रकार 'जिस पुरुष को स्वर्ग की कामना रहे' वही इस याग का 'अनुष्ठान करे' इस आकार के बोध का उत्पादन कर 'स्वर्गकामः' पद सार्थक हो सकता है। अतः 'स्वर्गकामः' पद की अन्यथानुपपत्ति से भी लिङ् प्रत्यय के द्वारा 'कार्यम् स्वर्गसाधनम्' यह बोध उपपन्न नहीं हो सकता।

पू० प० न चेदमनुमानम् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि) जो व्यक्ति जिस इच्छा से जो कार्य करता है, वह कार्य उस 'इच्छित' अर्थात् 'इष्ट' का साधन होता है। सभी लोग तृप्ति जनित सुख स्वरूप 'इष्ट' के सम्पादन के लिये ही पाक करते हैं। अतः पाक 'इष्ट साधन' है।[1]

सि० प० अन्येच्छया ··· ··· ··· ···

किन्तु यह भी संभव नहीं है, क्योंकि इस प्रसङ्ग में विचारणीय कथित व्याप्ति में जिस 'कर्त्तव्यत्व' अथवा 'कार्यत्व' की चर्चा की गयी है, वह कर्त्तव्यत्व स्वाभाविक है? अथवा औपाधिक है? उसको स्वाभाविक कहना तो संभव नहीं है, क्योंकि 'अन्येच्छाधीनेच्छा-विषयत्व' कर्त्तव्यत्व में 'स्वाभाविकत्व का विरोधी है। अर्थात् 'अनन्यो देश कृति व्यापारत्व' ही प्रकृत में स्वाभाविकत्व है, उसे यदि प्रकृत कर्त्तव्य में अन्येच्छामूलक मानेंगे तो कर्त्तव्यत्व का स्वाभाविकत्व ही भङ्ग हो जायगा। यदि कर्त्तव्य में विषयीभूत वस्तु की इच्छा से ही कर्त्तव्यत्व की बुद्धि स्वीकार करेंगे, तो सुख में व्यभिचार होगा, जिसका उपपादन पहिले किया जा चुका है।

---

1. 'काम्य' अर्थात् 'इष्ट' के असाधन स्वरूप कार्य में उस कामना से युक्त पुरुष की कर्त्तव्य बुद्धि नहीं होती है। किन्तु सन्ध्यावन्दनादि कार्यों मे शिष्टजनों की कर्त्तव्यत्व की बुद्धि होती है। अतः वे भी किसी 'इष्ट' के 'साधन' अवश्य हैं। 'अपूर्व' ही वह 'इष्ट' है। अतः संध्यावन्दनादि नित्य कर्मों से भी अपूर्व की उत्पत्ति अवश्य होती है।

औपाधिककर्तव्यतायाश्चेष्टसाधनत्वमप्रतीत्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । किमनया विशेषचिन्तया ? प्रतीयते तावच्छब्दादन्यदिच्छतोऽन्यत्कार्यमित्येतावतैवानुमानमिति चेत् । नन्वन्वितमभिधानीयम्, योग्यश्चान्वीयते । अन्यदिच्छतश्चान्यत् कर्तव्यमन्वयायोग्यम्, तत्कथमभिधीयताम् ?

औपाधिककर्त्तव्यतायाः ··· — ··· ···

दूसरी बात यह है कि किसी भी वस्तु में तब तक कर्त्तव्यत्व की बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती, जब तक कि उसमें इष्ट साधनत्व की बुद्धि उत्पन्न न हो जाय। फलतः स्वेच्छा के द्वारा अथवा अन्येच्छा के द्वारा कर्त्तव्यत्व की बुद्धि से इष्टसाधनत्व का ज्ञापन ही होता है, अतः वह उसका साध्य ही है, साधन नहीं।

पू० प० किमनया ··· — ··· ···

उक्त व्याप्ति में केवल 'कर्त्तव्यत्व' विवक्षित है। उसमें स्वाभाविकत्व अथवा औपाधिकत्व की विवक्षा नहीं है। फलतः प्रकृत में व्याप्ति का यह स्वरूप अभिप्रेत है कि स्वर्गादि इच्छित विषयों से भिन्न स्वर्गादि के साधनीभूत याग अथवा अपूर्वादि विषयक (कार्यत्व) का बोध ही लिङ् प्रत्यय से होता है। इस लिये संध्यावन्दनादि स्थलों में भी उनके विधायक वाक्यों से अपूर्व के बोध में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० नन्वनुमितम् ··· ··· ··· ···

'संध्यावन्दनादिकमिष्टसाधनमिच्छाविषयत्वाभावे सति कर्त्तव्यत्वबुद्धिविषयत्वात् पाकादिवत्" यह अनुमान ही ठीक नहीं है, क्योंकि एक शब्द के अर्थ में अन्वित ही दूसरा अर्थ दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित होता है। एवं 'योग्य' अर्थात् अबाधित अर्थ ही अन्वित होने की क्षमता रखता है। इन नियमों के अनुसार उक्त अनुमान उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जिसे शयन की इच्छा होगी, उसको पाक विशेष्यक कर्त्तव्यत्व की बुद्धि नहीं होगी। इस युक्ति के अनुसार चूँकि अपूर्व की इच्छा से अपूर्व से भिन्न संध्यावन्दनादि में कर्त्तव्यत्व की बुद्धि नहीं हो सकती। अतः प्रकृत में अपूर्व अन्वय के अयोग्य है। अतः उसके साथ किसी का भी अन्वय नहीं हो सकता। तस्मात् कथित रीति से संध्यवन्दनादि में इष्टसाधनत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये नित्य कर्म के विधायक एवं निषेध वाक्य के 'अलाभ' का जो दोष दिया गया है, वह ठीक है।

तत एव तत्साधनत्वसिद्धिरिति चेत् । एवं तर्हीष्टसाधनतैकार्थसमवायिकर्तव्यत्वाभिधानादनुमानानवकाशः । न चान्विताभिधानेऽपि तत्साधनत्वसिद्धिः । अधिकार्यवच्छेदमात्रेणाप्यन्वययोग्यतोपपत्तेः । न च कार्यत्वमपूर्वे सम्भवति ।

पू० प० तत एव··· ··· ··· ···

शब्द प्रमाण से ही यदि इष्टसाधनत्व की बुद्धि होगी तो इस में कौन सा क्षति होगी ?

सि० प० एवं तर्हि··· ··· ··· ···

तब तो यह कहिये कि 'इष्टसाधनत्व' के साथ रहने वाले कर्त्तव्यत्व का ही अभिधान विधिप्रत्यय से होता है। अर्थात् विधिप्रत्यय से इष्टसाधनीभूत अर्थ में ही 'कर्त्तव्यत्व' की (कार्यत्व) बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा मान लेने पर अनुमान का अवकाश नहीं रह जाता। क्योंकि शब्द प्रमाण से ही वह कार्य हो जाता है।

पू० प० न च··· ··· ··· ···

जो अर्थ इच्छा का विषय नहीं है, उसमें रहने वाले कार्यत्व (कर्त्तव्यत्व) को अन्वय के योग्य मान लेने पर भी यह दूसरा दोष उपस्थित होता है कि तथापि प्रकृत में इष्टसाधनत्व का सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अन्वय की योग्यता इष्टसाधनत्व के बिना अनुपपन्न नहीं है। अन्वय की योग्यता तो अधिकारी के निर्णय को उत्पन्न करके भी चरितार्थ हो सकती है।[1]

पू० प० न च कार्यत्वम्··· ··· ··· ···

अपूर्व में कार्यत्व (कर्त्तव्यत्व) की संभावना ही नहीं है। इस के पहिले यह विचारणीय है कि कथित 'कार्यत्व' कौन सी वस्तु है ? (१) कृतिव्याप्यत्व स्वरूप है ? अथवा (२) कृतिफलत्व स्वरूप है ? (३) कि वा कृत्युद्देश्यत्व स्वरूप है ?

(१) इन में से पहिला पक्ष इस लिये ठीक नहीं है कृति को व्याप्ति व्रीहि प्रभृति हवियों के साथ ही है, अपूर्व के साथ नहीं। क्योंकि सिद्धि (निष्पन्न) वस्तु ही व्यापार का

---

1. कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार 'ब्राह्मणो यजेत' इस स्थल में ब्राह्मणत्व चूँकि ब्राह्मण से अतिरिक्त में याग के अधिकार की निवृत्ति के द्वारा ब्राह्मणत्व जातीय मात्र में याग विशेष के अधिकार को सीमित करता है। उसी प्रकार 'स्वर्गकामः' पद भी स्वर्गकामना शून्य पुरुष में यागाधिकार को निवृत्त कर केवल स्वर्गकामना से युक्त पुरुष में ही यागाधिकार को सीमित कर चरितार्थ हो सकता है। वस्तुतः मीमांसक लोग जो अपूर्व को स्वतः काम्य मानने का हठ करते हैं, वही अयुक्त है।

तर्हि कृतिव्याप्यता चेत् ? व्रीह्यादिष्वेव, सिद्धत्वात् । कृतिफलत्वं चेत् ? यागस्यैव, ततस्तस्यैवाहत्योत्पत्तेः । कृत्युद्देश्यता चेत् ? स्वर्गस्यैव, निसर्गसुन्दरत्वात् । न त्वपूर्वस्य । तद्विपरीतत्वात् । स्तनपानादिवदौपाधीकीति चेत् ? साऽपि यागस्यैव । स्वर्गस्य साध्यत्वस्थितो यागस्यैव साधनत्वेनान्वयात् ।

आश्रय हो सकता है । व्यापार के द्वारा ही कृति की व्याप्ति रह सकती है । अपूर्व चूँकि सिद्ध नहीं है, अतः साध्य स्वरूप अपूर्व कृति का व्याप्यत्व (व्याप्ति) स्वरूप कार्यत्व (कर्त्तव्यत्व) अपूर्व में नहीं रह सकता । किन्तु व्रीहि प्रभृति हवियाँ चूँकि सिद्ध हैं, अतः उन्हीं में कृतिव्याप्यत्व स्वरूप कार्यत्व रह सकता है । तस्मात् 'कृतिव्यायत्व' स्वरूप 'कार्यत्व' अपूर्व में संभावित नहीं है ।

(२) 'कृतिफलत्व' स्वरूप 'कार्यत्व' भी अपूर्व में नहीं रह सकता, क्योंकि याग ही कृति का फल है । कृति के अवलम्बन से ही याग की उत्पत्ति होती है, बिना कृति के याग की उत्पत्ति नहीं होती है । इस लिये याग ही कृति का फल है, अतः 'कृतिफलत्व' स्वरूप 'कार्यत्व' भी याग में ही है, याग जनित अपूर्व में नहीं ।

(३) 'कृत्युद्देश्यत्व' स्वरूप 'कार्यत्व भी अपूर्व का धर्म नहीं हो सकता । क्योंकि 'निसर्गसुन्दर' अर्थात् 'स्वभावतः काम्य' ही कृति का उद्देश्य हो सकता है, यह तो प्रकृत में 'स्वर्ग' ही हो सकता है, अपूर्व नहीं । क्योंकि अपूर्व 'निसर्गसुन्दर' अर्थात् स्वभावतः काम्य नहीं है । यह तो स्वाभावतः काम्य के विपरीत 'औपाधिक काम्य' है ।

पू० प० स्तनपान— — — —

जिस प्रकार स्तनपान स्वतः काम्य (स्वतः इष्ट) न होने पर भी कृति का उद्देश्य केवल इस लिये होता है कि यह स्वतः इष्ट का साधन है, उसी प्रकार अपूर्व भी चूँकि स्वर्ग स्वरूप स्वतः इष्ट का साधन है, अतः कृति का उद्देश्य हो सकता है । अर्थात् कृत्युद्देश्यता भी स्वभाविक एवं औपाधिक भेद से दो प्रकार की है, कृति की स्वाभाविक उद्देश्यता सुख एवं दुःखाभाव इन दोनों में ही है, औपाधिक कृत्युद्देश्यता कथित दोनों इष्टों के साधनों में भी है । अतः अपूर्व में भी यह औपाधिक कृत्युद्देश्यता रह सकती है ।

सि० प० सापि··· ··· ··· ···

'सापि' अर्थात यह 'औपाधिक कृत्युद्देश्यता' भी स्वर्ग के यागादि साधनों में ही रह सकती है । क्योंकि स्वर्ग है साध्य और याग है साधन । याग की यह स्वर्ग साधनता 'अपूर्व' के बिना अनुपपन्न रहती है । इसी लिये 'अपूर्व' की कल्पना की जाती है । अतः याग ही स्वर्ग का साधन है, अपूर्व नहीं । इस लिये साधनत्व रूप से याग का अन्वय भावना में मीमांसकगण मानते हैं, एवं तदनुसार 'योगेनेष्टं भावयेत' यही 'यजेत' पद का विवरण उन्हें अभिप्रेत है ।

कालव्यवधानान्नैतन्निर्वहतीति चेत्; यथा निर्वहति, श्रुतानुरोधेन तथा कल्प्यताम्। व्यापारद्वारा कथञ्चित् स्यात्। न तु भिन्नकालयोर्व्यापारव्यापारिभावः, कारणत्वञ्च व्यापारेण युज्यते।

अव्यवधानेन पूर्वकालनियमश्च तत्त्वम्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति चेन्न। पूर्वभावनियममात्रस्य कारणत्वात्। कार्यानुगुणावान्तरकार्यस्यैव व्यापारत्वात्। कृषिचिकित्सादौ बहुलं तथा व्यवहारात्। लाक्षणिकोऽसाविति चेत्। न। मुख्यार्थत्वे विरोधाभावात्।

पू० प० कालव्यवधानात्··· ··· ··· —

याग स्वर्ग का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया होने के कारण वह स्वर्ग के अव्यवहित पूर्वक्षण में नहीं रह सकता।

सि० प० यथा··· — — ···

याग में स्वर्ग की साधनता वेद वाक्य द्वारा प्रमाणित है। अतः वेद को माननेवाले प्रत्येक आस्तिक के लिये उक्त 'साधनता' को उपपन्न करना आवश्यक है। यह कर्त्तव्य केवल हम नैयायिकों का ही नहीं है।

पू० प० व्यापार द्वारा··· ··· ··· —

याग में स्वर्ग की साधनता (कारणता) की उपपत्ति तो 'अपूर्व' को मध्यवर्त्ती व्यापार मान लेते पर ही कथंचित् हो सकती है, किन्तु भिन्न कालों में रहनेवाले (विभिन्न कालिक) दो वस्तुओं में व्यापार व्यापारिभाव अर्थात् एक का व्यापार होना और दूसरे का व्यापारी होना भी संभव नहीं है। क्योंकि 'कारण' स्वरूप वस्तु का ही व्यापार होता है। अव्यवहित पूर्ववर्त्ती न होने से जब याग 'कारण' ही नहीं है तो 'अपूर्व' उसका व्यापार भी कैसे होगा ? यदि 'कारण' को कार्य को अव्यवहित पूर्व में रहना आवश्यक न मानें तो अतीत दण्ड से घटकार्य की उत्पत्ति स्वरूप 'अतिप्रसङ्ग' आ पड़ेगा। अतः अपूर्व स्वरूप व्यापार के द्वारा भी याग में स्वर्ग साधनता की उपपत्ति नहीं हो सकती।

न, पूर्वभाव— ··· ··· —

स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान रहने से ही याग में स्वर्गसाधनता की अनुपपत्ति दी गयी है, किन्तु 'कारण' होने के लिये कार्य की उत्पत्ति अव्यवहित पूर्वक्षण में वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नहीं है। कारण होने के कार्य से पूर्व नियमतः रहना ही पर्याप्त है, (अव्यवहितपूर्व काल में नहीं) तदनुसार याग भी स्वर्ग का साधन है ही। कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल 'अवान्तर' अर्थात् मुख्य कारण जन्य मध्यवर्त्ती कारण ही 'व्यापार' कहते हैं। यदि याग स्वरूप मुख्य में ही कारणता नहीं रहेगी, तो किससे उत्पन्न मध्यवर्त्ती

अस्तु तर्हि पुत्रेण हते ब्राह्मणे चिरध्वस्तस्य पितुस्तमवान्तरव्यापारीकृत्य कर्तृत्वम्। तथा च लोकयात्राविप्लव इति चेत्। न। सत्यपि सुते कदाचित्तदकरणात्। तस्मिन्नसत्यपि कदाचित् करणादनिर्वाहकतया तस्य व्यापारत्वायोगात्।

यं जनयित्वैव हि यं प्रति यस्य पूर्वभावनिर्वाहः, स एव तं प्रति तस्य व्यापारो नापरः। यथानुभवस्य स्मरणं प्रति संस्कारः। तस्य ह्यन्वयव्यतिरेकानुविधाने सिद्धे तदन्यथानुपपत्त्या संस्कारः कल्प्यते, न त्वन्यथा।

अपूर्व व्यापार कहलाएगा ? कृषि चिकित्सा प्रभृति इसके अनेक उदाहरण हैं। जैसे कि हलकर्षणादि 'कृषिकार्य' अन्न की उत्पत्ति के समय नहीं रहते, फिर भी वे अन्न के कारण हैं। आरोग्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहने पर भी धातुसाम्य के द्वारा चिकित्सा आरोग्य का कारण होता है। उसी प्रकार स्वर्गोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान न रहने पर भी याग अपूर्व के द्वारा स्वर्ग का साधन हो सकता है। कृषि अथवा चिकित्सा में अन्न अथवा आरोग्य के मुख्य कारणत्व के व्यवहार का जब कोई बाधक नहीं है, तो उन में उन कार्यों के करणत्व के व्यवहार को 'लाक्षणिक' अर्थात् गौण कहना साहस मात्र है।

पू० प० अस्तु तर्हि ··· ··· ··· ···

कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्वक्षण में न रहने पर भी व्यापार के द्वारा यदि कारणता संभव हो तो ब्रह्मवध का कर्तृत्व स्वरूप कारणता ब्रह्मवध करने वाले पुरुष के पिता में उस पुत्र स्वरूप व्यापार के द्वारा माननी होगी। किन्तु ऐसा मानना सर्वानुभव विरुद्ध है। जिससे लोक व्यवहार का चलना ही असम्भव हो जायगा।

सि० प० न, सत्यपि ··· ··· — ···

पुत्र पिता में उक्त वध कर्तृत्व स्वरूप कारणत्व का व्यापार नहीं हो सकता। क्योंकि पुत्र के रहने पर पिता कदाचित् ब्रह्मवध नहीं भी करता है। कि वा पुत्र के न रहने पर भी पिता ब्रह्मवध कर सकता है। इस लिये पुत्र चूंकि पिता में ब्रह्मवध कर्तृत्व का निर्वाहक नहीं है, अतः पुत्र प्रकृत में व्यापार नहीं हो सकता। जिस को उत्पन्न करके ही जो जिसका पूर्ववर्ती हो, वही उस मुख्य कारण का व्यापार है, अन्य कोई नहीं। जैसे कि पुर्वानुभव संस्कार के उत्पादन द्वारा ही स्मरण का कारण होता है। पूर्वानुभव के बिना स्मृति नहीं होती है। पूर्वानुभव के रहने पर स्मृति होती है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों के निर्णीत हो जाने पर पूर्वानुभव में स्मृति की कारणता सिद्ध हो जाती है। किन्तु पूर्वानुभव में स्मृति की यह कारणता संस्कार की कल्पना के बिना अनुपपन्न है, अतः 'संस्कार' की कल्पना की जाती है। 'संस्कार' स्वरूप व्यापार की कल्पना का कोई अन्य प्रयोजक नहीं है।

तथेहापि। न चेदेवं, तदापि ब्रह्मभिदुरशरविमोकसमसमयहतस्य हन्तृत्वं न स्यात्। स्याच्च स्वनिवेशनशयानस्य तत्पितुरिति। एतेनोभयं वेति निरस्तम्। अस्तु तर्हि क्रियाधर्म्म एव कार्यत्वं विधिः। सर्वो हि कर्तव्यमेतदिति प्रत्येति। ततः कुर्यामिति सङ्कल्प्य प्रवर्तते इति चेत्?

तथेहापि ... ...

इसी प्रकार याग में स्वर्ग की कारणता सिद्ध है। किन्तु अपूर्व के बिना वह कारणता असम्भव है। इसलिये 'अपूर्व' स्वरूप व्यापार की कल्पना करते हैं। किन्तु इससे याग में स्वर्ग की सर्वसिद्ध जो कारणता है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता (न हि व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धिः) यदि ऐसा न हो, कारण को कार्य का समानकालिक अथवा अव्यवहित पूर्वक्षण कालिक होना अनिवार्य हो, तो आप के मत से जिस स्थल विशेष में किसी ने किसी ब्राह्मण को मारने के लिये शर छोड़ा, किन्तु शर छोड़ने के बाद शर छोड़ने वाले की ही मृत्यु हो जाती है। ब्राह्मण की मृत्यु तो उसके आगे के क्षण में होगी। यह निर्विवाद है कि उक्त ब्रह्मवध का कर्त्ता उक्त शर को छोड़नेवाला मृत पुरुष ही है किन्तु हननकर्तृत्व स्वरूप कारणत्व उस पुरुष में उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि ब्रह्मवध रूप कार्य के समय अथवा उससे अव्यवहित पूर्वक्षण में वह शर छोड़नेवाला पुरुष नहीं है।

केवल शर छोड़नेवाले उक्त पुरुष में ब्रह्मवध कर्तृत्व की अनुपपत्ति ही नहीं होगी, किन्तु उस समय बिछावन पर आराम से सोने वाले उक्त पुरुष के पिता में ब्रह्मवधकर्तृत्व की आपत्ति भी होगी। क्योंकि ब्रह्मवध करनेवाले का पिता उस समय विद्यमान है। तस्मात् कारणत्व के लिये कार्य समकालवृत्तित्व अथवा कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व की कोई अपेक्षा नहीं है, किन्तु कार्य का नियत पूर्ववर्त्तित्व मात्र ही केवल अपेक्षित है। स्वर्ग स्वरूप कार्य का यह नियतपूर्ववर्त्तित्व तो याग में है ही, अतः याग में स्वर्ग की कारणता की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस प्रकार अपूर्वत्व एवं तद् गत कार्यत्व में विधि प्रत्यय के प्रवृत्तिनिमित्तत्व के खण्डन के कथित युक्तियों से ही जो कोई अपूर्वत्व एवं तद्गतकार्यत्व इन दोनों को सम्मिलित रूप से (अर्थात् सामानाधिकरण्य सम्बन्धेन अपूर्वत्व विशिष्ट तद्गत कार्यत्व को) विधि प्रत्यय का प्रवृत्ति निमित्त मानते हैं—उन का मत भी खण्डित हो जाता है।

अस्तु[1] तर्हि क्रियाधर्मः ... ...

'यजेत' पद के द्वारा "इदम् (यागादिकम्) कर्त्तव्यम् (कार्यम्) मया" इस आकार का ज्ञान

---

1. इस सन्दर्भ से श्लोक के 'न क्रियाव्यप्रवृत्तितः' इस चौथे चरण की व्याख्या की गयी है। जिसके द्वारा यह कहा गया है कि 'क्रिया' स्वरूप' कर्म में रहनेवाले 'कार्यत्व' अर्थात् कर्त्तव्यत्व धर्म भी विधि प्रत्यय का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।

न, कर्तव्यं मयेति कृत्यध्यवसायार्थो वा स्यात्, कर्तव्यं मयेत्युचितार्थो वा स्यात्। तत्र प्रथमः सङ्कल्पान्न भिद्यते। व्यवहितकार्ये सङ्कल्पो हि कर्तव्यो मयेति, सन्निहितकार्यसङ्कल्पस्तु कुर्यामिति। स च न लिङर्थः। सत्तामात्रेण प्रवर्तनादित्युक्तम्।

तदेतत् कर्तव्यतायां जातायां प्रवर्तत इति वस्तुस्थितौ भ्रान्तैर्ज्ञातायामिति गृहीतम्। औचित्यन्तु क्रियाधर्म्मः प्रागभाववत्त्वम्, तस्मिन् सति शक्यत्वं वा, तस्मिन् सति कर्तारं प्रत्युपकारकत्वं वा?। प्रथमे कुतश्चिदपि न निवर्त्तेत।

होता है। इसके बाद 'कुर्याम्' इस आकार का संकल्प उदित होता है। उसके बाद याग में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अत यागः स्वरूप 'क्रिया' निष्ठ 'कार्यत्व' अर्थात् कर्त्तव्यत्व ही विधिप्रत्यय का अर्थ है।

सि० प० न, कर्त्तव्यं मया ··· ··· ··· ···

विधिवाक्य से 'मयेदंकर्त्तव्यम्' इस आकार के जिस ज्ञान की चर्चा की गयी है (१) क्या वह ज्ञान 'कृत्यध्यवसाय' स्वरूप है? (अर्थात् कृत्यनुकूल इच्छा विषयक है?) अथवा (२) करने के योग्य वस्तु विषयक है? इन में से पहिला ज्ञान चूंकि इच्छा विषयक ज्ञान स्वरूप हैं, अतः स्वयं 'संकल्प' रूप है। इतना ही अन्तर है कि व्यवहित कार्य विषयक--'संकल्प' का अभिलाप 'मया कर्तव्यम्' इस वाक्य से होता है। एवं संनिहित कार्य विषयक संकल्प का अभिलापक वाक्य 'कुर्याम्' इस आकार का होता है। अतः 'मया कर्त्तव्यम्' इस ज्ञान से 'कुर्याम्' यह संकल्प उदित होता है। किन्तु दोनों संकल्प स्वरूप ही हैं।

पहिले यह दोनों ही बातें कही जा चुकी है कि संकल्प स्वयं प्रवृत्ति का कारण है, उसका ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है। एवं (२) एवं विध्यर्थ को ज्ञात हो कर प्रवृत्ति का कारण होना आवश्यक है। तस्मात् 'कुर्याम्' इस आकार का संकल्प विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रवृत्ति का उत्पादक है। वस्तुस्थिति यह है कि 'कर्त्तव्यता' स्वरूप संकल्प के उत्पन्न होने के बाद ही पुरुष प्रवृत्त हो जाता है, किन्तु भ्रान्तिवश आप (मीमांसक) कहते 'कर्त्तव्यता' के ज्ञान के बाद प्रवृत्ति होती है।

औचित्यम् ··· ··· ··· ···

(कथित दूसरे विकल्प में जिस कर्त्तव्यता अर्थात् 'औचित्य' की चर्चा की गयी है, वह) औचित्य क्या वस्तु है? (१) क्या वह 'क्रिया' का प्रागभाव स्वरूप है? (२) अथवा प्रागभाव विशिष्ट कृति साध्यत्व स्वरूप है? (३) किं वा प्रागभाव और कृतिसाध्यत्व एतदुभय विशिष्ट इष्टसाधनत्व स्वरूप है?

द्वितीये दुःखेऽपि तथाविधे प्रवर्त्तेत । तृतीये तु वक्ष्यते ॥१२॥

अस्तु तर्हि करणधर्म्मः । न । करणं हि शब्दः, तद्धर्म्मोऽभिधा वा स्यात्, तदर्थो भावनादिर्वा, तद्धर्म्मं इष्टसाधनता वा ? । न प्रथमः ।

असत्त्वावप्रवृत्तेश्च नाभिधाऽपि गरीयसी ।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः ॥१३॥

प्रथमे कुतश्चित् ··· ··· — ···

इन में (१) प्रथम पक्ष तो इस लिये अयुक्त है कि विषपानादि अनिष्टकार्यों से भी मनुष्य सर्वथा निवृत्त नहीं होता है[1] ।

द्वितीये दुःखेऽपि ··· — — ···

यदि कथित द्वितीय पक्ष मानें तो दुःखजनक कार्यों में भी लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति माननी होगा । क्योंकि दुःखजनक कार्यों का भी तो प्रागभाव है ही । एवं वह लोगों की कृति के साध्य भी हैं । अतः द्वितीय प्रकार का भी 'औचित्य' (कार्यत्व) स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

तृतीयेऽपि — — ··· ···

कथित तीसरे प्रकार के 'औचित्य' लक्षण को स्वकार करने के पक्ष में आगे (इष्टसाधनतापक्षेऽपि इत्यादि से) दोष दिखलावेंगे ॥ १२ ॥

पू० प० अस्तु तर्हि[2] ··· ··· ··· ···

शाब्दबोध रूप 'क्रिया' के कर्तृकारक अथवा कर्मकारक में रहने वाले धर्म भले ही कथित आपत्तियों के कारण विधि प्रत्यय के अर्थ न हो सकें, तथापि उक्त क्रिया के 'शब्द' स्वरूप 'करण' के 'अभिधा' प्रभृति धर्मों को ही विधिप्रत्यय का अर्थ मान लिया जाय ।

सि० प० न, करणं हि ··· ··· ··· ···

किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में करणीभूत शब्द के (१) अभिधा (२) भावना (३) एवं इष्ट साधनता ये तीन 'धर्म' ही विधि प्रत्यय के अर्थ हो सकते है, किन्तु इनमें से प्रथम पक्ष इसलिए ठीक नहीं है कि—

---

१. कहने का तात्पर्य है कि लोक स्वभावतः इष्ट कार्य में प्रवृत्त होता है एवं अनिष्ट कार्यों से निवृत्त होता है । विधि है प्रवृत्ति का जनक, अतः विधि का 'कार्य-प्रागभाव' अर्थ होता है । यह प्रागभाव तो अनुष्ठेय याग एवं अननुष्ठेय कलञ्जभक्षण दोनों का समान है । याग की प्रवृत्ति में एवं कलञ्जभक्षण की प्रवृत्ति में युक्तियां समान हैं । किन्तु 'औचित्य' की दृष्टि से तो याग में प्रवृत्ति और कलञ्जभक्षण में निवृत्ति होनी चाहिये, किन्तु कथित 'पक्ष' के अनुसार सो उपपन्न नहीं होता है ।

२. कर्त्ता और कर्म इन दोनों कारकों के धर्मों में विध्यर्थत्व के खण्डन के बाद शाब्दबोध के 'करण' कारकीभूत 'शब्द' गत धर्मों में विध्यर्थत्व का खण्डन इस श्लोक से किया गया है । इसी का उपक्रम 'अस्तु तर्हि' इत्यादि से बांधा गया है ।

सि० प० [1]असत्वात् ... — ...

(१) शब्द स्वरूप करण में रहने वाली 'अभिधा' नाम की किसी वस्तु की 'सत्व' अर्थात् विद्यमानता नहीं है।

अप्रवृत्तेश्च — ... ...

(२) दूसरी बात यह है कि 'अभिधा' इस शब्द के द्वारा कथित 'अभिधा' स्वरूप शब्दनिष्ठ 'धर्म' का ज्ञान रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती है। वही विधि प्रत्यय का अर्थ हो सकता है, जिसके ज्ञान से प्रवृत्ति हो सके।

बाधकस्य — ... ...

जिस प्रकार कथित कर्तृधर्म एवं कर्म कारक के धर्मों को विधि प्रत्यय का अर्थ स्वीकार करने में बाधक है, उसी प्रकार प्रकृत में 'करण' के 'अभिधा' स्वरूप धर्म को विधि प्रत्यय का अर्थ स्वीकार करने में भी बाधक है। अतः परिशेषानुमान के द्वारा भी करणीभूत शब्द के 'अभिधा' स्वरूप धर्म को विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

---

1. भट्टानुयायी मीमांसकों का कहना है कि शाब्दबोध स्वरूप 'क्रिया' के करण स्वरूप 'शब्द' में रहने वाले अभिधा, भावना और इष्टसाधनता नाम के धर्म भी विधि प्रत्यय के अर्थ हैं। शब्द के इन अभिधादि धर्मों के प्रसङ्ग में महर्षिकल्पश्री कुमारिल भट्ट की उक्ति है कि—

अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते॥

'लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः'। अर्थात् वैदिक लिङादि प्रत्यय 'अन्या' अर्थात् 'आर्थीभावना' से भिन्न 'अभिधा' नाम के एक विशेष प्रकार के व्यापार का वाचक है। जिसको 'शाब्दीभावना' कहते हैं। 'अन्या' अर्थात् इस शाब्दी भावना से भिन्न दूसरी भावना—जिसे 'आर्थीभावना कहते हैं—सभी आख्यात प्रत्ययों का साधारण अर्थ है।

भट्टानुयायियों का तात्पर्य है कि पुरुष की प्रवृत्ति दो प्रकार की हैं। एक स्वेच्छा से, दूसरी दूसरे की प्रेरणा से। इनमें प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति का कारण उस प्रवृत्त पुरुष का इष्टसाधनता विषयक ज्ञान है, दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति 'प्रवर्त्तना' के ज्ञान से होती है। यह 'प्रवर्त्तना' प्रवृत्ति करानेवाले पुरुष में रहने वाली एक विशेष प्रकार का 'व्यापार' स्वरूप है। प्रवृत्त करानेवाला जहाँ चेतन पुरुष (पिता गुरु प्रभृति) होता है, वहाँ 'अहमेनं प्रवर्त्तयामि' इस आकार की इच्छा स्वरूप है, जो उक्त प्रवृत्त कराने वाले (पिता या गुरु प्रभृति) पुरुषों में रहती है।

किन्तु जहाँ वेदादि अचेतन पदार्थ प्रवर्त्तक हैं, वहाँ लिङ् प्रत्यय प्रभृति शब्दों में रहने वाली प्रेरिका 'अभिधा' को स्वतन्त्र अतिरिक्त पदार्थ ही मानना होगा। अतिरिक्त पदार्थ स्वरूपा यह भावना चूँकि लिङादि प्रत्यय स्वरूप शब्दों में ही रहती है, अतः इसको 'शाब्दी भावना' कहते हैं।

इस प्रकार कथित 'भावना' दो प्रकार की है (१) शाब्दी भावना एवं (२) आर्थीभावना। दोनों ही भावनायें किम्, केन एवं कथम्' अर्थात् साध्याकांक्षा साधनाकांक्षा एवं इतिकर्त्तव्यताकांक्षा (कथंभावाकांक्षा) इन तीन आकांक्षाओं से युक्त हैं। इनमें शाब्दी भावना का साध्याकांक्षा (भाव्याकांक्षा) स्वरूप प्रथमाकांक्षा की पूर्ति पुरुष की प्रवृत्ति से होती है। अर्थात् पुरुष की प्रवृत्ति ही शाब्दी भावना की प्रथमाकांक्षा का फल है। इसके बाद स्वभावतः यह साधनाकांक्षा जागृत होती है 'केन भावयेत्' अर्थात् वैदिक लिङ् प्रत्यय स्वरूप शब्द निष्ठ भावना (शाब्दी भावना) के द्वारा किसके सहाय्य से पुरुष प्रवृत्त होता है ? इसका यह उत्तर है 'सम्बन्धबोध' के साहाय्य से पुरुष प्रवृत्त होता है। अर्थात् उक्त 'प्रवर्त्तना' में जो लिङ् प्रत्यय का वाच्य-वाचकभाव स्वरूप सम्बन्ध है, उस 'सम्बन्ध ज्ञान' के सहाय्य से लिङ् शब्द के द्वारा प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। उसके बाद पुनः यह नैसर्गिक आकांक्षा जगती है कि 'कया रीत्या' अथवा केन प्रकारेण ? अर्थात् कथित 'सम्बन्धबोध' स्वरूप साधन से किस प्रकार प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'प्ररोचना' से। अर्थात् याग के प्राशस्त्य के बोधक जो अर्थवादवाक्य हैं, तद्बोध्य 'स्तुति' के द्वारा 'सम्बन्धबोध' स्वरूप साधन से प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जिस समय पुरुष को याग में होने वाले अर्थव्यय एवं शारीरिक क्लेशादि के अनुसन्धान से याग की प्रवृत्ति अवरुद्ध होने लगती है, उस समय आर्थवादिक प्राशस्त्यज्ञान से उक्त दुःख की अपेक्षा अधिक सुख के अनुसन्धान से यागादि विषयक द्वेष से प्रवृत्ति में जो अवरोध उपस्थित था, वह हट जाता है। इसके बाद पुरुष याग में प्रवृत्त हो जाता है।

आर्थीभावना के भी (१) साध्य (२) साधन एवं (३) इतिकर्त्तव्यता ये तीन अंश है। इनमें 'याग' है करण, 'स्वर्ग' है साध्य (कार्य) एवं दर्शपौर्णमा-सादि यागों के प्रयाज अनुयाजादि हैं इतिकर्त्तव्यता'। तदनुसार 'प्रयाजाद्यनुष्ठान द्वारेण 'यागेन स्वर्गं भावयेत' यह बोध उत्पन्न होता है। इस बोध में विषयीभूत भावना' में याग करणत्वेन, स्वर्ग साध्यत्वेन और प्रयाजादि इतिकर्त्तव्यतात्वेन अन्वित होते हैं।

कथित 'शाब्दीभावना' नाम की 'अभिधा' को ही भट्टलक्षणानुयायी मीमांसक विधि प्रत्यय का अर्थ मानते हैं।

सङ्गतिप्रतिसन्धानाधिकायां तस्यां प्रमाणाभावात्। अन्यसमवेतस्यापूर्ववदन्यव्यापारत्वेनाप्युपपत्तेः। विषयतयाऽपि च स्वव्यापारं प्रति लिङ्गवद्धेतुभावाविरोधात्।

सि० प० सङ्गतिप्रतिसन्धान ··· — ··· ···

शब्द से जो अन्वयबोध उत्पन्न होता है, उसके मध्य में 'सङ्गतिप्रतिसन्धान' अर्थात् शक्ति स्मरण एवं तज्जन्य पदार्थोपस्थिति से अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार की सत्ता प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

अन्यसमवेतस्य ··· ··· — —

(इस प्रसङ्ग में भट्टमतानुयायियों का कहना है कि व्यापार एवं व्यापारी का एक आश्रय में रहना आवश्यक है। 'सङ्गति प्रतिसन्धान' स्वरूप व्यापार आत्मा का धर्म है। शब्द स्वरूप व्यापारी आकाश का धर्म है। अतः कथित 'सङ्गति प्रसन्धान' शब्द स्वरूप व्यापारी का व्यापार नहीं हो सकता। अतः शब्द का सम्बन्ध ही उसका व्यापार है। वह सम्बन्ध कथित 'अभिधा' स्वरूप है, किन्तु उन लोगों का उक्त कथन भी सर्वथा सत्य नहीं है) क्योंकि यह सत्य है कि अधिकांश स्थलों में व्यापार एवं व्यापारी एक आश्रय में रहते हैं, किन्तु ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि सभी व्यापार एवं व्यापारी एकत्र ही रहें। क्योंकि भट्टों के अनुयायी भी याग से स्वर्ग के उत्पादन में अपूर्व को व्यापार मानते हैं। यह अपूर्व स्वरूप व्यापार आत्मा का धर्म है। किन्तु याग स्वरूप व्यापारी का वह व्यापार होता ही है। इस लिये यह कहना ठीक नहीं है कि शब्द एवं सङ्गतिप्रतिसन्धान ये दोनों चूँकि विभिन्न अधिकरणों में रहते हैं, अतः उनमें व्यापारव्यापारिभाव नहीं हो सकता।

विषयतयापि ··· — — ···

(इस प्रसङ्ग में एक और आपत्ति उठाई जाती है कि व्यापार को करणस्वरूप व्यापारी से उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु शब्द स्वरूप करण (व्यापारी) से सङ्गतिप्रतिसन्धान स्वरूप व्यापार उत्पन्न नहीं होता है। अतः 'सङ्गतिप्रतिसन्धान' शब्द स्वरूप करण का व्यापार नहीं हो सकता, किन्तु) मनः संयोगादि के समान ही विषय भी ज्ञान का एक कारण है। इसी युक्ति के अनुसार परामर्श हेतु का व्यापार कहलाता है। क्योंकि 'हेतु' परामर्श का उत्पादक कारण है। इसी प्रकार सङ्गति स्मृति में भी शब्द विषय विधया भासित होता है, अतः शब्द सङ्गति स्मृति का भी कारण है। इसलिये सङ्गतिस्मृति को शब्द का व्यापार होने में कोई बाधा नहीं है।[1]

---

1. वर्द्धमान ने आचार्य के उक्त समाधान की आलोचना करते हुये लिखा है कि विषय प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का ही कारण है। परोक्षज्ञान तो विषय के न रहने पर

अधिकत्वेऽपि ततोऽप्रवृत्तेः। बालानां तदभावेऽपि तद्भावात्। शब्दान्तरेण तच्छ्राविणामप्यप्रवृत्तेः।

न च विलक्षणैव सा लिङो विषयः। तद्वैलक्षण्यं प्रतिपत्ति प्रति चेत्; अर्थविशेषोऽपि स्यात्।

अधिकत्वेऽपि[1]

यदि शब्द का 'शाब्दीभावना' स्वरूप 'अभिधा' नाम का कोई व्यापार मान भी लें, तथापि वह लिङ प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि वह 'अभिधा' प्रवृत्ति का उत्पादक न होने से 'पुरुषार्थ' नहीं है। क्योंकि 'बालक' को अर्थात जिस पुरुष को 'अभिधा लिङ्प्रत्यय का वाच्य है' इस प्रकार का शक्तिज्ञान नहीं है, उस पुरुष को भी लिङ् पद के श्रवण से प्रवृत्ति होती है। एवं 'यजेत' प्रभृति लिङ् प्रत्ययान्त पदों से भिन्न 'अभिधा' इस आनुपूर्वी के शब्द से अभिधा स्वरूप अर्थ का ज्ञान होने पर भी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। तस्मात् शब्द स्वरूप करण का यदि 'अभिधा' नाम का एक व्यापार स्वीकृत भी हो जाय, तथापि उस 'अभिधा' में चूंकि प्रवृत्ति की उत्पादकता नहीं है, अतः उसको विधि प्रत्यय का वाच्य अर्थ नहीं माना जा सकता।

पू० प० न[2] च विलक्षणैव ··· ··· ··· ···

'अभिधा' शब्दों से उत्पन्न 'अभिधा' के साधारण ज्ञान से प्रवृत्ति के न होने पर भी लिङादि शब्द जनित जो अभिधा का विशेषज्ञान होता है, अभिधा विषयक उस 'विशिष्टज्ञान' से प्रवृत्त हो सकती है। अभिधा का यह 'विशेष प्रकार' का ज्ञान अभिधा, भावना प्रभृति शब्दों से नहीं हो सकती।

सि० प० तद्वैलक्षण्यम् ··· ··· ··· ···

ज्ञानों में वैशिष्ट्य दो प्रकार से संभव है। (१) विषय के द्वारा एवं (२) स्वतः ज्ञान के ही द्वारा। यदि प्रथम रीति के अनुसार प्रवृत्ति के जनकीभूत अभिधा के ज्ञान का

भी होता है। स्मृति चूँकि परोक्षज्ञान है, अतः वह विषय जन्य नहीं है। इसलिये 'विषयतयापि' इत्यादि सन्दर्भ आचार्य ने अपने मत के अनुसार नहीं लिखा है, किन्तु जो कोई परोक्षज्ञान में भी विषय को कारण मानते हैं, उनके अनुसार लिखा है।

१. उक्त सन्दर्भ श्लोक के 'अप्रवृत्तेश्च' इस अंश का विवरण स्वरूप है।

२. 'न च विलक्षणैव' यह सन्दर्भ श्लोक के उत्तरार्ध की व्याख्या रूप है।

प्रवृत्तिमात्रं प्रति चेत्; अभिधासमवेतं तदिति कुतः? तत्सन्निधानादिति चेन्न।

कोई ऐसा विशिष्ट वस्तु विषय होना चाहिये, जिससे अभिधा का प्रकृत विशिष्टज्ञान अभिधा के ही अन्य सामान्यज्ञानों से अलग समझा जा सके। किन्तु लिङ् प्रत्यय से उत्पन्न अभिधा के ज्ञान में, एवं अभिधा शब्द जन्य अभिधा के ज्ञान में, ऐसा कोई विषयमूलक अन्तर नहीं प्रतीत होता है। अत: विषय के वैशिष्ट्य से ज्ञान में वैशिष्ट्य संपादन के द्वारा प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

[1]यदि द्वितीय रीति से प्रवृत्ति जनकीभूत अभिधा के ज्ञान को 'विशिष्ट' कहेंगे, तो इसका यह अर्थ होगा कि अभिधा के जिस ज्ञान को लोग प्रवृत्ति का जनक कहें, वही अभिधा लिङ् प्रत्यय का वाच्य अर्थ है" किन्तु लोग तो अभिधा को प्रवृत्ति का जनक ही नहीं मानते। तस्माद् अभिधा को लिङ् प्रत्ययार्थ मानने के पक्ष में प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

पू० प० प्रवृत्तिमात्रम् ··· ··· ··· ···

अभिधादि शब्द जन्य अभिधा के साधारण ज्ञान से चूँकि प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः प्रवृत्ति स्वरूप कार्य के कारणीभूत अभिधा के विशिष्ट ज्ञान का अनुमान करेंगे।

सि० प० तत्··· ··· ··· ···

इस अनुमान से यह सिद्ध नहीं होगा कि लिङादि प्रत्यय के वाच्य 'अभिधा' विशेष प्रकार की हो। इस से तो इतना ही सिद्ध होगा कि अभिधा के जिस ज्ञान से प्रवृत्ति होती है, अभिधा विषयक वह ज्ञान अन्य सामान्य ज्ञानों से विलक्षण हैं। अभिधा विषयक इन दोनों ज्ञानों में वैलक्षण्य का निर्वाह तो विषयीभूत अभिधाओं में वैलक्षण्य न मान कर भी की जा सकती है। अर्थात् इस में कोई प्रमाण नहीं है कि प्रवृत्ति का प्रयोजकीभूत वैलक्षण्य अभिधा में ही है।

पू० प० तत्संनिधानात्··· ··· ··· ···

लिङ् प्रत्यय से जो बोध उत्पन्न होता है, उस में यह अभिधा भी विषय होती है। बुद्धि गत इस 'संनिधान' अर्थात् सामीप्य के कारण प्रवृत्ति के अन्यकारणों में वैलक्षण्य न मानकर अभिधा में ही उक्त वैलक्षण्य मानना उचित है।

---

१. अर्थात् लिङादि पद जन्य अभिधा विषयक ज्ञान को ही प्रवृत्ति का कारण मान लेने से कथित 'व्यभिचार' का वारण हो जाता है। इसी लिये अन्य आख्यात प्रत्ययों से यद्यपि अभिधा का बोध होता है, तथापि अभिधा के उस सामान्यज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती है।

अनियमात् । अन्यस्य सर्वस्य निषेधादिति चेन्न । प्रवृत्तिहेतुत्वानिषेधस्य तुल्यत्वात् । तत्सन्निधिनिषेधस्य चाशक्यत्वात् । शब्दैकवेद्यत्वे चाव्युत्पत्तेः ।

सि० प० न---- ... ... ---

उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह तभी कहा जा सकता है, जब कि प्रवृत्ति का प्रयोजक उक्त वैलक्षण्य केवल अभिधा में ही रहे । किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि वह वैलक्षण्य तो अभिधा के ही समान प्रवृत्ति के इष्ट साधनत्वादि कारणों में, अथवा धात्वर्थ यागादि में भी समान रूप से है । अतः कथित संनिधान से यह नहीं सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति प्रयोजकीभूत उक्त वैशिष्ट्य अभिधा में ही है ।

पू० प० अन्यस्य... ... ...

अभिधा से भिन्न इष्ट साधनत्वादि धर्मों में प्रवृत्ति की कारणता स्वरूप वैलक्षण्य के निरस्त हो जाने पर परिशेषात् अभिधा में ही प्रवृत्ति की कारणता स्वरूप वैलक्षण्य की सिद्धि हो जायगी ।

सि० प० प्रवृत्तिहेतुत्व---- ... ... ---

जिस प्रकार याग अथवा इष्टसाधनत्व में प्रवृत्ति की कारणता नहीं है, उसी प्रकार अभिधा में भी प्रवृत्ति की कारणता नहीं है। अतः अभिधा में प्रवृत्ति की कारणता स्वरूप वैलक्षण्य की सिद्धि कैसे होगी ?

तत्संनिधिनिषेधस्य... ... ... ---

(इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि 'यजेत्' पद का संनिधान चूँकि 'अभिधा' में ही है, इस लिये प्रवृत्ति की कारणता स्वरूप वैलक्षण्य भी उसी में है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि) 'यजेत्' का संनिधान तो जिस प्रकार अभिधा में है, उसी प्रकार याग अथवा इष्टसाधनत्व में भी है ही ।

शब्दैक---- ... ...

(इसी प्रसङ्ग में यह कहना भी संभव है कि यद्यपि अन्यप्रमाणों में भी अभिधा का ज्ञान हो सकता है, फिर भी अन्य प्रमाणों से उत्पन्न अभिधा के ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः यह कल्पना सुलभ है कि केवल लिङ् प्रत्यय स्वरूप शब्द प्रमाण से उत्पन्न अभिधा का ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण है, अन्य प्रमाणों से उत्पन्न अभिधा विषयक ज्ञान नहीं । किन्तु यह कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि) अन्य प्रमाणों के द्वारा सिद्ध वस्तु में ही शब्द का संकेत गृहीत होता है । इस लिये उस 'अभिधा' में चूँकि प्रवृत्ति की उत्पादकता नहीं है, अतः उसको विधि प्रत्यय का वाच्य नहीं माना जा सकता ।

प्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिसिद्धे व्युत्पत्तिरित्यपि वार्त्तम्। न हि प्रवृत्तिहेतुः कश्चिदस्तीति प्रवर्तते। इष्टसाधनता तु स्यात्। सर्वो हि मया क्रियमाणेनेतन्मत्समीहितं साधयिष्यतीति प्रतिसन्धत्ते, तत इच्छति कुर्यामिति, ततः करोतीति सर्वानुभवसिद्धम्।

तदयं व्युत्पित्सुर्यज्ज्ञानात् प्रयत्नजननीमिच्छामवाप्नवान्, तज्ज्ञानमेव लिङ्-श्राविणः प्रवृत्तिकारणमनुमिनोति। ततश्च कर्तव्यतैकार्थसमवायिनी इष्टसाधनता लिङर्थ इत्यवधारयति।

पू० प० प्रवृत्त्यन्यथा ... ...

केवल याग की सत्ता मात्र से उसमें प्रवृत्ति नही होती है, अतः प्रवृत्ति का कोई अन्य कारण अवश्य है। वही 'कारणीभूत वस्तु' लिङ् प्रत्यय का अर्थ है। उसी वस्तु का नाम है 'अभिधा' अथवा 'शाब्दीभावना'।

सि० प० न हि ... ...

प्रवृत्ति की उक्त अनुपपत्ति से केवल इतना ही सिद्ध होगा कि याग से भिन्न प्रवृत्ति का कोई कारण है, किन्तु केवल इतने से ही तो अभिधा की उपपत्ति नहीं हो जायगी। अतः उक्त कथन भी ठीक नहीं है।

पू० प० इष्टसाधनता[1] तु ... ...

करण में रहनेवाला इष्टसाधनत्व ही विधि प्रत्यय का अर्थ है। सभी मनुष्यों को 'मया क्रियमाणमेतन्मम समीहितं साधयिष्यति' (मुझ से क्रियमाण यह कार्य मेरे इष्ट का साधन करेगा) पहिले इस आकार का प्रतिसन्धान होता है (जिस से असाध्य मेरुशृङ्गादि के ग्रहण में कोई प्रवृत्ति नहीं होता है)। इसके बाद 'कुर्याम्' अर्थात् 'मैं करूँ' इस आकार की इच्छा उत्पन्न होती है। इसके बाद मनुष्य कार्य करता है। इस सार्वजनीन अनुभव का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। फलतः कथित प्रतिसन्धान स्वरूप ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति होती है। इच्छा से प्रयत्न की उत्पत्ति होती है, और प्रयत्न से प्रवृत्ति उत्पन्न होती हैं।

इस वस्तुस्थिति के अनुसार जान पड़ता है कि 'व्युत्पत्सु' अर्थात् लिङ् पद की शक्ति के ज्ञान स्वरूप 'व्युत्पत्ति' की इच्छा जिस पुरुष को है, वह पुरुष अनुमान के द्वारा लिङ्

---

1. करण निष्ठ इष्ट साधनत्व ही विधि प्रत्यय का अर्थ है। यह मत प्राचीन नैयायिकों का है। यह मत उक्त सन्दर्भ से उपपादित होकर 'हेतुत्वादनुमानाच्च' इस श्लोक से खण्डित हुआ है।

न च वाच्यमेवञ्चेत् वरं कर्तव्यतैवास्तु, अवश्याभ्युपगमनीयत्वात्; कृतमिष्ट-साधनतयेति। यथा हि नेष्टसाधनतामात्रं प्रतीत्य प्रवर्तते, असाध्येषु व्यभिचारात्। तथा हि प्रयत्नविषयसमवायिनीमिष्टसाधनतामधिगम्याधिकारी प्रवर्तत इत्यनुभवः।

पद को सुननेवाले पुरुष को जिस ज्ञान से उक्त इच्छा होती है, उस ज्ञान को ही प्रवृत्ति का कारण समझता है। क्योंकि वही विधिप्रत्यय का अर्थ हो सकता है, जिसका ज्ञान प्रवृत्ति का उत्पादक हो। अतः उक्त 'व्युत्पत्सु' पुरुष को यही अनुमान होता है कि 'कर्त्तव्यविषयीभूत-वस्तु निष्ठ इष्टसाधनत्व ही अर्थात् कर्तव्यत्व समानाधिकरण इष्टसाधनत्व ही विधि प्रत्यय का अर्थ है। इस अनुमान से ही इष्टसाधनत्व में विधि प्रत्यय की शक्ति गृहीत होती है।

पू० प० न च वाच्यमेवञ्चेत् … … …

(कर्तव्यता के साथ एक अर्थ में रहने वाला इष्टसाधनत्व—कर्तव्यत्व समानाधिकरण इष्ट साधनत्व) को ही यदि विधि प्रत्यय का अर्थ मानना है, तो फिर केवल 'कर्तव्यत्व' को ही विधि प्रत्यय का अर्थ क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि कथित इष्टसाधनत्व में शक्ति मानने के पक्ष में भी तो 'कर्तव्यता' में (शक्यतावच्छेदक विधया) शक्ति को स्वीकार करना ही पड़ता है। यही 'कर्तव्यता' पहिले 'कार्यता' शब्द से कही जा चुकी है। फलतः इष्ट-साधनता को विधिप्रत्यय का अर्थ मानना व्यर्थ है[1]।

तथा हि प्रयत्न … … … …

'कर्तव्यता' है 'कृतिसाध्यता' स्वरूप। उसका ज्ञान भी प्रवृत्ति में अवश्य ही अपेक्षित है, क्योंकि इष्टसाधनत्व ज्ञान के रहने पर भी सुमेरुश्रृङ्गादि के आहरण स्वरूप 'कृत्यसाध्य' कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है। किन्तु साथ साथ यह भी नियम है कि प्रयत्न जिस विषयक होगा, उसी में इष्टसाधनत्व की बुद्धि होने पर पुरुष प्रवृत्त होता है। इस सार्वजनीन अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। अर्थात् इष्टसाधनत्व एवं कर्तव्यत्व दोनों का ज्ञान प्रवृत्ति के लिये समान रूप से अपेक्षित है, कोई कम और कोई अधिक नहीं। अतः कथित युक्ति से इष्टसाधनत्व को विधिप्रत्यय का वाच्य होने से रोका नहीं जा सकता।

---

१. यदि 'कर्त्तव्यत्व समानाधिकरण इष्टसाधनत्व' को विधि प्रत्यय का शक्य (वाच्य) अर्थ मानते हैं, तो शक्यतावच्छेदक विधया 'कर्त्तव्यता' में भी विधिप्रत्यय की शक्ति स्वतः स्वीकृत हो जाती है। अतः कर्त्तव्यता में विधिप्रत्यय की शक्ति को स्वीकार करना आवश्यक है। तो फिर उसी में लिङ् प्रत्यय की मुख्य शक्ति भी मान ली जाय। इष्टसाधनत्व में विधि प्रत्यय की शक्ति को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है?

तत्र विषयो धातुना भावनाऽऽख्यातमात्रेण, शेषन्तु तद्विशेषेण लिङा इत्येवमिष्टाभ्युपायतायामधिगतायामन्वयबलात् ताद्विषयस्येष्टसाधनत्वावगतिरिति कर्तव्यतैकार्थसमवायिनीष्टाभ्युपायता लिङः प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तम् ।

करणस्येष्टसाधनताऽभिधाने ज्योतिष्टोमेनेति तृतीयया न भवितव्यमिति तु देश्यमवैयाकरणस्यावधीरणीयमेव ।

तत्र ··· ··· ··· ···

'पचति' प्रभृति पदों से भी भावना का बोध होता है। 'पच' धातु से भावना के विषयीभूत पाक का बोध होता है। 'यजेत' पद में जो लिङ् प्रत्यय स्वरूप आख्यात है, उसमें आख्यातत्व एवं लिङ्त्व ये दोनों धर्म हैं। अतः यजेत पद में जो 'यज्' धातु है, उसका अर्थ है 'याग'। एवं उसमें जो लिङ् प्रत्यय है, वह अपने आख्यातत्व' धर्म के बल से भावना का वाचक है, एवं उसी में जो लिङ्त्व धर्म है, उसके प्रभाव से उस लिङ् प्रत्यय की शक्ति इष्टसाधनत्व में है।

अन्वयबलात् ··· ··· ··· ···

(प्रश्न होता है कि जब एक ही लिङ प्रत्यय से भावना और इष्टसाधनत्व दोनों की उपस्थिति होती है, तो फिर शाब्दबोध में इष्टसाधनत्व का भान किस के विशेषण रूप में होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) 'अन्वय' के बल से अर्थात् 'यज्' धातु और लिङ् प्रत्यय इन दोनों के समभिव्याहार के बल से भावना के विषय याग में ही कथित इष्टसाधनत्व का विशेषण विधया भान होगा। क्योंकि भावना यदि इष्टसाधन है, तो भावना के कर्त्तृभूत पुरुष कर्त्तृक याग भी अवश्य ही इष्ट का साधन है। इस प्रकार याग में इष्टसाधनत्व का बोध चूँकि स्वरससिद्ध है, अतः प्राचीन नैयायिकगण कर्त्तव्यता के आश्रयीभूत याग में रहने वाले इष्टसाधनत्व (कर्त्तव्यता समानाधिकरण इष्ट साधनत्व) को ही विधि प्रत्यय का अर्थ मानते हैं।

पू० प० करणस्येष्टसाधनताभिधाने ··· ··· — ···

वैयाकरणों के अनुशासन से अनभिज्ञ कुछ लोगों का कहना है कि यदि इष्टसाधनता को लिङ् प्रत्यय का अर्थ मानेंगे तो 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादि स्थलों में तृतीया विभक्ति की उपपत्ति नहीं होगी। क्योंकि जहाँ आख्यात से 'करण' का अभिधान नहीं होता है, वहीं करण के वाचक पद से तृतीया विभक्ति होती है। प्रकृत में भावना का 'करण' हैं 'याग,। याग निष्ठ इष्ट साधनत्व का ही अभिधान लिङ् प्रत्यय से हुआ है। अतः शक्यतावच्छेदक विधया याग भी लिङ् प्रत्यय स्वरूप आख्यात से अभिहित हो जाता है। अतः प्रकृत में करण स्वरूप याग का अभिधान (शक्यतावच्छेदक विधया) चूँकि आख्यात से हो गया है, अतः 'ज्योतिष्टोमेन' में तृतीया विभक्ति नहीं हो सकेगी।

तत्सङ्ख्याऽभिधानं हि तदभिधानमाख्यातेन। न च तत् प्रकृते। न च यागेष्टसाधनाताऽभिधानं लिङा, किन्त्वन्वयबलात्तल्लाभ इत्युक्तम्।

यत्तु सिद्धोपदेशादपि प्रतीयते इष्टसाधनता, न चातः सङ्कल्पात्मा प्रवृत्तिरस्तीति देश्यम्। तत्र समुत्कटफलाभिलाषस्य समर्थस्य तत्साधनताऽवगमेऽपि न प्रवृत्तिरिति कः प्रतीयात्। सर्वपक्षसमानञ्चैतम् समानपरीहारंचेति ॥ १३ ॥

सि० प० तत् संख्या ··· ··· ···

(प्राचीन नैयायिकों ने उक्त आक्षेप का यह उत्तर दिया हैं कि) अनभिहिताधिकार घटक जो 'अभिधान' है, उससे संख्या का अभिधान समझना चाहिये, तदनुसार उक्त नियम का यह स्वरूप निष्पन्न होता है कि जहाँ आख्यात से करणगत संख्या का अभिधान न हो, वहाँ करण बोधक पद से तृतीया विभक्ति होनी चाहिए। किन्तु 'यजेत' पद कर्त्ता में निष्पन्न आख्यात प्रत्यय से बना है। अतः वहाँ आख्यात से कर्तृगत संख्या का ही अभिधान होगा, करणगत संख्या का नहीं। अतः कथित 'ज्योतिष्टोमेन' पद में तृतीया की अनुपपत्ति नहीं है।

न च यागेष्ट ··· ··· ···

दूसरी बात यह कि लिङ् प्रत्यय से केवल इष्टसाधनत्व का ही अभिधान होता है, उसके यागनिष्ठत्व धर्म का नहीं। यागनिष्ठत्व का भान तो 'अन्वयबल' से होता है। अतः याग स्वरूप करण भी लिङ प्रत्यय रूप आख्यात से अनुक्त ही है। अतः प्रकृत में अनभिधाधिकारीय 'अनभिधान' शब्द का अर्थ यदि आख्यात से करण का अनभिधान ही मानें, अनभिधान का अर्थ संख्यानभिधान न मानें, तथापि प्रकृत 'ज्योतिष्टोमेन' पद में तृतीया की अनुपपत्ति नहीं है। 'इष्ट साधनत्व गत या यागनिष्ठत्व का भान अन्वय के बल से ही होता है' यह पहिले 'अन्वयबलात्' पद से कहा जा चुका है।

पू० प० यत्तु सिद्धोपदेशात् ··· ··· ···

वही विधिप्रत्यय का अर्थ हो सकता है, जो 'साध्य' हो। 'सिद्ध' वस्तु विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकती। इष्टसाधनत्व तो 'सिद्ध' है, साध्य नहीं। यदि सिद्ध अर्थ को भी विधिप्रत्यय का अर्थ मानें, तो 'यागः स्वर्गसाधनम्' सिद्ध अर्थ के बोधक इस वाक्य को सुनने से भी प्रवृत्ति की आपत्ति होगी। अतः इष्ट साधनत्व विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

सि० प० तत्र समुत्कट ··· ··· ···

जिस पुरुष को जिस कार्य को संपादन करने की क्षमता है, एवं उस कार्य से होने वाले फल की बलवती इच्छा है, उस पुरुष को जिस कार्य में उस फल स्वरूप 'इष्ट' की साधनता जिस किसी भी प्रकार ज्ञात रहे—उस कार्य में वह पुरुष अवश्य ही प्रवृत्त होगा। तदनुसार 'यागः स्वर्गसाधनम्' इस सिद्धार्थ बोधक वाक्य से भी स्वर्ग की इच्छा रखने वाले पुरुष की प्रवृत्ति की आपत्ति 'इष्ट' है।

किं तेन । अत्राभिधीयते । अस्तु प्रयत्नविषयसमवायिनीष्टसाधनता प्रवृत्ति-हेतुः, तथापि नासौ लिङर्थः, सन्देहात् । सा हि किं साक्षादेव लिङाऽवगम्यते ।

स्तनपानादावनुमानादिव बालेन; किं वा तत्प्रतिवादितात् कुतश्चिदर्थाद-नुमीयते, चेष्टाविशेषानुमितादिवाभिप्रायविशेषात् समयाभिज्ञेनेति सन्दिह्यते । एवञ्च सति सा नाभिधीयते इत्येव निर्णयः ॥ १३ ॥

अत्राभिधीयते

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमावौ वियोगगयः ।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः ॥१४॥

अथवा लिङ् प्रत्यय का जो कोई भी अर्थ मानें, तत्समानार्थक सिद्ध अर्थ के वाक्य से होने वाली प्रवृत्ति की आपत्ति तो दोनों पक्षों को समान है, अतः उसका समाधान भी दोनों ही पक्षों की समान रूप से अपेक्षित हैं । इसलिये कथित आपत्ति से एक पक्ष को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता ॥ १३ ॥

सि० प० अत्राभिधीयते ··· ··· ···

इष्ट साधनत्व को विधिप्रत्यय का अर्थ मानने के प्रसङ्ग में हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि इष्टसाधनत्व विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता । क्योंकि विधिप्रत्यय से इष्टसाधनत्व विषयक अन्वयबोध की साक्षात् उत्पत्ति सन्दिग्ध है । प्रकृत में यह सन्देह उपस्थित होता है कि जैसे कि बालक के स्तनपान से स्तनपान में बालक के इष्टसाधनत्व का साक्षात् अनुमिति होती है उसी प्रकार लिङ् प्रत्यय से सीधे ही (साक्षात्) इष्टसाधनत्व का अन्वयबोध होता है ? अथवा लिङ् प्रत्यय के द्वारा प्रतिपादित किसी दूसरे अर्थ (आप्ताभिप्राय) से इष्टसाधनत्व का अनुमान होता है । जैसे कि 'समयाभिज्ञ' अर्थात् शब्द के सङ्केत से अभिज्ञ पुरुष को विशेष प्रकार की चेष्टा से विशेष प्रकार के अभिप्राय का अनुमान होता है ? इस सन्देह के कारण यही निर्णय करना पड़ता है कि इष्टसाधनत्व विधिप्रत्यय का अभिधेयार्थ नहीं है, किन्तु इष्टसाधनत्व चूँकि आप्तपुरुष के अभिप्राय का विषय है, अतः आप्ताभिप्राय विषयत्व हेतु से इष्टसाधनत्व का अनुमान होता है ।

हेतुत्वात् ··· ··· ···

इष्टसाधनत्व विधि प्रत्यय का वाच्य अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इष्टसाधनत्व ही लोक में क्रिया के हेतु रूप में प्रयुक्त होता है ।

तथा हि। अग्निकामो दारुणी मथ्नीयादिति श्रुत्वा कुत इत्युक्ते वक्तारो वदन्ति, यतस्तन्मन्थनादग्निरस्य सिध्यतीति।

अनुमानाच्च ··· ··· ···

यदि इष्टसाधनत्व ही विधि प्रत्यय का अर्थ हो, तो इष्ट साधनत्व से विधिवाक्य का 'अनुमान' व्यर्थ हो जायगा। अतः इष्टसाधनत्व से विधिवाक्य के अनुमान के कारण इष्ट साधनत्व विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

मध्यमादौ वियोगतः ··· ··· ···

विधि प्रत्यय के मध्यमपुरुष एवं उत्तम पुरुष के 'कुर्याः' एवं 'कुर्याम्' इत्यादि स्थलों में चूंकि 'संकल्प' को ही विधि प्रत्यय का अर्थ मानना पड़ेगा, अतः उन स्थलों में विधि प्रत्यय से इष्टसाधनत्व का बोध संभव ही नहीं है। अतः इष्टसाधनत्व विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

अन्यत्र क्लृप्तसाथ्यात् ··· ··· ···

'अन्यत्र' सभी प्रयोगों में आज्ञा अध्येषणा प्रभृति अर्थों में ही विधि प्रत्यय की शक्ति गृहीत है, अतः 'यजेत' प्रभृति वैदिकवाक्य के स्थलों में ही इष्ट साधनत्व को विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं माना जा सकता।

निषेधानुपपत्तितः ··· ··· ···

'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेध स्थलों में इष्टसाधनत्व स्वरूप अर्थ चूंकि बाधित है, अतः इष्ट साधनत्व विधि प्रत्यय का अभिधेय नहीं हो सकता।

तथा हि ··· ··· ··· सिद्धयतीति ··· ··· ···

'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' किसी आप्तपुरुष के इस वाक्य को सुननेवाला पुरुष वक्ता से स्वभावतः यह पूछता है 'कुतः'। इस प्रश्न का उत्तर पूछने वाले को 'यतस्तन्मथनादग्निरस्य सिद्धयति' अर्थात् चूँकि सूखी दो लकड़ियों की रगड़ से आग जलने लगती है, यही उत्तर मिलता है। ऐसी स्थिति में यदि उक्त 'मथ्नीयात्' पद में प्रयुक्त विधि प्रत्यय से ही इष्टसाधनत्व स्वरूप अर्थ उक्त हो जाय, तो कथित उत्तर स्वरूप वाक्य का 'मथनात्' यह हेतु पञ्चमी का प्रयोग ही व्यर्थ हो जाय। इस लिये यह कहना होगा कि चूंकि विधिप्रत्यय से इष्टसाधनत्व का अभिधान नहीं होता है, अतः अग्नि की कामना से दारुमन्थन में प्रवृत्त होने वाले पुरुष में उपयुक्त इष्टसाधनता ज्ञान के लिये ही 'यतस्तन्मथनात्' इत्यादि हेतुवाक्य का प्रयोग किया जाता है। अतः इष्टसाधनत्व विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता।

'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इत्यादाविष्टाभ्युपायतायामेवावगताया-मनुमिमते तान्त्रिकाः, यदश्वमेधेन यजेत मृत्युब्रह्महत्यातरणकाम इत्यादि विधिम्। निन्दया च निषेधम्। तद्यथा—

'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः' (ईशावास्यो पनिषद्)

इत्यतो नात्मानं हन्यादिति। कुर्याः कुर्यामित्यत्र विधिविहितैव लिङ् नेष्टाभ्युपायतामाह, किन्तु वक्तृसङ्कल्पम्। न हीष्टाभ्युपायो ममायमिति कुर्यामिति पदार्थः। किन्तु तत्प्रतिपत्तेरनन्तरं योऽस्य सङ्कल्पः—कुर्यामिति, स एव। सर्वत्र चान्यत्र वक्तुरेवेच्छाऽभिधीयते लिङेत्यवधृतम्।

तरति ब्रह्महत्याम् ··· ··· ···

'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इत्यादि वाक्य वेदों में श्रुत, हैं। इस वाक्य के द्वारा ब्रह्महत्या के पाप से उद्धार स्वरूप इष्टसाधनत्व (इष्टाभ्युपायता) के ज्ञान से 'ब्रह्महत्यातरणकामोऽश्वमेधेन यजेत' इस विधिवाक्य का अनुमान होता है। यदि लिङ् प्रत्यय से अभिधावृत्ति के द्वारा ही इष्टसाधनत्व का ज्ञान हो जाय, तो इष्टसाधनत्व से विधिवाक्य का उक्त अनुमान व्यर्थ हो जायगा।

निन्दया च निषेधम् ··· ··· ···

एवं यदि इष्टसाधनत्व को विधिप्रत्यय का अर्थ मानें तो 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इस निषेधवाक्य से जो 'नात्मानं हन्यात्' इस निषेध वाक्य का अनुमान होता है, वह भी अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि इस निषेधवाक्य स्थल में भी 'आत्महनन चूँकि अन्धकार प्रवेश स्वरूप दुःख का कारण है, अतः आत्महनन नहीं करना चाहिये' इस रीति से ही उक्त निषेधवाक्य का अनुमान होता है। यदि इष्टसाधनत्व को ही विधि प्रत्यय का अर्थ मान लें, तो कथित रीति से निषेधवाक्य का अनुमान ही व्यर्थ हो जायगा।

कुर्याः कुर्याम् ··· ··· ···

'तवेदमिष्टसाधनमतः कुर्याः, इस अभिप्राय में 'कुर्याः' इस प्रकार मध्यम पुरुष में विधि प्रत्यय का प्रयोग होता है। एवं 'ममेदमिष्टसाधनमतः कुर्याम्' इस अभिप्राय से उत्तम पुरुष में विधि प्रत्यय का प्रयोग होता है। इन स्थलों में 'संकल्प' को ही विधि प्रत्यय का अर्थ मानना होगा, यदि इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ मान लें, तो सो संभव नहीं होगा। क्योंकि उक्त स्थलों में कर्त्ता में रहने वाले कृ धातु के अर्थ में ही विधि प्रत्यय की वाच्यता की प्रतीति होती है। 'इष्ट साधनत्व' तो साधनगत धर्म है, वह कर्त्तृगत धर्म नहीं है।

सर्वत्र ··· ··· ···

विधि प्रत्यय से युक्त पद के प्रयोगों से यह अच्छी तरह समझ गये कि अन्य सभी स्थलों में विधि प्रत्यय से वक्ता की इच्छा ही ज्ञात होती है। अतः विधि प्रत्यय से वक्ता की (१)

तथा ह्याज्ञा-अध्येषणा-अनुज्ञा-संप्रश्न-प्रार्थना-प्राशंसा लिङि नान्यच्चकास्ति। यां वक्तुरिच्छामननुविदधानस्तत्क्षोभाद्बिभेति, सा अध्येषणा। वारणाभावव्यञ्जिका अनुज्ञा। अभिधानप्रयोजना संप्रश्नः। लाभेच्छा प्रार्थना। शुभाशंसनमाशीरिति।

न च विधिविकल्पेषु निषेध उपपद्यते। तथा हि, यदाऽभिधा विधिः, तदा न हन्यात् हननभावना नाभिधीयत इति वाक्यर्थो व्याघातान्निरस्तः। यदा कालत्रयापरामृष्टा भावना, तदा नेति संबन्धात्यन्ताभावो मिथ्या।

अध्येषणा (२) अनुज्ञा (३) संप्रश्न (४) प्रार्थना और (५) आशंसा (आशिष) इन विविध प्रकार की इच्छाओं से भिन्न कोई अर्थप्रतिभासित नहीं होता।

(१) वक्ता के जिस 'इच्छा' का पालन न करने से वक्ता के 'क्षोभ' से प्रेष्य (शिष्य भृत्यादि) पुरुष डरता है, वक्ता के उस 'इच्छा' को 'अध्येषणा' कहते हैं।

(२) वक्ता की जिस 'इच्छा' से यह अभिव्यक्त हो कि वह प्रेष्य (भृत्यादि) को काम करने से रोकता भर नहीं है। उसे 'अनुज्ञा' कहते हैं।

(३) वक्ता की जो इच्छा किसी से उत्तर पाने (अभिधान) के लिये उत्पन्न हो, उसे 'संप्रश्न' कहते हैं।

(४) किसी वस्तु के लाभ की 'इच्छा' को 'प्रार्थना' कहते हैं।

(५) शुभ विषयिणी इच्छा को 'आशंसा' (अथवा आशीष) कहते हैं।

न च विधिविकल्पेषु··· — — ···

(१) यदि 'अभिधा' को विधिप्रत्यय का अर्थ मानते हैं तो 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य का 'हननभावना नाभिधीयते' ऐसा विवरण होगा। जिस का 'हननभावना अभिहित नहीं होती है' ऐसा अर्थ होगा, किन्तु यह अर्थ बाधित है, क्योंकि 'हनन भावना' भी अभिहित होती है।

यदा कालः··· ··· ··· —

(२) 'कालत्रय[1]' अर्थात् भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों कालों से असम्बद्ध केवल 'भावना' को ही यदि विधिप्रत्यय का अर्थ मानें तो 'न हन्यात्' इस निषेध स्थल में विधिप्रत्यय स्वरूप 'केवल भावना' का अन्वय नञ् के साथ होगा। तदनुसार उक्त निषेध 'हननभावना का त्रैकालिक संसर्गाभाव' अर्थ होगा (फलतः अत्यन्ताभाव अर्थ होगा) किन्तु यह अर्थ भी 'मिथ्या' अर्थात् अप्रामाणिक है। क्योंकि हनन भावना की सत्ता तो है ही, अतः उसका सार्वदिक अभाव नहीं माना जा सकता।

---

1. अर्थात् लट् प्रभृति लकारों से भी यद्यपि 'भावना' अभिहित होती है, किन्तु उन लकारों से जो 'भावना' का बोध होता है, उस में वर्त्तमानत्वादि भी अवश्य ही विशेषण विधया भासित होते हैं, किन्तु लिङ् लकार से भावना विषयक शाब्दबोध में वर्त्तमानत्वादि भासित नहीं होते।

यदा कार्यम्, तदा न हन्यात्, न हननं कार्यमित्यमुभवविरुद्धम्। क्रियत एव यतः। न हननेन कार्यं हननकारणकं कार्यं नास्तीत्यर्थं इत्यपि नास्ति। दुःख-निवृत्तिसुखाप्त्योरन्यतरस्य तत्र सद्भावात्।

हननकारणकमदृष्टं नास्तीत्यर्थं इति तु निरातङ्कं दृष्टार्थिनं प्रवर्तयेदेवेति साधु शास्त्रार्थः। अहननेनापूर्वं भावयेदिति त्वशक्यम्।

यदा कार्यम्··· — ··· ···

(१) यदि निषेध वाक्य में प्रयुक्त विधिप्रत्यय का अर्थ 'कार्यत्व (कर्त्तव्यता) मानें तो 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य का यह अर्थ होगा कि 'हनन कार्य (उत्पाद्य) नहीं है, किन्तु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि हनन तो 'कार्य' है ही।

पू० प० न हननेन··· — ··· ···

'न हननं कार्यम्' इस वाक्य का यह अर्थ है कि 'हननकारणकं कार्यं नास्ति' अर्थात् 'ऐसा कोई 'कार्य' नहीं है, हनन जिसका कारण हो' अर्थात् हनन व्यर्थ है।

सि० प० दुःखनिवृत्ति··· — ··· ···

उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो कोई हनन स्वरूप 'कार्य' में प्रवृत्त होता है, उसको भी उस से दुःख की निवृत्ति, अथवा किंचित सुख, इन दोनों में से एक अवश्य ही प्राप्त होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि 'हनन कोई कार्य नहीं है'।

पू० प० हननकारणम्··· — ··· ···

हनन से किसी अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः 'हननकारणकं कार्यं नास्ति' इस वाक्य का 'हननकरणकमदृष्टं नास्ति' अर्थात् 'हननक्रिया से किसी अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं होती है' ऐसा ही अर्थ समझना चाहिये।

सि० प० निरातङ्कम्··· ··· — ···

किन्तु ऐसा मानने पर तो 'न हन्यात्' इन निषेध वाक्य स्वरूप शास्त्र की प्रवृत्ति उचित रीति से चरितार्थ नहीं होगी, क्योंकि जिस व्यक्ति को अदृष्ट की अपेक्षा नहीं है, वह हत्या के द्वारा धनादि दृष्ट वस्तुओं को बिना किसी बाधा के शास्त्र की आज्ञा से ही प्राप्त कर लेगा।

पू० प० अहननेन··· ··· — ···

'अहिंसा परमो धर्मः' इस वाक्य के अनुसार अहिंसा से पुण्य स्वरूप अपूर्व की उत्पत्ति होती है। तदनुसार 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य का 'अहननेनापूर्वं भावयेत' ऐसा विवरण करना चाहिये।

कारणस्यानादित्वेन कार्यस्यापि तथाभावप्रसङ्गात् । भावनायाश्च तदविषयत्वात् । अहननसङ्कल्पेनेति यावज्जीवमविच्छिन्नतत्संकल्पः स्यात् । सकृत् कृत्वैव वा निवृत्तिः । पश्चाद्धन्यादेवाविरोधात् । सम्पादितो ह्यनेन नियोगार्थः ।

सि० प० कारणस्यानादित्वेन··· ··· ··· ···

किन्तु 'न हन्यात्' इस वाक्य का उक्त विवरण करना भी शक्य नहीं है । क्योंकि 'अहनन' है 'हनन का प्रागभाव' स्वरूप । प्रगभाव है, अनादि । अतः केवल प्रागभाव से जो कार्य उत्पन्न होगा, उसको भी अनादि मानना होगा । किन्तु कार्य कभी भी अनादि नहीं हो सकता ।

भावनायाश्च··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि प्रागभाव स्वयं अनादि भले ही हो, किन्तु प्रागभाव विषयक भावना अनादि नहीं है । अतः सादि प्रागभावविषयक भावना से सादि अपूर्व स्वरूप कार्य की उत्पत्ति हो सकती है । किन्तु उक्त कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि) प्रागभाव कभी भी भावना का विषय नहीं हो सकता । क्योंकि भावना से प्रागभाव की उत्पत्ति नहीं होती है । प्रागभाव तभी भावना का विषय हो सकता है, जब कि प्रागभाव भावना का साध्य हो ।

अहननसंकल्पेन··· ··· ··· ···

(१) यदि संकल्प को विधि प्रत्यय का अर्थ मानें, तो 'न हन्यात्' इस निषेध वाक्य का विवरण होगा "अहननसंकल्पेनापूर्वं भावयेत्' (इस प्रसङ्ग में यह प्रष्टव्य हो जाता है कि 'उक्त अपूर्व की प्राप्ति के लिये क्या यावज्जीव के लिये अहनन का संकल्प अपेक्षित है ? अथवा एकबार के संकल्प से ही 'निवृत्ति' अर्थात् उक्त अपूर्व की प्राप्ति हो जाने से छुट्टी मिल जाती है ?

इन में यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करें तो यावज्जीवन बिना किसी व्यवधान के 'अहनन का संकल्प स्वीकार करना होगा । किन्तु सो संभव नहीं है । यदि द्वितीयपक्ष स्वीकार करें तो एक बार अहनन का संकल्प कर लेने पर ही 'शास्त्र' चरितार्थ हो जायगा । उसके बाद हनन में कोई बाधा नहीं रह जायगी । वह व्यक्ति पापभय से छूट जाने के कारण अबाधगति से हिंसा में प्रवृत्त हो सकेगा । क्योंकि निषेध वाक्य अपने नियोग का संपादन एक बार अहनन संकल्प के उत्पादन के द्वारा कर ही चुका है । अतः उक्त द्वितीयपक्ष भी सङ्गत नहीं है ।

यावद् यावद्धननसङ्कल्पवान् तावत्तावद्विपरीतसङ्कल्पेनापूर्वं भावयेदिति वाक्यार्थः, तथाभूतस्याधिकारित्वादित्यपि वार्त्तम्। तदश्रुतेः। प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते नाप्रसक्तमिति चेत्।

न वै किञ्चिदिह प्रतिषिध्यते। तदभावः प्रतिपाद्यते इति निषेधार्थः। अहननकरणकमपूर्वं वाक्यार्थः।

किञ्च न हन्यादिति अहननेनापूर्वस्य कर्तव्यताप्रत्ययो जातो वेदात्। जातश्च हननक्रियायां रागात्। निष्फलाच्च कार्यादपेक्षितफलं गरीय इति न्यायेन हन्यादेवेत्यहो वेदव्याख्यानकौशलमास्तिक्याभिमानिनो मीमांसकदुर्दुरूढस्य।

पू० प० यावत् यावत्··· ··· ··· —

'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य का यह अर्थ है कि "जो पुरुष जिस समय हनन के संकल्प से युक्त हो, उस से आगे के क्षण में वह पुरुष 'अहनन संकल्प' के द्वारा 'अपूर्व' का उत्पादन करे (अर्थात् हनन के संकल्प से युक्त पुरुष ही 'अहनन की संकल्प' का अधिकारी है)।

सि० प०··· ··· ··· ···

किन्तु यह भी अयुक्त है, क्योंकि 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य में इतने अर्थ के बोधक पद नहीं हैं।

पू० प० प्रसक्तम्··· ··· — —

'प्रसक्त' अर्थात् प्राप्त रहने पर ही निषेध किया जाता है। अतः जिस पुरुष में हनन का संकल्प रहेगा, उसके लिये ही हनन का निषेध सार्थक हो सकता है। अतः 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य में कथित अर्थ के बोधक पदों के न रहने पर भी उक्त निषेधवाक्य का कथित अर्थ अनुपपन्न नहीं है।

सि० प० न वै··· ··· ··· ···

'न हन्यात्' इस वाक्य से किसी का निषेध नहीं किया जाता, किन्तु 'अपूर्व' का 'भाव' अर्थात् सत्ता ही अभिहित होती है। इस लिये 'अहनन करणक अपूर्व' स्वरूप भाव पदार्थ ही उक्त वाक्य का अर्थ है।

किञ्च··· ··· ··· ···

दूसरी बात यह भी है कि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस वाक्य से यदि कलञ्ज भक्षणाभाव विषयक अपूर्व का बोध मान भी लें, तथापि उस से कलञ्ज भक्षणाभाव में प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि कलञ्ज भक्षण करने वाले पुरुष को उस भक्षण में कार्यता (कर्त्तव्यत्व) की बुद्धि राग

इष्टसाधनतापक्षेऽपि न हन्यात् न हननभावना इष्टाभ्युपाय इति वाक्यार्थः । तथा चानिष्टसाधनत्वं कुतो लभ्यते ? न हीष्टसाधनं यन्न भवति, तदवश्यमनिष्टसाधनं दृष्टम्, उपेक्षणीयस्यापि भावात् । यत् रागादिप्रसक्तं प्रतिषिध्यते तदवश्यमनिष्टसाधनं दृष्टम् । यथा सविषमन्नं न भुञ्जीथा इति ।

से उत्पन्न होती है । एवं भक्षणाभाव में कर्त्तव्यता की बुद्धि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस शब्द के द्वारा उत्पन्न होती है । किन्तु 'निष्फलाच्च कार्यात् सफलं गरीयः' (निष्फल कार्य से सफल कार्य श्रेष्ठ है) इस न्याय से दोनों की प्राप्ति रहने पर कलञ्ज भक्षण में ही प्रवृत्ति होगी, क्योंकि वह सुख का कारण है । कलञ्जभक्षणभाव में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि उस से अपूर्व ही उत्पन्न होता है । अपूर्व न स्वयं सुख स्वरूप है, न दुःखाभाव स्वरूप । एवं न वह सुख अथवा दुःखाभाव का कारण ही है । अतः अपूर्व न मुख्य फल है, न गौण फल । अतः 'न हन्यात्' इस निषेध वाक्य से उत्पन्न बोध के रहने पर राग से जो हनन में प्रवृत्ति प्राप्त है, वह ज्यों का त्यों बनी रहेगी । आस्तिकता के अहङ्कार से युक्त मीमांसकों की यह व्याख्या बड़ी विलक्षण है कि जिससे वेदों के 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्यज बोध के रहते हुए भी हनन की प्रवृत्ति का प्रतिरोध नहीं होगा ।

सि० प० इष्टसाधनता··· ··· ··· ···

(प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार) यदि 'इष्टसाधनत्व' को विधि प्रत्यय का अर्थ मानें, तो 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य का 'हनन भावना इष्ट का साधन नहीं है' इस प्रकार का अर्थ होगा । किन्तु इस से 'हनन क्रिया' में अनिष्ट साधनत्व का लाभ नहीं होगा । क्योंकि यह नियम नहीं है कि जो 'इष्ट का साधन न हो, वह अवश्य हो अनिष्ट का साधक हो' । क्योंकि इष्ट और अनिष्ट इन दोनों से भिन्न 'उपेक्षणीय' नाम का एक तीसरा भी प्रकार वस्तुओं का है । अतः कोई भी वस्तु इष्ट न होने से ही अनिष्ट नहीं हो सकता । जो (प्राचीन नैयायिक) सम्प्रदाय 'इष्ट साधनत्व' को विधिप्रत्यय का अर्थ मानते हैं, उनके मत से निषेधवाक्य से 'अनिष्टसाधनत्व' का बोध ही अभिप्रेत है । किन्तु सो प्रकृत में अनुपपन्न है ।

पू० प० यत् रागादि··· ··· ··· ···

निषेधवाक्य स्थल में अनिष्टसाधनत्व का बोध अनुमान प्रमाण से होगा । जिस वस्तु में 'राग' की संभावना रहती है, वह यदि निषिद्ध होता है, तो अवश्य ही वह अनिष्ट का साधन होता है । जैसे कि 'सविषमन्नं न भुञ्जीथाः' इस वाक्य के द्वारा विष मिश्रित भोजन का निषेध किया जाता है, क्योंकि भोजन में राग की प्रसक्ति है । हनन में भी राग की प्रसक्ति है, अथ च वह वेद के द्वारा निषिद्ध होता है, अतः हनन अवश्य ही अनिष्ट का

तेन वेदेऽप्यनुमास्यते इत्यपि न साधीयः। प्रतिषेधार्थस्यैव चिन्त्यमानत्वात्। न हि कर्तव्यत्वस्येष्टसाधनत्वस्य भावनाया वाभावः प्रतिपादयितुं शक्यते। लौकिकानां लौकिकप्रमाणसिद्धत्वात्। तथापि प्रतिपाद्यते तावदिति चेन्न। पाखण्डागमनिषेधेनानैकान्तात्।

साधन है। इस प्रकार शाब्दबोध के बाद अनिष्टसाधनत्व का आनुमानिक बोध होगा। (हननमनिष्टसाधनं रागविषयत्वे सति निषिद्धयमानत्वात् सविषान्नभोजनवत्)।

सि० प० इत्यपि न साधीयः ··· ··· ··· ···

निषेधवाक्य के अर्थ का निर्णय प्रतिषेधघटित व्याप्तिजनित अनुमिति से नहीं हो सकती। अर्थात् उक्त व्याप्ति बोधक वाक्य में भी प्रतिषेधार्थक नञ् प्रभृति शब्द अवश्य रहेंगे। जिनके अर्थों का निर्णय करना होगा। यदि प्रतिषेधार्थक पदघटित व्याप्ति से ही प्रतिषेध पदार्थ का निर्वचन करें, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा।

सि० प० न हि कर्त्तव्यत्वस्य ··· ··· ··· ···

वस्तुतः कलंज भक्षण अथवा हननादि जिन क्रियाओं का निषेध किया जाता है, उन में भी इष्ट साधनत्व है ही। अत एव उन में कर्त्तव्यता (कार्यता) भी अवश्य है। अतः उन में अनिष्टसाधनत्व अथवा अकर्त्तव्यत्व नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त निषेधवाक्यों को यदि शत्रुहननादि में अविद्यमान अनिष्टसाधनत्व अथवा अकर्त्तव्यत्व का बोधक मानें, तो वे अयोग्य होने के कारण अप्रमाण हो जांयगे।

पू० प० तथापि प्रतिपाद्यते··· ··· ··· ···

शब्द से सर्वथा अविद्यमान वस्तु का भी बोध होता है (अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि) अतः शत्रुहननादि में अविद्यमान अनिष्ट साधनत्व का भी निषेधवाक्य से बोध हो सकता है।

सि० प० न, पाखण्डागम··· ··· ··· ···

उक्त समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि पाखण्डियों (वेदबाह्यों) के आगमों में जो निषेधवाक्य हैं, उन्हें भी प्रमाण मानना होगा। क्योंकि वे भी किसी असदर्थ के तो भासक है ही। इन असदर्थ के बोधक वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः कथित रीति से भी निषेधवाक्य के प्रमाण्य का समर्थन नहीं किया जा सकता।

नासो प्रमाणमिति चेन्न। अर्थविपर्ययप्रतिपादनाविशेषेऽस्यापि तथाभावात्। तात्पर्यतः प्रामाण्यमिति चेन्न।

पू० प० नासो[1] ··· ··· ··· —

पाखण्डियों के आगम चूँकि प्रमाण नहीं हैं, अतः तदन्तर्गत निषेध वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

सि० प० न, अर्थविपर्यय ··· ··· — ···

जो शब्द प्रमाण से बाधित अर्थ का प्रतिपादक होता है, वह शब्द अप्रमाण कहलाता है (अर्थात् अप्रामाणिक अर्थ का प्रतिपादकत्व ही शब्द का अप्रमाण्य है)। शब्द निष्ठ अप्रामाण्य का यह (अप्रामाणिकार्थप्रतिपादकत्व स्वरूप) प्रयोजक जिस प्रकार पाखण्डों के आगम के निषेध वाक्यों में है, उसी प्रकार वेदों के निषेधवाक्यों में भी है, क्योंकि शत्रुहननादि में अविद्यमान होने के कारण उनमें भी अनिष्ट साधनत्वादि स्वरूप अप्रामाणिक अर्थों का ज्ञापकत्व है ही। अतः कथित रीति से पाखण्डियों के आगमों के निषेध-वाक्यों का अप्रामाण्य एवं वेदस्थ निषेधवाक्यों के प्रामाण्य का समर्थन नहीं किया जा सकता।

पू० प० तात्पर्यतः ··· ··· ···

जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में प्रवाह स्वरूप मुख्य अर्थ के बाधित रहने के कारण तात्पर्य विषयीभूत 'गङ्गातीरस्थघोष' स्वरूप अर्थ का प्रतिपादक होने के नाते ही उक्त वाक्य में प्रामाण्य माना जाता है, उसी प्रकार 'न हन्यात्' इत्यादि निषेध वाक्यों में भी निषिद्ध होनेवाले हनन स्वरूप कार्य में रहनेवाले तात्पर्यविषयीभूत 'अनिष्टसाधनत्व' स्वरूप अर्थान्तर का प्रतिपादक होने के नाते ही प्रामाण्य का समर्थन किया जा सकता है।[2]

---

१. अर्थात् पाखण्डियों के आगम चूँकि पौरुषेय हैं, एवं पौरुषेय वेद भी उनके मूल नहीं हैं; अतः वे अप्रमाण हैं।

२. अर्थात् शत्रुहननादि निष्ठ अनिष्टसाधनत्व निषेधवाक्य के किसी पद अथवा पद के किसी प्रत्यय का वाच्य अर्थ भले ही न हो, तथापि संपूर्ण निषेधवाक्य का तात्पर्यार्थ हो सकता है। वाच्यार्थ के अबोधक वाक्य यदि अभिमत तात्पर्यार्थ का बोधक होने से प्रमाण होता है। जैसा कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में देखा जाता है। ध्यान रखना चाहिये कि मीमांसक गया वाक्य में भी लक्षणा स्वीकार करते हैं।

विधिनिषेधयोरनन्यपरत्वात्, 'न विधौ परः शब्दार्थं' (मीमांसासूत्र), इति वचनात्। तथापि निषेधे तथा भविष्यतीति चेन्न। अविनाभावतदुद्देशप्रवृत्त्योरभावात्। नाप्यसुराविद्यादिवदस्य नञो विरोधिवचनत्वम्, क्रियासङ्गतत्वात्, असमस्तत्वाच्च ॥ १५ ॥

सि० प० विधिनिषेधयोः ··· ··· ··· ···

विधिवाक्य एवं निषेधवाक्य में कोई भी पद वाच्यार्थ से भिन्न लाक्षणिकादि अर्थ के बोधक नहीं रहते। जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा हैं कि 'न विधौ परः शब्दार्थः' अर्थात् विधिवाक्य में (एवं निषेधवाक्य में, प्रयुक्त कोई भी पद अपने वाच्य अर्थ से 'पर' अर्थात् लाक्षणिकादि अर्थ के बोधक नहीं है। अतः सिद्ध अर्थ के बोधक जो 'गङ्गायां घोषः' अथवा 'यजमानः प्रस्तरः इत्यादि अर्थवाद वाक्य हैं, उन्हीं में तात्पर्यार्थबोधक होने के नाते प्रामाण्य का समर्थन किया जा सकता है, किसी विधिवाक्य अथवा निषेधवाक्य में नहीं।

पू० प० तथापि ··· ··· ··· ···

उक्त जैमिनिसूत्र के द्वारा तो केवल विधिवाक्यों में ही लाक्षणिक अर्थ के बोध की सामर्थ्य का प्रतिषेध किया गया हैं। अतः निषेधवाक्य को वाच्यार्थ से अतिरिक्त तात्पर्यार्थ का बोधक मानने में कोई बाधा नहीं है।

सि० प० न, अविनाभाव — ··· ··· ···

जहाँ वाच्य अर्थ के साथ लक्षणीय अर्थ का 'अविनाभाव' अर्थात् व्याप्ति रूप सम्बन्ध रहता है, एवं उसी लक्षणीय अर्थ विषयक बोध के उद्देश्य से शब्द का प्रयोग होता है, वहीं लक्षणा मानी जाती है। गङ्गा पद के मुख्यार्थ प्रवाह की व्याप्ति भी 'गङ्गातीर' स्वरूप अर्थ में है,। एवं उसी को समझाने के लिये गङ्गा पद का प्रयोग भी किया गया है। इसीलिये उक्त स्थल में गङ्गा पद को लाक्षणिक माना जाता है।

'न हन्यात्' यह निषेधवाक्य अनिष्टसाधनत्व रूप अवाच्य अर्थ विषयक बोध के लिये प्रयुक्त नहीं है, एवं अनिष्टसाधनत्व में उसके वाच्यार्थ हननक्रिया की व्याप्ति भी नहीं है। अतः निषेधवाक्य को वाच्यार्थ से 'अन्य' परक (लाक्षणिक अर्थ परक) मान कर भी प्रमाण नहीं माना जा सकता।

सि० प० नाप्यसुरादिवत् ··· ··· ··· ···

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'अधर्म' 'असुर' एवं 'अविद्या' प्रभृति पदों मे प्रयुक्त नञ पदों का अभाव स्वरूप अर्थ नहीं माना जाता, किन्तु वे 'विरोधी' स्वरूप अर्थ के वाचक माने जाते हैं। एवं तदनुसार 'अधर्म शब्द का धर्म के विरोधी पाप स्वरूप भाव पदार्थ ही वाच्य अर्थ होता है। एवं 'असुर' शब्द का सुर विरोधी 'राक्षस' स्वरूप भाव पदार्थ, एवं 'अविद्या' शब्द का विद्या (तत्त्वज्ञान) विरोधी मिथ्याज्ञान स्वरूप भाव पदार्थ ही वाच्य होता है, उसी प्रकार 'न हन्यात्' इस निषेधवाक्य का 'इष्टसाधन से

तस्माद् ।

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥१५॥

भिन्न' यह अर्थ नहीं है, किन्तु इष्टसाधनत्व का विरोधी 'अनिष्टसाधनत्व' ही उसका अर्थ है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव) नहीं है। क्योंकि (१) प्रसज्य एव (२) पर्युदास भेद से दो प्रकार के निषेध हैं। क्रिया में अन्वित नञ् के अर्थ को 'प्रसज्य' प्रतिषेध कहते हैं, और समस्त नञ् का अर्थ जो निषेध है, उसको 'पर्युदास' निषेध कहते हैं। 'न हन्यात्' इस वाक्य में जो 'नञ्' पद है, वह असमस्त होने के कारण पर्युदास स्वरूप निषेध का बोधक नहीं हो सकता। अतः 'न हन्यात्' इस वाक्य से अनिष्टसाधनत्व का बोध संभव नहीं है।[1] तस्मात् 'असुर' प्रभृति पदों में प्रयुक्त नञ् पदों के समान 'न हन्यात्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'नञ्' को पर्युदासार्थक नहीं माना जा सकता ॥ १४ ॥

तस्मात् ... ...

चूँकि कथित 'अभिधा' प्रभृति में से कोई भी विधि प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता, अतः वक्ता का प्रवृत्ति एवं निवृत्ति विषयक अभिप्राय' ही विधि प्रत्यय का अर्थ है। वक्ता के इस अभिप्राय को समझ लेने के बाद ही 'इष्टाभ्युपायता' का अर्थात् 'इष्टसाधनत्व' का अनुमान होता है। फलतः इष्टसाधनता का ज्ञान ही प्रवृत्ति का साक्षात् कारण है। किन्तु लाघव की दृष्टि से 'आप्ताभिप्राय' को ही विधि प्रत्यय का अर्थ मानते हैं। 'प्रवृत्त्यादौ' इस पद में सप्तमी विभक्ति 'का अर्थ विषयत्व है। एवं 'आदि' पद से 'निवृत्ति' का संग्रह अभिप्रेत है।

---

1. श्री शङ्कर मिश्र ने प्रकृत ग्रन्थ की टीका में उक्त उत्तर की आलोचना की दृष्टि से 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इस वाक्य का उल्लेख करते हुये लिखा है कि पर्युदासार्थक नञ् को समस्त होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि कथित 'नानुयाजेषु' इस वाक्य में जो 'नञ्' पद है, वह पर्युदास का ही बोधक है। यदि ऐसा न मानें तो (१) 'यजतिषु ये यजामहं करोति एवं (२) अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' ;इन दो वाक्यों की कल्पना करनी होगी। पर्युदासार्थक मान लेने पर अनुयाजभिन्नेषु यजितिषु यागेषु ये यजामहं करोति' इस आकार के एक ही विशिष्ट-वाक्य से प्रयोजन की सिद्धि हो जायगी। मीमांसा सूत्रभाष्य में उक्त नञ् को पर्युदासार्थक न मानने पर 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस वाक्य के समान ही 'विकल्प' की आपत्ति की गयी है।

तत्र स्वयङ्कर्तृकक्रियेच्छाऽभिधानं कुर्यामिति, सम्बोध्यकर्तृकक्रियेच्छाऽभिधानं कुर्वीतेति ।

तत्र ··· ··· ··· ···

(१) शब्दप्रयोग करनेवाला पुरुष स्वयं जिस क्रिया का कर्त्ता होता है, उस क्रिया विषयक इच्छा का अभिधान 'कुर्याम्' इस प्रकार के उत्तम पुरुष में निष्पन्न शब्दों से होता है ।

(२) जिस क्रिया के कर्त्ता का बोध युष्मद् शब्द से होता है, उस क्रिया की इच्छा का अभिधान 'कुर्याः' इत्यादि आकारों के मध्यमपुरुष में निष्पन्न शब्दों से होता है ।

(३) 'एतद्भिन्न' अर्थात् युष्मद् एवं अस्मद् इन दोनों से भिन्न अन्य किसी भी शब्द से जिस क्रिया के कर्त्ता का अभिधान होता है, उस क्रिया की इच्छा 'कुर्वीत' इस प्रकार प्रथमपुरुष में निष्पन्न शब्दों से अभिव्यक्त होती है ।

'स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य का यह अर्थ है कि "याग अथवा याग का निष्पादक प्रयत्न चूँकि स्वर्ग की कामना से युक्त पुरुष के द्वारा ही साधित होता है, अतः याग अथवा याग का प्रयत्न आप्तपुरुष का 'इष्ट' है"

'इष्ट' दो प्रकार का है (१) बलवदनिष्टानुबन्धी एवं (२) बलवदनिष्टाननुबन्धी । प्रथम प्रकार के इष्ट में 'इष्ट' की मात्रा कम और अनिष्ट की मात्रा अधिक रहती है । जैसे कि शत्रुबध जनक श्येन याग में । क्योंकि श्येनयाग शत्रुबध स्वरूप 'इष्ट' का साधक तो है, किन्तु मनुष्यवध जनित पाप से होने वाले नरक स्वरूप अति अनिष्ट का साधक भी है । दूसरे प्रकार के 'इष्ट' में अनिष्ट की मात्रा इष्ट की मात्रा से कम होती है । क्योंकि सभी इष्टों के साधन में थोड़ा बहुत अनिष्ट कार्य करना ही पड़ता है ।

'आप्तता' भी व्यक्ति सापेक्ष है । जो एक अथवा एक समुदाय के लिये आप्त है, वही दूसरे व्यक्ति के लिये अथवा दूसरे समुदाय के लिये 'अनाप्त' है । यह विभिन्न धर्मों के आचार्यों की आप्तता के प्रसङ्ग में अत्यन्त स्पष्ट है ।

इसके अनुसार जो पुरुष जिस पुरुष को 'आप्त' समझता है, उस आप्त व्यक्ति के व्यापार अथवा प्रयत्न उन आप्त समझने वाले व्यक्ति के लिये 'बलवदनिष्टाननुबन्धी' इष्ट का साधन है । इस प्रकार की व्याप्ति से याग में अथवा याग के प्रयत्न में बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट इष्टसाधत्व का अनुमान सुलभ है कि 'यागस्तद्विषयकप्रयत्नो वा बलवदनिष्टाननुबन्धिमदिष्टसाधनम् मदीयाप्तकर्त्तृकत्वात् मदीयाप्तेष्टमदीयभोजनवत्" अर्थात् याग अथवा तद्विषयक प्रयत्न मेरे इष्ट का साधक होने के साथ-साथ उससे अधिक अनिष्ट का उत्पादक नहीं है । जैसे कि मेरा भोजन अथवा तद्विषयक प्रयत्न मेरे पिता का इष्ट होने से मेरे इष्ट का साधक होता है ।

तथाचाऽग्निकामो दारुणो मथ्नीयात्' इत्यस्य लौकिकवाक्यस्यायमर्थः सम्पद्यते—'अग्निकामस्य दारुमथने प्रवृत्तिर्ममेष्टा' इति। ततः श्रोताऽनुमिनोति, नूनं दारुमथनयत्नोऽग्नेरुपाय इति। यद्विषयो हि प्रयत्नो यस्याप्तेनेष्यते, स तस्यापेक्षितहेतुः। तथा तेनावगतश्च, यथा ममैव पुत्रादेर्भोजनविषय इति व्याप्तेः। 'विषं न भक्षयेदि' त्यस्य तु—'विषभक्षणगोचरा प्रवृत्तिर्मम नेष्टा इत्यर्थः। ततोऽपि श्रोताऽनुमिनोति, नूनं विषभक्षणभावना अनिष्टसाधनम्।

यद्विषयो हि प्रयत्नः कर्तुरभिमतसाधकोऽप्याप्तेन नेष्यते, स ततोऽधिकतरानर्थहेतुः, तथा तेनावगतश्च, यथा मयैव पुत्रादेः क्रीडाकर्दमविषभक्षणादिविषय इति व्याप्तेः।

---

(२) 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस वाक्य से कलञ्ज भक्षण में अनिष्टसाधनत्व के अनुमान की यह रीति है कि कलञ्जभक्षण मेरे लिये इष्ट से अधिक अनिष्ट का ही साधक है। क्योंकि मैं जिनको आप्त समझता हूँ, उनकी इच्छा नहीं है कि मैं कलञ्जभक्षण करूँ। अथवा उसके लिये प्रयत्नशील होऊँ। जैसे कि मेरे पिता की यह इच्छा कभी नहीं होती है कि मैं मधुसंपृक्त अन्न का भक्षण करने के लिये अथवा तदर्थ प्रयत्नशील होऊँ।

अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात् ··· ··· ··· ···

एतदनुसार 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इस वाक्य का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि 'मुझे यह इष्ट है कि जिस पुरुष को अग्नि की इच्छा हो वह 'दारु' का मन्थन करें' इस वाक्यार्थबोध के बाद श्रोता को यह अनुमान होता है कि 'दारुमन्थन का प्रयत्न अवश्य ही अग्नि का उपाय है, अतः जिस पुरुष को अग्नि की कामना रहे, उसे अवश्य ही 'दारुमन्थन' करना चाहिये, क्योंकि जिस पुरुष के आप्त को जो विषय इष्ट रहता है, वह विषय उस (आप्त समझने वाले पुरुष) के लिये 'इष्ट' का 'हेतु' अर्थात् साधक होता है। जैसे कि मेरे पुत्र कर्तृक भोजन विषयक मेरी इच्छा।

'विषं न भक्षयेत्' इस लौकिक निषेधवाक्य का अर्थ है 'विषभक्षणविषयक प्रवृत्ति मुझ को इष्ट नहीं है। इससे श्रोता को यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार मुझे मेरे पुत्र के द्वारा मिट्टी से खेलना अथवा विषभक्षण करना इष्ट नहीं है, उसी प्रकार विषभक्षण की 'भावना' मेरे लिये भी अनिष्ट का साधक है। जिस अन्य पुरुष के लिये कुछ इष्टसाधक विषयक प्रयत्न को भी आप्त पुरुष इष्ट नहीं समझते हैं, उस विषय से अवश्य ही इष्ट से अधिक अनिष्ट होता है।

लौकिके एव वाक्येऽयं प्रकारः कदाचिद्बुद्धिमधिरोहति न तु वैदिकेषु, तेषु पुरुषस्य निरस्तत्वादिति चेन्न। निरासहेतोरभावात्। तदस्तित्वेऽपि प्रमाणं नास्तीति चेत्; मा भूदन्यत्, विधिरेव तावद् गर्भं इव पुंयोगे प्रमाणं श्रुतिकुमार्याः, किमत्र क्रियताम् ?।

लिङो वा लौकिकार्थातिक्रमे य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव चेषामर्था इति विप्लवेत। तथा च जबगडदशादिवदनर्थकत्वप्रसङ्ग इति भव सुस्थः।

पू० प० लौकिके एवं ··· ··· ··· ···

कथित रीति से आप्ताभिप्राय से इष्टसाधनत्व का अनुमान लौकिक विधिवाक्यों से ही सम्भव है। क्योंकि वे पुरुषोंच्चरित है। पहिले खण्डन कर चुके हैं कि 'वेदवाक्य पुरुषोच्चरित नहीं हैं'। अतः पुरुष रचना मूलक उक्त प्रकार के अनुमान से वैदिकविधिवाक्य स्थल में निर्वाह नहीं हो सकता।

सि० प० न ··· ··· ··· ···

'वेदवाक्य पुरुषोच्चरित नहीं है' इसका कोई भी प्रमाण नहीं है।

पू० प० निरासहेतोः ··· ··· ··· ···

वेदों में पुरुषोच्चरितत्व का निषेध करने वाला प्रमाण भले ही न हो, किन्तु 'वेद पुरुषोच्चरित है' इसका साधक प्रमाण भी तो नहीं है। अर्थात् वस्तु के निषेध के लिये साधकप्रमाण का अभाव भी पर्याप्त है।

सि० प० मा भूत् ··· ··· ··· ···

वेदों में पुरुषोच्चरितत्व के साधक अन्य प्रमाणों को छोड़ भी दें, तथापि वेदों में विधिवाक्य की सत्ता ही वेदों में पुरुष सम्बन्ध को सत्ता के लिये पर्याप्त प्रमाण है। जिस प्रकार कुमारिका गर्भ से उसके पुरुष सम्बन्ध का अनुमान होता है।

दूसरी बात यह भी है कि 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः' इस न्याय के अनुसार लोक में जो पद जिस अर्थ में प्रयुक्त है, किसी विशेष बाधा के न रहने पर वेदों में भी प्रयुक्त उस पद का वही अर्थ होता है। इस नियम को मीमांसक लोग भी स्वीकार करते हैं। यदि लौकिक वाक्य में प्रयुक्त विधिप्रत्यय का एक अर्थ हो, एवं वैदिक वाक्य में प्रयुक्त विधिप्रत्यय का दूसरा ही अर्थ हो तो उक्त नियम अनुपपन्न हो जायगा। इसलिये लौकिक वाक्य में प्रयुक्त विधिप्रत्यय के अर्थ के अनुसार वैदिक विधिप्रत्यय का अर्थ नहीं मानेंगे तो वैदिक-विधिवाक्य 'जबगडदशाः' इत्यादि वाक्यों के समान अनर्थक हो जायेंगे। अतः उन सभी कुकल्पनाओं को छोड़कर मेरे मार्ग पर आकर 'सुस्थ' हो जाइये।

स्यादेतत्। तथापि वक्तृणामुपाध्यायानामेवाभिप्रायो वेदे विधिरस्तु, कृतं स्वतन्त्रेण वक्त्रा परमेश्वरेणेति चेन्न। तेषामनुवक्तृतयाऽभ्यासाभिप्रायमात्रेण प्रवृत्तेः शुकादिवत्तथाविधाभिप्रायाभावात्।

भावे वा न राजशासनानुवादिनोऽभिप्राय आज्ञा, किं नाम राज्ञ एवेति लौकिकोऽनुभवः ॥ १५ ॥

श्रुतेऽ खल्वपि—

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ॥१६ ॥

पू० प० स्यादेतत् तथापि ··· ··· ··· ···

इस प्रकार वैदिक विधिप्रत्यय के अर्थ में विशेषणीभूत 'आप्त' का निश्चय हो जाने पर भी इससे यह निश्चित नहीं होता है कि 'वह आप्त जीवों से भिन्न परमेश्वर ही हैं' क्योंकि वेद के वक्ता अध्यापक के अभिप्राय से भी वैदिक लिङ्प्रत्यय के अर्थ का निर्वाह हो सकता है। इसके लिये परमेश्वर स्वरूप स्वतन्त्र वेदवक्ता की कल्पना अनावश्यक है।

सि० प० न, तेषाम् ··· ··· ··· ···

अध्यापक वेद के वक्ता नहीं हैं, किन्तु अनुवक्ता हैं। वे स्वतन्त्र वक्ता स्वरूप आप्तों के अभिप्राय से ही प्रवृत्त होते हैं। उनका कोई स्वतन्त्र अभिप्राय नहीं होता। जिस प्रकार शुक सारिकादि जिन शब्द का उच्चारण करती हैं, उन शब्दों का उन लोगों का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। यदि अनुवक्ता के भी स्वतन्त्र अभिप्राय की कल्पना की जाय तो राजसचिवादि के द्वारा जिन राजाज्ञाओं का उद्घोष किया जाता है। उन उद्घुष्ट शब्दों के अभिप्राय को भी राजसचिवादि का स्वतन्त्र अभिप्राय मान लेना होगा, किन्तु सो उचित नहीं है, क्योंकि उन आज्ञाओं को लोग राजा को ही आज्ञा मानते हैं, राजसचिवादि का नहीं। तस्मात् वैदिक विधिप्रत्यय के अर्थ में विशेषणीभूत 'आप्त' पुरुष परमेश्वर ही हैं, कोई अन्य नहीं ॥ १५ ॥

श्रुतेः खलु ··· ··· ··· ···

श्रुति के द्वारा निम्नलिखित रीति से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है।

कृत्स्न एव हि ··· ··· ··· ···

उपगीयमान यह सम्पूर्ण वेद 'परमेश्वर गोचर' अर्थात् परमेश्वर के प्रतिपादक हैं। अर्थात् जिस प्रकार—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वः पदास्पदम् ॥

न सन्त्येव हि वेदभागा यत्र परमेश्वरो न गीयते। तथा हि स्रष्टृत्वेन पुरुषसूक्तेषु, विभूत्या रुद्रेषु, शब्दब्रह्मत्वेन मण्डलब्राह्मणेषु, प्रपञ्चं पुरस्कृत्य निष्प्रपञ्चतयोपनिषत्सु, यज्ञपुरुषत्वेन मन्त्रविधिषु, देहाविर्भावैरुपाख्यानेषु, उपास्यत्वेन च सर्वत्रेति।

सिद्धार्थतया न ते प्रमाणमिमिति चेन्न। तद्धेतोः कारणदोषशङ्कानिरासस्य भाव्यभूतार्थसाधारणत्वात्।

इत्यादि स्वर्ग के प्रतिपादक अर्थवादवाक्य स्वकीय स्वर्ग स्वरूप अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा ही 'स्वर्गकामोयजेत' इत्यादि वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न होकर प्रामाण्य लाभ करते हैं, उसी प्रकार 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि वेद भी 'स्वार्थद्वारैव' अर्थात् अपने ईश्वर स्वरूप अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा ही 'ईश्वरमुपासीत' इत्यादि विधिवाक्यों के साथ एक वाक्यतापन्न होकर प्रमाण हैं। अर्थात् 'यज्ञो वै विष्णुः' ईश्वरमुपासीत' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त ईश्वरादि के मुख्यार्थ सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट पुरुष जब बाधित नहीं हैं, तो फिर उक्त श्रुतिओं से भी ईश्वर की सिद्धि निरबाध है।

न सन्ति ··· ··· ··· ···

वेदों का कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जिसमें ईश्वर की चर्चा किसी न किसी रूप में न हो। जैसे कि 'सहस्रशीर्षापुरुषः' इत्यादि 'पुरुषसूक्त' में ईश्वर की चर्चा जगत के स्रष्टा रूप में की गयी है। 'नमस्ते रुद्रमन्यव' इत्यादि 'रूद्रसूक्त' में ईश्वर का उल्लेख 'विभूति' अर्थात् 'ऐश्वर्य' से युक्त पुरुष रूप में प्राप्त है। 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यादि 'मण्डलब्राह्मण' में ईश्वर का उल्लेख 'शब्द ब्रह्म' स्वरूप में मिलता है। उपनिषदों में प्रपञ्च के वर्णन के साथ ईश्वर का अभिधान 'परब्रह्म' स्वरूप में पाया जाता है। वेदों के उपाख्यान भाग में 'शरीरपरिग्रही' अवतार के रूप परमेश्वर का वर्णन किया गया है। 'उपास्य' रूप में परमेश्वर की चर्चा तो वेदों के सभी अंशों प्राप्त होती है। तस्मात् वेदों को प्रमाण मानने वाले आस्तिकों के लिये तो 'श्रुति' ही अर्थात् वेद ही ईश्वर साधन के लिये यथेष्ट है।

पू० प० सिद्धार्थतया ··· ··· ··· ···

वेदों के जिन पुरुषसूक्तादि अंशों का उल्लेख किया गया है, वे सभी 'सिद्धार्थबोधक' हैं, अतः वे प्रमाण ही नहीं है, अतः उनसे ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती।

सि० प० न, तद्धेतोः ··· ··· ··· ···

वक्ता में रहने वाले तद्विषयक यथार्थज्ञान स्वरूप 'गुण' ही तद्बोधक शब्द के प्रामाण्य का प्रयोजक है। एवं वक्ता के भ्रम अथवा विप्रलिप्सादि दोष ही शब्द के अप्रामाण्य के प्रयोजक हैं। अतः जिस शब्द का उच्चारण आप्त पुरुष के द्वारा होगा—वह शब्द

अन्यत्रामीषां तात्पर्यमिति चेत्; स्वार्थप्रतिपादनद्वारा ? शब्दमात्रतया वा ? प्रथमे स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमेषितव्यम् । तस्यार्थस्यानन्यप्रमाणकत्वात् । अत एव तस्य स्मारकत्वमित्यपि मिथ्या ।

'सिद्धार्थ' का बोधक हो, अथवा 'साध्यार्थ का ज्ञापक हो—वह शब्द अवश्य ही प्रमाण होगा । जो शब्द अनालोचरित होगा, वह चाहे 'सिद्धार्थ' का बोधक हो, चाहे साध्यार्थ का, अप्रमाण ही होगा । चूँकि शब्द में अप्रामाण्य के प्रयोजक हैं, वक्ता में रहने वाले भ्रम विप्रलिप्सा प्रभृति दोष । वेदों को पौरुषेय मानें अथवा अपौरुषेय—दोनों ही पक्षों में शब्दों के अप्रामाण्य के प्रयोजक ये वक्तृगत भ्रम विप्रलिप्सादि दोषों की सम्भावना 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि वेदवाक्यों में सम्भावित नहीं है । अतः उक्त आक्षेप भी व्यर्थ है ।

पू॰ प॰ अन्यत्र ··· ··· ··· ···

जब कि यह निर्णीत है कि शब्दों की शक्ति कार्यत्व में अथवा कार्यान्वित स्वार्थ में ही है, तो यह स्वीकार करना ही होगा कि सिद्धार्थबोधक उक्त 'ईश्वर' प्रभृति शब्दों की शक्ति भी केवल ईश्वर में नहीं है, किन्तु कार्यान्वित किसी अन्य अर्थ के बोध की इच्छा से ही वे प्रयुक्त हुये हैं । अतः 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि श्रुतियों से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ।

सि॰ प॰ स्वार्थ ··· ··· प्रथमे ··· ··· ···

मीमांसकों से पूछना है कि घटादि पदों का जो तात्पर्य आनयनादि कार्यों में है—क्या वह घटादि पदों के द्वारा घटादि स्वार्थों के प्रतिपादन की अपेक्षा रखता है ? अथवा नहीं ? इन में पहिले पक्ष के प्रसङ्ग में यह कहना है कि) ईश्वरादि पद का तात्पर्य यदि कार्यत्व में मान भी लें, तथापि ईश्वरादि स्वरूप स्वार्थ में भी उन शब्दों का प्रामाण्य मानना ही होगा । क्योंकि कार्यत्व में तात्पर्य के साथ साथ स्वार्थ में भी पद की शक्ति स्वीकृत ही हो गयी है । ईश्वरादि पदों से केवल कार्यत्व का बोध तो कोई भी स्वीकार नहीं करता । अतः ईश्वरादि सिद्ध अर्थ के बोधक ईश्वरादि पदार्थों का कार्यत्व विषयक बोध में अवश्य भासित होने वाले ईश्वरादि सिद्ध अर्थों के भासक ईश्वरादि पदों को छोड़कर कोई दूसरा नहीं है । अतः ईश्वरादि पद की शक्ति कार्यत्व में स्वीकार भी कर लें, तथापि उनमें ईश्वरादि स्वरूप अपने अर्थों (स्वार्थों) की वाचकता को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ।

अत एव ··· ··· ··· ···

कोई कहते हैं कि घटादि सिद्ध अर्थों के बोधक घटादि पदों से जो कार्यत्वान्वित घटादि स्वार्थों का बोध होगा, उसमें घटादि सिद्धार्थबोधक पदों का इतना ही उपयोग है कि घटादि की उपस्थिति स्वरूप स्मृति को उत्पन्न कर दे । क्योंकि कार्यत्वान्वित घटादि

तत्प्रतिपादकत्वेऽपि न तत्र तात्पर्यमिति चेत्; स्वार्थापरित्यागे ज्योतिः शास्त्रवदन्यत्रापि तात्पर्ये को दोषः? अन्यथा स्वर्ग-नरक-व्रात्य-श्रोत्रियादिस्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्ये बहु विप्लवेत।

विषयक बोध में इस स्मृति की अपेक्षा है। इसके लिये घट स्वरूप अर्थ में घट पद की शक्ति को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। किन्तु उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि) जिस प्रकार महावत के ज्ञान से हाथी का स्मरण होता है, उसी प्रकार घट पद से घट रूप अर्थ की उपस्थिति भी 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' इस न्याय से ही होती है। यह 'न्याय' कथित दोनों वस्तुओं में परस्पर किसी प्रकार के सम्बन्ध के रहने से ही सम्भव है। पद एवं अर्थ इन दोनों में उक्त सम्बन्ध केवल 'सङ्केत' स्वरूप ही हो सकता है। अतः उक्त मत से भी ईश्वर पद की शक्ति सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट आत्मा में मानना आवश्यक है।

पू० प० तत्प्रतिपादकत्वेऽपि ··· ··· ··· ···

ईश्वर पद को यदि परमात्मा स्वरूप सिद्ध अर्थ का वाचक मान भी लें, तथापि उसका तात्पर्य उपासनादि स्वरूप किसी 'साध्य' रूपा 'क्रिया' में ही है। तात्पर्य विषयीभूत अर्थ के प्रमाज्ञान का उत्पादक होने के नाते ही 'शब्द प्रमाण' कहलाता है। इस लिये वेदस्थ ईश्वर पद ईश्वर स्वरूप सिद्ध अर्थ का ज्ञापक प्रमाण नहीं हो सकता।

सि० प० सिद्धार्थापरित्यागे ··· ··· ··· ···

शब्द का तात्पर्य कहीं अन्यत्र रहने पर भी उसके स्वार्थ विषयक प्रामाण्य में कोई व्याघात नहीं होता है। जैसे कि ज्योतिषशास्त्र वेदशास्त्र का अङ्ग है। क्योंकि वह दर्शादिकाल स्वरूप सिद्ध अर्थ का ज्ञापक है। यद्यपि ज्योतिषशास्त्र सिद्धार्थ बोधक होने के नाते स्वतः प्रमाण न होकर 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत' इस वाक्य के साथ एक वाक्यतापन्न होकर ही दर्शादि याग स्वरूप कार्यों में ही तात्पर्यान्वित है। फिर दर्शादिकाल स्वरूप स्वार्थ में भी उसका प्रामाण्य अव्याहत है।

अन्यथा ··· ··· ··· ···

(उक्त द्वितीय पक्ष के प्रसङ्ग में कहना है कि) 'अन्यत्र' अर्थात् अपने अभिधेय अर्थ से भिन्न कार्यत्वादि अर्थों में तात्पर्य रहने पर भी शब्दों का स्वार्थ में प्रामाण्य मानना आवश्यक है। 'अन्यथा' अर्थात् यदि ऐसा स्वीकार न करें तो स्वर्ग, नरक, व्रात्य, श्रोत्रिय, प्रभृति सिद्ध अर्थ के बोधक सभी आगम अपना-अपना प्रामाण्य खो बैठेंगे। ऐसा होने पर 'लोकयात्रा' सर्वथा विश्रृङ्खल हो जायगी। इस लिये ईश्वर पद का उपासना स्वरूप कार्यत्व में तात्पर्य रहने पर भी 'ईश्वर' स्वरूप अपने सिद्ध अर्थ में तात्पर्य यथावत् बना हुआ है।

तत्राबाधनात्तथेति चेत्; तुल्यम् । न तादृगर्थः क्वचित् दृष्ट इति चेत्; स्वर्गादयोऽपि तथा । तन्मिथ्यात्वे तदर्थिनामप्रवृत्तौ विधानानर्थक्यप्रसङ्ग इति चेत्; इहापि तदुपासनाविधानानर्थक्यप्रसङ्गः । तन्मिथ्यात्वे हि सालोक्यसायुज्यादिफलमिथ्यात्वे कः प्रेक्षावांस्तमुपासीतेति तुल्यमिति ।

पू० प० तत्र ··· ··· — —

स्वर्गादि स्वरूप अर्थ चूंकि बाधित नहीं हैं, अतः सिद्ध होने पर भी उनमें भी स्वर्गादिपदों का तात्पर्य बना रहता है ।

सि० प० तुल्यम् — — ··· ···

ईश्वर पद का भी तो ईश्वर स्वरूप अर्थ बाधित नहीं है, अतः 'तुल्य' न्याय से ईश्वरादि पदों का भी उपासनादि स्वरूप अन्य अर्थों में तात्पर्य रहने पर भी ईश्वर स्वरूप स्वार्थ विषयक प्रमाण्य में कोई बाधा नहीं है ।

पू० प० न तादृक् ··· ··· — —

सर्वज्ञत्व विशिष्ट कोई अर्थ दृष्ट ही नहीं है, जिसको ईश्वर पद का वाच्य कहा जाय । इस लिये सर्वज्ञत्व विशिष्ट वस्तु ही प्रत्यक्ष से बाधित है । अतः उस अर्थ में ईश्वर पद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

सि० प० स्वर्गादयः --- — --- ---

दुःखासम्भिन्न सुख स्वरूप अर्थ भी तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अनुभूत नहीं है, अतः उसमें भी 'स्वर्ग' पद की शक्ति नहीं मानी जा सकती । क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष से बाधित ही है ।

पू० प० तन्मिथ्यात्वे ··· — ··· ···

स्वर्ग पद के अर्थ को यदि मिथ्या कहेंगे तो 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का प्रामाण्य अनुपपन्न हो जायगा । इस लिये स्वर्ग पद के वाच्यार्थ को प्रामाणिक मानना आवश्यक है । इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा स्वर्ग स्वरूप अर्थ की सत्ता सिद्ध है । इस लिये स्वर्गपद उसका प्रमापक हो सकता है ।

सि० प० इहापि ··· ··· ··· ···

यदि सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट आत्मा में ईश्वर पद की अभिधेयता प्रामाणिक न हो, तो फिर 'ईश्वरमुपासीत' यह उपासना का विधायक वाक्य व्यर्थ हो जायगा । ईश्वरोपासना के व्यर्थ होने से ईश्वरोपासना के सालोक्य सायुज्यादि गौण मोक्ष स्वरूप फल भी मिथ्या हो जाँयगे । ऐसी स्थिति में लोग ईश्वर की उपासना में प्रवृत्त ही क्यों कर होंगे ?

वाक्यादपि। संसर्गभेदप्रतिपादकत्वं ह्यत्र वाक्यत्वमभिप्रेतम्। तथा च यत्पदकदम्बकं यत्संसर्गभेदप्रतिपादकम्, तत् तदनपेक्षसंसर्गज्ञानपूर्वकम्, यथा लौकिकम्, तथा च वैदिकमिति प्रयोगः। विपक्षे च बाधकमुक्तम्॥ १६॥

सङ्ख्याविशेषादपि—

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादिसङ्ख्या च वक्तृगा।
समाख्याऽपि न शाखानामाद्यप्रवचनादृते ॥१७॥

इसलिये इस पक्ष में भी समान रूप से यह कहा जा सकता है कि 'ईश्वरमुपासीत' इस विधि वाक्य के प्रमाण्य की अनुपपत्ति से सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट पुरुष स्वरूप में ईश्वर का प्रामाण्य निर्धारित है। अतः उसमें ईश्वर पद की शक्ति मानने में कोई बाधा नहीं है।

वाक्यात् ··· ··· ···

'वाक्य' हेतु से ही ईश्वर का यह दूसरा अनुमान इस अभिप्राय से उपस्थित किया जा सकता है कि जिस वाक्य के द्वारा जिस प्रकार के विशेष प्रकार के संसर्ग का बोध होगा, शाब्दबोध से पूर्व वक्ता को किसी दूसरे प्रमाण से उक्त संसर्ग का प्रमाज्ञान रहना आवश्यक है। इससे यह व्याप्ति निष्पन्न होती है कि जो पद समूह स्वरूप वाक्य जिस विशेष प्रकार के संसर्ग का प्रतिपादक है, उस वाक्य की उत्पत्ति अवश्य ही स्वानपेक्ष उक्त संसर्ग विषयक प्रमाज्ञान से होती है। वेद भी वाक्य स्वरूप ही है। वेद स्वरूप वाक्य से जिस विशेष प्रकार के संसर्ग का बोध होगा, किसी दूसरे प्रमाण से उस संसर्ग विषयक ज्ञान भी अवश्य ही पहिले उत्पन्न रहा होगा।

यह क्रम वेदवाक्य से सर्वप्रथम जो शाब्दबोध उत्पन्न हुआ होगा, वहाँ के लिये भी आवश्यक है। इस लिये वेद वाक्य से जिस संसर्ग का ज्ञान होगा, उस संसर्ग का किसी दूसरे प्रमाण से भी ज्ञान मानना आवश्यक होगा। इस ज्ञान के आश्रय ही 'परमेश्वर' हैं।

विपक्षे च ··· ··· ···

इस प्रसंग में मीमांसक कह सकते हैं कि उक्त व्याप्ति के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि वाक्यार्थ अन्य ज्ञान के लिये किसी दूसरे प्रमाण से वाक्यार्थ का ज्ञान आवश्यक नहीं है। इस आक्षेप के समाधान के प्रसंग में तृतीय स्तबक में बहुत कुछ कहा जा चुका है।।१६।।

संख्याविशेषात् ··· ··· ···

अर्थात् कथित 'संख्याविशेष' हेतु से भी अन्य न्याय प्रयोग के द्वारा ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। यह इस प्रकार जानना चाहिये कि वेदों में भी 'स्याम्' 'अभूवम्' इत्यादि उत्तम पुरुष में निष्पन्न क्रिया पदों के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। कर्त्ता में विहित

कार्यतया हि प्राक् सङ्ख्योक्ता, सम्प्रति तु प्रतिपाद्यतयोच्यते। तथा ह्युत्तम-पुरुषाभिहिता सङ्ख्या वक्तारमन्वेतीति सुप्रसिद्धम्। अस्ति च तत्प्रयोगः भूयशो वेदे। ततस्तदभिहितया तयाऽपि स एवानुगन्तव्यः। अन्यथाऽनन्वयप्रसङ्गात्।

प्रत्यय के अर्थ 'संख्या' का अन्वय स्वतन्त्रोच्चारयिता स्वरूप 'कर्त्ता' में ही होता है। अतः वेदस्थ उक्त प्रत्ययों के अर्थ संख्या का आश्रय 'परमेश्वर' को छोड़कर कोई अन्य पुरुष नहीं हो सकता।

समाख्यापि ··· ··· ···

अथवा 'संख्यायते अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'संख्या' शब्द का 'संज्ञा' स्वरूप यौगिक 'समाख्या' अर्थ भी हो सकता है। अर्थात् वेदों में 'कठ' कलाप प्रभृति संज्ञायें उपलब्ध होती हैं। सृष्टि के आदि में जब तक अतीन्द्रियार्थ से युक्त किसी पुरुष की कल्पना नहीं की जाती, तब तक इन नामों के उल्लेख की उपपत्ति नहीं की जा सकती। अतः कठादि 'समाख्या' शब्दों के प्रथम उच्चारण कर्त्ता परमेश्वर ही हैं। कुछ वेद शाखाओं के जो 'काठक' कलापक प्रभृति नाम हैं, उसका मूल कारण यही है।

कार्यतया ··· ··· ···

(इस प्रसंग में शिष्य की यह जिज्ञासा हो सकती है कि पहिले गणना व्यवहार के साधनी भूत 'संख्या' स्वरूप हेतु का उल्लेख ईश्वर साधन के लिये किया जा चुका है। पुनः गणना व्यवहार के हेतु उसी संख्या को ईश्वर साधक हेतु रूप में ही पुनः उल्लेख किया जा रहा है। फिर इस स्तबक के प्रथम श्लोक में पठित 'संख्या विशेष' शब्द की यह दूसरी व्याख्या कैसे हुई ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) पहिले सृष्टि की आदि कालिक द्व्यणुक के उत्पादक परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या स्वरूप 'कार्य' को ईश्वर साधक हेतु रूप से निर्देश किया गया है। आगे 'स्याम्, अभूवम्' इत्यादि पदों में प्रयुक्त आख्यातों से प्रतिपाद्य अर्थात् 'ज्ञाप्य' संख्या का परमेश्वर के साधक हेतु रूप में उल्लेख किया जा रहा है। अतः इसको 'संख्या' शब्द का व्याख्यान्तर' कहने में कोई बाधा नहीं है।

तथा हि ··· ··· ··· (श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या

यह निर्विवाद है कि उत्तम पुरुष में विहित प्रत्यय के अर्थ संख्या का अन्वय शब्द के उच्चारण 'कर्त्ता' स्वरूप 'अस्मद्' शब्द के अर्थ में ही होता है। वेदों में उत्तम पुरुष में विहित प्रत्यय से युक्त बहुत से प्रयोग हैं। उत्तम पुरुष में विहित उन प्रत्ययों के अर्थ संख्या का भी अन्वय वेद वाक्यों के प्रथम उच्चारयिता पुरुष में मानना ही होगा।

अथवा समाख्याविशेषः सङ्ख्याविशेष उच्यते । काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषाः शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते । ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धनाः, प्रवक्तॄणामनन्तत्वात् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ताः ।

ऐसा न मानने पर उन संख्याओं का अन्वय कहाँ पर होगा ? तस्मात् वेदों में प्रयुक्त उक्त उत्तम पुरुष में निष्पन्न प्रत्यय की अभिधेय संख्या के अन्वयी रूप में भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है ।

अथवा ... ... (श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या)

'संख्या' शब्द का अर्थ 'संख्यायते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'समाख्या' स्वरूप यौगिक अर्थ भी हो सकता है । इस (संख्या स्वरूप) समाख्या से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है ।

वेदों की कुछ शाखायें 'काठक' 'कलापक' आदि शब्दों से प्रसिद्ध हैं । रचना करने वाले पुरुष के नाम से ग्रन्थ की प्रसिद्धि देखी जाती है । अतः यह कहना सुलभ है कि अतीन्द्रियार्थ दर्शी परम कारुणिक भगवान् सृष्टि की आदि में जीवों के अदृष्टों के सहाय्य से 'कठ' एवं 'कलाप' प्रभृति नाम के शरीर को धारण कर जिन शाखाओं का उच्चारण किया, वे शाखायें ही तत्तन्नाम से प्रसिद्ध हुईं । इस प्रकार वेदों में उपलब्ध 'काठक' प्रभृति यौगिक संज्ञा स्वरूप 'समाख्या' से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है ।

ते च ... ...

(इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का कहना है कि कठ, कलाप प्रभृति नाम के उन शाखाओं के ज्ञाताओं के नाम से ही वे शाखायें काठक कलापक प्रभृति नामों से प्रसिद्ध हैं । वे लोग उन शाखाओं का 'प्रवचन' अर्थात् व्याख्यान अध्यापनादि विशेष रूप से किया । अतः उन शाखाओं की प्रसिद्धि आजतक उन्हीं लोगों के नाम से चली आ रही है । अतः उन समाख्याओं से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती है । किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि) उन शाखाओं की विशेष प्रकार की संज्ञायें 'प्रवचन' मूलक नहीं हो सकती । क्योंकि एक-एक शाखा के प्रवचन करनेवाले अनेक पुरुष हो गये हैं । इसलिये यह निर्णय करना कठिन है कि उक्त शाखायें किस प्रवाचक पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हो ?

नापि ... ...

(इस प्रसङ्ग में मीमांसक कह सकते है कि उक्त प्रवचन शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्ट वचन' । अर्थात् जिस शाखा का अध्ययन वा अध्यापन जो कोई 'प्रकृष्ट' रूप से किया, अथवा तदनुकूल यजन - याजनादि का अनुष्ठान किया, वह 'शाखा' उसी पुरुष के नाम से प्रसिद्ध

अथवा समाख्याविशेषः सङ्ख्याविशेष उच्यते । काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषाः शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते । ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धनाः, प्रवक्तॄणामनन्तत्वात् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ताः ।

ऐसा न मानने पर उन संख्याओं का अन्वय कहाँ पर होगा ? तस्मात् वेदों में प्रयुक्त उक्त उत्तम पुरुष में निष्पन्न प्रत्यय की अभिधेय संख्या के अन्वयी रूप में भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है ।

अथवा ... ... (श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या)

'संख्या' शब्द का अर्थ 'संख्यायते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'समाख्या' स्वरूप यौगिक अर्थ भी हो सकता है । इस (संख्या स्वरूप) समाख्या से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है ।

वेदों की कुछ शाखायें 'काठक' 'कलापक' आदि शब्दों से प्रसिद्ध हैं । रचना करने वाले पुरुष के नाम से ग्रन्थ की प्रसिद्धि देखी जाती है । अतः यह कहना सुलभ है कि अतीन्द्रियार्थ दर्शी परम कारुणिक भगवान् सृष्टि की आदि में जीवों के अदृष्टों के साहाय्य से 'कठ' एवं 'कलाप' प्रभृति नाम के शरीर को धारण कर जिन शाखाओं का उच्चारण किया, वे शाखायें ही तत्तन्नाम से प्रसिद्ध हुई । इस प्रकार वेदों में उपलब्ध 'काठक' प्रभृति यौगिक संज्ञा स्वरूप 'समाख्या' से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है ।

ते च ... ...

(इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का कहना है कि कठ, कलाप प्रभृति नाम के उन शाखाओं के ज्ञाताओं के नाम से ही वे शाखायें काठक कलापक प्रभृति नामों से प्रसिद्ध हैं । वे लोग उन शाखाओं का 'प्रवचन' अर्थात् व्याख्यान अध्यापनादि विशेष रूप से किया । अतः उन शाखाओं की प्रसिद्धि आजतक उन्हीं लोगों के नाम से चली आ रही है । अतः उन समाख्याओं से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती है । किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि) उन शाखाओं की विशेष प्रकार की संज्ञायें 'प्रवचन' मूलक नहीं हो सकती । क्योंकि एक-एक शाखा के प्रवचन करनेवाले अनेक पुरुष हो गये हैं । इसलिये यह निर्णय करना कठिन है कि उक्त शाखायें किस प्रवाचक पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हो ?

नापि ... ...

(इस प्रसङ्ग में मीमांसक कह सकते है कि उक्त प्रवचन शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्ट वचन' । अर्थात् जिस शाखा का अध्ययन वा अध्यापन जो कोई 'प्रकृष्ट' रूप से किया, अथवा तदनुकूल यजन - याजनादि का अनुष्ठान किया, वह 'शाखा' उसी पुरुष के नाम से प्रसिद्ध

कार्यतया हि प्राक् सङ्ख्योक्ता, सम्प्रति तु प्रतिपाद्यतयोच्यते। तथा ह्युत्तम-पुरुषाभिहिता सङ्ख्या वक्तारमन्वेतीति सुप्रसिद्धम्। अस्ति च तत्प्रयोगः प्रचुरशो वेदे। ततस्तदभिहितया तयाऽपि स एवानुगन्तव्यः। अन्यथाऽनन्वयप्रसङ्गात्।

प्रत्यय के अर्थ 'संख्या' का अन्वय स्वतन्त्रोच्चारयिता स्वरूप 'कर्त्ता' में ही होता है। अतः वेदस्थ उक्त प्रत्ययों के अर्थ संख्या का आश्रय 'परमेश्वर' को छोड़कर कोई अन्य पुरुष नहीं हो सकता।

समाख्यापि ··· ··· ···

अथवा 'संख्यायते अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'संख्या' शब्द का 'संज्ञा' स्वरूप यौगिक 'समाख्या' अर्थ भी हो सकता है। अर्थात् वेदों में 'कठ' कलाप प्रभृति संज्ञायें उपलब्ध होती हैं। सृष्टि के आदि में जब तक अतीन्द्रियार्थ से युक्त किसी पुरुष की कल्पना नहीं की जाती, तब तक इन नामों के उल्लेख की उपपत्ति नहीं की जा सकती। अतः कठादि 'समाख्या' शब्दों के प्रथम उच्चारण कर्ता परमेश्वर ही हैं। कुछ वेद शाखाओं के जो 'काठक' कलापक प्रभृति नाम हैं, उसका मूल कारण यही है।

कार्यतया ··· ··· ···

(इस प्रसंग में शिष्य की यह जिज्ञासा हो सकती है कि पहिले गणना व्यवहार के साधनी भूत संख्या' स्वरूप हेतु का उल्लेख ईश्वर साधन के लिये किया जा चुका है। पुनः गणना व्यवहार के हेतु उसी संख्या को ईश्वर साधक हेतु रूप में ही पुनः उल्लेख किया जा रहा है। फिर इस स्तबक के प्रथम श्लोक में पठित 'संख्या विशेष' शब्द की यह दूसरी व्याख्या कैसे हुई? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) पहिले सृष्टि की आदि कालिक द्वयणुक के उत्पादक परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या स्वरूप 'कार्य' को ईश्वर साधक हेतु रूप से निर्देश किया गया है। आगे 'स्याम्, अभूवम्' इत्यादि पदों में प्रयुक्त आख्यातों से प्रतिपाद्य अर्थात् 'ज्ञाप्य' संख्या का परमेश्वर के साधक हेतु रूप में उल्लेख किया जा रहा है। अतः इसको 'संख्या' शब्द का व्याख्यान्तर' कहने में कोई बाधा नहीं है।

तथा हि ··· ··· ··· (श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या

यह निर्विवाद है कि उत्तम पुरुष में विहित प्रत्यय के अर्थ संख्या का अन्वय शब्द के उच्चारण 'कर्त्ता' स्वरूप 'अस्मद्' शब्द के अर्थ में ही होता है। वेदों में उत्तम पुरुष में विहित प्रत्यय से युक्त बहुत से प्रयोग हैं। उत्तम पुरुष में विहित उन प्रत्ययों के अर्थ संख्या का भी अन्वय वेद वाक्यों के प्रथम उच्चारयिता पुरुष में मानना ही होगा।

उपाध्यायेभ्योऽपि प्रकर्षं प्रत्युतान्यथाकरणदोषात्। तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात्। कति चानादौ संसारे प्रकृष्टाः प्रवक्तार इति को नियामक इति। नाप्याद्यस्य वक्तुः समाख्येति युक्तम्। भवद्भिस्तदनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा स एवाऽस्माकं वेदकार इति वृथा विप्रतिपत्तिः। स्यादेतत्। ब्राह्मणत्वे सत्यवान्तरजातिभेदा एव कठत्वादयः।

हुई। जिस प्रकार सभी दार्शनिक सिद्धान्तों के बीज उपनिषदादि ग्रन्थों में सूक्ष्म रूप से वर्णित होने पर भी जिस सिद्धान्त का प्रचार प्रसार जिस पुरुष के द्वारा विशेष रूप किया गया, उस सिद्धान्त का प्रतिपादक उसी पुरुष के नाम से प्रख्यात है। अतः काठकादि समाख्याओं के बल से कठादि नामधारी आदि वक्ता स्वरूप परमेश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि उक्त समाधान के प्रसङ्ग में प्रष्टव्य है कि) वेद के व्याख्याताओं में जिस 'प्रकृष्टत्व' (प्रकर्ष) की चर्चा की गयी है, किसकी अपेक्षा वह 'प्रकर्ष' अपेक्षित है? यदि वे अपने अध्यापकों की अपेक्षा अधिक 'प्रकृष्ट' थे, तो कहना पड़ेगा कि उनको अध्यापक ने उस शाखा का अध्ययन जिस अर्थ को समझने के लिये अथवा जिस प्रकार के अनुष्ठानों के लिये किया था, उस अर्थ से भिन्न अर्थों में अथवा भिन्न प्रकार के अनुष्ठानों में यह 'प्रकृष्ट' शिष्य ने उस शाखा का उपयोग किया। इससे 'उक्त प्रकृष्ट वक्ता' एवं उनके अनुयायी 'अन्यथाकरण' दोष के भागी होंगे। क्योंकि जिस वेदशाखा का जिस अर्थ में एवं जिस अनुष्ठान में जिस प्रकार से उपयोग हो आया है, उससे भिन्न प्रकार के अर्थों में, एवं भिन्न प्रकार के अनुष्ठान में उन्होंने लगाया।

यदि कथित 'प्रकृष्ट वक्ता' अपने 'गुरु' के बताये हुये मार्ग का ही अनुसरण किया, तो फिर इनकी व्याख्या में 'प्रकर्ष' ही क्या रह गया? इनको औरों से प्रकृष्ट वक्ता ही कैसे स्वीकार करें?

तीसरी बात यह है कि अनादि संसार में किस शाखा के कितने प्रकृष्ट वक्ता हुये? उनमें से किस व्यक्ति के नाम से कौन सी शाखा प्रसिद्ध होगी? इसका नियमन कौन करेगा?

नाप्याद्यस्य ··· ··· ··· ···

(यदि मीमांसक यह कहें कि जिस शाखा का 'प्रवचन' जिस पुरुष ने सबसे पहिले किया, जिस शाखा के जो आदि वक्ता थे, उनके नाम से ही वह शाखा प्रसिद्ध हुई। उसका यह समाधान है कि) आप (मीमांसक गण) लोग वेदों के किसी आदि वक्ता को स्वीकार ही कहाँ करते है? यदि यह मान लें तो हम लोगों को यह कहना सुलभ हो जायेगा कि 'वही आदि वक्ता परमेश्वर शरीर धारी वेदों के रचयिता आदि पुरुष हैं' तब तो फिर कोई विवाद ही नहीं रह जायगा।

तदध्येया तदनुष्ठेयार्था च शाखा तत्समाख्यया व्यपदिश्यत इति किमनुपपन्नम् ? न। क्षात्रियादेरपि तत्रैवाधिकारात्। न च यो ब्राह्मणस्य विशेषः; स क्षत्रियादौ सम्भवति। न च क्षत्रियादेरन्यो वेद इत्यस्ति। न च कठाः काठकमेवाधीयते, तदर्थमेवानुतिष्ठन्तीति नियमः। शाखासञ्चारस्यापि प्रायशो दर्शनात्। प्रागेवायं नियम आसीदिदानीमयं विप्लवत इति चेत्।

पू० प० स्यादेतत् ब्राह्मणत्वे सति ··· — ··· —

ब्राह्मणत्व के व्याप्य हैं कठत्व कलापत्वादि धर्म, अध्ययन के लिये अथवा अनुष्ठान के लिये तत्तज्जाति के ब्राह्मणों के लिये निर्दिष्ट शाखायें ही उन लोगों के नामों से प्रसिद्ध है। अर्थात् कठ कलपादि शब्द किसी व्यक्ति के नहीं, किसी विशेष प्रकार के समुदाय के बोधक हैं।

सि० प० न, क्षत्रियादेः ··· ··· — ···

(१) उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन शाखाओं के अध्ययन का अधिकार क्षत्रिय एवं वैश्य को भी है[1]। यह बात भी नहीं है कि क्षत्रियादि के पढ़ने के लिये दूसरे वेद हैं। अतः काठक कलापक प्रभृति शाखाओं के अध्ययन का क्षत्रियादि का अधिकार लुप्त हो जायगा। अतः उक्त समाधान संगत नहीं है।

(२) दूसरी बात यह है कि इस से कठ समुदाय के काठक ब्राह्मणों को 'कठ शाखा' के अध्ययनादि का अधिकार प्राप्त होता है 'कलापशाखा' के अध्ययन का नहीं। इसी प्रकार कलाप समुदाय के ब्राह्मणों को कलाप शाखा का अध्ययन प्राप्त होता है, काठकादि शाखाओं के अध्ययन का नहीं। किन्तु कठसमुदाय के ब्राह्मण अन्य शाखाओं के अध्ययन में भी निरत दीखते हैं। अतः अन्यसमूह के ब्राह्मणों के द्वारा अन्यशाखाओं के अध्ययन रूप 'शाखा सञ्चार' अनुपपन्न हो जायगा। किन्तु उक्त 'शाखासञ्चार' बराबर देखा जाता है।

पू० प० प्रागेव— ··· — —

पहिले यही नियम था कि कठादि किसी एक समूह के ब्राह्मण कठादि किसी एक ही शाखा का अध्ययन अथवा तदनुकूल अनुष्ठान करते थे। संप्रति यह नियम विलुप्त हो गया है।

---

1. अर्थात् यदि जिस जाति के पुरुषों के लिये जिस शाखा का अध्ययन निर्दिष्ट है तो फिर यह भी मानना होगा कि उसी जाति के व्यक्तियों को उक्त शाखाओं के पढ़ने का अधिकार है, किसी अन्य को नहीं। जिस सामान्य धर्म का जो 'विशेष' अर्थात् व्याप्य होता है, वह 'विशेष' उक्त सामान्य जाति से युक्त व्यक्तियों में ही रहता है। अतः कठत्व यदि ब्राह्मणत्व स्वरूप सामान्य का धर्म विशेष धर्म है, तो फिर वह ब्राह्मण में ही रहेगा, क्षत्रियादि में नहीं। तस्मात् उक्त पक्ष को स्वीकार करने से काठकादि शाखाओं के पढ़ने का अधिकार क्षत्रिय आदि को नहीं रहेगा।

विप्लव एव तर्हि सर्वदा, कठाद्यवान्तरजातिविप्लवादित्यगतिरेवेयम् । तस्मादाद्यप्रवक्तृवचननिमित्तएवायं समाख्याविशेषसम्बन्ध इत्येव साध्विति । स एवं भगवान् श्रुतोऽनुमितश्च, कैश्चित् साक्षादपि दृश्यते, प्रमेयत्वादेर्घटवत् । ननु तत्सामग्रीरहितः कथं द्रष्टव्यः ? सा हि बहिरिन्द्रियगर्भा, मनोगर्भा वा ? तत्र न सम्भवति ।

अतः एक समूह के ब्राह्मण अपने लिये निर्दिष्ट शाखा से अतिरिक्त शाखा के अध्ययनादि में भी निरत दीख पड़ते हैं ।

सि० प० विप्लव एव··· ··· ··· ···

तो फिर यही कहिये कि 'कठत्वादि' जातियाँ ही विलुप्त हैं । अर्थात् यह नियम नहीं है कि कठ शाखा के अध्येताओं में कठत्व जाति रहे । कौन समूह का ब्राह्मण कौन शाखा का अध्ययन करे, इसका कोई नियम नहीं है । इस लिये 'कठ' नाम के किसी आदि वक्ता की कल्पना का परित्याग कर उक्त 'समाख्या' के बल पर ईश्वर की कल्पना ही उचित है ।

सि० प० स एव भगवान् ··· ··· ··· ···

(ग्रन्थ के आदि में आचार्य की प्रतिज्ञा है कि 'मनन रूपा उपासनैव क्रियते' । इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से उक्त मनन रूपा उपासना का ही विवेचन हुआ है । किन्तु 'मनन' चूँकि अनुमिति स्वरूप है, अतः परोक्ष है । प्रत्यक्ष परोक्ष से प्रबल है । अज्ञान (मिथ्याज्ञा) की निवृत्ति के द्वारा ही 'ज्ञान' मोक्ष का साधक है । किन्तु इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से निरूपित 'मनन' स्वरूप ज्ञान चूँकि परोक्ष है, अतः प्रत्यक्षात्मक अज्ञान (अर्थात् विपर्यात्मिक मिथ्याज्ञान) का निवारक नहीं हो सकता । अतः इस 'मनन' से मोक्ष का सम्पादन कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) परमेश्वर विषयक जिस मनन को मोक्ष का साधक कहा गया है, उससे परमेश्वर का प्रत्यक्ष भी कुछ विशिष्ट पुरुषों को हो सकता है । एवं कुछ व्यक्तियों को हो भी चुका है । जैसे कि घट में रहने वाले प्रमेयत्वादि धर्मों का प्रत्यक्ष कुछ विशेष प्रकार के पुरुषों को ही होता है, उसी प्रकार योगादि के अनुष्ठानों से जिनका अन्तःकरण स्वच्छ हो चुका है—उन महापुरुषों को अवश्य ही परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है । अतः 'परमेश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता है' यह कहना साहस मात्र है ।

पू० प० ननु तत्सामग्रीरहित ··· ··· ··· ···

सभी कारणों के एकत्र होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, अतः प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी उसकी अपनी सामग्री (कारण समूह) के सम्बलन के बिना सम्भव नहीं है । प्रत्यक्ष की उत्पादिका दो प्रकार की सामग्रियाँ है (१) चक्षुरादि बहिरिन्द्रियों से युक्त एवं (२) मन

चक्षुरादेर्नियतविषयत्वात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्। यदुक्तं, "हेत्वभावे फलाभावात्' इत्यादि। न। कार्यैकव्यङ्ग्यायाः सामग्र्या निषेद्धुमशक्यत्वात्। अपि च। दृश्यते तावद्बहिरिन्द्रियोपरमेऽपि असन्निहितदेशकालार्थसाक्षात्कारः स्वप्ने।

स्वरूप अन्तरिन्द्रिय से युक्त। सामग्री के इस द्वैविध्य के कारण ही प्रत्यक्ष भी (१) बाह्य एवं (२) आन्तर भेद से दो प्रकार के हैं। ईश्वर के प्रत्यक्ष के लिये भी इन दोनों सामग्रियों में से किसी एक का सम्बलन आवश्यक है। किन्तु कथित दोनों ही सामग्रियों में से किसी एक का भी सम्बलन ईश्वर प्रत्यक्ष के लिये सम्भव नहीं है। क्योंकि चक्षुरादि से नियमित रूपादि गुणों से सम्बद्ध वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः इस सामग्री से रूपादि गुणों से रहित परमेश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मन स्वरूप इन्द्रिय को स्वरूपतः जीव, एवं उनके ज्ञान इच्छादि धर्मों के ग्रहण करने की ही सामर्थ्य है, उनसे भिन्न किसी 'बाह्य' वस्तु को ग्रहण करने की सामर्थ्य मन में नहीं है। अतः मन से भी परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। दोनों से भिन्न प्रत्यक्ष की कोई तीसरी सामग्री नहीं है, जिससे ईश्वर का प्रत्यक्ष हो सके। कारणों के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती–यह 'हेत्वभावात् फलाभाव:' इत्यादि श्लोक के द्वारा उपपादन कर चुके हैं। अतः परमेश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

सि० प० न, कार्यैक ··· ··· ··· ···

कार्य से ही उसकी सामग्री का अनुमान किया जाता है। रूप अथवा रूप विशिष्ट द्रव्य के प्रत्यक्ष स्वरूप कार्य के अन्वय एवं व्यतिरेक से ही उसकी सामग्री को चक्षु घटित समझा जाता है। अतः परमेश्वर का प्रत्यक्ष स्वरूप कार्य जब प्रमाणों से सिद्ध है, तो किसी तदनुरूप सामग्री की कल्पना करनी होगी। भले ही वह सामग्री चक्षुरिन्द्रिय घटित, अथवा मन स्वरूप इन्द्रिय घटित न हो सके। किन्तु प्रकृत में तो मन घटित सामग्री से ही परमेश्वर विषयक प्रत्यक्ष का उत्पादन सम्भावित है।

अपि च ··· ··· ···

(मन से ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष में जो यह बाधा दिखलायी गयी थी कि मन को सीधे बाह्य विषयक प्रत्यक्ष के उत्पादन की क्षमता नहीं है, अतः मन से परमेश्वर विषयक प्रत्यक्ष का उत्पादन नहीं हो सकता। उसका यह उत्तर है कि) स्वप्न में जो घटादि विषयक प्रत्यक्ष होते हैं, उस समय मन ही केवल व्यापृत रहता है, चक्षुरादि इन्द्रियों में से कोई भी उस समय व्यापृत नहीं रहती। उस समय चक्षुरादि इन्द्रियों के व्यापार शान्त हो जाते हैं। यदि

न च स्मृतिरेवासौ पटीयसी, स्मरामि स्मृतं वेति स्वप्नानुसन्धानाभावात्, पश्यामि दृष्टमित्यनुव्यवसायात्। न चारोपितं तत्रानुभवत्वम्।

स्वप्नावस्था में चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार स्वीकार करें भी तो उस समय जिस प्रकार के दूरस्थ एवं विप्रकृष्ट एवं अतीतकालिक वस्तुओं का भान होता है, वह चक्षुरादि इन्द्रियों के व्यापार से संभव हो नहीं है। अतः स्वप्न कालिक प्रत्यक्ष के लिये आन्तर एवं बाह्य सभी विषयों में मन स्वरूप अतिरिन्द्रिय का व्यापार मानना ही होगा। अतः यह मानना होगा कि कुछ विशेष स्थलों में विशेष क्षमता सम्पन्न सहायक के सहयोग से केवल मन से भी बाह्य विषयक प्रत्यक्ष हो सकता है।

पू० प० न च··· ··· ··· ···

स्वप्नावस्था के जिस ज्ञान को आप (नैयायिक) साक्षात्कारात्मक अनुभव रूप कहते हैं, वह ज्ञान वास्तव में असन्दिग्ध विषयक स्मृति स्वरूप ही है। इस लिये उक्त स्वाप्न ज्ञान चूँकि स्मृति स्वरूप है, अनुभवात्मक नहीं है, तो फिर "वह साक्षात्कारात्मक है ? अथवा नहीं ?" यह चर्चा ही व्यर्थ है।

सि० प० स्मरामि ··· ··· ··· ···

स्वप्न सम्बन्धी उक्त ज्ञान का अनुसन्धान 'स्मरामि' अथवा 'स्मृतम्' इस आकार का नहीं होता, किन्तु 'पश्यामि' अथवा 'दृष्टम्' इत्यादि आकारों का ही होता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्वप्नकालिक उक्त ज्ञान प्रत्यक्षात्मक अनुभव स्वरूप ही है, स्मृति स्वरूप नहीं।

पू० प० न च··· ··· ··· ···

स्वप्नकालिक उक्त ज्ञान स्मृति स्वरूप ही है, अनुभव रूप नहीं। केवल इतना है कि स्मृतित्व रूप से उसका अनुसन्धान न हो कर (अनुभवत्व व्याप्य) साक्षात्कारत्व रूप से अनुसन्धान होता है। फलतः उक्त स्मृति में अनुभवत्व का आरोप करके ही कथित 'पश्यामि' अथवा 'दृष्टम्' इत्यादि प्रकार के अनुसन्धान स्वाप्नज्ञानों का होता है। अतः यह अनुसन्धान भ्रमात्मक है, क्योंकि अनुभवत्वाभाव के अधिकरणीभूत उक्त स्वाप्न ज्ञान में अनुभवत्व प्रकारक ज्ञान स्वरूप है। भ्रमात्मक ज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इस लिये स्वप्न कालिक स्मृति विशेष्यक एवं अनुभवत्व प्रकारक उक्त अनुव्यवसाय से स्वप्नकालिक ज्ञान में अनुभवत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

अबाधनात् अननुभूतस्यापि स्वशिरश्छेदनादेरवभासनाच्च ।

सि० प० अबाधनात्··· ··· ··· ···

जिस ज्ञान के विशेष्य में किसी बलवत्तर प्रमाण के द्वारा विशेषण की सत्ता बाधित रहती है, उस विशेष्य में उस विशेषण के ज्ञान को 'आरोप' स्वरूप मानना पड़ता है। प्रकृत में 'पश्यामि' स्वरूप उक्त अनुव्यवसाय के विशेष्य स्वरूप उक्त स्वप्नज्ञान में अनुभवत्व स्वरूप विशेषण का बाध यदि किसी प्रबल प्रमाण के द्वारा निश्चित हो, तभी कथित अनुसन्धान स्वरूप ज्ञान में अनुभवत्व के आरोप की कल्पना की जा सकती है। अतः कथित 'पश्यामि' इस अनुव्यवसाय को स्मृति विशेष्यक एवं अनुभवत्वारोप मूलक नहीं कहा जा सकता। तस्मात् उक्त स्वाप्नज्ञान साक्षात्कारात्मक अनुभव रूप ही है, स्मृति स्वरूप नहीं।[1]

सि० प० अनुभूतस्य ··· ··· ···

इस प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि स्वशिरश्छेदनादि जिन वस्तुओं का जीवन में कभी भी अनुभव नहीं होता है, स्वप्न में उन वस्तुओं का भी दर्शन होता है। स्वप्न सम्बन्धी

1. यद्यपि 'पश्यामि' इस अनुसन्धान (अनुव्यवसाय) स्वरूप ज्ञान का आत्मा ही मुख्य विशेष्य है। एवं 'दर्शन' स्वरूप प्रत्यक्षज्ञान ही मुख्य प्रकार है। किन्तु 'दर्शन' दर्शनत्व रूप विशेषण का विशेष्य भी है। किन्तु 'दर्शन' स्वरूप प्रकारात्मक ज्ञान में रहने वाली उक्त विशेष्यता 'गौण' है। इस प्रकार उक्त अनुव्यवसाय स्वरूप ज्ञान की विशेष्यता 'दर्शन' रूप ज्ञान में भी है। प्रकारता (विशेषणता) एवं विशेष्यता दोनों ही (१) मुख्य एवं (२) गौण भेद से दो दो प्रकार की होती हैं। ज्ञान में भासित होने वाला कोई विषय तो 'केवल विशेषण' ही होता है। एवं कोई विषय 'केवल विशेष्य' ही होता है। ज्ञान में भासित होनेवाले कुछ विषय ऐसे भी होते हैं, जो विशेष्य एवं विशेषण दोनों ही होते हैं। इन में जो विषय 'केवल विशेष्य' होता है, उसको 'मुख्य विशेष्य' कहते हैं। जो केवल विशेषण ही होता है, उसे मुख्य विशेषण अथवा मुख्य प्रकार कहते हैं। जो विशेष्य एवं विशेषण दोनों ही होता है, उसे गौण विशेष्य एवं गौण विशेषण कहते हैं। प्रकृत में 'घटं पश्यामि' इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में घट-घटत्व एवं दर्शन-दर्शनत्व एवं आत्मा एवं आत्मत्व ये इतने पदार्थ विशेष्य अथवा विशेषण रूप में भासित होते हैं। इन में दर्शनत्व-घटत्व एवं आत्मत्व ये तीन पदार्थ केवल विशेषण रूप में ही भासित

स्मृतिविपर्यासोऽसाविति चेत्; यदि स्मृतिविषये विपर्यास इत्यर्थः, तदाऽनुमन्यामहे। अथ स्मृतावेवानुभवत्वविपर्यासः इति, तदा प्रागेव निरस्तः। न च सम्भवत्यपि। न ह्यन्येनाकारेणाध्यवसितोऽन्येन ज्ञानावच्छेदकतयाऽध्यवसीयते। तथा च "स घट" इत्युत्पन्नायां स्मृतौ भ्राम्यतः 'तं घटमनुभवामि' इति स्यात्, न त्विमं घटमिति। न ह्ययं घट इति स्मृतेराकारः। तस्मादनुभव एवासौ स्वीकर्तव्यः।

सभी ज्ञान यदि स्मृति स्वरूप ही हों, तो फिर उन विषयों का पूर्वानुभव भी मानना होगा। किन्तु स्वरशिरश्छेदनादि का पूर्वानुभव असम्भव है।

पू० प० स्मृतिविपर्यासः

स्वाप्नज्ञान असल में 'स्मृतिविपर्यास' स्वरूप है। अर्थात् स्वप्न कालिक ज्ञान वस्तुतः स्मृति रूप है, किन्तु उसमें अनुभवत्व का विपर्यय (निश्चयात्मक भ्रम) होता है। यह 'विपर्यय' अथवा 'विपर्यास' ही स्वप्न कालिक 'पश्यामि' प्रभृति अनुभव विषयक अनुव्यवसाय का मूल है।

सि० प० यदि ··· ··· ···

उक्त सन्दर्भ में जिस 'विपर्यास' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका क्या अर्थ है? (१) यदि यदि स्मृति के विषय में 'विपर्यास' उसका अर्थ रहे, तो मैं उक्त 'विपर्यास' वाले पक्ष का अनुमोदन करता हूँ। क्योंकि पूर्वस्मृत शिर में ही छेदन का विपर्यय होता है। (२) यदि उक्त 'विपर्यास' शब्द से 'स्मृति' में ही अनुभवत्व' का 'विपर्यास' अभिप्रेत रहे, तो इस पक्ष का खण्डन मैं पहिले ही कर चुका हूँ। पहिली बात तो यह है कि स्मृति में अनुभवत्व का विपर्यय संभव ही नहीं है, क्योंकि एक आकार से निश्चित वस्तु दूसरे आकार के ज्ञान में विशेषण नहीं हो सकता। घटत्वेन घट विषयक निश्चय के बाद 'घटत्वेन घटमहं जानामि' इस आकार का अनुव्यवसाय (या अनुसन्धान) होता है। इस अनुसन्धानात्मक ज्ञान में विषयीभूत अहम्' पद के अर्थ आत्मा में घटत्व प्रकारक घट विषयकज्ञान विशेषण विधया भासित होता है। इस प्रसङ्ग में यह नियम है कि 'घटः' इस आकार के 'व्यवसाय' स्वरूप ज्ञान में

होते हैं। अतः ये 'केवल विशेषण' ही हैं, किसी के विशेष्य नहीं। क्योंकि ये स्वरूपतः भासित होते हैं। दर्शन एवं घट ये दोनों विशेष्य एवं विशेषण दोनों ही हैं। क्रमशः ज्ञानत्व एवं घटत्व के ये विशेष्य हैं। एवं आत्मा एवं ज्ञान के ये विशेषण हैं। आत्मा 'केवल' विशेष्य ही है, क्योंकि प्रकृत ज्ञान के किसी भी विषय में वह विशेषण विधया भासित नहीं होता।

अस्ति च स्वप्नानुभवस्यापि कस्य चित् सत्यत्वम्, संवादात्। तच्च काकतालीयमपि, न निर्निमित्तम्। सर्वस्वप्नज्ञानानामपि तथात्वप्रसङ्गात्।

घट का जिस रूप में भान होगा, उसके बाद होनेवाले 'अनुव्यवसाय' स्वरूप ज्ञान में भी 'घट' उसी रूप में भासित होगा, किसी अन्य स्वरूप से नहीं। घट की स्मृति स्वरूप ज्ञान 'स घटः' इस आकार का होता है। प्रत्यक्षात्मक अनुभव स्वरूप घटज्ञान का आकार है 'अयं घटः'। इस वस्तुस्थिति के अनुसार यदि स्वप्न कालिक घट विषयक ज्ञान स्मृति स्वरूप होगा, तो उसका आकार होगा 'स घटः'। एवं उसके अनुव्यवसाय ज्ञान में 'घटः' का भान 'तत्ता' रूप से होगा। एवं अनुव्यवसाय का आकार होगा, 'घटं स्मरामि'। किन्तु स्वप्न में भी 'अयं घटः इस आकार का 'व्यवसाय' एवं 'इमं घटं पश्यामि' इस आकार का अनुव्यवसाय ही होता है। चूंकि 'अयं घटः' इस आकार का ज्ञान कभी भी स्मृत्यात्मक नहीं होता; अतः 'घटं पश्यामि' इस आकार के अनुव्यवसाय को कभी भी 'स्मृति' विषयक ज्ञान रूप नहीं कहा जा सकता। तस्मात् स्वप्न काल में जो 'अयं घटः' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको स्मृति स्वरूप नहीं माना जा सकता।

सि० प० अस्ति च ··· ··· ···

(इस प्रसंग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं, कि यदि केवल मन से विषय का प्रत्यक्ष होता भी है, तो वह अप्रमात्मक ही होता है, क्योंकि यह स्थिति केवल स्वप्नज्ञान में ही होती है, किन्तु उसको सभी भ्रम रूप ही मानते हैं। अतः मन घटित बहिर्विषयक प्रत्यक्ष की सामग्री से परमेश्वर का प्रमात्मक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) यह नियम नहीं है कि स्वप्नज्ञान भ्रम रूप ही हो, कुछ स्वप्न ज्ञान यथार्थ भी होते हैं। क्योंकि जाग्रत अवस्था में उनका 'संवाद' अर्थात् अन्यप्रमाणों से परिपुष्टि भी होती है। एवं उस स्वप्न ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति सफल भी होती है (संवाद एवं सफल प्रवृत्ति जनकत्व ये दोनों ही प्रमात्व के साधक हेतु हैं)। यह दूसरी बात है कि अधिकांश स्वप्न ज्ञान भ्रम रूप ही होते हैं, अकस्मात् काकतालीय न्याय से ही कदाचित कोई स्वप्न ज्ञान प्रमा होता है। किन्तु एक भी स्वप्न ज्ञान यदि प्रमा हो जाता है, तो फिर यह सिद्धान्त गलत हो जाता है कि 'स्वतन्त्र रूप से मन के द्वारा होने वाले सभी बहिर्विषयक प्रत्यक्ष मिथ्या ही होते हैं' यदि एक भी स्वप्न ज्ञान को विना कारण का मानेंगे तो सभी स्वप्नज्ञानों में निर्निमित्तत्व की आपत्ति

हेतुश्चात्र धर्म एव । स च कर्मजवत् योगजोऽपि योगविधेरवसेयः । कर्मयोगविध्योस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तस्मात् योगिनामनुभवो धर्मजत्वात् प्रमा, साक्षात्कारित्वात् प्रत्यक्षफलम्, धर्माननुगृहीतभावनामात्रप्रभवस्तु न प्रमेति विभाग इति । अतस्तत्सामग्रीविरहोऽसिद्धः ।

तथापि विपक्षे किं बाधकमिति चेत्; 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' (विष्णु पु० महा भा०शान्तिपर्व) इत्यादियोगविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गः, अशक्यानुष्ठानोपायोपदेशकत्वात् । न चासाक्षात्कारिज्ञानविधानमेतत् ।

होंगी । तस्मात केवल मन रूप इन्द्रिय घटित सामग्री से परमेश्वर स्वरूप बहिर्विषयक प्रत्यक्ष हो सकता है ।

सि० प० हेतु ··· ··· — ···

(फिर भी यह जानना बाकी है कि भ्रमप्रचुर स्वाप्नज्ञान की सामग्री में कौन सा ऐसा विशेष कारण है, जिसके सम्मिलित हो जाने पर उसी सामग्री से परमेश्वर विषयक प्रमा प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) 'धर्म' ही वह 'विशेष कारण' है, जिसके सम्मिलित हो जाने से मन स्वरूप अन्तरिन्द्रिय घटित उक्त सामग्री से परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है ।

धर्म दो प्रकार के हैं (१) कर्मज एवं (२) योगज । इन में ज्योतिष्टोमादि कर्मों के द्वारा स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति होती है । एवं योगज धर्म से परमेश्वर के साक्षात्कारादि होते है । चूंकि उक्त दोनों ही प्रकार के धर्मों के लिये विभिन्न क्रियाओं का विधान है, अतः अवश्य ही धर्म दो प्रकार के हैं ।

तस्मात् ··· ··· — ···

अतः यह अनुमान निष्पन्न होता है कि (१) 'योगियों के अनुभव चूंकि धर्म से उत्पन्न होते हैं, अतः वे अवश्य ही 'प्रमा' है । (२) योगियों के अनुभव प्रत्यक्षप्रमाण के फल हैं, क्योंकि उन ज्ञानों का अनुसन्धान 'अहं पश्यामि' (मैं देखता हूँ) इसी आकार का होता है । योगियों के भी वे ज्ञान प्रमा नहीं हैं, जिन की उत्पत्ति में 'भावनाप्रकर्ष' का अथवा 'योगजधर्म' का सहयोग प्राप्त नहीं होता है । अतः यह कहना ठीक नहीं है कि परमेश्वर के प्रत्यक्ष का चूंकि सामग्री संवलन ही संभव नहीं है, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता' ।

पू० प० तथापि ··· ··· — —

फिर भी यह पूछा जा सकता है कि प्रकृत में 'विपक्ष' का बाधक कौन है ? अर्थात् यह प्रश्न हो सकता है कि योगियों के अनुभव चूंकि योगजधर्म से उत्पन्न होते हैं, इस लिये

अर्थज्ञानावधिनाऽध्ययनविधिनैव तस्य गतार्थत्वादिति। एतेन परमाण्वादयो व्याख्याता इति।

तदेनमेवम्भूतमधिकृत्य श्रूयते—'न द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृहदारण्यक) इति, 'एकमेवाद्वितीयमिति (म० वि० पु० महाभा शा०' छा०) 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे०) इति, द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परञ्चापरमेव चे' ति।

'प्रमा' ही क्यों है ? भ्रम रूप ही क्यों नहीं है ? अथवा यदि प्रमा स्वरूप ही है, तो प्रत्यक्षात्मक ही क्यों है ? परोक्षात्मक ही क्यों नहीं ?

सि० प० द्वे ब्रह्मणी वे दितव्ये ··· ··· ··· ···

यदि योगियों का उक्त योगज धर्मजनित ज्ञान 'अप्रमा' रूप हो, अथवा प्रमात्मक होने पर भी परोक्षाकारक हो तो 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' यह विधिवाक्य व्यर्थ हो जायगा। फलतः योगियों के उक्त ज्ञान में प्रमात्व का ज्ञापक उक्त श्रुति ही प्रमाण है। यदि योगज धर्म से उत्पन्न ज्ञान अप्रमा स्वरूप ही होता, तो उक्त विधिवाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म इन दोनों का योगविधि के द्वारा प्रमाज्ञान के संपादन का विधान न किया जाता। क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान के लिये तो यों ही अनेक साधन भरे पड़े हैं। अतः यदि योगियों के उक्त ज्ञान को भ्रम स्वरूप मानें, तो उक्त विधिवाक्य ही व्यर्थ हो जायगा। अतः योगियों के उक्त ज्ञान को भ्रम स्वरूप नहीं माना जा सकता।

एवं 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि वाक्य के द्वारा योगियों के लिये ब्रह्म के परोक्षज्ञान के विधान का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जीव एवं ब्रह्म का परोक्षज्ञान तो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस सामान्य विधि से ही प्राप्त है। फिर 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि से विशेष विधान का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। अतः यह मानना होगा कि 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि वाक्य उनके प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का ही विधायक है। अतः हम लोगों की इन्द्रियों के अगोचर परमेश्वर का एवं परमाणु प्रभृति का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान योगियों को हो सकता है, एवं होता है।

इस प्रकार योगियों को जिन परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, उन्हीं परमेश्वर के प्रसङ्ग में श्रुतियों में, एवं गीता प्रभृति स्मृतिओं में ये वाक्य कहे गये हैं। (अर्थात् परमेश्वर की यदि सत्ता न रहे तो श्रुति एवं स्मृति के ये वाक्य व्यर्थ हो जायंगे)।

(१) न द्रष्टुः—'द्रष्टा' परमेश्वर की 'दृष्टि' अर्थात् ज्ञान का 'लोप' नहीं होता। इससे परमेश्वर के ज्ञान की नित्यता प्रतिपादित हुई है।

(२) 'एकमेव' ईश्वर नाम का 'ब्रह्म' एक ही है। इससे ईश्वर में सजातीयद्वितीय-रहितत्त्व व्यक्त होती है।

(३) 'पश्यत्यचक्षुः' वह बिना आँखों के भी देखते हैं, एवं बिना कानों के भी सुनते हैं। इस से ईश्वर की सर्वज्ञता व्यक्त होती है।

(४) 'द्वे ब्रह्मणी' = 'परब्रह्म' अर्थात् परमेश्वर एवं 'अपरब्रह्म' अर्थात् जीव दोनों ही 'वेदितव्य' हैं अर्थात् दोनों का तत्त्वज्ञान मोक्ष के लिये आवश्यक है।

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' 'यज्ञा वै देवा इति, 'यज्ञो वै विष्णु' रित्यादि। स्मर्यते च,—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,–इति।
मदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर,–इति।
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः,–इति।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते,–इत्यादि। गीता

(५) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः = देवगण ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के द्वारा 'यज्ञ' अर्थात् परमेश्वर का 'यजन' रूप आराधना करते हैं। (इस से ज्योतिष्टोमादि अनुष्ठानों से भी ईश्वर-साक्षात्कार के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति सूचित होती है)।

(६) सभी यज्ञ 'देव' परमेश्वर स्वरूप ही हैं। फलतः यज्ञानुष्ठान ईश्वराराधन का ही एक स्वरूप है।

(७) यज्ञ' = 'यज्ञ' विष्णु स्वरूप ही हैं।

(१) सर्वधर्मान् ··· ··· ··· ···

भू,मि पशु, हिरण्यादि की प्राप्ति के जनक सभी धर्मों को छोड़कर मेरे (परमेश्वर के) शरण में आओ। अर्थात् सभी काम्य कर्मों को छोड़कर निष्काम होकर केवल परमेश्वर की ही आराधना करनी चाहिये।

किन्तु इससे सभी नित्य नैमित्तिक कर्मों का लोप हो जायगा, अतः भगवान कहते हैं कि :—

(२) मदर्थं कर्म कौन्तेय? अर्थात् 'सङ्ग' से मुक्त होकर, कर्मफल की 'ईहा' को छोड़कर हे कौन्तेय? केवल मुझ में अर्पण की बुद्धि से मेरे ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से ही नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करो। क्योंकि।

(३) यज्ञार्थात् ··· ··· ··· ···

परमेश्वर स्वरूप 'यज्ञ' से भिन्न किसी भी वस्तु के उद्देश्य से किये गये कर्म ही बन्ध के प्रयोजक होते हैं। अतः ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये कर्मों से बन्ध की सम्भावना नहीं है। क्योंकि —

(४) 'यज्ञाय' अर्थात् परमेश्वर के लिये अनुष्ठित कर्म 'प्रविलीन' हो जाते हैं, अर्थात् उनसे बन्ध के उत्पादक 'धर्म' रूप आशय की उत्पत्ति नहीं होती है।

अनुशिष्यते च साङ्ख्यप्रवचने ईश्वरप्रणिधानम्। तमिमं ज्योतिष्टोमादिभिरिष्टैः, प्रासादादिना पूर्तेन, शीतातपसहनादिना तपसा, अहिंसादिभिर्यमैः, शौचसन्तोषादिभिर्नियमैः, आसनप्राणायामादिना योगेन, महर्षयोऽपि विविदिषन्ति। तस्मिन ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवतीत्येवं विज्ञाय श्रुत्वैकतानस्तत्परो भवेत्। यत्रैवं गीयते,—

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति,—इति।

गीता

अनुशिष्यते च ··· ··· — ···

महर्षि पतञ्जलि ने भी 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' अपनी इस उक्ति के द्वारा मोक्षजनक उस आत्मज्ञान का समर्थन किया है, जिसकी उत्पत्ति ईश्वर की आराधना से होती है।

तमिमम् ··· ··· ··· —

इष्ट, पूर्त, तप, यम, नियम, आसन, प्राणायाम् प्रभृति इन आधिभौतिक, आधिदैविक आध्यात्मिक आचरणों के द्वारा भी महर्षिगण परमेश्वर को ही समझने का प्रयत्न करते हैं। फलतः ज्योतिष्टोमादि याग स्वरूप 'इष्टों' से 'प्रासाद' अर्थात् मन्दिरादि निर्माण स्वरूप 'पूर्त' के द्वारा, शीतोष्ण सहन स्वरूप 'तपस्या' के द्वारा, 'अहिंसा अस्तेय' प्रभृति 'यम' के द्वारा, शौच, सन्तोष प्रभृति 'नियमों' के द्वारा, एवं आसन, प्राणायाम, धरणा, ध्यान, समाधि प्रभृति योगाङ्गों के अनुष्ठान के द्वारा भी महर्षिगण परमेश्वर को ही समझने का प्रयत्न करते हैं। अतः इस ग्रन्थ के द्वारा प्रतिपादित परमेश्वर अवश्य ही सभी के लिये ज्ञातव्य हैं। क्योंकि इष्टापूर्तादि के द्वारा महर्षियों ने भी उन्हीं को समझने के लिये प्रयत्नशील हैं।

तस्मिन् ··· — — ···

श्रुति में ईश्वर के ही प्रसङ्ग में यह लिखा है कि 'तस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति' अर्थात्, परमेश्वर को जान लेने के बाद और कुछ भी जानने को नहीं बच जाता। यह समझकर श्रुति के द्वारा उनका शाब्दबोधात्मक परोक्षज्ञान प्राप्त करने के बाद एकाग्र होकर उनके साक्षात्कार के लिये 'तत्पर' हो जाना चाहिये। इसी 'तत्परावस्था' के लिये 'मन्मना भव' इत्यादि वाक्य गीता में कहे गये हैं।

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥१८॥

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे ! तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥१९॥

---

(१) 'मन्मनाभव' अर्थात् मुझ में ही मन को संयुक्त करो। 'मद्भक्तो भव' मेरी ही भक्ति करो। 'मद्याजी' अर्थात् मेरा ही 'यज्ञ' करो। 'मां नमस्कुरु' मुझ को ही प्रणाम करो। 'मत्परायण' होकर इन आचरणों से परमात्म स्वरूप मुझ को तुम प्राप्त करोगे।

(२) यज्ञ एवं तपस्या के विषय एवं संसार के सर्वश्रेष्ठ अधिपति एवं सभी प्राणियों के अकृत्रिम सुहृद मुझको समझ कर अर्थात् साक्षात्कार प्राप्त कर 'शान्ति' अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैः ... ...

इस प्रकार ईश्वरसिद्धि के विरोधी शब्दप्रमाण एवं ईश्वरसिद्धि के विरोधी अनुमान प्रमाण इन दोनों को निरस्त करनेवाली युक्ति रूपी जल के द्वारा जिन (नास्तिकों) के हृदय के मालिन्य (अज्ञान) को मैंने बार बार धोया है (अर्थात् बार बार अनेक युक्तियों से आप के अस्तित्व को समझाने का प्रयत्न किया है)। फिर भी यदि उनके हृदय को आप अपना निवास भूमि नहीं बनाते अर्थात् आप उनके हृदय में प्रतिभासित नहीं होते, तो मानों उनका हृदय वज्र का अथवा लोहें का बना हुआ है। फिर भी उनके प्रसङ्ग में मेरी प्रार्थना है कि समय आने पर हे करुणानिधान ! आप ही उन्हें अपने विषय की उच्च चिन्ताशीलता प्रदान करें। अर्थात् अपनी स्वाभाविक करुणा से आप ही उनके चित्त को ऐसा स्वच्छ कर दें, जिसमें आप का यथार्थ स्वरूप का उन्हें प्रतिभास हो सके ॥ १८ ॥

अस्माकन्तु ... ...

हे स्वभावसुन्दर ! हम (आस्तिक लोगों का) मन तो बराबर आप में लगा आ रहा है (अर्थात् ईश्वर में विश्वास के लिये हम लोगों को कोई प्रयत्न नहीं करना हैं, क्योंकि वह स्वभाव से ही प्राप्त है)। किन्तु चित्त बड़ा ही चञ्चल है, क्योंकि आप जैसे आनन्द समुद्र

इत्येष नीतिकुसुमाञ्जलिरुज्ज्वलश्रीर्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ ।
नो वा ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पितेन ॥२०॥

॥ इति श्रीन्यायकुसुमाञ्जलौ पञ्चमस्तबकः ॥ ५ ॥

इति न्यायाचार्यपदाङ्कितमहामहोपाध्यायश्रीमदुदयनविरचितं

न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ० ॥

ॐ तत्सत् । ब्रह्मार्पणं भवतु । शुभमस्तु । श्रीरस्तु ॥

में निमग्न होने के बाद भी सांसारिक विषयों में सम्बद्ध होने के लिये बार-बार लौट आता है । जिस के चलते आज तक पूर्णतृप्ति (स्वरूप मोक्ष) न प्राप्त कर सका । अतः हे नाथ ! देर न करो, शीघ्र अपनी वह करुणा प्रदान करो, जिस से चित्त इधर उधर के विषयों को छोड़ कर केवल तुम्हीं में 'एकाग्र' हो सके और जन्म मृत्यु स्वरूप आवागमन की इस यमयातना से छुटकारा पा सके ॥ १९ ॥

इत्येष नीति ··· ··· ··· ···

(जिस प्रकार पर्युषितत्वादि दोषों से मुक्त अञ्जलि के पुष्पों की सुगन्धि दाहिने और बायें दोनों ही नासा छिद्रों के द्वारा समान भाव से गृहीत होती है, किसी एक के प्रति कोई पक्षपात नहीं होता, उसी प्रकार) कण्टकोद्धार (आक्षिप्त दोषों के परिहार) के द्वारा अतिविशुद्धि को प्राप्त यह 'न्यायकुसुमाञ्जलि' स्वरूप ग्रन्थ आप के प्रति श्रद्धाशील, सत्तर्काभ्यासी, 'दक्षिण' अर्थात् आस्तिकजनों को, एवं 'वाम' अर्थात् कुतर्क के अभ्यासी नास्तिक जनों को समान रूप से आनन्द प्रदान करे । यदि ऐसा संभव न हो (अर्थात् कुतर्काभ्यासी नास्तिकों के सन्तोष का संपादन असंभव ही हो) तो फिर वह परम 'शिव' ही अपने चरणों में समर्पित इस 'न्याय कुसुममाञ्जलि' से प्रसन्न हों, जो (परमशिव) देवताओं के अधीश्वर इन्द्र के गुरु ब्रह्मा बृहस्पति प्रभृति के भी उपदेष्टा गुरु हैं ।
